श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर (महिलाश्रम) सागर

के

卐 कलशारोहणोत्सव 卐

-: पर :-

अभिनन्दनग्रन्थ समर्पण - समारोहाध्यक्ष

माननीय श्री रतनलाल जी गंगवाल अध्यक्ष दिग. जैन महासमिति

द्वारा

स म र्पि त

दिनांक :- सोमवार, १९ मार्च, १९९०

तिथि :- चैत्र वदी द्वितीय सप्तमी, संवत् २०४६

श्री/श्रीमती पं० पद्मचन्द्र जी शास्त्री, संपादक अनेकान्त
नई दिल्ली - २ को समीक्षार्थ

ST. दरबारी लाल कोठिया
प्रधान संपादक

दिनांक :- 23/4/90

सरस्वती वरद पुत्र
पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य
अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति

सरस्वती-वरदपुत्र
पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य
अभिनन्दन-ग्रन्थ

• • • •

आवरण परिचय

आवरण-पर सोंरईके १८२ वर्ष प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिरका चित्र है, जो कुछ वर्षों बाद मूर्ति-रहित किसी कारणवश हो गया तथा उसमें प्राईमरी स्कूल लगने लगा और जिसमें व्याकरणाचार्यजी ने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की।

प्रधान सम्पादक

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

सम्पादक

पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल • पं० बलभद्र जैन, न्यायतीर्थ

डॉ० राजाराम जैन • श्री नीरज जैन

डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु • डॉ० सुदर्शनलाल जैन

डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी • डॉ० शीतलचन्द्र जैन

प्रबन्ध-सम्पादक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

प्रकाशक

सरस्वती-वरदपुत्र : पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य
अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समिति, वाराणसी–१०

प्रकाशक

● सरस्वती-वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ
प्रकाशन समिति, वाराणसी–१०

● वीर नि० सं० २५१५ सन् १९८९

● मूल्य १५१) रुपया

मिलने का पता

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
बीना इटावा (सागर) म० प्र०

● वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
बी० ३२/१३ बी० नरिया काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

मुद्रक

● बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी–२२१०१०

पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना

प्रकाशकीय

जैन समाजके वरेण्य विद्वान्, साहित्यकार, समाजसेवी और राष्ट्रसेवी ८५ वर्षीय 'सरस्वती वरदपुत्र' सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, साहित्य-जैनदर्शन शास्त्री और न्यायतीर्थका 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' द्वारा हमने अभी तक अभिनन्दन नहीं किया, जबकि उन जैसे प्राय सभी विद्वानोंको अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट कर समाज सम्मानित कर चुका है, यह भूल कुछ दिनोसे कोंचती रही।

इसके लिए हमने परोक्ष पत्र व्यवहार किया और प्रत्यक्षमें अनेक प्रतिष्ठित महानुभावोंकी बैठक बुलाकर परामर्श किया। सभीने एक स्वरसे श्रद्धेय पण्डितजीको अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट करनेकी अपनी सम्मति प्रकट की। उसके लिए एक समिति बनानेका भी निर्णय ले लिया गया।

सौभाग्यसे १७ फरवरी १९८९ को श्री पावन तीर्थक्षेत्र कुण्डलगिरि (दमोह) मे अखिल भारत-वर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्का नैमित्तिक अधिवेशन श्रीमान् पं० भँवरलालजी जैन न्यायतीर्थ, जयपुरकी अध्यक्षतामे सम्पन्न हुआ। इसमे श्री बाबूलालजी फागुल्ल, वाराणसी भी सम्मिलित हुए थे। वहाँ इन्होंने कई विद्वानोंसे श्रद्धेय पण्डितजीको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करनेकी चर्चा की। इन सभी विद्वानोंने उसका समर्थन एवं अनुमोदन सहर्ष किया।

इसके उपरान्त हमारा काम था एक सुयोग्य विद्वानोंके सम्पादक-मण्डलका चयन करना। हर्ष है कि जिन विद्वानोंका सम्पादक-मण्डलमे चयन किया गया था उन सभोकी हमे स्वीकृति प्राप्त हो गयी और इसके लिए उन्होंने अपना अहोभाग्य समझा।

सम्पादक-मण्डलकी प्रथम बैठकमें व्यवस्थित कमेटीका निर्माण किया गया। और उसका नाम सर्व-सम्मतिसे **'सरस्वती-वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य, अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन-समिति'** रखा गया। इसका कार्यालय–महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी–१० निश्चित किया गया।

सम्पादक-मण्डलने भी अपनी कई बैठकें की और जिनमें उसने अभिनन्दन-ग्रंथमे देय सामग्रीका सम्पादन किया। श्रद्धेय पण्डितजीके ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं आदि मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण एवं चिन्तनयुक्त लेखों व निबन्धोंको इसमे दिया गया है।

इस कार्यमें सम्पादकोंके सिवाय सदस्यों, सहयोग-राशि प्रदाताओ और शुभकामना / संस्मरण / समीक्षाप्रेषकोंके हम अत्यन्त आभारी है।

महावीर प्रेसने ग्रंथको अल्प समय (एक माह) में छापकर हमे दे दिया उसके लिए उसे हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

विनीत

सांसद डालचन्द्र जैन
अध्यक्ष

बाबूलाल जैन फागुल्ल
मंत्री तथा प्रबन्ध सम्पादक

सरस्वती वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन–समिति

अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समितिके पदाधिकारी

परम संरक्षक

माननीय श्री मोतीलालजी वोरा, मुख्य मंत्री म०प्र०

संरक्षक

स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडबिद्री
स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्तिजी, श्रवणबेलगोला
समाजरत्न साहु श्रेयास प्रसाद जैन, बम्बई
श्री निर्मलकुमार सेठी, लखनऊ
श्री वीरेन्द्र हेगडे, धर्मस्थल
श्री विजयकुमार मलैया, दमोह
साहु अशोककुमार जैन, दिल्ली
श्री त्रिलोकचन्द्र कोठारी, कोटा
श्री अमरचन्द्र पहाडिया, जयपुर

अध्यक्ष

श्री सेठ डालचन्द्र जैन (सासद) सागर

उपाध्यक्ष

स० सिं० धन्यकुमार जैन, कटनी
श्रीमती वृजमनी देवी, गोरखपुर
(धर्मपत्नी राय देवेन्द्रप्रसाद)
रायबहादुर देवकुमार सिंह, इन्दौर
श्री महाराजा बहादुर सिंह, इन्दौर
श्री रतनलाल गंगवाल, कलकत्ता
श्री जयकुमार इटोरया, दमोह
स० सिं० सुमेरचन्द्र, जबलपुर
सिं० आनन्द कुमार, बीना
प्रो० फूलचन्द्र सेठी, खुरई
श्री देवेन्द्रकुमार मोटरवाले, सागर
लाला शिखरचन्द्र, दिल्ली
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका, जयपुर
प० बालचन्द्र काव्यतीर्थ, नवापारा राजिम
श्री खेमचन्द्र मोतीलाल बीडी वाले, सागर
श्री महेन्द्रकुमार मलैया, सागर
लाला प्रेमचन्द्र जैन, दिल्ली
श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ
सेठ बाबूलाल जैन मोरई वाले, सागर
सन्तोषकुमार बैटरी वाले, सागर
श्रीमन्त सेठ राजेन्द्रकुमार जैन, विदिशा
श्रीमती शान्तिदेवी जैन, लखनऊ

कोषाध्यक्ष

सिंघई जीवनकुमार जैन, सागर

मंत्री

बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

परामर्शदाता मण्डल

पं० फूलचन्द्र शास्त्री, हस्तिनापुर
पं० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
ब्र० माणिकचन्द्र चवरे, कारंजा
प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी
श्री यशपाल जैन, दिल्ली
श्री अक्षयकुमार जैन, दिल्ली
पं० भँवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर
डॉ० भागीरथ त्रिपाठी वागीश शास्त्री, वाराणसी
डॉ० नथमल टाटिया, लाडनूं
प० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, दिल्ली
प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद
डॉ० हरीन्द्रभूषण, उज्जैन
प्रो० उदयचन्द्र जैन, वाराणसी
पं० हीरालालजी कौशल, दिल्ली
पं० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, जयपुर
डॉ० भागचन्द्र भास्कर, नागपुर
प० श्याममुन्दर शास्त्री, फिरोजाबाद
डॉ० दामोदर शास्त्री, दिल्ली
श्री बाबूलाल पटौदी, इन्दौर
श्री दलसुख भाई मालवणिया, अहमदाबाद
डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी
श्री नारायणशंकर त्रिवेदी एडवोकेट, सागर
श्री विमलराम जैन, दिल्ली
डॉ० प्रेम सुमन, उदयपुर
श्री गुलाबचन्द्र 'पुष्प' टीकमगढ
डॉ० रतनचन्द्र जैन, भोपाल
श्री सुरेशचन्द्र जैन, भोपाल
डॉ० हीरालाल जैन, रीवा
डॉ० मोतीलाल जैन, खुरई
श्री ताराचन्द्र प्रेमी, फिरोजपुरझिरका
डॉ० आशा मलैया, सागर
पं० जवाहरलाल, भिण्डर
डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' श्रीमहावीरजी
प० सत्यन्धरकुमार सेठी, उज्जैन
डॉ० श्रेयास कुमार जैन, बडौत
डॉ० कुसुम पटोरिया, नागपुर
श्रीमती विमला जैन, भोपाल
श्रीमती कस्तूरी बाई बडकुल, वाराणसी
(मातेश्वरी जयप्रकाश जैन)

प्रकाशन समितिके पदाधिकारी

सेठ डालचन्द्रजी जैन (सांसद)
अध्यक्ष

सेठ बाबूलालजी धामौनीवाले, सागर
स्वागत समितिके अध्यक्ष
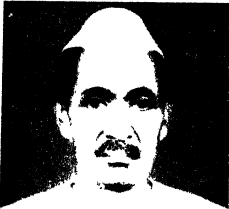
सिंघई जीवनकुमारजी जैन, सागर
कोषाध्यक्ष

श्री बाबूलाल जैन, फागुल्ल, वाराणसी
प्रकाशन मन्त्री

आत्म-कथ्य

सम्माननीय पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्य समाजके एक ऐसे मनीषी विद्वान् है, जिनकी प्रवृत्तियाँ चतुर्मुखी हैं। वे स्वतन्त्रता-सेनानी हैं, जो राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी द्वारा उद्घोषित ९ अगस्त, १९४२ के **'भारत छोड़ो'** आन्दोलनमें सक्रिय लिप्त रहे और ९, १० माह सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोमें रहे।

समाज सेवामें भी व्याकरणाचार्य जी पीछे नहीं रहे। दस्सा-पूजाधिकार जैसे आन्दोलनोंमें आगे होकर कार्य किया। स्थानीय संस्था, विद्वत्परिषद और श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला आदि संस्थाओंके माध्यमसे मंत्री एवं अध्यक्ष पद पर रहकर दीर्घकाल तक आपने समाजकी सेवा करके सेवाका एक मानदण्ड स्थापित किया है।

सबसे बडी उनकी सेवा है साहित्य-साधना। उन्होंने जब अनुभव किया कि आगम-वाक्योंका अन्यथा अर्थ किया जा रहा है और उन्हें तोडा-मरोडा जा रहा है तब उन्होंने विद्वद्गोष्ठीका आह्वान किया तथा युक्ति और आगम परस्पर चर्चा की। इतना ही नहीं, जैन तत्त्वमीमांसाकी मीमांसा, जैनदर्शनमें कार्यकारण-भाव और कारक व्यवस्था, जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार, खानिया (जयपुर) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा प्रभृति ग्रन्थ लिखकर आगमपक्षको पुष्ट एवं स्पष्ट किया। आज भी वे उसी साहित्य-साधनामें निरंतर संलग्न हैं। यद्यपि वे आरम्भसे स्वतन्त्र वस्त्रव्यवसायी हैं। किन्तु अब उसे पुत्रोंको सौंपकर एकमात्र जिन-वाणीकी सेवा-साधनामें लगे रहते हैं।

१७ फरवरी १९८९ को श्री दि० जैन क्षेत्र कुण्डलगिरि (कुण्डलपुर, दमोह) मे भा० दि० जैन विद्वत्परिषदका नैमित्तिक अधिवेशन विद्वद्वर पं० भँवरलाल जी न्यायतीर्थ, जयपुरकी अध्यक्षतामें आयोजित था। अधिवेशनकी समाप्ति पर कुछ विद्वानोंमें चर्चा हो रही थी कि माननीय प० बंशीधरजी व्याकरणा-चार्यको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाना चाहिए। उनकी विद्वत्ता और सेवायें अभिनन्दित विद्वानोंसे कम नहीं हैं। वे विद्वान् थे—श्री बाबूलालजी फागुल्ल शास्त्री, वाराणसी, डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल, जयपुर और डॉ० भागचन्द्र जी 'भागेन्दु' दमोह। मैं भी वहाँ आ गया था। फागुल्लजी तथा कासलीवालजी तो बोले कि "हम पूरा सहयोग देंगे।" मैंने कहा कि "बहुत अच्छा है, अवश्य होना चाहिए"! यह चर्चा आगे बढी और फागुल्लजी ने एक रूपरेखा भी बनाकर मेरे पास भेज दी। मैं उस समय श्रीमहावीरजीमें था। वहाँ दो बैठकें बुलाई। १७ मई १९८९ को हुई बैठकमें निम्न निर्णय लिए गये —"सिद्धान्ताचार्य प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति' का गठन तथा समितिमें निम्न पद रखे गये। १ – १–परम संरक्षक, २–संरक्षक, ३–अध्यक्ष, ४–उपाध्यक्ष, ५–महामंत्री और ६-सदस्य। २ –सम्पादक मण्डलका गठन, जिसमें १–डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, २–डॉ० कस्तूरचंद्र कासलीवाल, ३–पं० बलभद्र न्यायतीर्थ, दिल्ली, ४–डा० भागचन्द्र 'भागेन्दु', दमोह, ५-श्री नीरज जैन, सतना, ६–डॉ० राजाराम जैन, आरा, ७–डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी, ८–डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी, ९–डॉ० शीतलचन्द्र जैन, जयपुर और १०–मैं (प्रधान सम्पादक)। जब अभिनन्दन-ग्रन्थके नामकी चर्चा आयी तो पर्याप्त विचार-विमर्शके पश्चात् उसका नाम "सरस्वतीके वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ" रखनेका निर्णय लिया। प्रस्तुत ग्रन्थपर एक फोल्डर निकालनेका भी अधिकार प्रधान सम्पादक जीको दिया गया। ३ –ग्रन्थमें सामान्यत: अध्यायोंके विषय-विभाजनका निर्णय भी लिया गया। ४ – यह भी निर्णय लिया गया कि एक ग्रन्थ-समर्पण समितिका गठन किया जाये तथा सदस्यता शुल्क १००/०० रुपये रखा जाय और ग्रन्थमें उनके नाम दिये जायें।

श्रीमहावीरजीसे जब मैं बीना चला आया तो ग्रन्थकी सामग्री तथा अर्थसंग्रहपर विचार-विमर्श करनेके लिए सम्पादक-मण्डलकी दो बैठकें बीनामें बुलाई। अन्तिम चौथी बैठककी १५ उप-बैठकें हुई। यह अन्तिम बैठक ११ अगस्त से १५ अगस्त तक पाँच दिन चली और पर्याप्त ऊहापोह हुआ। ग्रन्थमें देय सामग्री पर १५ वाचनायें हुई। इनमें कई वाचनायें दिनमें तीन बार और रात्रिमें १२ बजे तक मान्य सम्पादकोंने कीं। सम्पादकोंको व्याकरणाचार्य जीके लिए अभिनन्दन-ग्रन्थके हेतु भी तैयार करना पड़ा, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाये। पर सम्पादक मण्डल उसके औचित्यको जानता था। समाजके सैकड़ो महानुभावोंने तो हर्ष भी प्रकट किया। आदरणीय राय देवेन्द्रप्रसाद जैन, एडवोकेट, गोरखपुरने तो एक पत्रमें लिखा है कि **"आपने समाजकी भूलको ठीक किया है।"** इस प्रकार इस ग्रंथको सम्पादक-मण्डलने सजगताके साथ तैयार किया है।

हमें प्रसन्नता है कि हमारे स्नेही सभी सम्पादक-मित्रोंने इस ग्रन्थको इस सुन्दर रूपमें प्रस्तुत करनेमें जो अपना बहुमूल्य समय, शक्ति और प्रतिभाका सहयोग किया है उसके लिए हम उनके हृदयसे आभारी हैं। सुहृद्वर डॉ० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवालने तो अपना विद्वत्तापूर्ण महत्त्वका सम्पादकीय लिखकर हमें अधिक आभारी बनाया है।

हमारे आदरणीय श्री डालचन्द्र जी जैन, संसद सदस्यने समितिके अध्यक्ष पदको स्वीकार कर जो बल प्रदान किया है उसके लिए हम उनके कृतज्ञ है। जब हम २७ सितम्बर, '८९ को सिघई जीवनकुमार जैन, कोषाध्यक्ष एवं श्री विनीतकुमार कोठियाके साथ उनके आवासपर सागरमें उनसे मिले तो बड़े गद्गद्भावसे भेंट की और एक घण्टे तक अभिनन्दन-ग्रन्थकी चर्चा की। उसकी प्रगतिसे उन्हे बड़ा सन्तोष हुआ। हमें खुशी है कि आपका आरम्भसे अन्त तक सहयोग एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

प्रिय बाबूलाल जी फागुल्लको हम कितना धन्यवाद दें। यह अभिनन्दन-ग्रंथ उन्हींके विचारों और प्रयत्नोंका सुफल है। यदि हम इसे एक आश्चर्य मानें तो अत्युक्ति न होगी, जो कुछ माहों (लगभग छह-सात माह) में तैयार हो गया। लोग वर्षों पूर्वसे अभिनन्दन ग्रन्थोंका विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओंमें देते और पत्रव्यवहार करते हैं। इतना ही नहीं, आयोजनकी तिथि भी प्रकाशित करते हैं। पर अभिनन्दन-ग्रंथ तैयार नहीं हो पाते। वास्तवमें अभिनन्दन-ग्रन्थोंका प्रकाशन ही दुष्कर है। वह ऐसा कार्य है, जो परम्पराश्रित है। लेखक स्वयं समयपर लेख भेजें और सम्पादक उन्हें सम्पादित कर समयपर उन्हें प्रेसमें भेज दें। इतना होनेपर भी प्रेस और प्रूफरीडर विलम्ब कर देते हैं। प्रेस समयपर छापकर नहीं देता। वह दूसरे ग्रन्थोंके प्रकाशनमें संलग्न रहता है। किन्तु हमें प्रसन्नता है कि ये सब प्रत्यवाय इस अभिनन्दन-ग्रन्थमें नहीं आए। इस सबका श्रेय श्री बाबूलाल जी फागुल्ल, सचालक, महावीर प्रेस, वाराणसीको है, जिन्होंने यह सब आदि-से-अन्त तक किया। उन्होंने पत्रव्यवहारसे लेकर छपाई पर्यन्त सारा कार्य तन्मयता और आत्मीयतासे किया। इसका सूत्रपात भी उन्होंने किया। फागुल्ल जीने अपने दीर्घकालीन अभिनन्दन-ग्रन्थोंके प्रकाशनानुभवको भी इसमें उड़ेल दिया है। मेरा उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

इस अवसरपर मैं श्रद्धेया काकीजी श्रीमती कस्तूरीबाई (धर्मपत्नी, स्व० मौजीलाल जी जैन) और उनके परिवार (प्रिय भाई जयप्रकाश, सौ० शशि बहू, चि० राजू और आयु० अन्नो, वाराणसी) को नहीं भूल सकता, जिनके पास एक-सवा माह घुलमिल कर रहा और सभी सुविधायें मुझे प्रदान कीं। मैं उनका अनुगृहीत हूँ। मुझे सदैव उनका स्नेह मिला और मिलता रहता है।

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
प्रधान सम्पादक

सम्पादकीय

"**विद्वान् सर्वत्र पूज्यते**" इस उक्तिके अनुसार विद्वानोंका समादर सदासे ही होता आया है। विद्वान् किसी एक देश, किसी एक धर्म, किसी एक जाति अथवा किसी एक सम्प्रदायका नही होता, क्योंकि उसके प्रवचनों, लेखो, पुस्तकों एवं वाणीसे सभी लाभान्वित होते है, इसलिये वह जहाँ भी चला जाता है वही उसका सम्मान होने लगता है।

हमारे आचार्य, साधु एवं पंडित अपनी जातिसे नही, बल्कि अपने गुणोंसे समादृत होते हैं। उनकी न कोई जाति पूछता है और न प्रदेशका नाम जानता है। उनकी ज्ञान-साधना ही उनका परिचय है, उनकी लेखनी ही उनके गुणोंको उजागर करने वाली है और उनकी वाणी ही उनके जीवनपर प्रकाश डालने वाली होती है। जैसे हीरेको कितना ही छुपाया जावे वह कभी भी नही छिपता है उसी प्रकार साधु एवं विद्वान् भी यदि अपने आपको छिपाना चाहे तो गुणीजन उनको स्वयं खोज लेते है और फिर उनको प्रशस्तियाँ पढने लगते हैं।

ऐसे ही एक विद्वान् हैं पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य। वे पण्डित हैं, ज्ञानके अगाध भण्डार है, सशक्त लेखनीके धनी है, वाणीमें अपने विचारोंको सम्यक् रूपसे प्रकट करनेकी क्षमता है, समाज एवं देशके लिये उन्होंने जेल यातनाओंको सहा, समाजमे आगम-परम्पराको सशक्त बनानेके लिये सदैव आगे रहे तथा अपने ८४ वसन्तोंमेसे ६० वसन्त समाजसेवा एवं ज्ञानाराधनामे व्यतीत किये। लेकिन फिर भी उनमें कीर्ति, यश एव अभिनन्दनकी कभी चाह पैदा नही हुई और स्वात सुखाय अपनी सम्यक् प्रवृत्तियोमें लगे रहे।

ज्ञानाराधनामें लगे हुए विद्वानों, सन्तोको खोज निकालना भी सरल कार्य नही है, क्योकि वर्तमान युगमें मानव अपनी यश कामनाके पीछे इतना पडा रहता है कि जीवनमे एक पुस्तक लिखनेपर वह अपने आपको सबसे बडा लेखक समझने लगता है तथा चाहता है कि समाज एवं देश उसकी प्रशंसाओंका पुल बाँध दे तथा उसका एक कार्य ही जीवन भरकी कमाईका साधन बन जावे। लेकिन पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका स्वभाव एवं प्रवृत्ति ठीक इसके विपरीत है। वे यशसे दूर भागते रहे और अपने अभि-नन्दनसे हमेशा कतराते रहे। यदि डॉ० कोठिया साहब उनसे बार-बार अनुरोध नही करते, हम उन्हें अपना अभिनन्दनीय मानकर अपने बहुमूल्य कृतित्वसे समाजको लाभान्वित करनेका अनुरोध नही करते तो सम्भवत वे अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशनकी स्वीकृति भी नही देते। जब हमने उनसे कहा कि अभिनन्दन-ग्रन्थमे आपकी प्रशंसा नही-के-बराबर होगी, अपितु आपकी लेखनीके चमत्कारका दिग्दर्शन मात्र रहेगा। आपके द्वारा जो गूढ लेख लिखे जा चुके है, लेकिन जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमे छपनेके पश्चात् भी तिरोहित हो गये हैं। समाज जिनके अस्तित्वसे अनजाना बन गया है और जिनके प्रकाशनकी वर्तमान वातावरणमें बहुत आव-श्यकता है, आपके समीक्षात्मक ग्रन्थोंका सम्यक् प्रकारसे समाजको परिचय मिल सकेगा। इसलिये एक बार पुन उनपर सशक्त लेखनीसे समीक्षात्मक विवरण छपनेकी आवश्यकता है। यह सब आपका अभिनन्दन नही है लेकिन उन सिद्धान्तों एवं मान्यताओंको प्रकाशमे लाना है जो समयके प्रवाहमें छिपसे गये है। हमे बडी प्रसन्नता है कि पण्डितजी सा० ने हमारे इस अनुरोधको स्वीकार कर लिया और अपना साहित्य एवं पुराने पत्रोंकी फाइलोंको जो उनके पास थी, उन्हें डॉ० कोठियाजीको हस्तगत कर दी।

प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थका शीर्षक सरस्वतीका वरदपुत्र है। पण्डितजी वास्तवमें सरस्वतीके कृपा-पात्र

पुत्र है, जिनकी लेखनी एवं वाणी दोनों मे जिनवाणीके अमर सन्देश भरे पड़े हैं। जो आचार्य समन्तभद्रके शब्दों में :

"अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्" के रूपमे लिखे गये है। तथा जिनका जितना अधिक अध्ययन होगा उतना ही वे सरस बनकर समाजके खूनमे समा जायेंगे।

इन्ही तथ्योको ध्यानमे रखकर अभिनन्दन ग्रन्थको ६ खण्डोमे विभाजित किया है। उन खण्डोममे केवल दो खण्डोमे पण्डितजीके जीवन एव व्यक्तित्वपर देश एव समाजके माने हुये सेवाभावी प्रतिष्ठित श्रेष्ठियो एवं विद्वानोंके संस्मरण, लेख एवं शुभकामनाएँ दी गई है। सीमित पृष्ठोके कारण बहुतसे महानुभाव ऐसे रह गये जो पण्डितजीके गुणों, उनकी लेखनी एव वाणीसे परिचित हैं लेकिन हम उनसे सन्देश, शुभ कामना अथवा संस्मरण नही माग सके। लेकिन जीवन-परिचय, भेटवार्ता एव उनके व्यक्तिपरक लेखोंसे हम उनके विशाल व्यक्तित्वका अनुमान लगा सकते हैं। उनकी शैशवास्था, बाल्यावस्था अभावो एव निर्धनतासे जकडी हुई थी। ज्ञानार्जन जहाँ दिवास्वप्नके समान था। माता-पिताकी छत्रछाया बचपनमें नही रही थी। ऐसी स्थितिमे पण्डितजीका व्याकरणाचार्य तक शिक्षा प्राप्त करना कितना कष्टप्रद एव दुरूह रहा होगा यह तो भुक्तभोगी ही जान सकता है।

दूसरे खण्डमें पण्डितजीकी कृतियोंकी विस्तृत समीक्षा दी गयी है। सभी समीक्षाएँ अधिकारी विद्वानो द्वारा की गयी हैं और पण्डितजीके मौलिक लेखन पर प्रकाश डालनेवाली हैं। समीक्षा करनेवाले विद्वानोके नाम निम्न प्रकार हैं।

जैन तत्त्व मीमासाकी मीमासा	पं० बलभद्र न्यायतीर्थ, देहली
भाग्य एव पुरुषार्थ एक नया अनुचिन्तन	डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर
जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा ओर उसकी समीक्षा	डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी
जैनदर्शनमे कार्यकारण भाव एव कारक व्यवस्था	श्री नीरज जैन, सतना पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, सागर
जैनदर्शनमे निश्चय और व्यवहार	स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति जी डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी	डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी पं० विजयकुमार शास्त्री, श्रीमहावीरजी

यद्यपि पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने पहले ही अपनी रचनाओमे उन ग्रन्थोंकी समीक्षा लिखी थी जो आगमसम्मत विचारोसे कुछ हटकर लिखे गये थे तथा जिनके कारण समाजके वातावरणमे विरोधके स्वर सुनाई देने लगे थे। सर्वप्रथम पण्डितजीने ही समीक्षात्मक पुस्तके लिखनेका श्रेय प्राप्त किया। ऐसी पुस्तकोकी समीक्षा करनी यद्यपि दुरूह कार्य है फिर भी समीक्षकोंने जिस रूपमे इन पुस्तकोकी समीक्षाएँ लिखी उनसे पुस्तकोंका मूल्याकन करनेमें बड़ा सहयोग मिलेगा और इन पुस्तकोका वास्तविक उद्देश्य आम जनताके सामने आ सकेगा।

अभिनन्दन ग्रन्थके शेष चार खण्डोमे पण्डितजीके चयनित निबन्धोको प्रस्तुत किया गया है। ये चारो खण्ड ही इस ग्रन्थकी आत्मा हैं जो धर्म और सिद्धान्त, दर्शन और न्याय, साहित्य और इतिहास, सस्कृति और समाज जैसे विभिन्न शीर्षकोंमे विभाजित है। इन खण्डोंमें दिये गये निबन्धोंसे पण्डितजीके बहुमुखी कर्तृत्व क्षमताका परिचय मिलता है। वे केवल समीक्षात्मक पुस्तकें लिखनेवाले विद्वान् ही नही, अपितु जैनधर्मके विविध पक्षोको अपनी सशक्त लेखनी द्वारा उजागर करनेवाले हैं।

सम्पादक मण्डल

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

डॉ० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य

प० बलभद्र जैन, न्यायतीर्थ

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

डॉ० राजाराम जैन

सम्पादक मण्डलके सभी विद्वानोंका आभारी हूँ। अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादनमे सभी सम्पादकोंने जो रुचि दिखायी है तथा अपना अमूल्य समय देकर पूरे ग्रन्थका सम्पादन किया है, यह सब पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके प्रति उनकी अनन्य निष्ठा एवं श्रद्धाका ही सुपरिणाम है। माननीय डॉ० कोठियाजी एवं बाबूलालजी फागुल्ल दोनों ही विशेष रूपसे धन्यवादके पात्र हैं, वास्तवमे उन्हीकी लगन एव रुचिके कारण यह अभिनन्दन ग्रन्थ इतने अल्प समयमे हमारे सामने मूर्त्तरूपमे आ सका।

अन्तमे अभिनन्दन ग्रन्थके सभी सम्पादक एवं सदस्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके दीर्घ-जीवनकी कामना करते हुये यही अपेक्षा करते है कि उनकी लेखनी इसी प्रकार अनवरत रूपसे चलती रहे और समाजका मार्ग दर्शन करती रहे।

(डॉ०) कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
कृते सम्पादक मण्डल

विषय-क्रम

खण्ड १ : आशीर्वचन, संस्मरण, शुभकामनाएँ

खण्ड २ : जीवन परिचय, भेंट वार्ता, व्यक्तित्व तथा कृतित्व

खण्ड ३ : धर्म और सिद्धान्त

खण्ड ४ : दर्शन और न्याय

खण्ड ५ : साहित्य और इतिहास

खण्ड ६ : संस्कृति और समाज

आशीर्वचन · संस्मरण ·
शुभकामनाएँ

शु भा शी ष

बहुश्रुत विद्वान्

● आचार्य विद्यानन्दजी महाराज

सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बहुश्रुत विद्वान् है। वे स्वतन्त्र चिन्तक है। उन्होंने आगमानुकूल और गम्भीर भाषामें ग्रन्थोकी रचना की है। उन्हे हमारा शुभाशीर्वाद है।

मङ्गल आशीर्वाद

● श्री १०८ मुनि ब्रह्मानन्द सागरजी महाराज

पण्डितजीको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट किया जा रहा है, यह उनके योग्य है।

मैं पाँच माह एक चातुर्मासमे बीना रहा। मुझे पण्डितजीके तीन गुण याद आ रहे। प्रथम गुण उनका नि स्वार्थ भावसे ज्ञानदान देना है। उन्होने मुझे पाँच माह नियमित स्वाध्याय कराया है। उनके समझानेकी शैली उत्तम है। सामान्य व्यक्ति भी उनकी सरल शैलीसे विषयको समझ लेता है।

उनका दूसरा गुण है गुरु भक्ति और विनय। पाँच माहमे वे रोज आते और बडी भक्ति तथा विनयके साथ स्वाध्याय कराते थे। हमने उनमे बडी विनम्रता एवं निरभिमानता देखी।

उनमे तीसरा गुण है समयकी नियमितता। एक मिनट भी वे विलम्ब नही करते। जो समय उन्होने नियमित किया उस समयपर अवश्य आ जाते थे। विषय आरम्भ कर देते थे। बहुत ही मितभाषी और गम्भीर हैं। हमारा उन्हे शुभाशीर्वाद है।

श्रद्धा-सुमन

● क्षुल्लक चित्तसागरजी, घाटोल

विद्वत्वर्य वयोवृद्ध पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दनार्थ एक ग्रन्थ प्रकट होने जा रहा है ऐसा 'जैन गजट' मे पढा। अत. भाव हुए कि कुछ पंक्ति श्रद्धासुमनरूप भेजूं। इसका फल यह है।

महासभाकी भी मीटिंगोमे तथा विद्वानोंकी मीटिंगोमें मैंने गृहस्थकालमे पण्डितजीको प्रथम देखा था। सामान्य बातचीत भी हुई थी, पत्र-व्यवहारसे परिचय बढा। यात्रा प्रवासमे एक दिन उनके घर पर आतिथ्य भी अनुभवमे आया था। वह इतना सरल, ऋजु और शालीन था कि वह मैं कभी भी भूल नहीं सकता।

व्याकरणाचार्य पण्डित होते हुए अपनी आजीविकाके लिए उन्होंने कपडेका धंधा पसन्द किया था और खूब-खूबीसे चलाते हैं। शायद समाजका रुख पहलेसे ही उनकी पैनी दृष्टि पा गई थी। समाज मनीषियोंको जिस दृष्टिसे देखता है, परखता है और आर्थिक सकटोसे विडम्बना रूप तरीकोसे बचाना चाहती है वह सब अब सभी विदित है। अत परिणामत आज विद्वान् शेष नही बन रहे है और भविष्यमे वहाँ एक बड़ा शून्य मात्र ही नजर आयेगा। यह है हमारी धन पूजाका कुफल! भाग्यहीनता!

सोनगढकी गलत प्ररूपणाके बारेमे पण्डितजीकी सशक्त कलम से खूब लिखा, किन्तु समाजने उसे कितना प्रोत्साहन दिया इसकी कथनी अतिकरुण है। कोई सहृदयी होता तो उसे कहनेका मौका मिलता किन्तु वहाँ भी निर्जनता है।

विद्वान् उपयोगी दीपक है। उसका संरक्षण हमारी सस्कृतिका रक्षण है। जितनी उदासीनता इस बारेमे रहेगी इतने कटु परिणाम हमे ही भोगने पड़ेगे।

जैनागमके मर्मज्ञ मनीषी

● स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामीजी, मूडबिद्री

जैनदर्शनके मूर्धन्य विद्वान् समाजमान्य विद्वद्वर्य पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्य जैन आगमके मर्मज्ञ प्रकाण्ड मनीषी है। प्रशम-हृदयी व परम भद्र परिणामी है इस वृद्धावस्थामे इस समय समाजमे सर्वाधिक चर्चित विषयपर आपने सन्तुलित लेखनी चलाई है। जैनागमके अधिकारी विद्वान् द्वारा गम्भीर विषयोंका अध्ययन व मनन करके जो पुस्तकें लिखी गई है वे महत्त्वपूर्ण है। और उनसे धर्म-सस्कृतिकी रक्षा हो सकती है। वे स्वस्थ रहे यही हमारा उन्हे साधुवाद है।

बहुमुखी प्रतिभाके धनी

● कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी जैन मठ, श्रवणबेलगोला

सारस्वत, स्वतन्त्रता-सग्रामी, सिद्धान्ताचार्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दन ग्रन्थ-प्रकाशनकी योजना ज्ञात कर बडी प्रसन्नता हुई।

आदरणीय पण्डितजीका जीवन जैन सिद्धान्तके चिन्तन, मनन एव लेखनमे ही अधिक सलग्न है। आप बहुमुखी व्यक्तित्वके प्रतिभावान् विद्वान् हैं। आपकी लिखी अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकोमे एव पत्र-पत्रिकाओ-में प्रकाशित आपके दार्शनिक, सैद्धान्तिक एवं सामाजिक लेखोमे आपका व्यक्तित्व सवत्र झलकता है। आपने जीवनमे सचित ज्ञानके वितरणको ही औचित्य समझा। परिणामस्वरूप कई मौलिक ग्रन्थ आपके प्रकाशमे आये। आज चौरासी वर्षकी आयुमे भी आप अपनी उसी प्रक्रियामे रहकर चौरासीसे मुक्त होनेके सत् प्रयत्न-में लगे है। अत आप जैसे सारस्वतोके जीवनकी अनेक उपादेय घटनाओंके साथ सिद्धान्त, दर्शन आदिके महत्त्वपूर्ण लेखोंसे भरा यह अभिनन्दन-ग्रन्थ ज्ञानवर्धक होनेसे संग्रहणीय रहेगा।

हमारी भावना है कि आप चिरायु हो और आपके जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्वका दर्शक यह अभिनन्दन-ग्रन्थ समाजके जिज्ञासुओके लिए नूतन स्रोत बने।

भद्रं भूयात्—वर्धतां जिनशासनम्। इत्याशीर्वाद।

●

प्रधान मंत्री,
भारत
नई दिल्ली
१ सितम्बर, १९८९

सन्देश

पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य के उपलक्ष्य में प्रकाशित किए जा रहे अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता के लिए कृपया सभी संबंधितों को मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ सम्प्रेषित करें।

राजीव गांधी

गृह-मंत्री,
भारत
नई दिल्ली–११०००१
१६ सितम्बर, १९८९

सन्देश

यह बड़े हर्ष का विषय है कि आप वयोवृद्ध स्वतंत्रता-सेनानी और विद्वत्वर पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य के अभिनन्दन का आयोजन कर रहे हैं। इस प्रशंसनीय प्रयास के लिए आप साधुवाद के पात्र हैं।

पं० बंशीधरजी ने आजादी की लड़ाई और साहित्य-साधना के साथ ही समाज-सुधार के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं वे नयी पीढ़ी के लिए प्रेरणा के स्थायी स्रोत हैं। मैं पं० बंशीधरजी की दीर्घायु के साथ ही आपके प्रयास की सफलता की मंगल-कामना करता हूँ।

बूटा सिंह

राष्ट्रीय स्तरके मनीषीका अभिनन्दन

● साहु अशोक कुमार जैन, अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन तीर्थरक्षा कमेटी

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आदरणीय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका राष्ट्रीय स्तरपर सम्मान किया जा रहा है और इस अवसरपर अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रकाशन की भी योजना है।

निस्सन्देह पं० बंशीधरजी जैन समाजके मूर्धन्य विद्वानोंमेंसे है। देश, समाज और जैन वाङ्मयके प्रति उनकी सेवाएँ अमूल्य है। समाजका यह गौरव है कि उसे पं० बंशीधरजी जैसे महान् मनीषी, चिन्तक और विचारकका सान्निध्य प्राप्त है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्वकी जितनी भी सराहना की जाय, थोड़ी है। इस महान् योजनाके साथ आपने मुझे भी जोड़ा है, इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। मेरी कामना है कि आदरणीय पण्डितजी चिरायु हों तथा समाज उनके ज्ञानसे निरन्तर लाभान्वित होता रहे। पण्डितजीके प्रति मेरी आदरपूर्ण विनयाजलि।

समारोह एवं अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन योजनाकी पूर्ण सफलताकी शुभ कामनाओंके साथ।

मूल आम्नायके संरक्षक विद्वान्

● श्री निर्मलकुमार जैन सेठी, अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन महासभा

मुझे जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जैन आगमके महान विद्वान व मूल आम्नायको सुरक्षित रखनेकी आनमें विद्वत् वर्गमे जो भावसे ज्यादा चिन्ता है ऐसे महान् व्याकरणाचार्य व जैन संस्कृतिके उन्नायक पण्डित बंशीधरजीको समाजने अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करनेका निश्चय किया है यह महासभाके लिये अत्यन्त ही प्रसन्नता की बात है। सच तो यह है कि महासभाको आगे बढकर दो दशकोके पहले ही पण्डितजीको यह आदर देना चाहिये था।

वे चिरायु हो, यही कामना है।

सरस्वतीके भण्डारको भरते रहें

● श्री डालचन्द्र जैन, सांसद तथा अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन परिषद

सरस्वती वरदपुत्र पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य जैन समाजके ख्याति प्राप्त विद्वान् है। उनकी अविरल सेवाओके फलस्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है। यह समाजको गौरवकी बात है।

आदरणीय पण्डितजी जैनदर्शन और जैन सिद्धान्तके अधिकारी विद्वान् तो है ही लेखक, ग्रन्थकार, सफल संपादक और समाज-सेवी व्यक्तित्व तथा स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी भी है। वे सदैव समाज एवं संस्थाओ से साबद्ध रहे हैं और इस वृद्धावस्थामे भी चिन्तन और लेखनकी दिशामे सतत संलग्न है।

श्री वीरप्रभुसे प्रार्थना है कि वह श्रद्धेय पण्डितजीको स्वस्थ जीवन और दीर्घायु प्रदान करे, ताकि वह सरस्वतीके भण्डारको भरते रहे।

मैं इस प्रयासकी सफलताकी कामना करता हूँ।

कर्मठ जिनवाणी सेवक

● श्री निर्मलचन्द सोनी, अजमेर

अभिनन्दन समारोह समितिने जैन विद्वज्जगत्के कर्मठ जिनवाणी सेवक श्री सरस्वती पुत्र पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यको उनकी ज्ञानाराधनाके उपलक्षमे अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण करनेका उपक्रम किया है वह अत्यन्त उपयुक्त एव सराहनीय है। आगम सेवकोका समाज जो भी सम्मान करे वह थोडा है।

मैं पण्डितजीसे व्यक्तिगत कभी परिचित नहीं हुआ हूँ, फिर भी उनकी लेखनीसे प्रसूत आगमनिष्ठ, तर्कपूर्ण लेखावली तथा ग्रन्थावलीसे अवश्य प्रभावित हूँ।

प्रकाश्य अभिनन्दन ग्रन्थ उनकी व्यक्तिगत स्याद्वादगर्भित रचनाओंका एक प्रामाणिक संग्रह होगा और उसे विद्वद्गण और स्वाध्यायनिष्ठ जनता अपनायेगी तथा स्वाध्याय करेगी, ऐसी आशा है।

आदरणीय पण्डितजीके प्रति मैं अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हुआ उनके स्वस्थ एवं चिरायुष्यकी मंगल-कामना करता हूँ।

जैन विद्वानोंमें कीर्तिमान

● श्री देवकुमार सिंह, कासलीवाल, इन्दौर

आदरणीय पण्डितजीने जैन विद्वानोंमें कीर्तिमान स्थापित कर विशेष स्थान प्राप्त किया है, उस परिप्रेक्ष्यमें उनका अभिनन्दन समयोचित एवं प्रशंसनीय है।

आदरणीय पण्डितजी स्वस्थ्य एवं दीर्घायु हों, ऐसी वीर प्रभुसे प्रार्थना है।

समाजकी महान् विभूति

● श्री रमेशचन्द्र जैन, कार्यकारी निदेशक, टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली

सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधरजी शास्त्री व्याकरणाचार्य जैन समाजके मूर्धन्य विद्वानोंमें हैं। उनके ज्ञानके आलोकमें जैन वाङ्मयकी आभा चारों ओर फैली है। समाज गौरवान्वित और धन्य हुआ है। ऐसे विद्वान्, मनीषी और साहित्यके साधकका आप अभिनन्दन कर रहे हैं, यह नितान्त हर्षका विषय है।

जैनदर्शनके अधिकारी विद्वान् पण्डित बंशीधरजीका जीवन प्रेरणाका अजस्र स्रोत है। ८४ वर्षकी अवस्थामें भी यह कमठ व्यक्तित्व साहित्य-साधनामें संलग्न है। ज्ञान, ध्यान, चिन्तन और मननके सागरको मथकर पण्डितजीने जिस सुधारसका पान समाजको कराया है, समाज उससे कभी उऋण नहीं हो पायेगा। पण्डितजी हमारी विभूति हैं। प्रभु उन्हें चिरायु करें, वे स्वस्थ रहें, यही उनके चरणोंमें मेरी विनयांजलि है।

मंगल कामना

● स० सिं० धन्यकुमार जैन, कटनी

पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना पुरानी पीढ़ीके पण्डित वर्गमेंसे एक विद्वान् हैं। आज उनकी आयु ८४ वर्षकी है। पुरानी पीढ़ीके विद्वानोंमें प्राय कुछ ही विद्वान् बचे हैं। इन्होंने अपने जीवनकालमें राष्ट्र, समाज, जाति और धर्मकी सेवा की है। अपनी स्वतन्त्र-विचारधारा, चिन्तन-मनन और लेखनकी उनकी अपनी विशेष शैली रही है। जैन आगम पर उन्होंने साहित्य सृजन किया है। उनके अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण योजनाका मैं स्वागत करता हूँ। वे दीर्घजीवी हों, समाज और धर्मकी चिरकाल तक वे सेवा करें—इसकी मैं मंगल कामना करता हूँ।

सही अर्थोंमें सरस्वती वरदपुत्र

● श्री बाबूलाल पाटोदी, इन्दौर

श्रद्धेय पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य सही अर्थोंमें सरस्वती वरदपुत्र हैं। मुझे उन्हें सुननेका अवसर प्राप्त हुआ, उनकी स्पष्ट भाषा, तार्किक शैली श्रमण-परम्परासे कभी विमुख नहीं हुई। वे जिनवाणी एवं आचार्योंके कथनमें किसी प्रकारकी मिलावट नहीं चाहते। उन्हें कभी पद एवं प्रतिष्ठाका मोह नहीं रहा।

जिनवाणी-माताके निष्पृह चिन्तकके रूपमें अपना जीवन जिया। खानिया तत्त्वचर्चामें आपने जैनदर्शन और जैन सिद्धान्तका जिस प्रकार गम्भीर विचारकके रूपमें स्वतन्त्र चिन्तन दिया उसने विद्वानोंको सोचनेके लिये नई दिशा प्रदान की। जो भ्रमित हो रहे थे उन्हें सही राह बताई।

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीने बुन्देलखण्डको जैन वाङ्मयके अनेको विद्वान् दिये। आज समाजमें जो सर्वाङ्ग पण्डितोंकी कमी महसूसकी जा रही है व उनके स्थानपर साप्ताहिक, पाक्षिक एवं मासिक शिक्षण-शिविरोंमें भाषण सुनकर कथित पण्डित निर्मित हुए हैं, उन्होंने धर्म एवं वाङ्मयका जितना अहित किया है, शताब्दियोंमें उतना नही हुआ।

पूज्य पण्डित बंशीधरजी वर्तमान युगके स्वतन्त्र चिन्तक, जिनकी कथनी व करनीमें कोई भेद नही, हमारी अपूर्वनिधि हैं। उनका अभिनन्दन करके विद्वत्जन एवं समाज अपना ऋण हलका कर रहा है। सम्पूर्ण समाज पण्डितजीको हृदयसे नमन करता है।

सेवा ही जिनका लक्ष्य है

● श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका, अध्यक्ष, श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका नाम जैन समाज, दर्शन, साहित्यके क्षेत्रमें एक जाना-माना/सुपरिचित नाम है। व्यवसायी होते हुए भी आप साहित्य और समाजकी सेवामें जिस प्रकार जुड़े हुए है वह श्लाघनीय है। सच तो यह है कि प्रारम्भसे ही "सेवा" आपके जीवनका एक अभिन्न अंग रही है, देश-सेवा, समाज सेवा, साहित्य सेवा ये ही तो लक्ष्य/उद्देश्य रहे है आपके जीवनके। अध्ययन-मनन-चिन्तन-लेखनमें आप आज भी सक्रिय एवं सलग्न है। ऐसे कर्मठ प्रेरणास्पद व्यक्तित्वके प्रति मैं अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हुआ उनके स्वस्थ और सक्रिय दीर्घ-जीवनकी कामना करता हूँ।

गार्हस्थ्य, संन्यास और विद्वत्ताकी त्रिवेणी

● राय देवेन्द्रप्रसाद जैन, एडवोकेट, गोरखपुर

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जीवनपर्यन्त जैनसमाज तथा जैनसाहित्यकी सेवा करनेवाले स्वनाम धन्य सिद्धान्ताचार्य पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, शास्त्री एवं न्यायतीर्थकी सेवाओंको स्मरण करने और उनके प्रति आभार ज्ञापनार्थ अभिनन्दन ग्रन्थका प्रकाशन होने जा रहा है।

श्रद्धेय पंडितजीका नाम तो मैंने बहुत सुन रखा था पर उनके दर्शनका सौभाग्य मुझे डॉ० दरबारी-लालजी कोठियाके अभिनन्दन ग्रंथ समारोहके समय हुआ। पंडितजीसे बात करनेपर मैं उनकी विद्वत्ता, गहन अध्ययन, जैनदर्शनमें उनकी गहरी पैठ देखकर आश्चर्यचकित रह गया।

दूसरी बार पंडितजीके घरपर दो दिन ठहरनेका सौभाग्य मिलनेपर उनके निकट साहचर्यका अवसर प्राप्त हुआ। गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ तथा सन्यास तीनोका आश्चर्यजनक समिश्रण पंडितजीमें देखकर बहुत ही प्रभावित हुआ। उनकी दिनचर्या प्रात ३ बजेसे प्रारम्भ होती है। अध्ययन, चिन्तन लेखनके प्रति उनका समर्पण बड़ा प्रेरणादायक रहा। गृहस्थ जीवनमें ऐसी रुचि तथा अध्यात्मसे प्रेम दोनो गुण एक साथ बहुत कम देखनेको मिलते हैं। पं० जीका मधुर भाषण तथा सादा जीवन अनुकरणीय है। मेरे जैसे सामान्यजन-को पंडितजीने दर्शन जैसे गूढ विषयको सरल तथा बोधगम्य भाषामें थोड़े समयमें ही ग्राह्य करा दिया। यह उनकी विलक्षणता है।

अन्तमें पंडितजीके दीर्घायु होनेकी हार्दिक कामना करते हुए पुन. प्रसन्नता व्यक्त करना चाहता हूँ कि पंडितजी जैसे महान् धर्मसेवी, स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, साहित्यिक तथा समाजसेवीकी सेवाओंके प्रति

आभार प्रकट करनेके लिए अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशनका निर्णय उचित ही है। यह अभिनन्दन पंडितजीका नही है बल्कि साहित्य तथा दर्शनका अभिनन्दन है ऐसी मेरी भावना है। मेरा बारम्बार नमन।

जिनवाणीके परम आराधक

● श्रीमन्त सेठ राजेन्द्रकुमार जैन, एडवोकेट, विदिशा

परम आदरणीय श्रद्धेय प० बंशीधरजीका अभिनन्दन उनकी ही नही, प्रत्युत उनकी विद्वत्ताकी महिमाका परिचायक है। आदरणीय पडितजीने अपना जीवन जिनवाणीमे लगातार सार्थक किया है। इसके परम लक्ष्यसे उनका जीवन जीवत होगा। जिनवाणीका परमलक्ष्य वीतराग विज्ञानताका है और इससे समन्वित जीवन ही जीवंत होता है। ऐसे जीवनको पीकर भवचक्रकी परवाह नही रहती। जिनवाणीका यही भाव भाषण उनके जीवनमे आवे, यह भावना है और यही उनका वास्तविक सम्मान है।

जैनजगत्‌के गौरव पुंज

● श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ

श्रद्धेय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, सिद्धान्ताचार्य समग्र जैन जगतके चोटीके मूर्धन्य विद्वान् एव गौरव पुंज है। श्रद्धेय पं० जी आरम्भसे अब तक चौरासी वर्षको उम्र होने पर भी जैनधर्मकी महती न्याय-पूर्ण समीचीन आर्षमार्गकी सैद्धान्तिक सेवा कर रहे है। श्रद्धेय प० जीने कानजी पंथके विरुद्ध खानिया तत्त्व चर्चामे प्रमुख भाग लिया था और उस विषय पर सप्रमाण अनेक ग्रन्थ लिखे है। वे उनकी अनेकान्तमयी आर्षमार्ग पर दृढ श्रद्धाको प्रतिष्ठापित करते है।

मैं वीर प्रभुसे मगल कामना करता हूँ कि आप दीर्घजीवी हो एव आर्षमार्ग वीतरागमार्गके अनुयाइयोको समुचित मार्गदर्शन देते रहे।

अनुकरणीय साहित्य-साधना

● श्री प्रेमचन्द्र जैन, अध्यक्ष-राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली

हमे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि विद्वद्वर्य प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यको अखिल भारतीय स्तरपर समाज अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करनेको जा रही है। पण्डितजीकी सेवाओको देखते हुए समाजका यह निर्णय निःसन्देह प्रशंसनीय है।

व्याकरणाचार्यजी आरम्भमे ही स्वतत्र चिन्तक और विचारक है। उन्होने शिक्षाको कभी आजीविका-का साधन नही बनाया। अतएव वे स्वतत्र व्यवसायी रहते हुए देश, समाज, साहित्य और धर्मकी सेवामे संलग्न है। आपने गजरथ विरोधी आन्दोलन व अनेक आन्दोलनोमे भाग लिया। बामौराका दस्सा पूजा-धिकारका ऐतिहासिक मुकदमा भी आपने लडा। आप गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसीके वर्षों मत्री रहे। अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्‌के अनेक वर्षों तक मत्री व अध्यक्ष रहे। गुरु गोपालदास वरैया शताब्दी समारोह आपके अध्यक्ष कालमे सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था।

आप सफल पत्रकार, लेखक और सम्पादक भी है। शान्तिसिन्धु और सनातन जैन पत्रोका आपने योग्यतापूर्वक सम्पादन किया है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमें सैकडो लेख आपने लिखे है। उनमे अनेक लेख तो बहुत ही चिन्तनपूर्ण और गभीर है। जैनतत्त्व-मीमासाकी समीक्षा, जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षा, जैनदर्शनमे निश्चय और व्यवहार जैसी पुस्तके तो जैनसाहित्यकी अमूल्य निधि है। तात्पर्य यह है कि आपकी समाजकी सेवा और साहित्यकी साधना निश्चय ही वर्तमान और भावी पीढ़ीके लिए अनु-करणीय है।

समाज और साहित्यकी तरह आपकी राष्ट्र-सेवा भी उल्लेखनीय है। सन् १९३१ से ही आप राष्ट्रीय कार्योंमें सक्रिय सहयोग देने लगे थे। सन् १९४२ के स्वतन्त्रता आन्दोलनमें आपने सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोंमे असह्य कष्ट सहे। खादीको अपनाकर भी अन्य खादीधारी नेताओंसे बचे रहे। भारत सरकारने आपको स्वतन्त्रता सेनानीके रूपमें ताम्रपत्रपर अंकित प्रशस्ति पत्र द्वारा सम्मानित किया है।

समाजके विश्रुत विद्वान् स्वर्गीय पं० बालचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य आपके परिवारके सदस्य (भतीजे) हैं। आपके पुत्र भी सुयोग्य व धार्मिक विचारधाराके है। ऐसे देश, समाज, साहित्य और धर्मसेवी विद्वान्को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंटकर समाज निश्चय ही गौरवान्वित होगा।

श्रद्धा-सुमन

● श्री ताराचन्द्र, प्रेमी, महामंत्री भा० दि० जैन संघ, मथुरा

मुझे यह ज्ञातकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि परम श्रद्धेय भाई साहब पं० बंशीधरजीको अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करनेका समाजने निर्णय लिया है।

वस्तुत वे उसके योग्य है। उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ किसीसे छिपी नही हैं। दस्सा पूजाधिकारमे उनका प्रमुख भाग रहा है। समाजमें खासकर बुन्देलखण्डमे गजरथोंकी भरमार थी और उनमे कितना ही अपव्यय होता था, जिससे समाजमे शिक्षा जैसे विधेयात्मक कार्य नही हो पाते थे। पण्डितजीने इस दिशामे कदम उठाया और गजरथोका विरोध किया। सहस्रो लोगोने उनका समर्थन किया। फलत आज गजरथोंमे कमी हो गयी है और उनमे सुधार हुआ है। शिक्षाका प्रसार एवं प्रचार भी हुआ है।

पण्डितजीकी राष्ट्र-भक्ति भी कम नही है। सन् १९४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलनमे भाग लेनेपर वे जल भी गये। आज उनका नामोल्लेख बडे गर्वके साथ स्वतन्त्रता-सेनानियोमे किया जाता है।

हम उन्हे अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए उनके शतायु होनेकी मंगल-कामना करते है।

जैन आगमके जागरूक प्रहरी

● स० सिं० जिनेन्द्रकुमार जैन गुरहा, खुरई

जैन आगमके जागरूक प्रहरी धार्मिक, सामाजिक एव राष्ट्र-सेवाके सभी क्षेत्रोमे पं० जीकी स्तुत्य सेवा सदा स्मरणीय है। आर्षप्रणीत जिनागम एवं आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन, मनन और चिन्तनमे ८४ वर्षकी इस आयुमे भी प० जी सतत सलग्न है। सावधानीसे अपनी लेखनीसे जैनसाहित्य एवं रचनाये, समाज एव विद्वानोको अर्पित कर रहे हैं और उनका आह्वान कर रहे है कि वे जिनागमके प्रतिकूल प्रचार व आचरण न करें, जो कि आजकल चल पडा है। यह अनेकान्त विरोधी "एकान्त मत" समाजमे अनेक विवादो-विकारो को जन्म दे रहा है। सन् ६३ मे जयपुर (खानिया) में "इन नये' व "पुरातन" विचार वाले विद्वानोके मध्य तत्त्व चर्चाका आयोजन निष्कर्ष पूर्ण नही रहा। फलत. आगम अनुकूल विद्वानोंको "शंका पक्ष" व इन "एकान्तियो" समाधान पक्ष-बना डाला है, जिससे तत्त्व निष्पन्न होनेकी अपेक्षा उलझ गया। इसी हेतुसे प० जीने व अन्य समाजके विद्वानोने इस "सोनगढ" पक्षकी समीक्षा करनेका संकल्प लेकर लेखन कार्य किया है। "खानियाँ तत्त्व चर्चाका समीक्षा", "जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार", "पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी" तथा समय-समय पर जैन पत्रिकाओमे प्रचुर शोधपूर्ण लेख लिखे है।

उनकी कृतियाँ गम्भीर मनन, चिन्तन, अध्ययनकी विषय है जो कि निष्पक्ष भावसे पढ़ने पर "बोध गम्य" है। जैन संस्कृति-संस्कार अक्षुण्य रहे। श्रद्धेय पं० जी दीर्घायु हों यही शुभ कामना है।

सिद्धान्तके लौह पुरुष

● श्री भगतराम जैन, मंत्री, अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद, दिल्ली

पं० बंशीधर शास्त्रीका स्थान जैनसमाजमे उच्चकोटिके विद्वानोंमेसे है।

पं० बंशीधर शास्त्रीजी अ० भा० दिगम्बर जैन परिषदसे प्रारम्भसे जुड़े हुए है। इन्होने परिषदकी रीतिनीतिका सदैव समर्थन किया है। अब भी वह परिषद केन्द्रकी प्रबन्धसमितिके सदस्य है। उनपर किसी दबाव या प्रलोभनने उनके विचारोंमें कोई परिवर्तन नही होने दिया।

कपडेके व्यापारमे व्यस्त होते हुए भी अपनी धार्मिक लगनमे लग्नशील है। प्रतिष्ठा प्राप्तिकी भावना-से दूर रहते है। सादगीका जीवन सरल स्वाभावी सभी विशेषताये इनमे पाई जाती है। समाजमे इनके द्वारा लिखित ग्रन्थोका अपना स्थान है।

मुझपर उनका बडा स्नेह है। मुझे जब भी बीना जानेका अवसर मिलता है मै सीधा उन्हीके यहाँ पहुँचता हूँ। सामाजिक चर्चाएँ भी होती है।

अपनी श्रद्धाके सुमन अर्पित करते हुए उनके दीर्घजीवनकी कामना करता हूँ।

नैतिकता और कर्त्तव्यनिष्ठाकी प्रतिमूर्ति

● सि० आनन्दकुमार जैन पूर्व अध्यक्ष नगर पा० एव स्थानीय जैन हितोपदेशिनी सभा, बीना

पण्डितजी वाराणसीमे अध्ययन समाप्तकर सन् १९२८ मे बीना आये थे और तभीसे उन्होंने बीनाको अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

जैनदर्शनके मौलिक चिन्तक एव विचारकके रूपमे जहाँ एक ओर आपकी प्रतिभाका उद्भव हुआ, वही दूसरी ओर महात्मा गान्धीके स्वतत्रताके राष्ट्रीय आन्दोलनोसे आपका हृदय उद्वेलित होने लगा। धर्म एव राष्ट्र एक दूसरेके सम्पूरक होते है। इस भावनासे अनुप्राणित होकर आप राष्ट्रीय कार्योंमे सक्रिय हो गये और सन् १९४२ मे आन्दोलनमे आप सागर व नागपुर,अमरावतीकी जेलमे न जाने कितने कष्ट सहे।

युगकी आवश्यकताको दृष्टिगत रखते हुए आपने सन्मार्ग प्रचारिणी समिति द्वारा देवगढ और केवलारी गजरथ विरोधी आन्दोलन किये।

एक स्वतन्त्र व्यवसायीके रूपमे अपना जीविकोपार्जन करते हुए अपने पाडित्यको अर्थोपार्जनका माध्यम नही बनाया। आपकी विद्वत्ता और चिन्तनशीलता उच्चकोटिकी है। साथ ही दो बाते, जो मैने आपके जीवनमे देखी, वे है—कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकता। समाज, राष्ट्र और धमके त्रिकोणपर आपने अपनी इन विशेषताओ को आजीवन जीवन्त बनाये रखा है। एक महान् लेखक और साहित्य-मनीषीके रूपमे भी आप विश्रुत है। आज भी साहित्यप्रणयनका महानयज्ञ इस ८४ वर्षकी वयोवृद्धावस्थामे अनवरत चालू है।

अपने ठोस और आगम तर्कोंके द्वारा एकान्त नयका बहुत स्पष्ट और सूझबूझ पूर्वक सैद्धान्तिक खण्डन कर आर्ष परम्परा और आजके तथाकथित धार्मिक साहित्यमे आये दोषोका निराकरण न केवल अपने चिन्तन-शील निबन्धो / लेखोके द्वारा किया अपितु "जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार" जैसी कृतियाँ लिखकर समाज, शासन एवं धर्मका महान उपकार किया है।

बीनाकी स्थानीय सस्था श्री नाभिनन्दन दि०जैन हितोपदेशिनी सभाके आप वर्षों मत्री पदपर आसीन होकर, इस सभाको जीवनदान देकर समुन्नत किया था।

पण्डितजी शान्तिप्रिय, अनुशासनप्रिय और मितभाषी है। इन्ही गुणोका प्रभाव आपके परिवारपर पडा। समाजके मार्ग दर्शक एव राष्ट्रके नि स्पृह सेवक शतायु होनेकी मगल कामना करता हुआ अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

सादा जीवन उच्च विचार

● स० सिं० सुमेरचन्द्र जैन, जबलपुर

पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना (सागर) बुंदेलखण्डके महान् जैन विद्वान हैं। सन् १९५० में पण्डितजी का पहला परिचय खुरईमें महावीर जयंतीके शुभअवसरपर हुआ था। उस समय रात्रिको आपके भाषणको सुननेका लाभ मिला था। पण्डितजीका जीवन बहुत ही सादगी पूर्ण है। घरपर या दुकानपर हमने हमेशा ही चिन्तन-मनन करते हुए देखा। ता० ११-५-८९ को हम बीनामें पचकल्याण गजरथके शुभ अवसरपर मिले थे। तब हमने आपसे दिगम्बर जैन समाज बीनाके सघटन बाबत चर्चा की थी। अच्छा यह हुआ कि इस कार्यमें सफलता मिली। पण्डितजीने अपने जीवनमें अनेक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थोको लिखा है, जिनमे आपने अनेक जैन विषयोपर अच्छा प्रकाश डाला है। हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते तथा शुभकामना करते है कि आप शतायु हो।

समाजके वरिष्ठ विद्वान

● श्री बालचन्द्र चौधरी, चौधरी सदन, सतना

राष्ट्र व समाजके वरिष्ठ विद्वान् महामनीषी पं० बंशीधर व्याकरणाचार्यको उनकी राष्ट्रीय, सामाजिक साहित्यिक और धार्मिक सेवाओंके उपलक्ष्यमें समाज अभिनन्दन-ग्रन्थ भेटकर अभिनन्दित एवं सम्मानित कर रहा है, यह उचित एवं स्तुत्य निर्णय है। मैं उन्हें हार्दिक शुभकामनाएँ भेज रहा हूँ। वे दीर्घजीवी होकर समाज और साहित्यकी सतत सेवा करते रहे।

तीर्थ-भक्त पण्डितजी

● सेठ शिखरचन्द्र जैन मंत्री, श्री सिद्धक्षेत्र रेशंदीगिर

अति प्रसन्नता हुई, जब हमें ज्ञात हुआ कि समाज द्वारा पण्डितजीको अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। पण्डितजीका इस क्षेत्रसे पूर्वका नाता व लगाव है। उनके ही भतीजे प० डॉ० दरबारी-लालजी कोठियाकी जन्मस्थली यह पावन तीर्थ भूमि पण्डितजीके अभिनन्दनके शुभावसरपर उनके दीर्घ-जीवनकी कामना करती है। पण्डितजीका तीर्थोंके प्रति लगाव व भक्ति उनकी प्रतिभासे स्वयमेव झलकती है यही कारण है कि उनने संस्थाओ व तीर्थोंकी अनवरत सेवा की है। उनका ध्यान तीर्थोंके सरक्षण व सम्वर्धन हेतु बना रहे इसी कामनाके साथ।

प्रतिभाशाली विद्वान्

● डॉ० कपूरचन्द्रजी जैन, महामंत्री, दि० जैन सिद्धक्षेत्र अहारजी

आदरणीय प० जी समाजके प्रतिभाशाली विद्वान मूर्धन्य लेखक एव ओजस्वी वक्ता है। उनके द्वारा ग्रन्थ लेखन एवं विद्वत्तापूर्ण भाषणो द्वारा किया गया धर्मका प्रचार तथा सामाजिक सेवाये इतनी अधिक हैं जो भुलाई नही जा सकती। मै उनके स्वास्थ्य एव दीर्घायुकी कामना करता हूँ।

वे स्वस्थ और दीर्घजीवी हों

● श्री अक्षयकुमार जैन, पूर्व सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

श्रद्धेय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने समाज, साहित्य और दर्शनको जो दिया है उसके लिए हम सब सदा ऋणी रहेगें। उनके अभिनदनके अवसरपर मैं अपनी विनयांजली प्रस्तुत करता हूँ। प्रभु पण्डितजी-को स्वस्थ और दीर्घजीवी करे, यही कामना है।

आगमनिष्ठ विद्वान्

● श्री महावीरप्रसाद जैन नृपत्या, जयपुर

मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि जैन समाजके वरिष्ठ एवं आगमनिष्ठ विद्वान् पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। विद्वान् समाजकी धरोहर होते हैं तथा वे धर्म एवं संस्कृतिके संरक्षक माने जाते हैं। पण्डितजी सा० ने अपना समस्त जीवन जैन परम्पराओंको सुरक्षित रखने तथा उसके संवर्धनमे लगाया है। वे सरस्वतीके वरद पुत्र हैं, जिनकी लेखनी अजस्र प्रवाहित होती रहती है।

मैं उनके अभिनन्दनके अवसरपर अपनी हार्दिक शुभकामना प्रेषित करता हूँ तथा भावना भाता हूँ कि शतायुः होकर इसी प्रकार जिनवाणीकी सेवा करते रहें।

हार्दिक मनोभावना

● मान्य ब्र० पं० माणिकचन्द्र चवरे, अधिष्ठाता महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा

विद्वद्वर्य पंडित श्री बंशीधरजी व्याकरणाचार्य अपने विषयके निश्चित ही अध्यवसायी, विशेषज्ञ और विशिष्ट विचारोंके धनी है। विद्वत् परिषदके मान्य अध्यक्ष रह चुके हैं। जीवनमे पूरी सादगी है। उपजीविका के निमित्त वस्त्र-व्यवसाय करते हुए भी स्वाध्याय-विशेषमें सतत निमग्न रहते है। खुरई संस्थाके निमित्त जब-जब बीना पहुँचना हुआ, आपको सदाही स्वाध्याय मग्न पाया। आपसे भेंट करके हमेशा प्रसन्नता पायी। हमें सातिशय वात्सल्य प्राप्त हुआ।

प० पू० स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजकी परमकृपासे हुई प्रसिद्ध 'खानियाचर्चा'के समय पूर्वपक्ष बलशाली रूपमें रखनेमे आपके पक्षने कोई कसर नही रखी, उत्तरदाताओंको उत्तर देनेके लिए जो भारी शक्ति और उपयोग लगाने पडे उनका साक्षात्कार पदसे समय होता ही है। प्रश्नोत्तरोंकी इस विस्तृत प्रक्रियामे सूक्ष्म प्रमेयोंकी सूक्ष्मतम घटाएँ प्रामाणिक अभ्यासियोंके लिए अपूर्वरूपमें उपलब्ध हुई। एक अद्भुत अध्ययन-की वस्तु सिद्धान्त वेत्ताओं द्वारा समाजको प्राप्त हुई। दोनों पक्षोका मैं स्वय ऋण ही मानता हूँ।

इस अभिनन्दनकी प्रशस्त पुण्यवेलामे विद्वद्वर पण्डितजीको निरामय दीर्घायुमें निर्विकल्प ज्ञानध्यानके लिए पूरी अनुकूल साधन-सामग्री उपलब्ध रहे, यह हार्दिक मनोकामना करता हूँ।

निर्भीक वक्ता

● पं० ब्र० गोरेलाल शास्त्री, उदासीनाश्रम, द्रोणगिरि

सरस्वतीवरदपुत्र पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य वास्तवमें सरस्वतीके वरदपुत्र हैं। वे निर्भीक वक्ता, लेखक, मित्रजनोंकी झूठी प्रशंसासे विमुक्त हैं। उन्हें मैंने नजदीकसे देखा, प्रवचन सुना। उनके कथनमें विद्वत्ता व निर्भीकता टपकती है। वे व्याकरणाचार्य तो हैं ही। सब विषयोंमे उनकी अबाधगति है। सोंरई जैसे एक छोटे ग्राममे जन्म लेकर महान् विद्वान् हो गये। विद्वत्ताकी अपेक्षा वे सर्वोपरि विद्वान् हैं। मेरी शुभकामना है कि पण्डितजी शतायु होकर समाज और राष्ट्रको ज्ञान देते रहें।

मैं अभिनन्दन करता हूँ

● पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, हस्तिनापुर

मान्य श्री पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्यको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर उनके अभिनन्दनकी तैयारी हो रही है, वह स्वागत योग्य है····वे इसके योग्य है। इसलिये मैं उनके अभिनन्दनका स्वागत करता हूँ और उनका स्वयं अभिनन्दन करता हूँ।

स्वतन्त्र विचारक एवं चिन्तक

● पं० भँवरलाल न्यायतीर्थ, सम्पादक 'वीर वाणी', अध्यक्ष, विद्वत्परिषद्

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्के भूतपूर्व मन्त्री एवं अध्यक्ष, सिद्धान्ताचार्य, व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, साहित्यशास्त्री आदि अनेक उपाधिधारी विद्वान् पं० बंशीधरजी बीनाका अभिनंदन-ग्रन्थ प्रकाशनकी योजना एक प्रशंसनीय कार्य है। यह अभिन्दन किसी व्यक्तिविशेषका नही, माँ सरस्वतीके एक उपासकका अभिनन्दन है, सम्मान है। पूज्य प० जी स्वतन्त्र विचारक है, चिंतक है और निर्भीकतापूर्वक अपने विचारोंको प्रकट करते है। वृद्धावस्थामे भी अपने चिन्तन-मननके आधारपर तर्कों द्वारा अपने मन्तव्यको लोगोंके गले उतारनेमे सक्षम हैं।

सिद्धान्तशास्त्री पं० फूलचन्द्रजी द्वारा रचित 'जैन तत्त्वमीमासा' के उत्तरमें आपने 'जैनतत्त्व मीमासा की मीमासा' की रचना की थी। जैनदर्शनमें कार्य-कारणभाव और कारक व्यवस्था नामक पुस्तक भी आपने लिखी है। आपने अनेक पत्रोमे सैद्धान्तिक निबन्ध भी लिखे है। अभी वीरवाणीमें आपने "आगममे कर्मबन्धपर विचार" शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा था, जिसके उत्तरमे ममागत विद्वानोंके विचारोंपर "कर्म सम्बन्धी स्वकीय दृष्टिका स्पष्टीकरण" शीर्षक लेख द्वारा आपने अपने मन्तव्यको ममझानेका सफल प्रयत्न किया है। विचार-भेद / मान्यता-भेद भले ही आपकी रचनाओसे हो, पर आपका चिन्तन तर्क प्रधान है।

प० बंशीधरजी जहाँ सैद्धान्तिक चर्चाओंमें अपनी विशेषता रखते हैं वहाँ सामाजिक महत्त्वपूर्ण सुधारवादी क्रान्तिकारी विचारोमें भी कम नही है। आप दस्सा पूजाधिकार, गजरथ-विरोध आदि आन्दोलनोंमे भी अगुआ रहे है। साथ ही राष्ट्रके स्वतंत्रता-आन्दोलनमे खूब भाग लिया है और सेवा की है। सन् १९३१ मे ही गाधीजीके आन्दोलनमे कूद पडे थे और सन् १९४२ मे कृष्ण-मन्दिर की यात्रा भी की है, यातनाये सही है।

आपका जन्म ८४ वर्ष पूर्व हुआ। बचपनमें ही माता-पिताका वियोग सहना पडा। कठिन श्रम करके एक ऊँचे दर्जेके विद्वान् बने। परिस्थिति और संकटोमे जूझने वाले ही तपे स्वर्णके समान निखरते है। पंडित जी ऐसे ही तपे, निखरे हुए पुरानी पीढीके विद्वान् हैं जिनपर समाजको गर्व है। पंडितजी स्वस्थ दीर्घजीवी हो और माँ सरस्वतीको इसी प्रकार सेवा करते रहे, यह मेरी हार्दिक कामना है।

मैंने जैसा देखा-समझा

● श्री नेमीचन्द्र पटोरिया, एम० ए०, एल-एल० बी०, बम्बई

समाज-मान्य विद्वान् श्री प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य समाजके जाने माने अग्रणी विद्वान् है। वे न किसी गुट या किसी तबकेसे जुडे या बँधे हैं। वे केवल उसीसे जुडे है जो सिद्धान्त व तर्क-सगत प्रतीत होता है। वे अपने विचार सरल ओर स्पष्ट शब्दोमे बिना लगाव व दुरावके कह देते हैं इसीमे उनकी विशेषता है।

कभी-कभी उनके गंभीर विचार साधारण गृहस्थके पल्ले कम पडते है, किन्तु विद्वद्-मडलीमे उनके विचारोंका उचित समादर होता है।

आरम्भसे ही मेरे मनपर इनका प्रभाव पडा कि ये विद्वान् सरल प्रकृतिके है। परिधानमे खानपानमे, बोलचालमे, व्याख्यानमे वे सरलताके प्रतीक मुझे लगे। मानों वे एक खुली पुस्तक हैं। कही कोई छिपाव या दुराव नही है, जो कहते हैं स्पष्ट सरल शब्दोंमें कहते हैं।

इनके विचारोंसे कोई इन्हें पुरातन-पंथी मानता है, कोई इन्हें नूतन व उग्रवादी। किन्तु उनके हृदयके द्वार सिद्धान्त और तर्कमें कसे विचारोंके लिये सतत खुले रहते है।

हमारे चरित्र-नायक सब झंझटोंसे दूर आदर्श और धर्ममय गृहस्थ-जीवन यापन करते हैं। वे किसी संस्था या गुटसे जुडे नही है, स्वतत्र व्यवसाय करते है, इससे इनके विचारोमे स्वतत्रताका हम पुट पाते है और जो कहते हैं, स्पष्ट और बेलगाव, चाहे सुननेवालेको प्रिय हो या न हो। 'सत्य शिवं' से डूबे उनके विचार रहते है, 'सुन्दरं' पर उनका ध्यान नहीं है।

मेरी समझमे आवश्यकता है ऐसे मनीषी विद्वानोंके लेख, व्याख्यान और विचारोंका संकलन, जो सुसंपादित और प्रकाशित हो, जिससे सर्वसाधारण और विशेषकर नवयुवकोंको समुचित मार्ग दर्शन मिले।

मैं अभिनन्दनीय विद्वान्के स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवनकी कामना करता हूँ।

सफल कार्यकर्ता और यशस्वी विद्वान्

● पं० नाथूलाल जैन शास्त्री, प्राचार्य, सरहुकमचंद दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर

संस्कृत राष्ट्र भाषा या लोकभाषा प्रयत्न करनेपर भी नही हो सकी, इसका कारण उसके व्याकरणकी क्लिष्टता है, बिना मुखाग्र किये उसके व्याकरणका उपयोग संभव नही है। सभी संस्कृत पद्योका अर्थ भी सरलतापूर्वक बता देना किसी भी संस्कृतज्ञ विद्वान्की शक्तिके बाहर है। संस्कृतमे लिख लेना और बोल लेना भी सहज नही है। ऐसी संस्कृत व्याकरणको प्रारंभसे आचार्यके षट्खंड तक संपूर्ण अध्ययन कर उसमे उत्तीर्णता प्राप्त कर लेनेका शायद प्रथम श्रेय पं०जीको ही प्राप्त है। क्योकि अन्य जो भी प्रसिद्ध विद्वान् है, उसमें अधिक व्याकरण, न्याय आदिके षट्खंड उत्तीर्ण नही हुए है, फिर भी उन्हे व्याकरण, न्याय आदिके आचार्य पदसे संबोधित किया जाता है। पंडितजी साहित्य, जैन दर्शन आदिके भी निष्णात विद्वान् है। राष्ट्रीय आन्दोलनमें सक्रिय भाग लेकर ६-७ बार आपने कारावास भी भोगा है। अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्के अध्यक्ष, नगर कांग्रेस कमेटीके अध्यक्ष आदि विशिष्ट पदोंपर रहकर आपने राष्ट्र, समाज एव साहित्यके क्षेत्रमे खूब सेवायें की हैं। जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार, जैन दर्शनमें कार्यकारण भाव आदि विषयोंपर आपके चिन्तनपूर्ण लेख एव ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। जयपुर खानिया तत्त्वचर्चामे आपका प्रमुख भाग था। पण्डितजी सफल कार्यकर्ता और यशस्वी विद्वान् है। वे आर्थिक दृष्टिसे सपन्न और स्वावलम्बी होनेसे श्रीमान एव धीमान् दोनों है। हमारा विद्वत् समाज आपसे गौरवान्वित है। इस अभिनन्दनके सुअवसरपर मै उनका हार्दिक अभिनंदन एवं चिरायु कामना करता हूँ।

कर्मठ विद्वान्

● डॉ० लालबहादुर जैन, शास्त्री अध्यक्ष, शास्त्री परिषद्, दिल्ली

दिगम्बर जैन समाजके प्रसिद्ध विद्वानोंमे श्री पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका अपना एक स्थान है, जिन्होंने अपने बौद्धिक परिश्रम और आगमिक सिद्धान्त ज्ञानसे मिथ्यावादियोके प्रचार-प्रसारको खण्डित करके जिनवाणीकी रक्षा की है। आपका अभिनन्दन ग्रन्थ तो वस्तुत बहुत पहले ही प्रकाशित होना था। परन्तु जो कुछ होना है वह प्राय अपने समयके अनुसार ही होता है। आदरणीय पण्डितजीकी ज्ञान-गरिमा और गम्भीर आगम ज्ञानसे प्रभावित होकर मै पुन-पुन उनका अभिनन्दन करता हूँ।

क्या तुम्हारे सहपाठी देव हैं ?

● पं० अमृतलाल जैन, शास्त्री, साहित्य-जैन दर्शनाचार्य, लाडनू

सन् १९३३ की बात है। मैं उस समय श्री गो० दि० जैन सि० महाविद्यालय, मोरेनाका छात्र था। उस समय वहाँ केवल चार ही विशिष्ट विद्वानोके नाम गिनाये जाते थे—सर्वश्री न्यायालङ्कार, वादीभकेसरी, पं० मक्खनलालजी शास्त्री, पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री, इन्दौर, बंशीधरजी पण्डीत, सोलापुर (आप अपने नामके आगे पण्डीत लिखा करते थे, न कि पण्डित) और पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, सहारनपुर। पं० बंशीधर-जी व्याकरणाचार्यका नाम नही सुना था। आप अपने भतीजे प० बालचन्द्रजी सि० शास्त्री, प्राचार्य दि० जैन विद्यालय, जारखी (आगरा) से मिलने गये थे। वहाँसे लौटते समय आप मोरेना विद्यालयमें पधारे थे। आपसे मिलकर सभी (बुन्देलखण्डी) छात्रोंको—जो प्राय बडी कक्षाओंके थे—यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई थी कि आप दि० जैन समाजके सर्वप्रथम व्याकरणाचार्य हैं। आपने लगातार ग्यारह वर्ष परिश्रम करके प्रथमा, मध्यमा. शास्त्री और आचार्यके सभी खण्डोमें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होकर 'आचार्य' उपाधि प्राप्त की थी। (पू० प० गणेशप्रसादजी वर्णी और पं० माणिकचन्द्रजीने आचार्यके सभी खण्ड पास नही किये थे।) फलत उक्त छात्रोने आपके अभिनन्दनार्थ सभा करनेका विचार किया। किन्तु''' '। वहाँ उस समय कोई बुन्देलखण्डी विद्वान्, विद्वानोकी कोटिमे गणनीय नही हो सकता था।

आप असाधारण विद्वान् हैं फिर भी निरहङ्कार और मिलनसार हैं—ऐसा अनुभव करके मैं भी आपसे मिला। पूछनेपर मैंने आपसे कहा मैं बमराना (झाँसी) का निवासी हूँ यहाँ गतवर्ष आया था। इस वर्ष सर्वार्थ-सिद्धि, प्रमेयरत्नमाला, पुरुदेवचम्पू, वाग्भटालङ्कार, शाकटायन और अंग्रेजी पढता हूँ। प्राय मासिक आदि सभी परीक्षाओंमें मेरे नम्बर धर्म आदि विषयोंमे सहपाठियोंसे अधिक आते हैं, पर व्याकरणमे सबसे कम ३३ या ३४। आपने पूछा—ऐसा क्यो ? क्या तुम्हारे सहपाठी देव है ? मैंने उत्तर दिया—देव तो नहीं है, पर वे सभी खूब रटते है, मैं रटता नही, केवल समझनेका प्रयत्न करता हूँ। आपने समझाया—कि सूत्र रटना चाहिये, सूत्र रटे विना व्याकरणका ज्ञान नही हो सकता और इसके बिना संस्कृतसे अनभिज्ञ रहोगे। ये बाते मेरी समझमे आ गईं और आपका यह प्रश्न—'क्या तुम्हारे सहपाठी देव है ? मेरे मनमे घर कर गया। इसलिये मैने उसी दिनसे सूत्र रटना प्रारम्भ कर दिया, साधन प्रक्रियाको तो पहलेसे ही समझ रखा था। फलत त्रैमासिक आदि सभी परीक्षाओमे और सोलापुर एवं महासभाकी परीक्षाओंमें भी ८०-८० नम्बर प्राप्त हुए तथा प्रथम पुरस्कार भी। उस वर्ष दोनो ही परीक्षालयोंसे कुल मिलाकर अठारह रु० पुरस्कार या पारितोषिकके रूपमे मिले थे। यह आपके 'क्या तुम्हारे सहपाठी देव हैं ?—इस प्रश्नके प्रभावसे ही हुआ। तभीसे आपके साथ मेरा सम्बन्ध बना हुआ है।

एकान्तका विरोध आपका लक्ष्य

● पं० जवाहरलाल जैन, भीण्डर (राजस्थान)

परमश्रद्धास्पद बंशीधरजी ग्यारह वर्षों तक काशी महाविद्यालयमें पढ़े थे। आज आप भारतके प्राचीनतम विद्वानोंमेसे एक है। स्याद्वादकी रक्षा आपका लक्ष्य सदा रहा है। आचार्य शिवसागर महामुनिकी छत्र-छायामे हुई तत्त्वचर्चा (खानियाजी—जयपुर)में आप तथा रतनचन्द्र मुख्तार प्रमुख थे। पूज्य स्व० रतनचन्द्र मुख्तार मेरे गुरुवर थे। उनके प्रति बंशीधरजीकी वर्षोंसे अपार श्रद्धानिष्ठ मैत्री रही थी। इसका पुष्टप्रमाण यह भी है कि जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा प्रथम भाग नामक ग्रन्थार्थ आपने पूज्य स्व० मुख्तार सा० की स्मृतिमे उन्हें ही समर्पित किया है। आगमके सर्वोपरि शाश्वत अनुगामी, करणानुयोगके

पारगामी मनोषी मुख्तार सा०के प्रति इतनी अनन्य निष्ठा आप (बंशीधरजी) की निकट भव्यताको सूचित करती है।

बंशीधरजीसे कादाचित्क होनेवाले पत्राचारसे नो वर्षोंसे मेरा परिचय था। प्रत्यक्ष परिचय मई, जून ८७ मे धवला वाचनाके कालमें ललितपुरमें हुआ। चर्चाओं-परिचर्चाओंके दौरान आप बहुत सरल स्वाभावी, समता शान्तिसे प्राश्निकके प्रश्नोंका समाधान करनेवाले सूरि प्रतीत हुए। एकान्तका विरोध आपका ध्येय रहा; जो प्रशस्य ही है। आगममें विभिन्न स्थलों पर किये गये समीचीन अर्थोंका परिमार्जन आपकी करणीय कार्योंकी लिस्टमे निहित है। धवलामे शोधन विषयक आपने मुझे हिदायत भी ललितपुरमे ही दी थी। आर्ष-मार्गके उद्योतक पण्डित बंशीधरजीके दीर्घजीवित्व, स्वस्थता, सदा प्रसन्नता आगम प्रणवन तल्लीनता, मुनि मार्ग पोषणकी अनवरत साधना तथा अनेकान्त सम्पोषणका सातत्यकी सदा कामना करता हूँ।

आपका मार्ग सदा प्रशस्त रहे। शुभास्ते पन्थान । भद्रम् भूयात्।

सरलता व सहजताके धनी

● पं० राजकुमार जैन शास्त्री, दमोह

ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध पं० बंशीधरजीको व्याकरणाचार्यके नामसे समूचा प्रबुद्ध व विद्वत् वर्ग अच्छी तरह जानता है। उन्होंने अपने समस्त बीते हुए जीवनको सरस्वतीके संरक्षण व सम्वर्धनमे समर्पित तो किया ही है साथ ही बहुजन हिताय, बहुजन सुखायकी सूक्तिको कृतार्थ करके चरितार्थ कर दिया। समाज, धर्म और राष्ट्रहितमे अपने जीवनको समर्पित किया। वे बड़े सरल एव सहज हैं। मैं प्रभुसे यही कामना करता हूँ कि वे चिरायु हों और अपने अक्षुण्ण ज्ञानकोषको मुक्त हस्तसे बितरित करते रहे।।

समाजके लिये गौरव

● प० भगवानदास जैन शास्त्री, रायपुर

समाजके मूर्धन्य विद्वान् व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन समाजके लिये गौरवकी ही बात है।

विद्वान् समाज व राष्ट्रके दर्पण होते है। वे समाजके प्रतिनिधि, पथप्रदर्शक एवं उन्नायक होते है। उन्हीके विचारो व प्रेरणाओंसे समाजको बल मिलता है। समाज उनकी सेवाओंसे कभी उऋण नही हो सकता।

पण्डित बंशीधरजी मेरे अनन्य मित्र व अन्यतम सहपाठी है। हम दोनो स्याद्वाद जैन विद्यालय, काशी-के एक ही छात्रावासमे रहते थे। यद्यपि विद्यार्थी जीवनके पश्चात् मात्र ५-६ बार उनसे भेंट हो सकी, किन्तु मैं उनकी स्वतन्त्र विचार-बुद्धि, विनयशीलता तथा स्वाभिमानी स्वभावसे अच्छी तरह परिचित हूँ। मुझे याद है कि एक बार रसोइयेसे अनबन हो जानेके कारण उन्होने अपने हाथोंसे ही भोजन बनाना प्रारम्भ-कर दिया था।

आपकी समालोचक बुद्धि छात्र जीवनसे ही विकसित हुई। आपने अपने विचारोकी अभिव्यक्तिके लिये ६ स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी, जो समाजके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुईं।

आपके सम्बन्धमे यही कहा जा सकता है कि—

स जातो येन जातेन येन तत्त्वं समीक्षितम्।
परिवर्तनि संसारे मृतः को वा न जायते॥

इन्ही विचारोके साथ मैं अपनी अशेष मंगल कामनायें व्यक्त करता हूँ कि श्री व्याकरणाचार्यजी यशस्वी, सुदीर्घ, नीरोगतापूर्ण जीवनका उपभोग प्राप्त करें तथा समाजकी निरन्तर सेवा करते रहें।

अनुपम व्यक्तित्वकी मूर्ति

● श्री गुलाबचन्द्र 'पुष्प', प्रतिष्ठाचार्य, टीकमगढ

'सोरई' ग्रामकी धरा धन्य है, जहाँ संवत् १९६२ मे शील-सप्तमीकी पावन बेलामे पं० मुकुन्दलालजी-की धर्मपत्नी श्रीमती राधाबाईको पवित्र कुक्षसे जैनसिद्धान्तके आराधक एवं देशभक्तका जन्म हुआ। शिशुका नाम रखा गया बंशीधर। बंशीधर सचमुचमे बंशीधर थे, जिनकी बंशीको सुनकर लोगोंकी भीड़ लग जाती थी। आज भी जिनके आगम-ज्ञानको पाकर जनता आत्म-विभोर हो जाती है।

प्राथमिक शिक्षा जन्मभूमि-सोरईके प्राइमरी स्कूलमे पायी और उच्च शिक्षा उस प्राचीन नगरी वाराणसीके स्याद्वाद महाविद्यालयमे ग्रहण की, जहाँ सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जन्म लेकर उसे पावन एवं विश्रुत किया। सान्निध्य मिला अध्यात्मवेत्ता पूज्य श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैसे महान् गुरुका। फिर क्यों नही प्रकाण्ड विद्वान् होते। व्याकरण, साहित्य, न्यायके प्रखर विद्वान् होते हुए भी जैनागमके आप अद्वितीयवेत्ता और साधक हैं। आपने आगमके रहस्यको खोला और 'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार' जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है। सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियोमें भी आप अग्रणी है। देशभक्ति भी आपमे कूट-कूट कर भरी हुई है। फलत आप 'स्वतन्त्रता सेनानी' भी हैं।

ऐसे व्यक्तित्वका सम्मान करना राष्ट्र और समाजके लिए सर्वथा उचित है। हमे प्रसन्नता है कि उनकी सेवाओके उपलक्ष्यमे उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। हम उनके दीर्घ जीवनकी कामना करते हुए अपनी **विनयाञ्जलि** अर्पित करते है।

जैनधर्म और सिद्धान्तके अधिकारी विद्वान्

● प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन निदेशक-जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

व्याकरणाचार्य प० बंशीधर न्यायतीर्थ उन कतिपय विशिष्ट विद्वानोमेसे एक है जो सुदीर्घ कालसे भारतीय समाजके राष्ट्रीय और आध्यात्मिक अभ्युत्थानमें अपना बहुमुखी योग देते रहे है।

आप जैनधर्म और सिद्धान्तके मर्मज्ञ और अधिकारी विद्वान् हैं। तत्त्वोकी चर्चा, उनका समीक्षण, निश्चय और व्यवहार, भाग्य और पुरुषार्थ तथा पर्यायोकी क्रमबद्धता जैसे महत्त्वपूर्ण और जटिल विषयोंपर प्राजल भाषामे लिखी हुई आपकी अनेक कृतियो और पत्र-पत्रिकाओमे प्रकाशित होते रहनेवाले लेख, जहाँ आपकी पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभाका प्रकाश करते है वहाँ उनसे समाजके उदीयमान युवावर्गको दिशा और प्रेरणा मिलती है।

अनेक पत्र-पत्रिकाओंके सम्पादन तथा समारोहोके आयोजनोसे आप समाजके निकट सम्पर्कमें आते रहे है। इससे समाज को निश्चय ही बहुआयामी लाभ मिले है।

देशके स्वातन्त्र्य संग्राममे आपने जो कर्मठता दिखायी है वह आजकी पीढीको अनेक समस्याओंसे घिरे हुए भारतकी विकासोन्मुख प्रवृत्तियोमे सजीव योग देते रहनेकी प्रेरणा देती रहेगी।

आप जैसे प्रबुद्ध मानवका अभिनन्दन और सम्मान निश्चय ही समाजके गौरवको बढानेवाला एक प्रशस्त कार्य है। इसे जितने उत्साह और वैभवके साथ सम्पन्न किया जा सके, करना चाहिये। यह हम सब लोगोंका परम कर्तव्य है।

अभिनन्दनके इस बडे अवसरपर मै चौरासी वर्षीय महामना पं० बंशीधर जीके लिए अपनी शुभकाम-नाएँ अर्पित करता हूँ। वे दीर्घायु हो और स्वस्थ रहते हुए समाजकी आध्यात्मिक सेवाके बहुविध क्षेत्रोमे अपना सहज-स्वभावी योग देते रहे।

सादा जीवन और उच्च विचारके धनी

● पं० सत्यंधर कुमार सेठी, उज्जैन

अभी मैं विद्वत्परिषद तथा महासमितिके अधिवेशनों मे आगरा गया था। तब बनारसके सम्मानीय विद्वान् बाबूलालजी फागुल्लने चर्चामे कहा कि सेठीजी आपको यह जानकार हर्ष होगा कि हम समाजके प्रसिद्ध विद्वान् माननीय प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य जैसे महाविद्वान् की सेवाओ व समर्पित जीवनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ एक अभिनंदन ग्रन्थ प्रकाशित करनेकी योजना बना रहे है जिसमे आपका भी सहयोग वाञ्छनीय है। यह सुनते ही मेरे हृदयने आवाज दी कि आज भी जैन समाजमे विद्वानोके प्रति अगाध श्रद्धा और उच्चतम भावनाये है जो किसी-न-किसी रूपमे अपना कृतज्ञता प्रकाशित करके श्रद्धासुमन उनके चरणोंमे अर्पित करना चाहता है। जैन समाजने व्यक्ति विशेषको महत्त्व कभी नहीं दिया है। यह समाज हमेशा गुणोंकी ही पूजा करता आ रहा है। सम्मानीय पण्डितजीका यह अभिनन्दन ग्रन्थ वर्तमान पीढ़ीके लिए ही नही किन्तु भावी पीढ़ीके लिए भी प्रेरणा दायक होगा—ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

श्रद्धेय पण्डित बंशीधरजी जैन जगत्के विद्वानोंमे एक आदर्श और उत्कष्ट विचारोके विद्वान् है। मैंने उनके प्रत्यक्ष दर्शन द्रोणगिरि सिद्ध क्षेत्रपर होनेवाले गजरथ महोत्सव के समय किये थे। उस समय अखिल-विश्व जैन मिशनका अधिवेशन था, तब मुझे भी जानेका सौभाग्य मिला था। प्रथम प्रवचनमे ही मै श्रद्धेय पण्डितजीके विचारोसे काफी प्रभावित हुआ। मै उनके निवास स्थानपर पहुँचा। कई धार्मिक और सामाजिक चर्चायें आपसे मैने की। जिससे ज्ञात हुआ कि आप कर्मकाण्डी विद्वान् नही है। आपका झुकाव अर्न्तजीवन को टटोलपर है, और वास्तवमे वे भगवान् कुन्दकुन्दके विचारोके अनन्य भक्त विद्वान् है। आपका चिंतन बहुत विशाल है और गृहस्थ होते हुए भी आपके विचारोसे मैने यह निर्णय लिया कि आप सही रूपमे निर्लिप्त जीवनके धनी हैं। द्रोणगिरिके बाद किसी व्यक्तिगत प्रसंगको लेकर कई बार आपके घरपर ठहरनेका मुझे सौभाग्य मिला है। आपका आतिथ्य सत्कार भी बडा बजोड है। महाविद्वान होते हुए भी मैने हमेशा आपको विनम्रताकी मूर्तिके रूपमे ही देखा। न आपके जीवनमे कोई दिखावा है और न किसी भी प्रकारका प्रदर्शन। सादा जीवन और उदार विचार ही आपके जीवनका लक्ष्य है। आपने अपने जीवन कालमे साहित्यिक सेवाये तो की है, लेकिन आपने राष्ट्रीय आन्दोलनमे भी सक्रिय रहकर जैन समाजका मस्तक ऊंचा किया है। जीवन मे जेल जानेका भी आपको सौभाग्य मिला है। जैन समाजमे समय-समयमे अनेक आन्दोलन चले है लेकिन उन आन्दोलनोंमे आपने अपने आपको कभी नही उलझाया हमेशा आप ज्ञाता और दृष्टाके रूपमे ही रहे और आज भी है। आप अद्भुत प्रतिभाके धनी विद्वान् है अत विद्वत् परिषद जैसी महान् सस्थाका नेतृत्व करके आपने समाजको ही मार्ग दर्शन नही दिया, विद्वानोको भी मार्ग दर्शन देकर जैन दर्शनकी अनुकरणीय सेवा की है। विद्वानोको आज भी आपकी विद्वत्ताके प्रति श्रद्धा और गौरव है। और विद्वज्जन उनको अभिनन्दनीय मानकर उनके प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करते है। ऐसे महाविद्वान्के चरणोमे श्रद्धा प्रकट करता हुआ मैं भी अपने आपको धन्य मानता हूँ। और भगवान् महावीरसे प्रार्थना करता हूँ कि माननीय पण्डितजी शतजीवि बनकर इसी तरह समाज, देश व राष्ट्रको मार्ग दर्शन देते रहे।

शुभकामनाएँ

● प्रो० फूलचन्द्र सेठी, खुरई

पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीनाके सम्बन्धमे अभिनन्दन-ग्रन्थ छप रहा है। मै श्रद्धेय पण्डित-जीकी दीर्घायुकी शुभकामनाएं प्रेषित कर रहा हू। ईश्वरसे प्रार्थना है कि वे दीर्घायु हो तथा जैनधर्मकी सेवा अपनी लेखनी द्वारा निरतर करते रहें।

धर्म और समाजके सच्चे हितचिन्तक

● पं० हीरालाल जैन 'कौशल' मंत्री–अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

सम्माननीय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य समाजके सर्वप्रथम व्याकरणाचार्य हैं। उस समय यह विषय अत्यन्त कठिन मानकर इस ओर छात्र जाते ही न थे। ऐसे विद्वान्को संस्थाओंमें स्थानकी कमी न थी, पर पण्डितजी समाजके उन गिने चुने विद्वानोंमेंसे हैं, जिन्होंने समाजको अपने जीवनयापनका आधार न बनाकर स्वतन्त्र (कपड़ेके) व्यवसायको अपनाया और उसमें अपनी ईमानदारी तथा सद्व्यवहारसे अपनी गहरी साख बनाई एवं सम्मानपूर्वक उन्नति करके अपनी स्थितिको सुदृढ़ बनाया। साथ ही अपनी योग्यता, सतत अध्ययन एवं गम्भीर चिन्तनके द्वारा समाजके प्रथम श्रेणीके वरिष्ठ विद्वानोंमें अपना सम्माननीय स्थान बनाया। आप समाजकी प्रत्येक गतिविधिसे सदा जुड़े रहे और उसमें योगदान देते रहे।

व्याकरणाचार्यजी व्याकरणके अपूर्व विद्वान् होनेके साथ ही दर्शन तथा अध्यात्म आदिके भी प्रकाड पण्डित हैं। वे अपनी पैनी दृष्टि एवं सूक्ष्म पकड़के द्वारा प्रत्येक विषयका गम्भीरतासे मथन करते हैं, तथा विषयका विश्लेषणकर सप्रमाण उसपर लेखनी उठाते हैं। उनके लिखित ग्रन्थोंमें यह सब बातें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

वे शान्तस्वभावी, निरभिमानी, उदारहृदय, दिखावट-बनावटसे दूर सादगीपसन्द व्यक्ति हैं। धर्मके दृढ़ श्रद्धानी हैं पर कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा पोपडमके सदा विरोधी रहे हैं। धर्म व समाजके सच्चे हितचिन्तक हैं। समाजकी सुप्रतिष्ठित संस्थाओंके अध्यक्ष एवं मंत्री आदि जिम्मेवारीके पदोंपर रहकर आपने समाजकी अनुपम सेवा की है। समाजके द्वारा आप कई बार सम्मानित हो चुके हैं।

आप सच्चे देश भक्त भी हैं। आपने स्वतंत्रता आन्दोलनमें जेल जाकर देशको स्वतंत्र करानेमें अपना योगदान दिया। विद्वानोंमें वे ऐसे प्रथम विद्वान हैं। आपका जीवन वस्तुतः एक आदर्श एवं अनुकरणीय है।

इस आयुमें भी आप साहित्य एवं समाज सेवाके कार्यमें लगे रहते हैं। भगवानसे प्रार्थना है कि आप दीर्घायु हों तथा इसी प्रकार समाजका हित करते रहें।

मंगल कामनाएँ

● पं० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, जयपुर

पूज्य पंडितजी पुरानी पीढ़ीके विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं। जिस प्रकार आपने आर्षमार्गकी परम्परा निभाते हुए समाजको सत्साहित्य दिया उसी प्रकार स्वतंत्रता सेनानीके रूपमें राष्ट्रको अपने क्रांतिकारी एवं सुधारवादी विचारधारासे प्रभावित किया। युगानुसार नूतन-प्राचीन विचारोंके सामंजस्यसे युवापीढ़ीको धर्मकी ओर आकृष्ट किया है। सादा जीवन एवं उच्च विचार ही आपके जीवनका लक्ष्य रहा है।

मेरी मंगल-कामना है कि आप युगों-युगोंतक हमें मार्गदर्शन देते रहें। बिना बाँसुरीके भी श्री बंशीधर अपनी मनमोहन तान सुनाते रहें।

आपका अभिनन्दन जिनवाणीका अभिनन्दन है

● डॉ० कन्छेदीलाल जैन, सम्पादक 'जैन सन्देश', रायपुर

आपके सम्मानमें अभिनन्दन-ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है। यह जानकारी मुझे वाराणसीसे प्राप्त पत्रकसे हुई। प्रसन्नता हुई। आपने समाजसे स्वतन्त्र रहकर कार्य किया यह अच्छी बात है, गौरवपूर्ण है। समाज पर निर्भर न रहकर अपनी विद्वत्ताका उपयोग किया। परन्तु यदि आप व्यवसायके स्थानपर अध्यापन-कार्य करते तो आपको प्रतिभा तथा योग्यताका इससे कई गुना लाभ समाजको मिलता। आपका अभिनन्दन प्रकारान्तरसे जिनवाणीका अभिनन्दन है। इस कार्यक्रमके आयोजनकी रूपरेखासे मुझे प्रसन्नता हुई।

लौह लेखनीके धनी

● पं० हेमचन्द्र शास्त्री, अजमेर

सम्भवतः सन् १९३१ का सत्र शुरू हुआ था। मैंने जम्बू विद्यालय, सहारनपुरसे प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर श्री० स्याद्वाद दि० जैन विद्यालय, बनारसमें प्रवेश पानेके लिये विद्यालयका प्रवेश फार्म भेजा था। मुझे वहाँ प्रवेश मिल गया और वहाँका छात्र बन गया। उस समय विद्यालयकी प्रतिष्ठा शिक्षा जगतमें आदरणीय रही।

विद्यालयके स्नातक अबतक न्यायाचार्य तो हुए थे सो भी अपूर्ण थे। परन्तु अन्य व्याकरण-साहित्य आदि विषयके कोई विद्वान् जैन समाजमें नही थे। सर्वप्रथम इन विषयोके विद्वानोमे यदि किन्हीका नाम गिना जा सकता है तो वे हैं श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य और श्री पं० परमानन्दजी साहित्याचार्य। श्री पं० परमानन्दजी पंचकूलामें कार्यरत रहे और वे अब हमारे बीचमें नही हैं।

सर्वप्रथम मैंने इन दोनों वरिष्ठ स्नातकोको विद्यालयमे देखा। वहाँका सात्विक जीवन और शिक्षा-की लगन अपूर्व ही थी। आज उसीका फल है कि मेरा भी जीवन जिनवाणी आराधनामे व्यतीत हो रहा है।

श्री व्याकरणाचार्यजी अत्यन्त सरल, मृदुस्वभावी, दुबले पतले, सयमशील, सतत ज्ञानाभ्यासी, कर्मठ छात्र रहे। आप किसी सामाजिक संस्थामे कार्य न कर गृह-व्यवसायी रहे। परन्तु आश्चर्य है कि आपकी जिनवाणी साधना वहाँ भी सतत चलती रही और उसीका शुभ परिणाम है कि आपका वृद्ध जीवन अब भी जिनवाणीको पूर्णत. समर्पित है।

आपकी लौह लेखनी व्याकरणाचार्य होते हुए भी जैनदर्शनके गूढतम विषयोपर चलती रही है, जिससे आगम स्याद्वाद सूर्य आव्योमित हुआ है तथा मिथ्या धारणाएँ नष्ट हुई हैं। आपका लिखित साहित्य आपको अमरता प्राप्त कराता रहेगा। पंडितजीकी रचनाओको हृदयगम कर मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूं।

श्री पडितजी दीर्घजीवी होकर इस प्रकार स्वाध्यायिओंको मार्गदर्शन देते रहें। मैं उनके स्वस्थ एवं निराकुल जीवनके लिये वीरप्रभुसे प्रार्थना करता हूँ।

समस्त समाजने पंडितजीका अभिनन्दन करनेका जो उपक्रम किया है वह उनकी जिनवाणी सेवाके अनुरूप है। मैं ग्रन्थके उत्तम प्रकाशनके लिये समितिको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

जैन आगमके उच्चकोटिके विद्वान्

● पं० प्रकाश हितैषी, सम्पादक—सन्मति सन्देश, दिल्ली

आदरणीय व्याकरणाचार्य पं० बंशीधरजी शास्त्रीको मैं ६० वर्षसे जानता हूँ क्योंकि आपके निवास स्थल बीना (इटावा) मे मैंने प्रारम्भिक धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य और पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री भारतके स्वतन्त्रता संग्राममे प्रमुख सेनानी माने जाते थे। फलस्वरूप उन्होने जेल यात्राये भी की हैं। उस समय उनकी निर्भीकता एवं देशकी स्वतन्त्रताके प्रति समर्पण उल्लेखनीय रहा है। उन दिनो इन दोनों विद्वानोंकी राम-लक्ष्मण जैसी जोडी लोग कहा करते थे।

समाज सुधारमे भी ये अग्रगण्य थे। मरणभोज एवं अन्य सामाजिक बुराइयोंका भी खुलकर विरोध करते थे। अनावश्यक होनेवाले गजरथ—पचकल्याणकोका भी इन्होंने खूब विरोध किया था। वे कहा करते थे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाके लिए ये प्रतिष्ठाएँ धनका अपव्यय है। इनका विरोध करनेके लिए इन्होने एक समितिका भी निर्माण किया था। आप समाज सेवामे विश्वास करते थे, लोकेषणासे सदा दूर रहते थे।

आप आगमके उच्चकोटिके विद्वान् हैं। ये हमेशा स्वतन्त्रजीवी रहे है। इन्होंने कभी भी सामाजिक संस्थाओंकी गुलामी स्वीकार नही की। इनका विचार है कि स्वतंत्र रहकर ही समाज सेवा की जा सकती है।

अनेक पुस्तकें लिखी है। व्यवसाय करते हुए भी आपकी कलम निरन्तर चलती रहती है। वे दीर्घजीवी रहकर जनकल्याणकारी प्रमेय दे, यही मंगल कामना है।

जैन दर्शनके बंशीधर

● पं० दयाचन्द्र साहित्याचार्य, प्राचार्य श्री दि० जैन सं० महाविद्यालय, सागर

जिस प्रकार बंशीधर (श्रीकृष्ण) ने गीताकी वंशी ध्वनित कर, केवल अर्जुनको ही नही, किन्तु विश्वके मानवोंको पुरुषार्थ करनेके लिये जागृत किया, कर्तव्य पालन करनेके लिये प्रेरित किया और गीताका उपदेश देकर कल्याणके पथका प्रदर्शन किया। गीतामें यह कथन ध्यातव्य है—

स्वेस्वे कर्मण्यभिरत, संसिद्धि लभते नर.।
स्वकर्मनिरत सिद्धि, यथा विन्दति तच्छृणु ॥

अर्थात्—स्वभावजन्य गुणोंके अनुसार प्राप्त होनेवाले अपने-अपने कर्मोंमे सर्वदा प्रवृत्त होनेवाला पुरुष तदनुसार सिद्धिको प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जैनदर्शनके क्षेत्रमें बंशीधरने अपने तत्त्वज्ञानकी बंशीको ध्वनित कर मानव समाजको जागृत किया, कर्तव्यमे निष्ठ होनेके लिये प्रेरित किया एव स्वकीय जीवनमे महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

मौलिक समीक्षात्मक ग्रन्थोका सृजन कर मानवको स्याद्वादात्मक आत्मकल्याणके मार्गपर प्रगति करनेके लिये यथार्थ पथिक बनाया है। अत हम उनके व्यक्तित्व और कृतित्वके विषयमे मंगलकामना करते हैं।

"दीर्घायुरस्तु शुभमस्तु सुकीर्तिरस्तु
सद्बुद्धिरस्तु धनधान्यसमृद्धिरस्तु ॥"

सिद्धान्त रक्षक

● डॉ० श्रेयासकुमार जैन, महामंत्री–अ० भा० दि० जैन शास्त्रिपरिषद्, बडौत (उ० प्र०)

आगम और अध्यात्मके तलस्पर्शी ज्ञानवाले महामनीषी सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्यका व्यक्तित्व सिद्धान्त सरक्षकके रूपमे चिरस्मरणीय रहेगा, क्योकि विगत पचास वर्षोमे जिन आगम विरुद्ध मान्यताओंका प्रचलन और प्रसार हुआ, उनका निराकरण पण्डितजीने आगमके परिप्रेक्ष्यमे अपनी सिद्धहस्त लेखनीसे किया।

व्याकरण और न्यायके विषयोंकी विशद मीमासाके साथ अध्यात्मके रहस्यको उद्घाटित करने वाले एकमात्र विद्वान् है। निश्चय-व्यवहारकी आगमिक मीमासा और खानिया तत्त्व चर्चामे आगम पक्षका प्रतिनिधित्व इनके जीवनका सर्वश्रेष्ठ कृतित्व है।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद्के प्रमुख स्तम्भोमे इनका श्रेष्ठ स्थान है। पण्डितजीने अपने जीवनका बहुभाग देव-गुरु-शास्त्रकी मर्यादाके सरक्षणमे समर्पित किया। आर्ष परम्पराका पोषण किया।

जहाँ पण्डितजीका जीवन जैन सिद्धान्तके प्रचार-प्रसारमे बीता, वहाँ उन्होने राष्ट्रके हितमे स्वतन्त्रता सेनानीके रूपमे स्वयंको समर्पित किया। पण्डितजी संस्कृति, कला, ज्ञान तथा विद्वत्ता के मूर्तिमान प्रतीक है। समाज तथा राष्ट्रकी धरोहर हैं।

सिद्धान्ताचार्यका अभिनन्दन सरस्वतीका अभिनन्दन है। हम मंगल कामना करते हैं कि इनकी अजस्र लेखनी दीर्घकाल तक आगम-प्रभावनाकी निमित्त बनी रहे।

स्वाभिमान और प्रज्ञाकी मूर्ति

● पं० रविचन्द्र जैन, शास्त्री, दमोह

श्रद्धेय पं० जी उन व्यक्तियोंमें है, जो अपना जीवन स्वयं निर्माण करते हैं। वे स्वतंत्र विचारक, गम्भीरचेता, महान् अध्येता और समयानुकूल समाजसुधारक हैं। उन्हें अपना प्रदर्शन बिलकुल पसन्द नहीं है। मौन कार्य करना ही उन्हें प्रिय है। स्पष्टवादिता, भौतिकतासे दूर रहना, प्रतिफलकी अपेक्षा न करना और सेवादृष्टि रखना ये आपके सहज गुण हैं। राष्ट्र, समाज और साहित्य इनके लिए समर्पित जीवन इनका लक्ष्य है। इनके द्वारा की गयी, इनकी सेवा अभिनन्दनीय है।

जब भी विद्वानोंका प्रकरण आता है तो पण्डितजीका सादगीपूर्ण रहन-सहन, निश्छल वृत्ति, स्वतन्त्र व्यवसाय और गरिमामण्डित व्यक्तित्व आँखोंके सामने आ जाता है। इतने उद्भट विद्वान् होते हुए भी सामाजिक नौकरीसे कोसों दूर रहकर आपने अपना स्वतः व्यापार किया। फिर भी उसमें अनासक्त रहते हुए राष्ट्र, समाज और साहित्यकी सेवामें संलग्न हैं। आपने किसीकी जी हजूरी करके अपना स्तर नीचे नहीं किया। स्वाभिमान आपका पहला गुण रहा है। इससे उन्हें जो मान-सम्मान मिला है वह किसी भी व्यक्तिके लिए स्पृहणीय है।

स्वतन्त्र व्यवसायी होनेपर भी आप आगम और उसके सिद्धान्तोंकी रक्षामें निरन्तर संलग्न हैं। फलतः कई ग्रन्थोंकी रचना आपके द्वारा हुई है। यह भी सुयोगकी बात है कि आपके परिवारमें भारतीय स्तरके दो विद्वान भतीजों—पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और डॉ० प० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यके द्वारा भी जिनवाणीकी सेवा हो रही है। इन्होंने भी अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन-हिन्दी अनुवाद और लेखन किया है। यह समाजके लिए आपकी और आपके परिवारकी उल्लेखनीय देन है।

आपकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ भी कम नहीं रही। गजरथविरोध, दस्सापूजाधिकार आदिमें सक्रिय भाग लिया और उनमें सफलता भी प्राप्त की। आप स्वतन्त्रता-सेनानी भी हैं। ऐसे जीवट एवं कर्मठ विद्वत्प्रवरको हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं।

'तुम जियो हजारों साल, सालके होवें वर्ष हजार।'

चिन्तनशील विद्वत्प्रवर

● पं० भैयालाल शास्त्री, बीना

विद्वत्प्रवर पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यसे मेरा परिचय सन् १९२५ से है, जब मैं श्री नाभिनन्दन दि० जैन पाठशाला क्षेत्रपाल ललितपुर (उ० प्र०) में अध्ययन करता था और पण्डितजी स्याद्वादमहाविद्यालय, वाराणसीमें पढते थे। आप ग्रीष्मावकाशमें अपने साथियों—पं० परमानन्दजी साहित्याचार्य, पं० बालचन्द्रजी शास्त्री, प० पद्मचन्द्रजी आदिके साथ क्षेत्रपालमें ठहरते हुए अपनी जन्मभूमि सोरईको जाते थे। उस समय आपसे अनायास भेंट हो जाती थी। व्याकरण बडा कठिन विषय माना जाता था, किन्तु आपने अपने अध्ययनका विषय उसे ही बनाया था। इससे छात्रोंको आश्चर्य होता था।

बीनामें श्रीमान् शाह मौजीलालजी कठरया बडे धार्मिक व्यक्ति थे। उनके एकमात्र कन्या थी, जिसके विवाहकी उन्हें चिन्ता थी। पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने उन्हें बंशीधरजीका नाम सुझाया। वे बनारस गये और बंशीधरजी योग्य जंचे और उनका सम्बन्ध उनकी लडकी लक्ष्मीबाईके साथ हो गया। पण्डितजी बीनामें रहने लगे और कपडेका व्यवसाय करने लगे। आपने भावमें अपनी एक बात रखी, कमती-बढ़ती

बेताना अच्छा नहीं समझा। फलत उनकी दुकान एक विश्वस्त दुकान मानी जाने लगी और पण्डितजी जन-जनके विश्वास पात्र हो गये।

सामाजिक कार्यमें भी हाथ बटाते हुए श्री नाभिनन्दन पाठशालाके संचालनमे मंत्री बनकर कुशलता दिखाई तथा संस्थाको व्यवस्थित बनाया।

मेरा भी यही बीनामें व्यापार करनेमे मन लग गया और इस तरह पण्डितजी और मेरा प्रतिदिन मिलना-जुलना होना रहा। इसमें और अधिक निकटता होती गयी और आज भी वह है। कभी-कभी मेरा भोजन भी उन्हीके यहाँ होता है। पण्डितजी व्याकरणशास्त्रके विशेषज्ञ होकर भी विलक्षण दार्शनिक प्रतिभासे मण्डित हैं। व्यापार करते हुए भी सरस्वतीके सच्चे उपासक है। पण्डितजीकी विशेषता है कि वे प्रदर्शनसे दूर रहते है। वास्तवमे इने-गिने विद्वानोमे वे एक हैं। वे अद्वितीय चिन्तनशील हैं।

उन्होंने अपनी लेखनी और प्रवचनो द्वारा सोनगढके उठे बवण्डरको नेस्तनाबूद कर दिया। सोनगढ-के दृष्टिकोणके समर्थनमे लिखी गई 'जैनतत्त्व मीमांसा' के उत्तरमे आपने अकाट्य युक्तियोंमे युक्त 'जैन-तत्त्वमीमासाकी मीमासा' लिखी। इतना ही नही 'जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव', 'जैनदर्शनमे निश्चय और व्यवहार' तथा 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाको समीक्षा' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी आपने लिखे हैं।

समाजने जो उन्हें उनकी सेवाओके उपलक्ष्यमे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट करनेका जो निश्चय किया है वह उचित और स्तुत्य है। हम ऐसे निःस्वार्थ सेवी एवं सरस्वतीके वरदपुत्र सिद्धान्ताचार्य-व्याकरणाचार्यजीको हार्दिक शुभकामनाएँ अर्पित करते हुए उनके शतायु होनेकी मंगल-कामना करते है।

सम्पूर्ण जीवन बेमिसाल है

● डॉ० जयकुमार जैन, संस्कृत विभाग, एस० डी० कालेज, मुजफ्फरनगर

पूज्य पं० सरस्वती-वरदपुत्र पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्यका सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय, सामाजिक एवं धार्मिक सभी क्षेत्रोमे बेमिसाल है। धार्मिक क्षेत्रमें तत्त्वका निर्णय कर उसे प्रकट करनेम उनको निर्भीकता जैन पण्डित परम्पराके लिए सर्वथा अनुकरणीय है। उनकी यह निर्भीकता देखकर विगत वर्ष इन्दौरमे विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी बैठकमें मैं दंग रह गया। मेरी तो स्पष्ट धारणा है कि—

'अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्याना च व्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र प्रवर्धन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥

प्रसन्नताकी बात है कि जैन समाज पूज्य पुरुषोंका व्यतिक्रम न करके उनकी सेवाओका आकलन कर रही है। मेरी हार्दिक मंगलकामना है कि पूज्य पण्डित जी दीर्घायुष्य होकर हम युवकोका मार्ग प्रशस्त करते रहें तथा अपने सार्वजनीन व्यक्तित्वसे राष्ट्र, समाज एवं धर्मकी सेवा करते रहें।

आगमनिष्ठ विद्वान्

● डा० रमेशचन्द्र जैन, सम्पादक-पार्श्वज्योति, बिजनौर

श्रद्धेय पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य को देखनेका सुअवसर मुझे तब प्राप्त हुआ, जब मैं स्याद्-वाद महाविद्यालय, वाराणसीमें उत्तरमध्यमाका छात्र था। विद्वत् परिषद्की कार्यकारिणीकी बैठक बनारसमे आयोजित थी, उसी सिलसिलेमे पण्डितजी भी आये हुए थे। रात्रिमें स्याद्वाद प्रचारिणी सभाकी ओरसे विद्वानोका अभिनन्दन था। मङ्गलाचरणके बाद छात्रोसे कुछ बोलनेके लिए कहा गया। समस्त छात्र चुप रहे। विद्वानोंके सामने क्या बोलते। कुछ साथियोने मेरी ओर इशारा किया। छात्रोकी ओरसे कोई कुछ न

कहें, यह मुझे अखर रहा था। युवकोचित उत्साहसे प्रेरित होकर मैं बोलनेके लिए खड़ा हुआ, विद्वानोंकी भरपूर प्रशंसा की साथमे विद्वत्-परिषद् और शास्त्रिपरिषद् जैसी दलबन्दीको समाप्त करनेका सुझाव भी दिया। कुछ विद्वानोंने इसे अपना अपमान समझा। फलस्वरूप मेरे बोलनेके बाद ही विद्वान् दो खेमेमें बँट गये। कुछ लोगोंने अपनी वाग्मिता द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि हम चाहे भले हो अलग-अलग विचारधाराओं वाले हो किन्तु एक दूसरेके लिए न्यौछावर रहते हं। छात्रको बड़ोको सीख देनेका अधिकार नही है। श्रद्धेय डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री प्रभृति विद्वानोने मेरी बातका समर्थन किया और कहा कि मेरा कहना विद्वानोके लिए एक खतरेकी घटी है, जिसे सुनकर विद्वानोको आपसी मनोमालिन्यका परित्याग करना चाहिए। मेरी बातका समर्थन पूज्य पण्डित बंशीधरजी, बीनाने भी जोरदार शब्दोमे किया। इस प्रकार अपने पक्षमे भी आधे वक्ताओको बोलता देखकर मेरा भय कम हो गया और कुछ प्रसन्नता भी हुई कि मेरे विचारों को आधार बनाकर विद्वानोंमे एक अच्छा मन्थन हो गया। बादमे पूज्य पडित बंशीधरजीने मेरा परिचय पूछा और उन्हें यह जानकर बहुत खुशी हुई कि मूलत मेरे पूर्वज भी उसी सोरई ग्रामके निवासी थे जहाँ पण्डितजीका जन्म हुआ है।

इस घटनाके बाद अनेक बार पण्डितजीसे भेट हुई। ये एक आगमनिष्ठ विद्वान् हैं। अपने दैनिक व्यवहारमे भी वे सचाई और ईमानदारीका प्रयोग करते है। उनकी वाणी सुलझी हुई और शास्त्रोक्त होती है उन्होंने जिनवाणीका अध्ययन, मनन और चिन्तन किया है। रूढिवादितासे वे भी दूर है। दिगम्बरत्वके प्रति उनके मनमे अगाध श्रद्धा है। वे अनेक गुणोके पुज है। मेरे हृदय मे उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा और बहुमान है।

पांडित्यके अभिनव हस्ताक्षर

● श्री निहालचन्द्र जैन, व्याख्याता, बीना

पडित बशीधरजी—समयकी शलाकापर लिखा एक ऐसा हस्ताक्षर है, जिसने चौरासी पडावोंकी यह जीवन-यात्रा निस्पृह और निर्लिप्त भावसे समाज व धर्मकी मूक सेवा करते हुए तय की। आज भी उम्रकी इस दराजपर पहुँचकर यौवनकी कर्मठता लिए ज्ञानाराधनामे सतत सलग्न एक शिल्पकारकी भाँति साहित्य-सृजनमे लगे हुये हैं। पडितजीने समयकी चुनौतियोको स्वीकार कर न कवल उनका करारा उत्तर दिया, अपितु अपने मौलिक चिन्तन और तर्कोंसे जैनदर्शनकी गुत्थियोको खोलनेमें लगे है।

प्राय स्थानसे व्यक्तिका परिचय जुडा होता है, परन्तु जैन जगत्मे प० बशीधर व्याकरणाचार्यजीके नामसे बीना नगरका परिचय जुड़ा है। पंडितजीका व्यक्तित्व उस कोरी पुस्तकके समान है जिसमे ज्ञान-पाडित्य, स्वाभिमान, कर्मक्षेत्रकी ईमानदारी, राष्ट्रसेवा भाव, निर्लोभवृत्ति यश व सम्मान चाहसे दूर आदि जैसे गुणोके प्रतीक-पृष्ठ ह और उन पृष्ठोपर केवल पंडितजीके स्वर्ण हस्ताक्षर अकित है।

पंडितजी मेरे 'पूज्य बब्बा' हैं। क्योंकि सोरई और मडावरा पडोसी गाँव होनेसे आप मेरे पूज्य पिताश्री से जुडे रहे और जब मै १९८३ मे बीना आया तो पंडितजीने उसी भावसे स्वीकारा, जैसे एक पितामह अपने नातीको देखता है। मैने न केवल आपके पास बैठकर स्वाध्याय किया, बल्कि पंडितजीके अनुभूत्य उपहारोंसे अपनी झोली भरी।

वर्तमान परिप्रेक्ष्यमें पंडितजीको जैसा देखा और जाना उसे कह देना भी प्रासागिक समझता हूँ।

१ आपने अपने ज्ञान और पाडित्यको कभी व्यवसाय नही बनाया।

२ नैतिकता व ईमानदारीकी प्रतिमाकी प्राण प्रतिष्ठा आपने अपने व्यवसाय व कर्मक्षेत्रमे की तथा अपने योग्य तीन पुत्रोंको भी अपने गुणोके अनुवर्ती बनाया। यही कारण है कि बीना इटावामे आपका वस्त्र

प्रतिष्ठान एक ऐसी गौरवशाली परम्परा लिए है कि एक निश्चित लाभांश लेकर एक ही दामसे वस्त्र विक्रय करते है तथा एक पैसेकी टैक्स चोरी नही करते।

३ जीवनके प्रति एक रचनात्मक दृष्टि है। आपका कहना है कि यदि जीवनको पूर्ण नियम और सयमसे बिताया जाय तो दीर्घायु उपहारमे मिल जाती है। यही कारण है कि आपका आहार, बिहार, अध्ययन-लेखन, शयन सभी दैनिक कर्म घड़ीको सुईयोंसे बँधा स्वानुशासित है।

४. सोनगढ़की एकान्त आँधीमें बड़े-बड़े नामधारी पण्डित झुलक गये लेकिन आर्ष परम्परा और स्याद्वाद-अनेकान्तके इस सजग प्रहरीने अपनी लेखनी उठाकर उस एकान्त विचारधाराका डटकर सैद्धान्तिक खण्डन किया और एक सशक्त साहित्यका प्रणयन कर दिशा-दृष्टि दी।

यह सुयोग ही समझना चाहिए कि आपके सुयोग्य भतीजे जैन जगतके ख्यातिप्राप्त विद्वान पं० डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने बनारसमे बीनाको अपनी कर्मस्थली बनाया और आपके परिवारमे दूध-पानीकी भाँति मिलकर समाज-सेवा एव साहित्य साधनाको ही पूर्ववत् अपनाया।

मै पंडितजीके दीर्घायुकी मंगल कामना करते हुए आपकी लेखनीसे प्रसूत अन्य साहित्यिक। आध्यात्मिक ग्रन्थोके प्रणयनकी आशा करता हूँ ताकि वे आनेवाले युगकी चुनौतियोका सामना कर सके और आर्ष परम्पराके संरक्षणके प्रतिमान बन सके।

पाण्डित्यकी प्रतिमूर्ति

● पडित विमलकुमार सोरया, सम्पादक-वीतराग वाणी, टीकमगढ

वर्तमान शताब्दीके प्रथम श्रेणीके विद्वानोमे सिद्धान्ताचार्य विद्वत्‌रत्न पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीनाका नाम आदरके साथ लिया जाता है। पंडितजीके सम्मानमें जो ग्रंथ आज प्रकाशित किया जा रहा है वह आजसे २० वर्ष पूर्व ही प्रकाशित होना चाहिए था।

सैद्धान्तिक ज्ञानकी परिपक्वता व्याकरण और न्यायकी दीवाल पर आधारित होती है। श्रद्धेय पण्डितजी अभिधाओके प्रतिभा सम्पन्न अधिकारी विद्वान हैं यही कारण है कि जैन दर्शनके परिप्रेक्ष्यमे उनका प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका ज्ञान न्याय और व्याकरणकी तराजू पर सत्य रूपमे घटित हुआ। पण्डितजीका सैद्धातिक ज्ञान जितना अथाह है दर्शनकी गहराई भी उतनी अलौकिक है। सामान्य श्रावकसे लेकर विद्वान तकके बीचमे आपकी आध्यात्मिक चर्चामे अपना मौलिक चिन्तन अपना तथ्यपूर्ण सत्य और अपनी विचारण सिद्धान्तके आलोकमे पूर्णत. प्राणवान देखी गई।

विद्वत्ता स्वरूप व्यक्तिकी प्रवृत्तिमे अनुभूत किया जाता है। एक बार मै और श्रद्धेय पण्डितजी एक साथ अशोकनगरमे किसी धार्मिक प्रसग पर आमंत्रित किए गए। सौभाग्यकी बात थी कि जिस गाडीसे मैं अशोकनगर जा रहा था उसी गाडी और उसी डिब्बेमे श्रद्धेय पण्डितजी भी थे। बडी प्रसन्नताके साथ हम पण्डितजीसे चर्चा करते हुए जा रहे थे। अशोकनगर स्टेशन आते ही समाजके शताधिक व्यक्ति बडी-बडी मालाएँ-ध्वजाएँ लिए हम दोनोको लेने बैण्ड-बाजों सहित आये हुए थे। जब पण्डितजी ने यह तमाशा प्लेटफार्म पर ट्रेनके पहुँचते हुए देखा तो मुझसे बोले सोरया जी आप गाडीसे नीचे उतरो मै बाथरूममे शुद्धि करके आता हूँ। यह बात मैं समझ नही पाया और मैं जैसे ही प्लेटफार्म पर डिब्बेसे उतरा लागोने आगवानी करके मालाये पहनाना शुरू किया। उस भीड मे २/४ मिनटके लिए भूल गया कि पण्डितजी भी गाडीसे उतरकर आने वाले है। जबकि पण्डितजी पिछले दरवाजेसे उतरकर पीछेसे अपना बैग लिए चुपचाप प्लेटफार्मसे आगे निकल गये। ट्रेन चलने लगी मुडकर देखा कि पण्डितजी नही दिखे—मैंने स्वागतकर्ताओसे पण्डितजीके आने

की बात कही। पण्डितजीको लेने जब वह डिब्बेमे गए खोजा तो पता चला कि पण्डितजी तो कभीके स्टेशनसे निकलकर रिक्सेमें बैठकर शहरमें निकल गए थे। सार्वजनिक सम्मानकी आकांक्षासे दूर जिनकी यह धारणा रही हो, जो भडकीले सम्मानमे अपना सम्मान न समझ रहे हो यथार्थत उनका ज्ञान ही अपना ज्ञान है। पण्डितजीके समीप जब भी उनसे मिलने गया और कोई भी सैद्धान्तिक चर्चा उनसे की उन्होंने उसे इतनी गहराई और मौलिकतासे स्पष्ट किया। जो अपने आपमे प्राणवान रही—जीवनमे ऐसा प्रभावी अधिकारी विद्वान मैंने एक ही देखा। यथार्थत ऐसे ज्ञान प्रतिभाका सम्मान उस समाजका सम्मान है जिसके बीचमे पण्डितजी जैसा देदीप्यमान दिवाकर आलोकित है।

ऐसे महान् गौरवशाली विद्वानके यशस्वी सुखी दीर्घ धर्ममय जीवनकी मंगल कामना करता हूँ।

अद्वितीय साहित्य साधक

● डॉ० प्रेम सुमन जैन, अध्यक्ष जैन विद्या एवं प्राकृत, उदयपुर वि० वि०, उदयपुर

साहित्यकी सेवा करना और समाजको मार्गदर्शन देना ये दोनो कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न करना और फिर भी समादृत बने रहना दुष्कर कार्य है। किन्तु मध्यप्रदेशके सपूत सरस्वती-वरदपुत्र पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने इस साहित्य और समाजके सगमको सुकर बना दिया है। आपने विभिन्न प्राच्य-विद्याओंकी उपाधियाँ प्राप्त कर सरस्वतीकी आराधना की, अनेक तलस्पर्शी ग्रन्थो और शोध-खोजपूर्ण लेखो द्वारा अनुसन्धानको दिशाबोध दिया तथा समाजकी विभिन्न समस्याओका समाधान प्रस्तुत कर उसे एकताके सूत्रमे बाँधनेका प्रशस्त प्रयास किया। अत आज यदि पण्डितजीको अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया जाता है तो वह सर्वथा उपयुक्त है।

पण्डितजीने साहित्य, समाज और राष्ट्रकी जो सेवाएँ की है, वे आदर्श है। जो इस राष्ट्रके नागरिक की पहिचान है। विद्यासे विनय और सादगी आती है, इस आदर्शके प्रत्यक्ष उदाहरण है—व्याकरणाचार्यजी। मेरी उनके सुदीर्घ, स्वस्थ और सुखद जीवनके लिए हार्दिक मगल कामनाएँ हैं।

मेरे नानाजी

● श्रीमती गुणमाला जैन, भारतीय स्टेट बैक, इन्दौर

उनके बारेमे लिखूँ, क्या न लिखूँ ? कहाँसे शुरु करूँ ? कहनेको तो इतना अधिक है कि यह लेखनी भी शायद थक जाये।

३ बजे सबेरे उठनेसे लेकर रात ९-९॥ बजे तककी उनकी दिनचर्याको मैने बहुत नजदीक से देखा, समझा और सोचा भी। लेकिन अनुसरण नही किया। उनके सरल और यथार्थतावादी व्यक्तित्वके सामने अपना अस्तित्व हो खो बैठती हूँ। बीनामे मेरे अध्यापनका कुछ समय बीता और उनके सान्निध्यमे रहनेका सौभाग्य मिला। और उन बीती बातोका पिटारा अभी वर्तमान तक सुरक्षित रखे हुये हूँ।

नानाजीके व्यक्तित्वके समान मेरी नानीजीका भी व्यक्तित्व सीधा सादा था। रातभर बिस्तर पर बैठकर कहानी सुनाती थी। ऐसी कहानी सुनाती थी, जिसमे सत्य ही सत्य था, सघर्ष था और निरन्तर चलते रहनेकी प्रेरणा भी, वह उन कहानियोके नायक और कोई नही नानाजी थे। जिनपर आज पूरा समाज गर्व करता है।

कैसे बचपन बीता, कैसे बनारस पहुँच, कैसे शादी हुयी, कैसे स्वतन्त्रता-संग्राममे भाग लिया, किसलिये राजनैतिक जीवनमे सन्यास लिया और बीना जैन समाजके लिये क्या-क्या सेवा की। यही उनमे था। यही कहानी मैं एक बार नही कई बार दुहराती हूँ जब अपनोंमे बैठती हूँ तब।

एक कोनेमें इच्छा जरूर दुबकी रही कि जैन संस्कृतिका जो संग्रह उनके पास है उसका अध्ययन करूँ। लेकिन वह इच्छा पूरी नहीं हुयी। नानाजीके सामने तो कुछ समझ ही नहीं आता था कि उनसे किस विषय-में बात करूँ ?

आते-जाते उनकी किताबोंपरसे धूल झटकारती रहो, लेकिन पृष्ठ पलटनेका प्रयत्न ही नहीं किया।

मेरी बेटी पूर्णिमाने एक दिन मुझसे पूछा—'संस्कृत क्या होती है माँ ?' उसके उत्तरमें मेरे पास सिर्फ इतने शब्द थे कि बेटा मेरे नानाजी संस्कृतके बहुत बड़े विद्वान है। उसका प्रश्न और मेरा अधूरा उत्तर कचोटता रहता है कि नानाजीसे हम लोगोंने क्या सीखा ? अपना समय कितना व्यर्थ किया ?

सचमुच वे समयके साथ-साथ ही चलते रहे। और आज भी इस उम्रमें भी उसी तरह गतिशील हैं अपने ध्येय की ओर। उन्हें मेरे श्रद्धा पूर्ण अनन्यशः नमन।

यशस्वी सारस्वत

● डॉ० आर० सी० जैन, प्रवाचक, साख्यिकी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

सरस्वती-वरदपुत्र, पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके सम्मानमे अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। यह प्रसन्नताका विषय है। समाजका यह कर्तव्य है कि वह समय-समयपर अपने विद्वानोंका अभिनन्दन कर उनका उत्साहवर्धन करें। पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य राष्ट्र एवं समाजके एक यशस्वी और साहित्योपासक सारस्वत हैं। मै उनके दीर्घ-जीवनकी मंगल कामना करता हूँ।

मौन साधक

● श्री मिश्रीलाल जैन एडवोकेट, गुना

जैनदर्शनके मनीषी विद्वान श्रद्धेय पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका स्नेह, आशीर्वाद प्राप्त करने और उनके प्रवचन सुननेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जैन दर्शनके विद्वानोंमें आपका विशिष्ट स्थान है। आपका ज्ञान असीम और चिन्तन मौलिक हैं। जीवन सरल, सात्विक और निश्छल है। पंडितजी परम स्वाभिमानी हैं, पर उनमें अहंकार की गंध तक नहीं है।

जैन दर्शनके विद्वानोंकी बाढ-सी आ गई है। मूलसे अपरिचित विद्वानोंने जैन-दर्शनको इतना मथ दिया है कि नवनीत खोजनेपर भी नहीं मिलता। मैं आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवानसे पंडितजीके शतायु होनेकी कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि श्रद्धेय पंडितजी अपनी मौन साधनाका परित्याग कर अपने अमूल्य ज्ञानसे भारतीय समाज और संस्कृतिको उपकृत करने की अनुकम्पा करेंगे।

असाधारण मेधावी

● डॉ० नरेन्द्रकुमार जैन, प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय अखिलनी, वाराणसी

आदरणीय प० बंशीधर जी व्याकरणाचार्य संस्कृत व्याकरणके वेत्ता होनेके साथ जैन आध्यात्म, न्याय और दर्शनके उन रहस्योंके ज्ञाता और चिन्तक है, जिनको समझनेमें सामान्य पंडितोकी मेधा काम नहीं करती। खानिया तत्त्वचर्चा-समीक्षा, निश्चय और व्यवहार जैसे गूढ-तत्त्वोंके रहस्यको खोलने वाले ग्रन्थोका प्रणयन करके निःसन्देह आपने मूल जैन आम्नायके वाङ्मयके सिद्धान्तोंकी सुरक्षा करनेमे महनीय योगदान किया है। आप सरस्वती और लक्ष्मी दोनोंके वरदपुत्र है। आप किसी भी प्रलोभनके सामने झुके नहीं और आजीवन अपने आर्षसम्मत चिन्तनका परिचय देते आ रहे है। बीसवी शतीके समीक्षक विद्वान यदि उनका अनुकरण करें तो उन्हें दिशा मिल सकती है। मैं उनके दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ।

जिनवाणीनन्दनका अभिनन्दन

● विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, अलीगढ

आदरणीय पंडितरत्न श्री वंशीधरजी व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन उनकी गुणगरिमाका अभिवन्दन है। गुणकी वन्दना करना हमारा स्वभाव भी रहा है और परम्परा भी। जिनपंथी सदा गुणोकी वन्दना किया करते है।

नन्द शब्द मौलिक है जिसका अर्थ है पुत्र। पुत्र प्राप्तिसे बडा और अन्य कोई आनन्ददायिक प्रसंग नहीं होता है। इसी प्रसन्नतापर आधृत है आनन्द शब्द। नन्दका बहुअर्थयामा शब्द बना नन्दन। अभि उपसर्ग शुभ और विस्तारवादी है। इस प्रकार अभिनन्दन शब्दका अर्थ हुआ पुत्र प्राप्ति जैसा आनन्दातिरेक।

पंडितजी जिनवाणीके वरदपुत्र है। उन्होने जिनवाणीमाताकी महनीय सेवा की है फिर न जाने कितने पुत्ररत्नोंका उन्हें असाधारण आनन्द भोगनेको मिला है। इसी सत्यको आधार बनाकर उनके प्रशंसक समुदायने इस शाब्दिक सत्कारको मूर्तरूप देनेका शुभ संकल्प किया है। भावना है कि इस शुभ संकल्प पूर्तिमें वे आशातीत सफलता प्राप्त करें, मेरी मंगल कामनाएँ है और भावनाएँ भी। मेरी सम्मतिमे यह काम कम-से-कम अर्द्ध दशाब्दि पूर्व हो जाना चाहिए था। वन्दनाके अवसरपर मेरी तमाम श्रद्धा सुमन शाब्दिक वातायनसे उन्हें सम्प्रेषित है।

भावना और कामना है कि महामनीषी पंडित जी दश दशाब्दियोका निर्बाध जीवन व्यतीत करे।

बुन्देलखण्डकी थाती

● पं० बालचन्द्र शास्त्री, नवपाराराजिम

बुन्देलखण्डकी माटी ऐसी है जिसने बड़े-बड़े वीरोंको जन्म देकर देशको स्वतन्त्र और समृद्ध बनाया है और जैन विद्वानोको जन्म देनेमें वह विश्रुत है। यथार्थता भी यही है कि अभी जितने भी गणमान्य विद्वान हैं उनमेसे अधिकाश विद्वान् बुन्देलखण्डके ही है और इसका श्रेय परमपूज्य १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीजीको ही है जिनकी जन्म स्थली ग्राम हंसेरा (उ० प्र०)के पास वाले गाँव सोरईमे हमारे परमविद्वान् व्याकरणाचार्य प० बंशीधरजीने जन्म लेकर बुन्देलखण्डको ही गौरवान्वित किया है।

आपने जैन समाजमे व्याप्त बुराईयो, रूढियोंको दूरकर तथा ज्ञानके माध्यमसे नये प्रमाण और निश्चयनय, व्यवहार नयको स्थितिको स्पष्ट किया है। खानियाँकी तत्त्वचर्चा जैसी चर्चामे भी भाग लेकर प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

देशकी स्वतन्त्रता प्राप्तिमें भी आपने प्रहरीका कामकर जेल यातनाओको भी झेला है, उनमे आपके दृढ संकल्पने ही काम किया है, और देशकी स्वतन्त्रता प्राप्तिमे सहयोगी रहे है। यह देशभक्ति भी प्रशंसनीय है।

देश तथा समाजकी भारी-भारीका गई इन सेवाओका प्रतिफलमे मात्र अभिनन्दन करके ही हम संतुष्ट हो रहे है। जबकि ऐसे व्यक्तित्वके प्रति समाजका कर्तव्य होता है कि उनके प्रतिष्ठाके अनुरूप शोध संस्थान जैसी संस्था स्थापित कर दी जाती।

अन्तमे आपके उज्ज्वल भविष्य, यशस्वी और दीर्घायु जीवनकी भगवानसे प्रार्थना करता हूँ।

स्वतंत्र व्यक्तित्वके धनी

● पं० कमलकुमार शास्त्री, टीकमगढ

उन दिनो मै सागरमें रहता था। श्रद्धेय प० जीसे कोई विशेष परिचय भी नही था। उस समय मेरी उम्र ही क्या थी केवल १९–२० वर्षकी लेकिन मैं भी पंडित कहलाने लगा था। मैंने सुन रखा था कि बीनामे कोई बंशीधर नामके विद्वान् रहते है। मैने कल्पना कर रखी थी कि व्याकरणाचार्य है व्याकरणके विद्वान्, रूक्ष स्वभाव, नीरस विषयका अध्ययनसे नीरस जीवन, कडा व्यक्तित्व समाजसे दूर भागनेवाला एकाकीमन पसंद करनेवाले होते है। फिर वे कपडेकी दुकान करते है। और मैं भी डरता सा था कि व्याकरणके विद्वान् है वैसे ही रूखे स्वभावके होते है इनसे क्या मिलना। ऐसे ही बहुत दिन बीत गये। मै सागर छोडकर पपौरा विद्यालयमे अध्यापक हुआ। सन १९६५ की बात है उसी समय पपौराजीमे भारत वर्षके प्रसिद्ध मुनिसंघ आचार्य शिवसागरजी का चातुर्मास सम्पन्न हुआ। श्रद्धेय पं०जीको आमंत्रित किया गया। पहलीबार ही उनके दर्शन किए थे। सफेद खद्दरका कुर्ता, खद्दरकी धोती और सफेद टोपी, लम्बा कद, मिलनसार जीवन, सरलताकी प्रतिमूर्ति, हसमुख चेहरा, विनोद पूर्ण वार्तालाप, अगाध पाडित्य, मीठी वाणी, मधुर व्यवहार, सादा जीवन, उच्चविचार, स्वतत्रता प्रेमी और जिन्होने शिक्षा को कभी आर्थिक आधार नही माना। आजीविकासे भी स्वतत्र और स्वतंत्र विचारोंसे भरा हुआ व्यक्तित्व। मेरी पुरातन धारणाओ से बिलकुल विपरीत पाया मैने उनको। अत देखकर प्रसन्नता हुई। और जब आपका भाषण हुआ सभा मंच-मुग्ध हो सुन रही थी। आपकी सम्यग्दर्शन की व्याख्या सम्यग्दृष्टि और उसका दर्शन (विचार) क्या है इसकी विवेचना प० जी कर रहे थे। उन्होने कहा कि मै सम्यग्दर्शनकी व्याख्या किताबो, शास्त्रों और पुराणोके माध्यमसे नही बताऊँगा। मै तो सम्यग्दृष्टिके उन बहिरग विचारोको चर्चा कर रहा हूँ जिसे वह व्यावहारिक जीवनमे उतारता। **गहरे मत जाइए मैं कहता हूँ कि एक सम्यग्दृष्टि दुकान पर धोती लेने जाता है।** वही दूसरा व्यक्ति भी था। सम्यग्दृष्टिने धोती दिखानेको कहा, दूसरा व्यक्ति भी धोती ही लेना चाहता है दोनोने धोती देखी, दूसरा कहता है कोई अच्छी सी किनार वाली धोती दिखाइए जबकि इसका सूत कपडा बडा सुन्दर था। सम्यग्दृष्टि बोला भाई किनार पहनोगे या धोती मुझे किनारसे मतलब नही मुझे धोती चाहिए शरीर को ढकनेके लिये। क्या मखमली, क्या सूती। दूसरा बिगड पडा ऐसा क्यो कहते हो। यही तो बात है जिसने जीव और पुद्गलके स्वरूपको ठीक-ठीक समझा होगा वही इन बातोको समझ पायेगा यही तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमे अन्तर है। हृदयसे जिस दिन ये भेद भाव निकल जायगा अच्छा क्या और बुरा क्या दोनो दूर खडे होगे। समताका रस बह रहा होगा, अन्तरगमे समझो वहीं सम्यग्दर्शन विद्यमान है। इस तरह प० जीके प्रवचनने मुझे आकर्षित किया फिर तो कई बार बीनामे आपसे मिला। आपकी लिखी हुई जैन तत्त्व मीमासाकी मीमासा, निश्चय और व्यवहार आदि किताबे पढी, चर्चा हुई। तबसे ही प० जीका बहुत भक्त हूँ।

उनके दीर्घजीवनकी मगल कामना करता हूँ।

सादर अभिनन्दन

● पं० लक्ष्मणप्रसाद जैन न्या० ती० शास्त्री, मडावरा

नय, प्रमाण—सापेक्ष साधित पक्ष स्याद्वाद—अनेकान्तक धर्म-धर्मी, समावेशित वस्तु स्वभावी। अनेकान्त विश्व शान्ति, सुखका एक मात्र साधनोपाय।

अहिसा, कर्मवाद अनीश्वर वाद इत्यादि जैनधर्मकी असाधारण विशेषताओ एवं क्रम, अक्रमबद्ध पर्यायोंके समालोचक, तथा श्री भगवान कुन्दकुन्दाम्नाय-पथानुपथिक-सरस्वती पुत्र प०जीका सादर अभिनन्दन।

आदर्श विद्वान्

● श्री नेमिचन्द्र जैन, प्राचार्य गुरुकुल, खुरई

पंडित बंशीधर जी जैनधर्मके ज्ञाता-भारतीय विद्वानोंमें मूर्धन्य हैं। इन्होंने काशीस्थ स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयमें रहकर व्याकरण शास्त्रका गहन अध्ययन किया और व्याकरणाचार्यकी उच्चतम उपाधि प्राप्त की। उच्चतम शिक्षा प्राप्त करनेके बाद अधिकाश विद्वान समाज या शासनके आश्रित हो जाते हैं। परन्तु पंडितजीने न समाजपर अवलम्बित रहे और न शासनपर। स्वयका कपडेका व्यापार करते हुए सम्पन्नता अर्जित की तथा सामाजिक प्रतिष्ठा भी। इन्होने व्यापार करते हुए भी निरन्तर स्वाध्याय करते हुए कई ग्रन्थों की रचना की है जो वर्तमानमे पठनीय, विवेचनीय एवं विचारणीय हैं। पंडितजीका अगाध पाण्डित्य सम्पूर्ण भारतके विद्वानो द्वारा प्रशंसित है। पंडितजी अप्रतिम प्रतिभाके धनी, स्वावलम्बन पूर्ण जीवन जीनेवाले, स्वतन्त्र विचारक, श्रेष्ठ लेखक एवं समालोचक है। उनका जीवन वस्तुत आदर्श एव अनुकरणीय है। वे शतायु हों, ऐसी हार्दिक मंगल कामना है।

सरस्वती के अनुरागी

● पं० जम्बूप्रसाद शास्त्री, मडावरा

आपके गुणो एव सरस्वतीकी महान सेवारतो देखकर जो समाज एव विद्वन्गुणोने आपके अभिनन्दन करनेकी योजना बनाई है, सो अति श्लाघ्य है। आपने जो जैनोंमे भी एकान्तवादका गलत प्रचार हो रहा है। उसे अपने साहित्य द्वारा जैसे निश्चय-व्यवहार, निमित्त, उपादान व क्रमबद्ध पर्याय आदिको सार्थकता व उपयोगिताको सिद्ध किया है। और फैले हुए अज्ञान अन्धकारको दूर करनेका प्रयत्न किया है तथा आपने अपने जीवनमे—विघा एव अर्थका अच्छी तरहसे संचय किया हैं। इसी तरहसे आपने विद्या, एवं अर्थका दान भी अच्छी तरहसे किया। यह आपकी महानता है। यह सरस्वती और लक्ष्मीका एक स्थानमें सम्बन्ध जोडा इसलिए आपने जो साहित्य लेखन किया और उसका अपने ही द्वारा स्थापित किये फण्डसे प्रकाशित कराया। इससे आपको साहित्य प्रकाशनके लिये परमुखापेक्षी नही बनना पडा, स्वतन्त्रतासे आपने समाजकी और धर्मकी जो सेवाएँ की हैं वह सदा स्मरणीय रहेंगी। आपके गुणोंकी क्या प्रशंसा की जाय।

मनुष्य गुणोसे ही उन्नत होता है उच्च आसन पर बैठनेसे नही, आपका हमारा सम्बन्ध चिरकालसे है अनेक जगह वाचनाओमे मिलनेसे, अनेक तत्त्वचर्चा आदि करनेका भी शुभ अवसर मिला। आपका हमारे ऊपर घनिष्ठ स्नेह है और हमारी भी आपके प्रति अति-श्रद्धा। ऐसे माननीय सरस्वतीके अनुरागी, वरद-पुत्रके प्रति सविनय विनयाञ्जली समर्पित और आरोग्यता सहित चिरायु होनेकी कामना करता हूँ।

देश श्रुत और समाजसेवी

● श्रीमती पुष्पलता 'नाहर' बाँसातारखेडा

आदरणीय पं० बंशीधर जी शास्त्री बीना देशप्रेम, श्रुतज्ञान और समाजसेवाके अनुपम आगार हैं। उत्तम व्यवसायी होकर भी आपके द्वाराकी गयी श्रुतसेवा श्लाघ्य है।

आगमके आप मर्मज्ञ विद्वान् है। विद्वानोंका अभिनन्दन समाजका अभिनन्दन हे। उनकी सेवाओंको ध्यानमें रखते हुए उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किये जानेकी योजना स्तुत्य एवं सराहनीय हैं।

चौरासी वर्षीय वयोवृद्ध विद्वान् पं० बंशीधर जी शास्त्रीके अभिनन्दन समारोहके अवसर यहाँकी महिला-समाज कामना करती है कि शास्त्रीजी अधिकसे अधिक आयु प्राप्त करे, स्वस्थ रहे और स्वस्थ रह-कर चौरासीके चक्रसे निवृत्त हो।

महान व्यक्तित्वके धनी

● पं० विजयकुमार जैन, साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, श्रीमहावीरजी

वर्तमान जैन विद्वत् समाजमें श्री पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य एक ऐसे विद्वान् हैं जिनका नाम हृदय पटलपर अंकित होते ही राष्ट्रसेवा, समाज सेवा, साहित्य सेवा एवं अनवद्य विद्वत्ताका मूर्त रूप साक्षात्कृत् हो जाता है। आपकी गंभीर मनीषा एवं सरलताके प्रति श्रद्धाभावसे हृदय ओतप्रोत और माथा अवनत हो जाता है। आप है जैन समाजके प्रथम प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य। कितने भाग्यवान हैं पं० व्याकरणाचार्यजी, कि सरस्वती और लक्ष्मी जिनके आजू-बाजू सेवाके लिये खडी हैं। राष्ट्रके प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी होते हुए भी आजकी कुटिल राजनीतिसे पूर्णत विरक्त। समाजमें व्याप्त धार्मिक कुरूढियोंपर आपने सक्रिय प्रहार किया और गजरथ जैसी अपव्ययी प्रवृत्तिका दृढतासे विरोध किया। वर्णी ग्रन्थमालाके अनेक वर्षों मंत्री रहकर जहाँ आपने अद्वितीय साहित्य सेवा की, वही खानिया तत्त्व चर्चा-समीक्षा, जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार जैसे चिन्तनीय ग्रन्थोकी रचनामें जैन आगमका बिलोडनकर आपने जिनवाणीकी अपूर्व सेवा की है। इन ग्रन्थरत्नोंके माध्यमसे जैनागमके क्षेत्रमें उठी भ्रान्तियोंको आपने अपनी समन्वयात्मक समीक्षासे दूर कर सम्यक् तत्त्वबोध प्रदान किया। भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद्के अध्यक्ष पदसे आपने जैन विद्वानोको साहित्य व समाज सेवा एव जैन तत्त्व ज्ञानके प्रसार की नयी दिशा दी है।

ऐसे ज्ञानपुञ्ज, महृदय एवं सरल चेता पं० जी का अभिनंदन करते हुए कामना है शताधिक वर्षों तक साहित्य, समाज सेवा व जैन तत्त्वज्ञानका उद्घाटन करते हुए, हम सबके लिये अविरल प्रेरणा प्रदान करते रहे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

● पं० हरिश्चन्द्र शास्त्री, श्री गो० दि० जैन सि० स० महावि० मुरैना

श्रद्धास्पद पूज्य पडित जी समाजके मान्य विद्वानोमे एक है। आप व्याकरण शास्त्रके साथ-साथ जैन सिद्धान्त एवं जैनदर्शनके भी महान् ज्ञाता हैं। इसका प्रमाण है आपके द्वारा लिखे गये दार्शनिक एव सैद्धान्तिक ग्रन्थ है। आप स्वय एक दिनचर्या है। मैं पण्डितजीसे तो कुछ प्राप्त नही कर सका, पर उनके दर्शनसे ही अपने आपको धन्य मानता हूँ।

ऐसे पूज्य पंडितजीके प्रति मैं मन, वचन, कायसे उनके चिरायु होनेकी मगल शुभकामना करता हुआ, उनके चरणोमे प्रणाम करता हूँ।

जिनवाणीके अपूर्व सेवक

● पं० जमुनाप्रसाद शास्त्री, कटनी

मान्यवर श्रीमान् पं बशीधरजी जैन व्याकरणाचार्य हमारे बचपनके चिर परिचित है। उनका साधारण जीवन, उच्च विचार, अनुपम ज्ञान, सरल स्वभाव सदा रहा। पं० जीने सदैव धर्म समाज एवं राष्ट्रकी सेवा तन मन धनसे की। आप स्वतन्त्रताके महासमरके सेनानी भी थे। जीवन एक विनम्र व्यापारीके रूपमे बिताया। आपके किये यश और अपयश एक-सा रहा कोई विकार नही। गृह लक्ष्मीके वियोग होनेपर भी आपने अपना मार्ग नही छोडा और जिनवाणीकी अपूर्व सेवा कर रहे हैं। आपको कोई लोभ देकर विचलित नही कर पाया। ऐसे सेवाभावी गुरु बंशीधर व्याकरणाचार्य युग-युग जियें—उनका नाम अमर रहे।

धर्म, समाज और राष्ट्र-सेवाके संगम

● डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' प्रभारी जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

देशके जैनागम-अध्येताओमे 'व्याकरणाचार्य' पदसे विश्रुत प० बशीधर जी शास्त्रीका नाम सर्वोपरि है। आपने आगमका मर्म समझा है। आगमके विरोधमे दिये गये वक्तव्योका निर्भीकता पूर्वक परिहार भी किया है। आगमकी यथार्थताका उद्घाटन करनेमे आप कभी पीछे नही रहे। खानियां तत्त्वचर्चामे आपका नाम विशेष रूपसे चर्चित रहा है। 'जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार' पर्याएँ क्रमबद्ध भी है और अक्रमबद्ध भी आदि ग्रन्थ आपके आगम स्नेह की ही देन है।

समाज सेवाके तो आप सजग प्रहरी है। अशिक्षा, अल्पशिल्पसे ग्रस्त प्रदेशमे बहुव्ययसाध्य बहुलतासे होनेवाले गजरथ जैसी प्रवृत्तियोका भी समाजके हितोको ध्यानमे रखते हुए आपने विरोध किया है। समाज-के किसी वर्गका जैनो हो, भले ही वह दस्सा ही क्यो न हो, उसे अर्हत-पूजाका अधिकार दिलानेमे हमेशा आप प्रयत्नशील रहे है।

देश-सेवाके तो आप अग्रदूत ही है। देशके लिए आपने महर्ष जेल-यातनाएँ सही है। राष्ट्रमे आज स्वतन्त्रता सग्राम सेनानीके रूप मे आपका बडा सम्मान है।

चौरासी वर्षकी अवस्थामे भी आप नित्य प्रात चार बजे सोकर उठ जाते है। अनवरत २ घंटे अध्ययन करते हैं। आहार इतना अल्प रह गया है मानो शरीरकी स्थितिके लिए ही आहार लेते हो। आप धर्म, समाज और देश सेवाके सगम स्थल है।

ऐसे धर्म, समाज और राष्ट्रसेवी मनीषीको अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करनेका निर्णय समाजके गौरवका विषय है। पूर्ण हर्षोल्लासके साथ इस समारोहका आयोजन होना चाहिए।

इस अवसरपर मैं वर्द्धमान भगवानसे कामना करता हूं कि अभिनन्दनीय श्री प० व्याकरणाचार्यजी स्वस्थ रहे और दीर्घतम आयु प्राप्त कर इसी प्रकार धर्म, समाज और राष्ट्रकी सेवा करते रहे।

देश और समाजकी निधि सरलता की मूर्ति को।
शत शत नमन अर्पित 'सुमन' श्रुतसेवियोके चमन को ॥

शुभकामनाएँ

● डॉ० श्रीमती रमा जैन, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ, छतरपुर

मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रो० सुमतिप्रकाश जैन शास० महाविद्यालय बीनामे कार्यरत है। इस निमित्तमे एक बार मुझे अपने पति (डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी) के साथ बीना जानेका अवसर मिला। हम लोगोंके आगमन-की सूचना मिलते ही पूज्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यने हम लोगोको भोजनके लिए निमत्रित किया। हम लोग उनकी और उनके पूरे परिवारकी आतिथ्यभावनाको देखकर गद्गद हो गये। भोजनोपरात दोपहर-को जब पडितजी अपने भतीजे प० दुलीचद्रजीको समयसारका पारायण करा रहे थे, मै भी उसमे सम्मिलित हो गयी। उस समय प्रकृत विषयमे प्रस्तुत शंकाओका समाधान पडितजीने विद्वत्तापूर्ण ढंगसे किया। उनकी तार्किक एव दार्शनिक शैलीने मुझे अपने गुरु स्व० प० नेमीचद्रजी ज्योतिषाचार्यका स्मरण दिला दिया।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि प० श्री न केवल व्याकरणके आचार्य है, अपितु न्याय एवं जैन दर्शनके भी आचार्य है। आज भी उनका स्मरण आते ही ऐसा लगता है कि पुन अवसर मिले और मैं उनके प्रवचनमे सम्मिलित होकर कुछ ज्ञानकण प्राप्त करूँ।

ऐसे बहुश्रुत विद्वान् पण्डितजी शतायु हो, यही मेरी मंगल कामना है।

निरभिमान व्यक्तित्व

● पं० भैया शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, शिवपुरी
● प० शान्तिदेवी शास्त्री, शिवपुरी एवं उनके परिवारके समस्त सदस्यगण

इतिहासके पृष्ठोंको पलटकर देखें तो आचार्य परम्परा तथा पण्डित परम्परा कुन्दकुन्द स्वामीसे लेकर आज तक अविच्छिन्न रूपसे चली आ रही है। आचार्य परम्परामें उनकी स्तुति, शिलाखण्डों या ताम्रपत्रों पर प्रशस्तिके रूपमें उत्कीर्ण की जाती रही। लगभग ४०-५० वर्षोंसे विद्वानों व श्रीमानोंके सम्मानमें—अभिनन्दन या स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित कर अभिनन्दन परम्पराका उदय हुआ जो अब द्रुतगतिसे समाजके सामने गतिवान होता जा रहा। विद्वानोंके कृतित्व एव व्यक्तित्वके प्रति सम्मान ज्ञापित करनेकी परम्परा एक स्वच्छ एवं मानद परम्पराके रूपमें अनुकरणीय बनती जा रही है, इस परम्पराके निर्वाहमें आज तक लगभग पचास मुनियों, विद्वानोंका या श्रेष्ठि वर्गका सम्मान किया जा चुका है उनका यह सम्मान इतिहासमें अमर रहेगा। इस गौरवपूर्ण परम्पराके उपक्रममें इसी दशकमें चार पाँच विद्वानोंका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की जा चुकी है। कुछ विद्वानोंके अभिनन्दनकी बात सुनी जा रही है। कुछ विद्वानोंके अभिनन्दन ग्रन्थ अधूरे हैं, कुछ के प्रेसमें, कुछ पूर्ण होकर सामने आ रहे हैं इसी श्रृंखलामें प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ पाठकोंके हाथमें है।

वस्तुत सरस्वती और लक्ष्मीके वरदपुत्र श्री बंशीधरजी व्याकरणाचार्य जिस गरिमाके उत्कृष्ट स्थान पर है वे स्वय अपनेमें एक ही हैं, उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व एक अनूठा और अनोखा है। पं० श्री स्वतन्त्र व्यवसायी होकर सुधारकके रूपमें अपने विचारोंके स्वतन्त्र रहे हैं यही कारण है कि गजरथ विरोधी आन्दोलन, राष्ट्रीय आन्दोलन, जैन तत्त्वमीमांसाकी मीमांसा बडी निडरतासे तलस्पर्शी—तर्कपूर्ण रूपसे लिखी गई। उनका जीवन समाज सुधारकी दिशा बोधमें बीता है, निर्भीकतासे समाजमें व्याप्त कुरीतियोंके उखाड फेंकनेमें शंखनाद किया है तो इन्ही मनीषी विद्वानने किया। "विद्वान् समाजका दर्शक होता है" इस तथ्यको सिद्ध कर दिया है।

उनकी मधुर वाणीमें सरलता है मन और मस्तिष्कमें साहस है। उनमें देवशास्त्र गुरुके प्रति अटूट श्रद्धा है, भक्ति है। अप्रतिहत प्रतिभा उनकी संगिनी है।

ऐसे सिद्धान्ताचार्य पण्डितवर्य जो स्वाभिमानकी गरिमासे गरिष्ठ एवं वरिष्ठ है उनके प्रति अनेक शुभ कामनाएँ हैं कि वे शतायु होकर समाजको दिशा बोध करते रहें।

मेरी उन्हें शुभ मंगल कामनाएँ

● पण्डित मुन्नालाल जैन, शास्त्री संस्कृत-प्रवक्ता, श्री तारणतरण जैन उ० मा० वि०, गजबासौदा

श्रद्धेय परम-पूज्य पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीनाका जीवन-चरित्र प्रशंसनीय ही नहीं, अपितु अनुकरणीय है। लक्ष्मी एव सरस्वती दोनोंका योग विशेष पुण्यसे ही मिलता है। पर आपमें दोनोंकी कृपा है। प्राकृतिक सौम्यता एवं मुस्कराहट अन्तरकी भद्रता तथा मन्द कषायके प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं' वाली बात आपके जीवनमें चरितार्थ दिखती है।

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समितिने आपके अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशनका जो निर्णय लिया है एवं डॉ० दरबारीलालजी कोठिया को इसका प्रधान सम्पादक बनाया गया है। मै अभिनन्दन ग्रन्थके प्रकाशन एव पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके दीर्घ आयु होने की मंगल कामना करता हूँ।

समाजकी नब्जके पारिखी

● आचार्य जिनेन्द्र, सामनी (अलीगढ़)

"चारित्तं खलु धम्मो" के अनुसार आज भी प्राचीन कड़ीके मोती यत्र-तत्र देखने / दर्शन करनेको प्राप्त हो जाते है। ऐसे ही प्रेत शास्त्र व्याकरण/चारित्रके धनी पं० बंशीधरजीके दर्शन मुझे उनके स्थायी निवास बीना (मध्य प्रदेश) में हुए।

पं० जी संस्कृत भाषाकी कठिनतम विधा व्याकरणसे आचार्य हैं। उस समय व्याकरणसे आचार्य करना जैन समाजके लिये तो कौतुक/गौरवकी ही बात मानी जाती।

अगस्त १९७३ मे नाभिनन्दन संस्कृत विद्यालय, बीना मे मात्र ३ माहके लिये पढ़ाने गया। प्राचार्य पं० मोतीलालजी थे। प० वंशीधरजीके पास प्रतिदिन बैठता था। उन्हे देखकर मुझे स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके वैयाकरण दिवाकर जोशीजीकी उक्ति याद आती कि बेटे, व्याकरण पढना—लोहे-के चने चबाना है, क्योंकि यह लोक कहावत है—

डाल गले मे गथरी, निश्चय जानो मरण।
कु खु, र, तु पु रटिये, तब आवे व्याकरण॥

किन्तु श्रद्धेय प० बंशीधरजी जहाँ इतने कठिन विषयके विद्वान् हैं वही एक बडे प्रतिष्ठित वस्त्र-व्यवसायी भी हैं। मैंने देखा पर्यूषणमे जब पं० जी धर्म-ध्यानमे अधिक समय लगाते तो ग्राहक दुकानके बाहर बैठे रहते कि जब पं० जीकी दुकान खुलेगी तभी हम खरीददारी करेंगे। उनकी नैतिकता और विश्वास इसका कारण था।

प० जी गम्भीर विचारक एवं समाज धर्मके ज्ञाता हैं। मै गाडरवाडा दशलक्षण पर्वमे प्रवचन करने गया। वापिस आया तो वहाँकी समाजके एक दलाल महोदय एव मन्त्रीजीका पत्र आया कि हमारी भेंट/दक्षिणा वापिस करो या फला संस्थाकी दानकी रसीद भेजो। मै आश्चर्य/असमजसमे था कि जिस समाजने भक्तिभावसे प्रवचन सुना और पैर छू-छूकर स्टेशन तक भेजने आये, उनके नुमाइन्दोंकी ऐसी हरकत ?

मैने पं० जीसे इस घटना चक्रका जिक्र किया तो प० जी गम्भीर मुद्रामे विचारपूर्वक बोले शास्त्रीजी आप समस्त दक्षिणा वापिस भेज दो। यह समाज सेवा है। समाजका अनुभव अभी आप और करेंगे। उनके अन्तर्मनकी अनुभूति मैंने समझ ली और तुरन्त वैसा ही किया।

आज सोचता हूँ कि पण्डितजी जैसे व्याकरणविद्, धर्मशास्त्रके ज्ञाता वैतनिक समाज-सेवासे दूर कैसे रहे ? वे सचमुच समाजकी नब्जके पारिखी है। तभी तो उन्होने मूक चिन्तन/लेखनके साथ-साथ स्व व्यव-सायी/स्वावलम्बी रहनेका निश्चय किया। वे सचमुच सरस्वती पुत्र है। उनके साथ रहकर एक अनुभव-जन्य ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वे सदैव स्वाध्याय करते हैं और गम्भीर विषयोंपर लेखनी चलाते है। सत्य धर्मका पालन व्यापारमे करनेका मूलमंत्र तो कोई पण्डित श्री वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना वालोंसे पूछे। उन जैसे मनीषीका मैं अभिनन्दन एव अभिवन्दन करता हूँ। मेरी शतश: उन्हे शुभ कामनाएँ है।

अभिवन्दनीय पण्डितजी

● श्री श्रेयास जैन, पत्रकार टीकमगढ (म० प्र०)

श्रद्धेय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य एक ऐसे सारस्वत है, जिनकी सरस्वती चतुर्मुखी है। हम देखते है कि उन्होंने समाज, राष्ट्र, साहित्य सभी क्षेत्रोंमे अपनी सरस्वती का सफल उपयोग किया है। उन्होने समाजको विखण्डित करने वाली रूढ़ियोको दूर करनेमें सक्रिय कदम बढ़ाया है। १९४२ के 'भारत छोड़ो'

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलनमे न केवल भाग ही लिया है, अपितु ९, १० माह जेलमें भी रहे। अपने क्षेत्रमे कांग्रेसके सदस्य बनकर राष्ट्रकी निरन्तर सेवा की है।

आश्चर्य यह है कि आपने इन सामाजिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियोंके साथ आर्ष सम्मत सैद्धान्तिक, दार्शनिक और तार्किक लेखों एव ग्रन्थो द्वारा सम्यग्ज्ञानका भी प्रचार किया है।

ऐसी बहुमुखी सेवाओके उपलक्ष्यमे उनका अभिवन्दन एव अभिनन्दन नितान्त आवश्यक था। आज समाज उनका अभिनन्दन कर रहा है, यह परम प्रमोदकी बात है। मैं भी एक लघु पत्रकारके नाते इस अवसर पर उनका अभिवन्दन करते हुए अपने श्रद्धा-पुष्प अर्पित करता हूँ कि वे हम लोगोको दीर्घकाल तक मार्ग दर्शन करते रहें।

शान्तिप्रिय क्रान्तिकारी समाज-सेवक

● डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० पूर्व विधायक, छतरपुर

समाज सेवाके क्षेत्रमे

जैन तीर्थ क्षेत्र देवगढमे जब एक विशाल गजरथका आयोजन हुआ, तब सागरके जैन जातिभूषण सि० कुन्दन लालजी तथा पूज्य प० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री (प्रधानाध्यापक श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय, सागर) के साथ मैं भी देवगढ गया। आदरणीय सिंघईजीका स्नेहिल आदेश और पं० जीकी साथ ले चलनेकी स्वीकृति, दोनों मेरे लिये वरदान थे। वही पूज्य पं० बशीधरजीके सर्वप्रथम दर्शन हुए। नव स्थापित "सन्मार्ग प्रचारिणी सभा" के मंचसे गजरथकी असामयिकतापर इनके भाषणसे मैं इनपर मन-ही-मन नाराज हो गया, क्योकि उस समय गजरथ मेरी दृष्टिमे सबसे बडा धार्मिक कार्य था। इतने बडे रथकार सा० क्या वर्तमानको नही जानते ? यही पं० एक समझदार हैं ? इत्यादि कल्पनाएँ मनमे उठती रही। पर इनको भी तो सुनना चाहिये, सुननेमे क्या हर्ज है ? सोचकर इनका भाषण सुना और कहकर चला आया कि विरोध ही करना है तो बडे जोरसे बोलना चाहिये। प० जीकी गम्भीरता और हमारा लडकपन कैसे मेल खाते ?

आगे चलकर सागर जिलेके केवलारी ग्राममे भी गजरथका आयोजन हुआ, मैं विद्यालयकी ओरसे श्री प० मूलचन्द्रजी बिलौआ सुपरिण्टेण्डेण्ट सा० की सहायतार्थ भेजा गया। पं० बशीधरजीका विचार-मंच वहाँ भी लगा और हमारे विद्यालयका तम्बू भी इन्हीके पास लगा। फिर वही गजरथ-विरोधी भाषण। अबकी बार तो न सुनना चाहते तो भी सुनना पडते थे। सुबह ४ बजे पं० जीका भाषण भगवन्नामस्मरणके साथ प्रारभ हो जाता। इनके साथ पं० जीके तत्कालीन परम मित्र माननीय प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री थे, वे भी बारी-बारीसे विरोधी भाषण देते थे। मैंने पहले दिन सोचा इन पण्डितोंको कोई अच्छा काम नही आता ? पर जब चाहे-अनचाहे इनके भाषण दो दिन सुने, और सोचा तब मेरी समझमें आ गया कि मैं ही गलतीमें था। मेरी विचार-धारामें परिवर्तन आया और मैंने अपने विद्रोह विचार एक कवितामें व्यक्त कर दिये। कविताका अन्तिम छन्द था—

> "कल्याणक को पूर्णविधि को मनगढन्त होते देखा।
> ऐसे भी गजरथ धर्म अंग है, मूर्खों को कहते देखा॥"

पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं। इस कवितामें गजरथकी खुली आलोचना थी। इससे बौखलाकर एक सज्जन आये, कौन है यह कविता वाला विद्यार्थी ? मैंने कह दिया साहब आखिर इतना बिगडने की क्या बात है ? वे बोले—तुमने नहीं सुना वह कह रहा था ऐसे भी गजरथ धर्म अंग है, मूर्खोंको कहते देखा। मैंने कहा हाँ, यह बात तो सुनते ही गलत लगना स्वाभाविक है, परन्तु गम्भीरताके साथ अगर आप सोचें तो शायद आप

भी उससे सहमत हो जावेंगे, क्योंकि आप एक भद्र एवं विचारशील व्यक्तित्वके धनी दिखते हैं। आपके अन्तरंगकी बात भगवान जानें ? अपनी प्रशंसा सुनकर वे शान्त होकर चले गये।

विचार मंचके बाहर हुई इस शाब्दिक मुठभेडको मैं कभी भूल नही पाता। पं० जीकी शान्त विचार-शैलीने मुझे भी गजरथ-विरोधी बना दिया। परन्तु दुःख की बात यह है कि जैन समाजपर उसका कोई असर नहीं है। अत तीर्थ क्षेत्रोपर चलने वाले गजरथका समर्थन परवश करना पडता है। जबकि शिक्षा संस्थाओके पुनरुज्जीवनमें व्ययका सदुद्देश बताते हैं। पर जब यह छलना मात्र होती है तब मन-ही-मन घुटन होने लगती है कि समाज कब पण्डितजी जैसे विचारकोके सद् विचारोसे लाभ लेगा ?

इस गजरथ महोत्सवमें प्रतिष्ठाचार्य पं० हरिप्रसादजी पठा (टीकमगढ वाले) थे, जो बादको दिगम्बर मुनि हो गये। समाजके अनेक प्रतिष्ठित जन इसमें पधारे थे।

राष्ट्रीयताके क्षेत्रमे

पण्डितजीकी शान्तिप्रिय क्रान्तिकारिताका दूसरा उदाहरण उनके द्वारा सन् १९४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलनमे भी भाग लेनेका है, जिसमे उन्होंने बडी शालीनताके साथ अपने राष्ट्रीय विचारोंको अभिव्यक्ति दी और जेल की सजा पाई।

सांस्कृतिक संरक्षाके क्षेत्रमें

तीसरा उदाहरण जैन सास्कृतिक परम्पराके संरक्षणमे सक्रिय योगदानका है। "जैन तत्त्वमीमांसाकी मीमांसा" ग्रन्थमें उनके विचार बहुत स्पष्ट है। सोनगढी सिद्धान्तोंके सम्बन्धमे जैन समाज केवल इतना जानता था कि कहान जी भाईने केवल जैनागमकी अस्पष्ट व्याख्याको सुस्पष्ट किया है, विस्तृत किया है, ताकि लोग आगमिक रहस्योको सरलतासे समझ सकें। इसमे मिलावट या अर्थान्तरका प्रश्न ही नही है, ऐसा मै भी मानता था। परन्तु जब पण्डितजी जैसे अध्येताओंने गम्भीर अध्ययनके बाद निष्कर्ष निकाला कि जहाँतक कानजी भाई की कथनी है: वह पूर्वाचार्योंके प्रतिपादनकी व्याख्यामात्र नही है किन्तु उसका खण्डन है तब मुझे आश्चर्य हुआ। विद्वानोकी दृष्टिमे या जैनागमिक परम्परापर भीतरी आक्रमण था। परिणामत मूल मान्यताओंकी सास्कृतिक संरक्षाके लिये शान्तिपूर्ण ढंगसे प्रयास करनेका निर्णय दिगम्बर जैन संस्कृति सेवक समाज द्वारा लिया गया। इस प्रयासका श्री गणेश माननीय प० बंशीधरजी द्वारा पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित "जैन तत्त्व मीमांसा की मीमांसा" लिखकर किया गया। उक्त मीमांसाकी मीमांसा ग्रन्थमें पण्डितजी-की गहन दार्शनिक एवं तार्किक प्रतिभाके दर्शन होते हैं।

संस्कृति-सेवक समाजके संकल्पके अनुसार पण्डितजी समयसार, समयसार कलश और मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसे ग्रन्थोंका विश्लेषणात्मक अध्ययन (कानजी भाईकी विचार धाराके साथ तुलनात्मक रूप मे) प्रस्तुत करनेमें समर्थ हों, दीर्घायु हो, यही मगल कामना है।

जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान्‌का सम्मान

● श्री महेन्द्रकुमार 'मानव', छतरपुर

जैन समाजमे पाण्डित्यका अभाव देखकर पूज्य वर्णीजीने काशीमे स्याद्वाद विद्यालयकी स्थापना की थी। पूज्य वर्णीजीके जीवनकालमे ही उनका सपना पूरा हुआ था और समाजमे जैनधर्मके अनेक प्रकाण्ड पण्डित बने। इन पण्डितोकी सेवाओंसे जैन वाङ्मयका अध्ययन, शोध और विवेचना हुई। इसी कडीमें प० बंशीधर-जीका नाम आता है। उन्होंने व्याकरणसे आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। साथ ही जैनधर्मके गहन ग्रन्थोका भी

अध्ययन किया। उनके अध्ययनका परिचय उनके द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें लिखित सामयिक, तार्किक शोधपूर्ण लेखोंसे मिलता है। पंडितजी एक ऐसे दीपक है, जिन्होंने एक साधारण परिवारमें जन्म लेकर अपने पूरे परिवारको पंडित बना दिया। 'दीपक-से-दीपक जलता है' यह उक्ति उनके जीवनसे चरितार्थ हुई। उनके भतीजे पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री अभी कुछ ही दिन पूर्व दिवंगत हुए हैं। वे तो स्वर्गीय हो गये परन्तु षट्खंडागम-धवल सिद्धान्त जैसे गहन आगम ग्रन्थका सम्पादन एवं अनुवाद करके अपनी अक्षय कीर्तिको भूतलपर छोड़ गये। पंडितजीके ही दूसरे भतीजे पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य जैन समाजके अब एक मात्र न्यायके विश्रुत विद्वान् है।

जैन समाजमे सैद्धान्तिक मान्यताओंको लेकर उठे हुए विवादके बादलोंको प० बंशीधरजीने 'जैनतत्त्व मीमासा की मीमासा' जैसे स्पष्ट ग्रन्थ की रचना कर सन्मार्ग प्रकाशित किया है।

यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि बुन्देलखंड जैसे पिछड़े और गरीब प्रान्तने ही जैनधर्मके मूर्धन्य बहु पंडितोंको जन्म दिया है जिनके ज्ञानसूर्यके प्रकाशसे पूरे भारतका जैन समाज उपकृत हुआ है।

पंडितजीसे मिलनेका मुझे कई बार अवसर मिला है। उनके पाडित्यसे तो मैं प्रभावित हुआ ही, लेकिन उनकी सादगीने भी मेरे मनपर अमिट छाप छोडी है। एक सम्मेलनमे हम लोग धर्मशालामे ठहरे हुए थे। शामको पंडितजी अथऊ कर रहे थे। जबतक पडितजीने शामके भोजनमे मुझे शामिल नही कर लिया तबतक वे नही माने। पडितजीकी दी हुई पूडियो और सागका स्वाद आज भी मेरे स्मरणमे है। पंडितजी दीर्घायु हों और जैन वाङ्मयकी निरन्तर सेवा करते रहे, यही कामना है।

साले की भौआके लिए भावाञ्जलि

● शाह प्रेमचन्द्र जैन, बीना

हमारे 'भौआ'के साथ मेरे बचपनकी कुछ यादें जुडी है, जिनमे भौआका सम्बन्ध है और मेरा भी। बुन्देलखण्डमें बहनोईको 'भौआ' शब्दसे सम्बोधन और आदर व्यक्त किया जाता है। हमारे बडे दद्दा श्री शाह मौजीलालजीके दामाद ही हमारे भौआ है और वे है लब्ध प्रतिष्ठ एवं ख्यातिप्राप्त जैन समाजके शीर्ष विद्वान् पण्डित श्री बंशीधरजी व्याकरणाचार्य।

हम-सब एक ही मकानमें रहनेके कारण उगते सूरजसे डूबने तक और डूबनेसे उगने तक छोटी-बडी बातों, घटनाओं और निकटस्थ जीवनसे जुडे है। मेरे बचपनकी यात्रा और भौआके राजनैतिक, सामाजिक और व्यावसायिक जीवनके एक समूचे व्यक्तित्वकी यात्रा मेरी दृष्टिमे है जो बढती उमरके साथ भूली-बिसरी झलकियोंको फिर याद करनेसे स्फूर्ति देती है, प्रफुल्लता और प्रेरणा देती है। कुछ-न-कुछ छाप, उनका प्रभाव मेरे जीवनपर पडा है। निकटता-समीपता और संगतका असर जरूर होता है, यही मेरा सौभाग्य है।

हाँ, तो मैं ६-७ सालका रहा हूँगा। खेलता फिरता और दौड़ लगाता। घरके भीतर हमजोलीके भानजे-भानजी सनतकुमार और बिमलाके साथ खेलते। घरमे खूँटी पर टँगी बिगुलको उतारते और फूंकते। बिगुल बजाते और कंधेपर टाँगनेका शौक करते। बच्चे थे बडोंकी नकल करते, कभी नेता बनते, कभी मिलिट्रीवाले बनते। बिगुल हमें एक खिलौना था।

भौआका घर उन दिनों बीनाकी राजनैतिक गतिविधियोंका अड्डा था। सारे कांग्रेसी कार्यकर्त्ता और नेता इकट्ठे होते। सन् १९४२ की क्रांति और भौआकी बीना स्टेशन पर गिरफ्तारी मेरी बचपनी आँखोंमे खेल सी समाई। स्टेशनसे घर तक नही आ पाये कि उन्हें स्टेशन पर ही गिरफ्तार कर लिया गया। हमे 'बैन'के रोनेकी आवाज मिली। बुन्देलखण्डमें बहनको 'बेन' या 'जिजो' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है।

हमारे शाह खानदानमें बड़े लोग 'लट्टा बेन' और हम छोटे लोग 'बेन' कहते थे। कहते थे, इसलिए कि उनका नाम लक्ष्मीबाई था और वे भी अबसे पन्द्रह वर्ष पूर्व स्वर्गस्थ हो चुकी है।

बेन के साथ हम लोग ताँगापर स्टेशन पहुँचे। शामका वक्त था। उन दिनों बीना एक छोटा कस्बा था। इटावासे स्टेशन पहुँचते-पहुँचते रात हो गई थी। कस्बामें बिजली नहीं थी, पर पूरे कस्बेमें यह खबर बिजलीकी भाँति फैल गई कि पण्डितजीको गिरफ्तार कर लिया है। लोग उमड पड़े स्टेशनकी ओर। स्टेशन-पर भारी भीड और अंग्रेजी पुलिसका बन्दोबस्त। हुजूम बढता जाता था। गहराता कोलाहल नारों-पर-नारे का तेज स्वर। इंकलाब-जिन्दाबाद, पण्डितजी जिन्दाबाद। जनताका जोश और आक्रोश, भीड़से बचानेके लिए एक ऊँचे मंचपर पण्डितजी जनताको सम्बोधन दे रहे थे। हम लोग उनतक नहीं पहुँच पाये। मंचके चारों ओर रस्सियोंसे घेरा गया था। दूरसे देखा, दूरसे सुना। उन दिनों बीनामें लाउडस्पीकर उपलब्ध नही थे। क्या कह रहे हैं, समझमे नही आया। भाषण खत्म होते ही सिपाही उन्हे उतार ले गये। कहाँ ले गये ? कहाँ ले जायेंगे ? पता नही। सब लोग कह रहे थे—जेल ले जायेंगे। रात स्याह हो चली थी भीड़-लौटने लगी। हम लोग भी लौट आये। कस्बेमें उदासी थी, मुहल्लेमे मायूसी और घर-पडोसमें अजीब सन्नाटा।

रात सोचनेमे चली गई। अंग्रेज मिलिट्रीका आतंक, पण्डितजीकी जेल यात्रा और आन्दोलनका बिगुलनाद, बिगुल अब मुझे खिलौना नही रहा। विद्रोह, विरोध और आन्दोलनका अलख जगानेवाला एक शस्त्र।

'बिगुल बज उठा आजादीका गगन गूँजता नारोंसे' आज जब कभी यह गीत सुनते हैं पण्डितजीके घर टँगी बिगुल याद आ जाती है।

भौआकी जेल यात्रामे सनत दिवंगत हो गया। एक शोक यह भी और एक याद यह भी।

उनकी जीवन यात्रामे राजनीतिके कई पडाव हुए। सामाजिक सेवामें चलते रहे। विद्वत्ताका घर भरते रहे। सरस्वतीकी साधनामे अबतक संलग्न। सरस्वतीका यह वरदपुत्र वृद्धावस्थामें अब कलमके सिपाही हैं उनके कमरेमें अब बिगुल नही, कलमदान है। वे आत्म-विश्वासके धनी हैं, दीर्घ जीवन जीने और बहुत कुछ करने की ललक है। उनके द्वारा भरे घट और उनका जीवन घट भरा रहे। हम सब पीते रहें, रीते नही। यही भावाञ्जलि भौआके दीर्घ जीवन यात्राके लिये है।

कन्या राशिका चमत्कार

● पं० स्वतन्त्र जैन, गंजबासौदा

[पूर्व भाग]

बहुत पुरानी बात है और मेरे बचपनकी बात है, स्व० प० महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्य हु० महाविद्यालय इन्दौरमे न्यायतीर्थकी पढाईमे संलग्न थे। उस समय मैं भी इन्दौरमे प्रवेशिका खण्ड २ मे पढ़ता था। एक दिन प० जीने व्यंग (किन्तु सत्य) मे कहा, देखो यह कन्या राशिका ही चमत्कार मानना चाहिये कि पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका विवाह श्री मौजीलालजी बीनाकी लड़कीसे हो गया है। मजेकी बात यह है कि दोनों (वरवधू) को कन्या राशि है, और पण्डितजीको घर जमाई रख लिया है। पण्डित महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्य तो बनारस पहुँचनेपर सुहृद्वर पं० डॉ० कोठियाके साथ बादमें हुये थे। बात आयी-गयी-सी हो गयी, और समय अपनी अरोक गतिसे भागता रहा।

अब फरवरी सन् १९४१ का जमाना आ गया। इसी साल सूरतमें जैनमित्रादि कार्यालयोंमें नियुक्ति

हुयी थी। जूनमें कुछ दिनोंका अवकाश लेकर मैं मिरोंज आया। मामाजीने कहा, तुम बीना चले जाओ, लड़का देख आओ, कस्तूरीका सम्बन्ध करना है, मैंने कहा ठीक है। अब बीना मैं किसके यहाँ ठहरूँ यह प्रश्न मेरे सामने था। इस समय मुझे पं० महेन्द्र कुमारजीकी बात याद आयी "कन्या राशिका चमत्कार", क्यों न मैं चमत्कार वालोंका मेहमान बनूं ? शामको मैं बीना आ गया। आते ही मैंने अपना परिचय दिया। पण्डितजी बड़े खुश हुये, और अपने आत्मीयभावसे मुझे बहुत ही प्रभावित किया, मैं गद्-गद हो गया। लड़का मुझे पसन्द नहीं आया, किन्तु पण्डितजीके अपार स्नेहको लेकर लौट आया। यह जून सन् १९४१ की बात है। यही पूज्य पं० बंशीधरजीसे प्रथम परिचय था।

सन् १९४८ मई मासमें सोनगढ़मे विद्वत् परिषद्का अधिवेशन हुआ। यह कानजी स्वामीके उदय-कालका अवसरपर था। इस अधिवेशनमे समाजके चोटीके मूर्धन्य अनेक विद्वान् पहुँचे थे। वहाँसे लौटते समय पं० बंशीधरजी सूरत आये। मेरे ही घर ठहरे थे, आपको जैनमित्रकी पुरानी फायलोंकी आवश्यकता थी। वे फायले कार्यालयसे लाकर उन्हे दे दी थी, दो दिन ठहरकर बीना चले गये। पूज्य पण्डितजीके आगमनपर मुझे बहुत ही आनन्द मिला। फिर तो पूज्य पण्डितजी समय-समयपर कई बार मिले। परिचयने निकटता-घनिष्ठताका रूप ले लिया। फिर तो पण्डितजीके घर कई बार आना-जाना होता रहा।

[उत्तर भाग]

पूज्य पण्डितजी जैन समाजकी नजरोंसे ओझल रहे और अपनी ख्याति एवं प्रसिद्धिसे दूर रहे। यही कारण है कि सामान्य जैन समाज आपको न जान सका। ६० वर्षों तक चारो अनुयोग ग्रन्थोंका आलोडन एव मन्थन कर आपने नवनीत निकाला। मैंने स्वयं देखा है कि पण्डितजी ठीक ३ बजे उठकर या तो कुछ लिखते है या किसी ग्रन्थका पारायण करते है। जबकि मैं ६ बजे उठता था जबकि मैं पण्डितजीके घर मेहमानके रूपमे होता था। खानिया तत्त्वचर्चामें आपका प्रमुख हाथ था। जैनदर्शन और जैनसिद्धान्तके आप अधिकारी विद्वान है। वीरवाणी पत्रिकामे कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी लेख माला कई अंकोंमे निकलती रही। ऐसी लेखमालाका पुस्तकाकार छपना बहुत आवश्यक है। हमारे समाजमे गुण-ग्राहकता नही जैसी है। यही कारण है कि पण्डितजीको ८४ वर्षकी आयुमे अभिनन्दन ग्रन्थ देनेका निर्णय समाजने लिया, यह पण्डितजी अभिनन्दनीय है ही किन्तु वे इससे अधिक अभिवन्दनीय एवं अभिनन्दनीय है।

अभिनन्दनकी पावन मांगलिक बेलापर मैं पूज्य पण्डितजीके सुखी, स्वस्थ जीवन और शतायुष्यकी मंगल कामना करता हूँ।

समाजके मार्गदर्शक

● श्री लालजी जैन, बी० कॉम, अनुभाग अधिकारी विभाग, परीक्षा का० हि० वि० वाराणसी नियत्रक कार्यालय

यह परम प्रसन्नताकी बात है कि समाजने पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दन करनेका निर्णय लिया है और उनके व्यक्तित्व, कृतित्व एवं दार्शनिक योगदान स्वरूप एक अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करनेका निश्चय किया है।

आदरणीय पंडितजी सादगीकी प्रतिमूर्ति एवं भद्रपरिणामी व्यक्ति हैं। अध्ययन-अध्यापनके क्षेत्रसे दूर रहते हुए भी पंडितजीने जैनवाङ्मयकी जो सेवा की है, वह अपने आपमें एक मिसाल है। केवल स्वाध्यायके बलपर पंडितजीने जैन सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, इतिहास आदिका जो दिग्दर्शन अपने लेखों एवं कृतियोंमें कराया है वह अत्यन्त ग्राह्य एवं आगमानुकूल है। तथ्योंका जो विवेचन पंडितजीने प्रस्तुत किया वह सांगोपाग एवं सरल है। सुधीजन ही नहीं अपितु सामान्यजन भी उसका लाभ उठा सकते है। दार्शनिक

विवेचनमें तो मौलिकता कूट-कूट भरी हुई है। लेखोंके अध्ययनसे यह पता नही चलता कि वे स्वयंकी उनकी कृति नही है। सामान्य पाठक भी यदि उनका अध्ययन मनोभावसे करे तो उसे ऊबनका अनुभव नहीं होता और उसके पठनकी ओर वह अग्रसर होता जाता है।

यह पण्डितजीके गहन अध्ययन एवं स्वाध्यायका ही परिणाम है कि वे खानिया तत्त्वचर्चापर आगमानुकूल समीक्षा प्रस्तुत कर सके। उनकी रचनाओंको तो समाजके लिए अलगसे प्रकाशित करनेका प्रयास करना चाहिये।

ऐसे विद्वान्‌का समाज कितना ही अभिनन्दन करे, वह थोडा है। पण्डितजी शतायु हों एवं हम-लोगोंका मार्गदर्शन इसी प्रकारसे करते रहे, यही मेरी शुभकामना और जिनेन्द्र भगवानसे प्रार्थना है।

एक जागरूक मनीषी

● पं० खुशालचन्द्र बडेराय, शास्त्री, तेजगढ

यह हमारा धर्म एवं कर्तव्य होता है कि अपने लिये जिनके द्वारा कुछ प्राप्त हो उनका गुणस्मरण अवश्य ही करें।

पं० जीने अपना सारा जीवन जैनधर्म एव समाज-सेवामे लगाया है और आज भी सजग भावसे सलग्न है। आपने समाजमें लगे समाज और धर्म विरोधी तत्त्व रूपी घुनको निकाल फेकने हेतु जो सतत प्रयत्न किये वे आज भी स्मरणीय है।

केवलारी गजरथ : एक अतीतकी झाँकी—पत्रों द्वारा लगातार प्रचार एवं प्रसारको देखकर श्री प० जीने अपने विचारोंको दबाना एक अपमान तथा कायरता द्योतक समझ जोरदार आन्दोलन उठाया एवं पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री बनारस, भागचन्द्रजी इटोरया दमोहको आश्वस्त किया और लिखा क्या दमोह जिलेकी केवलारी बस्तीमे जहाँपर मात्र एक ही घर जैनसमाजका हो वहाँपर गजरथ जैसे महान और पवित्र धार्मिक अनुष्ठानकी स्थापना की जाय। यह नाटक नही कि कही भी किसी हालतमे खेला जा सके।

श्री भागचन्द्रजी इटोरयाने अपने स्थानीय कार्यकर्त्ताओ को आमंत्रित कर सलाह मसवरा करके प० मूलचन्दजी "वत्सल" पन्नालालजी चौ०, भागचन्द्रजी इटोरया एवं मैं भी तैयार होकर पं० जीके साथ केवलारी शाहपुरसे पहुँचे। श्री सिं० धरमचन्द्रजी गजरथकारसे मिले तब उन्होंने कहा कि रथ चलेगा। इससे मेरा तथा गाँवका बदनाम होगा। बहुत समझाया गया अनेको उदाहरणो द्वारा विषय सामग्री प्रस्तुत करनेपर भी सिं० जी सहमत नहा हुए।

अन्ततोगत्त्वा रथ चलनेकी शुभबेला आ गई। सर्वमडली सहित प० जी केवलारी पहुँचे। चर्चा विरोधकी चल रही थी कि पं० फूलचन्द्रजो अनशन प्रारम्भ कर एक मंडपमें बैठ गये। समाजमें खलबली मच गई। पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री प्र० पा० कटनी जैन पाठशाला आये और बड़े आश्वासनोंके बीच प० जीका अनशन तुडवाया। आम सभा हुई जिसमे सर्वसम्मतिसे १५१ आदमियोंकी एक कमेटी बनी और निर्णय हुआ कि इस कमेटोकी स्वीकृतिपर ही गजरथ चलेगे।

इसी बीच बाबू जमुनाप्रसाद कलरैया सबजज नागपुरसे पधारे। चर्चाके दौरान लोगोंने कहा बुन्देल-खण्डमें दस्साओंको पूजन प्रक्षाल आदिका अधिकार नही है। तब पं० बंशीधरजीने अपनी गद्‌गद वाणीमें कहा इधर गजरथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ हों उधर पुजारियोंका अभाव हो दोनोही बातें धर्मसे मर मिटनेकी हैं उस दिनसे दस्साओको पूजनका अधिकार दिया गया। पं० बंशीधरजी एक लगनशील, कर्मठ, उदारमना हैं। आपका जैन साहित्यमे पूर्ण आधिपत्य है। हम आपके दीर्घजीवी होनेकी कामना करते हैं।

वंशीधरो जयतात्

श्री अमृतलालो जैनः साहित्य-जैनदर्शनाचार्य:, लाडनूं

(शार्दूलविक्रीडितम्)

झाँसीमण्डलवर्तिनी विजयते धन्या पुरी 'सौंरई'
यत्राजायत नव्यभव्यभवने राधा-मुकुन्दात्मजः ।
स्तुत्यानेकशरीरचिह्नविदितप्रज्ञाप्रकर्षोदय.
श्रीवंशीधरनामलब्धगरिमा जातोऽभिनन्द्योऽधुना ॥ १ ॥

स्याद्वादात्तसमस्तशास्त्रविषयज्ञानो गणेशाश्रयो
नैकोपाधिविभूषितो गुरुसमप्राज्ञप्रसादादभूत् ।
आचार्यत्वमवाप्य य. प्रथमतो लेभ प्रतिष्ठा परा-
मश्रान्तं श्रमतो न कोऽत्र सुमति प्राप्नोति शुम्भद्यश. ॥ २ ॥

पश्चाद् य प्रविहाय शिक्षणगृहं व्यापारलग्नोऽपि सन्
न्याय्यं मूल्यमुपैति नोनमधिक कस्मादपि ग्राहकात् ।
तस्मात् सोऽपि परत्र याति न जन. क्रेतु पट कर्हिचिद्-
व्यापारेऽपि जन स एव सफलो जायेत यो न्यायवान् ॥ ३ ॥

व्यापारार्थमुपस्थितोऽपि विपणौ ग्रन्थं न यो मुञ्चति
प्राप्ते क्रेतरि सत्वरं वितनुते कार्यं तदीयं तत ।
निश्चिन्तं पुरतो निधाय मनसा तच्चिन्तने लीयते
तत्त्व वेत्ति स एव यस्य हृदय नित्यं निमग्नं श्रुते ॥ ४ ॥

लोकश्लाघ्यगुणौघमण्डनयुता याता यदा गेहिनी
स्वर्गं वित्स[1] समस्तसृतिभवा नि.सारता भावयन् ।
अन्त शोकनिपीडितोऽपि नितरा व्यक्तं न चक्रे बहि:
सत्यं ते विरला समस्तभुवने मुञ्चन्ति धैर्यं न ये ॥ ५ ॥

सत्तर्कार्कनिपीडिताखिलजगच्छास्त्रार्थिघूकोच्चयो-
नानालेखविलेखनोत्थयशसा शुक्लीकृताशाम्बर. ।
वक्ता श्रेष्ठतमश्च चर्चचतुरो ग्रन्थप्रणेता महान्-
श्रीवंशीधरपण्डितो विजयते विश्वम्भराविश्रुतः ॥ ६ ॥

वर्षीयानपि यो युवेव नितरामुत्साहसम्पन्नधी
कार्याकार्यविवेकसूर्यमहिमप्रध्वस्तचिन्तानिशः ।
लक्ष्मी: साऽस्य सरस्वती भगवती यं नोज्झत· कर्हिचित्
सोऽय विज्ञसमाजमस्तकमणिर्वंशीधरो भाग्यभाक् ॥ ७ ॥

(पथ्यार्या)

आचार्यो व्याकरणे तीर्थं न्याये तथा च साहित्ये ।
य. शास्त्री स विपश्चित्—प्रवरो वंशीधरो जयतात् ॥ ८ ॥

●

---

१. ज्ञ स०—इति पाठोऽपर: ।

सरस्वतीके वरद-पुत्र हे ! बंशीधर व्याकरणाचार्य

पं० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, 'साहित्यरत्न' जयपुर

१

अभिनंदन है, अभिनंदनीय हे !
विज्ञ मनीषी परम उदार !
साक्षात् गुण-ज्ञान पयोनिधि !
सादा जीवन उच्चविचार ॥

२

स्याद्वाद-विद्यालय काशी
गुरु 'गणेश' से पाया ज्ञान।
दर्शन औ साहित्य-न्यायके
बने प्रखर उद्भटविद्वान् ॥

३

शुष्क विषय व्याकरण कठिन अति
उसके भी आचार्य महान।
बिना बाँसुरी, हे बंशीधर।
करा दिया गीता का ज्ञान ॥

४

आगम औ सिद्धांत ग्रन्थ के
सफल प्रवक्ता व्याख्याकार।
बतलाया है "जिन शासन में
महत्त्वपूर्ण निश्चय व्यवहार ॥"

५

पूर्ण स्वतंत्र विचारक लेखक।
मंथन और मनन में लीन।
मौलिक सत् साहित्य रचा अति
आर्ष-मार्ग अनुसार प्रवीण ॥

६

विद्वत् परिषद् मार्ग-प्रदर्शक।
दृढ श्रद्धानी आस्थावान ॥
पत्रकार निर्भीक साहसी
शुद्ध समालोचक गुणवान ॥

७

सेवा मे निःस्वार्थ समर्पित
मिला सहज सम्मान अपार।
भारत छोड़ो आदोलन मे
जेल गये कितनी ही बार ॥

८

सभी धार्मिक औ सामाजिक
संस्था से संबंधित आज।
पाकर एक मूक सेवक को
गौरवान्वित हुआ समाज ॥

९

जन-सेवा मे बीते जीवन
सुखी स्वस्थ हो सब परिवार
मंगलमयी कामना येही
देखो अभी बसंत हजार ॥

१०

श्रद्धा से मस्तक झुक जाता
देख समूचे अद्भुत कार्य
सरस्वती के वरदपुत्र हे !
बंशीधर व्याकरणाचार्य ॥

सविनय-अभिनन्दन

सौ० रत्नप्रभा पटोरिया

१

हे सरस्वती के वरदपुत्र ! चिर जियो, तुम्हारा अभिनन्दन ।
मेरा शत शत वन्दन, चिर जियो, करूँ मैं अभिनन्दन ॥

२

जब गाँधीजी ने स्वतन्त्रता का,
भारत में बिगुल बजाया था ।
उस समय तुम्ही ने मोह त्याग,
अपना अनुराग लुटाया था ॥

३

सन् बयालीस में सहे कष्ट,
जिसका हिसाब नही लेखा था ।
दु:ख सहे सीकचों के भीतर,
निज राष्ट्र-विजय-हित सोचा था ॥

४

ले ज्ञान दीप निज कर में तब,
कई ग्रन्थ लिखे अनुवाद किये ।
ये स्याद्वाद नय और प्रमाण,
इन सब को अति ही सरल किये ॥

५

स्वदेश, जैन-दर्शन के हित,
जो कार्य अनेकों सुदृढ़ किये ।
शब्दों में उन्हें न बाँध सकूँ,
वे अनुपम अमर प्रकाश किये ॥

६

चन्दा और तारे चमकेंगे,
जब तक इस पृथ्वी के ऊपर ।
यश गान तुम्हारा गायेंगे,
मिल कोटि कोटि कण्ठों से सब ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र ! चिर जियो तुम्हारा अभिनन्दन ।
मेरा वन्दन शत-शत, वन्दन, चिर जियो करूँ मैं अभिनन्दन ॥

●

हे सरस्वतीके वरद्पुत्र ! शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम

डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन', श्रीमहावीरजी

हे सरस्वती के वरदपुत्र ! शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।

१

सम्वत् उन्नीस सौ बासठ के
शुभ भाद्र मास की शुभ वेला ।
शुभ शुक्ल पक्ष तिथि शुभ सातें
थी भारत-भू की अलबेला ॥
गोलापूर्वान्वय में जन्मे
निजवंश कोठिया के ललाम ।
हर्षाए नगरनिवासी सब
तब भूल गये थे दुःख तमाम ॥

२

भारत वसुन्धरा धन्य हुई,
धरती का कण-कण हर्षाया ।
हो गयी पुनीता सोंरई-भू
'राधादेवी' ने सुत जाया ॥
यों जन्म-भूमि जननी दोनों
हो गयी वंद्य पावन सु नाम ।
श्री सिंघई 'मुकुन्दलाल'-नन्दन
को वन्दन मेरा है अकाम ॥

३

हर्षायी राधा देख लाल
हर्षाये लख सुत मुकुन्दलाल ।
पर पढ न सके जीवनरेखा
प्यारे सुत की जो रही भाल ॥
त्रय मास मात्र देकर दुलार
चल दिये पिताश्री स्वर्गधाम ।
माता का प्यार बना सम्बल
बच रहा सहारा जननि-नाम ॥

४

जननी भी बारह वर्ष बाद
एकाकी इनको छोड गयी ।
संघर्षों में जीवन बीता
विपदाएँ आयीं नई-नई ॥
यों माता-पिता विहीन हुए
तब तजा आपने पितृ-धाम ।
वारासिवनी में मामा घर
आकर पाया था लघु विराम ॥

५

वर्णी जी का कुछ योग मिला
पढने का अवसर हाथ लगा ।
चल दिये बनारस पढ़ने को
था नही संग कोई बन्धु सखा ॥
साहित्य जैनदर्शन शास्त्री
उत्तीर्ण हुए स्याद्वाद-धाम ।
व्याकरणाचार्य व न्यायतीर्थ
पदवियाँ प्राप्त की गंग-धाम ॥

६

गम्भीर विचारक चिन्तक हैं
जिन आगम के अध्येता हैं ।
आगम विरोध डटकर करते
आगम पर चोट न सहते हैं ॥
जयपुर में हुयी तत्त्वचर्चा
के प्रथम समीक्षक को प्रणाम ।
उस समय पक्षधर आगम के
राधा सुत ही थे जग-ललाम ॥

७

निश्चय-व्यवहार उभय जग में
हैं उभय नेत्र सम प्रिय दोनो ।
गति को आवश्यक चरण-युगल
जैसे सरिता को तट दोनों ॥
शिव-पथ के दोनों साधन हैं
दोनों से सधता मोक्ष-धाम ।
तज ग्रन्थि लिखा राधा सुत ने
निश्चय-व्यवहार हैं ग्रन्थ नाम ॥

८

क्रमबद्ध न केवल पर्याएँ
वे तो अक्रम भी होती हैं ।
जो लिखी पुस्तकें वे जग की
उत्पन्न भ्रान्तियाँ हरती हैं ॥
शान्तिसिन्धु-सम्पादन का
हर्षित होकर के किया काम ।
गजरथ विरोध के अग्रदूत
विद्वत् परिषद् के हैं ललाम ॥

९
आगम से आपको प्यार यथा
है देश-प्रेम भी वैसा ही।
तन से तनकर चलकर दिय जेल
नहि किया प्यार था तन से भी ॥
है राष्ट्र प्राणप्रिय इन्हे सतत्
प्यारा है इनको नही चाम।
तन-मन से सेवा करते हैं
आवश्यक हो तो देत दाम ॥

१०
वैशिष्ट्य आपके जीवन का
शिक्षा न जीविका का साधन।
व्यवसाय बुद्धि के आगे नत
लक्ष्मी करती नित आराधन ॥
लक्ष्मीपति हैं पर विष्णु नही
बिनु मुरली के हैं कृष्ण, राम।
बीना है कर्मभूमि इनकी
इनके घर लक्ष्मी का विराम।

११
श्रुतदेवी और लक्ष्मी का
वरदान इन्हें हो प्राप्त हुआ।
भू पर अनेक विद्वान् किन्तु
विरलों का यो संयोग हुआ ॥
विधि का ही कहहि यह विधान
जग में जो कि है आज नाम।
श्रीमन्त और धीमन्त सभी
आकर करते सविनय प्रणाम ॥

१२
ये सरस्वती के वरदपुत्र
हित-मित भाषी हैं ज्यों चन्दन।
अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर
हम करते विद्वत्-अभिनन्दन ॥
ये सत्य और शिव सुन्दर भी
इनको मेरे साष्टांग प्रणाम।
'सुमन' रहे सुख भरे जगत में
मिलता रहे इन्हें आराम ॥

विनय सुमन

वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल, भिषगाचार्य, जयपुर

बंशीधर है नाम बाँसुरी तुमने बजाई कभी नही।
किन्तु बाँसुरी तान सुनी जो बाजी तुम्हारी प्रति छिन ही ॥
बंशीधर गोपाल कहाते गौ तुमने पाली न कभी।
लेकिन जिनवाणी दोहन कर ज्ञानामृत तुमने पाया ही ॥
नागदमन बंशीधर कीना मिथ्यात्त्व दमन कर तुम हो जी।
अज्ञान कंस के नाशक बन जिनवाणी यश फैलाया जी ॥
तत्त्वज्ञान तुमने पाकर साहित्य रचा ज्ञानेन्दु बने।
जिससे निश्चय व्यवहार उभय उपयोगी है मन्तव्य बने ॥
क्रम-अक्रम पर्यायो का विश्लेषण तुमने कीना है।
हे बंशीधर बिन अक्षर की बंशी से तुम्हे पिछाना है ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र मै करूँ कामना प्रति दिन ही।
शत शत वर्षों की आयु पा तुम वास करो अब निज मे ही ॥

●

सरस्वती के वरद्पुत्रका शत शत अभिनन्दन है

पं० बाबूलाल जैन फणीश, पावागिरि ऊन

सरस्वती के वरद पुत्र का शत शत अभिनन्दन है।
दीप्तपुंज "श्री बंशीधर" को बारम्बार नमन है॥

(१)

जिसने निज के जीवन को कष्ट कंटकों मे पाया।
जो काटों में पलकर भी 'मुकुन्द' गुलाबसा खिल आया॥
झाँसी मण्डल सोरई ग्राममें, मुकुन्दलाल प्रतिभा चमकी।
सरल मूर्ति माँ 'राधा' ने भी उर से 'बंन्शी' मोहन सी दमकी॥
'स्याद्वाद' वाराणसी गंङ्गा में व्याकरणाचार्य स्नान किया।
धर्मशास्त्र से न्यायतीर्थ बन जीवन ज्योति जगा लिया॥
दिग्दिगन्त उज्ज्वल जीवन पा चमके नित कुन्दन है।
ज्ञान पूज्य श्री बंशीधर को बारम्बार नमन है॥

(२)

मध्य प्रदेश बीना नगर को स्व आश्रय पथ पाया।
महावीर की दिव्य देशना से जगको पाठ पढाया॥
सत्य, अहिंसा जैन संस्कृति से जन जन को उन्नत बनाया।
अध्यक्षी पद से विद्वद् परिषद को नित्य आपने महकाया॥
पूज्य गणेश वर्णी माला मे अपना हाथ बटाया।
जैन वाङ्मय सरस्वती को तत्त्व मीमांसा से चमकाया॥
विश्व शांति नित प्रतीक बन चमके तुम चन्द्र वदन है।
राष्ट्र धर्म के दृढ संकल्पी का महके जीवन नन्दन है॥

(३)

आप विशाल जैनधर्म के साहित्याकार महान हो।
आप सुपथ दर्शक जैन जाति के युग करुणाधार हो॥
स्वाभिमान गौरव के स्वामी दिग्गज लेखाकार हो।
परम विशाल जिनागम के पोषक उत्तम पत्राचार हो॥
स्याद्वाद और अनेकान्त से जग को पथ बतलाया।
भूले भटके मानव को भी धार्मिक जीवन पनपाया॥
सर्वोदय से नित्य आपका महका जीवन चन्दन है।
वात्सल्य मूर्ति श्री बंशीधर का शत शत अभिनन्दन है॥

(४)

विज्ञ श्री दरबारीलाल ने शरण आपका पाया।
और मनीषी बालचन्द्र ने गुणगान आपका गाया॥

शोभा राम ने शोभा पाकर प्रेम सलिल वर्षाया।
निर्वाण भारती मेरठ द्वारा सिद्धान्ताचार्य पद पाया॥
विविध अनेकों कार्यों से नित, दार्शनिक जीवन पाया।
अपनी प्रतिभा के पराग से गौरवान्वित होकर आया॥
जब तक नभ मे चन्दा सूरज चमको सदैव स्पंदन है।
प्रशम मूर्ति श्री बंशीधर को नत "फणीश" वन्दन है॥

●

वंशीधर की वंशी गूज, उठी

पं० जीवन्धर जैन, बीना

ब—ना सदा मितव्ययी जीवन
शी—ल व्रतों को अपनाया
ध—रम मरम मे जीवन बीता
र—खा मोह निश्चय नय का
जी—वन में व्यवहार न छोड़ा
व्या—मोह हुआ दोनों नय का
क—र्तव्य निष्ठ होकर महान्
र—ख लिया सुपथ जीवन पथ का
णा—निमित्त और न उपादान
चा—ही दोनों की सार्थकता
र—म गये तत्त्व चर्चा में जब
य—ह खनिया मे जाकर ठहरे
बी—णा का तार झनझना उठा
ना—म हुवा रोशन इनका
फिर स्याद्वाद अरु अनेकान्त की
ध्वनि सुनाई सब को दी
फिर पंडितगण सब मौन रहे
बंशीधर की बंशी गूज उठी

●

शब्द-सुमन से अभिनन्दन है

हास्य कवि हजारी लाल 'काका' सकरार

बनें श्रेष्ठ आचार्य व्याकरण का तन मन से किया मनन है,
पण्डित श्री बंशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

संवत् उन्निस सौ बासठ की भादो सुदी सप्तमी आई,
श्री सिंघई मुकुन्दलाल के द्वारे बजने लगी बधाई,
जिला ललितपुर की सोरई मे उस दिन उत्सव गया मनाया,
राधादेवी की गोदी मे यह बालक आकर मुस्काया,
जिसने भी देखा बालक को प्रमुदित हुआ सभी का मन है,
पंडित श्री बंशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

होनहार विरवान के अक्सर पात चीकनें ही होते हैं,
बढने वाले बालक अक्सर अपना समय नही खोते है,
ग्यारह वर्ष बनारस मे ही वर्णीजी से शिक्षा पाई,
न्यायतीर्थ साहित्यशास्त्री आदि अनेकों पदवी पाई,
सिद्धान्ताचार्य की उपाधि के साथ मिला था काफी धन है,
पंडित श्री बंशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

सरस्वति का भडार भर दिया जब से कलम उठाई कर में,
ऊँचा किया बुन्देलखंड का नाम आपने भारत भर मे,
जैन संस्थाओ मे हरदम ऊँचे-ऊँचे ओहदे पाये,
स्वतंत्रता के आदोलन मे जेल यात्रा भी कर आये,
इसीलिये उपराष्ट्रपति ने किया आपका अभिनन्दन है,
पण्डित श्री बंशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

यों तो त्याग चुके पण्डित जी जीवन से सारा आडम्बर,
ऐसा लगता है, घर मे रहते हो अम्बर सहित दिगम्बर,
कवि 'काका' की एक विनय है अब तो ऐसा अवसर लायें,
कर में पिछी कमंडल लेकर सच्चा अभिनन्दन करवायें,
नर जीवन का सार यही है कहता यही जैनदर्शन है,
पंडित श्री बंशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

●

सुमनाञ्जलि देते हैं

पं० पूर्णचन्द्र 'सुमन' दुर्ग

जनक मुकुन्दलाल, मातृ राधा के सलौने लाल
ग्वाल बाल नही फिर भी बंशीधर कहाते हो।
प्रकृति से सुरम्य सोरई ग्राम मे जन्म लेकर
वंशी की तो बात क्या अब वीणा वाले कहाते हो ॥
स्याद्वाद, महाविद्यालय, वाराणसी मे अध्ययन को
पूज्य सन्त वर्णीजी के सानिद्ध मे रहे हो।
अनवरत वर्ष एकादश—अध्ययन कर
शास्त्री न्यायतीर्थ व्याकरणाचार्य कहाये हो ॥
आपके चिन्तन और लेखन की तो कोई मिसाल नही
मौलिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक, लेख सभी प्रमाण है।
निश्चय और व्यवहार खानिया तत्त्व चर्चा
तत्त्व मीमासा की मीमासा आदि महान् हैं ॥
देश की आजादी मे भी आप तनमन से जुटे
जेलों के कष्टो को कुछ भी नही माने है।
नागपुर, सागर, अमरावती—कारागार
उन्नीससौ बियालीस के आन्दोलन जाने हैं ॥
समाज की सेवा के कार्य भी अछूते नही
अनेक सस्थाओ के मंत्री सभापति रहे है।
विद्वद् परिषद् वर्णी ग्रंथमाला—आदि के
महत्त्वपूर्ण सचालन के—गौरव आप बने है ॥
समाज-सुधारक, पत्रकार, दार्शनिक
समन्वयवादी—स्याद्वादी वक्ता है।
ओजस्वी-सरल-मधुरवाणी से ओतप्रोत
जैन सिद्धान्त के प्रखर-प्रवक्ता है ॥
आपका स्वभाव इतना सरल और प्रभावक है
सहज ही सभीजन—आपके हो जाते है।
ज्ञान के तो इतने अगाध भण्डार है
आतिथ्य सेवा मे बेजोड पाते हैं ॥
इतनी वृद्धवय में भी लेखनी को विराम नही
अनवरत-सैद्धान्तिक गुत्थियाँ सुलझाते हैं।
ऐसे महान् महनीय विज्ञ पं० जी के
चरणों में "सुमन" सुमनाञ्जलि देते हैं ॥

चाँद और सितारों का जबतक निवास रहे।
तबतक चिरायु रहें—ऐसी शुभ कामना भाते हैं ॥

हे सरस्वती के वरदपुत्र विद्वद्वर तुमको शत प्रणाम

पं० विजयकुमार जैन, श्रीमहावीरजी

हे सरस्वती के वरद पुत्र, विद्वद्वर ! तुमको शत प्रणाम।
हे जिन-वाणी के परम भक्त ! व्याकरण विज्ञ, तुमको प्रणाम ॥

चिन्तन-सागर से मोती चुन, प्रज्ञा से उनको चमकाया।
उद्भ्रान्त जगत के आँगन में लो तुमने उनको बिखराया।
जिनवाणी का नित मन्थन कर तुमने जो अमृत पाया है।
तत्त्वार्थी जन को जो तुमने उसका आस्वाद कराया है।
सत्यार्थी तुम तत्त्वार्थी तुम स्वाध्याय निरत हे ख्यात नाम।
विख्यात हुए विद्वद्गण में तुमको हम सबका नित प्रणाम ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र····

पुरुषार्थी बन जीवन में तुमने नित नियतिवाद को ठुकराया।
लख भारत माँ को पराधीन सेनानी जीवन अपनाया।
लखकर कुरूढ़ियों को तुमने विद्रोही बिगुल बजाया है।
शासन-समाज हो स्वच्छ सदा—यह गीत आपने गाया है ॥
अपने बलबूते पर चलकर तुम बने सदा ही एकनाम।
अभिनव चिन्तन की सरणि पकड़ तुम बढ़े तुम्हें है नित प्रणाम ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र···

हे ज्ञानपुञ्ज ! तुमने श्रुत के मंथन का पथ नित अपनाया।
पुरुषार्थ और व्यवसाय बुद्धि लख लक्ष्मी ने भी अपनाया ॥
हे राष्ट्रभक्त ! हे धर्मभक्त ! तुमने सुनाम यह पाया है।
'वर्णी गणेश' पथ-चिह्नों पर तुमने अपने को पाया है ॥
विद्वत्ता के हे मूर्तरूप तुमसे समाज है ख्यातनाम।
हे पुरुषार्थी व्यवसायी हे ! विद्वद्वर तुमको नित प्रणाम ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र····

अभिनन्दनीय हे विद्वद्वर 'स्याद्वाद' तुम्हे नित है भाया।
मिथ्या अभिमानी जन-मन जब एकान्तदृष्टि दूषित पाया।
तब सुनयवाद का दीपक ले उनको सन्मार्ग दिखाया है।
जिन आगम का हाँ सही मर्म तुमने उनको बतलाया है ॥
हे तत्त्वसमीक्षक चिन्तक हे तुम निज जीवन में हो अकाम।
हे सत्य-तत्त्व के नवदृष्टा तुमको समाज का नित प्रणाम ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र····

हे विज्ञ, जिओ तुम युगयुग तक जो सत्पथ तुमने अपनाया।
उस पर बढ़कर निज जीवन का तुमने रहस्य है जो पाया।
वह शान्ति-क्रान्ति का रूप आज जनजन के मन को भाया है।
हे सौम्य, आपने अपने को उससे विमुक्त कब पाया है ?
तुमसे सुविज्ञ को पाकर के है धन्य आज यह धराधाम।
अभिनन्दन रत जन-जन का मन तुमको करता है नित प्रणाम ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र····

●

बंशीधरके ही प्रकाश से जिनवाणी है जगमग दमकी

श्री हीरालाल जैन, बीना

लेकर जनम सभी जगती पर
बढ़ते-फलते अपने रूप--
जो समृद्ध धरा पा लेता
वह बन जाता दिव्य-स्वरूप

बढ़ना, फलना वह कहलाता
जो निज बल से बढ़ जाता
साधन और विपुलता पाकर
अपना कुछ नही गढ़ता करता।

उपवन का हर पादप भाई
नही जरूरी छाया फल दे
पर फलदार वृक्ष बिन माँगे
पन्थी को सबही दे डाले।

जैन-जगत-के इस उपवन में
नन्हे पौधे से बन तरुवर-
छाया अरु फल दोनों मिश्रित
दिये समाज को शाश्वत् प्रियवर।

पाया समाज ने रतन अनोखा
जिसकी आभा प्रतिक्षण चमकी
"बंशीधर" के ही प्रकाश से-
जिनवाणो है जगमग दमकी।

निश्चय और व्यवहार द्वन्द को
सरल-सहजता से समझाया
दोनों का निष्पादन करके
पय से पानी सम नितराया।

है आकांक्षा यह समाज को
अपनी आभा और ज्ञान से
कर आलोकित और प्रकाशित
रहें निरन्तर चिरभिमान से।

●

युग गाये गुण गान

श्री गोकुलचन्द्र "मधुर", हटा

अभिनंदन है विज्ञ आपका, रहे सदा सम्मान
पंडित बंशीधर जी का युग, गायेगा गुणगान।

(१)

सचमुच में बुन्देलखण्ड का, गौरव मय इतिहास
सन्त, सूरमा, गुणी जनों का, हरदम रहा निवास
इसी धरा के विद्वद्वर श्रीमन व्याकरणाचार्य
जिनवाणी की सेवा करके, किये महा सत्कार्य
धन्य ग्राम सोरई जिसकी रज, सचमुच बड़ी महान
पंडित बंशीधर जी का युग गायेगा गुण गान

(२)

पुण्यवान वो पिता सिंघई जी श्री मकुन्दी लाल
धन्य मात राधादेवी की गोदी हुई निहाल
जिसने ऐसे सुत को जन्मा, जीवन धन्य बनाया
जिसकी विद्वत्ता को लख कर, जन मानस मुसकाया
जैन तत्त्व का ज्ञाता अनुपम है उद्‌भट विद्वान
पंडित बंशीधर जी का युग गायेगा गुण गान

(३)

तुम समाज के गौरव, तुम हो महा धरोहर थाती
तुमने सच्चे मन से पढ ली, जैनधर्म की पाती
देते रहें मार्ग दर्शन, पूरी करना आशायें
हे साहित्य प्रणेता, किस विधि से एहसान चुकायें
"मधुर" आपकी बनी रहे, इस भूतल पर मुस्कान
पंडित बंशीधर जी का युग गायेगा गुण गान

●

गुरुवर जीवें वर्ष हजार

पं० बिहारीलाल मोदी, शास्त्री, बड़ामलहरा

श्रेष्ठ सुधी आगमके ज्ञाता, अध्यातमके उद्भट विद्वान् ।
सरल स्वभावी अतिमृदुभाषी, मिलनसार अरु श्रेष्ठ सुमान ॥
जगत हितैषी, जन-जन के प्रिय, विशाल हृदय अरु चतुर सुजान ।
ऐसे पण्डित बंशीधर को, करता हूँ शत शत वन्दन ॥ १ ॥

खानिया तत्वचर्चा की जिसने, लिखी समीक्षा सोच विचार ।
बारीकी से किया विवेचन, शंका समाधान द्वारा विस्तार ॥
भंजन किया भ्रमित भावों को, लिखकर निश्चय व्योहार ।
ऐसे पण्डित प्रवर गुरु का, अभिनन्दन करता शत बार ॥ २ ॥

ओजस्वी वाणी के द्वारा, जैनधर्म का किया प्रसार ।
विद्वज्जन मे रहे अग्रणी, दिशाबोध का खोला द्वार ॥
"लाल बिहारी" करें कामना, गुरुवर जीवें वर्ष हजार ।
श्रद्धा सुमन समर्पित करता, पादपद्म मे बारम्बार ॥ ३ ॥

●

आपको करें समर्पित

पं० धरणेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, दमोह

(१)

हे ! विद्वत्वर सुयश,
आपका क्या हम गायें ।
हे ! गौरव गुण खान,
आपके गुण क्या गाये ॥

(२)

काव्य, तर्क, व्याकरण,
शास्त्र के ज्ञाता नामी ।
पूज्यनीय वर्णी गणेश,
के पथ अनुगामी ॥

(३)

छात्र और संस्थाओं के,
अति ही हित चिंतक ।
जैन जगत व विद्वानों के,
अति ही शुभ चिंतक ॥

(४)

कृपा दृष्टि पड़ गई,
जिधर कल्याण हुआ है ।
कदम जिधर पड गये,
उधर उत्थान हुआ है ॥

(५)

देश धर्म हित सदा,
आपने कष्ट सहे हैं ।
गाँधी जी के साथ,
आप भी जेल गये हैं ॥

(६)

आज आपके अभिनंदन पर
सब हम हर्षित ।
विनय सहित कुछ सुमन,
आपको करें समर्पित ॥

●

जैन साहित्याराधनामें समर्पित

● श्री सुरेश जैन I. A. S., संचालक, लोक-शिक्षण, भोपाल

● श्रीमती विमला जैन, मुख्य न्यायिक दण्डाधिकारी, भोपाल

हमे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि सकल जैन समाजने सरस्वतीके वरदपुत्र श्रद्धेय प० बंशीधर जी व्याकरणाचार्यको अभिनन्दन-ग्रथ भेंट करनेका निर्णय लिया है। यह अत्यन्त ही सराहनीय कार्य है।

श्रद्धेय पडितजी विगत साठ वर्षकी सुदीर्घ समयावधिसे अतुलनीय निष्ठा, लगन और रुचिसे जैन साहित्याराधनामे समर्पित है। वे अभी भी जिनवाणीकी साधनामे अनवरत संलग्न है। यह उनकी जीवटता एवं कर्मठताका प्रतीक है। गुरुणा गुरुकी यह साधना तथा योगदान निश्चित ही स्तुत्य है। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ समूचे समाजकी एक अद्वितीय एव अमूल्य धरोहर हैं।

भगवान्से प्रार्थना है कि पण्डितजी स्वस्थ और जागरूक रहकर सतत रूपसे अपना आशीर्वाद हमे प्रदान करते रहें।

श्रद्धा-सुमन समर्पित हैं

● पं० गुलजारीलाल जैन, शास्त्री, सागर

पूज्य काकाजीके विषयमे कुछ भी लिखना सूर्यको दीपक दिखाना होगा, क्योकि समाजमें चाहे वह बुद्धिजीवी हो या व्यवसायी सभी केवल 'बीना वाले पं० जी ऐसा कह देनेपर समझ ही नही जाता बल्कि वह भाव-विभोर हो जाता है और अगर रिश्तेदार हुआ तो गर्वका अनुभव करने लगता है।

मुझे गर्व इससे भी अधिक है क्योंकि जिस मिट्टीमे उनका जन्म हुआ उसी मिट्टीमे मेरा जन्म हुआ है और मेरे पितामह एवं पिताजीमे वैसा ही संबन्ध रहा जैसा कि किसी कुटुम्बी या भाई-भाई में रहता है।

पूज्य काकाजीकी विशेषता है कि वे भटा-भाजी छोडनेके उपदेशक पंडितजी नही, वरन् धर्मतत्त्वके वेत्ता और उसके उपदेशकके रूपमे है इसके अतिरिक्त राजनैतिक जीवन गौरवपूर्ण है।

सामाजिक जीवन आपका कुटुम्बीजनोंके उठानेमें तो लगा और लग रहा है। प्रत्युत रिश्तेदारोको ऊपर उठानेका प्रयत्न किया। समाजकी कुरीतियोसे सदैव आपका सघर्ष चलता रहा व चल रहा है। जब दस्सा पूजाधिकारका प्रबल समाजमे आया तो उसका आपने पुरजोर समर्थन किया। हमे प्रसन्नता है कि समाज आपको अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करने जा रही है। आपके पादकमलोंमे हमारे श्रद्धासुमन अर्पित है।

पण्डित परम्पराके मूर्धन्य मनीषी

● डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार, आरा

पण्डित-परम्पराके पोषण, जिनवाणीकी सेवा तथा प्रचार-प्रसारमे पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्यका महनीय योगदान है। चौरासी वर्षकी अवस्था होनेपर भी आय सतत चिन्तन, मनन और लेखनमें संलग्न रहते हैं। प्राचीन पद्धतिके विद्वान् होते हुए भी पण्डितजीका चिन्तन किसी आधुनिक विचारकसे कम नही है। उनकी राष्ट्रीय, सामाजिक और सास्कृतिक सेवाओके उपलक्ष्यमे अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करनेका निर्णय स्तुत्य है तथा पण्डितजी को यह समाज और विद्वत् समुदायके लिए विशेष गौरवकी बात है।

मान्य पण्डितजीके दीर्घायुष्यकी कामनाके साथ उन्हे मेरी हार्दिक मंगल-कामनाएँ हैं।

किमाश्चर्यमतः परम

● पं० दयाचन्द्र साहित्याचार्य, सागर

वाराणसीके एक संस्कृतज्ञ विद्वान्के मुखसे व्याकरणकी क्लिष्टताके विषयमें हमने सुना है कि

कारक कठिन कण्ठ नहिं आवे
तब समास मुगरा ले धावे।
तद्धित बाप बाप चिल्लावे
हा हा कर कृदन्त थर्रावे॥

इतना कठिन व्याकरण विषय होने पर भी श्री पं० बंशीधरजीने व्याकरणाचार्य-सागरको अपने बुद्धि-बलसे पारङ्गत किया।

सन् १९४५ में श्री नाभिनन्दन दि० जैन विद्यालय, बीनामें प्रधानाध्यापक पदपर सरस्वती सेवाका शुभावसर प्राप्त किया। उस समय हमारे हृदयमें विचार आया कि यहाँपर एक व्याकरणाचार्य रहते हैं, जो वस्त्रके व्यापारी हैं। उनके सान्निध्यमें व्याकरणका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। सबसे प्रथम आपने व्याकरणका महत्त्व दर्शाते हुए हमें व्याकरणके अध्ययनमें उत्साहित किया। आपने व्याकरणका महत्त्व व्यक्त किया—

विना व्याकरणं वाणी, रमणी रमणं विना।
विवेकेन विना लक्ष्मीः, न सुखाय कदाचन॥ १॥
व्याकरणेन पदे शुद्धिः, पदशुद्धार्थनिर्णयः।
निर्णयात् तत्त्वतः ज्ञानं, तत्त्वज्ञानान्तरे शिवम्॥ २॥

एक वैयाकरण विद्वान् पिता अपने पुत्रसे कहता है—

यद्यपि बहुनाधीष, तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनं श्वजनं माभूत्, सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥

तात्पर्य—पिता अपने पुत्रसे कहता है, कि हे पुत्र! यदि तुम अन्य विषय नहीं पढ़ना चाहते हो तो मत पढ़ो, परन्तु व्याकरण विषय अवश्य पढ़ो, जिससे कि शब्दोंकी सिद्धि और उनके अर्थोंका स्पष्ट बोध हो सके। यदि तुम व्याकरणसे शब्दोंका स्पष्ट अर्थ नहीं जान सके तो स्वजन (अपने भाई) को श्वजन (कुत्ता), सकल (सब) को—शकल (खण्ड या टुकडा) और सकृत् (एक बार) को शकृत् (मलमूत्र) समझकर अर्थका अनर्थ-कर जाओगे।

व्याकरणके इन महत्त्वपूर्ण श्लोकोंको सुनकर व्याकरणके पठन-पाठनमें हमारा उत्साह अत्यन्त वृद्धिगत हो गया। तदनन्तर हमने आपसे दैनिक-अध्ययन कर "वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी" ग्रन्थका तीन वर्षोंमें सम्पूर्ण पारायण कर लिया।

इस महान् विद्यादानरूप उपकारके उपलक्ष्यमें हम आपके प्रति भूय भूय कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।'

स्याद्वाद महाविद्यालयमें अध्ययन समाप्त करनेके उपरान्त आपने किसी शिक्षा केन्द्रमें अध्यापन नहीं किया, अपितु निमित्तकारणोंके मिलने पर विद्वद्वरने स्वतन्त्र व्यवसाय करना अपना लक्ष्य बनाया। 'अनभ्यासे विषं विद्या' इति नीतिके अनुसार आत्मामें अधीत विद्याका विस्मरण हो जाना चाहिये था पर आप अनुभूत विषय—न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त और दर्शनको विस्मृत नहीं कर सके यह आश्चर्यका विषय है।

स्तुत्य निर्णय

● सिंघई श्री जयप्रकाश जैन, बड़कुल, वाराणसी
● श्रीमती शशि जैन बड़कुल, वाराणसी

हमें जब यह ज्ञात हुआ कि समाजके वरेण्य विद्वान् सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना (म० प्र०) को अखिल भारतीय स्तर पर समाज अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित कर रही है, तो हम लोगोंको हार्दिक प्रसन्नता हुई ।

हमारा परिवार पण्डितजीसे पिछले ७०, ७५ वर्षसे सुपरिचित ही नहीं है, उनके आत्म-स्नेहसे ओत-प्रोत रहा है । हमारे बाबा पूज्य सिंघई पन्नालालजी बड़कुल श्रद्धेय पण्डितजीके ज्येष्ठ भ्राता सिं० पं० हजारीलालजी कोठिया (आदरणीय दाऊ डॉ० पं० दरबारीलाल कोठियाके पिताजी) को अपने पुत्रों (पूज्य चाचा रूपचन्द्रजी, चाचा राजधरलालजी, चाचा डालचन्द्रजी और पिताजी श्री मौजीलालजी) को पढ़ाने हेतु नैनागिरजी (सिद्धक्षेत्र श्री रेशिंदीगिर, छतरपुर) से सन् १९१४ में लिवा लाये थे । तभीसे पण्डितजीसे हमारे परिवारका नैकट्य है । वे अपने बड़े भाईके पास आते-जाते रहते थे । हमारे बाबा उनसे बड़ा स्नेह रखते थे । यद्यपि आज न हमारे बाबाजी है, न तीनों चाचा हैं और न पिताजी हैं फिर भी उनका हमसे लगाव है । खास कर दाऊ (डॉ० कोठिया) और पिताजी बचपनमें तथा वाराणसी-सेवाकालमें एक साथ वर्षों (लगभग तीन दशक) रहे । पिताजी काशी विश्वविद्यालयके कई कालेजोंमें प्रधान कार्याधिकारी और दाऊ इसी विश्वविद्यालयके संस्कृत कालेजमें प्रवक्ता और बादको रीडर (जैन-बौद्धदर्शन) रहे । आज पिताजीके न रहनेपर भी दाऊ बनारस आनेपर घर ही ठहरते हैं और वही स्नेह बना हुआ है, जो पिताजीके साथ था । आज पूरा परिवार (माताजी, चिरंजीव राजू और आयुष्मती अन्नो) बहुत खुश है कि श्रद्धेय काकाजी—पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य को समाज अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके सम्मान कर रहा है ।

श्रद्धेय पण्डितजीने राष्ट्र, समाज और साहित्यकी अपूर्व सेवा की है । राष्ट्रको गुलामीसे मुक्त करानेमें सन् ४२ के स्वतन्त्रता-आन्दोलनमें जेल-यातना सही, दस्सापूजाधिकार आदि सामाजिक आन्दोलनोंमें समाजका मार्गदर्शन किया और आगम-पक्षको सुदृढ़ करनेके हेतु अनेक ग्रन्थ लिखकर जिन-वाणीकी साधना की । इस प्रकार पण्डितजी समाज द्वारा सम्मान पानेके निःसन्देह योग्य हैं । उन्हें हमारे श्रद्धा-सुमन अर्पित हैं ।

नैतिकताकी प्रतिमूर्ति

● वैद्यराज पं० सुरेन्द्रकुमार जैन आयुर्वेदाचार्य, बीना

मेरा आदरणीय पण्डितजीके साथ चार दशकोंसे सुसंयोग चला आ रहा है । कभी-कभी उनसे कोई चर्चा छिड़ गयी तो घंटों वह चलती रही । भले ही चर्चा तात्त्विक हो या सामाजिक । वे चर्चामें इतने डूब जाते हैं कि दुकानदारीकी ओर भी उनका ध्यान नहीं जाता । उनके ज्ञानके तलको स्पर्श करना दुष्कर है । वैयाकरण होकर भी बड़े सूक्ष्म प्रज्ञ तार्किक एवं दार्शनिक हैं । आचार्योंकी कठिन पंक्तियोंके रहस्यको समझनेमें उन्हें देर नहीं लगती है । ऐसी असाधारण उनकी प्रज्ञा एवं विद्वत्ता है ।

पण्डितजीने कहीं किसी विद्यालयमें अध्यापन न कर आरम्भसे बीनामें ही वस्त्र व्यवसाय किया है । उनकी उल्लेखनीय विशेषता है कि वे एक भाव पर विक्रय करते हैं और ग्राहक विश्वासपूर्वक खरीदते हैं । उनके क्रय-विक्रयमें एक पैसेका अन्तर नहीं होगा, चाहे आठ वर्षका बच्चा ही उनकी दुकान पर पहुँचे ।

वस्त्र-व्यवसायके अलावा समस्त लोकव्यवहारोंमें भी उनकी असाधारण नैतिकता समाई हुई है ।

मैं उनके भूरि गुणोंकी प्रशंसा करता हुआ उनके स्वास्थ्य एवं शतायुष्यकी शुभ कामना करता हूँ ।

पूज्य पण्डितजीसे एक वार्ता

● श्री श्रेयांसकुमार जैन, पत्रकार, ककरवाहा (टीकमगढ़)

आदरणीय कोठियाजीका ७६वें जन्म दिन पर १३ जून ८७ को ककरवाहा, (टीकमगढ़) में अमृत-महोत्सवका आयोजन था। उसके पश्चात् उन्हें बीना तक पहुँचानेकी जिम्मेदारी मुझे सौंपी गई।

बीना पहुँचने पर मैंने पंडितजीके २४ घण्टेकी दैनिक, अनुशासित, व्यवस्थित दिनचर्या देखी, आश्चर्य हुआ। मैंने पूज्य पण्डितजीसे कहा कि मैं आपके सम्बन्धमे आपसे वार्ता करना चाहता हूँ। मैंने कहा कि आपने आजादीके समरमें संघर्ष किया है। अत वार्ता उद्देश्य यही है कि युवा पीढ़ी संघर्षशील व्यक्तिके जीवन से प्रेरणा ले।

पहले पण्डितजी साहबने मुझे प्रेमसे बैठाया, घर-परिवार एवं अन्य चर्चायें की। तत्पश्चात् बोले—पूछो, क्या पूछना है ?

प्रश्न—आप जैन जगत्के प्रमुख विद्वानोमे से एक है। ऐसे समय, जबकि हर व्यक्ति डॉक्टर, इंजीनियर, वकील आदि बननेकी आकांक्षा रखता था। संस्कृत जैसे कठिनतम विषयको पढ़नेका प्रेरणास्रोत क्या रहा ?

पं० जी—जिस समय हमने पढ़नेका विचार किया उस समय दो बातें थी, एक धार्मिक भावना और दूसरा साधनोंका अभाव।

प्रश्न—जैन दर्शनमे ही आपने आगम और अध्यात्मको छोड़कर व्याकरणको प्रमुखता क्यों दी ?

पं० जी—मेरी दृष्टि सिद्धान्त और धर्मको स्पष्ट करनेकी रही है। इतिहास, पुरातत्त्व और साहित्यिक नही।

प्रश्न—मानव-जीवन क्या है अर्थात् उसका रहस्य क्या है, जबकि आपने जिन्दगीके हर पहलूको नजदीकसे देखा है ?

उत्तर—मनुष्यता उसे कह सकते है, जिसका आधार नैतिक हो। यानि मनुष्यको जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे राजनीतिक, आर्थिक, जीवन-सचालन आदि जितनी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं उन सबमे कर्त्तव्य भावना एवं नैतिकता रखनी चाहिए।

प्रश्न—विद्यार्थी-जीवनकी कोई अविस्मरणीय घटना है ?

पं० जी—कोई नही।

प्रश्न—एक ओर जैन पुराने मन्दिर और शास्त्र जीर्ण हो रहे हैं और दूसरी ओर नित नये मन्दिर व नया साहित्य सृजन किया जा रहा है। इस सम्बन्धमें आपकी क्या राय है ?

पं० जी—आज मन्दिरोका निर्माण आवश्यक नही है। समाजको इधरसे ध्यान हटाकर संस्कृतिके विकास और पुराने मन्दिरोके जीर्णोद्धार तथा शास्त्रोंकी सुरक्षाकी ओर ध्यान लगाना चाहिये।

प्रश्न—पं० जी साहब, आपने स्वतंत्रता आन्दोलनमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। स्वतंत्रताके पूर्व एवं आजकी राजनीतिमे आप क्या अंतर महसूस करते है ?

पं० जी—जिस समय देशको स्वतंत्र बनाना था उस समय जो लोग आन्दोलनमे कूदे उनकी एक ही भावना थी देशको स्वतंत्र बनाना और उन्होंने इस सम्बन्धमें जो भी कार्य किये व्यक्तिगत लाभ और हानिकी उपेक्षा करके किये। जबकि आज प्रत्येक व्यक्ति चाहे राजनीतिक हो, चाहे वह गैर राजनीतिक हो सभी व्यक्तिगत लाभाकांक्षासे पीड़ित है। इनके सामने राष्ट्रके संरक्षण, उत्थान आदिका कोई महत्त्व नहीं है।

प्रश्न—पं० जी साहब, अब एक निजी प्रश्न पर आ गया हूँ। आपने प्रारम्भसे व्यापारिक क्षेत्रमें ही क्यों पदार्पण किया ? नौकरी या अन्य क्षेत्रको क्यों नहीं चुना ?

पं० जी—मेरी दृष्टि सर्विसकी ओर तो रही है, परन्तु वह आजीविकाकी दृष्टिसे नहीं रही। जैन संस्कृतिकी सेवा और उसके उत्कर्षकी भावनासे रही। मेरी भावना व्यापारिक क्षेत्रमें आनेकी मजबूरीमें हुई और मजबूरी यह थी कि मेरे ससुर साहब ऐसी कठिनाईमें नहीं डालना चाहते थे जिस कठिनाईका निराकरण करनेके लिये उन्होंने मुझे अपना दामाद बनाया था।

प्रश्न—आपने अनुभव किया होगा कि आजका युवा वर्ग शीघ्र उद्वेलित हो जाता है। आपके विचारसे इसके क्या कारण हो सकते हैं ?

पं० जी—आज उद्वेलित तो सभी लोग हो रहे हैं और इसका कारण यह है कि उनका एक तो भोग और संग्रह अनर्गल हो गया। दूसरे धार्मिक शिक्षण संस्थान जिस आशासे खोले गये थे उससे निकले हुए विद्वानोंने अपना कर्त्तव्य निष्ठासे नहीं निभाया है। इसीलिये ये धर्मके विषयमें समाजको प्रभावित नहीं कर पा रहे हैं। इसके अलावा-सामाजिक बन्धन जो समाजके हितमें थे वे भी वर्तमान उच्छृंखल वातावरणसे टूट गये। फलत. जो बुरायइाँ फैली उनपर अब नियन्त्रण नहीं रहा। आजकलकी शिक्षा भी व्यक्तिको उच्छृंखल ही बना रही है।

प्रश्न—आजका ज्वलंत सामायिक प्रश्न पंजाब समस्या है, उसपर आपकी क्या राय है ?

पं० जी—पंजाब समस्या या अन्य राष्ट्रीय समस्यायें राजनीतिक पार्टियोकी देन है। व्यक्ति या जातियाँ स्वभावत. स्वार्थी है राष्ट्रीय भावनाका सभीमें अभाव है इसीलिये ऐसी समस्याओका लगातार महात्मा गाँधी जैसे व्यक्तित्वको जीवनमें उतारने वाले व्यक्ति ही हल कर सकते हैं।

प्रश्न—पण्डितजी साहब, युवा-पीढीको आपका सन्देश क्या है ?

पं० जी—मैं किसीको भी संदेश देनेमें सक्षमताका अनुभव नहीं कर रहा हूँ।

पण्डितजीसे हुई इस वार्तासे विभिन्न पहलू उजागर होते हैं। मैं उनका अभिनन्दन करते हुये जीवेत् शरद. शतम्‌की कामना करता हूँ।

आगमके पक्षधर

● वैद्य पं० धर्मचन्द्र शास्त्री, इन्दौर

श्रीमान् पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीनाका नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जाने योग्य है। उन्होंने आगमका पक्ष लेकर जो लेख अथवा ग्रन्थ लिखे हैं उनसे पण्डितजीकी आगम-विज्ञता एव निष्ठा समाजके सामने आयी है। उनका 'वीर वाणी'में प्रकाशित 'आगममें कर्मबन्धके कारण' लेख कर्म बन्धपर बहुत ही स्पष्ट और नया प्रकाश डालनेवाला है।

इसी प्रकार अन्य लेख भी उनकी दार्शनिक और आगमिक विद्वत्ताको प्रकट करते हैं। सोनगढ़ विचारधाराके समर्थनमें लिखी गयी "जैन तत्त्वमीमांसा"में लिखी गयी आपकी "जैन तत्त्वमीमांसाकी-मीमांसा" आगम पक्षको स्पष्ट करती और उसका समर्थन करती है।

"खानिया (जयपुर) तत्त्वचर्चा"का पुस्तकका आपने 'खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' शीर्षक-से लिखे ग्रन्थ द्वारा जो उत्तर दिया है वह पूर्णतया आगमाधारसे दिया गया सटीक एवं सप्रमाण उत्तर है।

इस तरह पण्डितजीकी विद्वत्ताका लाभ जैन समाजको जो मिला है वह स्तुत्य है। उन्हे हम अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके अपने कर्तव्यका निर्वाह कर रहे हैं। उन्हें हमारे शत-शत नमन हैं।

बहु आयामी व्यक्तित्व

● डॉ० मोतीलाल जैन, खुरई

सम्माननीय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका व्यक्तित्व बहु आयामी है। स्वतन्त्र वस्त्र-व्यवसायसे लेकर राष्ट्रके स्वतन्त्रता-आन्दोलन तकमें उन्होंने असाधारण योगदान किया है। उनका वस्त्र-व्यवसाय इतना नैतिक है कि वे आज पूरे प्रदेशमें बड़े आदर और श्रद्धाके साथ देखे जाते हैं। एक तो उनका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है और कोई हो भी तो उसके भी हृदयमें उनकी नैतिकताकी धाक सुस्थिर है। उनके ग्राहक बड़ी संख्यामें हैं और वह निरन्तर बढ़ रही है। उनका विश्वास भी इतना है कि किसान दश-दश, बीस-बीस हजार रुपया बैंकमें न रखकर उनके पास रख जाते हैं और पण्डितजी उन रुपयोंको एक-एक लिफाफेमें उनके नामसे अलग रखते हैं। किसान जब भी समय-बेसमय आता है वे रुपये उसे थमा दिये जाते हैं। पण्डितजीकी इस नीतिको उनके सुपुत्रोंने भी अपना रखा है। 'एक भाव' की दुकान चलाना और किसानों तथा ग्राहकोंका ऐसा विश्वास अर्जित करना आजके समयमें कम है।

पण्डितजीकी निस्पृहता इतनी है कि स्वतन्त्रता सेनानियोंको शासनने कई सुविधाओंके साथ जमीनें भी दी थीं। पर पण्डितजीने उनकी चाह न करके उपेक्षा कर दी। जब उन्हें समझाया गया कि 'अन्य हजारों स्वतन्त्रता-सेनानियोंको भी ये सुविधाएँ दी गयी हैं, आप भी स्वीकार करें।' तब पण्डितजीने उन्हें स्वीकार किया।

समाज और उसकी संस्थाओंको मन्त्री, अध्यक्ष आदि पदोंसे जो मार्ग-दर्शन दिया है वह उल्लेखनीय है। चाहे विद्वत्परिषद्, वर्णी ग्रन्थमाला जैसी सार्वजनिक संस्थाएँ हों और चाहे स्थानीय नाभिनन्दन दिगम्बर जैन हितोपदेशनी संस्था हो, सभीका पण्डितजीने निष्ठाके साथ संचालन किया है।

साहित्य-साधना तो उनके जीवन व्यापी है और आज भी ८५ वर्षकी अवस्थामें उसमें तन्मयताके साथ लगे हुए हैं। वस्तुतः वे असाधारण प्रतिभा और बहु आयामी व्यक्तित्वके धनी हैं।

उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पणके अवसरपर हमारे बहुशः नमन हैं। वे स्वस्थ मेधा, स्वस्थ वाणी और स्वस्थ शरीरसे युक्त शत वर्ष जीवी हों।

अभिनन्दनीयका अभिनन्दन

● पं० रवीन्द्रकुमार जैन, विशारद, दमोह

हमने श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीको बहुत देरमें पहचाना। उनका अभिनन्दन इससे बहुत पहले हो जाना चाहिए था। किन्तु 'जब जागे तभी सवेरा' की उक्तिके अनुसार उनका अब अभिनन्दन हो रहा है, यह खुशीकी बात है।

पण्डितजीसे कोई ऐसा क्षेत्र नहीं छूटा, जिसमें उन्होंने अधिकारपूर्वक कार्य न किया हो। राष्ट्रीय क्षेत्रमें की गयी उनकी सेवा और त्यागको कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। वे 'स्वतन्त्रता-सेनानी'के रूपमें प्रदेशमें तथा देशमें हमेशा याद किये जायेंगे।

समाजके क्षेत्रमें उन्होंने दस्सापूजाधिकारके आन्दोलनमें सक्रिय भाग लिया और वह अधिकार उन्हें दिलाया। वे आज हमारे साथ बराबरीमें हैं।

साहित्य-साधना तो उनकी अनूठी है। वे आज भी आगमके पक्षधर हैं और आगमानुसार अनेक विषयोंका स्पष्टीकरण करनेमें संलग्न हैं।

हम उन्हें श्रद्धाके साथ नमन करते और उनके स्वस्थ एवं शतायुष्क जीवनकी कामना करते हैं।

विशिष्ट प्रतिभाके धनी

● डॉ० शीतलचन्द्र जैन, प्राचार्य, श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर

व्याकरणाचार्यजीके नामसे प्रसिद्ध पं० बंशीधरजीको भारतके जैन विद्वानोंमें उनकी स्वयंकी विशिष्ट विचार शैलीके कारण एक पृथक् मूर्धन्य मनीषी विद्वान्‌की कोटिमें गिना जाता है।

आप मात्र चारों अनुयोगोंके ही ज्ञाता नहीं है, अपितु आप स्वतन्त्र विचारक, समाज सुधारक, स्वतन्त्रता-सेनानी और निर्भीक वक्ताके रूपमें भी जाने जाते हैं।

सौभाग्यसे सरस्वतीके साधक-आराधक मनीषी पूज्य पण्डितजीके अभिनन्दन-ग्रन्थके सम्पादक मण्डलमें मुझे भी स्थान मिला हुआ है। अतः पण्डितजीके प्रायः सभी विधाओंसे सम्बन्धित लेख पढनेको मिले। उन लेखोंके पढनेसे मुझे कभी ऐसा आभास होने लगता था कि ऐसी विचारधारा जैन शास्त्रोंमें तो नहीं मिलती। परन्तु जब लेखको पूर्ण पढ़ करके पूज्य गुरुवर्य पं० डॉ० दरबारीलालजी कोठियासे एवं स्वयं व्याकरणाचार्य-जीसे विचार-विमर्श होनेपर पूरा सिद्धान्त गले उतरनेमें देरी नहीं लगती थी। मेरी स्वयंकी मान्यता है कि व्याकरणाचार्यजीकी चाहे खानिया तत्त्वचर्चा हो या कार्यकरणभाव और कारकव्यवस्था आदि ग्रन्थ, सभी उनकी स्वयंकी विशिष्ट विचार-शैलीसे युक्त हैं। जैसे कि पण्डित "जैन दर्शनमें कार्यकारण भाव और कारक-व्यवस्था" नामक ग्रन्थमें व्यवहारनयकी चर्चामें उन्होंने कहा है कि आगममें व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है परन्तु अभूतार्थका अर्थ असत्य ग्रहण करना नहीं है अपितु अभूतार्थका अर्थ है कि वह (व्यवहार) वस्तुके स्वाश्रित और अभेदात्मक स्वरूपको ग्रहण नहीं करके पराश्रित व भेदात्मक स्वरूपको ग्रहण करता है। इसलिये व्यवहारनय अभूतार्थ कहा है। इसी प्रकार पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी द्वारा 'सन्मति-सन्देश', वर्ष १६, अंक २ में प्रकाशित "उपादानकारण ही कार्यका नियामक होता है" इस लेखके उत्तरमें इसी पुस्तकके परिशिष्टमें जो उत्तर दिया है वह उत्तर इतना साधार एवं युक्ति-युक्त है कि उपादान और निमित्त दोनोंकी नियामकताको सिद्ध करता है।

वस्तुत: पण्डितजीके सभी ग्रन्थ एवं लेख आगम एवं न्यायके विशिष्ट ग्रन्थोंके समझनेके लिये मार्ग-दर्शकका कार्य करते हैं। जैनदर्शनमें कार्यकारण और कारक व्यवस्था जैसी पुस्तक विश्वविद्यालयमें दर्शन-शास्त्रके छात्रोंके पाठ्यक्रममें निर्धारित करने योग्य है।

ऐसे विशिष्ट विचार शैलीके धनी मनीषी विद्वान् व्याकरणाचार्य हम सभी नवीन शैलीके विद्वानोंके लिये दीर्घकाल तक मार्गदर्शक बने रहें इस भावनाके साथ मैं उनके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूँ।

मंगल कामना

● शाह खूबचन्द्र जैन, बीना

मुझे इस बातसे अत्यन्त प्रसन्नता है कि पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन होने जा रहा है। आठ वर्षकी छोटी आयुमें न उनके ऊपर माँका साया था और न ही पिताका। तभीसे उनके जीवनमें संघर्षोंकी शुरुआत हुई और आज तक संघर्ष किये जा रहे हैं। आदर्शकी बात यह है कि उनका संघर्ष स्वयं केन्द्रित कभी नहीं रहा। सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलनमें, दस्सा पूजाधिकारके मामलेमें, गजरथ विरोधी आन्दोलनमें तथा कई राष्ट्रीय तथा सामाजिक संस्थाओंमें आपने सक्रिय भूमिका निभाई। आज भी वे अपनी लेखनीसे आगमानुकूल जिनवाणीकी गहराई नापनेका प्रयास किये जा रहे हैं। वे हमारे बहनोई होनेके कारण वैसे भी अभिनन्दनीय हैं। समस्त समाजके द्वारा अभिनन्दन किया जाना उनके द्वारा अबतक किये गये संघर्षों एवं जिनवाणीकी सेवाका परिणाम है। वे शतायु हों तथा अपने लक्ष्यको प्राप्त करें यही मंगल कामना है।

एक निस्पृही साधु-सम वास्तविक गृहस्थ

● श्री मुलतान सिंह जैन, एल० एल० बी०, बुलन्दशहर

आपकी शिक्षा ऐसे गुरुके आश्रममें हुई कि आप उनके ही समान निर्भीक जैनदर्शनके माने हुए विद्वान् बन गये। पं० बंशीधरजी, व्याकरणाचार्यने पू० क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीकी छत्रछायामें स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीसे व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री आदि उपाधियाँ प्राप्त कर अपना जीवन प्रारम्भ किया।

आपकी जीवन-यात्राको हम तीन भागोंमें बाँट सकते हैं। (१) स्वतन्त्रता-सेनानीके रूपमें (२) सामाजिक-सुधारकके रूपमें और (३) तत्त्व-निर्णायकके रूपमें।

१ स्वतन्त्रता सेनानी—१९३० में महात्मा गाँधीने पूर्ण स्वतन्त्रताका नारा लगाया। १९३१ में नमक कानून तोड़नेका आवाहन किया, आप तभीसे इस संग्राममें कूद पड़े। १९४२ के देशव्यापी भारत छोड़ो आन्दोलनमें आप ९-१० माह तक सागर व नागपुरकी जेलोंमें भी रहे। आप प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीके सदस्य रहे और वर्षों नगर कांग्रेस कमेटीके अध्यक्ष रहे।

२. समाज-सुधारक—जहाँ देशमें स्वतन्त्रताकी लहर दौड़ रही थी, वहीं समाजमें सुधारोंकी बाढ़-सी आ रही थी। आपने दस्सा पूजाधिकारका पूर्ण समर्थन किया। जो लोग वर्षोंसे धर्मकी अभिलाषासे तड़प रहे थे, उन्हें उनका अधिकार दिलानेमें पूर्ण सहयोग दिया।

आप वर्षों सनातन जैन पत्रके सम्पादक रहे। पत्रका सम्पादन बड़ी तत्परता, निर्भीकता और लगनसे किया। मेरा परोक्ष परिचय तभीसे आपसे है क्योंकि मेरे पिता श्री मगतराय जैन, साथ भी सनातन जैन समाजके एक अंग थे। प्रत्यक्ष दर्शन आपके शास्त्रीय परिषद्के ललितपुर अधिवेशनमें हुए।

आपका व्यक्तित्व बड़ा सरल है, आपने अपनी विद्याको जीवन-यापनका साधन नहीं बनाया, वरन् अपने स्वतन्त्र व्यापारमें संलग्न रहे हैं।

३. तत्त्व-निर्णायक—सोनगढ़से निश्चय-एकान्त-मिथ्यात्वकी बाँग आ० कुन्दकुन्दके समयसारके नामपर लगी। स्वभावतया विद्वानोंका उधर ध्यान आकर्षित हुआ। लगभग सभी विद्वानोंने उसका विरोध किया। समाजका दुर्भाग्य रहा कि स्वर्णकी चमकमें एक-आध विद्वान् सोनगढ़के हाथ बिक गया।

यही नहीं, कुछ श्रेष्ठी वर्ग भी ऐसे ही मोहमें और आत्माकी बातके लोभमें आ गये, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि आल्हा-ऊदल सुनकर आदमी वीर रसमें बह जाता है। खानियाँ तत्त्वचर्चामें व्याकरणाचार्यजीका प्रमुख हाथ रहा है। जयपुरखानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षाका पहला भाग ४ प्रश्नोंका प्रकाशित हो चुका है। दो भाग और होने है, जो प्राय तैयार है, जिनका प्रकाशन समाजका सहयोग चाहता है। इस पुस्तककी एक प्रति अवश्य होनी चाहिये और पहली तीन पुस्तकोंकी कम-से-कम तीन-तीन प्रतियोंका होना आवश्यक है। एक मन्दिरपर इस हिसाबसे १००) का खर्चा आता है जो कुछ भी नहीं है। इन पुस्तकोंके निकलनेपर अगले भागोंका प्रकाशन सुगम हो जायेगा और समाजको सावधान करता रहेगा।

इतना देशभक्त और जिनवाणी भक्त होते हुए भी न तो देशवासियोंने इस निस्पृही व्यक्तिको ऊँचा उठाया, न दि० जैन समाज उसको याद कर सका। अब उनकी आँखें खुली है और उनको कुछ लताड़ा है, साथ ही अब भी थपकी दे रहे हैं जिसका ज्वलन्त उदाहरण २०-७-८९ का जैन सन्देशका सम्पादकीय है।

अन्तमें मान्य गुरुदेवकी दीर्घायुकी मंगल-कामना करते हुए, उनके चरणोंमें नत-मस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

श्रद्धेय पण्डितजीका स्तुत्य अभिनन्दन

● पं० कमलकुमार शास्त्री, 'कुमुद', खुरई

श्रद्धेय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका सदा स्मरण किया जावेगा। उन्होंने आगमकी रक्षा की है और उसे विकृत होनेसे बचाया है। निश्चयएकान्तका जो धुआँधार प्रचार किया गया उसमें सामान्यजनोंकी बात ही क्या, अच्छे-अच्छे सिद्धान्ताचार्य विद्वान् भी उसमें बह गये।

व्याकरणाचार्यजीने निमित्तको अकिंचित्कर बतानेवालोंका डटकर मुकाबला किया और उसके लिए 'जैन दर्शनमे कार्य कारणभाव और कारक व्यवस्था' ग्रन्थमें सिद्ध किया कि कार्योत्पत्तिमें निमित्त उतना ही भागीदार है जितना उपादान। उपादानको निमित्त न मिले तो वह अनन्तकाल तक उपादान ही बना रहेगा, उपादेय नही बन पायेगा। रोटीके बननेमें आटा उपादान है पर उसमे पानी, रोटी बनाने वाला, उरसा, बेलन, आग, लकडी आदि सहकारी कारण न मिलें तो आटा त्रिकालमें रोटी नही बन सकेगा। भव्य जीवको देव-शास्त्र-गुरुका सान्निध्य न मिले और अन्तरंगमें दर्शनमोहनीयका उपशम-क्षय-क्षयोपशमका निमित्त न मिले तो उसे सम्यग्दर्शन अनन्तकालमे भी प्राप्त नही हो सकता। इस प्रकार व्याकरणाचार्यजीने निमित्तो-को कार्यकारी सिद्ध करके उपादानोपादेय भावकी तरह निमित्त-नैमित्तिक कार्यकारणभावको भी आवश्यक एवं अनिवार्य सिद्ध किया है। यही आगमकी प्ररूपणा है।

व्याकरणाचार्यजीने अपनी कृतियों द्वारा स्तुत्य प्रयास करके आगमको विकृत होनेसे बचाया है। वे समाज द्वारा अवश्य अभिनन्दनीय हैं। हम उनके स्वास्थ्य एवं शतायुष्यकी हार्दिक कामना करते हैं।

देश, समाज एवं राष्ट्रकी अनुपम विभूति

● श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी ● श्रीमती पुष्पादेवी जैन, वाराणसी

श्रद्धेय पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके अगाध ज्ञानकी जितनी प्रशंसा की जाय थोडी है। वे आगम ग्रंथोंके महाज्ञाता और पारखी है। उनकी लेखनीमें बल है कि किसी भी प्रकारकी गुत्थीको इतनी सरलतासे आगम प्रमाणोंके आधार पर अकाट्य बना देते हैं और विषयका प्रतिपादन ऐसी सूक्ष्म रीतिसे करते हैं कि सामान्य पाठक भी सहजतासे हृदयंगम कर लेता है।

जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार, जैन तत्त्वमीमांसा-की मीमासा जैसी महान् कृतियाँ है जिनका सभी क्षेत्रोंमे समादर हुआ है और उन्हें यश भी मिला है। और उनकी ज्ञानाराधनाकी साधना सफल हुई है। यही नही, देश और राष्ट्रकी सेवामें भी वे अग्रणी रहे हैं यही कारण है कि वे धुनके पक्के, चिन्तनशील एवं विचारक हैं साथ ही सहृदय भी। सबको अपना बना लेनेकी उनकी कला भी अनूठी है। हम लोगों के प्रति उनका सहज स्नेह है।

ऐसे प्रतिभाशाली समाजसेवी, राष्ट्रभक्त चिन्तक मनीषीका इस अभिनंदन ग्रंथ समर्पणकी बेलामे हृदयसे मंगलकामना है कि वे स्वस्थ तथा दीर्घायुष्य प्राप्त कर हम सबको मार्गदर्शन देते रहें ताकि धर्म, समाज, राष्ट्रकी सेवा होती रहे। इसी भावनाके साथ मैं अपने श्रद्धा-सुमन, विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

●

वे अद्वितीय व्यक्ति हैं

• श्री देवेन्द्र कुमार जैन, मोटरवाले, सागर

पूज्य पण्डितजीकी दिनचर्या नियमित है। उनका वस्त्र-व्यवसाय न्याययुक्त और प्रत्येकके लिए विश्वासोत्पादक है। उदारता और वात्सल्य भी उनमें ऐसे हैं कि वे कभी उनके करने में चूकते नहीं हैं। विद्वानों के प्रति उनका अनन्य स्नेह रहता है। अपने सिद्धान्त के वे पक्के हैं। जब मेरी बच्ची आयुष्मती नलिनीका विवाह उनके मझले पुत्र चि० विवेक कुमारके साथ हुआ तो उन्होंने भेंटमें एक रुपया और एक नारियल स्वयं लिया तथा अन्य सभी बरातीजनोंको भी एक रुपया और एक नारियल मात्र दिलाया। क्या गृह, क्या दुकान, क्या जीवन-व्यवहार और क्या धार्मिक जीवन सबमें एकरूपता है। मैं उन्हें एक आदर्श पुरुष मानता हूँ। उनके अभिनन्दनके अवसरपर उन्हें श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हुआ उनके शतायुः होने की शुभ-कामना करता हूँ।

सहजता एवं धीरजकी मूर्ति

● श्री लक्ष्मीचंद सिंघई, एम. काम , एल. एल. बी. एडवोकेट, खुरई

पण्डितजी स्वतन्त्र चिन्तक और गम्भीर विचारक हैं। "सुखी जीवनके लिये स्वतंत्र विचार होना चाहिये।" (दार्शनिक गेटे)। स्वतंत्र विचार हेतु निष्कर्मण्यताका त्याग होना आवश्यक है, जिसे पण्डितजीने अपने जीवनमें कभी नही आने दिया। जीवनमें अपनी जगह न ढूंढ़ पानेवाले आदमियोंकी प्रवृत्तिको पंडितजी ने कभी फटकने नही दिया। पंडितजी शुरूसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेससे सजीव जुड़े रहे। स्वतंत्रता-संग्रामके सैनिक रहे।

मैंने बहुत पाससे पंडितजीके जीवन व नियतको देखा और पहचाना है, सिद्धान्तोंसे समझौता पंडितजीने सीखा ही नहीं। बीना-इटावाका पोस्ट-आफिस पंडितजीके निवासके पास रहा आया। पंडितजीका खाता उसमे था। खातेमेंसे जालसाजीसे कुछ रुपया पोस्ट-आफिस कर्मचारियोंने हेरा-फेरी कर दिया। लम्बे समयके बाद पंडितजीको पता चला। मुझे वकालत शुरु किये करीब ३ वर्ष हुये थे, पण्डितजीने मुझे कार्यवाही विधिगत तौरसे करने हेतु कहा। मैंने उन्हें आग्रह किया कि मात्र कुछ ही रुपयोंका गड़बड़ हुआ है, न्यायालयमे समय व पैसा दोनो का भारी खर्चा होता है। आपको इतना समय कहाँ है। पण्डितजीने एक ही उत्तर दिया कि यदि हम कार्यवाही नही करेंगे तो यह गलत आदत न जाने कितने लोगोंको क्षति पहुँचावेगी। इसलिये मात्र छोटी रकम न देखकर प्रजातान्त्रिक प्रणालीके स्वतंत्र भारतमें न्याय व कानूनका डर बना रहे, अपनेको कार्यवाही करना है। न्यायाधीश महोदय श्री ए० के० अवस्थी थे, जिनके न्यायालयमें प्रकरण चला। साक्ष्यमें पोस्ट-आफिसके अधीक्षकको खर्चा भरना पड़ा। वह खर्चा हेरा-फेरी की गई राशिसे दोगुनेसे ज्यादा होता था, न्यायाधीश महोदयने भी पंडितजीसे प्रकरण समाप्त करने हेतु सुझाव दिया, क्योंकि प्रकरणकी विषय-वस्तु मात्र छोटी-सी राशि थी, किन्तु पंडितजीने इंकार कर दिया। केवल इसलिये कि ऐसा करने वालोंको भविष्यमें ऐसा न हो, इसके लिये ही मात्र उन्होंने कानूनी कार्यवाही चाही है। आगे चलकर जब पोस्ट-आफिसके संबंधित कर्मचारियोंको प्रकरणमें फसते व नौकरीसे निकाले जानेकी स्थिति देखी तो पंडितजीने क्षमा कर दिया और सारा खर्चा व राशि छोड़ दी। करीब २ वर्षतक पेशियोंमें आनेकी चिन्ता नहीं की और प्रकरण वापिस ले लिया, यह विनम्रता एवं क्षमाका गुण पंडितजीमें देखा। यह घटना करीब सन् १९७२ की है।

इसी प्रकारके और भी कई प्रसंग मैंने पंडितजीमे देखे। दूसरी घटना यू है कि इटावा (बीना) जैन मंदिरका पंजीकृत न्यास है। पंडितजीके साथमें इटावाके निष्ठावान समाजसेवी सिघई आनन्दकुमारजी भी रहे आये हैं जो निरविरोध नगरपालिकाके निर्वाचित अध्यक्ष एव कृषि उपज मडीके अध्यक्ष रहे। दोनों महानुभावोंने मुझसे संपर्क किया। मंदिर की ६० एकड भूमिपर कब्जा वा नामदर्ज नही हो पा रहा था। राजस्व विभागमें कानून कम द्रव्य अधिक महत्त्वपूर्ण रहना है। पण्डितजीको मैंने स्पष्ट कहा कि कानूनी स्थिति तो मंदिरके पक्षमे पूरी है किन्तु भ्रष्टाचारके आगे शिष्टाचार कमजोर पड रहा है। पंडितजी एव सिघईजी-ने कहा कि जो पैसा खर्च हो जहाँ तक भी लडना पडे कानूनसे चलेगे, हम लोग निजी खर्चा करेंगे, किन्तु भ्रष्ट आचरण नही करेंगे और न ही श्री जैन मंदिरका एक पैसा गलत उपयोग होने देंगे, न ही क्षति होने देंगे, कार्यवाही करो। मैंने उनके दृढ विश्वासपर कार्यवाही की। कुछ परेशानियाँ आई। किन्तु बिना गलत रास्ता अपनाये विजयश्री प्राप्त हुई। पंडितजीको कभी-कभी न्यायालयमे अपने निजी कार्यसे भी आना हुआ दिन भर बैठनेके बाद शामको पेशी बढा दी जाती कोई कार्यवाही आगे प्रकरणमें नही होती किन्तु पंडितजी-ने ऐसा कोई आभास अपने आचरणसे नही होने दिया, जिससे न्यायालयको यह भास हो सके कि कोई विशिष्ट प्रकारका महत्त्वपूर्ण व्यक्ति पंडितजी है। एक बार जब ज्यादती मेरे मनको छू गई तो मैंने न्यायालय-को बताया, जिसपरसे श्रीमान् एन० एच० खान सिविल जज महोदयने क्षोभ प्रकट किया और पंडितजीसे आग्रह किया कि आपको बताना चाहिये था तो पंडितजीने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए नम्र व शिष्ट भावसे निवेदन कर कहा कि न्यायालयमे सभी बराबर है। आदेश व कार्यवाहीमे समय लगना है, छोटे-बडेका भेद नही होता, उसे मानना हमारा कर्त्तव्य है। साहस पूर्वक धीरज भी रखना चाहिये, इस प्रकारकी सह-जता, धीरजकी मूर्ति इटावा-बीना तहसील खुरई और बुंदेलखण्डकी मिट्टीमें जन्मे जैन-दर्शनके मूर्धन्य विद्वान्, समाजमान्य श्री पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यमे है जिनके दीर्घ जीवन एवं स्वस्थ रहने हेतु मंगल-कामना मैं, मेरे परिवारजन, मित्रगण करते हैं।

"जैनं जयतु शासनम्"

वात्सल्य की विलक्षण प्रतिमूर्ति

● श्री सुमतिप्रकाश जैन, सहायक प्रध्यापक शास० महाविद्यालय, बीना

जीवन है उनका सरल-सरल
इतना मधुमय, निश्छल अद्भुत,
कि प्रकृति स्वयं कहती घूमे
वह है केवल एक पुरुष,

चूँकि मेरे पिताश्री (डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी) एवं मातृश्री (डॉ० श्रीमती रमा जैन) के प्रति पण्डितजीका अनन्य आशीष और शिष्यत्वभाव शुरुसे ही रहा है। अतः मुझे भी बीनामें पण्डितजी और उनके परिजनोसे अपनत्व, स्नेह और आशीष मिला।

आज पण्डितजी जैसा आतिथ्य और विद्वत् प्रेमी मिलना बड़े दुर्लभ सौभाग्यकी बात है। जहाँ वे एक विशुद्ध पण्डित तथा विद्वान्के रूपमें जाने जाते है वही वे एक शुद्ध शालीन और सत्यनिष्ठ व्यवसायीके रूपमे प्रसिद्ध है। बीना तो क्या, आस-पासके इलाकोंमें उन जैसा 'एकदाम' एवं सारी व्यावसायिक व सरकारी औपचारिकताओं-देयताओंका पूर्ण निष्ठा एवं ईमानदारीसे समयपर नियमानुसार पालन करनेवाला व्यवसायी नही मिलेगा। उनका पारिवारिक एवं व्यावसायिक आचरण उच्चस्तरीय शुद्धता व विश्वासका प्रतीक माना जाता है।

मेरा बीना-प्रवास सुखद और भाग्यशाली इसीलिए है कि मुझे एक-साथ दो महापण्डितो पूज्य पण्डित बंशीधरजी व पूज्य डॉ० दरबारी लालजी कोठियाका स्नेहाशीष घर बैठे ही मिल रहा है। इसे मै अपना सौभाग्य मानता हूँ।

मै पूज्य पण्डितजीके सुदीर्घ स्वास्थ्यकी कामना करता हूँ।

मेरा उन्हें शत्-शत् अभिवन्दन

● श्री विमल कुमार जैन, गोरखपुर

सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, शास्त्री, न्यायतीर्थकी लेखनी युवाकालसे ही मानव-कल्याण हेतु, सतत् ज्ञान-वर्द्धन करती चली आ रही है। आप जैन दर्शनके प्रख्यात विद्वान् हैं। आज ८५ वर्ष-की आयुमे भी आपकी लेखनी अविरल गतिसे चल रही है।

आपकी "जैन-शासनमें निश्चय और व्यवहार", जैन दर्शनमे कार्यकारणभाव और कारक व्यवस्था", "पर्याये क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी", "भाग्य और पुरुषार्थ", आदि अनेक मौलिक कृतियाँ जैन सिद्धान्तोकी प्रदर्शिका है।

हम परम प्रतिभावान् पण्डितजीके दीर्घायुकी कामना करते हुए उनके चरणोमे सादर-वन्दन करते है।

श्रद्धेय सरस्वतीपुत्रको शत्-शत् प्रणाम

● श्रीमती पुष्पा शाह, बीना

आदरणीय पण्डितजी हमारे ननदेऊ साहब है। हमारे परिवारके शिरोधार्य है। हमारे परिवारके साथ उनका सदैव स्नेहपूर्ण व्यवहार रहा है। उन्हे निष्ठावान् एव प्रतिष्ठावान् कहनेमे हमे गौरवका अनुभव होता है।

शोकग्रस्त होनेपर जब मैं कभी उनके पास जाती हूँ, तब वह काफी समवेदना प्रदान करते है। किसी भी प्रकारका वैमनस्य पैदा होनेवाला प्रसंग नही आता तथा सदैव अपने आपमे तटस्थ रहते हैं।

वास्तवमे वे वैभवशील, विवेकशील एवं विनीत व्यक्तित्वके धनी हैं, इसी कारण उनके परिवारमें सुखद सुगन्ध फैल रही है। हमारी ननद लक्ष्मीबाई वास्तवमे नामके ही अनुरूप थी। वह पण्डितजीके प्रति बड़ी ही कर्त्तव्यपरायणा रही।

आदरणीय भौवाजीके सम्बन्धमें क्या लिखूं, हमारे पास पर्याप्त शब्द नही हैं। हम तो यही शुभ-कामना करते हैं कि वे स्वस्थ एवं दीर्घायु हों।

मेरी हृदयाञ्जलि

● डा० कपूरचन्द जैन, खतौली

"कोऊ पंडित भये हैं जैन साहित्य के प्रगटावने खो
और भारी भये है वश पंडिताई दिखावने खो।
पर सूखी विद्या जा व्याकरण खो, कोऊ पढ़त नंइयाँ
वश बंशीधर ही भये है 'जैन व्याकरण' के तारणे खों।।"

पूज्य पण्डितजीके दीर्घायु जीवनकी कोटिशः शुभकामनाएँ।

●

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में विशिष्ट आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभाव

शाह खूबचन्द्र जैन, बीना

सेठ मोहनलाल बरायठावाले
सागर

सेठ दरबारीलाल, D C M, वाले
सागर

श्री कोमलचन्द्र जैन, सागर

श्री सन्तोषकुमार जैन, सागर

सेठ कोमलचन्द गिदवाहा वाले
सागर

श्रीमती शान्तिदेवी जैन, लखनऊ
(धर्मपत्नी श्री सौभाग्यमल जैन)

श्रीमती कस्तूरीबाई बडकुल
(माते० जयप्रकाश, वाराणसी)

श्रीमती पुष्पादेवी जैन, वाराणसी
(धर्मपत्नी बाबूलाल जैन फागुल्ल)

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में विशिष्ट आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभाव

सेठ हुकमचन्द बम्होरीवाले, सागर

श्रीमती सुधारानी जैन, सागर
(धर्मपत्नी सेठ डालचन्द जैन)

श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ

श्री नरेन्द्रकुमार जैन, हैदराबाद

श्रीमती शकुन्तला, सागर
(धर्मपत्नी श्री इन्द्रचन्द जैन)

शाह अमृतलाल जैन, बीना

श्री जयकुमार इटोरया, दमोह

श्रीमती बृजमनी देवी, गोरखपुर
(धर्मपत्नी राय देवेन्द्रप्रसाद)

स्व० शाह निर्मलकुमार, बीना

अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोगियों की नामावली

५००१) सेठ मोहनलाल बाबूलालजी धामौनी वाले, सागर
५००१) डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, बीना
३००१) सेठ देवेन्द्र कुमारजी, मोटरवाले, सागर
३००१) सेठ हुकमचन्दजी डॉ० महेन्द्र कुमार जैन, सागर
३००१) श्री नरेन्द्र कुमार जैन, हैदराबाद
२१००) अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
२१००) श्रीमती सुधारानी जैन, सागर (धर्मपत्नी सेठ डालचन्द जैन)
२०००) डॉ० मोतीलालजी जैन, खुरई
२१००) श्री दिगम्बर जैन समाज, स्टेशन मण्डी, गंजबासौदा
११०१) श्रीमती सुगन्धी जैन, बीना
११०१) श्रीमती नलिनी जैन, बीना
११०१) श्रीमती किरण जैन, बीना
१०००) अरिहन्त एण्ड एलायड लिमिटेड, मुजफ्फरनगर
११०१) श्रीमती शकुन्तला जैन, सागर (धर्मपत्नी श्री इन्द्रचन्द जैन)
१००१) श्रीमती ताराराली खुरई (धर्मपत्नी सुदेशचन्द्र जैन)
१००१) श्री सुदेश कुमार जैन, गुरुकुल, खुरई (म० प्र०)
७०१) श्री जयकुमार इटोरया, दमोह, (सार्वजनिक न्यास)
५५१) श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ
५५०) श्रीमती शान्तिदेवी जैन, लखनऊ
५०१) श्री शीलचन्द जी पटोरिया, इन्दौर
५०१) श्री कोमलचंद अशोक कुमार जैन, पिडरुआ वाले, सागर
५०१) सेठ मोहनलाल लखमीचन्दजी जैन, सागर
५०१) श्री कोमलचन्द सुबोध कुमार, सागर
५०१) ब्र०, पं० माणिकचन्दजी चवरे, अधिष्ठाता म० ब्र० कारंजा (महाराष्ट्र)
५०१) सेठ दरबारीलाल, विजयकुमार जैन, सागर
५०१) श्री सन्तोष कुमार जैन, सागर
५००) श्री नीरज जैन, सतना
५०१) पण्डित बालचन्दजी जैन, नवापराराजम
५०१) शाह अमृतलालजी, बीना
५०१) श्रीमती पुष्पा शाह, बीना (मातुश्री दिलीप, प्रदीप, शैलेष, राजा शाह,)
५००) श्रीमती बृजमनी देवी गोरखपुर (धर्मपत्नी राय देवेन्द्र प्रसाद)
५०१) श्रीमती कस्तूरीबाई बड़कुल, वाराणसी (मातेश्वरी जयप्रकाश जैन)
५०१) श्रीमती पुष्पादेवी जैन, वाराणसी (धर्मपत्नी बाबूलाल जैन फागुल्ल)
५०१) सिंघई जीवनकुमार अरुणकुमार जैन, सागर
५०१) श्रीमती श्रीदेवी (धर्मपत्नी सिं० नेमिचन्दजी जैन, पथरिया)
५०१) श्रीमती मीना जैन, वाराणसी (धर्मपत्नी नरेन्द्र कुमारजी)

५०१) सिं० देवकुमार राघेलीय, कटनी
५०१) श्री विजयकुमारजी मलैया, दमोह
२५१) पण्डित रविचन्दजी जैन, दमोह
३०१) श्री दुल्लीचन्दजी नाहर, सागर
२०१) श्री कोमलचन्दजी, दमोह
२००) श्री महावीर प्रसाद नृपत्या, जयपुर
२००) पण्डित राजकुमारजी शास्त्री, निवाई
१५०) श्री शान्ति प्रसादजी जैन, टिकैतनगर
१५१) श्री सुरेश चन्द्रजी जैन, अम्बिकापुर
१५१) श्री पन्नालालजी जैन, इलाहाबाद
२५१) श्री सुरेशचन्द्रजी जैन, भोपाल
१५१) सिंघई हीरालालजी सेसईवाले, बीना
१५१) श्रीमती फूलन बाई जैन, बीना
१५१) डॉ० नरेन्द्र कुमार विद्यार्थी छतरपुर वाले एवं सुमति प्रकाशजी
१०१) प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर
१०१) श्री अशोक कुमार फुसकेले वकील सदन, सागर
१५१) श्री निर्मल कुमार राजेश कुमार जैन, तेंदूखेड़ा
१०१) श्री अशोक कुमारजी शिक्षक, गुरुकुल, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री नेमिचन्द्रजी जैन, प्राचार्य, गुरुकुल, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री सिं० राजेश कुमार जिनेश्वरदास जैन, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री डॉ० राजकुमारजी जैन, एम. बी. बी. एस., खुरई
१०१) श्री सिं० वीरेन्द्रकुमारजी जैन, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री सुमत प्रसादजी जैन, दिल्ली
१०१) श्री पूर्णचन्द्र जैन सुमन, दुर्ग
१००) श्री मेवारामजी जैन, बम्बई
१०१) प्रो० निहालचन्द्रजी जैन, बीना
१११) श्री गुलाबचन्द्रजी आदित्य, भोपाल
१०१) डॉ० हीरालाल जैन, रीवा
१०१) पण्डित गुलाबचन्द्रजी 'पुष्प' टीकमगढ़
१०१) श्री वीरेन्द्र प्रधान भारतीय स्टेट बैंक, सागर
१०१) श्रीमती सोमाबाई (धर्मपत्नी सिंघई भागचन्द्रजी, कटंगी)
१०१) श्रीमती नन्ही बाई, पथरिया (धर्मपत्नी हेमचन्द्रजी जैन)
१०१) श्री शिखरचन्द्रजी जैन, दालवाले, गंजबासौदा
१०१) श्री पदमचन्द्रजी जैन, गंजबासौदा
१०१) श्री प्रभुदयालजी जैन, गंजबासौदा
१०१) श्री रतनचन्द्रजी ज्ञानचन्द्रजी, गंजबासौदा
१०१) श्री सुहागमलजी वकील, गंजबासौदा
१०१) श्री रतीचन्द्रजी रामलालजी, (द्वारा श्री हीरालालजी जैन) गंजबासौदा

१०१) श्री बालचन्द्रजी अशोक कुमार जैन, गंजबासौदा
१०१) श्री नेमीचन्द्रजी वकील साहब, गंजबासौदा
१०१) श्री भगवानदास ऋषभ कुमारजी जैन, गंजबासौदा
१०१) श्री नन्नूमल रमेशचन्द्रजी, गंजबासौदा
१०१) श्री शीलचन्द्रजी जैन, दालवाले, गंजबासौदा
१०१) बाबू रतनचन्द्रजी विमलचन्द्रजी सर्राफ, गंजबासौदा
१०१) श्री गुलाबचन्द्रजी दीपचन्द्रजी, गंजबासौदा
१०१) श्री नन्दकिशोर जैन प्राचार्य, गंजबासौदा
१०१) श्री डॉ० जवाहरलाल जैन, गंजबासौदा
१०१) श्री राजकुमारजी वकील, गंजबासौदा
१०१) श्री बाबूलाल जैन, गंजबासौदा
१०१) डॉ० गुलाबचन्द्रजी जैन नोगई वाले, गंजबासौदा
१०१) श्री मिट्ठूलालजी जैन वकील, गंजबासौदा
१०१) श्री जिनेन्द्र कुमार जैन, सिरसौदा, गंजबासौदा
१५१) सेठ कोदूलालजी, तेंदूखेड़ा
१०१) श्री शचीन्द्र कुमार मोदी, तेंदूखेड़ा
१०१) सिंघई दयाचन्द्रजी पड़वारवाले, सागर
१५१) डॉ० नरेन्द्र कुमार जैन, वाराणसी
१०१) श्री कमलचन्द्र विमल कुमार समैया, मण्डीबामौरा
१०१) श्री बाबूलालजी, मण्डीबामौरा
१०१) पण्डित बाबूलाल राजकुमार, मण्डीबामौरा
१०१) भाई खुशालचन्द्र कठरया, मण्डीबामौरा
१०१) श्री चुन्नीलालजी कठरया, मण्डीबामौरा
१०१) श्री लक्ष्मीचन्द्र प्रदीपकुमार चौधरी, मण्डीबामौरा
१०१) श्री चम्पालाल विजय कुमार नायक, मण्डीबामौरा
१०१) श्री हुकमचन्द्र अजित कुमार बड़कुल, मण्डीबामौरा
१०१) श्रीमती ताराबाई पटोरिया, रायपुर
१०१) श्री ऋषभ कुमारजी एवं श्रीमती स्नेहलता जैन, खुरई
१०१) श्रीमती चन्द्रा सेठी (धर्मपत्नी फूलचन्द्र सेठी,) खुरई
१०१) श्री धन्नालालजी सेठी, खुरई
१०१) श्री जिनेन्द्र कुमारजी गुरहा, खुरई
१०१) चौधरी शिखरचन्द्रजी साहित्यरत्न, रीठी
१००) श्रीमती धामीदेवी नन्दलाल जैन, बम्बई
१०१) पं० विजय कुमार जैन, श्रीमहावीरजी
१०१) पण्डित दुलीचन्द्र जैन, बीना
१०१) श्री शाह प्रेमचन्द्र जैन, बीना
१०१) सिं० लीलाधरजी जैन, महरौनी
१०१) श्रीमती साधना जैन (धर्मपत्नी श्री राकेशजी) बक्स्वाहा

१०१) सिं० शोभारामजी जैन, सागर
१०१) श्रीमती नन्हींबाई (धर्मपत्नी श्री हेमचन्द्रजी जैन,) पथरिया
१०१) श्रीमती शोभाबाई (धर्मपत्नी स्व० सिं० भागचन्दजी) कटंगी
५३) श्री राजेन्द्रकुमारजी सिं० गुरुकुल, खुरई (म० प्र०)
११) ज्ञानचन्द्र जैन, तेंदूखेड़ा
११) श्री नेमीचन्द्रजी जैन शिक्षक, तेंदूखेड़ा

जीवन-परिचय · भेंट-वार्ता
व्यक्तित्व तथा कृतित्व

श्रद्धेय पण्डितजी : एक परिचय

● पण्डित दुलीचन्द्र जैन, बीना

कुटुम्ब : एक दृष्टिमें

श्री बंशीधरजीके पिताजीका नाम पण्डित मुकुन्दीलालजी था। वह तीन भाई थे पण्डित मुकुन्दीलाल जी सबसे छोटे थे। उनसे बड़े नन्नूलालजी और सबसे बड़े चूरामनजी थे।

श्री चूरामनजीके दो पुत्र अच्छेलालजी और भूरेलालजी थे। अच्छेलालजीके दो पुत्र थे; एक श्री भैयालालजी तथा दूसरे श्री प० बालचन्दजी, जिन्होंने षट्खण्डागमके सम्पादन और अनुवादका डॉ० हीरालालजीके साथ महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उनका स्वर्गवास अपने पुत्रों (नरेन्द्रकुमार और सुरेन्द्रकुमार) के पास रहते हुए दिनांक १७-४-८९ को हैदराबादमें हो गया। उनके तीन पुत्र हैं—राजकुमार, नरेन्द्रकुमार और सुरेन्द्रकुमार। राजकुमार ग्वालियरमें शासकीय विज्ञान कॉलेजमें गणितका प्रोफेसर है। अन्य दोनों पुत्र हैदराबादमें क्रमशः डिप्टी चीफ इन्जीनियर और अपनी फैक्ट्रीके संचालक हैं। भूरेलालजीके दो पुत्र हैं—पं० दुलीचन्द्र (लेखक) और फूलचन्द्र। प० दुलीचन्द्र बीनामें कपड़ेका व्यवसाय करते हैं व फूलचन्द्र अपनी जन्मभूमि सोरई (ललितपुर) में व्यापार करते हैं। पं० दुलीचन्द्रका एक पुत्र अशोककुमार है, जो बी० एस० सी, एम० ए०, एल० एल० बी० है। वह सागर यूनिवर्सिटीमें कुछ समय तक सर्विस करनेके उपरान्त बीनामें ही स्वतन्त्र व्यवसायरत है। तथा फूलचन्द्रके भी एक पुत्र है—ऋषभ कुमार, जो एम० काम०, एल० एल० बी० है, और इन्दौरमें एक प्राईवेट कम्पनीमें कार्यरत है।

श्री नन्नूलालजीके दो पुत्र थे—अयोध्याप्रसादजी व पं० शोभारामजी। पं० शोभारामजीने श्री भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी बम्बईके महोपदेशकका कार्य कई वर्षों तक किया और उसके बाद अनेक स्थानोंकी पाठशालाओंमें अध्यापन किया। उनके दो पुत्र हुए—परमेष्ठीदास और सुदेशचन्द्र। परमेष्ठीदासका शादीके छह महीने पश्चात् ही स्वर्गवास हो गया था। उसकी पत्नी पूनाबाई पटेरा (म० प्र०) में शासकीय कन्या विद्यालयमें अध्यापन कार्य करते हुए रिटायर होकर आजकल पटेरामें ही रह रही है। सुदेशचन्द्र एम० ए० (हिन्दी) श्री पार्श्वनाथ दि० जैन गुरुकुल खुरई (म० प्र०) में व्याख्याता एवं उसकी धर्मपत्नी ताराबाई भी वहीं शासकीय कन्याशालामें अध्यापिका हैं। उसके तीन पुत्र हैं। वे तीनों इन्जीनियर हैं। उनके नाम हैं—आजाद, अजित और आलोक।

पं० मुकुन्दीलालजीके चार पुत्र हुए। कारेलालजी, पं० हजारीलालजी, छतारेलालजी और प० बंशीधर जी। इनमें आदिके तीन पुत्रोंका स्वर्गवास हो चुका है। कारेलालजीका एक पुत्र था, जिसका नाम हरप्रसाद था। तीन वर्ष पहले उसका देहावसान हो गया। दूसरे पुत्र पं० हजारीलालजी थे, जो स्वयं पण्डित, शास्त्र-लेखक और अध्यापक थे। नैनागिर, हडुआ आदि कई पाठशालाओंमें उन्होंने अध्यापन किया था। डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य उन्हींके सुपुत्र हैं। पं० मुकुन्दीलालजीके सबसे छोटे सुपुत्र हैं—प० बंशीधर जी। इन्हींका यहाँ कुछ परिचय प्रस्तुत है। उसे प्रस्तुत करनेके पूर्व उनकी एकमात्र बहिन गौरा बाईका परिचय दे देना आवश्यक है।

गौराबाईका सम्बन्ध ग्राम भौंड़ी (ललितपुर) में सिंघई पूर्णचन्द्रजीके साथ हुआ था। वह बड़ी दयालु और सौम्यमूर्ति थी। साथ ही बड़ी निश्छल और वात्सल्यमयी थी। अब भी कोई रिश्तेदार भौंड़ी पहुँचा कि उनकी आँखोंसे स्नेहके आसुओंकी झड़ी लग जाती थी। पं० बंशीधर जी, प० बालचन्द्रजी और पं० दरबारी

लालजी उनके स्नेहके वशीभूत होकर महीनों गर्मियोंके अवकाशमें भौड़ीमें रहा करते थे। मुझे भी कई बार भौड़ी जानेका अवसर मिला। उनके दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हैं। उनके बड़े पुत्र श्री लीलाधर व उनकी धर्मपत्नी श्रीमती बेटीबाई भी उन्हींकी तरह स्नेह रखती हैं। श्री लीलाधरजीने अपनी माँ गौराबाई एवं पिता श्री पूर्णचन्द्रजीके स्वर्गस्थ होनेके पश्चात् अपना निवास अब महरौनी (ललितपुर) मे बना लिया है। उनके भी दो पुत्र तथा एक पुत्री है। एक पुत्र भागचन्द्र महरौनीमे ही वर्णी कॉलेजमें अध्यापक हैं तथा दूसरा पुत्र उत्तमचन्द्र भी गुढ़ा (ललितपुर) में शिक्षक है। दोनो पुत्र सेवाभावी एवं कर्मठ हैं।

दूसरा पुत्र कपूरचन्द्र भी, शास्त्री पास करके कई वर्षोंसे अशोकनगर, म० प्र० मे अध्यापनरत हैं। उसके भी दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हैं। पुत्र हेमन्त व अशोककुमार हैं।

जन्म :

श्री बंशीधरजीका जन्म भाद्र शुक्ला ७, वि० सं० १९६२ मे हुआ। पिताका नाम श्री प० मुकुन्दीलालजी और माताका नाम श्रीमती राधादेवी था। पिताजी उस क्षेत्रके माने हुए विद्वान् पण्डित, शास्त्र-प्रतिलेखक और प्रतिष्ठाचार्य थे। समाजमे जहाँ-कही जल-यात्रा, सिद्धचक्रविधान, पचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि धार्मिक कार्य होते थे उनमे उन्हें ससम्मान आमंत्रित किया जाता था। दशलक्षण (पर्युषण) पर्वमे भी शास्त्र-वचनिकाके लिए वे समाजके आमंत्रणपर जाते थे। उनके हाथके लिखे हुए शास्त्र आज भी कई मदिरोंमे उपलब्ध हैं। लोग न्यौछावरके लिये उन्हें लिखवाते थे।

श्री बंशीधरजी जब तीन माहके ही शिशु थे, पिताजीको दैवने उनसे छीन लिया था। जैसे-तैसे माताजी शिशुका पालन-पोषण कर रही थीं, किन्तु १२ वर्षकी अवस्थामे उनका भी साया उनपरसे उठ गया। वे अभावों में पले-पुषे और आगे बढ़े।

जन्मस्थान :

(पंडितजी) बंशीधरजीका जन्मस्थान सौंरई है, जो बहुत पहले गढाकोटा (सागर) म० प्र० की जागीर थी और अब उत्तरप्रदेशके ललितपुर जिलेका एक प्रख्यात ग्राम है। यह प्रसिद्ध संत श्री गणेशप्रसाद वर्णी (मुनि श्री १०८ गणेशकीर्ति) की जन्मभूमि हंसेरा ग्राम (ललितपुर) से दो किलोमीटर पूर्वमे अवस्थित है।

१. यहाँ पहले "सौंर" जातिके आदिवासी रहते थे, जो इस ग्रामके पास पाये जानेवाले घने जंगलोंमे उपलब्ध जडी-बूटियों, अचार, महुआ, गुली, गोद, लाख, मूसली आदि वन्य वस्तुओंका धंधा करके अपनी आजीविका चलाते थे। इन चीजोंके खरीददार व्यापारी एवं ठेकेदार भी यहाँ काफी संख्यामें रहते थे। सम्भवतः उनके निवासके कारण (सौंर + ई = सौरोंकी आवास भूमि होनेसे) इस ग्रामका नाम "सौंरई" पड़ा है।

२. कहा जाता है कि यहाँके व्यापारी उक्त चीजोंको लदरा बैलोंपर बहुसंख्यामे लादकर मिर्जापुर ले जाते थे और वहाँके बाजारोंमें उन्हें बेचते थे। तथा वहाँसे पीतल, ताँबे आदिके बर्तन खरीद कर लाते थे। ऐसे लोगोको 'सौंरया' कहते थे। अब भी वे यहाँ है और अच्छी स्थितिमे है। इनमें बहुतसे मडावरा, टीकमगढ आदि स्थानोंपर चले गये हैं। आज यह (सौंरया) उनका बंश बन गया है। पर यह सच है कि उनका उद्भव इसी ग्रामसे हुआ है। जैसे 'खण्डेला' ग्रामसे खण्डेलवाल और 'अग्रोहा' ग्रामसे अग्रवाल माने जाते हैं। गोलापूर्व जातिके ५८ वंशोमे यह भी एक वंश है।

३. सौंरईका, व्यापारिक महत्त्वके अलावा, सांस्कृतिक महत्त्व भी है। यहाँ चन्देलवंश राजाओंके शासनकालके दो प्राचीन मठ (मन्दिर) हैं, जो पत्थर-ही-पत्थरके बने हैं और जिनमें एक मठ जैनोंका और दूसरा मठ हिन्दुओंका है। जैनोंके मठ (मन्दिर) में अभी भी खण्डित मूर्तियाँ विद्यमान रही हैं। इसके पास ही पूजादिके लिए उपयोगमें लाने हेतु पत्थरसे मजबूत बना एक जलकूप भी है। देख-भाल न होनेके कारण यह मठ आज अरक्षित दशामें पड़ा है।

४. यह 'रौनी' (रोहिणी) नदीके तटपर अवस्थित है, जो पासके बीहड़ जंगलसे निकली है और 'धसान' नदीमें आकर 'ककरवाहा' ग्राम (ललितपुर) के पास मिली है।

५. 'सौंरई' का एक और महत्त्व है। वह है प्रशासनिक। इसके प्रशासनके लिए राजाका विशाल किला बना है, जो दो ओर (पश्चिम ओर उत्तर) से रौनी नदीके तटोंसे घिरा है एवं विस्तृत और ऊँचे टीलेपर निर्मित है। कहा जाता है कि यह किला राजा बख्तबलीने बनवाया था, जो शाहगढ़ (म० प्र०) के राजाके अधीन था। इस किलेसे एक रास्ता भूमिके अन्दर-ही-अन्दर बगीचेमें बनी सुन्दर वापिकाके लिए जाता है, जिससे राजाकी रानियाँ वापिकामें स्नान करनेके लिए वहाँ जाती-आती थी। दूसरा रास्ता मडा-वराके किले तक जाता है, जो सौंरईसे ५ किलोमीटर है। किन्तु अब ये दोनो रास्ते बन्द है। मालूम पड़ता है कि राजनैतिक उथल-पुथल ही इन रास्तोके निर्माणका कारण रही है।

६ किलेके पूर्वी द्वारपर उससे लगा हुआ राजाके जैन दीवान द्वारा १८२ वर्ष पूर्व बनवाया दि० जैन मन्दिर है, जो वर्तमानमें जिनप्रतिमाशून्य है। ज्ञात नही, इसमें कितने वर्षोंतक प्रतिमाजी विराजमान रही और कब कैसे वहाँसे उन्हें हटा दिया गया। मन्दिरके जिनप्रतिमारहित हो जानेपर उसमें शासनके द्वारा प्राइमरी स्कूल लगता रहा। इसी स्कूलमे हमारे चरित्रनायककी प्रारंभिक शिक्षा हुई, जो १५०-१७५ वर्ष वहाँ रहा जान पड़ता है। मन्दिरके सर्वथा जीर्ण-शीर्ण और खण्डहर हो जानेके कारण अब उसमें स्कूल भी नही लगता। स्कूल दूसरी जगह लगने लगा है। आज वह मन्दिर खण्डहरके रूपमे अरक्षित दशामें पड़ा है।

७ इस ग्रामके आस-पास पहले ताँबा और लोहा बड़ी मात्रामे निकलता रहा। अब तो कई वर्षोंके अन्वेषणके बाद यहाँ फास्फोरस पत्थर, जो खाद बनानेके काममें आता है तथा यूरेनियम जैसी महत्त्वपूर्ण धातुका भी भण्डार भू-वैज्ञानिकों एव कुशल इंजीनियरोने खोज निकाला हैं और बहुलतासे उसका काम चल रहा है। इससे इस ग्रामका राष्ट्रीय महत्त्व भी बढ़ गया है। यह हमारे एवं देशके लिए गर्वकी बात है। इसके अतिरिक्त सिमेन्टका पत्थर, स्लेटका पत्थर आदि भी यहाँ उपलब्ध हुआ है।

८. इस ग्राममे वर्तमानमें तीन दिगम्बर जैन मंदिर है, २५-३० जैन घरोंके अतिरिक्त लगभग तीन हजारकी यहाँ आबादी-जनसंख्या है। (१) पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर (जिसे बड़ा मंदिर कहा जाता है) (२) छोटा मन्दिर और (३) बाजारका मन्दिर और तीनों ही बस्तीके बीचों-बीच स्थित हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि डॉ० पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यने अपनी धर्मपत्नी स्व० चमेलीबाईकी स्मृतिमें ४,२००/०० रुपयोंसे बाजारसे लेकर बड़े मन्दिर और बड़े मंदिरसे छोटे मंदिर तक चौड़े-बड़े पत्थरोंकी फर्सी बिछाकर अच्छा रास्ता बनवा दिया है, जिससे आने-जानेवालोंको बड़ी सुविधा हो गयी है। तथा २,५००/०० प्रदानकर बड़े मन्दिरकी छतका भी उन्होंने जीर्णोद्धार करा दिया है।

९. यह ग्राम है तो छोटा, लेकिन इसकी एक विशेषता और है। वह यह कि यह प्राच्य-विद्या प्राकृत एवं संस्कृतके विद्वानों(पण्डितों) की (आकर) खान है। व्याकरणाचार्यजी, पं० शोभारामजी महोपदेशक

तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बई, विद्याभूषण प० रामलालजी प्रतिष्ठारत्न अशोकनगर, पं० परमानन्दजी साहित्याचार्य बालाविश्राम आरा, पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री (सिद्धान्त ग्रन्थोंके सम्पादक-अनुवादक) हैदराबाद, पं० पद्मचन्द्रजी शास्त्री बड़ा मलहरा (म० प्र०) डॉ० पं० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य सेवानिवृत्त रीडर का० हि० वि० वि० वाराणसी (वर्तमान बीना), पं० गुलझारीलालजी न्यायतीर्थ, सागर, पं० दुलीचन्द्र शास्त्री बीना आदि विद्वान् यहींकी देन है और वे विभिन्न स्थानोंमें समाज एवं साहित्य-साधनामें संलग्न हैं या संलग्न रह चुके हैं। इसीसे कितने ही लोग इस ग्राम सोरईको न केवल यूरेनियम आदि धातुओंका खान कहते हैं, अपितु आध्यात्मिक विद्वानोंकी खान भी कहते हैं।

यह भी उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा कि अब सोरईका यातायात कठिन नहीं रहा। यहाँसे ललितपुर, सागर और बीना आदिको सरलतासे आ-जा सकते हैं। पक्की सड़कें और सड़कोंपर चलनेवाले वाहन प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं।

'जननी जन्मभूमिश्चय स्वर्गादपि गरीयसी।'

यह कितना प्यारा वाक्य है। अतएव पंडितजीकी जन्मभूमि सोरई तुझे शतशः प्रणाम।

प्राथमिक शिक्षा :

पण्डितजीकी प्राथमिक शिक्षा स्थानीय प्राईमरी स्कूलमें कक्षा ४ तक हुई। जब पंडितजी कक्षा २ में पढ़ते थे तब शिक्षाधिकारी कक्षा ४ के छात्रोंकी परीक्षा लेनेके लिए स्कूलमें आया। उसने कक्षा ४ के एक छात्रसे एक सवाल पूछा। वह उसका उत्तर न दे सका। यह भी वहीं खड़े थे। इन्होंने उसका उत्तर दे दिया। इस पर शिक्षाधिकारी बहुत प्रसन्न हुआ और इनसे बोला "तुम पढ़ानेकी नौकरी करना चाहते हो तो हम नौकरी दे सकते हैं"। इन्होंने उत्तर दिया कि "हम अभी आगे पढ़ेंगे"। पंडितजी आरम्भसे तीक्ष्ण बुद्धि एवं मेधावी छात्र रहे हैं।

वाराणसीमें उच्चशिक्षा :

चौथी कक्षा पास कर आप अपने मामाके पास वारासिवनी (म० प्र०) चले गये। वहाँ कुछ समय रहे। परन्तु वहाँ उच्चशिक्षाके साधन न थे। अतएव वहाँसे पं० शोभारामजीके साथ सागर आ गये और सागरसे पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी अपने साथ वाराणसी ले गये। वहाँ स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयमें उनकी छत्र-छायामें ११ वर्ष तक मुख्यतया व्याकरण और सामान्यतया साहित्य, दर्शन और सिद्धान्तका उच्च अध्ययन किया। आपने किसी भी विषयमें द्वितीय या तृतीय श्रेणी प्राप्त नहीं की। प्रथम श्रेणीमें ही सभी विषयोंमें उत्तीर्णता प्राप्त की है। व्याकरणाचार्य परीक्षा तो प्रथम श्रेणी प्रावीण्य सूचीमें द्वितीय स्थानसे पास की।

ज्ञातव्य है कि सोरईसे परमानन्द, पद्मचन्द्र, लोकमन, बालचन्द्र ये भी उसी समय पढ़नेके लिए वाराणसी पहुँचे। इन्होंने परमानन्द और बालचन्दसे कहा कि हम तीनों तीन विषयोंके आचार्य बनें—हम व्याकरणाचार्य और तुम दोनों क्रमशः साहित्याचार्य और न्यायाचार्य। इस तरह हम तीनों एक ही ग्रामके तीन विषयोंके तीन आचार्य हो जावेंगे। इनमें पंडितजी व्याकरणाचार्य और परमानन्दजी साहित्याचार्य हो गये। पर बालचन्द्रजी न्यायमध्यमा उत्तीर्ण कर अध्यापनहेतु पन्नालाल दि० जैन विद्यालय, आरखी (आगरा) में चले गये। अतः वे न्यायाचार्य नहीं कर सके, किन्तु उत्तरकालमें वे सिद्धान्तग्रन्थोंके सम्पादक एवं अनुवादक बने और उच्चकोटिका उन्होंने वैदुष्य प्राप्त किया एवं जीवनके अन्त तक जिनवाणीकी साधना की। हाँ, पंडितजीके विचार एवं भावनाको उन्हीके भतीजे डॉ० पं० दरबारीलाल कोठियाने अवश्य 'न्यायाचार्य'

पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य और उनका परिवार

श्री प बशीधर व्याकरणाचार्य

श्रीमती लक्ष्मी बाईजी (पत्नी)

व्याकरणाचार्यजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री विभवकुमार जैन और उनका परिवार

व्याकरणाचार्यजी के द्वितीय पुत्र श्री विवेककुमार जैन और उनका परिवार।

व्याकरणाचार्यजी के तृतीय पुत्र श्री विनीतकुमार जैन और उनका परिवार

व्याकरणाचार्यजी की ज्येष्ठ पुत्री
सौ बिमलाबाई एव
दामाद डॉ मोतीलाल जैन
खुरई (सागर) तथा उनका परिवार

व्याकरणाचार्य की द्वितीय पुत्री सौ. पुष्पाबाई एवं दामाद मास्टर मुन्नालाल जैन
टीकमगढ़ (म प्र.) और उनका परिवार

व्याकरणाचार्यजी के भतीजे डॉ दरबारी लाल कोठिया
श्रीमती चमेली बाई (पत्नी डॉ कोठियाजी)
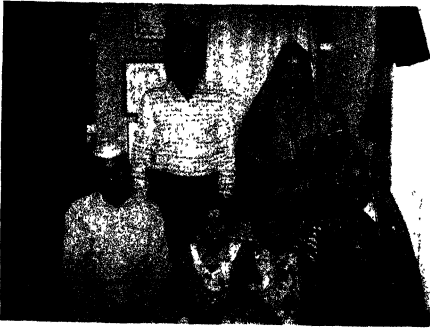
व्याकरणाचार्यजी के भतीजे प दुलीचन्द्र जैन, बीना (म.प्र) एव उनका परिवार

व्याकरणाचार्यजी के भतीजे
पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और
उनका परिवार

श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीकी कनिष्ठ पुत्री
सौ० वैजयन्ती बाई एवं उनके दामाद
डॉ० हीरालाल जैन, रीवा (म० प्र०)

पण्डितजीके ज्येष्ठ भ्राता स्व० पूज्य
पं० शोभारामजीके सुपुत्र प्रिय सुरेश-
चन्द्र जैन, शिक्षक अपने परिवारके साथ

होकर व्होकल फैक्ट्री जबलपुरमें कार्यरत हैं और तीसरा पुत्र विनीत कुमार, बड़े भाईके साथ वस्त्रव्यवसायमें संलग्न है, इसके सिवाय वह बीमा, बैंक एवं पोस्ट आफिसमें फिक्स डिपाजिट करानेका कार्य भी करता है। तीनों पुत्रोंके विवाह हो चुके हैं। विभव कुमारका सम्बन्ध सेठ बाबूलालजी सागरकी पुत्री सुगन्धी बाई, विवेककुमारका सम्बन्ध सेठ देवेन्द्र कुमार जी सागरकी पुत्री नलिनी बाई तथा विनीत कुमारका सम्बन्ध सेठ हुकमचन्द्रजी सागरकी पुत्री किरणबाईके साथ सम्पन्न हुए हैं। पण्डितजीकी तीनों बहुएँ भी पुत्रोंकी तरह कर्त्तव्यनिष्ठ, सेवाभावी, विनम्र और आज्ञाकारिणी हैं। विभवके एक पुत्र चि० वीरेश कुमार और पाँच पुत्रियाँ—प्रीति, दीप्ति, नीति, स्मृति और कृति हैं। विवेककुमारसे दो पुत्र–विशेष और क्षितिज तथा एक पुत्री–रांगोली हैं। और विनीतकुमारके तीन पुत्रियाँ–निधि, सोनू एव गुडिया है।

पण्डितजीकी तीनो पुत्रियोंके भी सम्बन्ध हो चुके है। बड़ी पुत्री विमलाबाई (५७), का डॉ० मोती-लालजी खुरईके साथ, दूसरी पुत्री पुष्पाबाई (३७) का मा० मुन्नालालजी टीकमगढ और तीसरी पुत्री वैजयन्ती-बाई (३५) का डॉ० हीरालालजी रोवाके साथ हुआ है। पण्डितजीके तीनो दामाद सुयोग्य और अपने-अपने कार्यमे रत है।

मधुर एवं स्नेहपूर्ण सम्बन्ध .

पण्डितजीके स्वजन और परिजन सभीके साथ मधुर एवं अच्छे सम्बन्ध हैं। कुटुम्बियोंके प्रति जहाँ अगाध स्नेह है वही ससुरालमे रहते हुए अपने ससुर शाह मौजीलालजी, काका ससुर शाह अर्जुनलालजी और शाह दयाचन्द्रजी तथा चचेरे सालो–शाह अमृतलाल, शाह खूबचन्द्र, शाह फूलचन्द्र, शाह स्व० निर्मलकुमार और शाह प्रेमचन्द्र एवं उनके परिवारोंके साथ भी पण्डितजीके स्नेहपूर्ण सम्बन्ध बने हुए हैं। इनमें एकमात्र कारण उनकी लोकज्ञता, व्यवहारकुशलता और गम्भीरता है। उनका चिन्तन दूरगामी है।

ससुरालपक्ष भी पण्डितजीका सदा आदर करता है। हमें एक घटना याद आती है। जब पण्डितजी स्वतन्त्रता-संग्रामके आन्दोलनमें सन् १९४२मे जेलमे थे और घरपर उनके प्रथम पुत्र सनतकुमारका स्वर्गवास हो गया था, तब पण्डित बालचन्द्रजी शास्त्री अमरावतीसे इस दुखमे संवेदना प्रकट करनेके लिए बीना आये और आते ही वे बीमार हो गये। बुखार ठीक नही हो रहा था। पण्डितजीके ससुर शाह मौजीलालजीने अपने मुनीम श्री कन्छेदीलालजीको अमरावती भेजकर उनके बाल-बच्चोंको बीना बुलवा लिया और जब तक उनकी तबियत ठीक नही हुई तब तक सभीको अपने पास रखकर उनका इलाज करवाया। जब उनकी तबियत ठीक हो गयी तब उन्हें जाने दिया। ऐसी थी शाह मौजीलालजी की आत्मीयता और सहृदयता। अभी भी शाह परिवारके पण्डितजी तथा उनके कुटुम्बके साथ प्रिय सम्बन्ध है, जो अनुकरणीय है।

विशेष गुण .

पण्डितजीमे कुछ ऐसे विशेष गुण हैं जो अन्य मे प्राय. दुर्लभ होगे। इनमे कुछका यहाँ दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझता हूँ—

(क) स्वाभिमान—पण्डितजी व्याकरणाचार्य हुए ही थे कि उन्हे स्थानकवासी साधुओंको अध्यापन करानेके लिए ब्यावर (राजस्थान) से आमन्त्रण आया। वे वहाँ गये और पहले दिन उन्हें थोडा पढाया। इसपर एक महाराज बोले—"पण्डितजी, इतना ही पढायेंगे। आपसे पहलेके पण्डितजी तो दो-तीन घण्टे सुबह और इतने ही समय शामको पढाते थे।" पण्डितजीने कहा कि—"आपने इतना पढ करके भी कुछ नहीं पढ़ा। इसप्रकारके पढ़ने-पढानेसे क्या लाभ। कुछ अनुभव और मनन भी होना चाहिए। यदि आपको पूर्ववत्

पढना है तो आप किसी और विद्वान्को बुला लें। हम तो इसी प्रकार पढावेंगे।'' बस, उस दिनके बाद सभी साधु पण्डितजीसे यथोचित आदर करते हुए पढने लगे। पण्डितजीके अध्यापनसे सभी साधु अनुभव करने लगे कि पण्डितजीके अध्यापनसे हमारी व्युत्पत्ति और विशिष्ट ज्ञान हुआ है। सभी महाराज संतुष्ट और प्रसन्न थे। यह था पण्डितजीका स्वाभिमान। ऐसे अनेक प्रसग उनके जीवनसे जुडे हुए है।

(ख) व्यवहारमें कठोरता, किन्तु सच्चाई—पंडितजी व्यवहारमे कठोर है, पर सच्ची बात कहनेमे वे संकोच नहीं करते। उन्हें मीठी, किन्तु झूठी बात या चापलूसीसे बेहद नफरत है। उनसे बातचीत करनेवाला व्यक्ति कुछ समय समझता है कि पण्डितजीने इतना भी लिहाज नहीं किया। किन्तु विशेष परिचयमे आनेपर वही व्यक्ति स्वीकार करता है कि यह सिद्धान्त और नीतिकी बात है, जो सभीके लिए अनुपालनीय है। यह सत्य है कि ''हितं मनोहारि च दुर्लभं वच।'' बात हितकारी भी हो और मनोहारी भी हो, दुर्लभ है। कई लोग तो यहाँ तक कह उठते है कि ''आप बहुत रूखे है।'' किन्तु पण्डितजी उसकी भी परवाह नही करते। और यथार्थ कहनेपर दृढ रहते है।

(ग) व्यवसायमें एक बात—जब पण्डितजीने कपडेका व्यवसाय आरम्भ किया तो उन्होंने कपडा बेचनेमें ''एक बात'' (एक भाव) का सिद्धान्त स्थिर किया। कई लोगोंने कहा कि ''पण्डितजी, आप एक बातके सिद्धान्तपर चलेंगे, तो दुकान नही चलेगी और न आप सफल हो पायेंगे।'' पण्डितजीने कहा कि ''दुकान चले या न चले। हम सिद्धान्तका परित्याग नहीं करेंगे। दुकान विश्वासपर चलती है और ग्राहक विश्वस्त होकर खरीदेगा।'' फलत पण्डितजी ''एक बात'' के सिद्धान्तमे पूर्ण सफल हुए। ग्राहकोका विश्वास जम गया। आज स्थिति यह है कि अर्द्ध शताब्दी हो गयी और उनका वस्त्रव्यवसाय दस गुना हो गया और दुकानकी विश्वसनीयता सर्वत्र हो गयी। उनके पुत्र भी उसी सिद्धान्तपर चल रहे है। नम्बर दो का कोई कार्य नही होता। सेल्स टेक्स आफीसर एक तो आता नही और आये भी तो खाली हाथ चला जाता है। उसे घूस देने जैसा प्रश्न ही नही उठता। दुकान, घर आदिका सारा कार्य एक नम्बरमें ही होता है। खाते बही आदि सब सही रहते है।

(घ) कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकता—पण्डितजीने सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओंमें दीर्घकाल तक कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकताके साथ मानद सेवायें की है। स्थानीय श्री नाभिनन्दन दिगम्बर जैन हितोपदेशिनी सभा द्वारा संचालित मन्दिर और विद्यालयके मन्त्री पदसे लगभग १८ वर्ष तक उनकी सुचारु रूपसे सेवा की है। उस समय जो मन्दिर और विद्यालयका कार्य अव्यवस्थित था उसे पूर्णरूपसे व्यवस्थित बनाया। कभी-कभी पण्डितजीको सस्थाके कार्यसे सागरकी अदालतमे जाना पडता था। उस समय आप गेडाजीकी धर्मशाला-में ठहरते थे और वहाँसे पैदल कचहरी जाते थे। वहाँ जब क्लर्कसे संस्थाके कार्यके सम्बन्धमे बात की तो वह कुछ रुपया माँगने लगा। पण्डितजीने उसे इस तरह डाटा कि वह भयभीत हो गया और क्षमा माँगकर उसने तत्काल कार्य कर दिया। इसके बाद जब-जब पण्डितजीको कचहरी जाना पडा, तब-तब उस क्लर्कने उनके कार्यको प्राथमिकता दी। आज भी हम देखते है कि वे कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकतासे अपने जीवनको संजोये हुए हैं।

(ङ) समयके पाबन्द—पण्डितजी समयके नियमित है। मन्दिर, स्वाध्याय, दुकान, भोजन, शयन, लेखन और बाहर गमन आदि उनका समयबद्ध है। बाहर जाना या आना है तो पण्डितजी समयपर स्टेशन पहुँच जायेंगे। गाडी भले ही लेट आये या जाये। यही उनकी समयनियमितता सभा-सोसायटियोंकी है। उनके कार्यक्रमोंमे विलम्ब हो सकता है पर पण्डितजीके उनमें शामिल होनेमें बिलम्ब नही होता। यह कहना चाहिए

पण्डितजीके श्वसुर
शाह मौजीलालजी, बीना

पण्डितजीके काका श्वसुर
शाह अर्जुनलालजी, बीना

पण्डितजीके काका श्वसुर
शाह दयाचन्द्रजी बीना
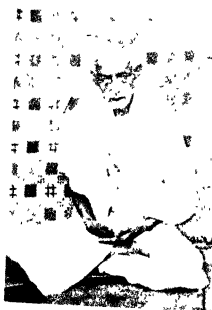
व्याकरणाचार्यजीके ज्येष्ठ भ्राता
पं० शोभारामजी, न्यायतीर्थ

करके पूरा किया। इतना ही नही, कोठियाजीने शास्त्राचार्य (जैनदर्शन), एम० ए० (संस्कृत) और पी-एच० डी० (जैन तर्कशास्त्र) की परीक्षायें देकर उनमे प्रथम एव उच्च द्वितीय श्रेणीमे उत्तीर्णता भी प्राप्त की। कहना होगा कि उच्च शिक्षा स्वयं ग्रहण करने और दूसरोंको उसके लिए प्रेरित करनेमे पंडितजीकी रुचि और दूरदृष्टि कितनी सार्थक रही है।

गृहस्थाश्रममे प्रवेश :

जब पंडितजी वाराणसीमे व्याकरणाचार्यके चार खण्ड उत्तीर्ण कर चुके थे और पंचम खण्डकी तैयारीमे सलग्न थे। तब संयोगसे शाह मौजीलालजी, बीना अपने बहनोई सिंघई नन्हेलालजी टोपीवाले सागरके साथ व्यापारिक कार्यसे वाराणसी गये। वाराणसी सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथकी जन्मभूमि है तथा समाजका प्रसिद्ध स्याद्वाद महाविद्यालय भी यही है, जहाँ पंडितजी उच्च अध्ययन कर रहे थे। दोनों महानुभाव दोनों स्थानोंके दर्शन करते हुए स्याद्वाद महाविद्यालय पहुँचे। शाहजी अपनी लडकीके लिए योग्य लडकेकी खोजमे थे। यहाँ पंडितजीसे सम्पर्क हुआ। दोनो महानुभावोको पंडितजी सुयोग्य जचे। घर आकर और अपने दोनो भाईयो (शाह अर्जुनलालजी, व शाह दयाचन्द्रजी, परिवार जनों तथा रिश्तेदारोंसे परामर्श करके शाहजीने निर्णय लिया कि अपनी लडकीके लिए पण्डितजी सबसे उपयुक्त और सुयोग्य लडके हैं। फलत पंडितजीका सम्बन्ध सन् १९२८ मे शाह मौजीलालजीकी सुपुत्री लक्ष्मीबाईके साथ सम्पन्न हो गया।

पण्डितजीके अनुरूप धर्मपत्नी :

यो तो प्रत्येक पुरुषकी धर्मपत्नी उसके अनुरूप होती या बन जाती है। किन्तु पण्डितजीकी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मीबाई स्वभावत उनकी समान-गुणधर्मा थी। उनमे गाम्भीर्य, सहज स्नेह, वात्सल्य, उदारता, दयालुता, सहनशीलता, अक्रोध, अमान, अमाया, अलोभ जैसे गुण विद्यमान थे। अस्वस्थ होने पर भी वे पण्डितजीकी दिनचर्या और आतिथ्यमे कभी शैथिल्य नही करती थी। कुटुम्बियो और रिश्तेदारोंके प्रति उनके हृदयमे अगाध स्नेह एव आदर रहा। पण्डितजीको यह भी पता नही रहता था कि घरमे क्या चीज है और क्या नही है। पैरोमे कभी चप्पलें नही पहनी। लोग कहते थे कि—"देखो, लछोबाईको इतनी सम्पन्न होनेपर भी उसकी कितनी सादी वेश-भूषा है। पैरोंमें चप्पलें भी नही पहनती है।" वास्तवमे लक्ष्मीबाई सतयुगी गृहणी थी और स्वय लक्ष्मी। सहनशीलता एव कुटुम्बप्रेम तो इतना था कि प० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री (भतीजे), डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य (भतीजे), प० बालचन्दके दो बच्चो और एक बच्ची तथा हमारी (प० दुलीचन्द्र, भतीजेकी) दो बच्चियोकी शादियाँ उन्होने अपने घरसे ही की। पर कभी अन्यथाभाव प्रदर्शित नही किया। यह स्त्रीस्वभावकी दृष्टिसे कम महत्त्वकी बात नही है। यह दैवकी विडम्बना है कि वे ५८ वर्षकी आयुमे ही कालकवलित हो गयी। अपने पीछे वे तीन सुयोग्य पुत्रो तथा तीन सुयोग्या पुत्रियोंके भरे-पूरे परिवारको छोड गई। ऐसी सतयुगी देवी श्रद्धेया श्रीमती लक्ष्मीबाईको हमारे शत-शत नमन हैं।

परिवार :

पण्डितजीके तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। यह सयोग ही है कि पुत्र-पुत्रियोकी सख्या समान है। पुत्र है १. विभव कुमार (४२), २ विवेक कुमार (४०), ३. विनोतकुमार (३२)। विभवकुमार अपने पैत्रिक वस्त्रव्यवसायमे संलग्न हैं। दूसरा पुत्र विवेक कुमार इन्जीनियर

सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य के
कुछ अविस्मरणीय क्षणों की
चित्रमय झाँकी
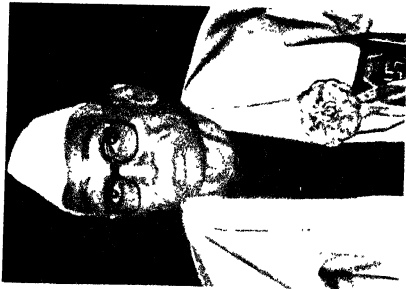
श्रद्धेय पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना

श्रीमती स्व० लक्ष्मी बाई
(ध० प० पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य)

सत्याग्रहीके रूपमे
व्याकरणाचार्यजी

श्रावस्ती वि० प० के अध्यक्षके रूपमे
श्री प० बशीधर व्याकरणाचार्य

व्याकरणाचार्यजी जयपुर खानिया
तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके लेखनमें व्यस्त ।

व्याकरणाचार्यजी स्वाध्यायमें तल्लीन हैं ।
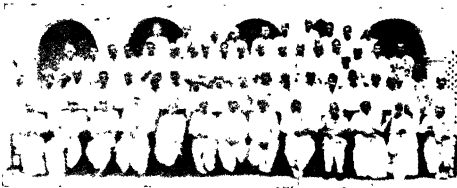
गुरुणा-गुरु पं० गोपालदासजी वरैया जन्मशताब्दिके समारोह-अवसर पर समस्त भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वानों और श्रीमन्तोंके साथ प्रथम पंक्तिमें वि० प० के अध्यक्ष पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, साहु शान्तिप्रसाद, सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी, पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्तार, प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, डॉ० दरबारीलालजी कोठिया आदि।

पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य
भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्‌की कार्यकारिणी तथा ग० वर्णी जैन ग्रंथमाला समिति, वाराणसीकी बैठकोंमें सम्मिलित सदस्यगणके साथ (१९६५-६६)

व्याकरणाचार्यजी वीर निर्वाण भारती मेरठकी ओरसे सम्माननीय उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत

व्याकरणाचार्यजी सागर-वाचनामें विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा विद्वत्परिषद्की ओरसे 'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार' कृतिके लिए पुरस्कृत एवं सम्मानित

व्याकरणाचार्यजी सागर-वाचनामें मुनिसंघ समितिकी ओरसे उसके अध्यक्ष सि० जीवन-कुमार द्वारा सम्मानित

व्याकरणाचार्यजी सागर-वाचनामें सागर-समाजकी ओरसे उसके अध्यक्ष श्री सागरचन्द्र दिवाकर द्वारा सम्मानित

व्याकरणाचार्यजीको सागर-वाचनाके अवसरपर सागर समाज द्वारा दिया जा रहा सम्मान पत्र समाजके प्रतिष्ठित विद्वान् पं० जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री पढ़ रहे हैं।

पूज्य आचार्य विद्यासागरजीके सन्निधानमें हुई सागर-वाचना वर्णी भवन, मोराजीमें आयोजित विद्वत्सम्मान समारोहमें सम्मानित व्याकरणाचार्यजी अपने सम्मानपर कृतज्ञता प्रकट करते हुए।

सिवनी-अधिवेशनमें व्याकरणाचार्यजी अध्यक्षीय भाषण करते हुए।

सिवनी अधिवेशन सन् १९६५

निवर्तमान अध्यक्ष नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य और निर्वाचित अध्यक्ष प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य

सागर-वाचनामे सम्मिलित विद्वानोके साथ व्याकरणाचार्यजी प्रथम पंक्तिमे आसीन हैं।

श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजी अपने भ्रातृव्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यके साथ

स्याद्वाद परिवार
स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय वाराणसीके भूतपूर्व एवं वर्तमान छात्र तथा अध्यापकगण, १९६५-६६
व्याकरणाचार्यजी प्रथम पंक्तिमें दायेंसे छठे स्थान पर।

२२-१०-६३ से १-११-६३ तक जयपुर खानियामें आयोजित तत्त्वचर्चामें सम्मिलित
त्यागीवर्ग, विद्वद्वर्ग और श्रेष्ठिवर्ग
व्याकरणाचार्यजी पहली पंक्तिमें दायेंसे तीसरे स्थान पर आसीन हैं।

भारत सरकार

स्वतंत्रता के पच्चीसवें वर्ष

के अवसर पर स्वतंत्रता संग्राम में
स्मरणीय योगदान के लिये राष्ट्र की ओर से
प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने
यह ताम्रपत्र भेंट किया

15 अगस्त 1972
24 श्रावण 1894 शकाब्द

श्री बंशीधर
मुकुन्दीलाल
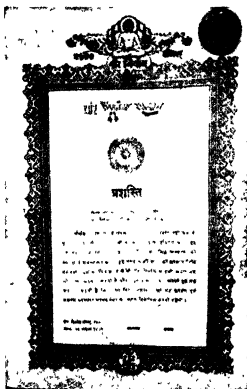
श्रद्धेय व्याकरणाचार्यके सम्मानमें
वीर निर्वाण २५००वं महोत्सव पर सन १९७४ मे
वीर-निर्वाण-भारती द्वारा दिया गया प्रशस्ति-पत्र

११ अगस्तसे १५ अगस्त १९८९ तक आयोजित सम्पादक-मण्डलकी बैठकमें
सम्पादक-मण्डल अभिनन्दन-ग्रन्थकी सामग्रीके वाचनमें व्यस्त।

साक्षात्कार

डॉ० कोठिया और व्याकरणाचार्य

• डॉ० दरबारीलाल कोठिया, बीना

[अभिनन्दनीय सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य राष्ट्र एवं समाजके उन वरिष्ठ मनीषियोंमें हैं, जिनकी राष्ट्रसेवा एवं सैद्धान्तिक पकड़ बहुत गहरी है और जो सामाजिक, सास्कृतिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियोंमें भाग लेनेके साथ 'स्वतंत्रता-सेनानी' भी हैं। हालमें आपसे हमने जो साक्षात्कार लिया वह महत्त्वपूर्ण एवं ज्ञातव्य होनेसे यहाँ दिया जाता है। —प्र० स०]

को० : स्वतंत्रता-आन्दोलनमें आपकी प्रवृत्ति कैसे हुई ?

व्या० मैं सन् १९२० के अन्तमें संस्कृतका अध्ययन करनेके लिए पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यके, जो बादमें अपनी अन्तिम अवस्थामें मुनि श्री १०८ गणेशकीर्तिके नामसे दिगम्बर साधु हो गये थे, साथ वाराणसी गया था और उनकी छत्रछायामें रहकर स्याद्वाद दिगम्बर जैन विद्यालयमें सन् १९३१ के अप्रैल तक मैंने संस्कृतका अध्ययन किया।

देशमे स्वतन्त्रता आन्दोलन चल ही रहा था। अत. मेरे अन्त करणमें देशकी स्वतंत्रताकी भावना जागृत हुई। यत उस समय मैं अध्ययनरत था, इसलिए इच्छा रहते हुए भी स्वतन्त्रता आन्दोलनमें मैंने भाग नहीं लिया। उसके पश्चात् सन् १९३५ तक स्थिर होकर नहीं रह सका। सन् १९३५ के अन्तमे बीना (म० प्र०) मे कपड़ेका व्यापार प्रारम्भ किया। तब कांग्रेसका सदस्य बनकर उस समयके वातावरणमे कांग्रेसकी नीतिके अनुसार प्रवृत्तियाँ करता रहा और सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलनमे कूद पडा। और जब महात्मा गाधी सहित कांग्रेस कार्यकारिणीके सभी सदस्य गिरफ्तार कर लिए गये, तब आन्दोलनसे सम्पूर्ण देश अछूता न रह सका। बीनाके गाधी माने जानेवाले श्री नन्दकिशोर मेहता सर्वप्रथम गिरफ्तार कर लिए गये। उसके पश्चात् मेरी गिरफ्तारी हो गयी और मुझे सागर (म० प्र०) जेलमे भेज दिया गया।

को० सागर (म० प्र०) जेलमें आप कब तक रहे और अन्य जेलोंमे कहाँ-कहाँ रहे ? उनके कुछ अनुभव भी बताईये ?

व्या० : सागर जेलमें करीब आठ दिन रहा और उसके बाद मुझे कई आन्दोलनकारियोंके साथ नागपुर सेंट्रल जेलमे भेज दिया गया। उस समय पं० रविशंकर शुक्ल और पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र जैसे अनेक मध्यप्रान्तीय नेता भी उसी जेलमें थे। जेलका वातावरण बहुत अच्छा था। समय भी अच्छी तरह बीत रहा था। और भी आन्दोलनकारी उस जेलमे आते रहे। सभीको डिटेंशनमें रखा गया। धीरे-धीरे केस चलनेकी प्रक्रिया चालू हुई। मुझे भी केस चलानेके इरादेसे करीब साढ़े छह मास बाद सागर जेलमें प्रत्यावर्तन (वापिसी) कर दिया गया। मजिस्ट्रेटने मुझे तीन माह कैदकी सजा दी। तब जेल अधिकारियोंने अनेक व्यक्तियोंके साथ अमरावती जेलमें भेज दिया। वहाँ मासूम अली जेलका सुपरिन्टेन्डेन्ट था, जो बहुत क्रूर था। उसने सागरके पं० ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी व पद्मनाभ तेलंगको गुनाहखानेमें पहले ही भेज दिया था।

जिस दिन हम लोग अमरावती जेलमे पहुँचे, उस दिन शनिवार था। दूसरे दिन रविवार-की छुट्टी थी। हम सभी व्यक्ति श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्नाभ तैलंगके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करनेके लिए एक साथ बैठे तथा अपना भविष्यका कार्यक्रम निर्धारित करनेकी बात हम लोगोंने सोची। सब लोगाने एक स्वरसे पं० ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्मनाभ तेलंगको गुनाह-खाने भेजनेके विरोधमे कार्यक्रम निर्धारित करनेका निर्णय किया। यह तो ठीक था, पर मैंने सबके सामने यह बात रखी कि सभीको व्यक्तिगत हैसियतसे भी विरोध करनेके लिए तैयार रहना चाहिए, तो सभी पीछे हट गये।

सोमवारके प्रातः जिस समय सुपरिन्टेन्डेन्ट आनेवाला था, उसके पहले मुझे और श्री हर्षचन्द मारौठी दमोहवालोंको छोडकर सभी सुपरि० के कार्यक्रममें सम्मिलित होनेके लिए बैरकसे बाहर आ गये और उसके आदेशका पालन करने लगे। इसके पश्चात् जेलरके साथ सुपरि० बैरकमें आया और मुझसे कहा कि 'कार्यक्रममें क्यों सम्मिलित नही हुए, क्या तुम्हें गुनाहखानेमे जाना है ?' मैंने उत्तर दिया कि मै श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्मनाभ तैलंगको गुनाहखानेमें भेजनेका विरोध करता हूँ। तब उसने जेलरसे कहा कि इन्हे गुनाहखानेमे भेज दो। फिर मारौठीजीके पास वह पहुँचा और कहा कि तुम भी गुनाहखानेमे जाना चाहते हो। उन्होंने उत्तर दिया कि जहाँ चाहो वहाँ भेज दो। मैं भी ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्मनाभ तेलगको गुनाहखानेमे भेजनेका विरोध करता हूँ।' इस तरह हम दोनोंको गुनाहखानेमें भेज दिया गया और आगे चलकर हमारी 'बी' क्लासकी सभी सुविधाये छीनकर 'सी' क्लाममे परिवर्तित कर दी गई। तीन माह कैदकी सजा पूरी होनेपर जेलके नियमोको तोडनेके आधारपर जेलके अन्दर ही मजिस्ट्रेटको बुलाकर केस चलाया। हमने जमानतपर छूटनेकी दरख्वास्त दी, जिसे मजिस्ट्रेटने अस्वीकार कर दिया। तब हम दोनोने अमरावतीमे रह रहे अपनी सम्बन्धियोके पास सदेश भिजवाया कि जमानतके लिए सेशन कोर्टमे जमानत स्वीकृत करनेके लिए दरख्वास्त देनेकी व्यवस्था करो। हम लोगोकी जमानत स्वीकार कर ली गयी और हमारे भतीजे प० बालचन्द्र शास्त्री, अमरावतीके प्रतिष्ठित सिंघई पन्नालालजी रईस-को, जो जमानतदार थे, साथ लेकर जेल आये। साथमें मारौठीके जमानतदार भी थे। इन सबको जेलके फाटकपर चार-पाँच घण्टे इन्तजार करना पडा, तब कही शामको ५ बजे हम लोगोंको जमा-नतपर छोडा गया। जेलसे बाहर आनेपर केस आगे बढा। उसमे हमलोगोके वकीलने, जिनका नाम मैं भूल रहा हूँ, बिना फीस लिए केस लडा। परिणाम यह हुआ कि अदालतने हम दोनोंको निर्दोष घोषित कर छोड दिया।

को० · स्वतन्त्रतासे सम्बन्धित और उसके बाद उत्पन्न परिस्थितियोंके सम्बन्धमे आपके क्या विचार है ?

व्या० स्वतन्त्रता आन्दोलनमे यद्यपि देशवासियोने निःस्वार्थभावसे भी भाग लिया था, परन्तु उस समय काग्रेसके जो चुनाव होते थे, उनमे काग्रेसीजन प्राय अनैतिक हथकण्डे अपनाकर सफलता प्राप्त कर लेते थे। ऐसी घटनाये हमेशा होती ही रहती थी। मैं ऐसी बातोंका विरोध भी करता था। पर काग्रेसके उच्च पदाधिकारी भी उसको उपेक्षित कर देते थे। ये बातें राजनैतिक नेताओके भावी आचरणोंका संकेत थी।

ऐसी ही एक घटना मेरे साथ हुई थी। बीनाकी नगर काग्रेस कमेटीके सदस्योंने सर्व-सम्मतिसे मध्यप्रान्तीय काग्रेस कमेटीकी सदस्यताके लिए मेरे न चाहते हुए भी मुझे उम्मीदवार

घोषित किया था। पर जिला काग्रेस कमेटीके पदाधिकारियोंके कहनेपर एक अन्य व्यक्ति उम्मीदवार बन गया था, जिसके कारण मतदान हुआ और उसमें अनुचित तरीके भी अपनाये गये। हालाकि मै सफल हुआ, क्योंकि मेरे पक्षमे श्री नन्दकिशोरजी मेहताने बडी मेहनत की थी।

आज देशका जो राजनैतिक गंदा वातावरण चल रहा है, उसका कारण यही है कि लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए देशकल्याणकी उपेक्षा कर रहे है। जो शासन पार्टी है वह अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए गलत तरीके अपना रही है और दूसरी राजनैतिक पार्टियाँ भी सत्ता पानेके लिए गलत तरीके अपनानेसे नही चूक रही है। इसे देशका दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। आज जो समूचा देश भ्रष्टाचारमे डूबा हुआ है वह इसीका परिणाम है।

को० : आपकी दृष्टिमे उसे दूर करनेका क्या कोई उपाय है ?

व्या० : स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर महात्मा गाँधाने काग्रेमी नेताओंको यह सुझाव दिया था कि कांग्रेसका राजनीतिक स्वरूप समाप्त कर दिया जाये। उसे केवल लोक-संस्था ही बनी रहने दिया जाये। परन्तु काग्रेसी नेताओने महात्माजीके उस सुझावको अस्वीकृत कर दिया था। यदि महात्माजीके सुझावको तत्कालीन काग्रेसी नेता स्वीकार कर लेते, तो मुझे विश्वास है कि राजनीतिक पार्टियाँ और देश पतनकी ओर नही जाते। आज एक उपाय सम्भव है कि शासक पार्टी अपनेको सुधारे तो दूसरी राजनैतिक पार्टियाँ और देश सुधर सकता है। सुधार ऊपरसे ही हो सकता है, नीचेसे नही।

को० : क्या आपने सामाजिक, सास्कृतिक और धार्मिक गतिविधियोमें भी भाग लिया है और वे कौन-कौनसी है ?

व्या० : हाँ, लिया है। प्रथमत दस्सापूजाधिकारको ले लें। समाजमे यह प्रथा चालू रही है कि कोई व्यक्ति विधवा-विवाह कर ले, तो उसे जातिसे बहिष्कृत कर दिया जाता था और उसे धर्मसाधनके स्थान मन्दिरोमे प्रवेश नही करने दिया जाता था। ऐसे व्यक्तियोको दस्सा कहा जाता था और उनकी पीढी-दर-पीढी सन्तान भी दस्सा कही जाती थी। धीरे-धीरे इस प्रक्रियामें सुधार हुआ। पर ऐसे व्यक्तियोंको मन्दिरमे पूजा करनेका अधिकार फिर भी नही था। गुरु गोपालदास वरैयाने इस विषयमे चल रहे एक अदालती केसमे बहुत पहले दस्साओंके मन्दिर-प्रवेश और पूजाधिकारका दृढतासे अपनी गवाहीमे समर्थन किया था।

वर्तमानमे करीब सन् १९३८ मे, ग्राम बामौरा, जिला सागरमें एक व्यक्तिके विधवा-विवाह करनेपर मन्दिरके सब अधिकार वहाँकी समाजने उससे छीन लिए। लेकिन वह इसके विरुद्ध आवाज उठाता ही रहा। इसी सिलसिलेमे वह बीना आया और पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और मुझसे सम्पर्क स्थापित किया। उस समय प० फूलचन्द्रजी और मैं समानरूपसे सुधारवादी दृष्टिकोणके थे। इसलिए हम लोगोने एक "सन्मार्ग प्रचारिणी समिति" की स्थापना की। हालाकि दिगम्बर जैन परिषद् पहलेसे ही इसका आन्दोलन चला रही थी। पर हमलोगोंने उसे गति देनेके लिए इस समिति-की स्थापना की थी। समितिके द्वारा हमलोगोंने बामौराकी समाजको समझानेका प्रयत्न किया। परन्तु जब वहाँकी समाज उस व्यक्तिको पूजाधिकार देनेके लिए तैयार नही हुई, तो बाकायदा अदालतमे केस ले जानेका निर्णय किया। केस चला। परन्तु इस क्षेत्रकी जैन समाजका बल बामौराकी समाजको मिला और उस केसमे हमे सफलता नही मिली।

को० क्या दस्सापूजाधिकारका मामला फिर आगे नही बढ़ा ?

व्या० : बढ़ा है। इसी बीच कुरवाई ग्राममें परवार सभाका अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनमें पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने दस्सापूजाधिकारका प्रस्ताव विचारार्थ रखा। अधिवेशनके सभापति पण्डित देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री थे और महामन्त्री श्रीमन्त सेठ वृद्धिचन्दजी सिवनी थे। उन्होंने समाजके प्रतिरोधको देखकर उस प्रस्तावको अग्राह्य करनेके लिए एक समानान्तर प्रस्ताव तैयार किया, जिसे पण्डित फूलचन्द्रजी और पण्डित महेन्द्रकुमार-जी माननेके लिए तैयार नहीं थे। मैं भी उस अधिवेशनमें सम्मिलित हुआ था। पर परवार समाज का अंग न होनेके कारण मुझे बोलनेका अधिकार नहीं था। इसलिए अध्यक्षकी आसन्दीके पास जाकर उनसे मैंने वह प्रस्ताव मुझे दिखानेका आग्रह किया। उस प्रस्तावको मैंने गौरसे देखा और अध्यक्ष महोदयसे उसे पास करानेका आग्रह किया। साथ ही मैंने पं० फूलचन्द्रजी और पं० महेन्द्र-कुमारजीसे कहा कि अपने प्रस्तावको वापिस ले लो और जो समानान्तर प्रस्ताव तैयार किया गया है उसे पास होने दिया जाये। पं० फूलचन्द्रजी और पं० महेन्द्रकुमारजी मेरी बातको मान गये और वह समानान्तर प्रस्ताव पास हो गया। उसमे जो महत्त्वकी बात थी वह यह थी कि उस प्रस्तावमे दस्सापूजाधिकारके विषयमे उस-उस ग्रामकी पंचायतोंको यह अधिकार दिया गया था कि वे चाहें, तो दस्साओंको पूजा करनेका अधिकार दे सकती है। इसका यह अर्थ हुआ कि परवार सभाको दस्साओंका मन्दिरमें जाकर पूजा करनेका अधिकार मान्य है।

अब स्थिति यह है कि दस्सा लोग मन्दिरमे जाकर बेरोकटोक पूजा-प्रक्षाल करते हैं और दिगम्बर मुनियोको आहारदान भी देते हैं और अब तो बेटी-व्यवहार भी होने लगा है।

को० यह तो आपकी सामाजिक गतिविधि हुई, सास्कृतिक भी कोई आपकी गतिविधि है ?

व्या० सांस्कृतिक गतिविधिमें भी मैंने भाग लिया है। जब देवगढ तीर्थक्षेत्रपर श्री गनपतलालजी गुरहा खुरईकी ओरसे गजरथका आयोजन किया जा रहा था, तब सन्मार्ग-प्रचारिणी समितिने विरोध करनेका आंदोलन अपने हाथमें लिया। मैं समितिका मंत्री था और प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री उसके संयुक्त मंत्री थे। पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे गजरथ-विरोधी आन्दोलनका धीरे-धीरे प्रभाव समाजमे बढता गया, जिसे अनुभव कर दिगम्बर जैन परिषद आन्दोलनमे सामने आई। परिणामत. वह आदोलन परिषद्के अन्तर्गत चला गया, क्योंकि सन्मार्ग प्रचारिणी समिति उसके सिद्धान्तोको स्वीकार करती थी। पर परिषद्के एक प्रमुख कार्यकर्ताने समाचारपत्रोंमे यह घोषणा कर दी कि मैं और मेरी पत्नी प्रथम व्यक्ति होंगे; जो रथके सामने लेटकर सत्याग्रह करेंगे। इसका प्रभाव समाजपर प्रतिकूल पडा। फलत यह आन्दोलन स्थगित करना पडा।

इसके पूर्व एक गजरथका आयोजन बारचौन (ललितपुर) मे हुआ था। उसे रोकनेके लिए परवार समाजके प्रमुख पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, श्रीमन्त सेठ वृद्धिचन्द्रजी सिवनी और सिंघई कुंवरसेनजी सिवनी (म०प्र०), मडावरा (ललितपुर, उ०प्र०) गये थे। उन्होंने मडावरामे एक बैठक-की, जिसमें मडावराकी समाजके साथ बारचौनके गजरथकार श्री चन्द्रभानजी भी सम्मिलित हुए थे। उस बैठकमें अनुकूल निर्णय न हो सकनेके कारण परवार समाजके उक्त तीनो प्रतिनिधियोंने अनशन करनेकी घोषणा की और उस घोषणाका प्रभाव जब गजरथकारपर नही पड़ा, तो उन्होने गजथरकारके सामने यह प्रस्ताव रखा कि गजरथ तो किया जाये, पर पंक्तिभोज बन्द करके उसमें व्यय होने वाले द्रव्यको देवगढ क्षेत्रके लिए दे दिया जाये। फिर क्या हुआ, मुझे नहीं मालूम। तात्पर्य यही है कि उस अवसरपर परवारसभा भी गजरथ विरोधकी हामी थी।

को० : केवलारी (सागर) के गजरथ-विरोधमें आपका क्या दृष्टिकोण रहा ?

व्या० : देवगढ़के गजरथके बाद केवलारी, जिला सागरमें भी गजरथका आयोजन हुआ था। और सन्मार्ग प्रचारिणी समितिने उसके विरोधमें भी आन्दोलन किया था तथा दमोह, टीकमगढ़ आदि नगरोंके गजरथ विरोधी व्यक्ति भी गजरथके अवसरपर केवलारीमें इकट्ठे हुए थे। वहाँपर यह निर्णय किया गया था कि अनशन द्वारा गजरथके विरोधमें आवाज बुलन्द की जाये। इस निर्णयके अनुसार कुछ व्यक्ति, जिनमें पं० फूलचंद्रजी शास्त्री प्रमुख थे, अनशनपर बैठे, जिसका प्रभाव यह हुआ कि पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री व पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री आदि परवार समाजके प्रमुख व्यक्तियोंने गजरथके विषयमें भविष्यके लिये नीति-निर्धारण करनेकी बात सोची और सम्मेलन भी आयोजित किया। उसमें गजरथविरोधी व्यक्ति भी सम्मिलित हुए। उस सम्मेलनमें एक प्रस्ताव पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने प्रस्तुत किया, जिसे गजरथविरोधियोंकी तरफसे स्वीकार करनेकी बात मैंने कही। पर प० जगन्मोहनलालजीने स्वयं एक संशोधन उपस्थित कर दिया। उसको भी जब मैंने स्वीकार किया, तो उसपर भी एक संशोधन उन्होंने रखा। इस तरह कई संशोधन एक-के-बाद-एक वे रखते गये और सभीको गजरथविरोधी स्वीकार करते गये; क्योंकि वे गजरथविरोधी भावनाके अनुकूल थे। अन्तमें सम्मेलनमें तय हुआ कि सन्मार्ग प्रचारिणी समितिका कोई पदाधिकारी कारंजा पहुँचकर पं० देवकीनन्दनजी सि० शा० के साथ विचार-विनिमय करे और योग्यतम निर्णय करनेमें पं० देवकीनन्दनजीको सहयोग दे। मैं इसी उद्देश्यसे कारंजा गया। परन्तु पं० देवकीनन्दनजीने निर्णय करनेमें उत्सुकता नहीं दिखलाई। उसका परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर गजरथ निराबाध चलने लगे, जो अबतक चल रहे हैं।

यहाँ मैं एक बात और कहना चाहता हूँ कि केवलारी सम्मेलनमें तो संशोधन एक-के-बाद-एक रखे गये, उस सम्बन्धमें मैंने दूसरे दिन प० जगन्मोहनलालजीसे कहा कि आपका प्रस्ताव और उसके प्रत्येक संशोधन गजरथविरोधियोंने मान्य कर लिए, फिर क्यों आपने संशोधनों सहित प्रस्ताव पारित नहीं कराया और क्यों नये-नये संशोधन प्रस्तुत किये ? उन्होंने जवाब दिया कि परवारसभाके कुरवाई अधिवेशनमें दस्सापूजाधिकारके सम्बन्धमें जो प्रस्ताव पास किया था, उसे जब पं० फूलचन्द्रजी और पं० महेन्द्रकुमारजीने स्वीकार कर लिया, तो हम लोगोंको शंका हुई कि प्रस्तावमें कोई-न-कोई खामी अवश्य है। वही शंका गजरथके विषयमें रखे गये प्रस्ताव और संशोधनोंको गजरथ-विरोधियों द्वारा स्वीकार कर लिए जानेपर हम लोगोंको हुई, जिससे गजरथके विषयमें नीति-निर्धारणकी बात आगेके लिए टाल दी गयी है। आगे जो कुछ हुआ, वह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है।

को० आपने संस्थाओंकी भी सेवा और संचालन किया है, उनके विषयमें आपके कैसे अनुभव है ?

व्या० . बीना (सागर) में, जहाँ मैं रहता हूँ, जैन समाजकी एक सामाजिक संस्था है, जो बहुत पुरानी है। वह संस्था सांस्कृतिक एवं धार्मिक व्यवस्थाके साथ सामाजिक व्यवस्था भी करती है। उसका मैं सन् १९३८ से १९४० तक सहायक मंत्री रहा। उसके पश्चात् सन् ४१ से ४३ तक मंत्री रहा। सन् ४४ में संस्थाके अध्यक्षकी नीतिसे क्षुब्ध होकर कई पदाधिकारियोंके साथ मैंने मंत्री पदसे त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद सन् ५३ में इच्छा न रहते हुए सदस्योंके आग्रहपर संस्थाका मंत्रित्व पुनः सम्हालना पड़ा। फलतः सन् ६८ तक मैं उसका मंत्री रहा। और अशक्तिवश मंत्रित्व छोड़ देनेपर तीन वर्ष तक उसका उपाध्यक्ष रहा।

ज्ञातव्य है कि सन् ५३ में संस्थाका जो चुनाव हुआ, उसमें गोलालारीय समाजका योग्यतम व्यक्ति अध्यक्ष चुना गया और गोलापूर्व होते हुए भी मुझे मंत्री चुना। इसपर खुरई (सागर) की परवार समाजने बीनाकी परवार समाजके प्रति कहा कि बीनामे परवार समाजका बाहुल्य होनेपर भी गोलालारीय समाजके व्यक्तिको अध्यक्ष ओर गोलापूर्व समाजके व्यक्तिको मंत्री निर्वाचित करना बीनाकी परवार समाजकी अयोग्यता सूचित करता है। पर इसका कुछ भी प्रभाव बीनाकी समग्र समाजपर नहीं पडा और सन् ७१ तक यहाँकी समाजका ऐसा ही दृष्टिकोण बना रहा।

किन्तु सन् ७१ मे सस्थाका जो चुनाव हुआ, तो परवार समाजके कुछ प्रमुख व्यक्तियो द्वारा तीनो समाजोमे भेदकी नीति अपनाई गई। इससे मुझे ग्लानि हुई और मैंने सस्थासे ही त्यागपत्र दे दिया। खेद यही है कि हम छोटे-छोटे भेदोमें उलझ जाते है और सम्पूर्ण समाजके ऐक्यके उदार दृष्टिकोणको त्याग देते हैं। यह हमारो संकुचितताका ही दोष है।

को० : क्या आप अन्य सस्थाओसे भी संबद्ध रहे है ?

व्या० हाँ, मैं कई अन्य सस्थाओमे भी सबद्ध रहा हूँ। उनमे मुख्यरूपसे दो सस्थायें है—(१) श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला ओर (२) *अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्*। वर्णी जैन ग्रन्थमालाके स्थापनाकालसे ही मैं उसका मत्री रहा और पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री उसके सहायक मंत्री रहे। पर बादमे उनसे मतभेद हो जानेके कारण मैंने संस्थाके मत्री पदसे त्यागपत्र दे दिया। पं० फूलचन्द्रजीके सुझावके अनुसार ग्रन्थमालाको प० पन्नालालजी साहित्याचार्यके व्यवस्थापकत्वमे सागर भेज दिया गया। पर कुछ कारणोंसे उन्होंने उसे पुन वाराणसी वापिस बुला लिया। इसके पश्चात् डॉ० दरबारीलाल कोठियाको उसका मंत्री बनाया गया। डॉ० कोठियाने उसे काफी समुन्नत बनाया। परन्तु ऐसी परिस्थितियोका निर्माण हुआ कि उन्हें भी ग्रन्थमालाके मंत्रित्वसे त्यागपत्र देना पडा।

दूसरी संस्था भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का भी मै कई वर्षतक मंत्री रहा और सन् १९६५ मे हुए सिवनी अधिवेशनका अध्यक्ष चुना गया। श्रावस्तीमे हुए उसके नैमित्तिक अधिवेशनका भी अध्यक्ष मैं ही रहा। मुझे प्रसन्नता है कि मेरे अध्यक्षकालमे गुरु गोपालदास शताब्दि-समारोह विद्वत्परिषद्ने साहू शान्तिप्रसादजी जैनकी अध्यक्षतामे दिल्लीमे मनाया और गुरु गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रन्थका प्रकाशन भी इस अवसरपर उसने किया। विद्वत्परिषद्के ये दोनो कार्य स्मरणीय रहेंगे।

को० आपकी स्फुट प्रवृत्तियाँ और भी रही होगी, उनके सम्बन्धमे कृपया दिशा-निर्देश करें ?

व्या० . मेरी कुछ स्फुट प्रवृत्तियाँ भी रही। उदाहरणार्थ—जब प० फूलचन्द्रजी सि० शा० नाते-पोते (सोलापुर) मे कार्य कर रहे थे, तब वहाँकी समाजने **'शान्ति-सिन्धु'** नामसे एक मासिक पत्र निकालनेका निर्णय लिया। उसका सम्पादक पं० फूलचन्द्रजीका और उपसंपादक मुझे बनाया गया। सनातन जैन समाजकी ओरसे प्रकाशित होनेवाले 'सनातन जैन' मासिकपत्र का भी सम्पादक कई वर्षों तक रहा। यह पत्र बुलन्दशहरसे निकलता था और उसके प्रकाशक थे श्री मंगतराय 'साधु'।

को० : सोनगढ़ और उसकी विचारधाराके प्रति आपका क्या दृष्टिकोण है ? आज उसकी सर्वाधिक चर्चाका कारण क्या है ?

व्या० श्री कानजी स्वामीके आग्रहसे सोनगढमे सन् १९४७ मे अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन बुलाया गया था और अधिवेशनके अध्यक्ष पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री निर्वाचित हुए

थे। विद्वानोंको भी स्वामीजीके विचारोंसे परिचित होनेकी इच्छा थी। इसलिए अधिवेशनमें प्राय सभी सदस्य-विद्वान् पहुँचे थे। वहाँ पं० फूलचन्द्रजी बीमार पड गये। अत. उन्हे कुछ समय वहाँ रहना पडा। वहाँसे आनेके बाद उन्होंने 'जैन तत्त्वमीमासा' नामसे एक पुस्तक लिखी। उनकी इच्छानुसार उसका वाचन जैन समाज बीनाके आमन्त्रणपर बीनामे एक विद्वद्गोष्ठीमे किया गया। विद्वद्गोष्ठीमें समाजके अनेक प्रमुख विद्वान् सम्मिलित हुए थे। प० फूलचन्द्रजीकी उस पुस्तकपर विद्वानोंमें मतभेद फिर भी बना रहा।

उनकी उक्त पुस्तक प्रकाशित होनेपर कई विद्वानोने उसके विरोधमे पुस्तक व लेख लिखे। मैंने भी ''जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा'' नामक पुस्तक लिखी, जिसे पण्डित राजेन्द्र कुमारजी जैन, न्यायतीर्थ, मथुराने 'दिगम्बर जैन संस्कृति-सेवक समाज' के द्वारा वरैया ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्रकाशित किया। इसके पश्चात् मैंने दूसरी पुस्तक ''जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था'' के नामसे लिखी। उसका भी प्रकाशन पण्डित राजेन्द्रकुमारजीने उक्त संस्थाके द्वारा उक्त ग्रन्थमालाके अन्तर्गत किया। इसके पश्चात् ''जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार'' पुस्तक लिखी, जिसका प्रकाशन ''श्रीमती स्व० लक्ष्मीबाई (धर्मपत्नी पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य) पारमार्थिक फण्ड'' से हुआ। जिन विषयोंको पण्डित फूलचन्द्रजीने अपनी उक्त पुस्तकमें उलझानेका प्रयत्न किया है उन्हीका इन पुस्तकों द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है।

सोनगढने अपनी विचारधाराको केवल अध्यात्मपरक ऐकान्तिकरूपमे निरूपित किया, जो जैनदर्शनके अनुकूल नही है। उसीका नया संस्करण टोडरमल स्मारक भवन जयपुर है। दोनोने जैनदर्शनके तत्त्वोंको गलत रूपमें प्रस्तुत किया है और किया जा रहा है। उन्हीपर जयपुर (खानिया) मे विद्वानोकी परिचर्चाका आयोजन किया गया था। यह संगोष्ठी कई दिन तक चली थी। पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री और श्री नेमीचन्द्रजी पाटनी एक पक्षके प्रतिनिधि थे तथा न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्रजी, पण्डित मक्खन लालजी शास्त्री, पण्डित जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य और मैं (पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य) एक पक्षके प्रतिनिधि थे। ध्यातव्य है कि इस परिचर्चामे और भी बहुत विद्वान् सम्मिलित हुए थे। यद्यपि परिचर्चा वीतरागकथाके रूपमे आयोजित की थी, जिससे जैनागमका रहस्य खोला जा सके। किन्तु वह उससे हटकर विजिगीषुकथा बन गयी। इसलिए मुझे उस तत्त्वचर्चाकी समीक्षा करनेका संकल्प करना पडा। और उसके लिए ''जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा'' के नामसे पुस्तक लिखनेका निर्णय किया, जिसका प्रथम खण्ड ''श्रीमती लक्ष्मीबाई (ध० प० पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य) पारमार्थिक फण्ड'' बीनासे प्रकाशित किया गया। इस खण्डमे प्रश्नोत्तर एकसे चार तकको समीक्षा की गयी है। द्वितीय खण्डमें पाँचवे प्रश्नोत्तरकी समीक्षा जो लगभग तैयार है। पर अभी उसका प्रकाशन आर्थिक व्यवस्था न हो सकनेके कारण नही हो सका। इन दो खण्डोंके अतिरिक्त दो खण्ड और होंगे। तीसरे खण्डमें छठे प्रश्नोत्तरोंसे लेकर आगेके कतिपय प्रश्नोत्तरोकी और चौथे खण्डमे शेष प्रश्नोत्तरोकी समीक्षा की जावेगी।

बात यह है कि सोनगढ और उसका पूर्णतया अनुयायी टोडरमल स्मारक भवन, जयपुरने दिगम्बर जैनधर्मके तत्त्वोंका ऐकान्तिक प्रचार एवं प्रसार किया और कर रहे है। इसी कारण दिगम्बर जैन समाजमें उनकी सर्वाधिक चर्चा है, क्योकि समाजमे उन्होंने टूट पैदा कर दी है और जिसे रोकना जरूरी है।

व्याकरणाचार्यजी, हम आपके अत्यन्त आभारी है। आपने हमारे प्रश्नोंके जो समाधान किये है उनसे हमें ही नही, अपितु सहस्रों पाठकोंको भी लाभ होगा और उन्हें कितनी ही नयी जानकारी मिलेगी।

●

विशाल व्यक्तित्वके धनी

● डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

जैन समाजके वरिष्ठ विद्वान् पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य ख्याति-प्राप्त मनीषी है। वे प्रथम व्याकरणाचार्य हैं। जैनागमके अच्छे व्याख्याता ही नही, किन्तु लेखनीके धनी भी है। जैन सिद्धान्त एवं तत्त्वचर्चापर उनके लेख जैन पत्रोंमें प्राय प्रकाशित होते रहते हैं। वे बडे गम्भीर विद्वान् है। जब कभी समाजमें किसी सैद्धान्तिक पक्षको लेकर चर्चा छिड जाती है अथवा किसी मान्यताको लेकर विवाद खडा हो जाता है तो पंडितजी चुप नहीं रहते और पूर्ण निर्भिकताके साथ अपने विचार समाजके सामने रख देते है। उनके विचार आगमके अनुसार होते हैं। उनमें नीर-क्षीरका विवेक देखा जा सकता है।

पंडितजीने सन् १९६३ में सर्वप्रथम जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चामें सोनगढपक्षके विरुद्ध प्रमुख प्रवक्ता-के रूपमें उपस्थित होकर अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभाकी धाक सारे समाजमे बिठा दी थी। पंडितजीने इस तत्त्वचर्चामें उस समय अपना पक्ष प्रस्तुत किया, जब सोनगढ़का सूर्य अपने पूर्ण क्षितिजपर था। इसके पश्चात् उनकी कलम कभी नही थकी और निश्चयनय और व्यवहारनय जैसे बहुचर्चित विषयपर एक कृति लिखकर समाजको वस्तुका सही मूल्यांकन करनेमे महान् योगदान दिया।

अभी कुछ महीनों पूर्व जब आदरणीय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने कुण्डलपुरमे विद्वत् परिषद्के नैमित्तिक अधिवेशनपर पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यको अभिनन्दनग्रंथ भेंट करनेकी चर्चा चलाई, तो मैंने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए डॉ० कोठिया साहबसे इस शुभ कार्यको शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न करने तथा अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करनेका प्रस्ताव भी उनके समक्ष रख दिया। इसके १-२ महीनोंके पश्चात् ही श्री बाबूलालजी फागुल्ल, वाराणसीका अभिनंदनग्रंथकी पूर्ण योजनावाला पत्र मिला। इसके पश्चात् अभिनंदन-ग्रंथकी पूरी योजनाके सबंधमें डॉ० कोठिया साहबसे श्रीमहावीरजी जाकर भी चर्चा की। अभिनंदनग्रंथके संबंधमे डॉ० कोठियाजी एवं फागुल्लजीके बराबर पत्र मिलते रहे। जब उन्होने मुझे पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके व्यक्तित्व एवं जीवनपर एक विस्तृत लेख लिखनेके लिये लिखा, तो मैंने निश्चय किया कि मुझे पंडितजीके व्यक्तित्वकी पूरी जानकारी लेनेके लिये स्वयं बीना जाना चाहिये।

आखिर मैं दि० ११ अगस्त, ८९ को प्रात ९ बजे बीना पहुँचा। स्टेशनसे रिक्शा स्टैण्ड तक आया। जब मैंने रिक्शा वालोंसे पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके घरपर चलनेको कहा, तो रिक्शा वालोने पंडितजीका नाम सुनते ही मुझे रिक्शामे बैठनेको कहा और २०-२५ मिनटमें ही मुझे उनकी दुकानपर लाकर छोड दिया। दुकानपर देखा पंडितजी एवं उनके पास दो युवक (उनके सुपुत्र प्रिय विभवकुमार एवं प्रिय विनीतकुमार) बैठे हुए हैं। मैंने अपना नाम बताया। पंडितजीको पहिचाननेमे न मुझे देर लगी और न उनको। उनसे मिलनेमें बडी प्रसन्नता हुई। ट्रेनके लेट आने एवं मार्गमें होने वाली असुविधाओंके बारेमें बात होने लगी। थोडी ही देरमें डॉ० कोठिया साहब भी आ गये और फिर हम सभी बातोंमें डूब गये।

घर आनेपर पंडितजीको समीपसे देखनेका प्रथम अवसर मिला। प्रात. ३ बजेसे रात्रिके १० बजे तक उनकी दिनचर्या देखी। पंडितजी ८४ पार कर चुके हैं। लेकिन उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। घरमे उनका अलग ही कमरा है, जिसमे वे लेखनकार्य एवं स्वाध्याय करते हैं। पास ही पुस्तकोंका ढेर लगा है, जिनको वे कन्सल्ट करते रहते हैं। आज भी वे शास्त्रीय चर्चामें उतने ही जागरूक हैं जितने कभी अपनी युवावस्थामें रहे हैं। कमरेमें पुस्तकोंके अतिरिक्त कुछ प्रशस्तिपत्र, जो उन्हें समय-समय पर राष्ट्र और समाज द्वारा मिलते

रहे हैं, आचार्योंसे चित्र, जिनसे उन्हें प्रेरणा मिलती रहती है, उनका एवं उनकी पत्नीका अलग-अलग बडा चित्र भी कमरेमे लगा हुआ है, जो संभवत युवावस्थाका है। उनकी पत्नीका कुछ वर्षों पूर्व स्वर्गवास हो चुका है। अपने स्वाध्याय एवं लेखनके अतिरिक्त बिना नागा प्रात ८ बजे मन्दिर जी जाते तथा प्रवचन करते हैं और वहाँसे आकर दुकानमे बैठ जाते है। पर पुत्रोंको परामर्शके सिवाय पंडितजी कुछ नही करते। दुकान दोनों पुत्र सभालते हैं। पुत्र सुयोग्य और विनम्र है।

दो दिन ठहरनेके पश्चात् मैंने उनसे कहा कि मुझे आपके बारेमे कुछ जानकारी प्राप्त करनी है। यदि आपकी स्वीकृति हो, तो आज ही कुछ देर बैठ जावें। पडितजीने पहले तो कहा कि उनके पास अपने बारेमे कहनेको क्या है, क्योंकि जीवनमे ऐसा कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया, जिसकी आपसे चर्चा कर सकूं।

मैने पंडितजीसे पुन. निवेदन किया कि आपका जीवन तो समाजकी थाती (धरोहर) है। समाजको गर्व है कि उन जैसा व्यक्तित्व उसे मिला हुआ है, इसलिये उनके जीवनकी घटनाओसे वर्तमान पीढी ही नही, आगे आनेवाली पीढीको भी प्रेरणा मिलती रहेगी। जब मैंने उनसे पुन अपने खट्टे-मीठे संस्मरण सुनानेके लिये कहा, तो पंडितजीने कहा कि 'ठीक है, जब आप कुछ प्रश्न पूछना ही चाहते हैं तो फिर मुझे प्रश्नोका उत्तर देनेमे क्या आपत्ति हो सकती है ?

प्रश्न—आपका जन्म कब और कहाँ हुआ ?

उत्तर—पंडितजीने प्रश्नका उत्तर देते हुये कहा कि उनका जन्म सोंरई (ललितपुर) ग्राममे संवत् १९६२ मे हुआ था।

प्रश्न—मैंने सुना है आपके पिताश्रीका निधन बहुत जल्दी हो गया ?

उत्तर—पंडितजीने चिन्तनमे डूबते हुये कहा कि डॉ० साहब, मेरे पिताजीका साया, जब मैं केवल तीन महीनेका शिशु था, तभी उठ गया था।

प्रश्न—उस समय घरमे कौन-कौन थे ?

उत्तर—मेरी माँ, मेरे बडे भाई छतारेलालजी एवं एकमात्र बहिन थी।

प्रश्न—घरमे फिर कमाने वाला कौन बचा ?

उत्तर—घरमे कोई कमानेवाला नही था। मेरी माँने ही जैसे-तैसे (छोटी दुकान) करके मुझे, बडे भाई व बड़ी बहनको पाला-पोषा।

प्रश्न—सुना है आपकी माँ भी आपको बाल्यावस्थामे ही छोडकर स्वर्ग सिधार गई ?

उत्तर—पंडितजीको अपने बाल्यकालकी याद आ गई और बडे दुःखके साथ कहने लगे कि जब मैं केवल ११ वर्षका था, तभी माँ गुजर गई। यही नही, माँके चार दिन पहले ही बडा भाई गुजर गया। बहनकी पहले ही शादी हो चुकी थी। डॉ० साहब, मेरा बाल्यकाल बडा संकटग्रस्त रहा। पहले तो घरमे कोई कमाने वाला था ही नही, लेकिन माँ एवं बडे भाईके मरनेके पश्चात् मैं एकदम अनाथ हो गया।

प्रश्न—उस समय आप स्कूल तो जाते ही होंगे ?

उत्तर—वहाँ स्कूल जाता था। चौथी कक्षा पास करके स्कूल जाना छोड दिया। गाँवमे चार कक्षा तक ही स्कूल था। बाहर जाकर पढ़नेका तो प्रश्न ही नही था।

प्रश्न—माँके मरनेके पश्चात आपका जीवन कैसे गुजरा ?

उत्तर—डॉ० साहब, जीवनका क्या गुजरना था, पहले डेढ़ वर्ष तक मामाके यहाँ रहा और फिर सागर चला गया।

प्रश्न—आप वाराणसी ऐसी अवस्थामें कैसे चले गये ?

उत्तर—सागरमें एक दिन बड़े पण्डितजी गणेशप्रसादजी वर्णीके दर्शन हो गये। उस समय मैं कोई १४ वर्षका होऊँगा। पता नहीं, क्या देखकर वे मुझे अपने साथ वाराणसी ले गये और वहीं स्याद्वाद महाविद्यालयमें भर्ती करा दिया।

प्रश्न—बनारसमें कितने वर्ष तक पढ़ते रहे ?

उत्तर—वर्णीजीके कहनेसे मुझे प्रवेशिकामें भर्ती कर लिया। वाराणसीमें ११ वर्ष तक अध्ययन किया। व्याकरणाचार्य वहींसे पास किया। हमारे जमानेमें धर्मशास्त्रका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० फूलचन्द्रजी हमसे सीनियर थे और वे ही हमें कभी-कभी धर्मशास्त्र पढ़ा दिया करते थे।

प्रश्न—विद्यालयकी कोई घटना याद हो, तो बतलाइये ?

उत्तर—एक दिन पं० फूलचन्द्रजीका झगड़ा किसी छात्रसे हो गया। अपने साथ अभद्र व्यवहारको देखकर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। उस समय मैं बीना आया हुआ था। जब मैं वापिस वाराणसी गया तो मैंने फूलचन्द्रजीसे त्यागपत्र नहीं देनेके लिये कहा। मेरी और फूलचन्द्रजीसे घनिष्ठता थी। जब कैलाशचन्द्रजी कक्षामें पढ़ाने आये, तो हमने उनका विरोध किया और फूलचन्द्रजीका पक्ष लिया।

प्रश्न—आपके अध्ययनकालमें विद्यालय कैसे चलता था ?

उत्तर—हमारे जमानेमें विद्यालयमें करीब ४० छात्र थे, जो विभिन्न कक्षाओंमें पढ़ते थे। सभी बोर्डिंगमें रहते थे तथा विद्यालयका अच्छा वातावरण था और उसकी प्रतिष्ठा भी काफी अच्छी थी। उस समय श्री सुमतिचन्द्रजी विद्यालयके मंत्री थे। वे संस्थाकी अच्छी तरह देख-भाल करते थे। सभी छात्रोंमें सामंजस्य था।

प्रश्न—आपने खानिया तत्त्वचर्चामें क्यों भाग लिया ?

उत्तर—पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीकी 'जैन तत्त्वमीमांसा' पुस्तककी समाजमें बड़ी चर्चा रहती थी। उसका हमने बीनामें आठ दिनतक वाचन भी कराया। वाचनामें पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० जगमोहनलालजी पं० लालबहादुरजीने तथा मैंने भाग लिया। विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी मीटिंग भी वहाँ थी। विद्वत् परिषद्की ओरसे पुस्तकपर विचार करनेके लिये एक सम्मेलन बुलाया था। अन्तमें वाचनामें पं० फूलचन्द्रजीके प्रयासकी तो सराहना की गयी। किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंका विरोध भी किया गया।

प्रश्न—मैंने सुना है कि आपने 'जैन तत्त्वमीमांसाकी मीमांसा' भी लिखी थी ?

उत्तर—आप जो कह रहे हैं वह सही है। मैंने बीना-वाचनाके पश्चात् 'जैन तत्त्वमीमांसाकी मीमांसा' पुस्तक लिखी थी, जिसकी बादमें काफी चर्चा रही।

प्रश्न—'जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा' के इतिहासके बारेमें भी कुछ प्रकाश डालें ?

उत्तर—डा० साहब, यह एक लम्बी कहानी है। खानियाँ तत्त्वचर्चा अक्टूबर सन् १९६३ में हुई थी। इसके पूर्व मैंने कितने ही लेख लिखे थे, जिनमें जैन तत्त्वमीमांसाकी आलोचना की गई थी। मेरे प्रायः सभी लेख 'जैन गजट' में प्रकाशित हुये थे। लेकिन कुछ समय बाद जैन गजटने लेख प्रकाशित करना बन्द

कर दिया। तब मैंने पं० फूलचन्द्रजीको एक स्थानपर बैठकर तत्त्वचर्चाकी योजना बनानेके लिये बीनामें बुलाया और वे आ भी गये। हम दोनोंने मिलकर तत्त्वचर्चाको योजना बनाई, जिसे अखबारोंमें प्रकाशनके लिये भेज दिया गया।

प्रश्न—तत्त्वचर्चाके लिये आपने जयपुर ही क्यों चुना ?

उत्तर—पहले तो मैंने पं० फूलचन्द्रजीसे कहा कि तत्त्वचर्चा आप जहाँ अपना गढ़ समझें वही चर्चा की जा सकती है। लेकिन जब देखा कि जयपुर (खानियाँ) में आचार्य शिवसागरजी महाराजका चातुर्मास हो रहा है तो वही स्थान उपयुक्त समझा गया। सेठ हीरालालजी पाटनी निवाईवाले तत्त्वचर्चा-आयोजनका पूरा व्यय उठानेको तैयार हो गये तथा ब्र० लाडमलजीने सभी विद्वानोंको हमसे बिना पूछे ही निमंत्रण भेज दिये। इसके पश्चात् पहले तो तत्त्वचर्चामें पं० फूलचन्द्रजीने आनेसे मना कर दिया। इसलिये विद्वानोंको भी आनेसे मना कर दिया गया। लेकिन जब वे अक्टूबरमे जयपुर पहुँच गये तो विद्वानोंको पुनः तार देकर बुलाया गया। हम भी वहाँ पहुँच गये। हम लोगोंके पहुँचनेके पूर्व ही तत्त्वचर्चाके नियम भी तय कर लिये गये थे।

प्रश्न—तत्त्वचर्चाका प्रमुख मुद्दा क्या था ?

उत्तर—सोनगढ विचारधारासे हम लोग सहमत नही थे, इसलिये उनकी विचारधारा ही तत्त्वचर्चा का मुख्य मुद्दा बन गया। यह चर्चा कई दिन तक चली।

प्रश्न—जरा, इसपर विस्तारसे प्रकाश डालिये ?

उत्तर—तत्त्वचर्चाके तीन दौर चले। हमने शंका रखी, जिसका दूसरे पक्षने जवाब दिया। उस उत्तर पर फिर हमने शंका प्रस्तुत की, उसका भी उत्तरपक्षने तत्काल उत्तर दे दिया। फिर चर्चाका तीसरा दौर चला और उसकी वही स्थिति रही। लेकिन किसी विद्वानको संतुष्टि नही हुई, क्योंकि चर्चा चलते कोई १० दिन हो गये और इसलिये सभी थक-से गये। इसके बाद हम सब विद्वान् दिल्ली चले गये और वहाँ भी सोनगढ पक्षके उत्तरको हमने समीक्षा की, जिसका उत्तर भी मिला। इसके बाद तो चर्चा ही बन्द हो गई। फिर सोनगढकी ओरसे खानिया तत्त्वचर्चाका प्रकाशन किया गया, जिसको दोनों पक्षोको ओरसे छापना था।

प्रश्न—मैंने तो उस समय सुना था कि खानिया तत्त्वचर्चामें आपका पक्ष हार गया ?

उत्तर—यह तो सोनगढपक्षकी ओरसे फैलाई गई निराधार एवं भ्रामक अफवाह थी। सोनगढपक्षने तो कभी कोई प्रश्न नही रखा। ऐसी कोई सोनगढ़पक्षकी शंका नही थी, जिसका हमने उत्तर नही दिया, लेकिन अब प्रश्न व उत्तरसे अथवा तत्त्वचर्चासे क्या फायदा ? चर्चामें कभी कोई पक्ष अपनी हार नही मानता।

प्रश्न—इसके पश्चात् आपने सोनगढ़-विचारधाराका प्रभाव कम करनेके लिये और क्या किया ?

उत्तर—मैंने सोनगढ़की विचारधाराको गलत सिद्ध करनेके लिये बहुत-सी पुस्तकें लिखी। इनमें (१) खानिया तत्त्वचर्चाको समीक्षा और उसमें सहायक (२) जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा, (३) जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारक-व्यवस्था तथा (४) जैन शासनमे निश्चय और व्यवहार नय (५) 'पर्यायें क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी' के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन पुस्तकोंके अतिरिक्त कितने ही लेख लिखे और वर्तमानमे भी लिखनेके प्रयत्नमें हूँ। समाजसे

अब आशाके अनुसार आर्थिक सहयोग नही मिला,तो २००००/–रु० का १९७४-७५ मे एक पारमार्थिक-ट्रस्ट स्थापित किया, जिसके द्वारा 'जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा एव जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार नय' पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी है। लेकिन उक्त साहित्यकी उचितरूपमे बिक्री न होनेके कारण आर्थिक कमी अभी बनी हुई है।

प्रश्न—वर्तमानमे सोनगढके प्रभावके बारेमे आपके क्या विचार है ?

उत्तर—वर्तमानमे तो अधिकाश व्यक्ति सोनगढका नाम लेनेसे भी कतराते हैं। सोनगढी होना अच्छा नही माना जाता है। इसलिये मेरी दृष्टिसे समाजमे सोनगढ़के प्रभावमे कमी तो अवश्य आई है, पर यह नही कहा जा सकता कि उस कमीका मुख्य कारण क्या है। मेरे साहित्यका जितना एवं जैसा प्रचार होना चाहिये था वैसा नही हो रहा है।

प्रश्न—वर्तमानमें जैन समाजकी स्थितिके बारेमें आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—जैन समाज अभी तक द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोगके महत्त्वको नही समझ पा रहा है इसलिये जो सामाजिक वातावरण बना हुआ है वह धार्मिक दृष्टिसे और व्यावहारिक दृष्टिसे अच्छा नही है।

प्रश्न—युवकोमें धार्मिक जागृतिके सम्बन्धमे क्या आप कुछ कहना चाहेंगे ?

उत्तर—संस्कृतिके महत्वको जबतक हमारे युवकगण नही समझेगे तबतक युवकोमे धर्मके प्रति रुचि जागृत होना कठिन है। जब पूरा समाज ही धर्मके प्रति जागरूक नही है तब युवकोसे क्या आशा की जा सकती है।

प्रश्न—आजकल समाजमे जो विस्फोटक स्थिति बन गई है उसके निराकरणके क्या उपाय है ?

उत्तर—विस्फोटक स्थिति होना कोई नई बात नही है। समाजमे तो ऐसी स्थिति बनती ही रही है। ऐसा कौन-सा युग था, जिसमे पूरे समाजमे शान्ति रही हो। इसलिये यह तो ऐसा ही चलता रहेगा, इससे चिन्तित होने जैसी कोई बात नही है।

समय काफी हो गया था तथा पण्डितजी साहब भी कुछ थक-से गये थे, इसलिये आगे मैंने प्रश्न पूछना उचित नही समझा। लेकिन पण्डितजीकी हाजिर जबाबी तथा स्मरणशक्तिको देखकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई। पण्डितजीका व्यक्तित्व एव लोकप्रियता जैन समाजमे कैसी है, क्योकि विद्वानका अपने घरमे कम सत्कार होता है और वह बाहर अधिक सम्मान पाता है। इसलिये मैं बीना समाजके वृद्ध एवं क्रान्तिकारी व्यक्तियों के भी पण्डितजीके प्रति विचार जाननेके लिये उनसे मिलने चल दिया। डॉ० कोठिया साहब एवं डॉ० भागेन्दु जी भी मेरे साथ हो लिये। और मुझे समाजसे मिलानेमें अत्यधिक सहृदयता दिखलाई।

पंडितजीके प्रति बीना समाजके प्रमुख व्यक्तियोंके उद्गार

सर्वप्रथम हमलोग शाह अमृतलालजी जैनसे मिले। शाह किरानाके व्यापारी है तथा आपकी दुकान पण्डितजीकी दुकानके पास ही है। उनकी आयु ६८ वर्षकी होगी। आपके विचार काफी विस्तृत हैं इसलिये उन्हे अलगसे प्रस्तुत ग्रन्थमे दिया गया है। वैसे शाह साहब पण्डितजीके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हैं और पण्डित जीके स्वभाव, व्यवहार, पाडित्य एव सामाजिकताके बडे प्रशसक है तथा पण्डितजी जैसे विशाल व्यक्तित्वको बीना नगर सहित समस्त मध्यप्रदेसकी धरोहर मानते है।

श्री नन्हेंलाल बुखारिया

इसके पश्चात हमलोग श्री नन्हेंलालजी बुखारियाके पास पहुँचे। बुखारियाजी पंडितजीसे आयुमें बड़े हैं। उनकी आयु ८७ वर्षकी है। अभी भी शरीरमें कडकपन है। लेकिन ज्यादातर वे घरमें ही रहते हैं। बुखारियाजी वर्षों तक समाजके अध्यक्ष रहे हैं। उनकी पत्नी श्रीमती रतनीबाई ८४ वर्षकी होंगी।

जब मैंने अपने आनेका कारण बताया तो कहने लगे पण्डित बंशीधरजीके बारेमें क्या कहना है? उनका स्वभाव तो बडा मधुर है। सबसे मिलते-जुलते रहते हैं। विद्वान हैं। पर कभी-कभी वे अपनी बातपर अड जाते हैं और फिर अपनी ही बातको रखनेका प्रयास करते हैं।

प्रश्न—क्या आप बता सकेंगे कि उनके प्रति समाजमें कैसी धारणा है?

उत्तर—पण्डितजी २१ वर्षों तक बीना-समाजमें सब कार्योंमें आगे रहे। वे अच्छे राजनीतिज्ञ भी रहे हैं, स्वतन्त्रता सेनानी हैं। इसलिये उनके बारेमें मैं क्या कह सकता हूँ?

प्रश्न—मैंने बातको आगे बढाते हुये जानना चाहा कि उनके जमानेमें संस्थायें कैसी चलती थी और आजकल कैसे चलती हैं? क्या इनमें आपको कुछ उतार-चढाव दिखाई देता है?

उत्तर—वे अपने पलंगपर ही लेटे हुये कहने लगे कि विद्यालय तीन आधारपर चलते हैं—संचालक अध्यापक एवं विद्यार्थी। संस्थायें तो पण्डितजीके पूर्व भी चलती थीं। लेकिन पण्डितजी द्वारा संभालनेके पश्चात् सभीने आशातीत उन्नति की है। और जब उन्होंने उन्हें छोड दिया तो उनमें फिरसे शिथिलता आ गई। इसीसे आप उनके व्यक्तित्वको पहिचान सकते हैं। पण्डितजीका बीना समाजमें कोई विरोधी नहीं है, क्योंकि वे सबको साथ लेकर चलते हैं।

प्रश्न—मैंने सुना है कि आप भी स्वतन्त्रता-सेनानी रहे थे?

उत्तर—हम प्रश्नपर वे मुस्कराने लगे। वे कहने लगे कि मैं और पण्डितजी दोनों ही जेल गये थे। सागर जेलमें हमदोनों साथ रहे। सागरसे उन्हें दूसरी जेलमें भेज दिया गया और मुझे सागर ही रखा गया। मैं सी क्लास में था और पण्डितजी बी क्लासमें थे।

वे आगे कहने लगे कि आजकल समाजका वातावरण बहुत खराब है। यहाँकी संस्थाओंकी एक-डेढ लाखकी इनकम है लेकिन झगडेकी जड भी वही है। इतनी इनकममें तो बहुत अच्छा विद्यालय चल सकता है। लेकिन उधर कोई ध्यान नही देता। उन्होंने अपनी बातको जारी रखते हुये कहा कि वर्तमानमें निश्चय और व्यवहारका झगडा चल रहा है। पण्डितजी व्यवहारके पोषक हैं तथा उसका वे पूरा समर्थन करते हैं। हम पण्डित फूलचन्द्रजीकी पुस्तक "जैन तत्त्वमीमांसा" पढते रहते हैं, लेकिन दोनों ही एकांगी लिखते हैं। पण्डितजी तो बहुत बडे विद्वान हैं लेकिन हम तो बहुत कम पढे लिखे हैं। इसलिये इस सम्बन्धमें कह भी क्या सकते हैं। इतना कहनेके पश्चात् वे चुप हो गये और हम उनसे क्षमा याचना करते हुये उठकर चले आये।

सिंघई आनन्दकुमारजी

इसके पश्चात् श्री सिंघई आनन्दकुमारजी जैनसे घरपर जाकर भेंट की। सिंघईजी बीना निवासी हैं। व्यापारी हैं तथा ७६ वर्ष पार कर चुके हैं। सर्वप्रथम डॉ० कोठियाजीने मेरा एवं डॉ० भागेन्दुजीका परिचय कराया। मैंने सर्वप्रथम अपने आनेका कारण बतलाया तथा पण्डितजीके अभिनन्दन-ग्रंथकी चर्चा की तो वे स्वतः ही कहने लगे कि पण्डितजीसे मेरा सन् १९२८में परिचय है। उनकी यहीं शादी हुई थी। पासके

मकानकी ओर संकेत करते हुये कहा कि पण्डितजीकी इसी मकानमें शादी हुई थी। उस समय मेरी आयु १४ वर्षकी थी। उनका विवाह बहुत ही सादे ढंगसे हुआ था।

प्रश्न—पण्डितजीका यहाँ आना कैसा रहा ?

उत्तर—पण्डितजीके यहाँ आनेसे समाजमें बडी चेतना जागी। उन्होंने पूरे दिगम्बर जैन समाजको संभाला तथा संस्थाओंके संचालनमें योग दिया तथा समाजको एक सूत्रमें रखा तथा जहाँ तक हो सकता था समाजको सुधारकी दिशामें मोडनेमें सफल रहे।

प्रश्न—क्या आप पण्डितजीके विचारोंसे सहमत रहे हैं ?

उत्तर—पण्डितजीका तो सेवाभावी जीवन रहा है। उन्होंने वेतनके नामसे समाजसे अथवा किसी संस्थासे एक पैसा भी नहीं लिया। यही नही, कभी मानपत्र भी स्वीकार नही किया। उनका जीवन पूर्ण निस्पृही जीवन रहा है। उन्होंने सदैव समाजको एवं युवकोंको अच्छे मार्गपर लगाया। मैं जब म्यूनिसिपल चैयरमैन था, तो पण्डितजीको चुनावमें खडा होनेके लिये बहुत कहा गया, लेकिन उन्होंने उसे कभी स्वीकार नही किया।

वे कहने लगे कि बीनामें जब कभी मुनियोंका विहार होता है, पण्डितजी मुनिसंघकी बहुत सेवा करते हैं, उनको स्वाध्याय कराते हैं। अभी मुनि श्री सुधासागरजी महाराज आये थे, तो पंडितजीने एक महीने तक समयसारकी वाचना की। निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त आदिके झगडोंमे बीना समाजने सदैव पंडितजीका साथ दिया है। अभी समयसारकी वाचनामें कितने ही विद्वानोंको भी आमंत्रित किया गया था। पण्डितजीने उनकी सुन्दर व्यवस्था करके बीना निवासियोंका हृदय जीत लिया।

प्रश्न—पंडितजीकी और क्या विशेषता है, एक-दो गिनाइये ?

उत्तर—हमारे सागर-मंडलके सभी राज्याधिकारी पंडितजीकी ईमानदारी, निस्वार्थ सेवा एवं सच्चाई-से प्रभावित हैं। कचहरीमें पंडितजीने जो कुछ कह दिया उसीको सही माना जाता है। यह, क्या पंडितजीकी कम विशेषता है ? इतना कहकर वे चुप हो गये और हमने भी हाथ जोड़कर उनसे विदा मांग ली।

पंडित भैयालालजी शास्त्री

इसके पश्चात् मुझे पं० भैयालालजी शास्त्री बीना निवासीसे भेंट करनेका अवसर मिला। पं० भैयालालजी शास्त्री पं० बंशीधरजीके बराबर ही आ गये थे। आप दोनों एक ही उम्रके है। बहुत सक्रिय है। मै जब बीना गया तो वहाँ समाजके चुनावोंकी चर्चा थी। पं भैयालालजी शास्त्री चुनावमे तो जीत गये, लेकिन उनकी पार्टी बहुमतमें नही आ सकी। जब मुझे बताया गया कि ये पं० फूलचन्द्रजीके छोटे भाई है तो मुझे उनसे मिलनेमें और भी प्रसन्नता हुई। लेकिन विचारोंमें दोनों भाई अलग-अलग है। एक व्यवहारका पूर्ण समर्थन करते है तो दूसरे पं० फूलचन्द्रजी निश्चयका पक्ष करते हैं। जब मैंने पं० भैयालालजी शास्त्रीसे पं बंशीधरजीके बारेमे कुछ विचार प्रकट करनेके लिये कहा तो वे कहने लगे कि हम तो ६२ वर्षसे पं०जीके सम्पर्कमे हैं। हमारा तो उनको पूर्ण सहयोग रहता है। हम दोनोंमें सोनगढ़को लेकर खूब चर्चायें होती रहती है। बडा आनन्द आता है चर्चा करने मे। पंडितजीका बहुत ऊँचा ज्ञान है, इसलिये वे प्रत्येक बातको स्पष्ट रखते है।

प्रश्न—पंडितजी वस्त्रव्यवसायी कैसे बन गये ?

उत्तर—पंडितजीका प्रारम्भसे व्यापारकी ओर ध्यान रहा। उन्होंने अपने श्वसुरसे लोन लेकर वस्त्र-व्यवसाय करना प्रारम्भ किया। और उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त की। उनकी सच्चाई एव ग्राहकोंके साथ

अच्छा बर्ताव ही उनकी सफलताका मूल कारण है। चाहे कैसा हो ग्राहक आ जावे वे एक भाव बोलते हैं और उसे कभी कम नहीं करते हैं, इसलिये ग्राहकोंका आपकी दुकानके प्रति विश्वास जम गया और वे उनके यहाँ खूब आने लगे।

ठाकुर हरनाथसिंहजी

हमारी बातचीतके बीचमें वहाँ ठाकुर हरनाथसिंहजी आ गये, जो रेल्वे सर्विसमें हैं और ५३ वर्षकी आयुके हैं। मूल निवासी माँझ ग्रामके हैं, जो रायबरेली जिलेमें है। ठाकुर साहब पंडितजीके पक्के ग्राहक कैसे बने, उसे अपनी बीती बात कहकर बतलाने लगे। मैं बीना स्टेशनपर झाँसी स्टेशनसे तबादला होकर बीना आया। कुछ दिनों बाद मैं बीना ग्राममें कुछ कपड़े खरीदनेके लिये आया। तीन-चार दुकानोंपर कपड़ा देखा, लेकिन पसन्द नहीं आया तथा भाव भी तेज लगा। अन्तमें मैं घूमता-घूमता पंडितजीकी दुकानपर आया। वहाँ साड़ी देखी। पसन्द आ गई। पंडितजीने साड़ीके १४.२५ बोले। हमने उन्हें १४ रुपये देनेके लिये कहा। लेकिन पण्डितजीने चार आना कम करके देनेमें मना कर दिया। फिर मैं दूसरे दिन आया। और चार आना कमपर साड़ी देनेके लिये कहा। लेकिन पण्डितजीने फिर मनाकर दिया। फिर हम तीसरे दिन आये, यह सोचकर कि अब तो साड़ीको १४.२५ रुपयेमें ही ले लेंगे। लेकिन दुकानपर जब आये तब मालूम पड़ा कि साड़ी बिक चुकी है। लेकिन दुकानके एक व्यक्ति हरप्रसादजीने कहा कि तुम्हारे बापने भी साड़ी खरीदी है। आखिर मुझे पण्डितजीकी ईमानदारीपर विश्वास हो गया और उस समयके बाद पंडितजी की दुकानसे ही कपड़ा खरीदने लगा। वैसे पण्डितजीकी ईमानदारी एवं एकभाव सारे नगरमें चर्चाका विषय रहते हैं।

ठाकुर साहबने पण्डितजीकी उदारताकी एक और घटना सुनाई। उन्होंने कहा कि मेरी लड़कीकी शादीमे पण्डितजीने मुझे उधार पैसे देकर उस समय मदद दी, कि जब मैं चारों ओरसे निराश हो चुका था तथा जहाँ कहीसे पैसा आने थे वहाँसे नहीं आये। मैं पण्डितजीके पास प्रातःकाल पहुँचा। स्नान भी नहीं किया था। पण्डितजीको मनकी बात कहनेमें डर-सा लग रहा था। लेकिन जब अपनी बात कहनी ही पड़ी तो पण्डितजी मेरी पूरी सहायता की और अपने घर खाना भी खिलाया तबसे आजतक हम तो पण्डितजीकी दुकानके पक्के ग्राहक बन गये हैं।

इसके पश्चात् मैंने पण्डित भैयालाल शास्त्रीसे पण्डितजीके बारेमें कुछ और बतानेका अनुरोध किया तो उन्होंने कहा कि पण्डितजी जब विद्वत् परिषद्के अध्यक्ष थे, तब मुझे उनके साथ दो-तीन स्थानोंपर जानेका अवसर मिला। उनका मुझे पूर्ण वात्सल्य एवं सहयोग मिला।

उन्होंने आगे कहा कि सैद्धान्तिक चर्चा करनेमें पण्डितजीकी बहुत रुचि रहती है। उनका इस संबंध-में अगाध ज्ञान है और वे अपने ज्ञानको चारों ओर बिखेरना चाहते हैं।

बीनामें और भी बहुतसे वृद्ध एवं युवा समाजसेवी हैं जो पण्डितजीके पूरे प्रशंसक एवं शिष्यके रूपमें हैं। लेकिन समय कम होनेसे उनसे भेंट नहीं कर सका।

पण्डितजीका विशाल व्यक्तित्व सदा आगे बढ़ता रहे तथा वे समाजकी अपने सैद्धान्तिक ज्ञानसे इसी तरह सेवा करते रहें। इसी भावनाके साथ मैं भी उनके प्रति अपनी श्रद्धा एवं सम्मान व्यक्त करता हूँ।

●

सोंरईके प्राचीन जिनमन्दिरका बेदिका लेख : एक दस्तावेज

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, बीना

सोंरईके एक प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिरकी वेदिकाके नीचे पाषाण-पट्टीपर जो लेख खुदा हुआ है उससे इस ग्रामकी प्राचीनता, सम्पन्नता और जनबहुलतापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह मंदिर कैसे बना और कैसे उजड़ा, इसका तो इस लेखमें कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु वृद्ध-परम्परासे सुना जाता है कि मन्दिरके निर्माता सिंघई मोहनदास राजाके वित्ताधिकारी जैसे किसी उच्च पदपर प्रतिष्ठित थे और राजाके अत्यन्त प्रिय थे। वह उनपर बहुत प्रसन्न था। राजाने उनसे आग्रह किया कि आप जिन भगवानकी भक्तिके लिए किलेसे सटा हुआ अपना जिनमन्दिर बनवा लें। सिंघई मोहनदासने राजाके प्रेम और आज्ञासे दिगम्बर जैन मंदिर बनवा लिया और विधिवत् उसकी प्रतिष्ठा भी हो गई। कुछ लोगोंने इसके विरुद्ध राजाके कान भर दिये और राजाने कुपित होकर मन्दिरजीसे श्रीजी हटवा दिए। कितने वर्षों तक इस मन्दिरमें श्रीजी विराजमान रहे, कहा नहीं जा सकता। लेखमें इतना ही उल्लेख है कि विक्रम संवत् १८६४ में इसकी प्रतिष्ठा हुई और मन्दिरकी नींव वि०सं० १८६२ में रखी गयी। दो वर्ष इस मन्दिरके निर्माणमें लगे। बादको इसमें प्राईमरी स्कूल लगने लगा।

इसमें प्राईमरी स्कूल कबसे लगा, यह जानकारी शासनके कागजातोंसे प्राप्त हो सकती है। पर अनुमानसे संप्रति इतना कहा जा सकता है कि १८२ वर्ष पूर्व बने इस मंदिरमें, कुछ वर्ष खाली पड़ा रहनेपर, १५० से १७५ वर्षों तक स्कूल लगता रहा है। व्याकरणाचार्य श्रद्धेय पं० बंशीधरजी (८४) उनके पिताजी और पितामहने इसी स्कूलमें पढ़ा है। हमने भी इसीमें सत्तर वर्ष पूर्व अध्ययन किया था।

इस लेखमें कई तथ्य महत्त्वपूर्ण उपलब्ध होते हैं। उनमें कुछ निम्न प्रकार है—

१ यह मन्दिर माघ वदी १३, वि०सं० १८६४ में प्रतिष्ठित हुआ था।

२ इसकी नींव अषाढ़ सुदी ७ बुधवार, वि०सं० १८६२ में रखी गयी थी।

३ मूल संघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुन्दाचार्याम्नायमें जिनागमके उपदेशानुसार इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई थी।

४ इसके प्रतिष्ठाकारक थे वैश्यवर्ण, वंश इक्ष्वाकु, गोत्र पद्मावती, [जाति] गोलापूर्व, बैंक चन्देरिया, श्री साहू किसोरी, उनके पुत्र (प्रथम) कूने सिंघई, दूसरे पुत्र अजब सिंघई, कूते सिंघईके दो पुत्र, (प्रथम) श्री साहू इन्द्रमन, उसकी पत्नी मौनदे, उसका प्रथम पुत्र सिंघई धनसींघ, उसकी पत्नी दीपा, उसका पुत्र धोकल, और द्वितीय पुत्र सिंघई कुंवरमन, उसकी पत्नी पजो, उसके दो पुत्र, प्रथम मनराखन, द्वितीय करनजू। कूते सिंघईकी पत्नी सीता, उसके लघु पुत्र (द्वितीय पुत्र) यज्ञ (प्रतिष्ठा) कर्त्ता (कारक) श्री सिंघई मोहनदास, उसकी पत्नी जैको, उनका पुत्र श्री लाला मान्धाता। ये सभी चिरंजीव हो। मन्दिरके निर्माता और प्रतिष्ठाकारक मुख्यतया श्री सिंघई मोहनदास थे।

५ लेखमें प्रतिष्ठाचार्यका नामोल्लेख नहीं है, जैसा कि आजकल होता है। किन्तु प्रतिष्ठा-कारकके दो हवलदारों (कार्यकर्त्ताओं-कारन्दाओं), एक श्री राउत हरीसिंघ लोधी ठाकुर, गोत खोरमपुरिया और द्वितीय हवालदार उदीनन्द साव कडोरे पचलोरो दामपवार, लड़िया लालजू व मोकम व उपसाव धोकलजी, बीजकके लेखक श्री फौजदार ललू कड़ोरे पिपलासेवारे, बसंत कारीगर जैसोंके नाम अंकित है।

६. भौगोलिक एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इस लेखमें है। उस समय सोंरई, जो आज उत्तरप्रदेशके ललितपुर जिलेके अन्तर्गत है, श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा राजा मरदनसिंघज् देवकी जागीर थी, जिनकी राजधानी गढाकोटा (सागर, मध्यप्रदेश) थी और उनकी जागीरदारीमे सोंरईका प्रशासन ठाकुर श्री महाराजकुमार श्री दिवान दुरजन सिंघजू देव, उनकी ठकुराईन श्री महाराज कुमार श्री दुलैया हंसकुंवरजू देवीके अधीन था।

ये तथ्य ऐसे हैं, जो सोंरईकी ऐतिहासिकता और सांस्कृतिकताको प्रकट करते हैं।

मूल लेख और लेखमें उल्लिखित वंशावली दोनों यहाँ दिये जाते हैं। लेख हमें प्रिय भाई पं० दुलीचन्द्र शास्त्री एवं भाई विनीतकुमारने सोंरई स्वयं जाकर और खण्डहर पडी वेदिकासे लाकर दिया है।

मूल वेदिका-लेख

संवत् १८६४ वषे नाम माग वदि १३ सुभे ता दिन श्री जिनमंदिर प्रतिष्ठा अस्थापनीयतं श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदचार्जन्याये श्रीजिनागमउपदेसनीयतु महान जग्य, जागीर श्रीमहाराजाधिराज श्रीमहाराजा श्रीराजा मरदनसिंघजू देव राजधानी गढाकोटा तस्य जागीर मधे नग्र सोंरईके ठाकुर श्री महाराज कोमार श्री दिवान दुरजनसिंघजूदेव तस्य ठकुराईन श्री महाराजकोमार श्रीदुलेहिया हंसकुंवरजु देव्य तत्र पुर वैहीसवर्न वंस इष्वाक गोत पद्मावती गोलापूरब बैंक बंदेरिया श्री साहू किसोरी तस्य पुत्र श्री साहू कूतेंसिंघ दुतिय सुत अजबसिंघ कूतेंसिंघके सुव दोही श्री साहू इद्रन्मन तस्य भार्जा मौनदे तस्य पुत्र क्ष प्रथम सिंघही धनसिंघ भार्जा दोरा पुत्र घोकल दुतिय सुत श्री सिंघही कुवरमन भार्जा पजो सुत देव (दो) प्रथम मनराखन दुतिय करनजू कूनेंसिंघके भार्जा सोता लघुसुत जग्यकरता श्री सिंघही मोहनदास भार्जा जैको तस्य पुत्र लाला मानधाता चिरजीवत ताके हवालदार करता श्री राउत हरीसिंघ लोधी ठाकुर गोत घोरमपुरिय दुतिया हवालदार उदीनंद सावा कडोरे पचतौरो व दाम पंवार गुर लडिया लालजु वा मौकम वा नुप सावा घोकल बोजकके लिवैया श्री फोजदार लल्लू कडारो पिपलासेवारे बसंत कारीगर नै श्री जिन मंदिर जू को संवत् १८६२के असाढ सुदि ७ बुधेको नो घरी सुभं।

मन्दिरके निर्माता एवं प्रतिष्ठाकारक

सिंघई मोहनदासकी वंशावली

किलेसे सटे निर्मित स्कूल वाले सोरईके दि० जैन मन्दिरकी वेदिकाके नीचे पाषाण-पट्टपर उत्कीर्ण लेखानुसार

- श्री साहू किसोरी
  - श्री साहू कूते सिंघई (सीता)
    - श्री साहू इन्द्रमन सिंघई (मौनदे)
      - श्री साहू धनसींघ (दीपा)
        - धोकल
      - सिंघई कुँवरमन (पजो)
        - मनराखन
        - करनजू
    - श्री साहू मोहनदास प्रतिष्ठाकारक (जैको)
      - श्री लाला मानधाता
  - श्री अजबसिंघई
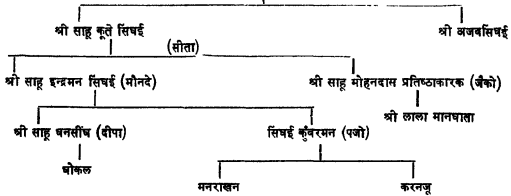
नोट—पुरुषोंके नामोंके साथ (   ) ऐसे कोष्ठकोंमें दिये गये नाम उनकी पत्नियोंके नाम हैं।

सोंरई : पूज्य पिताजीकी जन्मभूमि

● श्री विनीत कोठिया, बीना

सोंरई (ललितपुर), उत्तरप्रदेशके मडावरा-मदनपुर मार्गके बीच बम्हौरी ग्रामसे ३ किलोमीटर दूर स्थित है। इस स्थानका नाम "सोंरई" कैसे रखा गया, इसका ज्ञान मुझे नहीं है, लेकिन सुननेमें आया है कि इस स्थानपर स्वर्ण भण्डार है। अत स्वर्णमयी नगरी होनेसे इसका नाम "सोरई" रखा गया। इस स्थानकी महत्ता मेरे लिए इसलिए है कि यह मेरे पूज्य पिताजीकी जन्मभूमि है।

मुझे उस समय अत्यन्त प्रसन्नता हुई जब परम आदरणीय प० दरबारीलालजी कोठियाने मुझे एवं आदरणीय भैयाजी पण्डित दुलीचन्दजी, सोरई वालोको सोरई जानेका आदेश दिया। तथा उन्होने हमलोगोको कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य दिये, जिन्हे हमे सोंरई जाकर पूर्ण करना थे।

पूज्य पिताजीके "अभिनन्दन-ग्रन्थ" के लिए उनकी जन्मभूमिके सन्दर्भमें सामग्री जुटानेका काम हमे सौंपा गया था। हमें कुछ जानकारी एकत्रित करनी थी जैसे कि—इस समय वहाँकी स्थिति, वहाँके जैन मन्दिरोंके बारेमे जानकारी तथा उनके फोटोग्राफ इत्यादि। इन सबमे प्रमुख था वहाँके एक प्राचीन जैन मंदिर, उस मदिर-के शिलालेखकी पूरी इबारत तथा उस शिलालेखका एक फोटोग्राफ भी। इस मदिरजीके बारेमे जानकारी एकत्रित करनेकी आवश्यकता इसलिए भी थी, क्योकि पूज्य पिताजीने अपनी शिक्षा यहीसे प्रारम्भ की थी।

सोरई : यात्रा-विशेष

मैं जब आदरणीय भैयाजीके साथ सोंरई-ग्रामके लिए रवाना हुआ तो अपने आपमे बहुत प्रसन्न था, क्योकि पूज्य पिताजीकी जन्मभूमिके दर्शन करनेका मुझे सौभाग्य मिल रहा था। इससे पहले मैं वहाँ गया अवश्य था। लेकिन बहुत पहले, समय गुजरनेके साथ-साथ वहाँकी याद भी धुँधली पड चुकी थी। जुलाईका महीना होनेके कारण मौसम हमारे अनुकूल नही था, लेकिन हमलोगोको वहाँकी जानकारी जुटाना है, यह सोचकर हमलोग रवाना हो गये।

हमलोगोंने बस द्वारा सोरईमे प्रवेश किया। आदरणीय भैयाजीने मुझे बताया कि "बहुत पहले ये बसें इत्यादि नही चला करती थी। सभीलोग यहाँसे मडावरा तक पैदल जाया करते थे, और वहाँसे अन्यत्र जानेको बस मिलती थी। कभी-कभी तो ललितपुर तक पैदल जाना पडता था। लेकिन आजकल कई साधन मौजूद हं, सोरईसे बीना, सागर, मड़ावरा और ललितपुरको जोडने वाली पक्की सडकं हं और बसें भी सब जगहको जानेके लिए मिल जाती है।"

आदरणीय भैयाजी राहमे चलते, मिलनेवाली सभी प्रमुख जगहोंकी मौखिक जानकारी हमें देते रहे। उन्होंने अपने जीवनके लगभग ४० वर्ष यहाँ व्यतीत किये थे। तबसे लेकर आजतक शनै -शनै वहाँ काफी परिवर्तन हो चुके थे, अत वे पहलेकी स्थिति और वर्तमान स्थितिका तुलनात्मक वर्णन कर रहे थे।

पहले हम लोग घर पहुँचे, जहाँ वर्तमानमे आद० भैयाजीके छोटे भाई श्री फूलचन्द्रजी रहते हैं। उन्होने इस घरके बारेमें भी बताया कि किस तरह संघर्षमयी जीवन बिताते हुए इस घरका निर्माण कराया गया था। उन्होने कुछ ऐसे स्थानोंके बारेमे भी बताया जहाँ पहले एकदम खुला मैदान था। आज वहाँ मकानोंने अपना डेरा जमा लिया हैं। उनके कथनानुसार "जहाँ बाजार लगता है वहाँ पहले पर्याप्त जगह थी लेकिन आज मकानोंकी भीड़ने उस स्थानको तंग कर दिया है।"

सोंरई : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सफरकी थकानके बावजूद हम लोग उसी दिनसे काममे जुट गये। सबसे पहले हम लोग उस प्राचीन जैन मंदिरकी ओर रवाना हुए, जो बादमे स्कूलका रूप ले चुका था। इसी स्कूलमें पूज्य पिताजीकी शिक्षा आरम्भ हुई थी। जैसे ही हम लोग वहाँ पहुँचे, तो मैंने मंदिरजीको ऐसी स्थिति देखी, जिसकी मुझे कदापि कल्पना नहीं थी। कभी वहाँ मंदिर रहा होगा, लेकिन वर्तमानमे वह जीर्ण-शीर्ण हालतमे एकदम खण्डहर हो चुका था। जगह-जगह उस मंदिरजीकी दीवालोपर घास उग आई थी। धरातलसे करीब १५ फुट ऊँचे टीलेपर बने उस मंदिरमे जानेका मुझे रास्ता नही सूझ रहा था। ऊबड़-खाबड रास्तेसे ऊपर चढ़कर जाना पडा, तब कही हम लोग उस मन्दिरके मुख्य द्वारतक पहुँच सके। जैसे ही मैं मन्दिरके अन्दर प्रवेश हुआ, तो पाया वहाँ एकदम अन्धेरा, केवल मुख्य द्वारसे मद्धिम रोशनी अन्दर प्रवेश कर रही थी, जो हमें अन्दरका रास्ता बतानेके लिए पर्याप्त थी। अन्दर मकडियोने भी अपने जाल फैला लिए थे, "कुछ देरके लिए मैं सोचमे पड गया! जहाँ कभी मन्दिर रहा, उसके बाद प्राईमरी स्कूल रहा तब वहाँ अच्छी-खासी चहल-पहल रहती होगी, लेकिन आज एकदम वीरान्....!"

मैं पुन: वर्तमान स्थितिमें लौट आया और वहाँके मन्दिरजीकी प्रतिष्ठाका शिलालेख खोजने लगा। आदरणीय भैयाजीका साथ था। अत किसी किस्मकी बाधा उत्पन्न नही हुई। मन्दिरजीके फर्शपर मिट्टी आदिका जमाव भी काफी हो गया था, कारण कि मैंने देखा कि मन्दिरका ऊपरी हिस्सा ढहकर नीचे गिर गया था। जैसे ही भैयाजीने वहाँकी वेदिकाके नीचे पाषाणपर उत्कीर्ण "प्रतिष्ठा-लेख" की ओर इशारा किया तो मैंने देखा कि वहाँकी वेदिकापर इस समय कोई पत्थर नही था, हाँ! केवल शिलालेखका वह पत्थर वहाँ ज्यों-का-त्यो अवश्य लगा था। समय बीतनेके साथ-साथ धूल, मिट्टी आदि उस शिलालेख एवं वेदिकापर अपना स्थान बनाती रही। हम लोगोने वहाँके स्थानीय व्यक्तियोंकी सहायतासे उस शिलालेखको साफ करनेकी असफल कोशिश की। तब भी उसपर खुदे हुए अक्षर अस्पष्ट थे, जो पढनेमे बिल्कुल नही आ रहे थे। अत हम लोगोंने शिलालेखपर सूखे चूनेका लेप लगाया, जिससे शिलालेखके शब्द उभरकर सामने आ गये, जिन्हें अब आसानीसे पढा जा सकता था। करीब ५ फुट लम्बे और आधा फुट चौडे इस शिलालेख पर चार पंक्तियोंमें इस मन्दिरजीकी प्रतिष्ठा सम्बन्धी जानकारी अंकित थी।

उस शिलालेखको मैं पढ़ता गया और आद० भैयाजीने उसकी इबारत एक कागजपर उतार ली। तत्पश्चात् उन्होंने शिलालेख पढा और मैं एक दूसरे कागजपर ज्यो-का-त्यो लिख लिया, ऐसा इसलिए किया ताकि शिलालेखका सार समझनेमे हम लोगोंको कोई परेशानी न हो। इसके बाद तुरन्त ही मैंने उस शिला-लेखके विभिन्न दिशाओसे कुछ चित्र कैमरेकी मददसे ले लिए। शिलालेखसे ज्ञात हुआ कि यह मन्दिर १८२ साल पुराना है। शिलालेख वि० स० १८६४ में लिखा गया था, लेकिन मन्दिरका निर्माण वि० स० १८६२ मे आरम्भ हो गया था, लगभग दो वर्ष इसे बनानेमें लगे। मन्दिरजीसे बाहर आकर मैंने मन्दिरजीके कुछ चित्र लिए। एक खास बात मुझे यह भी देखनेको मिली कि यह मन्दिर ठीक सोरईके किलेसे सटकर बना हुआ है। अत मैंने उत्सुकतावश मन्दिर एवं किलेका संयुक्त चित्र अपने कैमरेमें कैद कर लिया।

यहाँ हम लोगोका अधिकाश समय व्यतीत हो गया था। समय रहते भैयाजीने मुझे उस मकानके दर्शन कराये, जहाँ पूज्य दादीजी और पूज्य पिताजी रहा करते थे। "पुराने तरीकेका बनाकच्चा मकान, जिसमें सामनेकी तरफ दो दरवाजे थे। एक बड़ा और एक छोटा। बाहरकी ओर दरवाजेके पास ही दो आले बने

व्याकरणाचार्य की जन्मभूमि सोंरई के मनोहारी दृश्य

सोरई का भव्य पार्श्वनाथ मदिर (बडा)

सोरई का छोटा दि० जैन मन्दिर

पण्डितजीने जिस स्कूलमे पढा है उसका एक चित्र और जो प्राचीन मदिर रहा।

सोरई का चन्देलकालीन एक प्राचीन जैन मन्दिर, जो अब खण्डहर के रूप मे अरक्षित स्थिति मे है।

सोरई का प्राचीन किला

पण्डितजीके सोरईके मकानका एक चित्र

हुए थे तथा एक खूंटी भी लगी हुई थी। अन्दर एक बड़ा-सा कमरा तथा इसके बाद एकदम खुला आगन, जिसे दीवालोंने चारों ओरसे घेर रखा था। एक दहलान भी थी तथा पशुओं आदिके लिए पर्याप्त व्यवस्था।'' आदरणीय भैयाजीने यहाँके बारेमें बताया कि किस प्रकार पूज्य पिताजी उस घरमे रहा करते थे, उन्होने बताया कि 'वर्तमानमे बिजलीकी समुचित व्यवथा है। परन्तु उस समय बिजली नहो थी, तब पूज्य पिताजी लालटेन के उजालेमे पढाई करते थे।' बाहर निकलकर मैंने उस मकानके कुछ फोटो उतार लिए।

इसके बाद हम लोग अपने स्थानपर आ गये। आद० भैयाजी मुझे और भी बहुत-सी जानकारियाँ देते रहे कि किस प्रकार पूज्य पिताजीने अपने जीवनमे अभावों और कष्टोंसे संघर्ष किया।

दूसरे दिनका काम इतना जटिल नही था, क्योंकि इस दिन हम लोगोंको उन सभी जैन मन्दिरोंके बारेमे जानकारी एकत्रित करनी थी, जो वर्तमानमें व्यवस्थित रूपसे विद्यमान है। अब मैं सोंरईके उन रास्तोंसे गुजर रहा था, जिनपर पूज्य पिताजीने अपना बचपन व्यतीत किया था। मैंने वहाँ बच्चोको खेलते पाया तो उनके भी कुछ चित्र मैंने ले लिए।

जैसे ही हम लोग मन्दिरजीको आने वाले रास्तेकी ओर मुडे तो मोडपर ही मैंने एक 'मार्गसूचक पटल' देखा, जिसे पढनेपर ज्ञात हुआ कि आदरणीय पं० दरबारीलालजीने इस रास्तेका फर्शीकरण, आदरणीया भाभीजी श्रीमती चमेलीबाई कोठियाकी पुण्य स्मृतिमें, उनके नामसे कराया है। यह रास्ता ठीक एक मंदिरसे होकर दूसरे मंदिरजी तक समाप्त होता है। मैंने उस पटल एवं उस रास्तेका भी चित्र कैमरेमे उतार लिया। इसके बाद हम लोग बडे जैन मन्दिरजी गये। वहाँके दर्शनोपरान्त कुछ फोटो अन्दरके लिए। सुरई (गर्भगृह) के भीतर वेदिकापर भगवान पार्श्वनाथकी एक भव्य एव बडी मूर्तिके नीचे आसनपर एक श्लोक लिखा था। मैंने मूर्ति एवं श्लोकका एक-एक चित्र कैमरेकी सहायतासे ले लिया। तत्पश्चात् उस श्लोकको एक कागजपर लिख लिया। बाहर आकर मैंने देखा कि इस मन्दिरजोके ठीक सामने एक जैन धर्मशालाका भी है। उस धर्मशालाका भी एक चित्र मैंने लिया। उस धर्मशालाका मुख्य द्वार बहुत ही कलात्मक बना हुआ था। उसी धर्मशालाकी छतपरसे बडे मन्दिरजीका एक सुन्दर चित्र मैंने अपने कैमरेमे उतार लिया। इसके बाद हमलोग छोटे मन्दिरके लिये रवाना हो गये। उस मन्दिरका भी एक खूबसूरत चित्र मैंने खीच लिया। दर्शनोपरान्त अन्दरके भी कुछ चित्र ले लिये। सोरईके ये दोनो मन्दिर शिखरबन्द, कलात्मक एवं व्यवस्थित बने हुए है।

इसके पश्चात् हमलोग वहाँके चौथे मन्दिर जिसे बाजारका मन्दिर कहा जाता है, गये। यह मन्दिर चैत्यालयनुमा बना हुआ है। सामने ही मामा श्री राजकुमारजीका घर है। उन्हीके मकानकी छतसे मैंने एक फोटो उस मन्दिरका भी ले लिया। तत्पश्चात्, वहींसे गाँवके चारो ओर मैंने नजर घुमाई तो देखा चारो ओर हरियाली-ही-हरियाली है। गाँवका यह दृश्य मनभावन लग रहा था।

इसके तुरन्त बाद ही हमलोग सोंरईके किलेकी ओर रवाना हुए। किलेका भी एक खूबसूरत चित्र खीचकर, मैं किलेके अन्दर प्रविष्ट हो गया तथा वहाँकि कुछ बच्चोकी सहायतासे मैं किलेकी बुर्जपर जा पहुँचा। वहाँसे भी गाँवकी सुन्दरता आसमान छू रही थी। इस समय मैं गाँवके सबसे ऊँचे स्थानपर खडा था। एकदम खुली-स्वच्छ हवा, चारो ओर हरियालीकी मुस्कान और भरपूर छोटे-बडे पेड-पौधे मनको मोह रहे थे। किलेकी बुर्जसे मैंने देखा कि वही दोनो जैन मन्दिर, जिनका उल्लेख मै पीछे कर चुका हूँ, अब एक दूसरेके बिल्कुल नजदीक नजर आ रहे है, साथ ही दूर हनुमानजीका मन्दिर, जैन धर्मशाला तथा उसका पूरा आँगन एवं गाँव का अधिकाश हिस्सा भी। यह दृश्य सचमुच अद्भुत था, जिसे मैं कैमरेमे उतारे बिना न रह सका।

इतना काम हो जानेके बाद अब केवल एक जगह शेष रह गयी थी—"सोंरईका बगीचा"। इसमे मुख्य था उस बगीचेमें स्थित मढ (मन्दिर)। शीघ्र ही हमलोग बगीचा पहुँच गये। वहाँ जाकर मैंने देखा बगीचेके बीच एक मढ बना हुआ है, पत्थरोंको तराशकर तथा पत्थरों, खम्बों आदिको एकके ऊपर व्यवस्थित ढंगसे रखकर इस मढका निर्माण किया गया है। मैने उस मढ़का भी एक सुन्दर चित्र खीच लिया। मैंने आभास किया कि वक्त गुजरनेके साथ-साथ मढ़की स्थिति बिगडती चली गयी। मैंने मढको इस समय एक ओर झुका हुआ महसूस किया। शायद उसका एक खम्भा तिरछा हो जानेके कारण तथा ऊपर रखा गोल चक्रनुमा हिस्सेके भी टुकडे हो चुके है। फिर भी खूबसूरती लिये हुए सोंरइका यह ऐतिहासिक मढ़ (जैन मन्दिर) अभी भी अपने स्थानपर विद्यमान है।

सोंरई : आसपास

हमारा काम लगभग समाप्त हो चुका था। लेकिन उत्सुकतावश मैंने वहाँके स्थानीय व्यक्तियोंसे भी सम्पर्क किया। तरह-तरहकी जानकारी मुझे प्राप्त हुई, जिसे मैं आगे लिख रहा हूँ—

सोरई ग्रामको यदि "खनिजोंका गाँव" कहा जाये, तो कोई अतिश्योक्ति नही होगी, क्योंकि यहाँ—लोहा, ताँबा, सीमेटका पत्थर, ग्रेफाइट आदि प्रचुर मात्रामे मौजूद है। लोहा यहाँ भारी मात्रामे उपलब्ध है। पुराने जमानेमे यहाँ लोहेका काम भी बहुत होता था, किन्तु माँगकी कमीके कारण यह काम बादमे बन्द हो गया। ताँबेकी खदानें तो गाँवमे ही स्थित है। प्रयत्न किया जाये तो ताँबेका अच्छा-खासा भण्डार मिलनेकी पूर्ण सम्भावनायें यहाँ नजर आती है। इससे पहले यहाँ खुदाई अवश्य हुई और ताँबा निकाला गया, परन्तु साधनोंकी कमीके कारण पूर्णरूपेण सफलता नही मिल पायी।

"फास्फेट" एक महत्वपूर्ण पत्थर यहाँ विपुल मात्रामे उपलब्ध है। इसका काम खाद बनानेके रूपमे विशेष होता है। यहाँसे थोडी दूर एक स्थानपर, जिसे "टोरी" कहते है, फास्फेट निकालनेका काम तेजीके साथ चल रहा है। यहाँपर बाहरके एव स्थानीय करीब एक हजार मजदूर प्रतिदिन काम कर रहे है। फास्फेट पत्थरकी छोटी-छोटी गिट्टी बनाकर ट्रको द्वारा बाहर भेजनेका क्रम अभी भी जारी है।

"यूरेनियम" एक बेशकीमती खनिज, जिसकी प्राप्तिकी पूर्ण सम्भावनाये यहाँ व्यक्त की जा रही हैं। इसके लिए विदेशी सहयोगसे उसकी खोज अभी भी जारी है।

इसके अलावा सोंरईसे लगा हुआ एक घना जङ्गल भी है। इस जङ्गलमे महुआ, गोंद, चिरोजी एवं कई प्रकारकी अनेक जडी-बूटियोंका विशाल भण्डार है। यहाँके आदिवासी (सोर) इन्हीके द्वारा अपना उदर-पोषण कर रहे है।

भारत-सरकार द्वारा निर्मित "रोहणीबाँध" गाँवके बीच निकली रोहणी नदीपर लगभग दो किलो-मीटरका नीचेकी ओर बनाया गया है, जिससे सोरईके ग्रामके रहवासियोंको तो कोई फायदा नही, लेकिन नीचे रहनेवाले गरीबोंको नहरो द्वारा भरपूर पानीकी व्यवस्था उपलब्ध है।

सोंरईसे पूर्व दिशाकी ओर अतिशय क्षेत्र गिरार है। वहाँ धसान नदीके किनारे बना हुआ दि० जैनमन्दिर दर्शनीय हैं। किसी समय यह स्थान काफी उन्नतिशील रहा है। ऐसा सुननेमे आया है कि यहाँ बहुत बडा बाजार लगता था, जिसमे बाहरी व्यापारी भी अपना व्यापार करने आते थे। अब वहाँ खण्डहर मात्र शेष है। मात्र सुन्दर मन्दिर बना हुआ है।

सौंरईसे पश्चिम दिशाकी ओर मदनपुर तरफ पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णीकी जन्मभूमि हंसेरा गाँव है। वहाँ उनके स्मारकके रूपमें एक छतरी-चबूतरा बनवाया गया है। उनकी ही छत्र-छायामें पूज्य पिताजीने ११ वर्ष वाराणसीमे अध्ययन किया था। यहाँसे चलकर आगे अतिशयक्षेत्र मदनपुर है, जहाँ पाडाशाहके बनवाये हुए कई प्राचीन मन्दिर है जो इस समय अवशेष मात्र ही दिखायी देते हैं। यहीपर फुमकेले वंशके महानुभावोंके द्वारा बनवायी पचमढियाँ भी हैं। कुछ वर्ष पहले समाजने वहाँका जीर्णोद्धार किया. अब वहाँ पक्की सडक, धर्मशाला इत्यादि सहूलियतें मौजूद हैं।

इस तरह मैंने अनुभव किया कि ग्राम सोरई अतीतमें एक विश्रुत ग्राम रहा है। और अब उसका भविष्य भी उज्जवल है। इस विकसित होनेमें अब ज्यादा समय नही लगेगा।

अन्तमें मैं पूज्य पिताजीके चरणोंमें अपनी और समस्त परिवारकी ओरसे श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।
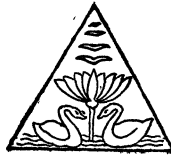
गोलापूर्वान्वय : एक परिशीलन

● डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन', एम० ए०, पी-एच० डी०, श्रीमहावीरजी

मान्यवर पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीने 'न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थ' में सन् १९८२ में 'गोलापूर्व अन्वयके आलोकमें' शीर्षक शुभकामना-लेखमें गोलापूर्व अन्वयके विषयमें अनुसन्धानात्मक महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है तथा आदरणीय डॉ० कोठियाजीकी ओर लक्ष्य करके लिखा है कि 'कुछ समय पहले श्री डॉ० दरबारीलालजीसे भेंट होनेपर इस दिशामें काम करनेका मैंने संकेत किया था। इस ओर तत्काल उनका ध्यान भले ही न गया हो, यह विषय ऐसा है कि दृष्टि-सम्पन्न कतिपय सेवाभावी बन्धु यदि इस दिशामें प्रयत्नशील हों तो ऐतिहासिक दृष्टिसे अतिउपयोगी एक कमीकी पूर्ति हो सकती है।'

उल्लिखित अभिनन्दन-ग्रन्थमे जब मैंने पण्डितजीका उक्त शुभकामना-लेख पढ़ा और कोठियाजीने मुझे इस दिशामे कुछ लिखनेकी प्रेरणा की, तो मेरी उक्त विषयमें अध्ययन करनेकी उत्सुकता बढ़ी, मैंने अपनी पी० एच० डी० के लिए मध्यप्रदेशके जैन पुरातत्त्वपर काम किया था, इसलिए भी इस लेखको लिखनेमें उत्साहित हुआ। अध्ययन करनेपर जो जानकारी एकत्रित कर सका। प्रसंग पाकर उसे यहाँ दे रहा हूँ। इतिहास ऐसा विषय है, जिसमें अनुसन्धानकी अपेक्षा बनी रहती है।

गोलापूर्वान्वय :

'गोलापूर्वान्वय' मे गोलापूर्व और अन्वय ये दो शब्द हैं। इनमें 'अन्वय' शब्दके अनेक अर्थ है। अभिलेखोंमे इस शब्दका बहुत प्रयोग हुआ है। यह शब्द प्रायः दो अर्थोंमे व्यवहृत हुआ है—(१) आचार्य परंपराको दर्शानेके लिए और (२) जैन उपजातियोंके नामोंके निर्देश करनेके लिए। जहाँ आचार्य-परम्पराको बताना इष्ट रहा है वहाँ 'अन्वय'का पूर्ववर्ती पद किसी-न-किसी आचार्यके नामसे युक्त मिलता है। यथा—कुन्दकुन्दान्वय,[१] भद्रान्वय,[२] देशनन्दिगुरुवर्यवरान्वय[३] आदि। इनमें क्रमशः आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य भद्र और देशनन्दि गुरुओंके नाम पूर्वपदमे आये हैं। अभिलेखोंमें इसका उपयोग स्वयंको ऐसे अन्वयोंका अनुगामी बताने के लिए किया गया है।

अन्वयका दूसरा व्यवहार कुल और जातिके लिए हुआ है। इस अर्थमें अन्वयका पूर्वपद कोई ऐसा शब्द होता है, जिसका चौरासी जैन उपजातियोंमे किसी-न-किसी जैन उपजातिसे सम्बन्ध रहता है। जैसे अहारके मूर्तिलेखोंमे खडिल्लवालान्वय, जैसवालान्वय, पौरपाटान्वय, गोलाराडान्वय आदि मिलते है। यहाँ खण्डेलवाल आदि जैन उपजातियोंके अर्थमे 'अन्वय' शब्द व्यवहृत हुआ है।

आचार्य जिनसेनने पिताके अन्वयकी शुद्धिको कुल और माताके अन्वयकी शुद्धिको जाति संज्ञा दी है।[४] आचार्य कुन्दकुन्दने भी देश, जाति और कुलकी शुद्धिपर बल दिया है और उनसे युक्त आचार्यको नमन किया है।[५] उनकी दृष्टिमें शुद्धि (गुण) विहीन जाति और कुल वन्द्य नहीं हैं।[६]

आचार्य समन्तभद्रने जाति और कुलकी शुद्धिको गौरवका विषय मानते हुए भी उनके अभिमानको मदोंमें परिगणित किया है और आठ मदोंमें कुल और जातिके मदोंका भी उल्लेख किया है।[७]

इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कुल और जाति दोनों प्राचीन रहे हैं। भले ही उनमें परिवर्तन होता रहा हो। और ऐसा समयानुसार सम्भव भी है।

डॉ० अर्गलके अनुसार जाति समान वर्गके कुटुम्बोंका समूह होती है। इसका अपना निजी नाम होता है। विवाह आदि अपने समूहमें ही होते हैं। इसका उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुषसे बताया जाता है।[८] आचार्य जिससेनने केवल नामकर्मसे उत्पन्न मनुष्यजातिका ही अस्तित्व स्वीकार किया है। उन्होंने आजीविकाके भेदसे उसके चार भेद बताये है।[९] यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि आचार्य सोमदेव सूरिने जातियोकी अनेकताका भी उल्लेख किया है तथा उन्हें अनादि बताया है।[१०] तात्पर्य यह है कि 'अन्वय' का अर्थ यहाँ जाति या उपजातिपरक विवक्षित है।

मूर्तिलेखोंमें जातिपरक अन्वयोंके उल्लेख :

मध्यप्रदेशकी प्राचीन प्रतिमाओं, मन्दिरो और शिलाखण्डोंसे उनतीस अन्वयोंके नामोल्लेख प्राप्त हुए हैं। उनकी संख्या निम्न प्रकार है—

क्र०	नाम अन्वय	संख्या	क्र०	नाम अन्वय	संख्या
१.	गोलाराडान्वय	१	१६	गुर्जरान्वय	२
२	चित्रकुटान्वय	१	१७.	प्रागवाटान्वय	२
३	दुम्बरान्वय	१	१८.	मेडवालान्वय	२
४.	देउबालान्वय	१	१९.	लमेचुकान्वय	२
५,	नेवान्वय	१	२०	वैश्यान्वय	२
६.	परपाटान्वय	१	२१.	अवधपुरान्वय	३
७	परवाडान्वय	१	२२.	कुटकान्वय	३
८.	पुरवाडान्वय	१	२३.	पौरपाटान्वय	४
९.	मइडितवालान्वय	१	२४.	गर्गराटान्वय	५
१०.	मडवालान्वय	१	२५.	वर्द्धमानपुरान्वय	६
११.	माथुरान्वय	१	२६.	खण्डेलवालान्वय	७
१२.	माधुन्वय	१	२७.	जैसवालान्वय	१२
१३.	माधुवान्वय	१	२८.	गृहपत्यन्वय	१९
१४.	वेमकान्वय	१	२९.	गोलापूर्वान्वय	२६
१५.	श्रीमाल	१			

इनमे कुछ अन्वयोंके उल्लेख अशुद्ध और पुनरुक्त भी हो सकते है।

महाकवि आशाधरने भी तीन अन्वयोंका उल्लेख किया है। उनके नाम है—पोरवाल, बघेरवाल और खण्डेलवाल।[११] इनमें पोरवालको पुरवाडान्वयसे समीकृत किया जा सकता है।

उपजातियोंका उद्भव

प्राचीन साहित्य और अभिलेखोंमें मध्यकालसे पूर्व उपजातियोंके नाम-निर्देश न मिलनेसे प्रतीत होता है कि इस समय तक चार वर्णोंकी व्यवस्था सुचारुरूपसे चलती रही है। वर्णाश्रित सामाजिक-व्यवस्थामे कालान्तरमें शिथिलता आई। समाजके आचार-विचारमें परिवर्तन हुआ और वह उपजातियोंके उद्भवका कारण बना।[१२]

एक उपजातिमें, उसीमें जनमे और विवाहित सदस्य रह गये। अन्य व्यक्ति उसमें प्रवेश नहीं पा सके।[13] एक उपजातिका आचार-विचार, खान-पान, रीति-रिवाज दूसरी उपजातिसे भिन्न रहने लगा। वैवाहिक क्रियायें अपनी-अपनी उपजातिमें ही सम्पन्न होने लगी।[14]

जैन उपजातियोंका उद्भव

आचार्य जिनसेनके महापुराणमें आजीविकाके भेदसे चार वर्ण बताये गये हैं—१. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वणिक् (वैश्य) और ४. शूद्र। इनमे वणिक् वर्णका कार्य न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना कहा गया है।[15] मध्यप्रदेशके दूबकुण्ड स्थानसे प्राप्त संवत् ११४५ के एक प्रशस्तिलेखमें ऐसे वणिक्वंशका उल्लेख है, जिसके एक श्रावकको 'श्रेष्ठी' पदसे विभूषित बताया गया है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि वह श्रावक जिनेन्द्रका अर्चक और सम्यग्दृष्टि था। वह चारो प्रकारके पात्रोको दान देता था।[16] अहारसे प्राप्त संवत् १२०३ (ई० ११४६) के एक मूर्ति-लेखमें वैश्य अन्वयके श्रावकोको जिनेन्द्रकी नित्य वन्दना करते हुए बताया गया है।[17]

इन उल्लेखोंके आधारसे कहा जा सकता है कि वणिक् या वैश्य एक ही वर्णके श्रावक थे। इनमे एक वर्ग ऐसा था, जिसके श्रावक जिनेन्द्रकी आराधना करते थे। व्यापार इनकी आजीविकाका साधन था। इस वर्गके आचार-विचारमे कालान्तरमें शिथिलताने जन्म लिया, जिससे अपनी विशुद्धि बनाये रखनेके लिए इस वर्गके लोग छोटे-छोटे वर्गोंमें विभाजित हो गये। इनमें कुछ वर्गोंके नाम उनकी निवास-भूमियोंके नामपर रखे गये। जैसे चित्रकूटके जैन वैश्योंने अपने वर्गका नाम 'चित्रकुटान्वय' रखा। इसीप्रकार गुर्जर देशके श्रावकोंने अपने वर्गका नाम 'गुर्जरान्वय', अवधके निवासियोने 'अवधपुरान्वय', वर्द्धमानपुरके वासियोंने 'वर्द्धमानपुरान्वय', खण्डेलाके निवासियोने 'खण्डेलवालान्वय' नाम रख लिए। कालान्तरमें ये नाम जैनोकी उपजातियाँ बन गयी और ये अपने-अपने वर्गोंमें सीमित हो गयी। इनके विवाह आदि व्यवहार अपने वर्गमें ही होने लगे। इस प्रकार शनै-शनैः प्रत्येक वर्गके आचार-विचार, खान-पान और रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न हो गये। यह कबसे हुआ, यह अन्वेषणीय है। पर सबका धर्म एक रहा, जिससे वे एक-दूसरेसे सम्बद्ध रहे।

गोलापूर्व :

'गोलापूर्वान्वय' के उत्तरपद 'अन्वय' की विवेचना करनेके पश्चात् विवेच्य है पूर्वपद—गोलापूर्व। इसमे भी दो पद है—गोला और पूर्व।

इनमे 'गोला' कोई स्थान-विशेष रहा है। गोलापूर्वान्वयी जैन मूलतः इसी स्थानके निवासी थे। यह स्थान वर्तमानमें कहाँ है, इस सम्बन्धमे विद्वानोकी निम्न धारणाएँ हैं—

डॉ जगदीशचन्द्र जैन—आपने इसे दक्षिणमे गुण्टूर जिलेकी गल्लक नदीपर स्थित 'गोलि' स्थानसे समीकृत किया है।[18] अपनी एक अन्य कृतिमे एक 'गोल्ल' देशका उल्लेख करते हुए आपने उसे गोदावरी नदीके आसपासका प्रदेश बतलाया है। यहाँके निवासी काले और कठोर वचनभाषी होते हैं। चैत मासमे भी यहाँ ठंड पडती है।[19]

पं० परमानन्द शास्त्री—आपने 'गोला' स्थानको 'गोल्लागढ', वर्तमान गोलाकोटसे समीकृत किया है। उन्होंने गोल्लागढ़की स्थिति खनियाधाना स्टेट (अब मध्यप्रदेश) में निर्देशित की है।[20]

श्री प्रभुलाल पोद्दार—आपने वर्द्धमानपुराणमे कहे गये 'गोयलगढ़' को ग्वालियर किलेके अभिलेखोंमें उल्लिखित 'गोइलगढ' से समीकृत किया है और "गोलापूर्वान्वय' का उद्भव ग्वालियरसे बताया है।[21]

पं० नाथूराम प्रेमी—आपने एक प्रतिमालेखमे आया 'गोला' नामक स्थान सूरतके निकट स्थित महुआ और रानीतालको माना है और वहाँसे इस अन्वयका उद्भव बतलाया है।[२२]

पं० मोहनलाल शास्त्री—आपने ओरछा और छतरपुर दोनो या एकको गोलापूर्वान्वयका उद्भव-स्थान बताया है। आपने लिखा है कि 'ओरछा स्टेट (मध्यप्रदेश) मे अहार और पपौरा तथा छतरपुर स्टेट (म० प्र०) में छतरपुर और महोबा ऐसे स्थान हैं, जहाँमे गोलापूर्वान्वयके प्रचुर मूर्तिलेख प्राप्त हुए हैं।' ग्वालियर स्टेट (म० प्र०) मे इस अन्वयके अभिलेख प्राप्त न होनेसे उन्हें ग्वालियरको उसका उद्भव स्थान मानना इष्ट नही है। उनकी दृष्टिमे यह सब क्षेत्र 'गोला' कहा जा सकता है।[२३]

श्री विद्याधर जोहरापुरकर—आपने अपने 'भट्टारक सम्प्रदाय' ग्रन्थमे 'गोलाराडान्वय' का उल्लेख किया है। पर 'गोलाराड्' कहाँ रहा, इस सम्बन्धमे कुछ नही लिखा।[२४]

डॉ० दरबारीलाल कोठिया—आपने आहार क्षेत्रके पास स्थित 'गोलपुर' नामक एक ग्रामको 'गोला' से समीकृत किया है, क्योकि आहार क्षेत्रमें इस अन्वयकी प्रचुर मूर्तिया उपलब्ध है।[२५]

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल—आपने अपने 'खण्डेलवाल जैन समाजका वृहद् इतिहास' (पृ० ५८) मे लिखा है कि इस जातिका निवास गोल्लागढ़ (गोलाकोट) की पूर्व दिशामे रहा है। उसकी पूर्व दिशामें रहने वाले गोलापूर्व कहलाये।

समीक्षा

डॉ० जगदीशचन्द्र जैनका 'गोला' नामक स्थानको गुन्टूर जिलेके 'गोलि' स्थानसे समीकृत करना अभिलेख आदि साक्ष्योके अभावमे तर्कसंगत नही है और न गोदावरीके आसपासका प्रदेश भी उनके अभावमे 'गोला' माना जा सकता है। तमिल, केरल आदिके लोग भी काले होते है। अत. उनका यह आधार भी उसमे सहायक नही है।

श्री प्रभुलाल पोहरीका संवत् १८२५ मे लिखे गये नवलशाहके वर्द्धमान-पुराणमे आये 'गोयलगढ़' को ग्वालियरके अभिलेखोंमें आये 'गोइलगढ'से समीकृत करना और उसे गोलापूर्वान्वयका उद्भव-स्थल बताना युक्त नही है। इस सम्बन्धमें निम्न बाधक है—

(१) तीर्थंकर ऋषभदेवका गोयलगढ आना और वहांके वैश्योंको उपदेश देना तथा उसे उनके द्वारा ग्रहण करना ये ऐसी बातें है, जिनका आदिपुराण (९वी शती) मे[२६] कोई उल्लेख न होनेसे विश्वसनीय नही कही जा सकती है।

(२) नवलशाह स्वय गोलापूर्व जैन थे। ऐसी कथा लिखनेमे अतिशयोक्ति भी कर सकते है।

(३) ग्वालियरमे गोलापूर्वान्वयके कोई प्राचीन अभिलेख प्राप्त नही हुए। श्री प्रभुलालका यह कहना भी तर्कयुक्त नही है कि तैमूर और औरंगजेबने गोलापूर्व समाजके मन्दिरों और मूर्तियोकी 'इतिश्री' कर दी है, क्योकि कोई कितना ही विनाश क्यो न करे, उनके अवशेष तो मिलते, जबकि एक भी अवशेष प्राप्त नही होता।

गोलापूर्वान्वयके सम्बन्धमे प्रचलित निम्न जनश्रुति भी इस विषयमे वलिष्ठ नहीं है—

गोलापूरब वानिया गोयलगढ़के जान।
पाणाशाह ता वंशमे सर्वप्रतापी मान॥[२७]

इस जनश्रुतिमें पाणाशाहको गोलापूरब बताया गया है। पर थूबोन रिपोर्टमें इसे अग्रवाल कहा है।[28] दूसरे, यदि यह गोलापूर्व और सर्वप्रतापी था, तो इसके प्रतिष्ठित मंदिर और मूर्तियाँ अवश्य उपलब्ध होते। अतः प्रमाणोंके अभावमे उक्त जनश्रुति भी कोई तथ्य प्रस्तुत नही करती।

प्रेमीजीके बताये सूरतके महुआ और रानीताल भी साक्ष्योंके अभावमे 'गोला', नही है। अत वे इस अन्वयके उद्भव-स्थल सिद्ध नहीं होते।

पं० मोहनलाल शास्त्रीने टीकमगढ जिलेके अहार और पपौरा तथा छतरपुर जिलेके छतरपुर और महोबासे प्राप्त अभिलेखोके आधारपर इन स्थानोको 'गोला' मानकर उनमेसे किसी एक स्थानको इस अन्वयका उद्भव-स्थल बताया है। पर वह सदेहास्पद है। यद्यपि टीकमगढ जिलेमे स्थित अहारक्षेत्रके पास मौजूद 'गोलपुर' ग्रामको 'गोला' से समीकृत किया जा सकता है और गोलपुरके निकट स्थित अहार और पपौरा ऐसे स्थल है, जहाँ गोलापूर्वान्वयके प्रचुर प्रतिमा-लेख उपलब्ध है। परन्तु गोलपुरमे वैश्योकी बहुलता नही रही, जो इस समाजको जन्म देते।

डॉ० कोठियाका भी सम्भावित यह गोलपुर इस अन्वयका इसी कारण उद्भव-स्थल सभव नही है।

गोलागढको 'गोला' स्थान माननेके सदर्भमे प० परमानन्दजी शास्त्रीका कथन तर्कसंगत प्रतीत होता है। इसके निम्न हेतु हैं—

(१) गोल्लागढको वर्तमानमे गोलाकोट कहते हैं। यह मध्यप्रदेशके शिवपुरी जिलेमे खनियाधानासे छह किलोमीटर दूर है। यहाँ एक गोल पहाडीपर गोल कोट बना हुआ है। इस कोटके भीतर ११९ मूर्तियाँ हैं, जिनकी आसनोंपर वि० सं० १००० से १२०० (ई० ९४३ से ११४३) तकके अभिलेख अंकित हैं। एक विशाल जैन मन्दिर भी बना हुआ है।[29] अत यह स्थान (गोल्लागढ) 'गोला' कहा जा सकता है।

(२) चन्द्रगिरि (श्रवणबेलगोल) मे उल्लिखित ई० ११६३ के एक लेखमे गोल्लदेश और वहाँके राजाके किसी कारणवश (ससारभयसे) विरक्त होकर मुनि होने तथा उनके प्रसिद्ध आचार्य 'गोल्लाचार्य' नामका उल्लेख किया गया है, जो इस सन्दर्भमे ध्यातव्य है।

(३) उक्त चन्द्रगिरिसे ही प्राप्त एक अन्य लेखमे भी उक्त प्रकारसे उल्लेख किया गया है। विशेष यह कि उपर्युक्त राजाको गोल्लदेशका प्रसिद्ध भूपाल तथा अभिनव चन्देलवंशनरेन्द्रचूडामणि कहा गया है। इसके साथ ही उन्हें वीरनन्दि विबुधेन्द्रकी परम्परामें होनेवाला प्रसिद्ध आचार्य गोल्लाचार्य बतलाया गया है।[30]

इन दो शिलालेखोसे प्रकट होता है कि गोल्लदेश चन्देलवंशी राजाओ द्वारा शासित क्षेत्र था और सम्भवत इसीको 'गोला' या 'गोल्ला' कहा जाता था। अब देखना है कि यह गोल्ला या गोला (गोल्ल) देश कहाँ है, जिस पर चन्देले राजाओका शासन रहा है। इतिहासकार डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनने लिखा है कि ई० ८३१ मे नन्नुक चन्देलने इस वंशकी स्थापना की थी और उसने खजुराहोको अपनी राजधानी बनाया था। धग इस वंशका बडा महत्त्वाकांक्षी राजा था। खजुराहोका पार्श्वनाथ मंदिर इस शासकके प्रथम शासन-वर्ष ई० ९५४ मे बना था। यह मुनि वासवचन्द्रका आदर करता था।[32] इसके पौत्र विद्याधरदेवके द्वारा ई० १०२८ मे खजुराहोके शांतिनाथ मंदिरमे आदिनाथकी विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई गई थी। कीर्तिवर्मन् चन्देलके मंत्री वत्सराजने देवगढमे दुर्ग बनवाकर उसका 'कीर्तिगिरि' नाम रखा था।[33]

मदनवर्मदेव इस वंशका धार्मिक निर्माण-कार्योंमे अधिक रुचि लेनेवाला प्रसिद्ध शासक रहा है। जगत्सागर (छतरपुर) और पपौरा (टीकमगढ) मे ई० ११४५ के, मऊ (छतरपुर) से ई० ११४६ के, खजु-

राहो (छतरपुर) तथा अहार (टीकमगढ) से ई० ११४८, ११५५ और ११५८ के तथा महोबासे ई० ११६३ के प्राप्त अभिलेखोंमे वहाँ मदनवर्मदेवका राज्य बतलाया गया है।

गोल्लागढ (गोलाकोट) इसकी सम्भवत. राजधानी थी और उसके चारो ओर उसका शासन था। शिवपुरी, टीकमगढ, छतरपुर, पन्ना, सागर, झासी और भिण्ड-भदावरका क्षेत्र उसके अन्तर्गत था। अहारका मदनसागर तालाब और सोंरईके पास स्थित मदनपुर इसीके नामपर रहे मालूम होते है।

हम पहले कह आये है कि गोल्लागढके पास स्थित गोलपहाडीपर गोलपरकोटेके भीतर बने जैन मन्दिरमे ११९ मूर्तिया विराजमान है। इसके द्वारा शासित यह उपयुंक्त क्षेत्र गोलपहाडीके कारण ही 'गोला' या 'गोल्लदेश' के नामसे प्रसिद्ध हुआ हो, तो आश्चर्य नही है।

इसका शासन-काल ई० ११२९ से ११६३ माना जाता है। इसने अपने देशका ३४ वर्ष शासन किया है। इसके शासन-कालमे विभिन्न स्थानोपर अनेक जैन प्रतिमा-प्रतिष्ठाएँ हुई है। यह अपने पूर्वज धंग, विद्याधरदेव आदिसे अधिक जैनधर्मप्रेमी था।

चन्द्रगिरि (श्रवणबेलगोला) के अभिलेखोमे आचार्य वीरनन्दी 'विबुधेन्द्र' की परम्परामे दीक्षित जिन प्रसिद्ध आचार्य गोल्लाचार्यका उल्लेख किया गया है और जिन्हे गोल्लदेशाधिप तथा चन्देलराजवंशचूडामणि दीक्षाके पूर्व बताया गया है, वह राजा और कोई नहीं, मदनवर्मदेव (ई० ११२९-११६३) चन्देल ही था और उसका शासित क्षेत्र गोल्लदेश था।

यहाँ विचारणीय है कि उसकी विरक्ति और जैनधर्ममे दीक्षित होनेका कारण क्या है? इस विषयमे दो कारण प्रतीत होते है। एक तो यह कि गोल्लागढमे कोई प्रभावशाली जैन धर्मोपदेशक भट्टारक या विशिष्ट आचार-विचार सम्पन्न विद्वान् आया हो, जिनके प्रभावपूर्ण उपदेशसे जहाँ नगरका अधिकाश वैश्य समाज प्रभावित हुआ हो और उसने अपने आचार-विचारमे परिवर्तन किया हो वहाँ राजा मदनवर्मा (ई० ११६३) भी उनके उपदेशसे इतना प्रभावित हुआ हो कि उसने राज्यको तृणवत् त्यागकर चन्द्रगिरि (श्रवणबेलगोला, कर्नाटक) मे जाकर दिगम्बर जैन श्रमणकी दीक्षा ले ली हो और गोल्लदेशके राजा होनेसे वे 'गोल्लाचार्य' नामसे प्रथित हुए हो। वे जैनधर्मके अतिशय भक्त थे।

दूसरा कारण यह ज्ञात होता है कि इसके राज्यपर किसी दूसरे शत्रु राजाके द्वारा आक्रमण किया गया हो और जिसका मुकाबला कर सकना सम्भव न देखकर मदनवर्मा राज्यको त्यागकर दूरवर्ती एव पावन क्षेत्र श्रवणबेलगोला पहुँचे हों तथा वहाँ चन्दगिरिपर आ० वीरनन्दी 'विबुधेन्द्र' की परम्परामे दीक्षित हो गये हों। दीक्षा लेनेके पूर्व यत वे गोल्लदेशनरेश थे, अत वे 'गोल्लाचार्य' नामसे प्रख्यात हुए। यही सबब है कि अभिलेखोंमे मदनवर्माके वैराग्यका स्पष्ट कारण न बताकर 'केन च हेतुना', 'किमपि कारणेन' (किसी कारणसे, कुछ कारणसे) मात्र कहा गया है। वह कौन शत्रु राजा था, जिसका आक्रमण मदनवर्माके लिए अपरिहार्य रहा, यह इतिहासके आलोकमे अन्वेषणीय है। ई० ११६३ के बाद मदनवर्माके विषयमे इतिहास मौन है। इसीलिए उसके सम्बन्धमे उक्त दो कारणोंकी सम्भावना की गई है।

नगरके धार्मिक वैश्य समाज भी धर्मक्षतिके भयसे सुरक्षित दूसरे स्थानोपर चले गये हो। सपादलक्ष-देशपर म्लेच्छ (साहिबुद्दीन तुरुष्कराज) द्वारा आक्रमण किये जानेपर जैसे पण्डितप्रवर आशाधर (१३०० संवत्) बहुत परिवाराके साथ पूर्व स्थान माण्डलगढ़को छोडकर चरित्रनाशके भयसे धारापुरीमे जा बसे थे।

"गोला" शब्दके प्रसंगसे इतना प्रासंगिक कहनेके उपरान्त उसके उत्तरपद "पूर्व" पर भी विचार

किया जाता है। यहाँ 'पूर्व' पदसे पूर्व दिशा लिया जाना चाहिए। जो गोल्लागढकी पूर्वदिशामें आचार-विचार सम्पन्न वैश्य समाज रहता था और जैनधर्मका पालक था वे गोलापूर्व कहे जाते थे, उनके समीप उत्तरदिशामें जो धार्मिक वैश्य समूह रहता था, उन्हें गोलालारे या गोलाराड् कहा जाता था और जो भूषणोंके परिधानमें अधिक रुचि रखते थे या उस देश (गोल्लदेश) के भूषण माने जाते थे उन्हे गोल्लश्रृङ्गार या गोल्लसिंघारेके नामसे अभिहित किया जाता था। ये उस नगरके वार्ड या मुहल्ले थे। ये वर्ग व्यवसायकी दृष्टिसे शताब्दियोंसे दूसरे नगरों एवं गावोंमें आते-जाते रहते थे। जो व्यापारके लिए पूर्व दिशाकी ओर गये वे वहीं बस गये। पर उन्होंने मूलनिवासके नामको नही छोडा। वे उनके अन्वय, आम्नाय या जाति बन गई। जैसा कि मूर्ति-लेखोंमें उल्लिखित है। जो परिवार गोल्लागढ और गोल्लदेशको छोडकर बाहर चले गये, उनके, परिवारोंमें वृद्धि हुई तथा बादको वहाँसे और परिवार भी जाते रहे। उदाहरणार्थ खण्डेलवाल समाजके अनेक परिवार आसाम, बंगाल, मध्यप्रदेश आदिके नगरों-गाँवोंमें आ बसे हैं और सब खण्डेलवाल कहे जाते हैं। गोलापूर्व समाजके परिवारोंमें ऐसा ही एक परिवार बहोरीबन्द (जबलपुर) के शान्तिनाथ-मन्दिर एवं उस विशाल मूर्तिका निर्माता एव प्रतिष्ठाकारक है, जिसने सवत् १००० या १०१० या १०७० मे मंदिर तथा मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी। मूर्तिके पादपीठमे जो उत्कीर्ण लेख है उसमे 'गोल्लापूर्व आम्नाय' का स्पष्ट उल्लेख है। और इस आम्नायको 'उरुकृताम्नाये' पद देकर उन्नत (श्रेष्ठ) आम्नाय बतलाया है। वह परिवार था 'तर्क-तार्किकचूडामणिश्रीमन्माधवनन्दि' से अनुग्रहीत (उपकृत) या उनका कृपापात्र साधु श्री सर्वधर और उसका पुत्र महाभोज, जो धर्म, दान और अध्ययनमे रत रहता था। वह लेख निम्नप्रकार है—

> 'स्वस्ति सवत् १० फाल्गुन वदी ९ भौमे श्रीमद्गयकर्णदेवविजयराज्ये राष्ट्रकूटकुलोद्भव-महासामन्ताधिपतिश्रीमद्गोल्हणदेवस्य प्रवर्धमानस्य श्रीमद्गोल्लापूर्वाम्नाये वेल्लप्रभाटिकायामुरु-कृताम्नाये तर्कतार्किकचूडामणि-श्रीमन्माधनन्दिनानुगृहीत साधुः सर्वधर तस्य पुत्र धर्मदानाध्ययने रतः महाभोज। तेनेद कारित रम्यं शान्तिनाथस्य मन्दिरम्।"
>
> —पं० बलभद्र जैन, भारतके दि० जैन तीर्थ (म० प्र०), पृ० ३७।

यह परिवार गोल्लागढको छोडकर यहाँ कब आया, कहा नहीं जा सकता। किन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इतनी विशाल (१३ फुट ९ इंच अवगाहना तथा आसन सहित १५ फुट ६ इंच ऊँची) खड्गासन मूर्ति एवं उसके योग्य मन्दिरके निर्माणकी क्षमता और सम्पन्नता प्राप्त करनेके लिए तथा वहाँ स्थायी होनेके लिए १००-१५० वर्षका समय तो लगा होगा। अत. यह परिवार मूल निवासको छोडकर ८वी, ९वी शताब्दीमे आया होगा।

प्रतिष्ठाके समय कलचुरिवंशके राजा गयकर्णदेवका राज्य और उनके प्रभाक शासक राष्ट्रकूटकुलोद्भव गोल्हणदेवका प्रभावी शासन था। गयकर्णदेवका राज्य अनुमानत ई० ११११ से ११५३ तक माना गया है।[35] यही समय गोल्हणदेवका जानना चाहिए। प्राय यही चन्देलनरेश मदनवर्माका इतिहाससम्मत शासनकाल ई० ११२९ से ११६३ तक माना जाता है।[36] जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने गोल्हणदेवका जन्म गोल्लदेशमे होने या गोल्लदेशका राजा होनेकी सम्भावना की है और उन्हें तथा गोल्लाचार्यको एक होनेका अनुमान किया है।[37] पर वे दोनों अलग-अलग व्यक्तित्व हैं। गोल्हणदेव राष्ट्रकूटवंशी थे और गोल्लाचार्य चन्देलवंशी थे। गोल्हणदेव कलचुरिनरेश गयकर्ण-देवके एक शासक थे, जिनका शासन बहोरीबंद (जबलपुर) क्षेत्रमे था और गोल्लाचार्य दीक्षाके पूर्व गोल्ल-देशके नरेश तथा चन्देलनरेशचूडामणि थे, जिनका शासित क्षेत्र गोल्लदेश था, जो शिवपुरी, छतरपुर,

पन्ना, झाँसी और टीकमगढ तक था। अतः गोल्हणदेको गोल्लाचार्य माननेकी सम्भावना या अनुमान संगत नहीं है।

हाँ, शास्त्रीजीके इस विचारसे हम सहमत है कि 'बुन्देलखण्डके जिस अञ्चलमें गोलापूर्व, गोलालारे और गोलश्रृंगारके परिवार बसते आये है वह पूरा प्रदेश गोलाराड् कहा जाता रहा है।' उन्होंने जिस प्रदेशको गोलाराड् कहा है सम्भवत वह गोल्लदेश ही है और वह बुन्देलखण्ड (उत्तर भारत) का ही अञ्चल है, दक्षिणका नहीं।

सीकरसे प्रकाशित 'चारित्रधर्मप्रकाश' नामक ग्रन्थ में और 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' भाग ४ के पृष्ठ ४४१ पर दी गई नन्दिसंघकी पट्टावलीमे बारहवें क्रमांकपर वि० सं० ३५८में संघके पट्टपर आरूढ हुए गुणनन्दिका नामोल्लेख हुआ है। और 'चारित्रधर्मप्रकाश' में दी गयी, पट्टावलीके अनुसार पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने गणनन्दिको दक्षिण देशस्थ भद्दलपुरका गोलापूर्व पट्टाधीश बताकर दक्षिणमें भी गोलापूर्वान्वयका आवास अनुमानित किया है। उनकी मान्यता है कि दक्षिणके जिस प्रदेशमें गोलापूर्वान्वयका पूर्वकालमें निवास रहा है वही गोल्लदेश है और गोलाराड्, गोलापूर्व तथा गोलश्रृंगार तीनों अन्वयोंके वंशधर वहींसे आये हैं।[३८] इस सन्दर्भमें प्रथमत विचारणीय है कि शास्त्रीजीने आचार्य गुणनन्दिको गोलापूर्व किस आधारपर बताया है ? क्योंकि 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा' भाग ४ के पृ० ४४१ में दी गयी नन्दिसंघकी पट्टावलीमें गणनन्दिके दक्षिणदेशस्थ भद्दिलपुरके पट्टाधीश होनेका उल्लेख तो किया गया है, किन्तु उनके गोलापूर्व होनेका कही कोई उल्लेख नहीं है। शास्त्रीजोने यदि 'चारित्रधर्मप्रकाश' में कोई उल्लेख देखा हो, तो कहा नही जा सकता, क्योंकि यह ग्रन्थ अबतक लेखकको अप्राप्त है। डॉ० नेमिचन्द्र जैन शोधी-खोजी विद्वान थे। यदि आचार्योंकी जातिके उल्लेख उन्हें प्राप्त हुए होते, तो वे उसके उल्लेख अवश्य करते।

दूसरे, यदि गोलापूर्वान्वयका वि० सं० ३५८ में जन्म हो गया था तो इस अन्वयके प्राचीन प्रतिमा-लेख आदि भी मिलना चाहिए थे। यथार्थमें गोलापूर्वान्वय ही नही, अन्य कोई अन्वय भी इस समयमें नही थे। यही कारण है कि उस समयके उनके कोई लेख प्राप्त नही होते हैं।

तीसरे, दक्षिणमे साक्ष्योंके अभावमें न गोल्लदेशकी सम्भावना की जा सकती है और न ही गोलापूर्व, गोलाराड् और गोलश्रृंगार अन्वयोंका उसे उद्भवस्थल स्वीकार किया जा सकता है। शास्त्रीजी इससे पूर्व इसी लेखके आरम्भमे बुन्देलखण्डके महोबा-भिण्ड-भदावर अञ्चलको गोल्लदेश या गोलाराड् सम्भावित कर आये हैं। किन्तु अब दक्षिणमे गोल्लदेश होनेकी सम्भावना कर रहे है, जो परस्परविरुद्ध है। चन्द्रगिरिके अभिलेखोंमे ही गोल्लदेशका उल्लेख किया गया है और उन्हीमें उसका शासक चन्देलनरेशचूडामणिको बताया गया है, जिसने बादको दिगम्बर मुनि-दीक्षा आ० वीरनन्दि 'विबुधेन्द्र' की परम्परामे ग्रहण की थी और वे गोल्लाचार्यके नामसे प्रथित हुए थे। यह चन्देलनरेशचूडामणि मदनवर्मदेव चन्देलनरेश था और जिसने गोल्लागढ़ वर्तमान गोलाकोटपर ई० ११२९ से ११६३ तक शासन किया, जिसके अन्तर्गत शिवपुरी, टीकम-गढ़, छतरपुर, झाँसी, मदनपुर आदिका क्षेत्र था। ध्यातव्य है कि चन्देल राजवंश उत्तरभारतमे ही रहा है, दक्षिणमें नही। इतने विचार-विमर्शके बाद हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चन्देलवंशी राजा मदनवर्माके द्वारा शासित गोल्लागढ ही गोल्लाराड् या गोल्लप्रदेश है। इसी प्रदेशसे इसके शासनकालमें प्रतिष्ठित सर्वाधिक जैन मूर्तियाँ एवं जैन मन्दिर उपलब्ध हुए हैं। दक्षिणके किसी स्थानसे नही प्राप्त हुए।

साहित्यिक सन्दर्भ

जैन जातियोंकी संख्या चौरासी बताई गई है। इनमे 'गोला' पदसे जिनके नाम आरम्भ हुए है उनमें तीन जातियाँ हैं—[1]गोलापूर्वान्वय, [2]गोलाराड् और[3] गोलशृंगार। माणिक्यसुन्दरसूरिकृत सवत् १४७८ के 'पृथ्वीचन्द्रचरित्र-वाग्विलास' मे इन तीनका उल्लेख नही है, केवल 'गोला' नामक एक जातिका क्रमाक तिरेसठपर उल्लेख है।[39]

श्री पूर्णचन्द्र नाहर द्वारा अकारादिक्रमसे प्रकाशित नामावलीमे अठारहवें क्रमाकपर 'गोलावा' जातिका नाम आया है।[40] इसीप्रकार मोहम्मदशाहके समयकी जातियोंमें 'गोलावाल'[41] और कवि लावण्यसमयकी कृति 'विमलप्रबन्ध में 'गोलवाल' जातिका नामोल्लेख हुआ है।[42] श्रीसौभाग्यनन्दिसूरि रचित संवत् १५७८ के 'विमलचरित'मे अवश्य गोलाराड्, गोलसिंगारा और गोला इन तीन जातियोके नामोल्लेख हुए है।[43] इनमें गोलापूर्व जातिका नामोल्लेख नही हुआ है। पर प्रतीत होता है कि इनमें 'गोला' शब्द गोलापूर्व जातिके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। गोलाराड्का प्रशस्तियोंमें गुलराड्, गोलाराडिय और गोलाराडयउ नामोंमे व्यवहार हुआ है।[44]

इन गोला, गोलावाल, गोलवाल, गोलाराड् और गोलसिंगारा जातीय नामोल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि इन नामोंमें उनके आदिमे प्रयुक्त 'गोला' पद उस 'गोला' नामक स्थान या देशका सूचक है जहाँके वे मूल निवासी थे। चौरासी जातियोंमे अग्रवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल और मेडतवाल आदि अन्वयोंके नामोंमे यह सम्भावना होती है क्योंकि ये जातियाँ भी अपने स्थानविशेषोंकी प्रकाशक है।

संवत् १८२५के नवलशाहकृत हिन्दी 'वर्द्धमान पुराण' तथा बख्तराम रचित सवत् १८२७ के 'बुद्धि-विलास' ग्रन्थमे 'गोलापूर्वान्वय' का नाम सर्वप्रथम दर्शाया गया है। इसके पश्चात् गोलाराड्, गोलसिंघारे आदिका उल्लेख किया गया है।[45]

प्रतीत होता है कि 'गोला' नामक स्थानसे उद्भूत जातियोमें गोलापूर्वान्वयके श्रावक सर्वप्रथम 'गोला' स्थानसे निकले थे। इसीसे वे 'गोलापूर्व' कहे गये। 'पूर्व' शब्दके दो अर्थ है—एक पूर्व दिशा और दूसरा किसी अन्यकी अपेक्षा पहले। 'पूर्व' पदके इन दोनों अर्थोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'गोलापूर्वान्वय' के श्रावकोने गोलाराड् और गोलसिंघारे अन्वयोंसे पहले 'गोला' या 'गोल' नामक नगरसे निर्गमन किया था तथा वे वहाँसे पूर्व दिशाकी ओर जा बसे थे। सर्वप्रथम श्रावकके व्रत ग्रहण करने और सर्वप्रथम 'गोला' नगरसे निर्गमन करनेके कारण तथा गोलानगरसे पश्चात् निर्गमन करने वाले एवं व्रत ग्रहण करनेवाले अपने परवर्ती अन्वयोंकी अपेक्षा अपनेको अपूर्व (विशिष्ट) बतानेके लिए सम्भवतः इन्होंने अपने समूहको 'गोला-पूर्वान्वय' संज्ञासे अभिहित किया था। यह मान्यता सवत् १८२७ तक अक्षुण्ण रही ज्ञात होती है। इस उल्लेखसे मदनवर्मदेवके वैराग्यके सम्बन्धमे पहले की गयी कल्पना भी युक्त प्रतीत होती है।

इस प्रकार गोल्लागढ, मऊ, महोबा, खजुराहो, छतरपुर, मलहरा, द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि, मदनपुर, अहार, पपौरा, सोनागिरि आदि जिन स्थलोंसे मदनवर्मदेव चन्देलके अभिलेख प्राप्त होते है वे स्थल तथा वर्तमान छतरपुर, टीकमगढ, पन्ना, दमोह, सागर, ग्वालियर, खनियाधाना, भिण्ड और उत्तरप्रदेशके झांसी व ललितपुर जिले 'गोल्लदेश' के नामसे विख्यात रहे प्रतीत होते है। गोल्लागढ सम्भवत राजधानी थी।

इतिहासकार रतिभानुसिंह नाहरने सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड और दक्षिणमे जबलपुरके पडोसका प्रदेश मदन-वर्मदेव चन्देलके राज्यमे सम्मिलित रहा बताया है।[46] उन्होंने मदनवर्मदेवका अन्त कैसे हुआ, इसका कोई उल्लेख नही किया है। पर इस सम्बन्धमें अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि ई० ११६३ मे किसी कारणसे विरक्त

होकर उसने दक्षिणकी ओर प्रस्थान कर श्रवणबेलगोलमें चन्द्रगिरिपर मुनि वीरनन्दी या उनकी परम्परामें हुए किसी आचार्यसे मुनिदीक्षा धारण कर ली थी। ई० ११६३ के पूर्व ही इसका राज्य गोल्लदेशके नामसे विख्यात हो गया था। परन्तु इसका नामोल्लेख अब तक चन्देल राज्यसे प्राप्त किसी भी अभिलेखमे प्राप्त नही होता।

गोल्लागढ (गोलाकोट) का गोल पहाडीपर स्थित जैनमन्दिरकी मूर्तियोके अभिलेखोके मूलपाठ इस सन्दर्भमे पठनीय है। सम्भवत उनमें गोल्लदेशका नाम उल्लिखित हो।

हम यह पुनः कहेंगे कि चन्देल-शासकोंका शासन उत्तरभारतमें रहा है। इस वंशका संस्थापक नन्नुक चन्देल (ई० ८३१) था। उसने खजुराहो (छतरपुर) को अपनी राजधानी बनायी थी। इस वंशमें धंग (९५४ ई०), विद्याधरदेव (ई० १०२८), कीर्तिवर्मन् जैसे चन्देले राजा शासक हुए। इस सन्दर्भमे डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा लिखित 'भारतीय इतिहास एक दृष्टि' दृष्टव्य है, जो भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित है।

गोलापूर्वान्वयके गोत्र

'गोत्र' जैनदर्शनके आठ कर्मोंमें सातवाँ कर्म है।[४७] धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ७७ मे गोत्रका अर्थ कुल या वंश बताया गया है।[४८] परन्तु जातियोंके सन्दर्भमे गोत्रका अर्थ बैंक होता है। कवि नवलशाहने इसी शब्दका व्यवहार किया है। उन्होने दो सवैया और एक दोहेमें गोलापूर्वान्वयके अट्ठावन बैंक बताये है। उनके नाम कविके शब्दोंमे निम्न पद्योंमे द्रष्टव्य हैं—

खाग, फुसकेले और चन्देरिया, मरैययौ पपौरहा, बनोनहा, सु टेंटबार जानिये।
भर्तपुरिया, छोरकटे, कोठिया, दुमेले औ बरधरिया, जुझौतिया, बेरिया, बखानिये॥
इन्द्रमहा (जन), खुर्देले, भिलसैया, रौतेले, जनहारिया, निर्मोलक, तिगेले प्रमानिये।
धौनी, पैंथवार, रहदेले, कपासिया, गोदरे गुगौरिया, बबोलिया जु ठानिये॥
दंडकार सरखडे, साधारण, टीकाके, रावत, बदरोठिया, सोंनी, सोंसरा सु लीजिये।
पतरिया, घुघोलिया, गडोले, पचलौरे, सनकुटा, मोंरया, हीरापुरिया सुनीजिये॥
कनकपुरिया, कनसेनियाँ, पटौरहा सु बिलबिले, नाहर, करैया, सांधेले गणीजिये।
पडैले, सैनियाँ, दरगैयाँ, मपोलहा मझगैयाँ, लखनपुरिया, बोदरे गनीजिये॥
सिरसपुरिया, कोनियाँ ये अट्ठान बैंक। 'नवल' कहे संक्षेपसे निजकुल वरणों नेक॥[४९]

कविने इन पद्योंमे जिन बैंकोंके नाम बताये हैं वे क्रमश निम्न प्रकार हैं—

१. खाग, २. फुसकेले, ३. चन्देरिया, ४ मरैया, ५ पपौरहा, ६. बनोनहा, ७. टेंटवार, ८. भर्त-पुरिया, ९ छोरकटे, १० कोठिया, ११. दुमेले, १२. बरधरिया, १३. जुझौतिया, १४. बेरिया, १५. इन्द्र-महा, १६. खुर्देले, १७. भिलसैया, १८. रौतेले, १९. जनहारिया, २०. निर्मोलक, २१. तिगैले, २२. धौनी, २३. पैंथवार, २४. रहदेले, २५. कपासिया, २६ गोदरे, २७. गुगौरिया, २८. बवोलिया, २९ दंन्डकार, ३०. सरखडे, ३१. टीकाके, ३२. रावत, ३३. बदरोठिया, ३४. सोंनी, ३५. सोंसरा, ३६. पतरिया, ३७. घुघोलिया; ३८. गडोले, ३९. पचलौरे, ४०. सनकुटा, ४१. सोंरया, ४२. हीरापुरिया, ४३. कनकपुरिया, ४४. कनसेनियाँ, ४५. पटोरहा, ४६ बिलबिले, ४७ नाहर, ४८. करैया, ४९. साधेले, ५० पडेले, ५१ सेनिया, ५२. दरगैयाँ, ५३. मपोलहा, ५४. मझगैयाँ, ५५. लखनपुरिया, ५६. बोदरे, ५७. सिरसपुरिया और ५८. कोनियाँ।

गोत्र-नामकरण

अन्वयोंके सृजनमे जैसे प्रधानतः उनकी चारित्रिक विशुद्धि कारण रही है, ऐसे ही गोत्रोंके सृजनमे भी

सम्भवतः यही कारण रहा है। अन्वयोंके नामकरण जैसे उनकी मूल निवासभूमियोंपर हुए, ऐसे ही गोत्रोंके नाम भी उनके मूल निवासस्थानोंके नामोंपर रखे गये ज्ञात होते हैं। जिन गोत्रोंके नाम इस प्रकारके प्रतीत होते हैं उनके मूल निवासस्थानोंका परिचय निम्न प्रकार है—

१ चन्देरिया : इस बैंकका नाम चन्देरी, जो थूबन (थूबोन) के पास है, के नामपर रखा गया ज्ञात होता है।

२ पपौरहा : मध्यप्रदेशके टीकमगढ जिलेमे टीकमगढ़से नातिदूर पपौरा एक अतिशय क्षेत्र है। यहाँ सवत् १२०२ के दो मूर्तिलेख ऐसे हैं, जिनमे गोलापूर्वान्वयका उल्लेख हुआ है। अतीतमें इस अन्वयके परिवारोंकी यह आवासभूमि रही है। वे किसी कारणवश अन्यत्र चले गये। परन्तु उन्होने अपनी जन्मभूमिको नही भुलाया। उन्होने पपौराके मूलनिवासी होनेके कारण अपने गोत्रका नाम 'पपोरहा' रखा।

३ बनोनहा यह नाम बुन्देलखण्डके 'बनेडिया' ग्रामके नामपर रखा गया जान पडता है। इस ग्रामकी स्थिति ज्ञात नही हो सकी है।

४ भर्तपुरिया . सेंदपा और मलहराके बीच 'भरतपुरा' एक ग्राम है। इस ग्रामके नामपर इस गोत्रका नाम प्रसिद्ध हुआ ज्ञात होता है।

५ बरघरिया यह नाम मूलत 'बरखरिया' ज्ञात होता है। रहलीके पास 'बरखेरा' ग्रामके नामपर इसका नामकरण हुआ होगा। इस ग्राममें आज भी गोलापूर्वोंका आवास है।

६ बेरिया टीकमगढ जिलेमें एक 'बेरी' नामक ग्राम बताया गया है, जिसके नामपर इस गोत्रका नाम रखा गया। आगरा-शिवपुरी रोडपर बसे 'बरई' गाँवके नामपर भी यह नाम रखा जाना संभावित है।

७ इन्द्रमहा जबलपुर जिलेमें सिहोरा-मझगवाँके पास एक 'इन्द्राना' नामका ग्राम है। जहाँ जैन भी है। इस गोत्रका नाम इसी ग्रामके नामपर रखा गया ज्ञात होता है।

८ भिलसैंया : टीकमगढ जिलेके 'भेलसी' ग्रामके नामपर इस गोत्रका नाम रखा गया प्रतीत होता है।

९ जनहारिया इस गोत्रका नाम मूलत 'जतहारिया' होना चाहिए। टीकमगढसे पास एक 'जतारा' ग्राम है। उसके नामपर इसका नामकरण हुआ कहा जा सकता है।

१० जुझोतिया · 'जुझार' ग्रामके नामपर इसका नाम रखा गया है।

११ तिगेले यह बुन्देलखण्डके 'तिगोडा' ग्रामके नामपर रखा गया।

१२ घौनी मलहराके पास 'घिनौची' ग्रामका सूचक है।

१३ पेथवार : विदिशासे ५० मील दूर उत्तर-पूर्वमे स्थित पथारि ग्रामपर इसका नामकरण हुआ है।

१४ रहदेले इस गोत्रके श्रावक सम्भवत मूलरूपसे 'रहली' के वासी थे।

१५ गोदरे यह नाम या तो खनियाधानासे आठ किलो मीटर दूर स्थित 'गूदर' या 'गोदलमऊ' ग्रामके नामपर रखा गया है।

१६ गुगौरिया . बण्डा तहसीलके "गूगरा" ग्राम पर यह नाम रखा गया है।

१७ बबोलिया यह नाम मूलतः बमोलिया होगा और "बम्हौरी" ग्रामके नाम पर इसका नामकरण हुआ होगा।

१८ सरखड़े इस गोत्रका नाम दमोह जिलेके "सरखडी" ग्रामके नाम पर रखा गया हो।

१९ टीकाके यह सागर जिले के "टीकापार" ग्रामका सूचक है।

२० रावत   सागर जिलेके 'रुरावन'' ग्रामके नामपर इसका नामकरण हुआ है।
२१ बबरौठिया . बण्डाका ''बरायठा'' ग्राम इसका उद्भव स्थल है।
२२ सोंसरा   . सागरका समीपवर्ती ''सेसई'' ग्राम इस गोत्रका मूल निवास रहा है। इसी ग्रामके नामपर इसका नाम रखा है।
२३ गड़ौले   इस गोत्रके पूर्वज संभवतः शिवपुरी जिलेमें ''गुडार'' ग्रामके निवासी थे, अत यह नाम उन्होंने इस ग्रामके नामपर रखा है।
२४ पचलोरे   : इसका नामकरण सम्भवतः शिवपुरी जिलेके ''पचरई'' ग्राम पर हुआ है।
२५ सोंरया   ' यह गोत्र ललितपुर जिलेके ''सोरई'' ग्रामकी देन है।
२६ हीरापुरिया   यह गोत्र ''हीरापुर'' ग्रामके नामपर निर्मित हुआ है।
२७ कनकपुरिया : अपभ्रंश भाषाके विद्वान रइधूने सोनागिरिको ''कणयद्दि''–कनकगिरि कहा है। इससे ज्ञात होता है कि यह गिरितले बसा ग्राम ''कनकपुरी'' के नामसे प्रसिद्ध रहा होगा। मंदिर नं० १६में विराजमान गोलापूर्वान्वयकी सं० १२१३ की एक पद्मासनस्थ प्रतिमासे प्रतीत होता है कि यहाँ गोलापूर्व श्रावकोंका भी आवास था। इस गोत्रका नाम इसी कनकपुरीके नामपर रखा गया है।
२८ पटोरहा   इसका नाम रहलीके समीपवर्ती 'पटना' अथवा 'पटेरा' (कुण्डलपुर) के नामपर रखा गया प्रतीत होता है।
२९ विलविले   : यह नाम करेलीके समीपवर्ती 'विलहरा' ग्रामके नामपर रखा गया कहा जा सकता है।
३० करैया   ग्वालियरका 'करहिया' ग्राम, जहाँके निवासी वरैया-विलास ग्रन्थके लेखक पण्डित लेख-राजजी थे, इसका उद्भव स्थल है।
३१ सोनो   . यह बकस्वाहाके निकटवर्ती 'सुनवाहा' ग्रामके नामपर निर्मित गोत्र है।
३२ कनसेनिया   कटनीके पास एक प्राचीन स्थल है—'कारीतलाई'। इसका प्राचीन नाम कर्णपुर था। यह गोत्र सम्भवतः इसी ग्रामके नामपर बना है।
३३ पड़ेले   'पिडरुआ' या 'पडवार' ग्रामके नामपर इस गोत्रका नामकरण हुआ है।
३४ सैंनिया   ' सेनपा (सेंधपा) के नामपर निर्मित गोत्र है।
३५ दरगैंया   इस गोत्रके निवासी मूलतः 'दरगुवा' के निवासी थे।
३६ मझगैंया   : जबलपुर जिलेके 'मझगुवा' गावके नामपर इस गोत्रका नामकरण हुआ है।
३७ लखनपुरिया ' खानियाधानाके पास स्थित 'लखारी' ग्राम इस गोत्रका मूल निवास प्रतीत होता है।
३८ बोदरे   : यह गोत्र खनियाधानामें लगभग आठ मील दूर स्थित 'निबोदा' ग्रामके नामपर निर्मित ज्ञात होता है।
३९ कोनियां   पाटनके पास हिरननदीके तटपर स्थित 'कोनी' ग्रामके नामपर इस गोत्रका नामकरण हुआ कहा जा सकता है।

ध्यान रहे, ये नाम उसीप्रकार प्रसिद्ध हुए, जिसप्रकार जयपुरिया, जोधपुरिया आदि नाम प्रचलित हैं। और वे गोत्र बन गये।

गोत्र-सूचीमें कुछ नाम ऐसे भी हैं, जो मूल निवासस्थानोंके नामपर निर्मित न होकर श्रावकोंके प्रमुख व्यवसायके नामोंपर निर्मित हुए हैं। ऐसे गोत्रोंके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ कोठिया   : कोठारका कार्य करने वाले श्रावकोंका गोत्र।

२ दुसेले विवाह आदिसे या अन्य किसी युक्तिसे विरोध समाप्त कर दो व्यक्तियोंका मिलाप कराने वाले श्रावकोंका गोत्र है।

३ कपासिया : कपासका व्यवसाय करने वालोंका गोत्र

४ दंडकार : प्रशासन करके आजीविका करनेवालोंका गोत्र।

५ सनकुटा : सनके व्यापारियोका गोत्र।

जिन शेष चौदह गोत्रोंके नामकरणका आधार अन्वेषणीय है उनके नाम हैं—

१. खाग, २ फुसकेले, ३. मरैया, ४. टेंटवार, ५. छोरकटे, ६. खुर्देले, ७. गैतेले, ८. निर्मोलिक, ९. सपोतहा, १० पतरिया, ११ घुंघोलिया, १२. नाहर, १३. साधेले, १४ सिरसपुरिया।

वर्तमानमे उपलब्ध गोत्र

नवलशाह द्वारा बताये ५८ गोत्रोंमें निम्न गोत्र ही सम्प्रति परिचयमें आते हैं। यथा—

१ खाग, २. फुसकेले, ३ बन्देरिया, ४. मरैया, ५ बनोनहा, ६ टेंटवार, ७ कोठिया, ८. जुझौतिया, ९ बैरिया, १०. खुर्देले, ११. गोदरे, १२ गडोले, १३ सनकुटा, १४ सोरया, १५. नाहर, १६ साँधेले, १७ पडेले, और १८ पटोरहा (पटोरिया), १९ कपासिया।

वर्तमानमे कुछ गोत्र ऐसे भी मिलते है, जिनका इस सूचीमे उल्लेख नही है। मलैया (मालवीय) और चौसरा ऐसी ही गोत्र है। सूचीमे एक सोसरा गोत्रका उल्लेख है, जो सम्भवत कालान्तरमे चौसरा हो गया है। राधेलीय गोत्र रहवेलेका अपरनाम ज्ञात होता है। मलैया, जिसे मालवीय कहा जाने लगा है, मरैया गोत्र-का अपर नाम है।

ब्राह्मण-गोत्र

नवलशाहके अट्ठावन गोत्रोंमें उपलब्ध रावत और जुझौतिया गोत्र ब्राह्मणोंमे भी पाये जाते है। रावत गोत्र खण्डेलवालोमें भी पाया जाता है। ब्राह्मणोंमें एक "गोलापूर्व" गोत्र भी होता है। इस गोत्रके ब्राह्मण राजस्थानमें जयपुर, जोधपुर, धौलपुर, कोटा, भरतपुर, उत्तरप्रदेशमें आगरा तथा मध्यप्रदेशमें इन्दौर, खण्डवा और नरसिंहपुर जिलोमें बसे हुए है। मध्यप्रदेशके होशंगाबादमें तो गोलापूर्व ब्राह्मणोंका एक पृथक् वार्ड ही बताया गया है।

गोलापूर्व ब्राह्मण-गोत्रका उद्भव

जैन 'गोलापूर्वान्वय'के समान इस गोत्रके ब्राह्मण मूलत गोल्लदेशके निवासी ज्ञात होते हैं। सम्भवत. ये भी जैनधर्मोपदेशकके उपदेशसे प्रभावित होकर जैन हो गये थे। किन्तु जैनधर्मको किसी कारणवश अंगीकार करनेमें असमर्थ हो जानेसे ये पुन अपना पूर्व वैष्णव धर्म मानने लगे। जिन ब्राह्मणोंने अपने धर्मको नहीं छोडा था, उन्होंने इन्हें जाति-च्युत समझकर अंगीकार नही किया, फलस्वरूप ये ब्राह्मण गोलापूर्वगोत्रके नामसे प्रसिद्ध हुए और ये परस्परमें ही अपना सामाजिक व्यवहार करने लगे।

बताया जाता है कि ये मूलत कृषक है। गोपूजक है। कच्चा भोजन सजातियोंके घर करते हैं। विजातियोंके घर पक्का भोजन ही ग्रहण करते है। इनके आचार-विचार अग्रवालोंके आचार-विचारोंके समान होते हैं।

गोलापूर्वान्वयके तीन भेद

नवलशाह कृत हिन्दी वर्द्धमान-पुराणमे इस अन्वयके तीन भेद (समूह) बताये गये हैं—१. बीसबिसे, २ दसबिसे और ३ पचबिसे। उन्होंने लिखा है—

गोलापूरब भेद त्रय, प्रथम विसविसे जान।
और दसविसे, पचविसे, कहौं कहाँ तक गुणवान ।।

इन भेदोंके सम्बन्धमे विद्वानोकी धारणा रही है कि ४०० परिवारोका समूह वीसविसे, दोसौ परिवारोंका समूह दसविसे और १०० परिवारोका समूह पचविसे कहलाता है। नाममे ऐसा अर्थ निकलता भी है। किन्तु यहाँ यह सख्या इस अर्थमें प्रयुक्त नही हुई है। यह संख्या इनकी विशुद्धिकी प्राचीनताकी सूचक है। यहाँ "विसविसे"का अर्थ है ऐसे गोलापूर्व जो ४०० वर्षसे विशुद्ध हैं, जिनके कुल और जातिकी चारित्रिक विशुद्धि ४०० वर्ष पूर्वसे यथावत् बनी हुई है, जो सज्जातित्वके धनी हैं, जिन्हें सप्तपरमस्थानोंमे प्रथम स्थान प्राप्त है।

जो केवल २०० वर्ष पूर्वसे अपनी चारित्रिक निर्मलता बनाये हुए रहे, वे श्रावक "दसविसे" और जो जाति तथा कुलकी विशुद्धिमे १०० वर्ष पूर्वसे हो विभूषित है वे "पचविसे" नामसे विश्रुत हुए।

आर्थिक सम्पन्नता और धर्म-वात्सल्य

गोलापूर्वान्वयकी आर्थिक सम्पन्नता और उसका धर्म–वात्सल्य प्रशस्य तथा अनुकरणीय रहा है। इस अन्वयके श्रावकों द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियों और मंदिरोंसे इस तथ्यका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस अन्वय द्वारा की गयी प्रतिष्ठाओका विवरण निम्न प्रकार है—

स्थान	समय	संख्या	स्थान	समय	संख्या
उर्दमऊ	संवत् ११४९	१	बहोरीबन्द	सं० १०००	१
,,	सं० ११७१	१	मऊ	सं० ११९९	२
जतारा	स० ११९९	१	अगरसागर	सं० १२०२	१
अहार	सं० १२०२	१	पपौरा	स० १२०२	२
मऊ	सं० १२०३	१	अहार	स० १२०३	५
छतरपुर	सं० १२०५	१	अहार	सं० १२०९	२
अहार	स० १२१३	१	सोनागिरि	स० १२१३	१
अहार	सं० १२१८	१	अहार	सं० १२३७	३
अहार	सं० १२३१	१	महोबा	सं० १२१९	१
अहार	सं० १२८८	१	नावई–नवागढ़ (ललितपुर)	स० १२०३	१
सेरोनजी/बानपाल (ललितपुर)	सं० १२०२	१			

मध्यप्रदेशमे उनतीस अन्वयोके श्रावकोंने प्रतिमा-प्रतिष्ठान-समारोह सम्पन्न कराये हैं। इन अन्वयोंमें सर्वाधिक २६ प्रतिमा-प्रतिष्ठाये गोलापूर्वान्वय द्वारा कराया जाना उनकी आर्थिक सम्पन्नता और धर्म-वात्सल्यका द्योतक है। पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने भी इस अन्वयके धर्मवात्सल्यकी सराहना की है। प्रतिमा-प्रतिष्ठा जैसे धार्मिक कार्योंमें इस अन्वयके श्रावक अन्य अन्वयोंका सहयोग करनेमे भी पीछे नहो रहे।[५२]

धी-सम्पन्नता

श्री-सम्पन्नताके समान धी-सम्पन्नता भी इस अन्वयकी उल्लेखनीय रही है। साहित्य-सृजन करने[५३] और करानेमें[५४] भी ये पीछे नही रहे। कुछ साहित्यकार निम्न प्रकार हैं—

शंकर—कवि शंकर अपभ्रंशके विद्वान् थे। इन्होंने "हरिषेण–चरिउ" की रचना की थी। यह कृति

संवत् १५२६ के भाद्र मासमे शुक्ल पक्षकी परिवा, सोमवारके दिन पूर्ण हुई थी। कविके पिता पण्डित भीमदेव गोलापूर्व थे। उन्होंने लिखा है—

> गोलापुव्ववंस सुपवित्त भीमदेउ पंडितवउ पुत्त
> संकर कया पुरह यह कहो दिक्खाकारण कीमउ चौपही
> संवत् पंद्रह मह हो गये वल्लि छव्वीस अधिक तह भए
> भादव सुदि परिवा समिवार दिक्खा पखु तह अक्खियउसाउ
> अब यह कव्बु संपूरण भयउ सिरि हरिषेण संघ कहु जयउ ।।[५५]

पद्दण—ये सानपति गोलापूर्वके सुपुत्र थे। इन्होंने संवत् १५४० मे "उत्तरपुराण" की रचना कर साहित्य-समृद्धिमें योगदान किया था।[५६]

सुखदेव—ये गोलापूर्व विहारीदास पचविसेके सुपुत्र थे। इन्होंने मवत् १७१७ में "वणिक्प्रियाप्रकाश" की रचना की थी। इनके परिचयसम्बन्धी निम्न दोहे है—

> गोलापूरब पचविसे वादि विहारीदाम।
> तिनके सुन सुखदेव कहि वनिकप्रियाप्रकाश ॥
> संवत् मत्रहसे सत्रह बरस सं वत्सरके नाम।
> कवि करता सुखदेव कहि लेखक मायाराम ।।[५७]

धनराज—ये शिवपुरीके राजनन्द गोलापूर्वके पुत्र थे। इन्होने मवत् १६६४ के आसपास भक्तामर-स्तोत्रका पद्यानुवाद कर उसका "भव्यानन्दपचाशिका" नाम रखा था। यह सचित्र प्रति मुनि कातिसागरके पास बताई गई है।[५८]

खड्गसेन—ये धनराजके चाचा जिनदासके पुत्र थे। इन्होंने (भक्तामरके) एक-एक काव्यपर पन्द्रह-पन्द्रह पद्य बनाये थे।[५९]

नवलशाह—इनके पिताका नाम सिंघई देवराय चन्देरिया और माताका नाम प्रानमती था। खटौरा इनकी जन्मभूमि थी। इनके तीन छोटे भाई थे—तुलाराम, घासीराम और खुमानसिंह। इनके पूर्वज भेलसीके निवासी थे। पूर्वजोमे भीषम साहूने म० १६९१ मे प्रतिष्ठा कराई थी। उस समय ओरछानरेश जुझारसिंह-का शासन था।[६०] इन्होंने सं० १८२५ मे चैत्र शुक्ल पूर्णिमाके दिन "वर्द्धमान-पुराण" की रचना की थी।[६१]

बीसवीं शतीमें हुए इस अन्वयके निर्ग्रन्थ मुनि—इस शताब्दीमे मुनि आदिसागरका नाम ध्यातव्य है। वे २८ मूलगुणोके धारक थे। सरलता व और सन्तोषवृत्ति उनके जीवनके अग थे।

क्षु० चिदानन्दजी कठोर तपस्वी एवं ज्ञानप्रचारक थे। उनसे बुन्देलखण्ड बहुत प्रभावित रहा। क्षु० पद्मसागरजी अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी थे। इनकी समाधि द्रोणगिरिमे हुई थी।

वर्तमानमें आचार्य विद्यासागरजी महाराजके संघस्थ मुनि क्षमासागरजी, मुनि गुप्तिसागरजी, ऐलक अभयसागरजी, क्षु० उदारसागर जी तथा अन्य संघस्थ मुनि विरागसागरजी, क्षु० कामविजयनन्दिजीके नाम उल्लेखनीय हैं।

विद्वान्—इस अन्वयके विद्वानोंमें सर्वाधिक वयोवृद्ध मनीषी पं० मुन्नालालजी न्यायतीर्थ रांधेलीय सागर एवं सिद्धान्ताचार्य प० बंशीधर शास्त्री व्याकरणाचार्य बीनाके नाम उल्लेखनीय है। अनेक साहित्यिक रचनाओ द्वारा इन्होने समाजको गौरवान्वित किया है।

दर्शन एव न्यायके क्षेत्रमे काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे सेवानिवृत्त रीडर डॉ० दरबारीलाल

कोठिया न्यायाचार्य, सिद्धान्तके क्षेत्रमे षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त-ग्रन्थोंके सम्पादक स्व० पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री हैदराबाद, पुराणोंके सम्पादन तथा साहित्यिक रचनाओंके क्षेत्रमें डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य सागर, सम्पादन-प्रकाशनके क्षेत्रमे पं० मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर और इतिहासके क्षेत्रमे स्व० पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्लीकी साहित्यिक सेवाएँ जैन जगतमे सदैव स्मरणीय रहेंगी।

शासकीय शिक्षा-संस्थाओमे विभागाध्यक्षोके रूपमें डॉ० गोकुलचन्द्र वाराणसी, डॉ० भागचन्द्र भास्कर, नागपुर, डॉ० रतनचन्द्र जैन भोपाल, डॉ० पवनकुमार जैन सागर, तथा महाविद्यालयोकी शैक्षणिक सेवामे संलग्न डॉ० वीरेन्द्रकुमार जैन छतरपुर, डॉ० भागचन्द्र "भागेन्दु" दमोह, प्रो० राजकुमार जैन ग्वालियर, डॉ० उदय-चन्द्र जैन उदयपुर, डॉ० सनतकुमार जैन जयपुर, डॉ० श्रेयासकुमार जैन जयपुर, डॉ० विनयकुमार जैन दमोह तथा भारतीय ज्ञानपीठके शोधाधिकारी पं० गोपीलाल "अमर" प्रभृतिकी शैक्षणिक सेवाओंके लिए समाज उन्हें सदैव स्मरण रखेगा।

डॉ० बालचन्द्र जैन पुरातत्त्वके क्षेत्रमें, ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेके क्षेत्रमें श्री नीरज जैन, बोधकथाओ-के लेखन-क्षेत्रमें श्री नेमीचन्द्र पटोरिया श्रीमहावीरजी, चिकित्साके क्षेत्रमे प्रो० डॉ० नरेन्द्रकुमार पटोरिया बम्बई, वैद्य कामताप्रसाद गुढा, पत्रसम्पादनके क्षेत्रमे डॉ० नेमीचन्द्र जैन, इन्दौरकी सेवाओंसे समाज लाभान्वित है। प्राचार्यके रूपमें डॉ० शीतलचन्द्र जैन जयपुर, पं० जयकुमार साढूमल और प० नेमीचन्द्र खुरईके नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रतिष्ठाचार्योमे प० गुलाबचन्द्र पुष्प टीकमगढ, पं० जगनप्रसाद टीकमगढ, पं० विजयकुमार शास्त्री श्रीमहावीरजी, प० हरिश्चन्द्र साहित्याचार्य मुरैना, पं० धर्मचन्द्र शास्त्री ग्वालियर, पं० गोविन्ददास कोठिया अहार (टीकमगढ), स्व० पं० शीलचन्द्र साढूमलके नाम उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय सेवा करनेवाले अधिकारियोंमे श्री सुरेश जैन आय० ए० एस०, संचालक लोकशिक्षण म० प्र० शासन भोपालका नाम बहुचर्चित है। कमिश्नर कन्हैयालाल संघीका नाम भी ससम्मान लिया जाता है।

राजनीतिके क्षेत्रमें भी इस जातिका योगदान है। श्री रतनलाल मालवीय भू० पू० केन्द्रीय उपमन्त्री, डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी, भू० पू० विधायक विंध्यप्रदेश, श्री कपूरचन्द्र घुवारा भू० पू० विधायक म० प्र०, महेन्द्र-कुमार फुसकेले, श्री जयन्तकुमार मलैया भू० पू० विधायक, श्री प्रकाशचन्द्र जैन उच्च-शिक्षा राज्यमंत्री मध्यप्रदेश और सागरके श्री दुलीचन्द्र नाहर तथा श्री विजयकुमार मलैया दमोहकी राजनैतिक सेवाओंसे समाज सम्मानित है।

इस समाजकी महिलायें भी शिक्षाके क्षेत्रमे पीछे नही हैं। डा० आशा मलैया सागर, डॉ० पुष्पलता जैन नागपुर, डॉ० सुनीता जैन आरा, डॉ० सुषमा जैन सागर, डॉ० सावित्री दमोह, डॉ० कुसुम पटोरिया नागपुर, डॉ० सुधा इन्दौर और श्रीमती शारदा जैन जयपुरके नाम शिक्षाके क्षेत्रमे और विधि तथा न्यायके क्षेत्रमे श्रीमती विमला जैन न्यायाधीश भोपाल तथा चिकित्साके क्षेत्रमे डॉ० अलका जैनके नाम उल्लेखनीय हैं। व्यवसाय एवं उद्योगके क्षेत्रमे बालचन्द्रचन्द्र मलैया, दानवीरोमे जैनजातिभूषण सि० कुन्दनलालजी सागरके नाम इस समाजके विकासमे सदैव सम्माननीय रहेंगे।

विकास

गोलापूर्वान्वयके श्रावक गोल्लागढ वर्तमान (गोलाकोट) से निकलकर सर्वप्रथम बुन्देलखण्डके अचलोंमें ही फैले। आरम्भमें ये महोबा और अहार एव पपौराकी ओर गये।

जो श्रावक महोबाकी ओर गये वे छतरपुरके निकटवर्ती स्थानोंमें बसते गये। खर्दमऊ, जगतसागर, मऊ, खजुराहो आदि उनकी निवासभूमिया रही। कालान्तरमे ये मलहरा, दमोह, कटनी और जबलपुर तथा

उनके आसपासके क्षेत्रोंमें जा बसे। जबलपुरके पास बहोरीबन्द भी इनकी आवासभूमि रही। इन्द्राना, मझगवां, सिहौरा, बाकल, रीठी और पनागर इस अन्वयके केन्द्र स्थल रहे हैं। यहासे ये श्रावक पाटनकी ओर बढ़े हैं। दमोहसे जबलपुरकी ओर अभाना, तेंदुखेडा, कटंगी नगरोंमें जाकर ये रहने लगे।

जो श्रावक अहार, पपौराकी ओर आये थे वे जतारा होते हुए आगे बढ़े और हीरापुर, बकस्वाहा, बम्हौरी, सुनबाहा, हरावन, शाहगढ, बरायठा, पिढरुआ, जुझार, बैरी, भेलसी, तिगोडा, घिनौची, पथारी, गूडर, गूगरा, पचरई, सोंरई, करैया, पडवार, दरगुवा, पाटन, विजावर, भरतपुरा, सेंधपा, लखारी, निबौदा आदि बुन्देलखण्डके अनेक ग्रामोंमें जाकर बस गये।

जो श्रावक सागरकी ओर आये वे रहली, पटना, बरखेरा, बलेह, गढाकाकेटा, सरखड़ी और बांसातार-खेडा, रजपुरा ग्रामोंमें जाकर आजीविका करने लगे।

इस प्रकार टीकमगढ़, छतरपुर, दमोह, सागर, जबलपुर, शिवपुरी, ग्वालियर, इन्दौर आदि मध्य-प्रदेशके और उत्तरप्रदेशके झांसी, ललितपुर जिले आरम्भमें इस अन्वयके निवास स्थान बने। कालान्तरमे आजीविकाकी दृष्टिसे बुन्देलभूमिको छोडकर इस अन्वयके श्रावक शहडोल, कोतमा, चिरमिरी, मनेन्द्रगढ, जैतहरी, बालाघाट, गोंदिया, नागपुर, बम्बई, दुर्ग, भिलाई, राजनादगाव, राजिम, डोंगरगाव, जयपुर, वाराणसी कुरुक्षेत्र, उदयपुर, जबलपुर आदि भारतके विभिन्न नगरोंमें रहने लगे। विदेशोंमें भी इस अन्वयका आवास हो गया है।

सन्दर्भ सूची

१ जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमाला, हीराबाग-बम्बई-४, सितम्बर १९५२ प्रकाशन, अभिलेख संख्या २०९, पृ० २६९।

२ इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृ० ३१०।

३. लेखकको स्व० प० परमानन्दजीसे प्राप्त ऊन (पावागिरि) का सं० १२५८ का लेख।

४. पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥
— महापुराण, पर्व ३९, श्लोक ८५।

५. देसकुलजाइशुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
—आचार्यकुन्दकुन्द, आचार्यभक्ति, गाथा प्रथम।

६. णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो णहु सवणो णेय सावओ होई ॥
—वही, दर्शनपाहुड : गाथा २७।

७. ज्ञानं पूजा कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्यमानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥
—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक २५।

८. डॉ० राजेश्वरप्रसाद अर्गल, समाजशास्त्र, आगरा, ई० १९५३ प्रकाशन, पृ० २०१।

९. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥
—महापुराण, पर्व ३८, श्लोक ४५।

१०. जातयोऽनादय: सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा ।

यशस्तिलकचम्पू, ८.१७ ।

११. सागार और अनगारधर्मामृत ।

१२ पी० एन प्रभु, सोमल आर्गनाइजेसन, तृतीय संस्करण, पृ० २९४ ।

१३. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, समाजशास्त्र, पृ० ३९३ ।

१४. डॉ० ऋषिदेव विद्यालकार, मानवविज्ञान व नृतत्त्वशास्त्र, पृ० १०४-१०५ ।

१५ ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रिया शस्त्रधारणात् ।
वाणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।
आचार्य जिनसेन, महापुराण, पर्व ३८, श्लोक ४६ ।

१६. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० २३२-२४०, प्रशास्ति-पंक्ति ३२-३३ ।

१७ प्राचीन शिलालेख, अहार, लेख कमाक ३९ ।

१८ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, भारतके प्राचीन तीर्थ, ई० १९५२ प्रकाशन, पृ० ६६ ।

१९ वही, प्राकृत साहित्यका इतिहास, ई० १९६१, चौखम्बा संस्करण, पृ० २३७, ४२७ ।

२०. अनेकान्त, वर्ष २४, किरण १, पृ० ४३ ।
जैनसन्देश, शोधाङ्क-६, पृ० २१७ ।

२१ श्री अ० भा० दि० जैन गोलापूर्व डायरेक्टरी, वी० नि० सं० २४६८ प्रकाशन, प्रस्तावना पृ० ख ।

२२ जैन धातुप्रतिमालेखसग्रह, भाग १, लेख० क्रमाक ५० । दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० १४१८-१४१९ ।

२३ गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रस्तावना, पृ० ग ।

२४ भट्टारक सम्प्रदाय, ले० क्र० २५२, २५७, ३१० ।

२५. डॉ०कोठियाका भाषण, ई० १९६६, अहार प्रकाशन, पृ० ३ ।

२६ जैनमित्र, वर्ष ४१, अंक ३ ।

२७. गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ख ।

२८ वही, पृ० ख ।

२९. श्री बलभद्र जैन, भारतके दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग ३, पृष्ठ ७६ ।

३०. इत्याद्यमुनीन्द्रसन्ततिविधौ श्रीमूलसंघे ततो
जाते नन्दिगणप्रभेदविलसद्देशीगणे विश्रुते ॥
गोल्लाचार्य इति प्रसिद्धमुनिपोऽभूद्गोल्लदेशाधिप
पूर्वं केन च हेतुना भवभिया दीक्षा गृहीतस्सुधी ॥ १ ॥
वीरनन्दिविबुधेन्द्रसन्ततौ नूत्नचन्द्रिलनरेन्द्रवंशचूडामणि ।
प्रथितगोल्लदेशभूपालक किमपि कारणेन स ॥ २ ॥
जैनशिलालेख संग्रह, भाग १, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ले० स० ४०, ४७ पृष्ठ २५, ६० ।

३१. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० १७३-१७४ ।

३२. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० १३६ ।

३३. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० १७४ ।

३४. श्री भा० दि० जैन गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रस्तावना, पृ० क ।

३५. भारतके दि० जैन तीर्थ (म० प्र०), पृ० ३९ ।

३६. वही, पृ० ३९ ।
३७. डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० ५१ ।
३८. वही, पृ० ५२ ।
३९. श्री अगरचन्द्र नाहटा, जैन सन्देश, शोधांक २५, पृ० १५ ।
४०. वही, पृ० १६ ।
४१. वही, पृ० १६ ।
४२. वही, पृ० १५ ।
४३ वही, पृ० १७ ।
४४. पं० परमानन्द शास्त्री, जैन ग्रन्थ-प्रशस्तिसंग्रह, भाग २, प्रशस्ति-संख्या १०४–१०५, पृष्ठ १२९, १३२-१३३ ।
४५. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा, भाग ४, पृ० ३०५ ।
४६. प्राचीन भारतका राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ६३८ ।
४७. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८, सूत्र ५, १३ ।
४८. वर्ण-व्यवस्था, श्री शान्तिवीरनगर, श्री महावीरजी प्रकाशन, पृ० ४७ ।
४९. गोलापूर्व डायरेक्टरी, वही, प्रस्तावना, पृ० ठ ।
५०. श्री यशवन्त मलैया दमोह, अनेकान्त, वर्ष २५, किरण २, पृ० ६९ ।
५१. आचार्य जिनसेन, महापुराण, भाग २, पर्व ३९, श्लोक ८५-८६ ।
५२. लेखकका अभिलेखसंग्रह, ले० सं० ६४ ।
५३ अनेकान्त, वर्ष २४, किरण–१, और जैन सन्देश, शोधांक-६ ।
५४. जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, भाग १, पृ० ७६-८१ ।
५५. अनेकान्त, वर्ष २४, किरण १, पृ० ४३, किरण-३ पृ० १०६ ।
५६. जैनसन्देश, शोधांक-६ ।
५७. अनेकान्त, वर्ष २४, किरण ३, पृ० १०६ ।
५८. पं० परमानन्द शास्त्री, जैनधर्मका प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ० ५४७ ।
५९. अनेकान्त, वर्ष २४, किरण ३, पृ० १०७ ।
६० सोरह-सौ इक्यानवे अगहन शुभ तिथिवार ।
नृप जुझार बुन्देलकुत तिनके राज मझार ।। —वही, पृ० १०८-१०९ ।
६१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा, भाग ४, पृ० ४४४-४४६ ।

●

अप्रतिम प्रतिभाके धनी

● डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

आद्य व्याकरणाचार्य

सरस्वतीके वरद् पुत्र पंडित बंशीधरजी जैन समाजके आद्य व्याकरणाचार्य है। 'गुरुणां गुरु:' गोपालदासजी बरैया और पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीके सत्प्रयाससे मुरैना, वाराणसी, सागर, इन्दौर तथा कटनी आदि स्थानोंपर जैन विद्यालय तो स्थापित हो गये थे। पर उनमे व्याकरण, साहित्य और न्याय पढानेके लिए ब्राह्मण विद्वानोंको ही नियुक्त करना पडता था। यह परावलम्बनता वर्णीजीको खटकती रहती थी, जिससे वे प्रतिभासम्पन्न छात्रोंको व्याकरण तथा साहित्य आदि पढनेकी प्रेरणा देते रहते थे। उसीके फलस्वरूप स्याद्वाद विद्यालयके छात्र बंशीधरजीने व्याकरण, परमानन्दजीने साहित्य, दरबारीलालजी कोठिया तथा महेन्द्र कुमारजीने न्यायदर्शन विषय लिया। सागरमें मैंने भी व्याकरणमध्यमाके बाद साहित्य विषय लिया। ये सब अपने-अपने विषयोंके आचार्य बने। फलस्वरूप वाराणसीको छोड अन्य जगहोंके विद्यालयोंमें इन विषयोंके अध्यापनका दायित्व जैन विद्वानोंने सम्हाल लिया।

आद्य व्याकरणाचार्य होनेके साथ ही पं० बंशीधरजी, जैन न्यायके भी अच्छे विद्वान् हैं। सन् १९३० मे न्यायतीर्थकी परीक्षा देने जब वे कलकत्ता गये थे, तब मैं भी काव्यतीर्थकी परीक्षा देनेके लिए उनके साथ कलकत्ता गया था। व्याकरणाचार्य होनेके बाद पं० बंशीधरजी कही अध्यापनके लिए गये, पर दो-चार माहके बाद ही वे बीना आ गये और वहा कपडेकी दुकान चालू कर ली। अपने बुद्धि-कौशलसे उन्होंने अपने व्यवसायको समुन्नत किया।

पण्डितजीका विवाह बीनामे ही शाह मौजीलालजीकी पुत्री लक्ष्मीबाईके साथ हुआ था। मौजीलालजीके सन्तानके रूपमे यही एक पुत्री थी, अत उन्होने अपने दामाद बंशीधरजीको अपने ही घर रखकर और पुत्रवत् उन्हें समुन्नत बनाया।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्के मंत्री

सम्भवत सोलापुर अधिवेशनमे आप मंत्री चुने गये थे और मैं संयुक्तमत्री बनाया गया। पण्डितजीने विद्वत्परिषदका कार्यालय अपने पास न रखकर मेरे पास रखा और मुझे मार्गदर्शन करते रहे। कार्य करनेका उत्साह था, जिससे विद्वत्परिषदका प्रभाव बढ़ा और उसके फलस्वरूप जगह-जगह अधिवेशन आमंत्रित होने लगे। विद्वत्परिषद्ने मथुरा, सागर, बीना तथा कटनी आदि स्थानोपर शिविर और विद्वद्-गोष्ठियाँ चालू की। पं० बंशीधरजीका जीवन प्रामाणिक जीवन है। ये घूस देकर अपना कार्य सिद्ध नही करते। इसका एक प्रसंग मुझे याद है।

जब पूज्य वर्णीजी इटावामे विराजमान थे। तब विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणी की बैठक वहाँ आमंत्रित हुई। बीना होते हुए हम चार-छह सदस्य इटावाको चले। झासीसे इटावा जानेवाली गाडीमे बैठना कठिन लगा, तब सब फर्स्ट क्लासमे बैठ गये। आगे चलकर चेकरने जुर्मानाके साथ फर्स्ट क्लासका चार्ज मांगा, जो बहुत था। चेकरने अन्तमे कहा कि आप कुछ रुपये दे दे, मैं रसीद नही दूँगा। आप लोग आरामसे चले जावें। पण्डितजीने चेकरसे कहा कि आप रसीद दीजिये और पूरा पैसा लीजिये। रसीद लेकर पण्डितजीने पूरा रुपया अपनी जेबसे दिया। हमें लगा कि पण्डितजीने व्यर्थमें बहुत रुपया दे दिया। पर प्रामाणिकता भी तो कोई महत्त्व रखती है।

एक बार कटनीमें विद्वद्गोष्ठी थी। सागरसे कुछ लोग गये थे। सागरमें म्युनिसिपल चुगी रहनेसे

सब वस्तुएँ मंहगी रहती हैं। कटनीमें चुंगी न रहनेसे सस्ती रहती हैं, अतः सागरके लोगोंने उपयोगी वस्तुएँ कटनीमें खरीदीं। मैंने पं० बंशीधरजीसे कहा—मैं भी कुछ खरीद लाऊँ। पण्डितजीने कहा कि यहाँ सस्ती होनेसे खरीद कर तथा बिस्तरमें छिपाकर ले जाओगे। सागरकी म्युनिसिपेलटी, चुंगी लेकर आपके बच्चोंको फ्री शिक्षा देती है। वर्षमें कुछ थोडा-सा टेक्स देकर आपके शौचालयोंको साफ कराती है और नगरमें स्वच्छता तथा प्रकाशकी व्यवस्था निःशुल्क करती है, इतने पर भी आप उसे चुंगी नही देना चाहते। मेरी रायमें आप अपनी उपयोगी वस्तुएँ सागरमे ही खरीदें तो ठीक होगा। मुझे पण्डितजीकी राय उत्तम प्रतीत हुई।

वैदुष्यकी गहराई

एक बार सागरमें एक माह तक चलने वाले शिक्षण-शिविरके अन्तिम दिनोंमे विद्वत्सम्मेलनका आयोजन किया गया उसका विषय था "षट्खण्डागमके तेरानवें सूत्रमें संजद पदका अस्तित्व"। इसपर एक गोष्ठी बम्बईमे हो चुकी थी। और उसके आधारपर आचार्य शान्तिसागरजीने ताम्रपत्रपर लिखी जानेवाली प्रतिसे "संजद पद" अलग करा दिया था। उस समय विद्वत्परिषद्‌का वर्चस्व था, अत यथार्थ निर्णय करनेके लिए कार्यालयमें पत्र आया। सम्मेलनमे पण्डित कैलाशचन्द्रजी, प० बर्द्धमान शास्त्री, पूज्य वर्णीजी तथा अन्य अनेक विद्वान थे। सम्मेलनमे प० बंशीधरजी और वर्धमानजीके बीच अच्छा तर्क-वितर्क हुआ। अन्तमे विद्वत्परिषद्‌ने तेरानवें सूत्रमें "संजद" पदके अस्तित्वका समर्थन किया और प्रसन्नताकी बात रही कि ताडपत्रीय प्रतिमें भी उसका अस्तित्व मिल गया।

आर्षमार्गके अनुयायी

सोनगढकी विचारधाराके आप कभी समर्थक नही रहे। निश्चय और व्यवहारनय एवं निमित्त और उपादानकी चर्चा आप अनेकान्तके आश्रयसे हो करते है। आपके द्वारा लिखित जैन शासनमे "निश्चय और व्यवहार" नामक ग्रन्थ विद्वत्परिषद्‌के द्वारा पुरस्कृत है।

आचार्य शिवसागरजीके चातुर्मासके समय खानिया जयपुरमें स्व० हीरालालजी पाटनी निवाईके सौजन्यसे उभय पक्षीय विद्वानोको एकत्रित कर तत्त्वचर्चाका आयोजन किया गया था। इस आयोजनमें पं० मणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, पं० बंशीधरजी, न्यायालंकार, प० मक्खनलालजी, प० कैलाशचन्द्रजी, प० फूलचन्द्रजी, प० जीवन्धरजी, पं० रतनचन्द्रजी मुख्तार तथा प० पन्नालालजी सोनी आदि अनेक विद्वान् पधारे थे। मै भी गया था। लिखित चर्चा होती थी। सोनगढपक्षकी ओरसे पं० फूलचन्द्रजी प्रधान थे और दूसरे पक्षसे पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य प्रमुख थे। दस दिन तक चर्चा चलती रही। विद्वानोंका अभीक्ष्णज्ञानोपयोग दर्शनीय था। प्रकरण लम्बा है। सक्षेपमे मैं यही कहना चाहता हूँ कि इस चर्चाके निष्ठापनमे पं० बंशीधरजीने पूर्ण मनयोगसे कार्य किया। घरमे पितृतुल्य श्वसुर शाह मौजीलालजीका स्वर्गवास होनेपर भी वे स्थानीय चर्चासे विरत नही हुए। तथा चर्चाके तीन दौर समाप्त हो जानेपर भी उनकी लेखनी अपने लक्ष्यसे विरत नही हुई।

स्वतंत्रता-संग्राम सेनानी

स्वतंत्रता-संग्रामके समय आपने निर्भय हो राष्ट्रीय आन्दोलनमे भाग लिया, जेल गये और वर्तमानमें सागर जिलेके स्वतंत्रतासंग्राम-सेनानियोमे आपका नाम गौरवके साथ लिया जाता है।

श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्‌के अध्यक्ष

सन् १९६५ में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठाके समय सिवनीमें होनेवाले विद्वत् परिषदके जनरल अधिवेशनके

अध्यक्ष थे। अध्यक्षीयपदसे दिया गया आपका भाषण विद्वत् समूहमें समादृत हुआ था। इसी अधिवेशनमें श्री गोपालदासजी वरैयाका शताब्दी-महोत्सव मनानेका निश्चय किया गया। फलस्वरूप डॉ० नेमीचन्दजी शास्त्री, आराके सम्पादकत्वमें विद्वत् परिषद्‌में "गोपालदास वरैया स्मृतिग्रन्थ" प्रकाशित किया। शताब्दी-समारोह दिल्लीमें स्वर्गीय साहू शान्तिप्रसादजीकी अध्यक्षतामें सम्पन्न हुआ था। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि उसकी सम्पूर्ण प्रतियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गयी।

श्रावस्ती पञ्चकल्याणकके समय होनेवाला नैमित्तिक अधिवेशन भी आपकी ही अध्यक्षतामें सम्पन्न हुआ था। विद्वत्परिषद्के सभी अधिवेशनोंमें उसके सदस्य बड़ी रुचिसे भाग लेते थे।

सदा जागरूक

८४ वर्षकी अवस्थामें भी आप समाज-हितमें जागरूक हैं। दुकानका कार्य पुत्रोंने सम्हाल लिया है। उस ओरसे निश्चिन्त हो आप साहित्य-साधनामें लीन रहते हैं। मैंने देखा है कि आप प्रातः चार बजेके पूर्व ही उठकर तथा स्नानादिसे निवृत हो अपने अध्ययन और लेखनके कार्यमें लग जाते हैं। वीर प्रभुसे प्रार्थना है कि यह सरस्वतीका वरद पुत्र स्वस्थ रहता हुआ देश एवं समाजका दीर्घकाल तक मार्गदर्शन करता रहे।

वन्दनीय व्यक्तित्वके धनी

● श्री नीरज जैन, सतना

बीना नगरमें प्रवेश करते ही तिराहेसे जैन मन्दिरकी ओर चलनेपर बाँयें हाथ एक सामान्य-सी कपड़े-की दुकान है। दुकानकी गादीपर कपड़ोंके थानके बजाय आगमग्रन्थोंका विस्तार हो और सादगी भरा, ऊँचा पूरा, एक क्षीण-काय वृद्ध पुरुष उस वातावरणमें एकाग्रतापूर्वक, सिर झुकाए अपने लेखनमें दत्त-चित्त दिखाई दे जाय, तो किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं है। वही है सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य।

लगभग पचासी साल पहले बुन्देलखण्डके एक निपट देहातमें जन्मा हुआ बालक वंशीधर शैशवसे ही ज्ञान-पिपासु रहा। अनुकूल साधनोंके अभावमें भी कैसे उसकी यह ज्ञान-यात्रा आगे बढ़ती रही, इसका विवरण एक रोचक कथासे कम नहीं है। उस यात्रामें एक ओर जहाँ कष्ट-साध्य साधनाका दर्शन होता है, वहीं दूसरी ओर सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओंको पीछे ढकेल कर सरस्वतीकी सेवाके लिए आगे बढ़नेका दृढ़संकल्प भी अनायास झलकता है।

जैन विद्याकी विलुप्त प्राय स्थितिमें, रूढ़ियोंमें जकड़े हुए और अज्ञान-अंधकारसे भरे बुन्देलखण्डमें जिन्होंने ज्ञानकी ज्योति प्रज्ज्वलित की, उन प्रातःस्मरणीय युगपुरुष श्री गणेशप्रसादजी वर्णीका दिव्य अवदान ही बंशीधरके लिए भी प्रश्रय-वितान बनकर छा गया। जिस संतका पारस-स्पर्श पाकर राहके अनेक मटमैले कंकड़ धीरे-धीरे कुन्दन बनते चले गये, उसी पावन स्पर्शने बंशीधरको भी अज्ञसे विज्ञ बना दिया। पूज्य वर्णीजीके द्वारा बनारसमें स्थापित स्याद्वाद् महाविद्यालयमें एक बार प्रवेश क्या मिला, बंशीधरकी ज्ञान-पिपासा बढ़ती ही चली गई। जैनदर्शन शास्त्री, साहित्यशास्त्री, व्याकरणाचार्य ओर न्यायतीर्थकी परीक्षाएं एकके बाद एक शानदार ढंगसे उत्तीर्ण करनेके बाद भी ज्ञानार्जनकी तृष्णा अतृप्त ही बनी रही। शायद यह पिपासा उन्हें किन्हीं सुदूर ऊँचाइयों तक ले भी जाती, परन्तु तभी "घर कारागृह, बनिता बेड़ी और परिजन जन रख-वारोंने" मिलकर उन्हें बाँध लिया।

स्वाधीनता-संग्राम

अभी जीवनके सघर्षोंसे सामना हुआ ही था कि भारतमाताके मुक्ति-संग्रामका बिगुल पूरे जोरसे बज उठा। कुछ दिन पहले अपनोंका जो आग्रह और गृहस्थीका जो आकर्षण उन्हें ज्ञान-साधनामें खींचकर बनारससे बीना ले आया था, मातृभूमिकी पुकारके सामने वह आकर्षण भी अशक्त ही सिद्ध हुआ। पच्चीस-छब्बीस सालकी युवावस्थामें अपनोंकी सारी चिन्ता छोड़कर बंशीधर स्वतंत्रता-संग्राममें कूद पड़े। देशकी चिन्ता अपनी सारी चिन्ताओंसे ऊपर हो गई और मातृभूमिकी पुकारके सामने घर गृहस्थीकी सारी मनुहार बिखर कर रह गई। चाहे १९३१ का असहयोग आन्दोलन हो या १९३७ के एसेम्बलीके चुनाव हो, १९४१ का व्यक्तिगत सत्याग्रह हो या १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन हो, बंशीधरने तन, मन और धन सब कुछ उस महायज्ञमें होम करते समय कोई संकोच नही किया। जैसी निष्ठा और समर्पणके साथ उन्होंने ज्ञानकी आराधना की थी, वैसी ही निष्ठा और समर्पणके साथ मातृभूमिकी सेवामें भी उन्होने अपने आपको नियोजित कर दिया।

नगर कांग्रेस-कमेटीकी अध्यक्षतासे लेकर प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटीकी सदस्यता तक उन्हें जब, जहाँ, जो काम सौंपा गया उसे उन्होने अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंसे परे, एक अनोखी गरिमाके साथ निभाया। सन् १९४२ के भारत छोडो आन्दोलनमें पण्डित बंशीधरजीकी भूमिका इतनी स्पष्ट रही, उनका योगदान ऐसा अनुकरणीय रहा और उनका सेवा-संकल्प इतना दृढ रहा कि वे अपने ही साथियोंमें उदाहरण बनते चले गए। कितनोंने उन विषम परिस्थितियोंमें उनसे प्रेरणा प्राप्त की और कितने घरोंमें उनकी सहायतासे मनोबलके दीप जलते रहे, इसकी कोई सूची न कभी बनी, और न बन सकेगी। जहाँ सेवक ही मौन-व्रती हो वहाँ सेवा-कार्योंका लेखा-जोखा हो भी कैसे सकता है।

आज तो रिवाज बदल गए है। देशसेवा एक लाभजनक व्यापार बनकर रह गई है। परन्तु १९३१ से १९४६ तकके पच्चीस साल स्वाधीनता-संग्रामके ऐसे साल थे, जब इस यज्ञमें आहुतियाँ तो थी परन्तु जय-कारे नही थे, मालाएँ नही थी। समर्पित करनेके लिए तो बहुत कुछ था, परन्तु उसके बदलेमें आत्म-संतोष ही एक मात्र उपलब्धि मानी जाती थी। सागर और नागपुरके जेलोंमें बिताया गया बंदी जीवन हो या अमरावती जेलमें सही गई दुर्दम यातनाएँ, पण्डित बंशीधरका अपराजेय व्यक्तित्व कही तनिक भी झुका नही। जेलकी इन यात्राओंने उन्हे "वसुधैव कुटुम्बकम्" के नये पाठ पढाये। छुआछूत और दहेज जैसी सामाजिक कुरीतियोके विरुद्ध जूझनेका साहस और संकल्प प्रदान किया। यहीसे उनके व्यक्तित्वमें एक नया निखार प्रारम्भ हुआ।

बंशीधरजीके जीवनका एक चमकदार पहलू यह भी है कि उन्होंने स्वाधीनता-संग्रामकी अपनी सेवाओंको भुनानेका कभी विचार तक नही किया। उस योगदानके उपलक्ष्यमें किसी प्रतिफलके लिये वे अपने प्रमाणपत्र हाथमें लेकर कभी सत्ताधीशोंके द्वारपर दण्डवत् करने नही गये। उन्होने यह मान लिया कि स्वतंत्रता प्राप्तिके साथ ही वह लडाई समाप्त हो गई है, और यही सोचकर उन्होने अपने आपको सेवाके दूसरे कार्योंमें नियोजित कर लिया। इसीलिए प्रदेशमें जब सत्ताका सदावर्त खुला और लोग तरह-तरहके जुगाड करके उसमें आगे बढनेकी कोशिश करते दिखाई दिये, तब जो इने-गिने आस्थावान और गैरतमन्द लोग उस पंक्तिसे पृथक् रहे, उनमें पण्डित बंशीधरजी बहुत आगे थे। मूक-सेवाकी यह प्रवृत्ति ही उन्हें देशसेवाकी इस दिशामें जितना आगे ले गई थी, सरस्वतीकी सेवाके क्षेत्रमें भी उतना ही आगे बढ़ाती जा रही है। प्रतिफल और पुरस्कारकी कोई आकाक्षा नही है, कही किसी पदका कोई व्यामोह नही है, शायद इसीलिए आज जीवनके संध्याकालमें भी वे वैसे ही सक्रिय हैं और उतनी ही निष्ठा और लगनके साथ अध्ययन-मनन, चिन्तन और

लेखनमें संलग्न रहते है । आज वर्षोंसे यही उनका जीवनव्रत है और इससे निष्पन्न आत्म-संतोष ही उनका स्व-अर्जित पुरस्कार है ।

संस्थाओंकी सेवा

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्के इतिहासमे पण्डित बंशीधरजीकी अध्यक्षताका काल गरिमाके साथ अंकित है । गुरु गोपालदास बरैयाका शताब्दी-समारोह उसी बीच आयोजित हुआ और उसकी सफलतामे पण्डितजीका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाके मन्त्रीके नाते उन्होंने उस संस्थाको निरन्तर आगे बढ़ानेका प्रयास किया। उनके पश्चात् डॉ० पं० दरबारीलालजी कोठियाके कार्यकालमें विकासकी वह गति बनी रही और संस्थाने स्थायित्वकी ओर एक लम्बी यात्रा तय की। इसे दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिये कि पूज्य वर्णीजीके समर्पित शिष्यों और उनके भक्तोके परिश्रम और सहयोगसे जो संस्था सरस्वतीकी सक्रिय सेवा कर रही थी, वह अब मौन है ।

सोनगढ़-विचारधाराका खण्डन

जब सौराष्ट्रमे सोनगढसे एकान्तकी आँधी उठी और समाजके मूर्धन्य माने जाने वाले कतिपय विद्वानोंका एक स्वार्थ-प्रेरित समुदाय, आगमकी अवहेलना करता हुआ उस आँधीमे बह चला, तब उस विषम कालमें बंशीधरजीके व्यक्तित्वका वह पुराना जुझारू रूप फिर साकार होकर सामने आया ।

खानिया तत्त्वचर्चाके छद्मको अनावृत करनेका उन्होंने बीड़ा उठाया। इस बातकी पण्डितजीने कभी कोई चिन्ता नही की कि इस दिशामे लेखन और प्रकाशनसे लेकर वितरण तक वे नितांत अकेले ही खड़ है। उसी छोटी-सी दुकानमे बैठकर उनका चिन्तन चलता रहा और लेखनी अविराम गतिसे दौडती रही। वे बहुत जल्दी, शायद आठ बजेके पहले ही सो जाते हैं और पिछले पहर दो-ढाई बजे उठकर अपने लेखनमे जुट जाते हैं। वर्षोंमे बिना रुके, और बिना थके उनकी साधनाका यह क्रम अनवरत चला आ रहा है। इसीका फल है कि उनके द्वारा प्रणीत साहित्यकी सूची प्रतिवर्ष लम्बी होती जा रही है। एक दिन यमुनामे विषहरे नागका उस बंशी वालेने जैसे मर्दन किया था, वैसे ही मिथ्या मान्यताके फणधरका मर्दन करनेका प्रयास यह मनस्वी बंशीधर अपनी आसंदीपर बैठकर निरन्तर कर रहा है ।

पण्डितजीका यह पुरुषार्थ इस पृष्ठभूमिमे और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि सोनगढ विचारधारासे विरोध रखने वाले विद्वान् तो समाजमें अनेक है, पर उस दिशामे अपना समय और साधन लगाकर लेखन/प्रकाशन करने वाले बहुत बिरले है। सैद्धातिक आधारपर सप्रमाण लेखनी चलाने वाले तो और भी कम है। "आ बैल मुझे मार" की चाल कोई चलना नही चाहता। इस सदर्भमे पं० बंशीधरजीका कृतित्व सदा आदरपूर्वक याद किया जाता रहेगा ।

साहित्यका सृजन

"**खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा**" लिखकर पण्डितजीने आगमका वह पक्ष सामने रखा है, जिसे कुछ लोग प्रयास-पूर्वक दबानेकी चेष्टामे नाना प्रकारके प्राणायाम कर रहे हैं। '**जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार**' पुस्तकके माध्यमसे पंडित बंशीधरजीने वस्तु-स्वरूपका सहज और सर्वमान्य निरूपण करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि व्यवहारकी सर्वथा अनुपयोगिता मान लेने पर जीवनमें कितनी बडी विसंगतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। निश्चय साध्य है और व्यवहार उसका साधक है, नयोकी ऐसी मैत्रीके बिना ज्ञानकी साधनामे एक पग भी आगे बढना सम्भव नहीं है ।

पण्डितजीकी तीन पुस्तकें-'**जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारक व्यवस्था**', '**पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी**', तथा '**भाग्य और पुरुषार्थ**', ऐसी पुस्तकें है जिनके माध्यमसे उन्होंने आजकी अनेक विवक्षा-

विहीन और मिथ्यात्व-पोषक एकान्त स्थापनाओंका न केवल निषेध किया है वरन् पूर्व पक्षकी मान्यताओंको खण्ड-खण्ड करके बिखेर दिया है। विशेषता यह है कि पण्डितजीने अपने लेखनमें हर जगह सबल और सार्थक शास्त्रीय-सन्दर्भ उद्धरणके रूपमे प्रस्तुत किये है। उनके अर्थ करते हुए कही भी कल्पनाका आश्रय या हठाग्रहका सम्बल उनके लेखनमे दिखाई नही देता। यदि अनाग्रही मनसे उनके लेखनको पढा जाय तो इसमे कोई सन्देह नही है कि बडा-से-बडा विरोधी भी प्रभावित होगा और अपनी मान्यताओ पर पुनर्विचार करनेके लिये विवश हो जाएगा। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारी लौकिक लाभकी आकाक्षा कुछ ढीली पडे और मानका विसर्जन होकर मार्दवका मृदुता हमारे मनमे अवतरित हो। जब भी ऐसा होगा, जैनशासनके लिए निश्चित ही वह बडा शुभ समय होगा।

"जैनतत्त्व मीमांसाकी मीमांसा" पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी मौलिक पुस्तक "जैनतत्त्व-मीमासा"के प्रत्युत्तरमे, उनकी भ्रामक स्थापनाओंका खण्डन करके आगमकी मान्यताओको स्थापित करनेका उद्देश्य लेकर लिखी गई पुस्तक है।

अपनी जीवन-संगिनीके चिरवियोगके अवसर पर उन्होंने दानमें कुछ द्रव्य निकाल कर उसे एक ट्रस्टका रूप दिया है। उसी ट्रस्टकी ओर से वे अपने साहित्यका प्रकाशन करते है और उसमेसे कुछ भेट स्वरूप और कुछ लागत मूल्य पर सुपात्र पाठकोंके हाथों तक पहुँचाते रहते है। कुछ अन्य संस्थाओंने भी पण्डितजोकी कुछ पुस्तकें प्रकाशित की है। उनका लेखन उत्सुकतासे पसन्द किया जाता है और चावसे पढा जाता है।

मंगल मनीषा

जीवनका अधिकाश भाग जैनशासनकी सेवामें लगानेके उपरान्त आज भी पण्डित बशीधरजी पूरी तरह सक्रिय, सावधान और सेवामलग्न है। परिवार तथा परिग्रहके प्रति उनका विशेष ममत्त्व कभी नही देखा गया। इधर कुछ वर्षोसे उन्होंने स्वयंको अपने ही भीतर समेटनेका अभ्यास भी किया है। सघन अधकारमे निष्कम्प शिखावाले दीपककी तरह वे अपने परिकरके बीच भी, अपनी शारीरिक अनुकूलताओंके अनुरूप, साधनामे दिन-रात सलग्न है। मैं समझता हूँ कि इस अभिनन्दनके बहाने उनके जीवनव्यापी श्रमको कागजके पन्नों पर उतारकर हम स्वय अपना ही अभिनन्दन करनेकी चेष्टा कर रहे है। ध्येयकी प्राप्तिके लिए ऐसा एकात-समर्पण, ऐसी मूक साधना और ऐसी अनवरत सलग्नता जिसे भी प्राप्त हो जाय उसका व्यक्तित्व वन्दनीय और जीवन अभिनन्दनीय हो होगा। आइये उनके स्वस्थ्य दीर्घ-जीवनकी कामना करें।

ख्याति-लाभ-मानसे परे

● प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी

झासी मण्डल बुन्देली वीरता और मराठी क्रान्तिका २५ मई १८५८ तक गढ था। और यदि इस दुर्दिनपर कर्नल ह्यूरोज रास्ता बदलकर मदनपुर-घाटीकी ओर मुडकर शाहगढराजकी नूतन राजधानी मडावरापर सोरईकी सूनी गढीपर कब्जा करके आगे न आता, तो मालथौन-घाटी 'धोर्रा' पर बुन्देलावीर बानपुरनरेश मर्दनसिंह और शाहगढनरेश बखतबलीसिंहके सेनापतित्वमे फिरंगी सेनाका सफाया करके, रणचण्डी माता लक्ष्मीबाईको दक्षिणी आक्रमणसे, सहज ही मुक्त कर लेते। तथा क्रान्तिकारियोका साथ देनेके लिये भेजे अकेले पडे ओरछाके दीवान नत्थूखाके सफेद झण्डा दिखाकर देशद्रोहसे अनायास ही रोक लेते एवं मुगल साम्राज्य-विनाशके समान अग्रेजी-साम्राज्यको भ्रूणहत्या हो गयी होती। किन्तु 'अनहोनी न होय कदाचित्' हो तथ्य रहा। तथा १९४७ तक बुन्देला वीरभूमि अंग्रेजी क्रूर दमन और उपेक्षाका लक्ष्य रही। खण्डहर

किलों और गढियोंसे व्याप्त इस अंचलको वर्षा ऋतु आनेपर चौपालोंमें आल्हाकी गूँजने और ढोलककी हुँकारने बुन्देली भावनाकी बेलको सूखने नहीं दिया।

मध्यमवर्ग दि० जैन समाज

'इत जमना उत नर्मदा' अंचलमे श्रम तथा शस्त्रप्रवण लोदी, ठाकुर एवं किसान और शास्त्ररत ब्राह्मण और विपणन एवं संस्कृति प्रधान श्रमणोंकी मुख्यता है। फलत. श्रमण एव ब्राह्मण (वैदिक) धर्माके आगार ही शिक्षा, स्वास्थ्य एव समाजसंचालनके केन्द्र रहे है। दोनो धर्मोंके अनुयायियोमे नित्य देवदर्शन, त्याग, सेवा और स्वाध्यायकी परम्परा है। श्रमण अन्य वर्गोंकी अपेक्षा आर्थिक दृष्टिसे अधिक समर्थ है। अतएव गाँव-गाँवमे मन्दिरोके समान शिशु-शालाएँ चलाना भी इनके नित्य कार्योंमे माना जाता है। धर्म-समदृष्टि इतनी अधिक है कि एक घर मुसलिम होनेपर भी ताजिये ऐसे निकलते है जैसे पूरा गाव ही मुस्लिम हो। इस सौमनस्यके कारण श्रमण-पाठशालाओमे ही बहुधा गाव भरके शिशुओका विद्यारम्भ होता है। इस प्राग्वैदिक परम्पराकी यह देन है कि वैष्णव धर्ममे उत्पन्न गुरुवर गणेशप्रसाद श्रमण-संस्कृतिके बौद्धिक जागरणके अग्रदूत हो सके। और प्रथम राष्ट्रपति (महामहिम राजेन्द्र बाबू) तथा गाधीजीके अहिंसा-सत्याग्रहके प्रथम मार्शल बिनोबाजीके द्वारा राष्ट्रसन्तके रूपमे मान्य हुए। 'नास्तिको वेदनिन्दक.'का आजीवन ब्रह्मचारी गणेशप्रसाद वर्णीने शिष्यरूपमे विसर्जन करके काशीमे स्याद्वाद महाविद्यालयकी स्थापना की। और सर्वप्रथम वैश्य-न्यायाचार्य होकर पूरे बुन्देला-अंचलको श्रमण-पाठशालाओकी दीपमालिकासे चमका दिया। तथा पूरे देशकी पदयात्रा करके मुस्लिम-साम्राज्यके कारण फारसी (उर्दू नही) पढनेवाले पंजाब ही क्या, पूरे उत्तर भारतके मध्यमवर्ग-को प्राकृत-संस्कृतकी ओर आकृष्ट किया।

स्याद्वाद-महाविद्यालयका स्वर्णयुग

गुरुवर गणेशप्रसाद वर्णी पद-प्रतिष्ठासे सर्वदा एवं सर्वथा विमुख रहे। इस यथार्थ विरक्तिका ही यह सुफल था कि स्याद्वाद महाविद्यालयके संस्थापक होकर भी उन्होंने प्रथम-अधिष्ठाता बाबा भागीरथजीको बनाया था। तथा इनके बाद धर्म-सेवामे उतरे अभिजात (श्री उमरावसिंह रईस) युवक आजीवन ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजी तथा ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको इस महार्घपदपर प्रतिष्ठित किया था। अपने सुधारक विचारों-के कारण शीतलप्रसादजीके हट जानेपर कानपुरके राष्ट्रीय काग्रेसके अधिवेशनमे योगदानके साथ इस श्रमण-संस्कृतिके तथा अपने गुरुकुलके नैतिक भारको सम्हाला था। विशेषता यही थी कि अध्यक्ष, मंत्री, कोषाध्यक्ष आदि वैध पदोंका भार देशके विद्याप्रेमी श्रीमानोंके ऊपर ही रहता था। तथा वे भी इनके लोकोत्तर व्यक्तित्व-के कारण सेवा तथा त्यागको मुख्य मानकर चलते थे। तथा काशी विश्वविद्यालयकी स्थापनाके पूर्व ही यह विद्यालय दक्षिण तथा उत्तरके छात्रोंका अनुपम केन्द्र बन गया था। यही कारण था कि राष्ट्रपिता उक्त विश्व-विद्यालयकी स्थापनाके समय इस विद्यालयमे ही आकर ठहरे थे। तथा राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्रामके स्कन्धावार (छावनी) काशी विद्यापीठकी योजना इसकी विशाल छतपर ही साकार हुई थी। तथा स्वदेशी-आन्दोलनका ओंकार भी ब्र० ज्ञानानन्दजीके 'अहिंसा प्रेस' से यही हुआ था। सन् '२५ से ३९' तकके युगमे इस विद्यालय-ने न्याय, साहित्य, सिद्धान्त आदिके अनेक आचार्य देशको दिये थे। यद्यपि व्याकरण शुष्क एवं क्लिष्ट विषय माना जाता था, किन्तु इस स्वर्णयुगमे, अंग्रेजो द्वारा १८५८ मे सर्वप्रथम आक्रान्त सोरई (शाहगढ राज) के ही किशोर वंशीधरजीने सानन्द लेकर प्रथम वैश्य-व्याकरणाचार्य देश और समाजको दिया था।

प्रतिभा-परीक्षण

गुरुवर गणेशवर्णीकी दृष्टि समाजको सर्वशास्त्रोंके विद्वान देना थी। फलतः व्याकरण लेनेपर बंशीधर

गुरुओंके सतिशय स्नेह-भाजन हुए थे। आचार्यमें व्याकरण-दर्शन पढाये जानेपर गुरुओ तथा इनको स्वयं यह आभास हुआ कि यह युवक तो दर्शन और न्यायके योग्य क्षयोपशमशाली है। इस प्रतिभा-परीक्षणके बाद बंशीधरजीने स्वयं स्वाध्यायद्वारा जैन न्यायके मानक महाग्रन्थोंका अध्ययन किया। और काशी विश्वविद्यालय-से जैनदर्शन शास्त्री एव बंगाल संस्कृत ऐसोशियेशनसे न्यायतीर्थ परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण करके सर्वांग विद्वत्ताको प्राप्त किया। तथा प्रारम्भिक किशोर सहाध्यायियोकी प्रतिभा-परीक्षणको उनकी हितकामनासे अपनाया था। इन पंक्तियोंके लेखकको १९२८ मे गुरुवर गणेशवर्णीने श्रमण-शिक्षासंस्था-श्रमणप्रक्रमसे पकड़ स्याद्वाद महाविद्यालयकी लोकोत्तर-छात्रता बंशीधरजी, परमानन्दजी तथा भैयाजी हरिप्रसादके आग्रहपर ही दिलायी थी, क्योंकि उस समयतक छात्रावासमे एक भी स्थान रिक्त नही रहा था। एक दिन विद्यालयकी छत पर अभ्यास करते समय इन्होंने अष्टसहस्रीकी कारिका—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद्विना सिद्धि· द्वत वाङ्मात्रतो न किम् ॥"

दिखायी और विशारद प्रथमखण्डके लघुतम छात्रको इसका अनुवाद करनेको कहा। याद नही, अनुवाद कैसा, क्या रहा होगा? पर इन्होने अपने न्यायतीर्थ-परीक्षाप्रपत्रके साथ उसका भी न्याय-प्रथमाका परीक्षा-प्रपत्र भरवा दिया। और उच्चकक्षा-छात्र पं० श्रुतसागरजीकी कृपासे दो मासमें न्यायप्रथमाकी तैयारी करके न्यायशास्त्र रुचिकर बना सका था, जिसकी पूर्णा वह साहित्यशास्त्री (ग० म० को०) तथा तृतीयवर्ष कला (का० वि० वि०) के साथ इनके समान ही न्यायतीर्थ (ब० सं० ए०) करके कर सका था।

न्यायबुद्धि

पं० बंशीधरजीकी न्यायप्रियता शास्त्र-अध्ययन तक ही सीमित न थी। अपितु वह प्रत्येक अनुचितके प्रतिरोधरूपसे प्रस्फुटित होती थी। इसका प्रथम प्रदर्शन मुझे १९२९ में विद्यालयमें ही देखनेको मिला था। विशेष बुद्धिमान् छात्रोको योग्यतावृत्तिया भी मिलती थी। फलत विद्यालयमे यह नियम बन गया था कि एक-से-अधिक योग्यता-वृत्ति पानेवाले छात्रोंको भोजनशुल्क पांच रुपया मा० जमा करनी होगी। संयोगात् छात्रोने इसका उल्लंघन किया। और एक ऐसे ही छात्रने झूठ भी नही बोला। फलत उसे तत्कालीन उप-अधिष्ठाताजीने छात्रावाससे पृथक् कर दिया। व्याकरणाचार्यने माग की थी कि 'ऐसे सभी छात्रोको पृथक् किया जाय।' इसपर उन छात्रोको छोडकर इन्हे ही पृथक कर दिया गया। किन्तु ये न्यायमार्गपर रहे और छात्रा-वास छोडकर चले गये तथा बाहर रहकर भी अपने गुरुकुलके छात्ररूपसे ही व्याकरणाचार्य पूर्ण करके उसे गौरवान्वित किया था।

मनस्विता

सयोगात् इनका विवाह एक सम्पन्न घरानेकी एकमात्र पुत्रीके साथ हुआ था। किन्तु व्याकरणाचार्य होते ही ये ब्यावरके जैन सम्प्रदायी साधुओको पढानेके लिए आमंत्रित किये गये, तो इन्होने ससुरालकी विपुल सम्पत्तिकी उपेक्षा करके अल्पवित्त आत्मभरताको ही वरीयता दी। तथा ससुरके एकमात्र संतानस्नेहकी भावनात्मक सुकुमारताका पालन करते हुए भी व्यवसायी-बुद्धिजीवी ही रहे। तथा परम आध्यात्मिक साधक पं० भागचन्दजी आदिके समान ग्राहक निपटाकर शारदा-साधनामें ही लगे रहे।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः

व्याकरणाचार्यजीका शब्दशास्त्रका पूर्ण अध्ययन तथा श्रमणधर्म-न्यायपारंगतता स्वान्त सुखाय ही रही है। यह इनका पूर्वपुण्योदय था कि मूर्धन्य विद्वान् होकर भी इन्होने जिनवाणीसे आजीविका कभी नहीं

की है। और अपने अबाध ज्ञान और मननका जीव-उद्धार तथा परम्परया समाज-देश उद्धारके लिए ही उपयोग किया है। इसीलिए संकुचित मान्यताओके अर्थप्रधान समाजमे ये प्रकाशस्तम्भका कार्य करते रहे है। पंच-कल्याणकगजरथ आदि कालातीत प्रभावनाओका ही प्रतिरोध आपके द्वारा नही हुआ है; अपितु लक्ष्मीके सामने शारदाको झुकानेवाले अपने प्रौढ सुधार-साथियोका भी सुधार करनेमे वे अग्रणी रहे हैं। और द्रव्या-नुयोगलोपके कारण अध्यात्महीन श्रमण-सम्प्रदायी एकाध साधु द्वारा केवल अध्यात्मके एकाध ग्रन्थके आधार पर ही अपनाये गये निश्चयैकान्तका, द्रव्यानुयोगके धनी श्रमणधर्मी प्रौढ विद्वानों द्वारा समर्थन किये जानेपर व्याकरणाचार्यजी अपने एकाकी प्रयास द्वारा सिद्धान्ताचार्यकी भूमिका निभा सके हैं। इन्होने स्पष्ट कर दिया कि धर्मशास्त्री, कभी भी अर्थशास्त्री नही होता। और न ही वह व्यवहारैकान्ती होता है, चाहे व्यवहारै-कान्ती स्वपक्षमे लानेके लिए ख्याति-लाभका भण्डार उसके सामने उडेल देवें। उसको तो वादार्थी स्वामी समन्तभद्रके चरणचिन्होपर चलकर "युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्" मात्र ही एक गति है, क्योंकि ऐसा करनेपर ही उसका इष्ट, प्रसिद्ध दृष्टका साधक होता है।

अपनी इस प्रखर दृष्टिके कारण स्वजन एवं परिजनोके विरोध करनेपर भी अपने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राममे भी भाग लिया था। और १८५८ मे घोखेसे आक्रान्त सोरई (अब जिला ललितपुर) को भी अकेले ही सत्याग्रही बनाया था। अंचल, गुरुकुल और अन्य प्रकारोंमे वे लेखकके अग्रज है। अतः ख्याति-लाभ-मानसे परे इन एकमात्र श्रमण-पण्डितजीको प्रणाम ही करना समुचित है।

साधना-पथके निष्ठावान पथिक

● श्री यशपाल जैन, दिल्ली

मुझे यह जानकर बडा हर्ष हुआ कि पंडित बशीधर व्याकरणाचार्यका दीर्घकालीन सेवाओके उपलक्ष्यमें सार्वजनिक सम्मान किया जा रहा है और उस शुभ अवसर पर उन्हे एक अभिनन्दनग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। मैं उनका पूरे हृदयमे अभिनदन करता हूँ और उनके उत्तम स्वास्थ्य तथा दीर्घायुकी प्रभुसे कामना करता हूँ।

पंडितजी जैन समाजके उन इने-गिने विद्वानोमेंसे है, जिन्होने अपनी वाणी और लेखनीसे जैन समाज-को असामान्य प्रेरणा दी है और जैन वाङ्मयको समृद्ध किया है। उनकी कई पुस्तके जैन तत्त्व-ज्ञान, जैन तत्त्व-मीमासा आदिके सम्बन्धमे बडी मूल्यवान सामग्री प्रस्तुत करती है। उनकी सब-से-बडी विशेषता प्रामा-णिकता, विचारोकी स्पष्टता और विवेचनकी मौलिकता है।

मुझे पंडितजीके निकट सम्पर्कमे आनेका अवसर नही मिला, किन्तु जब भी उनसे साक्षात्कारका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनकी सरलता और सादगीने मुझे बहुत प्रभावित किया है। विद्वत्ता प्रायः व्यक्तिको जटिल और अभिमानी बना देती है, परन्तु पंडितजीके जीवनको जटिलता और अभिमान स्पर्श नही नही कर पाये। उनकी विद्वत्ता किसीको भी आतंकित नही करती, उल्टे स्नेह और आदर उत्पन्न करती है।

उत्तरप्रदेशके बुन्देली-भाषी सोरई ग्राममे जन्मे पंडितजीकी प्रारंभिक शिक्षा जन्म-स्थान पर हुई। अनंतर वह ११ वर्षकी अल्पायुमे वाराणसी चले गये, जहाँ स्याद्वाद महाविद्यालयमे उनका नियमित शिक्षण हुआ। और वहीसे वह व्याकरणाचार्य, साहित्य-शास्त्री, जैन-दर्शन-शास्त्री और न्यातीर्थकी उपाधियोंसे अलंकृत हुए।

इतनी उपाधियाँ मिलना आसान बात नहीं थी। इसके पीछे उनका गहन अध्ययन, परिश्रमशीलता और लगन थी। किशोरावस्थाके ये गुण उनके लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुए। वह बराबर आगे बढ़ते गये और एक दिन उन्नतिके चरम शिखर पर पहुँच गये। आज उनकी गणना जैन समाजके उन विद्वानोंमें होती है, जिनके नाम उँगलियों पर गिने जा सकते है।

पंडितजी चाहते तो अपनेको जैन दर्शन और जैन साहित्य तक ही सीमित रख सकते थे, किन्तु समाजको भी उन जैसे निःस्पृही और निःस्वार्थ सेवककी आवश्यकता थी। उन्होंने जैन और जैनेतर समाजोकी चेतना-को जाग्रत करनेके लिए सतत प्रयत्न किये। वह पुरातन पीढ़ीके थे, किन्तु उन्होंने यह नही माना कि जो कुछ अच्छा है, वह केवल प्राचीनताकी देन है। उन्होने वर्तमान उपलब्धियोको भी देखा और उनमे जो ग्राह्य था, उसे ग्रहण किया। इस प्रकार हम कह सकते है कि प्राचीन परम्पराओ, आचार-विचारो और संस्कृतिके प्रति प्रतिबद्ध होते हुए भी उन्होने आधुनिक विचारोंके सम्बन्धमे उदार दृष्टिकोण रखा और यथासम्भव दोनो विचार-धाराओके बीच समन्वय स्थापित किया।

पंडितजीका जीवन बहुआयामी है। वह विद्वान है। समाजसेवी है, लेकिन साथ ही राष्ट्र-सेवी भी हैं। जिस समय देशमें नमकसत्याग्रहके फलस्वरूप एक नई चेतना जाग्रत हुई और सारा देश पूर्ण स्वतन्त्रताकी शपथ लेकर मैदानमे आ खड़ा हुआ, पंडितजी भी पीछे नही रहे। देश-सेवाके कार्योंमे सक्रिय योगदान दिया और जब सन् १९४२ मे ९ अगस्तको 'भारत छोडो' आन्दोलनका सूत्रपात्र हुआ तो पडितजी राष्ट्र-सेवकोकी प्रथम पक्तिमे आ खड़े हुए, जेल गये। सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोमे उन्होने नौ-दस माह कितने कष्टमे बिताये, उसकी कहानी आज भी दिल दहला देती है। पंडितजी नगर काग्रेस-कमेटीके अध्यक्ष और मध्यप्रातीय काग्रेस-कमेटीके सदस्य भी रहे।

जो मुक्त हस्तसे देता है, उसका भण्डार कभी रिक्त नही होता, उल्टे समृद्ध होता है। कहते है, सर्वोत्तम दान विद्यादान होना है। पंडितजीने अनेक पुस्तकें तो लिखी ही, विभिन्न विषयोंके दर्जनों लेख भी लिखे। गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला और भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषदके वर्षों तक मंत्री रहे। सिवनी तथा श्रावस्तीके विद्वत्परिषद्-अधिवेशन उन्हीकी अध्यक्षतामे सम्पन्न हुए। इन अधिवेशनोमे उन्होने जो भाषण दिये, उन्हे सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध रह गये।

उन्होने कई पत्रोका सम्पादन भी किया।

छ दशकसे वह लगातार समाज, साहित्य, धर्म और संस्कृतिकी सेवामे सलग्न है। अध्यापनमे उन्होने अधिक समय नही लगाया, अधिकाश समयका उपयोग अध्ययन और लेखनमे किया। वह मौलिक चिन्तक हैं और लेखनमें भी उनकी विशेष गति और मति है। यह जैनदर्शन और जैन साहित्यके अधिकारी विद्वान् है।

मैने एक स्थान पर लिखा है कि साधक कभी थकता नही, कभी रुकता नही। पडितजी एक महान् साधक है। चौरासी वर्षकी वयमे आज भी वह सक्रिय है। उनका चिन्तन और लेखन अबाध गतिसे चलता रहता है।

सेवाके प्रति समर्पित व्यक्तित्वकी विशेषता होती है कि वह अपने जीवनकी प्रत्येक श्वास और प्रत्येक घड़ीका सदुपयोग करता है। एक क्षण भी प्रमादमे नही खोता। पंडितजीका सम्पूर्ण जीवन सेवाके लिए समर्पित रहा है। इसीसे समयका उनके लिए बडा मूल्य है।

पंडितजी अनेक महत्त्वपूर्ण पदो पर रहे हैं, अनेक सम्मान उन्हे मिलते रहें है, लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि उनसे पडितजी नही, वे स्वयं गौरवान्वित हुए हैं।

पंडितजीसे कब-कब और कहाँ-कहाँ मिलना हुआ, अब याद नहीं आता, किन्तु उनके चेहरेकी सौम्यता और वाणीकी मृदुलताकी छाप अब तक मेरे मन पर बनी हुई है।

आज सार्वजनिक जीवनमें मूल्योंका बड़ा ह्रास हो गया है। जैन समाज भी उसका अपवाद नहीं है। पंडितजीका सर्वोत्तम अभिनन्दन यही होगा कि जैन समाज उनकी कठोर साधनाका स्मरण करे, उससे प्रेरणा लें, और अपने आचरणसे जैनधर्म, संस्कृति और दर्शनके उज्ज्वल स्वरूपको प्रस्तुत करके एक नये युगकी स्थापनामें सहायक हों।

"जीवेम शरद शतम्"—पंडितजी शतायु हों।

विलक्षण प्रतिभाके मनीषी

● प्रो० उदयचन्द्र जैन, जैन-बौद्धदर्शनाचार्य, पूर्व रीडर, का० हि० वि०

श्रीमान् पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य एक लब्धप्रतिष्ठ वयोवृद्ध विद्वान् हैं। आपमें अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण जैन समाजमें ही नहीं, किन्तु भारतीय समाजमें भी आपका विशिष्ट स्थान है। विद्वत्समाजमें तो आप एक प्रतिभाशाली मूर्धन्य विद्वान्‌के रूपमें सुप्रसिद्ध हैं।

आपने प्रातःस्मरणीय परमपूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी द्वारा संस्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमें रहकर ११ वर्ष तक उच्चकोटिका अध्ययन किया है। आप जैनसमाजके प्रथम व्याकरणाचार्य हैं। व्याकरणाचार्यकी उपाधि प्राप्त करना कोई साधारण बात नहीं है। साहित्य, दर्शन, न्याय आदि विषयोंमें व्याकरण अति कठिन विषय है। ऐसे कठिन विषयमें आपने प्रवीणता प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया है कि दृढ़ संकल्प वाले व्यक्तिके लिए कोई कार्य कठिन नहीं होता है। अतः व्याकरणाचार्यकी उपाधि आपकी विशिष्ट प्रतिभाकी सूचक है।

जैनदर्शन और जैनसिद्धान्तके मूर्धन्य विद्वान् होनेपर भी आपने शिक्षा-समाप्तिके अनन्तर किसी विद्यालय आदिमें सर्विस नहीं की, किन्तु बीनामें स्वतंत्र व्यवसायको अपनाकर वणिक्पुत्रोंमें भी अपना श्रेष्ठ स्थान बना लिया। ऐसा कहा जाता है कि सरस्वती और लक्ष्मीका विरोध है। परन्तु आपने इस कथनको असत्य सिद्ध कर दिया है। आप सरस्वतीके वरदपुत्र होकर भी लक्ष्मीके भी परम प्रिय पुत्र बने।

उच्चकोटिके विद्वान् होनेके साथ ही आप स्वतन्त्र विचारक और लेखक भी हैं। व्यवसायमें संलग्न व्यक्ति प्रायः चिन्तन तथा लेखनके लिए बहुत कम समय निकाल पाता है। परन्तु आप इसके अपवाद हैं। यही कारण है कि आपकी लेखनीसे 'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार', 'जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था' आदि ऐसी अनेक कृतियोंका सृजन हुआ है जो महत्त्वपूर्ण होनेके साथ ही पठनीय और मननीय हैं। इतना ही नहीं, अभी ८४ वर्षकी ववस्थामें भी आप लेखन तथा चिन्तनके कार्यमें बराबर संलग्न रहते हैं।

जैन विद्वानोंमें स्वतंत्रता-सेनानी प्रायः बहुत-कम मिलेंगे। किन्तु आपने स्वतत्रता-सेनानी होनेका महान् गौरव प्राप्त किया है। सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलनमें आपने सक्रिय भाग लेकर सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोंमें ९-१० मास तक अनेक कष्टोंको शान्तभावसे सहन किया है।

समाज-सेवा, देश-सेवा और साहित्य-सेवा तीनोंको आपने अपने जीवनका प्रधान लक्ष्य बनाया है।

सन् १९६५ में आप भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष चुने गये। फरवरी मासमे सिवनीमें आपकी अध्यक्षतामें विद्वत्परिषद्का अधिवेशन हुआ। उस समय आपने श्रीमान् कोठियाजीको लिखा कि वाराणसीके सब विद्वानोंको साथ लेकर सिवनी आओ। कोठियाजी आदि विद्वानोंके साथ मैं भी सिवनी गया। विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणी समितिके चुनावके समय सिवनी अधिवेशनमें आपने मुझे विद्वत्परिषद्का संयुक्तमंत्री बना लिया। और प्रसन्नता है कि कुछ वर्षों तक विद्वत्परिषद्के संयुक्तमंत्री पदपर रहकर कार्य करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

आप हित, मित और प्रियभाषी हैं। जब आप विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष थे तब आपने स्नेहपूर्वक एक दिनके लिए बीना बुलाया। उस समय आपने अनेक विषयों पर विद्वत्तापूर्ण चर्चा की थी तथा मुझे भी अनेक परामर्श दिये थे। आपका स्नेहपूर्ण आतिथ्य तो सदा स्मरणीय रहेगा। आप श्रीमान् कोठियाजीके आदरणीय चाचाजी हैं। इसलिए आप जब कभी कोठियाजीके यहाँ वाराणसी आते थे तब आपसे मिलकर परम प्रसन्नता होती थी। अप्रैल सन् १९८७में ललितपुरमे श्रद्धेय डॉ० कोठियाजीके कुलपतित्वमें हुई जैन न्याय-विद्या-वाचनाके समय भी आपसे मिलनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था।

हर्ष है कि ऐसे महान् विद्वान्की सार्वजनिक सेवाओंके उपलक्ष्यमें उन्हें अभिनन्दनग्रन्थका समर्पित किया जाना एक अत्यन्त स्तुत्य कार्य है। इस सुखद अवसरपर उनकी दीर्घायुकी कामना करता हुआ उन्हें अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

बीसवीं सदीके गम्भीर-दार्शनिक विद्वान्

● प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन, स्नातकोत्तर संस्कृत-प्राकृत विभाग, ह० दा० कालेज, आरा

जो स्वतन्त्र मौलिक विचारोंके धनी तथा स्वाभिमानी प्रवृत्तिके विद्वान् होते है, वे किसीके आदेश-निर्देश और पराधीनताको स्वीकार नहीं करते। अमेरिकाके एक महान दार्शनिक इमर्सनके विषयमें कहा जाता है कि उसने नगरसे दूर एक जंगली-सरोवरके किनारे एक झोपड़ेमें रहना और अपनी आजीविकाके लिए छोटा-मोटा कृषि-कार्य करते हुए तत्त्व-चिन्तन एवं लेखनकार्य तो पसन्द किया, किन्तु राजकीय-सेवा या अन्य संस्थाओंकी पराधीनतापूर्ण सेवामें रहना पसन्द नहीं किया। यही स्थिति है हमारे मनस्वी महापण्डित श्रद्धेय प० वंशीधरजी शास्त्री व्याकरणाचार्यकी भी।

श्रद्धेय पण्डितजी जैनेतर व्याकरणाचार्योंमें प्रथम पक्तिके तथा जैन समाजमें व्याकरणाचार्योंका खाता खोलनेवाले आद्य व्याकरणाचार्य हैं। न्यायाचार्य, साहित्याचार्य एवं सर्वदर्शनाचार्य आदि तो जैन समाजमें अनेक तैयार हुए, किन्तु व्याकरणाचार्य इने-गिने ही मिलेंगे। उसका मूल कारण है कि वह विषय प्राय. सभीको नीरस एवं दुरूह लगता है। इस कारण बहुत कम लोगोंकी गति उसकी ओर हो पाती है।

पण्डितजीके जीवनका जब यह दृढ संकल्प बना कि यदि समाजकी ठोस सेवा करनी हो तो समाजके वेतन-भोगी सेवक मत बनो। उन्होंने वही किया भी। समाजके प्रतिष्ठित पदोंको प्राप्त करनेका उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया। उसके बदलेमें उन्होंने बीना (सागर) जैसे छोटे-से नगरको ही अपनी कर्मभूमि मानकर वहीं पर कपड़ेके छोटे-से व्यापारको अपने परिवारकी आजीविकाका साधन बनाया तथा व्यापारिक कार्योंसे बच हुए समयको अपने स्वाध्याय एवं प्रवचनमें लगाया।

पण्डितजीके कारण बुन्देलखण्डका अत्यन्त लघु नगर "बीना" भारतकी विद्वत्ताके मानचित्रमें सुर्खियों-भरा स्थान पा गया। समाजमें जब भी शास्त्रार्थ होता या कोई समस्या उठ खड़ी होती, सभीका ध्यान बीना-नगरके उस एकान्त साधककी ओर चला जाता और निश्चय ही वहाँसे उसका समाधान निकल आता।

इन पंक्तियोंका लेखक तो पपौराजी विद्यालयके अध्ययनकाल (सन् १९३८) से ही उनका नाम सुनता चला आ रहा था। सयोगसे मेरे आद्य विद्या-गुरु श्री पण्डित डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यके सौजन्यसे वे पपौराजीके एक नैमित्तिक अधिवेशनमें पधारे। अत्यन्त साधारण, किन्तु शुद्ध खद्दरधारी पण्डित बंशीधरजीको अपने बीच पाकर हम लोग कृतकृत्य थे। हमारी छात्रसभामें भी उनका उद्बोधक भाषण हुआ। शब्दावली तो मुझे स्मरण नही, किन्तु उसका साराश यही था कि "जिनवाणी एवं जैन समाजके उद्धारका भार नवीन पीढी पर है। इसके साथ ही राष्ट्रके निर्माणकी जिम्मेवारी भी उन्ही पर है। अत छात्रोंको अपने अध्ययनके साथ-साथ स्वस्थ रहकर समाज एवं राष्ट्रकी सभी समस्याओको समझकर अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उनके उद्धार एव निर्माणकी दिशामे भी कार्य करनेकी योग्यता हासिल करना चाहिए।"

सन् १९५७ के आसपास मैंने डॉ० हीरालालजी एव डॉ० ए० एन० उपाध्येके आदेशसे हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थोंपर शोधकार्य प्रारम्भ किया था। उस प्रसंगमे मैं महाकवि रइधूकी पाण्डुलिपियोंकी खोजमें राजस्थान एवं गुजरातके बाद बीना पहुँचा था। वही मेरी उनसे प्रथम साक्षात् भेंट थी। मैने उसी समय परखा कि नवीन उन्ननीषु पीढीके प्रति वे कितने सहृदय, एवं सहयोगी-प्रवृत्तिके सज्जनोत्तम व्यक्ति हैं। भले ही वहाँके शास्त्र-भण्डारमे मुझे रइधूकी कोई भी प्रति नही मिली, किन्तु उसकी खोजसे लेकर आतिथ्य तककी उनकी स्नेह-छाया मुझे अवश्य मिली।

जैन समाजमे कर्म-सिद्धान्तके ज्ञाता दो विद्वान् सर्वविदित है—सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्रजी शास्त्री एवं सिद्धान्ताचार्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य। दोनों ही शुद्ध खद्दरधारी, दोनों ही पक्के गाँधीवादी, दोनों ही जैन-सिद्धान्तके मर्मज्ञ, अभूतपूर्व प्रतिभाके धनी, दोनों ही मनस्वी एवं बेजोड स्वाभिमानी और दोनों ही राष्ट्रकी सेवामे समर्पित और स्वतन्त्रता-प्राप्तिके आन्दोलनकारी होनेके कारण जेलकी यातनाओंके भोगी। दोनोंकी इतनी प्रगाढ मैत्री कि पूज्य पं० फूलचन्द्रजी कहा करते थे कि हम दोनोकी विचार-धारामें इतना मतैक्य है कि किसी भी प्रश्नके उत्तरमे भाषामे भले ही हीनाधिक अन्तर आ जाय, किन्तु विचारोमें कभी भी अन्तर नही आ सकता। दार्शनिक-मान्यताको लेकर सम्भवत यही स्थिति आगे नही चल सकी। 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा'मे इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। किन्तु मतभेद रहते हुए भी मनभेदकी स्थितिको वे दोनों ही पसन्द नही करते। यही उनकी महानता एवं बडप्पन है।

पण्डितजीका जीवन एक खुली पुस्तकके समान है। वे व्यापारी अवश्य है किन्तु अणुव्रतोंके नियमोंके प्रतिपालक भी है। यह आश्चर्यका विषय है कि व्यापार करते हुए भी जैन-दर्शनके गहन रहस्योंका उद्घाटन वे कैसे कर पाते है ? किन्तु निरपेक्षवृत्तिसे व्यापारमे लगे हुए पण्डितजी उसे आश्चर्य नही मानते, क्योंकि वे उस पथके पथिक हैं, जिसे भारतके सुप्रसिद्ध जौहरी एव चिन्तक रायचन्द्र भाई (महात्मा गाँधीके गुरु) जैसोंने भी अनुसृत किया है।

बुन्देलभूमि प्रारम्भसे ही साधक विद्वानोंकी खानि रही है। उसकी प्रथम पंक्तिके विद्वानोमे पण्डित बंशीधरजीका नाम चिरकाल तक प्रेरणाका अजस्र-स्रोत बना रहेगा। उन्हे हमारा शतश· नमन है। वे शतायु· हों।

राष्ट्र एवं समाजकी अतुलनीय विभूति

● डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, मानद निदेशक अ० शो० पी०, उज्जैन

खादीकी स्वच्छ श्वेत नुकीली टोपी, खादीके कुर्तेके ऊपर जवाहर जाकेट एवं खादीकी धोती, आँखों पर चश्मा, भोला चेहरा और सतर्क नेत्र, संक्षेपमें यह है हमारे आदरणीय पण्डित बंशीधरजीका बाह्य व्यक्तित्व और आन्तर व्यक्तित्व है उनका स्वाभिमानपूर्ण आगमिक एवं दार्शनिक चिन्तनसे ओतप्रोत तेजस्वी रूप।

आप कहेंगे पण्डितजीका नाम बंशीधर क्यो है ? बंशीधरका अर्थ होता है श्रीकृष्ण। इनका नाम तो जैनेन्द्र, ऋषभ, अभिनन्दन, सत्यंधर आदि होना चाहिए था। इसका उत्तर यह है कि आजसे लगभग सौ-डेढ़-सौ वर्ष पूर्व समाजमे जैन पण्डित नही थे। जन्म और मृत्युके समय ब्राह्मण पण्डित ही हमारे शरण थे। यही कारण है कि हमारे वयोवृद्ध पण्डित-जनोके नामोंपर उन्हीकी संस्कृतिकी छाप है। जैसे पण्डित गणेश-प्रसादजी वर्णी, बाबा भगीरथजी वर्णी, पं० गोपालदासजी बरैया, पं० देवकीनन्दनजी, पं० जगन्मोहनलालजी, आदि। उसी परम्परामें हमारे अभिनन्दननीय पण्डितजीका नाम पं० बंशीधर रखा गया है।

आदरणीय पण्डितजीने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमें जैनधर्म एव दर्शनका अध्ययन समाप्त कर समाज, साहित्य एव पत्रकारिताके लिए अपनी सेवाएँ अर्पण करते हुए, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-सग्राममे भी योगदान किया।

मैं आदरणीय पण्डितजीका जीवन जैन पण्डितोंके लिए आदर्श मानता हूँ। इसका कारण यह है कि उन्होने विद्याको आर्थिक आधार न बनाते हुए स्वतंत्र व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलायी। इसी कारण उन्हे समाजमे विशिष्ट सम्मान प्राप्त हुआ। आदरणीय पण्डितजी चौरासी वर्षकी आयुमे निष्प्रमादभावसे अपने जीवनके आदर्शोंको पूर्ण करनेमे सलग्न हैं, यह बात आजके विद्वानोके लिए अनुकरणीय है।

वेदोमे "जीवेम शरद शतम्" कहकर सौ वर्षों तक जीनेका आदर्श रखा गया है। साथ ही "अदीना स्याम शरद शतम्" कहकर सौ वर्षों तक मनोबलको ऊँचा रखनेकी बात भी कही गयी है।

हम आदरणीय पण्डितजीके शतायु होनेकी कामनाके साथ उनकी आत्मि श्रेयस् आध्यात्मिक समृद्धिकी हृदयसे कामना करते हैं।

विद्वत्ता और सहृदयताके संगम

● डॉ० रतनचन्द्र जैन, रीडर—भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल

'पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य यह नाम बचपनमे अपने पिताश्री (पंडित बालचन्द्रजी प्रतिष्ठा-चार्य)के मुँहसे सुना था। वे बडे आदरसे यह नाम लिया करते थे। व्याकरणाचार्यजीकी विद्वत्ताकी धाक मेरे पिताजीके मनमे बडे गहरे पैठी थी। उनके बारेमे बार-बार चर्चा करके पिताजी संभवतः हमलोगोको उन जैसा ही बननेकी प्रेरणा देते थे।

बचपनमे एक बार उनके दर्शन भी पिताजीने सागरमें कराये थे। खद्दरकी धोती, कुर्ता और टोपीमें भव्य लग रहे थे। उस समय उनकी आयु लगभग पैतालीस वर्ष रही होगी। दिव्य तेज मुखपर झलक रहा था। पिताजीसे वे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक मिले थे। पिताजी अवस्थामें उनसे कुछ ज्येष्ठ थे।

'व्याकरणाचार्य' उपाधि भी हमारे मनमें अत्यन्त श्रद्धा पैदा करनेवाली थी। संस्कृत-व्याकरणकी क्लिष्टतासे कौन अध्येता परिचित नहीं हैं। लोहेके चने हैं। ऐसे विषयमें जिसने आचार्यत्व प्राप्त किया हो वह अपनी अपूर्व मेधाके कारण कितना विस्मयोत्पादक, अतएव श्रद्धाका पात्र न होगा।

पण्डितजीने स्वतंत्रता-संग्राममें भी भाग लिया था और जेल गये थे। संस्कृत और जैन सिद्धान्तके उद्भट विद्वान्की इस देशभक्ति और स्वातन्त्र्यप्रियताका जब हमें बोध हुआ तब हमारा मस्तक गर्वसे ऊँचा उठ गया और श्रद्धा द्विगुणित हो गई।

लम्बा अरसा बीत गया। सन् १९८० में सागर (म० प्र०) में पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराजके ग्रीष्मयोगके अवसर पर एक महानिबन्ध-प्रतियोगिताकी घोषणा हुई थी। विषय था 'मोक्षमार्गमें निश्चय-व्यवहारकी उपयोगिता।' मेरा निबन्ध इसमें पुरस्कारयोग्य एवं प्रकाशनार्थ पाया गया था। बादमें ज्ञात हुआ कि इसके तीन निर्णायकोंमेंसे एक व्याकरणाचार्यजी भी थे। इस विषयमें माननीय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने एक रोचक किस्सा सुनाया। मेरे निबन्धकी प्रति जब व्याकरणाचार्यजीको प्राप्त हुई तब उन्होंने 'निश्चय-व्यवहार' विषय देखकर अरुचिपूर्वक उसे वि० प० के कार्यालयको लौटा दिया, क्योंकि एक अरसेसे एक विशेष विचारधाराके अन्तर्गत निश्चय-व्यवहारका अत्यन्त गलत प्रतिपादन किया जा रहा था। इससे व्याकरणाचार्यजीका मन अत्यन्त विरस हो गया था। किन्तु आदरणीय डॉ० कोठियाजी द्वारा उसे अवश्य पढ़नेकी प्रेरणा करनेपर उसे उन्होंने कार्यालयसे पुनः मंगाया और उसे पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने प्रतिवेदनमें इसे सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। यहींसे पण्डितजीका नैकट्य प्राप्त हुआ।

प्रतियोगिताका परिणाम घोषित होनेके लगभग चार माह बाद मुझे श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीका एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसमें लिखा था कि बीनाके एक सज्जन मेरे महानिबन्धको पुस्तकरूपमें प्रकाशित करना चाहते हैं। यदि मैं इच्छुक होऊँ तो शीघ्र उनसे आकर मिलूँ। पण्डितजीका पत्र पाकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अपना अहोभाग्य समझा कि जैनदर्शनके एक वयोवृद्ध, मूर्धन्य विद्वान्ने मुझे अपने पास बुलाया है। मैंने पण्डितजीको अपने पहुँचनेकी तिथि सूचित की और उनके पास बीना पहुँचा। पहुँचनेपर मैंने उनके चरणोंका स्पर्श किया। पण्डितजी बोले—'रतनचन्द्र, मुझे तुम्हारा निबन्ध बहुत अच्छा लगा। मेरा हृदय प्रसन्न हो गया।'

पण्डितजीने स्वयं चलकर स्नान वगैरहका स्थान बतलाया, अपने साथ भोजन कराया और अपने विश्रामकक्षमें ले जाकर विश्राम करनेके लिए कहा। साथ ही पूछा—'विश्रामके बाद दूध-चाय क्या लोगे? जो लेना हो, निःसंकोच कहना, अपना ही घर समझना।' यह कहकर पण्डितजी दुकानमें चले गये। बाजारका दिन था। दूकानमें सहयोग देना था।

पण्डितजीके इस अननुभूतपूर्व वात्सल्यमय आतिथ्यसे मैं गद्गद हो गया। लगा जैसे अपने घरमें आ गया हूँ। पण्डितजीके मानवीय व्यक्तित्वका साक्षात्कार कर मैं अपूर्व आनन्द और श्रद्धाके सागरमें डूब गया। विद्वत्ता और सहृदयताका अद्भुत संगम देखकर नेत्र सजल हो गये।

पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें पण्डितजीकी दिनचर्या देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। पण्डितजी रात्रिको नौ बजे सो जाते हैं और सुबह तीन बजे उठते हैं। उठकर स्वाध्याय और लेखन करते हैं। उन्होंने अधिकांश लेखन इसी समय किया है। यही समय उन्होंने मुझे चर्चाके लिए दिया था। मैं भी तीन बजे उठ गया। पण्डितजीसे चर्चा हुई। उन्होंने मेरे निबन्धमें कुछ स्पष्टीकरण सुझाये। मैंने समाधानके लिए अनेक प्रश्न उनके सामने रखे। पण्डितजीने शान्तभावसे समाधान किया। पण्डितजीको समझानेकी शैली अत्यन्त

सहृदयतापूर्ण है। जिज्ञासुकी समझमें न आनेपर वे खिन्न और उदासीन नहीं होते, अपितु बार-बार स्नेह-पूर्वक समझाते हैं। मैंने उनसे कतिपय प्रश्नोंपर बहुश: प्रश्न किये, किन्तु एक भी बार उत्तप्त नहीं हुए और बड़े शान्तभावसे बार-बार समझाते रहे। जिज्ञासुको सत्यकी अनुभूति करा देनेकी कितनी उत्कट भावना है है पण्डितजीमें, यह मैंने अनुभव किया।

पिछले कुछ वर्षोंसे जैन समुदायमें जो एकान्तवादी विचारधारा चल पड़ी है और पूज्य वर्णीजीके द्वारा स्थापित संस्थाओंमें अध्ययन करनेवाले पण्डितजनोंने भी उसमें शामिल होकर सिद्धान्तोंका आगमविरुद्ध प्रतिपादन किया है, उससे व्याकरणाचार्यजीको जितना खेद है उतना शायद किसी अन्य विद्वान् को हो। 'जयपुर (खानिया) चर्चा'में आगमसम्मत विचारधाराकी पुष्टि करनेवाले विद्वानोंमें व्याकरणाचार्यजी प्रमुख थे। प्रतिपक्षने उक्त चर्चाका विवरण 'जयपुर तत्त्वचर्चा' नामसे दो ग्रन्थभागोंमें प्रस्तुत किया है। इसमें प्रतिपक्षने अपनी एकान्तवादी विचारधाराको ही सही ठहराया है। इसकी समीक्षा हेतु अनेक ग्रन्थोंकी रचनाका परमावश्यक, श्रमसाध्य एवं प्रशंसनीय कार्य व्याकणाचार्यजीने ही किया है। सत्यका आग्रह भगवान महावीर और महात्मा गाँधीका सच्चा अनुयायी ही कर सकता है। उसे लौकिक हानियोंकी परवाह नहीं होती। पण्डितजीने जिनवाणीकी जो प्रभावना की है वह स्वर्णाक्षरोंमें लिखी जाने योग्य है।

पण्डितजीके प्रति मेरे मनमें अगाध श्रद्धा इसलिए है कि उनमें कोरा पाण्डित्य नहीं है। उनके पास एक मृदु तथा वात्सल्यसे परिपूर्ण निर्भय हृदय भी है, जिससे उनका पाण्डित्य सफल हुआ है। पण्डितजी दीर्घायु हों और स्वस्थ रहें, इस कामनाके साथ उन्हें मेरे कोटिशः नमन एवं श्रद्धा-सुमन समर्पित हैं।

स्वाभिमानी विद्वान

● डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, अध्यक्ष, पालि-प्राकृतविभाग, नागपुर वि० वि० नागपुर

'सोंरई' जैसे दूर-दराज गाँवमें जन्मे व्यक्तित्वने टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियोंपर चलकर वाराणसीमें ज्ञान-साधना की और राष्ट्रीय तथा सामाजिक आन्दोलनोंके कठोर झंझावातोंमें झूलते हुए, बीनाको अपना स्थायी निवास-स्थान बनाया। इस लम्बी यात्राने उन्हें अनेक पड़ाव दिये, चिन्तन-मन्थन करनेके लिए और उसका निष्यन्द निकला स्वतन्त्रतापूर्वक अजीविकोपार्जन। इस निश्चयकी पृष्ठभूमिमें थी प० जीकी स्वाभिमानी वृत्ति और आत्मविश्वासी प्रवृत्ति। वृत्ति और प्रवृत्तिके बीच घूमता हुआ उनका मानस तेजस्वी व्यक्तित्व, कभी थका नहीं, बल्कि अविराम नैतिक पथका निष्प्रमादी, परिश्रमी, पुरुषार्थी पथिक बनकर उसने विद्वानोंकी श्रेणीमें अग्रगण्य बननेका सौभाग्य पाया।

स्वाभिमानी, पर अभिमानसे दूर, व्यापारी, पर लिप्सासे मुक्त, अध्यवसायी, पर कठघरोंसे कटे हुए पण्डिजीके व्यक्तित्वने नई पीढ़ीको जो समय-समयपर मार्गदर्शन दिया वह अपने आपमें अनूठा रहा है।

पण्डितजीकी विद्वत्ता और सहजताका परिचय मुझे, प्रथम बार तब मिला, जब बीनामें जैनतत्त्व-मीमांसा (श्री प० फूलचन्द्रजी द्वारा लिखित) का प्रथम वाचन हुआ। लगभग सन् १९५८ में। उस विद्वत् समुदायमें वे जिन मुद्दोंको अपने अकाट्य तर्कोंके साथ उठाते थे, उनका परिहार सरल नहीं था। एक व्याकरणाचार्यकी सिद्धान्तशास्त्रोंमें इतनी गहरी पैठ देखने लायक ही बनती थी। संगोष्ठीकी जीवन्त उपयोगिता उनके ही परिश्रमका फल थी।

उसके बाद तो पंडितजीका स्नेह मुझे काफी मिला। श्रीलंकासे वापिस आनेपर उन्होंने बीनामें जो मेरा सत्कार किया कराया उससे तो मैं और भी अभिभूत हो गया। वस्तुत पण्डितजोकी गुणग्राहिताने उनकी स्वाभिमानी वृत्तिमें चार चाँद लगा दिये। अध्यापन कार्यसे दूर रहकर भी विद्वत्ताको पनपाये रखनेका जो सुन्दर उदाहरण पंडितजीने प्रस्तुत किया है वह बेमिसाल है, अनुपम है। उनके इस उदाहरणका अनुकरण यदि उस समयके विद्वानोंने किञ्चित् भी किया होता तो पण्डित-परम्पराको जो अपमानके घूंट समाजने जहाँ-तहाँ पिलाये, उसका साहस उसे नही हो पाता। और पण्डित-परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी समस्या भी मुखर नही हो पाती। दीनता और नैराश्यसे उभरने तथा स्वाभिमानके साथ जीवन यापन करते हुए शैक्षणिक और सामाजिक सेवा करनेके लिए स्वतन्त्र व्यवसायमे जुट जानेके अतिरिक्त कोई दूसरा सुन्दर विकल्प नही है।

पचासी वर्षकी अवस्थामे भी पण्डितजी पूर्णत स्वस्थ है। यह प्रसन्नताका विषय है। वे स्वस्थ रहे और अपने ज्ञानपुञ्जका प्रकाश प्रसृत करते रहें, यही हमारी मनोकामना है।

संस्मरण

● **शाह अमृतलाल जैन, बीना संकलन ● डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल**

श्री शाह अमृतलालजी जैन/बीना निवासी/आयु ६७ वर्ष/व्यवसाय किरानाके व्यापारी।

श्री अमृतलालजी पण्डित बंशीधरजीके साले हैं। बीनानिवासी होनेके कारण पिछले ६० वर्षोसे पण्डितजीके घनिष्ट सम्पर्कमे रहे तथा उनकी प्रत्येक गतिविधिको सूक्ष्म दृष्टिसे देखा है। जब मैंने पण्डितजीके विषयमें अपने संस्मरण सुनानेको कहा तो कहने लगे पण्डितजी आरम्भमें ही कठोर अनुशासन प्रिय थे, अपने सिद्धान्तोके पक्के हैं तथा उनमे जरा भी ढिलाई पसन्द नही करते थे। यद्यपि मैं रिश्तेमे उनका साला हूँ लेकिन उनका मेरे साथ भी वैसा ही अनुशासन प्रिय व्यवहार रहता था, जैसा अन्य व्यक्तियोंके साथ रहता था। आरम्भमे तो मुझे उनका व्यवहार जरा सख्त लगता था लेकिन कुछ समय पश्चात् उनका वही व्यवहार हमारे लिए अनुकरणीय बन गया।

प्रश्न—आपने तथा आपके परिवारके अन्य सदस्योंने पण्डितजीके जीवनका किन-किन दिशाओंमें अनुकरण किया।

उत्तर—पहले तो शाहजी प्रश्नका उत्तर क्या दिया जाये, इसको सोचने लगे। लेकिन कुछ देर बाद कहने लगे कि हमारे पूर्वज तो केवल अपने व्यवसायमें ही संलग्न रहा करते थे। न सामाजिक झगडोमे पडते और न राजनीतिसे वे कोई सम्बन्ध रखते थे। किन्तु पण्डितजीकी सतत प्रेरणा एवं मार्गदर्शनसे हम लोग सामाजिक राजनैतिक एवं सार्वजनिक क्षेत्रोंमें कार्य करने लगे। तथा अपना व्यापार व्यवसाय करते हुए सामाजिक संस्थाओंके सभी पदोंपर कुशलतापूर्वक कार्य किया तथा सभी क्षेत्रोमें पूर्ण ईमानदारीके काम करनेके कारण समाज एव सार्वजनिक क्षेत्रमे हमने जो सम्मान प्राप्त किया उसके लिए हम पण्डितजीके पूर्ण आभारी हैं।

प्रश्न—पण्डितजीकी लोकप्रियताके क्या उदाहरण दे सकते हैं ?

उत्तर—क्यो नही। बीनामें पण्डितजीकी लोकप्रियता सदैव अपने सर्वोच्च शिखरपर रही। पंडितजी

बीनाकी सभी संस्थाओंके मंत्री, उपाध्यक्ष एवं अव्वल पदपर रहे। जब चुनाव होते तो पण्डितजीके और हम लोगोंके सबसे अच्छे वोट आते। पण्डितजीने जब यहाँकी संस्थाओंका कार्यभार सम्हाला तो उनको रोकडमें कुछ ही रुपये मिले थे। लेकिन जब उन्होंने संस्थाओंसे अपना त्यागपत्र दिया तो उन सबको लाखोंकी सम्पत्ति-वाली संस्था बनाकर छोड़ा। पण्डितजी तो पूर्ण निष्ठा एवं ईमानदारीसे कार्य करते थे। लेकिन जब समाजके कुछ लोगोंको उनकी लोकप्रियता सहन नहीं हुई तो परस्पर जातीयताको उलझा दिया गया। और अन्तमें पण्डितजीने सन् १९७१ में अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। और समाजके पूर्ण आग्रहके बाद भी अब वे संस्थाओंका मामला हाथमें लेनेको तैयार नहीं होते। हमने भी पण्डितजीके साथ ही संस्थाओंसे अपना हाथ खींच लिया।

इस सम्बन्धमें मुझे एक घटना और याद आती है कि कभी-कभी सागर जिलेके कलेक्टर एवं पंजीयन अधिकारी दूसरे जिलेके विभिन्न ट्रस्टोंके अधिकारियोंसे कहा करते थे कि यदि ट्रस्टका प्रयास-सचालन देखना एवं सीखना हो तो श्री नाभिनन्दन दिगम्बर जैन हितोपदेशिनी सभा बीनाके मंत्री प० बंशीधरजीके पास जाकर सीखिये और फिर मेरे पास आइये। हिसाब-किताबमें पण्डितजी कितने पक्के एवं व्यवस्थित हैं उसकी वे अधिकारीगण बराबर सराहना करते रहे।

श्री शाहजीने पण्डितजीकी लोकप्रियताकी एक और घटना सुनायी। वे कहने लगे कि सन् १९४२के आन्दोलनमें पण्डितजीकी लोकप्रियता देखकर बीनाकी पुलिसको उनको बीनामें गिरफ्तार करनेका साहस नहीं हुआ। लेकिन जब पण्डितजी सागरमें कचहरीका कार्य करके वापिस लौट रहे थे, तो बीना जकशनपर आपको गिरफ्तार कर लिया गया। पण्डितजीके गिरफ्तारीके समाचार बिजलीकी तरह बीना शहरमें फैल गये। और रात्रिमें ही कम-से-कम दस हजारकी भीड़ बीना जक्शनपर जाकर पण्डितजीकी जयके नारे लगाने लगी। पुलिसको चिन्ता हुई कि कहीं भीड़ बेकाबू होकर तोड़-फोड़ नहीं कर डाले, इसलिए पण्डितजीको आग्रहपूर्वक पुलिस बाहर लाई और जब पण्डितजीने भीड़को वापिस लौटनेके लिए कहा तभी लोगोंने बीना जक्शन खाली किया।

आपने अन्तमें कहा कि ऐसे कितने संस्मरण सुनाये जा सकते हैं। हम तो पण्डितजीके आदर्शोंपर चलने वाले हैं और हमारा पूरा परिवार उन्हें समर्पित रहा है। उनके अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित होनेके समाचार सुनकर हमें अत्यधिक प्रसन्नता हुई है। हम तो उनकी दीर्घायु एवं यशस्वी जीवनकी ही मंगलकामना करते हैं।

जैनतत्वमीमांसाकी मीमांसा : शास्त्रीयमान्यताके परिप्रेक्ष्यमें

● पण्डित बलभद्र जैन, निदेशक—कुन्द-कुन्द भारती, नई दिल्ली

[१]

प्रस्तुत पुस्तक "जैनतत्त्वमीमांसाकी मीमांसा" जैनसमाजके बहुश्रुत और तत्त्वचिन्तक विद्वान् पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य द्वारा लिखी गई है। यह पुस्तक समाजके विश्रुत विद्वान् पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित 'जैनतत्त्व मीमांसा' नामक पुस्तकके उत्तरस्वरूप लिखी गई है। इस उत्तर-प्रत्युत्तरका सन्दर्भ समझनेके लिये इसकी पृष्ठभूमिमें जाना होगा। इसमें सन्देह नहीं है कि दोनों ही विद्वानोंकी गणना जैनसमाजके उच्चकोटिके विद्वानोंमें की जाती है। दोनोंने जो कुछ लिखा, वह तर्कपूर्ण और सप्रमाण लिखा। उनकी भाषा संयत एवं सभ्यजनोचित है। उनकी शैलीमें प्रौढता है। दोनों विद्वानोंकी पुस्तकें पढ़नेसे जैनदर्शनके अनेक दुरूह विषयोंको समझनेका अवसर सुलभ होता है। विषय जितने गहन हैं, उनको अपने पक्षकी दृष्टिसे सिद्ध करनेवाले तर्क भी उतने ही गहन हैं। यदि उन्हें समझना है, तो उसके लिये गहन, मनन और चिन्तनकी आवश्यकता होगी। तभी यह निष्कर्ष निकल सकेगा कि किसके तर्कमें अधिक पैनापन है, किसकी प्रस्थापनाएँ नवीन हैं और कौन सिद्धान्त एवं परम्पराके अधिक निकट हैं।

निःसन्देह दोनों विद्वान दो विचारधाराओंका प्रतिनिधित्व करते हैं। पं० फूलचन्द्रजीकी विचारधारा कानजी स्वामीकी सोचके अधिक निकट है। पं० वंशीधरजीकी कोई स्वतन्त्र विचारधारा नहीं है; उनकी विचारधारा वही है जो समाजमें परम्परागत शास्त्रीय विचारधारा है।

श्री कानजी स्वामी स्थानकवासी समाजके सौराष्ट्रके आचार्य थे। वे अपनी उग्र विचारधाराके लिये उस समाजमें भी बहुचर्चित थे। वहाँ कुछ परिस्थिति ऐसी बनी कि उन्हें दिगम्बर समाजमें आना पड़ा। वे दिगम्बर समाजमें किसी दिगम्बर जैन मुनि या आचार्यसे विधिवत दीक्षा लेकर नहीं आये। वे सामान्य ढंगसे नहीं आये। वे एक तूफानकी तरह आये। तूफान जब आता है, तो सूखे पत्तोंकी तो गिनती क्या है, बहुत कुछ उलट पुलट हो जाता है। कानजी स्वामीके प्रबल तूफानमें छोटे-मोटे जैन विद्वानोंकी तो बात ही क्या है जिन्हें जैनतत्त्वोंका गहन अध्ययन नहीं है, इसमें बड़े-बड़े सिद्धान्ताचार्य और पी०एच० डी० प्रोफेसर भी बह गये, जो यह कहनेमें भी नहीं चूके कि कानजी स्वामीके तो हमारे ऊपर अनन्त उपकार हैं। अनन्त उपकार तो केवल तीर्थंकर भगवानके होते हैं। सम्भवतः उनके व्यक्तिगत उपकारोंको वे अनन्त उपकार मानते हों।

इस तूफानमें दिगम्बर समाजके अनेक सेठ और सम्पन्न लोग भी बह गये, क्योंकि इस नये जमावड़ेमें सम्यग्दर्शनके लिये त्याग और चारित्रकी नहीं, मुमुक्षु-मण्डलके स्वाध्यायमें बैठने या उससे सहानुभूति रखनेकी आवश्यकता थी। सेठ सक्रिय सहानुभूति दिखा ही सकते हैं। इसमें इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें लाभ दिखाई देता है।

यह तो स्वीकार करना होगा कि कानजी स्वामीके इस तूफानी मिशनके कारण समाजके सर्वसाधारण वर्गमें समयसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रोंके स्वाध्यायकी रुचि बढ़ी है। किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि इस स्वाध्यायका एकमात्र श्रेय केवल कानजी स्वामीको ही नहीं दिया जा सकता। स्वामीजीके अवतरणसे पूर्व प्रशममूर्ति क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीके प्रभावक व्यक्तित्वके कारण त्यागीवर्गका झुकाव समयसार आदि ग्रन्थोंके स्वाध्याय एवं पठन-पाठनकी ओर हो रहा था। पूज्य वर्णीजी जहाँ प्रकाण्ड विद्वान् थे, वहीं वे चारित्रधारी भी थे। चारित्रहीन ज्ञानका विशेष महत्त्व नहीं है।

श्री कानजी स्वामी और पूज्य वर्णीजी दोनों ही जैनसमाजकी महान विभूतियोंमें थे, जैनसमाजके ऊपर दोनोंका महान प्रभाव था। दोनोंके प्रभावका अन्तर अथवा मूल्याङ्कन आदरणीय पण्डित बंशीधरजीके शब्दोंमें इस प्रकार किया जा सकता है—

"जहाँ कानजी स्वामीके अल्प सम्पर्कमें आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपनेको समयसारका वेत्ता और सम्यग्दृष्टि समझने लगता है, वहाँ पूज्यपाद वर्णीजीके सम्पर्कमें आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तःकरणमें तत्त्वजिज्ञासुताका ही भाव उत्पन्न करता है।" —जैनतत्त्वमीमांसाकी मीमांसा, पृ० ३।

वास्तवमें कानजी स्वामीका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावक था। सम्पूर्ण जैन समाजमें अध्यात्मके सम्बन्धमें धारावाहिकरूपमें भाषण देनेवाला ओजस्वी वक्ता कानजी स्वामीके समान दूसरा कोई नहीं था। किन्तु वे दूसरी समाजसे दिगम्बर समाजमें आये थे। इसलिये उनके पुराने अच्छे-बुरे संस्कार भी उनके साथ आये थे। मसलन वे आचार्यपदमें आये थे। यहाँ आकर आचार्य तो नहीं रहे, किन्तु उस पदका जो अहंभाव था, वह निकल नहीं सका। फलत: वे अपने आपको महाव्रती संयमी मुनियोंसे भी ऊँचा समझते रहे और दूसरे लोग भी ऐसा ही समझें, इसके लिये वे मुनियोंकी निन्दा भी करते थे। वे अपने आपको सुकुमार और कोमल समझते थे, इसलिये संयम और चारित्रकी कठोरतासे प्रयत्नपूर्वक अपने आपको बचाते रहे। इसीलिये वे व्यवहारचारित्रकी सदा निन्दा करते रहे और उसे बन्धका कारण कहते रहे। शुद्धोपयोगकी अपेक्षासे पुण्य शुभोपयोगको शास्त्रोंमें हेय बताया है, किन्तु स्वामीजी पुण्यको विष्ठा बताते रहे। जबकि वे स्वयं पुण्यका भोग करते रहे, अपने जीवनके अन्तिम दिनोंमें जब पुण्य क्षीण हो गया और भयंकर रोगसे भयंकर पीडा होने लगी, तो तथाकथित आत्मानुभव गायब हो गया और शरीरके मोहके कारण वेदनासे आर्तनाद करते रहे।

स्वामीजी प्रारम्भसे ही जैनधर्मकी सैद्धान्तिक विचारधाराके विरुद्ध बोलते रहे। वे कार्य सम्पादनमें पदार्थकी स्व-उपादान शक्तिकी भूमिकाको निर्णायक मानकर निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानते रहे। उन्होंने कार्य-कारणव्यवस्थाको अमान्य कर दिया। उनकी मान्यता है कि द्रव्योंका परिणमन परनिरपेक्ष और क्रमनियमित होता है। वे यह भी अस्वीकार करते हैं कि जीवके वैभाविक परिणामोंके कारण कार्मण-वर्गणाएँ कर्मरूप परिणमित होती हैं और कर्मोदयके कारण जीवमें विभावभाव होते हैं। वे अकालमरणको भी नहीं मानते। अर्थात् उनकी मान्यतामें जैनधर्मकी सम्पूर्ण द्रव्य-व्यवस्था ही काल्पनिक है।

स्वामीजीकी इन और ऐसी ही अन्य स्वतन्त्र मान्यताओंके कारण जैन समाजके विद्वद्वर्गमें तीव्र रोष व्याप्त हो गया और इसके विरोधमें पत्र-पत्रिकाओंमें लेख निकलते रहे। तब उनका समाधान करने और स्वामीजीकी स्वतंत्र मान्यताओंपर दार्शनिक मुलम्मा चढानेके लिये पं० फूलचन्द्रजीने 'जैनतत्त्व मीमांसा' पुस्तक लिखी। उसको जैन सिद्धान्तकी मान्यताओंके विरुद्ध समझकर पण्डित बंशीधरजीने 'जैनतत्त्व मीमांसाकी मीमांसा' नामक सयुक्तिक और सप्रमाण पुस्तक उत्तरस्वरूप लिखी। मेरी विनम्र रायमें इस पुस्तकने 'जैनतत्त्व मीमांसा'का मुलम्मा उतार दिया है। यहाँ मेरा विचार 'जैनतत्त्व मीमांसाकी मीमांसा'की मीमांसा करनेका है।

[२]

'जैनतत्त्व मीमांसा'में प० फूलचन्द्रजीने कुछ प्रस्थापनाएँ की हैं। किन्तु आगमविरुद्ध होनेसे पं० बंशीधरजीने सही परिप्रेक्ष्यमें इनकी मीमांसा की है। वे प्रस्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

प्रत्येक पर्याय और उसका काल नियत है

वस्तुमें पर्याय या परिणमनरूप कार्यकी उत्पत्ति केवल उसकी स्वत सिद्ध स्वभावभूत नित्य उपादान-शक्ति और कार्योत्पत्तिक्षणसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप अनित्य उपादानशक्तिके बलपर होती है। अनित्य उपादानशक्तिका दूसरा नाम समर्थ उपादान है। समर्थ उपादान प्रत्येक समयका अलग-अलग होता है। कार्य समर्थ उपादानके अनुसार ही होता है। स्वभाव और समर्थ उपादानमें फर्क है। स्वभाव त्रैकालिक होता है। इसीका दूसरा नाम नित्य उपादान है और समर्थ उपादान, जिस कार्यका वह उपादान होता है, उस कार्यके एक समय पूर्व होता है। ये समर्थ उपादान प्रत्येक वस्तुमें उतने ही माने जाते हैं, जितने कालके त्रैकालिक समय हैं। उनसे क्रमश जो-जो पर्याय उत्पन्न होती है, वे नियत है, उनकी उत्पत्तिका काल भी नियत है। प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमे केवल उपादानकी अपनी योग्यताके आधारपर ही उत्पन्न होता है। तब निमित्त भी वहाँपर तदनुकूल विद्यमान रहते हैं।

निमित्त अकिंचित्कर है

निमित्तोके सद्भावमे भी तबतक कार्यकी सिद्धि नही होती, जबतक उसके अनुरूप उपादानकी तैयारी न हो। अत निमित्त अकिंचित्कर है। उपादानके ठीक होनेपर निमित्त मिलते हो है। उन्हे मिलाना नही पडता। अर्थात् जब कार्य अपने उपादानके बलपर उत्पन्न हो रहा हो, तब उसके अनुकूल निमित्त रहते ही है।

इन प्रस्थापनाओंको अतिसंक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

—प्रत्येक पदार्थकी पर्याय नियत है, उसका काल भी नियत है, पर्यायका क्रम भी नियत है अर्थात् वह क्रमनियत अथवा क्रमबद्ध ही होती है।

—कार्य वस्तुकी अपनी उपादानशक्तिके बलपर होता है। उपादानके ठीक होनेपर निमित्त स्वत. ही मिल जाते हैं, वे स्वयं तो अकिंचित्कर है।

सारी जैनतत्त्व मीमासा इन्ही दो धुरियोपर चक्कर काट रही है। इन्हीमेंसे अनेक नई मान्यताओका जन्म होता है। ये तो बीज है, जिनमेसे कोपल, पत्ते, टहनी और डालें फूटती है। जैसे निश्चय ही मान्य है, व्यवहार तो उपचार मात्र है। अत वह मान्य नही है। फलत व्यवहारचारित्र भी मोक्षमार्गमे साधक नहीं है, बल्कि वह आस्रव और बन्धका कारण है। आदि ऐसी ही टहनियाँ और डालें हैं।

पण्डित फूलचन्द्रजीकी इन प्रस्थापनाओका जो तर्क और युक्तिसंगत एवं परम्परा और आगम द्वारा समर्थित उत्तर दिया है और 'जैन तत्त्वमीमासा'की दार्शनिक शैलीमें जो मीमासा पण्डित बंशीधरजीने की है, उसे समझने और उसपर गहन मनन करनेकी आवश्यकता है।

कार्योत्पत्तिके समय निमित्तोंकी सत्ताको तो सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु जैनतत्त्व मीमांसाकार कार्योत्पत्तिमें उनकी सार्थकताको अस्वीकार करते हुए उन्हें अकिंचित्कर मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक वस्तुके त्रैकालिक परिणमन निश्चित हैं और वे अपनी उपादानशक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते है।

इसकी मीमासा करते हुए पण्डित बंशीधरने तर्क दिया है - प्रत्येक वस्तुमे परिणमन दो प्रकारके होते हैं—एक तो स्वप्रत्ययपरिणमन और दूसरे स्वपरप्रत्ययपरिणमन। केवल स्व-उपादानके बलपर होनेवाले परिणमनको स्वसापेक्ष या स्वप्रत्ययपरिणमन कहते हैं तथा स्व (उपादान) तथा पर (निमित्त) दोनोंके बलपर होनेवाले परिणमनको स्व-परसापेक्ष अथवा स्व-परप्रत्यय परिणमन कहा जाता है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि यदि वस्तुमे विवक्षित रूपसे परिणमित होनेकी योग्यता नही हैं तो अनेक निमित्त मिलकर भी उसमें उस परिणमनको उत्पन्न नही कर सकते। उसी प्रकार विवक्षित रूपसे परिणमित होनेकी योग्यता होनेपर भी उस रूप परिणमित होनेके लिये यदि निमित्तोकी अपेक्षा अपेक्षित हो तो जबतक निमित्तोका सहयोग उसे प्राप्त नही होगा, तबतक वस्तु केवल परिणमित होनेकी योग्यताके बलपर कदापि उस रूप परिणमित नही होगी।

नियमसार गाथा १४ मे स्पष्ट कथन है कि पर्याय दो प्रकारकी होती है—एक स्वपरसापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष। इनमे निरपेक्ष पर्याय स्व-उपादानके बलपर होती है और स्वपरसापेक्ष पर्याय उपादान और निमित्त दोनोके सहयोगसे होती है

समयसारकी गाथा ८० और ८१ बताती हैं कि जीवके परिणामके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते है और पुद्गल कर्मोंका निमित्त पाकर जीवका परिणमन होता है। जीव पुद्गलके परिणमनका और कर्म जीवके परिणमनका कर्ता नही है किन्तु निमित्त-नैमित्तिकभावसे दोनोका परिणमन होता है। जैसे यह कहा जाता है कि जब कार्य होता है, उस समय निमित्त स्वय उपस्थित हो जाता है। इसे सही परिप्रेक्ष्यमे कहा जाय तो उसे यो कह सकते हैं अथवा यो कहना समीचीन होगा कि जब कार्य निष्पन्न होता है, उस समय उसकी सहकारी सामग्रीको निमित्त संज्ञा प्राप्त होती है। इसे अन्वय-व्यतिरेक शैलीमे इस तरह भी कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ कार्य होगा वहाँ-वहाँ निमित्त अवश्य होगे। जहाँ-जहाँ निमित्त नही होगे, वहाँ-वहाँ कार्य निष्पन्न नही होगा।

इस विषयको समझनेके लिये समयसारकी गाथा ३०१, ३०२ तथा उनका कलश-श्लोक अत्यन्त उपयोगी होगे। इन गाथाओं और कलश श्लोकोका आशय सक्षेपमे इस प्रकार है—

जिस प्रकार शुद्ध (स्वत- सिद्ध निज निर्मल स्वभावका धारक) स्फटिकमणि परिणमनस्वभाववाला होते हुए भी स्वय (अपने आप अर्थात् निमित्तभूत परवस्तुके सहयोगके बिना) रक्तादिरूपताको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार शुद्ध (स्वत सिद्ध निजज्ञान स्वभावका धारक) आत्मा परिणमनस्वभाववाला होते हुए भी स्वयं (अपने आप अर्थात् निमित्तभूत परवस्तुके सहयोगके बिना) रागादिरूपताको प्राप्त नही होता, किन्तु रागादि पुद्गलकर्मोका सहयोग पाकर ही वह रागादिरूप होता है।

पण्डित बंशीधरजीकी यह परम्परासे समर्थित मान्यता कि निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर नही होते, अपितु वे भी सार्थक होते हैं, आचार्य कुन्दकुन्दकी मान्यताके अधिक निकट है और वह आर्षानुमोदित है। और अपरपक्ष शास्त्रीय आधार प्रस्तुत करनेमें असफल रहा है। व्याकरणाचार्यजीकी इस सफल प्रस्थापनासे अपरपक्ष द्वारा उठाये गये अनेक कल्पित-विकल्प भी निरस्त हो जाते है। जैसे—

(१) प्रत्येक वस्तुमे कार्यरूपमे परिणत होनेकी उतनी ही उपादानशक्तियाँ विद्यमान है, जितने कालके त्रैकालिक समय सभव है।

(२) वस्तुके प्रत्येक परिणमनका समय निश्चित हैं।

(३) कार्योत्पत्तिमे निमित्तोका होना अकिंचित्कर है।

निश्चय और व्यवहार

निश्चय और व्यवहार—ये दो दृष्टिबिन्दु एव अपेक्षायें हैं। किन्तु दोनो विद्वानोमे इनके सम्बन्धमे मत-भिन्नता हैं। एक पक्ष निश्चयको परमार्थसत्य और व्यवहारको उपचरित कहकर उसकी अवहेलनापर

बल देता है। उपचरितका अर्थ वह पक्ष अवास्तविक, कल्पित करता है। प्रायः उदाहरण दिया जाता है। जैसे किसी घड़ेमे घी रखा जाता है। उसे व्यवहारमें घीका घडा कहते हैं। घडा तो मिट्टीका है, घीका नही। किन्तु उपचारसे, व्यवहारके लिये उसे घीका घडा कह देते हैं। यह है व्यवहारको उपचरित मानने वाला पूर्वपक्ष। यहाँ पूर्वपक्षसे हमारा आशय पं० फूलचन्द्रजीसे है और उत्तरपक्षसे आशय व्याकरणाचार्यजीसे है। पहले हमे यह समझना आवश्यक है कि निश्चय और व्यवहार कहनेमें आचार्योंकी दृष्टि क्या थी ? इस विषयमें आचार्य कुन्दकुन्दने सन्तुलित दृष्टि अपनाई है। उन्होंने दोनों ही दृष्टियोंसे वस्तु-स्वरूपका कथन किया है।

पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थोंमे द्रव्यकी परिभाषा दो प्रकारसे की है—(१) जिसकी सत्ता है अर्थात् जो सत्स्वरूप है, वह द्रव्य है ओर जिसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जायें, वह सत्स्वरूप है। (२) जो गुण और पर्याय वाला हं वह द्रव्य है। द्रव्यमे अखण्ड एकरूपता या ध्रौव्यता निश्चय है, उसमें भेदरूपता या उत्पाद, व्ययरूप परिणमन व्यवहार है। वस्तुका त्रैकालिक स्वभाव अर्थात् गुण निश्चय है और पर्यायदृष्टि व्यवहार है। द्रव्यमें अभेद, अखण्ड, एकत्वकी दृष्टि निश्चय है, भेद, खण्ड, अनेकत्वकी दृष्टि व्यवहार है। वस्तु या वस्तुरूपकी सामान्यरूपता निश्चय है और विशेषरूपता व्यवहार है। समयसारकी गाथा ६, ७ मे आचार्य कुन्दकुन्दने उदाहरण देकर बताया है कि आत्मा स्वरूपकी दृष्टिसे न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, बल्कि ज्ञायकस्वरूप है, यह निश्चय है। व्यवहारसे—भेददृष्टिसे आत्मामें दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। अर्थात् स्वाश्रयता-स्वसापेक्षता निश्चय है और स्वपरसापेक्षता व्यवहार है। उपादानता निश्चय है और निमित्तता व्यवहार है। वस्तुके इन निश्चय और व्यवहाररूप धर्मोंको नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप निक्षेपोमे अन्तर्भूत किया गया है और उन धर्मोंके ज्ञायक ज्ञानको और उनके प्रतिपादक शब्दको नयोंमें अन्तर्भूत किया गया है। और इन नयोको श्रुतप्रमाण कहा गया है। इस प्रकार व्यवहार भी निश्चयके समान वास्तविक (सद्भूत) है, उपचरित नही, जैसा कि पं० फूलचन्द्रजी मानते है। जहाँ शास्त्रमे व्यवहारको उपचरित कहा गया है, वहाँ उसका अर्थ कल्पित या मिथ्या नही, बल्कि वहाँ उपचारका अर्थ पराश्रितता है।

आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी गाथा १२ की टीका करते हुए किसी प्राचीन शास्त्रसे एक गाथा उद्धृत की है—

> "जइ जिणमयं पवज्जइ, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
> एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥"

इसका अर्थ यह है—यदि तुम जिनमतका प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयोंको मत छोडो, क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थका नाश हो जायेगा और निश्चयनयके बिना तत्त्व (वस्तुस्वरूप)का लोप हो जायेगा।

यहाँ 'तीर्थ' शब्द विशेष उल्लेखनीय है। तीर्थशब्दमे सम्पूर्ण व्यवहारमार्ग गर्भित है—जैनधर्मको धारण करनेवाले मनुष्योकी सामाजिक संगठना, मन्दिर-मूर्तियाँ, देव-गुरु-शास्त्र और उनके प्रति भक्ति, पूजा अर्चा, व्रत, उपवास, तीर्थक्षेत्र आदि। यदि व्यवहार सर्वथा मिथ्या है तो मिथ्याके ऊपर खडा धर्म भी मिथ्या होगा। फिर मिथ्याको माननेका लाभ क्या। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश नहीं हो सकता। लोकमें भी देखा जाता है कि आदर्श तो लक्ष्य होता है और व्यवहार उस लक्ष्यकी प्राप्तिका साधन। ये दोनों नय हैं। नय सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नही। निरपेक्ष नय तो मिथ्या होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रने स्याद्वादको दोनों नयोके विरोधका विध्वंसक बताया है।

निश्चयनय और व्यवहारनयके समान निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयके सम्बन्धमे भी जैन-तत्त्वमीमांसामें भ्रान्त धारणा अपनाई है। आप लिखते हैं—

"इस जीवको निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति होनेपर व्यवहाररत्नत्रय होता ही है। उसे प्राप्त करनेके लिये अलगसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। व्यवहाररत्नत्रय स्वयं धर्म नही है। निश्चयरत्नत्रयके सद्भावमे उसमें धर्मका आरोप होता है, इतना अवश्य है। इसी प्रकार रूढिवश जो जिस कार्यका निमित्त कहा जाता है, उसके सद्भावमे भी तबतक कार्यकी सिद्धि नही होती, जबतक जिस कार्यका वह निमित्त कहा जाता है, उसके अनुकूल उसके उपादानकी तैयारी न हो। अतएव कार्यसिद्धिमे निमित्तोका होना अकिंचित्कर है।"

व्याकरणाचार्यजीने इस भ्रान्त मान्यताकी मीमासा करते हुए आचार्य विद्यानन्दकी अष्टसहस्री और आचार्य प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डसे उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इन आचार्योंने निमित्त-कारणकी अकिंचित्करताके विरोध और उसकी कार्यकारिताके समर्थनमे ही अपना अभिमत प्रकट किया है। इससे यह बात निर्णीत होती है कि कार्य यद्यपि उपादानगत योग्यताके आधारपर ही होता है, परन्तु निमित्त-कारणके सहयोगसे ही होता है। अतएव कार्योत्पत्तिमे निमित्त अकिंचित्कर न होकर कार्यकारी ही होता है। स्वपरप्रत्यय कार्य उपादानगत निजी योग्यताके आधारपर होते हुए भी निमित्तकारणके सहयोगसे होता है।

इसी प्रकार निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयके सम्बन्धमे भी व्याकरणाचार्यजीका अभिमत निर्भ्रान्त है। आप लिखते है—"*यद्यपि निश्चयरत्नत्रयसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है, परन्तु उसे* निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति व्यवहाररत्नत्रयके आधारपर ही होती है। इस तरह मोक्षके साक्षात् कारणभूत निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिका कारण होनेसे व्यवहाररत्नत्रयमे भी परम्परया मोक्षकारणता सिद्ध हो जाती है। अतः मोक्ष-कार्यके प्रति व्यवहाररत्नत्रय भी अकिंचित्कर न होकर कार्यकारी ही सिद्ध होता है।"

उपसंहार

प्रस्तुत निबन्धमे हमारा काम पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी बहुचर्चित पुस्तक 'जैनतत्त्व-मीमासा'की मीमासा करना नही है। उसकी शल्यक्रिया तो पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने कर दी है। हमारा काम तो उस शल्यक्रियाकी मीमासा करना है—क्या शल्यक्रिया वैज्ञानिक पद्धतिसे की गई है? उपकरण आयुर्विज्ञान सम्मत काममें लाये गये है? शल्यक्रिया सफल हुई या असफल? और विकृत अश एव विकारोको शल्यक्रिया करनेमे छोड़ा तो नही गया? यदि एक वाक्यमे, शब्दोंकी कंजूसी करते हुए, मैं कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि **शल्यक्रिया सर्वांशतः सफल रही है**। और यदि मुझे क्षमा किया जाय तो दोनों आदरणीय विद्वानोके प्रति सम्पूर्ण आदरके भाव रखते हुए यही कह सकता हूँ कि पण्डित फूलचन्द्रजी कानजी स्वामीकी मान्यताओकी पैरवी करनेवाले वकीलके रूपमे उभरे हैं। सिद्धान्तग्रन्थोके समर्थ टीकाकारके रूपमे उनकी जो छवि समाजने देखी थी, वह छवि इस पुस्तकमे निखरी नही। दूसरी ओर अज्ञातवासमे पड़े हुए पण्डित बंशीधरजी उक्त पुस्तककी मीमासा करके, उसके एक-एक वाक्यका, एक-एक नवकल्पित प्रस्थापनाका युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणो द्वारा उत्तर देकर आर्षपरम्पराके सजग प्रहरीकी छवि बनानेमे सफल हुए हैं। विषय-की गहरी पकड़, तर्कमे पैनापन, विषयको प्रस्तुत करने योग्य समुचित शब्दावली और कथ्यको शास्त्रीय आधार देनेकी तत्परता व्याकरणाचार्यजीकी अपनी विशेषता है। वे आर्षपरम्पराके कट्टर समर्थक, गहन तत्त्व-चिन्तक और सिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान् है, उनकी पुस्तक पढनेपर पाठकके मनपर सहज ही यह छाप पड़ती है। वे समाजसे हर प्रकारका सम्मान पानेके अधिकारी है।

●

जैनदर्शनमें कार्य-कारणभाव और कारक व्यवस्था : एक समीक्षा

● डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

कार्यकारणभाव और उसके आधारभूत कारकोकी शास्त्रीय विवक्षाको न समझनेके कारण कुछ लोगोंने प्रचारित करना आरम्भ कर दिया कि कार्य स्वयं उपादानसे होता है, उसके लिये अन्य कारण या निमित्तकी आवश्यकता नहीं है। इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये जैनदर्शनके मर्मज्ञ, व्याकरणाचार्य पं० बंशीधरजी-बीनाने 'जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था' नामक पुस्तककी संरचना की है।

कार्यकारणभाव कारकव्यवस्थामें सम्बद्ध है, अतः सबसे पहले उन्होंने कारकका लक्षण लिखा है— (साक्षात्) 'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्' अथवा 'करोति क्रियां निर्वर्तयति' इति कारकम्। जिसमें साक्षात् क्रिया-जनकत्व हो वह कारक है। साक्षात् पदका विनिवेश होनेसे 'देवदत्तस्य पुत्रः ओदनं भुंक्ते' यहाँ देवदत्तमें कर्तृत्वका परिहार हो जाता है। देवदत्त भले ही दिवंगत हो गया हो तो भी पुत्रमें भोजनक्रियाका कर्तृत्व सुरक्षित है। यही कारण है कि संस्कृतमें सम्बन्धको कारक नहीं माना है।

कारकके ६ भेद हैं—१ कर्ता, २ कर्म, ३ करण, ४ सम्प्रदान, ५ अपादान और ६ अधिकरण। कार्य करनेमें जो स्वतन्त्र हो उसे **कर्ता** कहते हैं। कर्ता अपनी क्रियाके द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहता है, जिसे बनाना चाहता है अथवा जिसे विकृत—परिवर्तित करना चाहता है उसे **कर्म** कहते हैं। जो कर्ताके अधीन हो अथवा जिसकी अनिवार्य सहायतासे कर्ता कार्य करता है उसे **करण** कहते हैं। कर्ता अपने द्वारा निष्पाद्य पदार्थको जिसके लिये देना चाहता है उसे **सम्प्रदान** कहते हैं। जिससे किसी वस्तुको पृथक् किया जाता है उसे **अपादान** कहते हैं और कर्ता जहाँ स्थित होकर वाछित कार्यको निष्पन्न करता है उसे **अधिकरण** कहते हैं। कार्यकी सिद्धि कारकोकी पारस्परिक सापेक्षतासे ही होती है।

कर्ता दो प्रकारका है—एक स्वयं कर्ता और दूसरा प्रेरककर्ता। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे कर्म भी तीन प्रकारका है। जिस प्रकार बाह्य षट्कारककी व्यवस्था है उसी प्रकार अभ्यन्तर षट्कारककी भी व्यवस्था है। बाह्य षट्कारककी व्यवस्था विभिन्न वस्तुओ पर निर्भर रहती है जबकि अभ्यन्तर षट्कारककी व्यवस्था एक ही वस्तु पर निर्भर होती है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनो प्रकारकी षट्कारकव्यवस्था व्यवहार-नयका विषय है। निश्चयनयकी विवेचनामें आत्मद्रव्यको षट्कारकचक्रकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण—रहित माना गया है क्योंकि निश्चयनय एक अखण्ड वस्तुका प्रतिपादन करता है।

इस सब व्यवस्थाका प्रतिपादन लेखकने इस ग्रन्थमें अनेक प्रश्नोत्तरोके माध्यमसे प्रस्तुत किया है। जिनागममें कारणके दो भेद कहे गये हैं—एक उपादान और दूसरा निमित्त। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है उसे **उपादान कारण** कहते हैं। जैसे कार्मणवर्गणारूप पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाता है, मिट्टी घटरूप हो जाती है और आटा रोटी बन जाता है। **निमित्तकारण** वह है जो स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता, परन्तु उपादानके कार्यरूप परिणत होनेमें सहायक होता है। जैसे कार्मण-वर्गणाके कार्यरूप परिणत होनेमें जीवका रागादिभाव और योगव्यापार सहायक होता है।

निमित्तकारण भी अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे दो प्रकारका है। जैसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमका होना **अन्तरङ्ग निमित्त** है और जिनबिम्ब-दर्शन अथवा देशना आदि **बहिरङ्ग निमित्त** है। अन्तरङ्ग निमित्तके होनेपर कार्य नियमसे होता है और बहिरङ्ग निमित्तके होनेपर कार्यकी सिद्धि हो भी और न भी हो। जैसे प्रत्याख्यानावरणकर्मका क्षयोपशम

होनेपर शिरका एक सफेद बाल दिखने मात्रसे गृहत्यागका भाव हो जाता है और प्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम न होनेपर शिरके समस्त बाल सफेद हो जानेपर भी गृहत्यागका भाव उत्पन्न नहीं होता। अन्तरङ्गकारणके होनेपर बाह्यकारण कुछ भी हो सकता है। जिनागममे अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणकी अनुकूलताको **समर्थ कारण** कहा गया है और समर्थकारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति कही गई है।

इस बातको लेखकने **स्वप्रत्यय और स्व-पर प्रत्ययके** भेदसे स्पष्ट किया है। द्रव्यमे कार्यरूप परिणत होनेकी निजकी योग्यता स्वप्रत्यय है और स्व तथा पर—के प्रत्यय—कारणसे जो होता है उसे स्वपरप्रत्यय कहा है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यमे जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन है वह मुख्यतः स्व-प्रत्यय है और उपचारत. कालद्रव्यके सहयोग पर निर्भर है। लेखकने जोर देकर इस बातको सिद्ध किया है कि मात्र परप्रत्ययसे कोई कार्य नही होता।

'निष्क्रियाणि च' सूत्रकी व्याख्यामें पूज्यपाद और अकलंक स्वामीने प्रश्न उठाया है कि क्रियारहित द्रव्यमे उत्पादादि किस प्रकार होगे ? और उनके न होनेपर उसमे द्रव्यत्व कैसे संघटित होगा ? इस प्रश्नका समाधान उन्होने **स्वप्रत्ययसे** किया है। स्वप्रत्ययमें **अगुरुलघुगुण**को स्वीकारा है और **स्व-परप्रत्ययमें** कालद्रव्य और अश्व, महिष आदिकी गतिको। ठीक है कि जीव और पुद्गलमे गति और स्थितिकी योग्यता निजकी है, पर धर्म और अधर्म द्रव्यका सहकार उनकी गति और स्थितिमे अनिवार्य आवश्यक है। अत कार्यकी उत्पत्तिमे **निमित्तकी अकिंचित्करता**—कार्यकारणव्यवस्थाके प्रतिकूल है। जिनागममे इसे स्वीकृत नही किया गया है।

उपादान और उपादेय भाव एक द्रव्यमें बनता है और **निमित्त-नैमित्तिकभाव** दो द्रव्योंमे बनता है। समयसारमे स्वीकृत किया गया है कि जीवके रागादि भावका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्यरूप कार्मणवर्गणा कर्मरूप परिणमन करती है और पौद्गलिक-चारित्रमोहकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर जीवमे रागादिभाव उत्पन्न होते है। फलत कर्मका उपादानकारण कार्मणवर्गणा है और निमित्तकारण जीवका रागादिभाव। इसी प्रकार रागादिभावका उपादानकारण आत्मा है और निमित्तकरण चारित्रमोहका उदय। इस निमित्त-नैमित्तिकभावको स्वीकृत करते हुए भी यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा कर्मरूप और कर्म आत्मारूप परि-णमन नही करते। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यरूप परिणमन हो भी नही सकता, क्योकि उनमे अत्यन्ताभाव है।

इस निमित्तनैमित्तिक—कार्यकारणभावको यदि स्वीकृत नही किया जाता है तो सप्ततत्त्वकी मान्यता, छह द्रव्योकी पारस्परिक उपयोगिता, स्वभाव-विभावकी परिभाषा, कर्मबन्ध और संवरके विविध कारणोंका निर्देशन सिद्ध नही हो सकता और उसके सिद्ध न होनेपर जैनदर्शनका प्रासाद ढह जावेगा।

इन सभी बातोका वर्णन लेखकने इसमे युक्ति और आगमके आधारपर बडी कुशलतासे किया है। ग्रन्थके अन्तमे 'क्या उपादान कारण ही कार्यका नियामक होता है ?' इस शीर्षकवाले परिशिष्टमे उपादान-उपादेयभाव और कार्यकारणभावका विशद विश्लेषण किया है। सम्पूर्ण पुस्तक लेखकके गहन अध्ययन और ज्ञानगरिमाको सूचित करती है।

●

जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था : एक अनुशीलन

● श्री नीरज जैन, सतना

वस्तुस्वरूपकी विवेचनामे कारकव्यवस्थाका सर्वोपरि महत्व है। वास्तवमे जिस प्रकार एकपर एक घडे रखकर मंगल अवसरपर स्वागत-द्वार बनाया जाता है, उसमे यदि पहला घडा उल्टा रख दिया जाय, तो फिर उसपर उल्टे ही घडे रखे जा सकेंगे। एक भी सीधा घडा उल्टे घडेपर नही बिठाया जा सकता, उसी प्रकार यदि कारकव्यवस्थाके समझनेमे कोई भूल रह जाय तो वस्तुस्वभावके बारेमे विपरीत अनुमान ही लगते चले जायेंगे और उनपर आधारित विपरीत मान्यतायें ही चिंतकके मनमें बनती चली जायेंगी। ऐसे मनमें सम्यक् धारणाके लिये फिर कोई अवकाश ही नही होगा। इसलिये वस्तु-स्वरूपको किसी भी विवक्षाको समझनेके लिये कारकव्यवस्थाका सही ज्ञान होना बहुत आवश्यक है।

"जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था" नामकी छोटी-सी पुस्तकमे श्रीमान् पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने सर्वप्रथम कारक-व्यवस्थापर ही विचार किया है। आचार्य अमृतचन्द्रजी महाराजके उद्धरण देकर उन्होने भली-भाँति 'स्व-प्रत्यय' और 'स्वपर-प्रत्यय' परिणमनकी सिद्धि करते हुए तर्कके आधारपर इस बातका निषेध किया है कि एक ओर जहाँ मात्र 'पर-प्रत्यय' कोई कार्य नहीं होता, वही दूसरी ओर 'स्वपर-प्रत्यय' कार्यको मात्र 'स्व-प्रत्यय' मान लेना भी आगमकी अवहेलना होगी। स्वपर-प्रत्ययरूप अशुद्ध या वैभाविक परिणमनको पारिणामिक भावकी तरह परनिरपेक्ष और स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जा सकता।

तत्त्वार्थसूत्रमे द्रव्यका विवेचन करते हुए "सत्-द्रव्यलक्षणम्" के साथ "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" सूत्र कहा गया है। इसमे कही भी यह शर्त नही जोडी गई कि वह उत्पाद-व्यय किसी निमित्तका मुखापेक्षी होगा या निमित्तके लिए कभी वह परिणमन रुका रहेगा। इन सूत्रोका अर्थ करते समय आचार्योंने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमनपर विस्तारसे विचार किया है। सूत्रमे छहो द्रव्योंके स्वाभाविक परिणमनकी बात सामान्यसे कही गई है। छहों द्रव्योका शुद्ध या स्वाभाविक परिणमन तो होता ही है, परन्तु उनमेंसे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योका अशुद्ध या वैभाविक परिणमन भी होता है। वास्तवमे इसी वैभाविक परिणमनका नाम ही संसार है। यदि इस वैभाविक परिणमनको भी वस्तुकी पर-निरपेक्ष, स्वाभाविक परिणति मान लिया जायगा तो शुद्ध जीवके पुन अशुद्ध होनेका प्रसग आ सकता है, जो जैन दर्शनको स्वीकार्य नही है। इस विसंगतिसे बचनेके लिये आचार्योंने द्रव्यके परिणमनको दो रूपोमे व्याख्यायित किया है। एक "स्वप्रत्ययपरिणमन" और दूसरा "स्वपर-प्रत्यय परिणमन"।

मोटे रूपमे हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि द्रव्यका जो भी शुद्ध परिणमन है वह मात्र "स्व-प्रत्यय" होता है। उसमें किसी दूसरे निमित्तकी आवश्यकता नही है, परन्तु जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे होनेवाला अशुद्ध या वैभाविक परिणमन एक-दूसरेके सहकारके बिना सम्भव नही है। बिना दूसरेके—निमित्तके वैभाविक परिणमन कर सकें उनमें ऐसी शक्ति नही है, क्योकि वैसा द्रव्यका स्वभाव नही है। अत सिद्ध है कि यद्यपि द्रव्य हमेशा अपनी नित्य उपादानशक्तिसे ही परिणमन करेगा। परन्तु अशुद्ध परिणमनके लिए तो परका सहकार उसे अनिवार्य होगा। इसलिये ऐसे परिणमनको "स्वपर-प्रत्यय परिणमन" कहा गया है।

कार्य-कारणभाव

व्याकरणाचार्यजीने द्रव्यके परिणमनकी इस शुद्ध और अशुद्ध व्यवस्थाको कार्यकारणसम्बन्धके आधार-

पर बहुत सरलताके साथ, शास्त्रीय प्रमाणोका साक्ष्य सामने रखते हुए, स्पष्ट रूपसे निरूपित किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि दर्शनकी ऐसी गूढ़-गुत्थियोंको सरलताके साथ, थोड़े-से शब्दोंमे सुलझाकर रख देना उसीके द्वारा सम्भव है जिसकी दृष्टिमे वस्तु-स्वरूपकी व्यापकता स्पष्टरूपसे झलकती हो और जिसके मनमे आचार्योंके प्रति बहुमान तथा आगमके प्रति अटल श्रद्धान हो। समीक्ष्य आलेखके सन्दर्भमें पण्डितजी एक तत्त्व-दर्शी विद्वानके रूपमें इन सारी कसौटियोंपर खरे उतरते हैं। उनका यह लगभग सवासौ पृष्ठका निबन्ध 'गागरमे सागर' कहा जा सकता है।

प्रमेयकमलमार्तण्डके व्याख्यानमे परीक्षामुखसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे सूत्रके व्याख्यानमे दूसरे सूत्रका उद्धरण देते हुए पण्डितजीने यह स्पष्ट किया है कि—"कार्यकारणभावके प्रसगमें उपादानमे दो प्रकारकी शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं—एक द्रव्यशक्ति और दूसरी पर्यायशक्ति। इनमे अनादिनिधन स्वभाववाली होनेसे द्रव्यशक्ति नित्य मानी गई है और सादि-सान्त स्वभाववाली होनेसे पर्याय-शक्ति अनित्य ही मानी गई है। द्रव्यशक्ति यद्यपि नित्य है तथापि उसका यह अर्थ नही है कि सहकारी कारणके बिना ही वस्तुमे कार्यकी उत्पत्ति सम्भव हो जायेगी, क्योंकि पर्यायशक्तिसे समन्वित द्रव्यशक्ति हो कार्यका निष्पादन करनेमे समर्थ होती है। द्रव्यमे वह पर्याय—परिणति सहकारीकारणके सहयोगसे ही होती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जब कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता-विशिष्ट द्रव्यको उपयुक्त सहकारी कारणका सहयोग प्राप्त होता है तभी पर्याय उत्पन्न होती है।"

इस प्रकार द्रव्यकी योग्यताके बिना जिस प्रकार कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है उसी प्रकार उसमे सह-कारीकारण भी, अनिवार्य रूपमे, सहायक है, अकिंचित्कर नही है। द्रव्यमे कार्यरूप परिणत होनेकी निजी योग्यताका नाम ही "द्रव्यशक्ति" अथवा "नित्य उपादानकारणता" है। वह परिणमन जब केवल "स्व-प्रत्यय" होता है तब एक-के-पश्चात्-एक ही रूपमे, नियतधाराको लेकर, सहकारकारणकी अपेक्षासे रहित सतत होता रहता है। परन्तु ऐसी परिणतिमे पूर्व परिणमनको उत्तरपरिणमनका कारण मान लिया गया है। इस प्रकार उस पूर्व परिणमनका नाम ही "पर्याय-शक्ति" या "अनित्य उपादानकारणता" है। परन्तु जब हम "स्वपर-प्रत्यय" परिणमनकी बात करते है तब द्रव्यमे पूर्व पर्यायरूप जो अनित्य उपादानकारणता है उसका विकास निमित्तकारणसापेक्ष ही होता है। इस तरह जब जैसे निमित्तोका सहयोग उपादानकारणभूत वस्तुको प्राप्त होता है तब उस वस्तुका वैसा ही परिणमन अपनी योग्यताके कारण होता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि स्वपर-प्रत्यय परिणमन भी स्व-प्रत्यय कार्यकी तरह वस्तुकी अपनी योग्यता-के अनुसार ही होता है परन्तु वह योग्यता अकेली ही कार्य उत्पादनमे समर्थ नही हुआ करती। पर्यायशक्ति-रूप अनित्य उपादानकारणता वहाँ अनिवार्य होती है और उस पर्याय—परिणतिका विकास निमित्तकारणका सहयोग मिलनेपर ही सम्भव होता है। यहाँ यह भी ध्यानमे रखना चाहिए कि द्रव्यमे अनेक प्रकारकी परि-णति करनेकी योग्यता एक साथ होती है। परन्तु "स्वपर-प्रत्यय" विधानसे जैसे-जैसे निमित्तकारण मिलते जाते है, तदनुसार ही पर्यायशक्तिका विकास होनेके कारण द्रव्यकी परिणति वैसी ही हो पाती है।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजीने लिखा है—'उपादानकारण ही कार्यका नियामक होता है।' पण्डित बंशीधरजीने अपनी पुस्तकके अन्तमे विस्तृत विवेचना करते हुए पण्डित फूलचन्द्रजीकी इस विवक्षा-विहीन धारणाका खण्डन करते हुए सम्यक् प्रकारसे यह सिद्ध किया है कि—'स्वपर-प्रत्यय कार्यका नियामक न केवल उपादान होता है और न केवल निमित्त ही होता है, किन्तु उपादान और निमित्त दोनों ही मिलकर उसके नियामक होते है। यह लिखना कि जैनाचार्य उपादानकारणको ही कार्यका नियामक मानते हैं, जैनाचार्योंका अपवाद और उनके द्वारा रचित आगमका अपलाप करना ही है। पुस्तकका यह परिशिष्ट भी देखने योग्य है।

क्रमबद्ध पर्यायका परीक्षण

केवलीके ज्ञानमें सभी द्रव्योंकी, भूत, भविष्यत्, वर्तमानको, सभी पर्यायें एक साथ प्रकट झलकती हैं, इस कथनका सहारा लेकर कुछ लोगोंने 'क्रमबद्ध-पर्याय'का एक नया विधान किया है। आश्चर्यकी बात है कि 'क्रमबद्ध-पर्याय' शब्दका प्रयोग सम्पूर्ण जैन आगममें, किसी भी आचार्यके द्वारा, कहीं भी नहीं किया गया है। चालीस-पचास साल पहले जबसे सोनगढ़में यह शब्द गढ़ा गया तभीसे आगमके ज्ञाता मनीषियोंने इसे मिथ्यात्व-पोषक धारणा बताकर बराबर इसका विरोध किया है।

पण्डित बंशीधरजीने इस सन्दर्भमें भी अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि—'पूर्वोक्त प्रकार केवलज्ञानमें जब प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें यथास्थान नियत हैं तो उनकी उत्पत्तिका प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता है क्योंकि केवलज्ञानीको तो प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें यथावस्थित रूप ही सतत वर्तमानवत् प्रतिभासित होती रहती हैं। इस तरह उत्पाद्योत्पादकभावकी व्यवस्था श्रुतज्ञानमें ही सम्भव होती है। अर्थात् श्रुतज्ञानी जीव ही अभीप्सित फलकी आकांक्षासे कार्यको सम्पन्न करनेका संकल्प करता है, कार्यकारणभावकी रूपरेखा निश्चित करता है, कार्योत्पत्तिके साधन जुटाता है और तब कार्योत्पत्तिके लिए पुरुषार्थ करता है। इसलिए श्रुतज्ञानकी व्यवस्थामें बाधक कारणोंकी स्थिति स्वीकार करनेमें कोई असंगति नहीं उत्पन्न होती है।'

इस प्रकार पण्डितजीका यह निष्कर्ष पूरी तरह आगमका अनुगामी है कि विवक्षित कार्य तभी होता है जब उपादानगत योग्यता हो, अनुकूल निमित्तसामग्रीका सहयोग हो और कार्यके बाधक कारणोंका अभाव हो। केवलीके ज्ञानमें सभी पदार्थ अपनी-अपनी त्रैकालिक पर्यायोंके साथ प्रतिक्षण, वर्तमानवत् समानरूपसे प्रतिभासित होते रहते हैं, परन्तु केवलीका ज्ञान किसी भी द्रव्यके परिणमनमें नियामक नहीं है। वस्तुका परिणमन उसकी अपनी योग्यता और निमित्तोंकी अनुकूलताके अनुसार होता है।

विषयका उपसंहार करते हुए पण्डितजीने यह निष्कर्ष निकाला है कि—"जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव-को उपर्युक्त प्रकारसे दो प्रकारका स्वीकार किया गया है—एक तो उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव और दूसरा निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव। इनमेंसे स्वप्रत्ययकार्यकी उत्पत्तिमें केवल उपादानोपादेय-भावरूप कार्यकारणभाव ही कार्यकारी होता है और स्वपर-प्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानोपादेयभावरूप तथा निमित्तनैमित्तिकभावरूप दोनों ही तरहके कार्यकारणभाव कार्यकारी होते हैं। विशेष इतना है कि उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव तो उपादानके कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी होता है। लेकिन निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव उपादानकारणकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधार-पर कार्यकारी होता है। इस तरह दोनों ही कार्यकारणभाव अपने-अपने ढंगकी कार्यकारिताके आधारपर वास्तविक ही सिद्ध होते हैं और कोई भी कार्यकारणभाव कार्योत्पत्तिमें अकिंचित्कर सिद्ध नहीं होता है। अतः निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव कथनमात्ररूपमें व्यवहारनयका विषय नहीं होता, किन्तु वास्तविक अर्थात् सद्भावात्मक या कार्यकारीरूपमें ही व्यवहारनयका विषय होता है। दोनों कार्यकारणभाव विकल्पात्मक होनेसे केवलज्ञानके विषय नहीं होते। इतना ही नहीं, वे विकल्पात्मक होनेसे मतिज्ञान, अवधि-ज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके भी विषय नहीं होते, केवल विकल्पात्मक श्रुतज्ञानके ही विषय होते हैं।"

इस प्रकार "जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था" नामकी यह छोटी-सी पुस्तक लिखकर व्याकरणाचार्यजीने जैनदर्शनके बहुत संवेदनशील सन्दर्भोंपर अपनी अनुभव-सिद्ध लेखनी चलाकर उनका सहज और समर्थ विश्लेषण किया है। साथ ही अपनी तर्क-शक्ति और आगम प्रमाण द्वारा उन्होंने वर्तमानमें प्रवर्तमान अनेक भ्रान्त धारणाओंका निराकरण करके मुमुक्षु-समुदायपर बड़ा उपकार भी किया है।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा : एक मूल्यांकन

● डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी. अध्यक्ष—जैनदर्शन विभाग, स० सं० वि० वि०, वाराणसी

सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य द्वारा लिखित 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा'[1] नामक समीक्षा-ग्रन्थ मेरे समक्ष है। पिछले कुछ महीनोंसे मैं इसका निरन्तर अध्ययन और मनन कर रहा हूँ। राष्ट्रभाषामें इस प्रकारके समीक्षा-ग्रन्थ प्राचीन विद्वानो द्वारा लिखित मूल-ग्रन्थोंसे कम महत्त्वके नही है। भले ही किसी भी विषयकी समीक्षा करने या उसके विषयमें सोचनेका अपना नजरिया (दृष्टिकोण) अलग (विशेष) हो। इस ग्रन्थके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि इसके लेखक सैद्धान्तिक विषयोके मर्मज्ञ विद्वान् तो है ही, साथ ही किसी भी सैद्धान्तिक विषयको सूक्ष्मता और विस्तारसे प्रतिपादन करनेकी क्षमता भी उनमे विशेष है। इस ग्रन्थके विद्वान् सम्पादक डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने अपने सम्पादकीय वक्तव्यमे ठीक ही लिखा है कि "व्याकरणाचार्यजीके चिन्तनकी यह विशेषता है कि वे हर विषयपर गम्भीरतासे विचार करते है और जल्दबाजीमें वे नही लिखते। फलत उनके चिन्तनमे जहाँ गहराई रहती है, वहाँ मौलिकता और समतुला भी दृष्टिगोचर होती है। यह सब भी जैनागम, जैनदर्शन और जैन न्यायके समवेत प्रकाशमे उन्होने किया है। इस दृष्टिसे उनका यह समीक्षा-ग्रन्थ निश्चय ही तत्त्व-निर्णय-परक एवं महत्त्वपूर्ण है।"

प्रस्तुत ग्रन्थ जिस ग्रन्थकी समीक्षा हेतु लिखा गया है वह है प० टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुरसे १९६७ में प्रकाशित एवं सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी द्वारा सम्पादित "जयपुर (खानिया) तत्त्व-चर्चा" नामक ग्रन्थ। इस समीक्षा-ग्रन्थका भी अपना इतिहास है। सोनगढसे प्रवर्तित अध्यात्म एवं कुछ अन्य सिद्धान्त अनेक जैन विद्वानोकी दृष्टिमे एकाङ्गी थे। अत वे इस धाराका विरोध करते थे। किन्तु कुछ विद्वान् इस धाराके प्रबल समर्थक थे। इससे समाजमे निरन्तर परस्पर विवाद एवं विरोधकी स्थिति बनी हुई थी। यद्यपि यही स्थिति आजतक विद्यमान है। अन्तर मात्र इतना ही है कि पहले सैद्धान्तिक रूपमे ही अधिक विरोध होता था, किन्तु आज सैद्धान्तिक कम और विरोधके लिए विरोध अधिक है जबकि खण्डन-मण्डन या या विरोधकी परम्पराका निर्वाह होना चाहिए। प्रस्तुत समीक्षा-ग्रन्थके रचयिता विद्वान्ने ओछे तरीके न अपनाकर शास्त्रीय और आगमिक प्रमाणों द्वारा उन सिद्धान्तो और मान्यताओकी समीक्षा करके प्रशस्त मार्ग अपनाया, जो सिद्धान्त उनकी दृष्टिमे ठीक नही थे। इस दृष्टिसे मैं प्रस्तुत समीक्षा-ग्रन्थकर्ता विद्वानका प्रशंसक हूँ। विद्वान समीक्षकने भावी पीढीके लिए भी सैद्धान्तिक विषयोंकी समीक्षा एवं उनसे ज्ञानप्राप्तिका आदर्श-मार्ग एव स्वस्थ परम्पराका पथ-प्रदर्शन किया है।

सोनगढकी विचारधाराके प्रति बढते सैद्धान्तिक विरोधके कारण समाजके अन्दर बिखराव एव विवाद की बढती स्थितिको देखकर पूज्य स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज एवं अनेक विद्वानोंके मनमे इन विवादोंको परस्पर सैद्धान्तिक तत्त्वचर्चाके माध्यमसे दूर करनेकी प्रबल भावना उत्पन्न हुई, ताकि समाजके सौहार्दपूर्ण वातावरणमें कमी न आये। इसी शुभ उद्देश्यसे ब्र० सेठ हीरालालजी एवं ब्र० लाडमलजी द्वारा आचार्यश्रीकी प्रेरणासे तत्त्वचर्चाहेतु एक विद्वत्-सम्मेलन बुलानेका निश्चय किया गया। तदनुसार ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गुलाबी नगर जयपुरके समीपस्थ खानिया तीर्थक्षेत्रमें विराजमान आचार्य श्री शिवसागरजीके सान्निध्यमे दोनों पक्षोंके विद्वानोको परस्पर तत्त्वचर्चा हेतु सादर आमन्त्रित किया गया। इस

---

१. प्रकाशक—श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी प० बंशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड, बीना (सागर) म० प्र०, सन् १९८२, पृष्ठ सं० ५०५, मूल्य ५० रु०।

चर्चाका आयोजन पूज्य आचार्य श्रीके संघके सानिध्य एवं आदरणीय पं० वंशीधरजी न्यायालंकारकी मध्यस्थता में दि० २२ अक्टूबरसे १ नवम्बर १९६३ तक हुआ ।

इस तत्त्वचर्चामे परस्पर चर्चाओके हेतु दोनो पक्षोके विद्वानोमे प्रथमपक्ष (पूर्वपक्ष) के प्रतिनिधि सर्वश्री पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद, पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मुरैना, पं० जीवंधरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर, पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना ओर पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर तथा द्वितीयपक्ष (उत्तर पक्ष) की ओरसे सर्वश्री प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, श्री नेमीचन्द्रजी पाटनी, आगरा तथा पं० जगन्मोहन-लालजी शास्त्री ये तीन प्रतिनिधि थे ।

उपर्युक्त विद्वानोके अतिरिक्त अनेक गण्यमान्य विद्वान् भी चर्चाओंमें उपस्थित थे, जिनमे प्रमुख हैं— सर्वश्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी, पं० रतनचन्द्रजी मुख्तार, सहारनपुर, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं० अजितकुमारजी शास्त्री दिल्ली, पं० राजेन्द्रकुमारजी, मथुरा, प० दयाचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, सागर, प० इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर, पं० परमानन्दजी शास्त्री दिल्ली, ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थ श्री महावीरजी, ब्र० सूरजमल्जी, खानिया, पं० नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर कारंजा, प० मिश्रीलालजी शास्त्री लाडनू, बाबू नेमिचन्द्र जी वकील, सहारनपुर, पं० हेमचन्द्रजी एवं श्री मनोहरलालजी अजमेर, प० पन्नालालजी सोनी, कपूरचन्द्रजी बरैया लश्कर । इनके अतिरिक्त भी अनेक विद्वान् एव श्रावक, श्रीमन्त यहाँ उपस्थित थे ।

इस तत्त्वचर्चाकी मूल पृष्ठभूमिमे आ० पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित "जैन तत्त्व-मीमासा"[1] नामक बहुचर्चित ग्रन्थ भी प्रमुख रहा है, क्योकि जिन विषयोंपर विरोध था, प्राय उनका प्रतिपादन इस ग्रन्थमे किया गया है ।

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजके संघको उपस्थितिमें उस समय तक समागत सत्रह विद्वानोकी एक गोष्ठी हुई, जिसमे इस तत्त्वचर्चा हेतु निम्नलिखित कुछ सामान्य नियम निर्धारित किये गये, जिन्हे भविष्य-में उपयोगिताकी दृष्टिसे उद्धृत किया जा रहा है ।[2]

१. तत्त्वचर्चा वीतरागभावसे होगी ।
२. तत्त्वचर्चा लिखित होगी ।
३. वस्तुसिद्धिके लिए आगम ही प्रमाण होगा ।
४ पूर्व आचार्यानुसार प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके ग्रन्थ प्रमाण माने जायेंगे ।
५. चर्चा शंका-समाधानके रूपमें होगी ।
६ दोनो ओरसे शका-समाधानके रूपमे जिन लिखित पत्रोंका आदान-प्रदान होगा, उनमेंसे अपने-अपने पत्रोपर अधिक-से-अधिक ५-५ विद्वानो और मध्यस्थके हस्ताक्षर होंगे । इसके लिए दोनो पक्षोंकी ओरसे अधिक-से-अधिक ५-५ प्रतिनिधि नियत होंगे ।
७. किसी एक विषय-सम्बन्धी किसी विशेष प्रश्नपर शंका-समाधानके रूपमें पत्रोका आदान-प्रदान अधिक-से-अधिक तीन बार तक होगा ।

दिनांक २२ अक्टूबर १९६३ को आचार्यश्रीके सानिध्यमे इस तिथि तक समागत २३ विद्वानोंकी

१. जैन तत्त्व-मीमांसा—लेखक एवं संपादक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, अशोक प्रकाशन-मंदिर, वाराणसी ५ ।
२. सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ : (पंचम खण्ड), पृ० ६४५-६४६ ।

उपस्थितिमें चर्चा-विषयक नियमोंमें ८वाँ नियम यह भी स्वीकृत किया गया कि चर्चामें सामाजिक, पंथ तथा व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई चर्चा न होगी।

चर्चाहेतु आ० पं० मक्खनलालजी शास्त्री द्वारा निम्नलिखित विषय प्रस्तुत किये गये—

१. द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति होता है या नहीं ?

२. जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

३. जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

४. व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?

५. द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है या अनियतक्रमसे ?

६. उपादानकी कार्यरूप परिणतिमे निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?

यद्यपि मूल-ग्रन्थ दो भागों (पुस्तकों) में जयपुरसे प्रकाशित हुआ है। अत इनकी समीक्षा भी दो भागों—पुस्तकोंमें लिखी गयी है। किन्तु अभी तक इसका प्रथमभाग प्रकाशित हुआ है। दूसरा भाग लगभग तैयार है और प्रकाशनकी प्रतीक्षामें है।

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम भागमे अनेक प्रतिशंकाओ सहित निम्नलिखित चार शंकाओंके किये गये समाधानों की सभी शास्त्रीय प्रमाणों सहित समीक्षा प्रस्तुत की गई है—

शंका १—द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

शंका २—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

शंका ३—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

शंका ४—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममे साधक है या नहीं ?

प्रस्तुत ग्रन्थके इस खण्डमे इन चारो प्रश्नोत्तरोंकी समीक्षाके चार-चार प्रकरण निर्धारित है—(१) सामान्य समीक्षा, (२) प्रथम दौरकी समीक्षा, (३) द्वितीय दौरकी समीक्षा, (४) तृतीय दौरकी समीक्षा।

प्रथम प्रश्नोत्तर और इसकी समीक्षा

पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत "द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?—इस प्रथम प्रश्नका समाधान उत्तरपक्षने संक्षेपमें इस प्रकार प्रस्तुत किया कि "द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें व्यवहारसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

यह समाधान पूर्वपक्षको पूर्ण प्रतीत नही हुआ तो अपने प्रश्नको समझाते हुए पूर्वपक्षने कहा कि हमारे प्रश्नका आशय यह था कि जीवमें जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं क्या वे द्रव्यकर्मोदयके बिना होते है या द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते है ? संसारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गतिभ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या वह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतंत्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है ?

प्रथम प्रश्नके इस स्पष्टीकरण पर उत्तरपक्षने कहा कि इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमें ही हम यह बतला आये है कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। विकारभाव और चतुर्गति-परिभ्रमणका मुख्यकर्ता तो स्वयं आत्मा ही है। इस तथ्यकी पुष्टिमें हमने समयसार, पंचास्तिकायटीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाओंके अनेक प्रमाण दिये है। किन्तु पूर्व

पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान माननेके लिए तैयार नहीं प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति परिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मानता।

समीक्षा

विद्वान् समीक्षकका ऐसा मानना है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका जो उत्तर दिया उसकी पुष्टिमें प्रस्तुत की गई समयसारकी ८० से ८२ तककी तीन गाथाओंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है, उसमें गाथा सं० ८१ का अर्थ इस प्रकार किया है—

> ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
> अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥

अर्थात् जीव कर्ममे विशेषता (पर्याय) को उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार कर्म जीवमें विशेषता (पर्याय) को उत्पन्न नहीं करता। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो।[1]

किन्तु उत्तरपक्ष द्वारा उपर्युक्त अर्थ करके स्वयं स्वीकृत सिद्धान्तकी उपेक्षा की गई है। इस गाथाका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—"जीव कर्मगुणको नहीं करता अर्थात् कर्मगुणरूप परिणत नहीं होता और कर्म जीवगुणको नहीं करता अर्थात् जीवगुण रूप परिणत नहीं होता। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो।

इसी प्रकार समयसारकी गाथा सं० ८२[2] एक वस्तुमें अन्य वस्तुके कर्तृत्वका निषेध करती है, जो निर्विवाद है किन्तु इस प्रश्नके उत्तरमे इसकी उपयोगिता नहीं है।[3] अन्य प्रमाणोंके विषयमें भी यही कहा जा सकता है।

इस प्रकार उत्तरपक्ष संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म-को निमित्तकारण तो मानता है, परन्तु वह वहाँ उसे उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिञ्चित्कर ही मानता है जबकि पूर्वपक्ष उस कार्यके प्रति उस उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्तकारण मानता है।[4]

इस प्रकार विद्वान् समीक्षकने प्रथम प्रश्नोत्तरके १८९ पृष्ठोंमें ९९ कथनों द्वारा अलग-अलग समीक्षायें प्रस्तुत करके अपने सैद्धान्तिक ज्ञानकी गहनताका परिचय दिया और इस प्रथम प्रश्नोत्तरकी समीक्षाके अन्तमें उपसंहार किया है।

द्वितीय प्रश्नोत्तरकी समीक्षा

पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म मानता है। जबकि उत्तरपक्ष जीवित

---

१. जयपुर तत्त्वचर्चा, पृष्ठ १।

२. एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥ —समयसार ८२

३. समीक्षा, भाग १, पृ० ९।

४. वही, पृ० ११।

शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म स्वीकार करनेके लिए तैयार नही है। अत. पूर्वपक्षने निम्नलिखित प्रश्न रखा।

पूर्वपक्ष—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नही ?

उत्तरपक्ष—जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गलद्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीवतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है अत वह स्वयं जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है।[1]

आ० पं० जीने उत्तरपक्षके कथनका विस्तृत विश्लेषण किया है। वस्तुत जीवित शरीरकी क्रिया दो प्रकारकी होती है—प्रथम जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया तथा द्वितीय शरीरके सहयोगसे होने वाली जीवकी क्रिया। इन दोनोंमेंसे पूर्वपक्षके प्रश्नका सम्बन्ध शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे है, क्योंकि धर्म और अधर्म ये दोनों जीवकी ही परिणतियाँ हैं और उनके सुख-दु खरूप फलका भोक्ता भी जीव ही होता है। अत जिस जोवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म होते है उसका कर्ता जीवको मानना ही युक्तिसगत है, शरीरको नही।

विद्वान् समीक्षकका ऐसा मानना है कि उत्तरपक्षने जो प्रश्नोत्तर दिया है उससे उत्तरपक्षका यह मान्यता ज्ञात होती है कि वह जोविन शरीरकी क्रियाको मात्र पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव-तत्त्वमे अन्तर्भाव करके उससे आत्मामे धर्म और अधर्म होनेका निषेध करता है। उत्तरपक्षकी इस मान्यतामे पूर्वपक्षको जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा तो कुछ विरोध नही है, परन्तु आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति पूर्वपक्ष द्वारा कारणरूपसे स्वीकृत शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया-की अपेक्षा विरोध है।[2]

उत्तरपक्ष यदि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसे पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीवतत्त्वमें अन्तर्भाव करे तथा उसको आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण न माने तो उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मामे धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिका आधार क्या है ? किन्तु उत्तरपक्षके पास इसका कोई उत्तर नही है। पर पूर्वपक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित नही होता, क्योकि यह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारणरूपसे आधार मानता है।

इस प्रकार द्वितीय प्रश्नोत्तरको विस्तृत समीक्षा यहाँ की गई है। द्वितीय प्रश्नका उत्तर तीन दौरोंमे सम्पन्न हुआ था। यहाँ इन सबकी तथा साथ ही सत्रह कथनों द्वारा उनकी समीक्षा की गई है।

तृतीय प्रश्नोत्तरकी समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

उत्तर पक्ष—(क) इस प्रश्नमें यदि 'धर्म' पदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि जीवदयाकी परिगणना शुभपरिणामोमे की गई है और शुभ परिणामको आगममे पुण्यभाव माना है। परमात्मप्रकाशमें भी कहा है—

सुहपरिणामें धम्मु पर असुहें होइ अहम्मु।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥२-७१॥

---

१. जयपुर तत्त्वचर्चा, पृ० ७६।
२. समीक्षा, भाग १, पृ० १९०।

अर्थात् शुभ परिणामसे मुख्यतया धर्म—पुण्यभाव होता है और अशुभ परिणामसे अधर्म—पापभाव होता है तथा इन दोनों ही प्रकारके भावोंसे रहित शुद्ध परिणामवाला, जीव कर्मबन्ध नहीं करता।

(ख) यदि इस प्रश्नमें 'धर्म' पदका अर्थ वीतरागपरिणति लिया जाय तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्योंकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरातत्त्वमें अन्तर्भाव नहीं होता।[1]

समीक्षा

प्रस्तुत तृतीय प्रश्न उपस्थित करनेका पूर्वपक्षका उद्देश्य यह था कि आगममें जिस प्रकार जीवदया-को पुण्यरूप मान्य किया गया है उसी प्रकार उसे वहाँ धर्मरूप भी मान्य किया गया है। और फिर जीवदया-के भी तीन भेद हैं—१. पुण्यभूत जीवदया, २ जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदया और ३ इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप जीवदया। इन तीन रूपोंको पूर्वपक्ष तो मानता है किन्तु उनमेंसे उत्तरपक्ष केवल पुण्यभूत जीवदयाको मान्य करता है, धर्मरूप जीवदयाको मान्य नहीं करता है इतना ही नहीं, वह पूर्वपक्षकी धर्मरूप जीवदयाकी मान्यताको मिथ्यात्व कहता है। इसी बातको लक्ष्य करके उपर्युक्त तृतीय प्रश्न उपस्थित किया गया।[2]

इस परिपेक्ष्यमें विद्वान् समीक्षकका कहना है कि जिस प्रकार जीवदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है उसी प्रकार उसे जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें व इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मके रूपमें धर्म मानना भी मिथ्यात्व नहीं है। पुण्यभूत जीवदया व्यवहारधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण होती है तथा इस आधारपर ही आगममें पुण्यभूत जीवदयाको परम्परा मोक्षका कारण माना गया है। वास्तवमें तो पुण्यभावरूप जीवदया शुभप्रवृत्तिरूप होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है और पूर्वपक्ष भी ऐसा ही स्वीकार करता है।[3] इससे सिद्ध है कि पूर्वपक्ष पुण्यभावरूप जीवदयाको उस प्रकार मोक्षका कारण नहीं मानता जिस प्रकार व्यवहारधर्मरूप जीवदया मोक्षका कारण होती है। पूर्वपक्ष जीवदयाको पुण्यरूप भी मानता है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप भी मानता है और निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप भी मानता है तथा अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिए ही उसने आगमप्रमाणोंको उपस्थित किया है।[4]

उत्तरपक्षने तत्त्वचर्चा पृष्ठ संख्या १२५ से १२८ तकका विवेचन जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन-स्वरूप अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म तथा भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप आत्माके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके स्वरूप भेदको नहीं समझकर ही किया है। फलतः उत्तरपक्षको वहाँ स्वयंके द्वारा उपस्थित और पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थित आगम प्रमाणोंका अर्थ करनेमें बहुत खींचातानी करनी पड़ी है।[5]

प्रश्नोत्तर ४ और उसकी समीक्षा

पूर्वपक्ष—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?

---

१. तत्त्वचर्चा, पृष्ठ ९३।
२. ····समीक्षा, भाग १, पृ० २४९।
३. वही, पृ० २५२।
४. वही, पृ० २५८।
५. ज० तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, पृ० २७२।

उत्तरपक्ष—निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। आगे उत्तरपक्षने नियमसारकी गाथा सं० १३, १४ एवं २८ का प्रमाण देते हुए कहा कि यत निश्चयरत्नत्रय स्वभावपर्याय है, अत उसकी उत्पत्तिका साधक व्यवहारधर्म नहीं हो सकता। तथापि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सविकल्प दशामें व्यवहारधर्म निश्चयधर्मके साथ रहता है, अत व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक (निमित्त) कहा जाता है।[1]

समीक्षा—उत्तरपक्षके इस समाधानपर पूर्वपक्षका कहना है कि चूंकि स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष है और इस तरह निश्चयधर्म जब परनिरपेक्ष सिद्ध होता है तो इसे व्यवहारधर्म सापेक्ष कैसे माना जा सकता है? पूर्वपक्षने आगमप्रमाणोंके आधारपर व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक स्वीकार किया है। उत्तरपक्षने निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है—इसकी पुष्टिके लिए नियमसारकी जिन गाथाओंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है इनके आधारपर उनकी मान्यता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि ये गाथायें उपयोगप्रकरणकी हैं। इन गाथाओंके आधारपर केवलदर्शनोपयोगको इन्द्रियरहित और असहाय होनेसे स्वभावरूप और शेष सभी दर्शनोपयोगोंको इन्द्रियसहित और ससहाय होनेसे विभावरूप बतलाना तो ठीक है, परन्तु दर्शनोपयोगको स्वभावरूपताके आधारपर परनिरपेक्ष बतलाना ठीक नहीं है और इस तरह निश्चयधर्मकी उत्पत्तिको उसकी स्वभावरूपताके आधारपर परनिरपेक्ष स्वीकार कर उसमें व्यवहारधर्मके साथ साध्य-साधकभावका निषेध करना ठीक नहीं है।

जबतक जीव स्वभावकी ओर अग्रसर नहीं होता, तबतक उसे व्यवहारधर्मके पालनमें भी सजग रहना आवश्यक है। जीव स्वभावमें स्थिर तभी होता है जब वह उसके अनुकूल पुरुषार्थ करता है। जीव स्वभावकी ओर अग्रसर न होनेके कालमें भी यदि व्यवहारधर्मकी उपेक्षा करता है तो वह स्वभावमें तो स्थिर होगा नहीं, साथ ही व्यवहारधर्मसे च्युत होकर अपने अनन्त-संसारकी ही वृद्धि करेगा।[2]

इस तरह विद्वान् समीक्षकने अनेक प्रमाणों द्वारा उत्तरपक्षके समाधानकी विस्तृत समीक्षा लगभग ३७ पृष्ठोंमें की है, जो तत्त्व-जिज्ञासुओंको अवश्य पढ़ने योग्य है। यद्यपि विद्वानोंको प्रायः अपनी-अपनी मान्यताओंका व्यामोह होता है। किन्तु निःस्वार्थभावसे आगमोंका आलोडन करके विद्वानों द्वारा जो 'नवनीत'के रूपमें तत्त्व-विमर्श किया जाता है, वही प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु द्वारा ग्राह्य है।

वस्तुत जिस समय समाजमें सिद्धान्त और भावनाके बीच एक दरार पड रही हो उस समय इस तरहकी प्रशस्त तत्त्वचर्चाओंका अपना ऐतिहासिक महत्त्व हो जाता है। आरम्भमें इस तत्त्वचर्चाका मूल वीतरागभाव स्वीकार भी किया गया है। किन्तु लगता है कि वह वीतरागकथा विजिगीषुकथाकी ओर मुड गयी। जैसा कि उसके परिणामसे विदित है। यद्यपि भले ही इन चर्चाओंकी मूल भावना न समझकर आग्रहवश नेतृवर्ग अपना-अपना राग आलापते रहें, किन्तु तटस्थवृत्ति वाले लोग ऐसे आयोजनोंका महत्त्व समझते हैं। प्रस्तुत समीक्षाग्रन्थके लेखक विद्वान् चूंकि इस तत्त्वचर्चामें पूर्वपक्षकी ओरसे प्रमुख प्रतिनिधि थे, अतः इसकी समीक्षाके सर्वाधिक अधिकारी भी वही थे और इस दायित्वका निर्वाह उन्होंने पूरी निष्ठाके साथ किया है।

---

१. जयपुर तत्त्वचर्चा, पृष्ठ १२९।

२. जयपुर तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, पृ० २८३-२८४।

इस ग्रन्थके सुयोग्य सम्पादक श्रद्धेय आदरणीय डॉ० कोठियाजीने इसके सुन्दर सम्पादनमें काफी परिश्रम किया है। यदि अनेक स्थानोंपर भावों, सिद्धान्तों एवं चर्चाओं आदिकी पुनरावृत्तिसे बचा जाता, तो और सौन्दर्य आ जाता।

इस ग्रन्थकी विशेषता है कि विद्वान् समीक्षकने मूल समीक्ष्य ग्रन्थ अर्थात् "जयपुर खानिया तत्त्व-चर्चा" को भी इस समीक्षा-ग्रन्थके साथ प्रकाशित किया है, ताकि तटस्थ जिज्ञासु निष्पक्षभावसे मूल अंशका भी अध्ययन कर यथार्थता ग्रहण कर सकें।

मूल ग्रन्थमें जहाँ शंकापक्षको "अपरपक्ष" नामसे प्रस्तुत किया गया है, वहाँ इस समीक्षा-ग्रन्थमें इसे 'पूर्वपक्ष' और समाधानपक्षको 'उत्तरपक्ष' नामसे प्रस्तुत करके प्राचीन न्यायशास्त्रकी परम्पराके गौरवकी पुनः प्रतिष्ठा की गयी है। पर तत्त्वचर्चा अपने मूल उद्देश्य—वीतरागचर्चासे भटककर विजिगीषुचर्चा बन गयी। अस्तु।

मुझे स्मरण है, जब मैं कटनीकी जैन शिक्षा-संस्थामें अध्ययन कर रहा था, उस समय सन् १९६४-६५ के लगभग श्रद्धेय गुरुवर्य पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, आदरणीय पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीको सहयोग देने हेतु उनके समीक्ष्य मूलग्रन्थ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी कुछ विषय-सामग्रीका सकलन कर रहे थे, उनकी आज्ञानुसार उनके निवासपर प्रात साफ प्रतिलिपि करने हेतु जाता था। अत उस पुस्तकपर लिखे गये इस समीक्षा-ग्रन्थका मूल्याकन (समीक्षात्मक अनुशीलन) लिखना, मेरे लिए प्रसन्नताका विषय है। मैं पुन समीक्षक विद्वान्को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ कि उन्होने सैद्धान्तिक मतभेदोकी समीक्षा शालीनतापूर्वक उच्च-समीक्षा-ग्रन्थ द्वारा करके एक स्वस्थ परम्पराका निर्वाह किया और साथ ही साथ तत्त्व-जिज्ञासुओंको लाभान्वित किया है। ●

भाग्य और पुरुषार्थ : एक नया अनुचिन्तन : समीक्षात्मक अध्ययन

● डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, निदेशक महावीर-ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

भाग्य और पुरुषार्थ विषयपर विद्यार्थी अवस्थामें हम लोग वाद-विवाद किया करते थे। एक वक्ता भाग्यकी वकालात करता और कहता कि "सकल पदारथ हैं जग माही भाग्यहीन नर पावत नाही।" दूसरी ओरसे पुरुषार्थका समर्थन करने वाला कहता कि 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी, दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति" और पुरुषार्थ करनेको ही एकमात्र सफलताकी कुंजी बतलाता। वर्तमानमें यद्यपि ये विषय 'आउट ऑफ डेट' माने जाने लगे हैं, लेकिन फिर भी कभी-कभी भाग्य और पुरुषार्थपर वाद-विवाद छिड ही जाता है।

पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यकी लघुपुस्तक "भाग्य और पुरुषार्थ· एक नया अनुचिन्तन" है। इसपर समीक्षात्मक लेख लिखनेके लिए डॉ० कोठिया साहबका पत्र मिला, तो मैंने समझा कि पुस्तकमें वही लकीर पीटने जैसी बात होगी और लेखकने भाग्य और पुरुषार्थमेसे किसी एकका समर्थन किया होगा। लेकिन जब पुस्तक देखी और पढी तो वह हमारे अनुमानसे एकदम विपरीत मिली तथा लेखकके भाग्य और पुरुषार्थपर उनके चिन्तनशील विचारोंको पढकर बडी प्रसन्नता हुई। पंडितजीने भाग्य और पुरुषार्थपर अपना एक नया चिन्तन किया है और उनके वर्णनके गूढ तत्त्वोको इसमे उडेल दिया है।

पुस्तकमें भाग्यका लक्षण देते हुए लिखा है कि सामान्यरूपसे जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालरूप सभी पदार्थोंमें अपनी योग्यताके बलपर प्राकृतिक ढगसे जो प्राप्त होता है उसे भाग्य कहते है। और जीवद्वारा अपने आध्यात्मिक और लौकिक जीवनमे पौद्‌गलिक मन, वचन और कायके अवलम्बनपूर्वक जो प्रयत्न किया जाता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। पंडितजीने भाग्य शब्दका आगे चलकर और भी स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने लिखा है कि भाग्यका अर्थ वह वैभाविक शक्ति है जो सभी जीवोंमे तथा कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणारूप पुद्‌गलोमे सम्भवत पायी जाती है और उस वैभाविक शक्तिके आधारपर होनेवाली वैभाविक पर्यायें ही भाग्यका रूप होती है।

लेखकने पुरुषार्थको दो भागोंमे विभाजित किया है। एक शुभ पुरुषार्थ और दूसरा अशुभ पुरुषार्थ। शुभ पुरुषार्थ पुण्यकर्मोंके उदयमें किया जाता है अर्थात् पुण्यार्जनके लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह शुभ पुरुषार्थ है तथा पापकर्मोके उदयमे जो कुछ किया जाता है वह अशुभ पुरुषार्थ कहलाता है। जिन पाप-कार्योंसे जीवको दुर्गति मिलती है, कष्ट मिलता है, वेदना सहनी पडती है वह सब जीवके अशुभ पुरुषार्थका ही फल है। वह जीव अपने वर्तमान शुभ और अशुभ पुरुषार्थके बलपर आगामी कर्मों और नोकर्मोका बन्ध करता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवमे, कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणारूप पुद्‌गलोमे विभाव परिणमन होनेकी यह प्रक्रिया अनादिकालसे चल रही है।

पंडितजीका भाग्य-पुरुषार्थपर लिखनेका उद्देश्य यह है कि जीव किस प्रकार अपने पुरुषार्थके बलपर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। और अपने इस कथनको पूर्णत सत्य सिद्ध करनेके लिए उसमे विभिन्न पक्षोका आश्रय लिया है। लेखकने पुरुषार्थके चार भेद बतलाते हुए कहा है कि प्रथम पुरुषार्थ जीवों द्वारा सकल्पी पाप या मिथ्याचारित्ररूप अशुभ प्रवृत्तिके रूपमे किया जाता है। द्वितीय पुरुषार्थ जीवों द्वारा आरम्भी पाप या अविरत-रूप अशुभ प्रवृत्तिके रूपमें किया जाता है। तृतीय पुरुषार्थ जीवों द्वारा अशुभप्रवृत्तिके एकदेशत्याग—देशविरत अथवा पुण्यरूप प्रवृत्तिके रूपमें किया जाता है और चतुर्थ पुरुषार्थ जीवों द्वारा अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक

होनेवाली शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मके रूपमें किया जाता है। पुरुषार्थ करनेकी यह प्रक्रिया एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय संज्ञी तकके सभी जीवोंमें अनादिकालसे यथासम्भव रूपमे होती चली आ रही है।

पुस्तकमे आगे गुणस्थानोंकी विस्तृत चर्चा की है तथा कहा है कि तिर्यञ्चगतिकी अपेक्षा उसमें आदिके पाँच गुणस्थान सम्भव है तथा मनुष्यगतिकी अपेक्षा उसमें प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक सभी गुणस्थान सम्भव है। इस प्रकार पंडितजीने भाग्य और पुरुषार्थके वर्णनमे गुणस्थानोंकी जो चर्चा की है वह वास्तवमें पंडितजीके गहन अध्ययनका सुपरिणाम है। पंडितजीकी दृष्टि बहुत पैनी है, इसलिए विषयका विवेचन बहुत गम्भीर एवं गहन है।

लेकिन पुस्तककी भाषा सरल होते हुए भी पंडितजीने अपने विवेचनमें लम्बे-लम्बे वाक्योंका प्रयोग किया है जिससे पाठक उनमे उलझ जाता है और लेखक क्या बात कह रहा है उसे समझ पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। पुस्तकमे पहले विषयको तीन विवेचनोंके माध्यमसे रखा गया है और फिर उन तीन विवेचनोंके तीन स्पष्टीकरण दिये गये हैं। इस प्रकार छह प्रकरण और अन्तमें एक परिशिष्ट जोडकर पुस्तक-के विषयको तत्त्वचर्चाके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक पूर्णत पठनीय है तथा वह पाठकको नई दिशा देने वाली है।

प्रस्तुत पुस्तक वीरसेवामंदिर ट्रस्ट-प्रकाशनकी ओरसे सन् १९८५मे प्रकाशित हुई थी। इस ट्रस्टके संस्थापक आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार थे तथा ट्रस्टके सम्पादक एवं नियामक जैन जगतके विद्वान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया है। इस ट्रस्टकी ओरसे अब तक प्रस्तुत पुस्तक सहित ३८ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत पुस्तक ५४ पृष्ठोमे पूर्ण होती है तथा उसकी कीमत चार रुपये रखी गयी है। पुस्तक-प्राप्तिका स्थान—वीरसेवामन्दिरट्रस्ट प्रकाशन, बी-३२/१३ बी०, नरिया, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५ है।

पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी : एक समीक्षा

डॉ० सुदर्शन लाल जैन, रीडर-संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि० वाराणसी

सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य द्वारा रचित प्रस्तुत लघुकाय ग्रन्थ विषयकी दृष्टिसे बहुत गम्भीर है। आपकी अन्य रचनायें भी गम्भीर विषयोंका ही प्रतिपादन करती है।

द्रव्यस्वरूप और पर्यायोंकी द्विविधता

जैनदर्शनके अनुसार द्रव्यका स्वरूप है 'सत्' और 'सत्' उसे कहते है जो उत्पत्ति और विनाशरूप पर्यायोंके होते रहनेपर भी ध्रुव (नित्य) बना रहे।[1] इसी अर्थका पोषक द्रव्यका दूसरा लक्षण भी किया गया है। वह है—'जिसमे गुण और पर्यायें हो वह द्रव्य है।'[2] इन दोनो लक्षणोमे भेद नही है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

प्रत्येक द्रव्यमे स्वाभाविक रूपसे स्वतःसिद्ध अनन्त गुण रहते हैं तथा प्रत्येक द्रव्यमे द्रव्यपर्यायें और प्रत्येक गुणमे गुणपर्यायें रहती है। इस तरह पर्यायें दो तरहकी होती हैं—(१) द्रव्यपर्यायें और (२) गुणपर्यायें। चूँकि गुण द्रव्यके स्वतःसिद्ध स्वभाव है। अत गुण भी 'सत्' कहलाते है। प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक गुणमे हमेशा उत्पाद्-व्ययकी प्रक्रिया चालू रहती है। द्रव्य और गुणकी स्व-स्व उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिका नाम है उत्पाद्' और उनकी स्व-स्व पूर्वपर्यायके विनाशका नाम है 'व्यय'। पर्यायोके बदलनेपर भी द्रव्य अपनी द्रव्यताको और गुण अपनी गुणरूपताको कभी नही छोडते है। अन वे नित्य है, ध्रुव है।

स्पष्टीकरण

छह द्रव्योंमें धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन चार शुद्ध द्रव्योंकी पर्यायें स्वप्रत्यय, जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य शुद्ध भी होते है और अशुद्ध भी होते है। शुद्ध जीव (मुक्त) और शुद्ध पुद्गल (परमाणु) मे स्वप्रत्यय तथा शेष जीव-पुद्गलोमे स्वपरप्रत्यय पर्यायें होती है। तथा षट्गुणहानि-वृद्धिरूप गुणपर्यायोको छोडकर शेष सभी गुणपर्यायें भी स्व-परप्रत्यय होती है। षट्गुणहानिवृद्धिरूप गुणपर्यायें स्वप्रत्यय ही होती हैं। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीकी सहायताके बिना ही मात्र उपादानकारणजन्य हो वह स्वप्रत्ययपर्याय है। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीकी सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य हो वह स्व-परप्रत्यय पर्याय है। स्वप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध ही होती है और स्व-परप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनो रूप होती है यही सिद्ध करना इस पुस्तकके लिखनेका उद्देश्य है।

क्रमबद्ध-अक्रमबद्धका अर्थ तथा विवाद-स्थल

क्रमबद्धताका अर्थ है पर्यायोंका नियतक्रमसे उत्पन्न होना और अक्रमबद्धताका अर्थ है पर्यायोंका अनियतक्रमसे उत्पन्न होना। यहाँ इतना विशेष है कि एकजातीय दो आदि अनेक पर्यायें कदापि युगपत् एक ही समयमे उत्पन्न नही होती, अपितु एक जातीय पर्यायें एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही उत्पन्न होती है। इसमें किसीको भी विवाद नही है। विवादका स्थल है स्व-पर प्रत्यय पर्यायोको बाह्यनिमित्तकारण सापेक्षताके आधारपर अक्रमबद्ध माना जाए या नही। स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिके सन्दर्भमे मुख्य दो मत हैं—(१) पुरातन सिद्धान्तवादी—ज्ञप्ति की अपेक्षा स्व-परप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध होनेपर भी उत्पत्तिकी अपेक्षा

---

१. सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।—तत्त्वार्थसूत्र ५-२९-३०।

२. गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। तत्त्वार्थसूत्र ५-३८।

क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों होती हैं। (२) सोनगढ़ सिद्धान्तवादी—उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों अपेक्षाओंसे स्व-परप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, अक्रमबद्ध नहीं।

सोनगढ़ सिद्धान्तवादियोंका पूर्वपक्ष

सोनगढ़ सिद्धान्तवादियोंके पास अपनी मान्यताको बल देनेवाले मुख्यरूपसे दो तर्क हैं—

(१) आत्मख्याति टीकाका क्रमनियमित शब्द—समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी ३०८-११ तककी गाथाओंकी आत्मख्याति टीकामें आया है—"जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीव;, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीव·।" यहाँ आए 'क्रमनियमित' शब्दकी व्याख्या करते हुए डॉ० हुकुमचन्द्र भारिल्लने अपनी पुस्तक 'क्रमबद्धपर्याय' पृष्ठ १२३ पर लिखा है—क्रम = क्रमश तथा नियमित = निश्चित। अर्थात् जिस समय जो पर्याय आनेवाली है वही आएगी, उसमे परिवर्तन नही हो सकता है। इससे पुरुषार्थका निषेध और निश्चित भाग्यवादकी पुष्टि होती है। इसका यह भी तात्पर्य है कि सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायें भी पूर्व निश्चितक्रमानुसार होनेसे क्रमबद्ध है।

(२) केवलज्ञानका विषय होना—सर्वज्ञके केवलज्ञानमे प्रतिसमय युगपत् सम्पूर्ण द्रव्योंकी त्रैकालिक सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायें प्रतिभासित होती है। अत स्व-परप्रत्यय पर्यायोको भी क्रमबद्ध ही मानना चाहिए अन्यथा अक्रमबद्ध (अनियतक्रम) होनेपर उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोंका केवलज्ञानमे प्रतिसमय युगपत् क्रमबद्ध प्रतिभासित होना असंभव है।

ये दो ही मुख्य तर्क है जिनके आधारपर स्व-परप्रत्यय पर्यायोको क्रमबद्ध सिद्ध किया जाता है।

पुरातन सिद्धान्तवादियोका उत्तरपक्ष—

(१) 'क्रमनियमित'का सही अर्थ—आत्मख्याति टीकाके 'क्रमनियमित' शब्दका अर्थ 'क्रमवर्ती समयके साथ नियमित (बद्ध)' यह सोनगढी अर्थ ठीक नही है अपितु 'एक जातीय स्व-पर प्रत्यय पर्यायें एकके पश्चात् एकरूप क्रममे नियमित (बद्ध)' यह अर्थ उचित है।

(२) उत्पत्ति और ज्ञप्तिका भेद—यह निर्विवाद सत्य है कि सर्वज्ञके केवलज्ञानमे त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें युगपत् एक ही समयमे क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती है परन्तु इस आधारपर उन पर्यायोंकी उत्पत्तिको भी क्रमबद्ध मानना न्यायसगत नही है क्योकि उन त्रैकालिक पर्यायोका केवलज्ञानमे युगपत् एक ही समयमे क्रमबद्ध प्रतिभासित होना अन्य बात है तथा उनकी उपादान, प्रेरक तथा उदासीन निमित्त-कारणोंकी यथा प्राप्तिके बलसे यथासंभव क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध रूपमे उत्पन्न होना अन्य बात है। अत· उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार करनेपर स्व-परप्रत्य्य पर्यायें प्रेरक और उदासीन निमित्तकारण-सापेक्ष होनेसे क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनो सिद्ध होती है। ज्ञप्तिकी अपेक्षा विचार करनेपर हम कह सकते है कि उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली उन पर्यायोका प्रतिभासन केवलज्ञानमे युगपत् एक ही समयमे क्रमबद्ध रूपमे होता है। पर्यायोकी उत्पत्तिका निश्चय श्रुतज्ञानके आधारपर संभव है, केवलज्ञानके विषय-आधार पर नही।[1]

दोनों सिद्धान्तोंमे भेदका हेतु

पुरातन सिद्धान्तवादी स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमे देश और कालको महत्त्व न देकर उपादान-

---

१. देखें, मूलग्रन्थ, पृ० १२,१७,३५

कारणभूत बाह्यसामग्रीको महत्त्व देते हैं। परन्तु सोनगढ़ी स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत अन्तरंग सामग्रीको महत्त्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीको महत्त्व न देकर उस देश और कालको महत्त्व देते हैं जहाँ और जिस कालमें पर्यायकी उत्पत्ति हुई थी, हो रही है या होगी। अर्थात् देश-कालको नियामक मानते हैं। परन्तु पुरातन सिद्धान्ती देश-कालको कार्योत्पत्तिमें उपयोगी नहीं मानते हैं। कार्यकारण-भाव अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर उपादान और निमित्तसामग्रीके साथ ही मानते हैं। यही दोनोंमें भेदका हेतु है।[1]

केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा[2]

इसके अतिरिक्त पूर्ण क्षायिक केवलज्ञानमें संयुक्त या बद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन संयुक्त या बद्धदशामें संयुक्त या बद्ध रूपसे न होकर पृथक्-पृथक् रूपसे होता है परन्तु मति, अवधि और मन पर्ययज्ञानोंमें बद्ध पदार्थोंका ज्ञान बद्धरूपसे ही होता है। अत सभी जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध होते हुए भी जब केवल-ज्ञानमें सतत् अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता या पर्यायरूपता-सहित पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित हो रहे हैं तो उस स्थितिमें उन पदार्थोंकी संयुक्तदशाका एवं जीव-पुद्गलकी बद्धदशाका प्रतिभासन केवलज्ञानमें नहीं हो सकता है। केवलज्ञानमें जब प्रतिक्षण पदार्थोंकी पृथक्-पृथक् रूपताका प्रतिभासन हो रहा है तो उनकी अवास्तविक दशाका प्रतिभासन संभव नहीं। अतः केवलज्ञानके प्रतिभासन हेतुसे 'स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी क्रमबद्धतामात्र सिद्ध नहीं होती है।' यह केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा कहाँ तक आगमोचित है—'इसका पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्रीने अपने प्राक्कथन (पृ० २) में संकेत किया है। वस्तुत केवलज्ञानकी विषय-मर्यादाके संदर्भमें विद्वान लेखकने जो अपना पक्ष दिया है वह विद्वानोंके लिए अधिक विचारणीय है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जिसके क्रोध कषायका उदय चल रहा है वही चलते रहना चाहिए, क्योंकि सोनगढ़ सिद्धान्तमें पर्यायोंकी क्रमबद्धता है। किन्तु देखा जाता है कि निमित्त मिलने ही उस व्यक्तिके क्रोधकषाय रुककर क्षमाकी धारा प्रवाहित होने लगती हैं। इससे स्पष्ट है कि पर्यायें क्रमबद्ध भी हैं और अक्रमबद्ध भी हैं। निमित्तको अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता और न प्रत्यक्ष दृष्टका अपलाप किया जा सकता है। अग्नि जल रही है और पानी डालते ही वह बुझ जाती है। स्पष्ट है उसका क्रमबद्ध परिणमन रुककर अक्रमबद्ध परिणमन (विजातीय शान्त परिणमन) हो जाता है। अग्निके दाहपरिणामसे विजातीय अदाह परिणाम होने लगता है। यह निमित्तभूत जलका ही प्रभाव है। फिर कैसे वह अकिंचित्कर है ? और कहाँ पर्याय क्रमबद्ध रही ?

इस तरह सूक्ष्मदर्शी विद्वान्ने, जो न केवल वैयाकरण ही हैं अपितु एक अच्छे आगमज्ञ और दार्शनिक भी हैं, युक्ति और आगमके द्वारा पर्यायोंकी क्रमबद्धता और अक्रमबद्धताको सिद्ध किया है। ऐसा मानना ही अनेकान्तसिद्धान्तके अनुकूल है। इसके अतिरिक्त विद्वान् लेखकने प्रसङ्गानुकूल पुद्गलोंका आवश्यक सूक्ष्म विवेचन भी प्रस्तुत पुस्तकमें किया है।[3]

●

---

१. मूलग्रन्थ, पृ० ७-९
२. वही, पृ० २४-३१,३५।
३. वही, पृ० ३१-३४।

पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी : एक अध्ययन

● पं० विजयकुमार जैन-साहित्य-दर्शनाचार्य, श्रीमहावीरजी

जैन आगम-ग्रन्थोंपर सोनगढ़ी विचारधाराको थोपनेके बाद एक नया आन्दोलन और चल पड़ा है। इस विचारधाराके अनुसार वस्तुतत्त्वको एकान्तदृष्टिसे समझा-समझाया जाता है। पर एकान्तदृष्टिसे वस्तुका सम्यग् विवेचन नहीं होता। सम्यग् विवेचनके अभावमें गृहीत तत्त्व तो मिथ्या होता ही है, हमारी दृष्टि भी मिथ्या हो जाती है।

सोनगढ़ विचारधारा वस्तूत्पत्ति या द्रव्यपरिणमनमें निमित्त और उपादान दोनों कारणोंमेंसे उपादानकारणको ही कारण मानती है। निमित्तको तो वह अकिंचित्कर स्वीकार करती है। वह तो उपस्थित मात्र रहता है, ऐसा उसका कथन है। इसी तरह वह पर्यायोंको क्रमनियमित मानकर नियतिवादको अङ्गीकार करता है। आचार्यपरम्पराके अनुसार परिणमनमें दोनों कारणोंका सम महकार है, जैसा कि समन्तभद्र स्वामी कहते है। बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।

अर्थात् बाह्य-निमित्त और इतर-अन्तरङ्ग कारणोंकी समग्रतासे ही कार्य होता है, यही द्रव्यका अपना स्वभाव है।

सोनगढ़विचारधाराके पुष्ट करने हेतु डॉ० हुकुमचन्द्रजी भारिल्लने '**क्रमबद्ध पर्याय**' पुस्तक लिखी, जिसमें पर्यायोंको एकान्तत क्रमनियमित मानकर नियतिवादको पुष्ट किया गया है। जैन दर्शन और जैन न्याय-के ख्यातिप्राप्त विद्वान् स्व० डॉ० पण्डित महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्यने अपने 'जैनदर्शन' ग्रन्थमें सोनगढ़की इस एकान्त विचारधाराका विविध तर्कोंमे विशदरूपमें खण्डन किया है। जैन मनीषी पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने भी इस लघु पुस्तिकामें सर्वथा पर्यायोंकी क्रमबद्धताको असंगत और जैन तत्त्वदृष्टिसे विपरीत बताते हुए बहुत स्पष्ट रूपमें बताया है कि पर्यायें क्रमबद्ध ही नहीं, अक्रमबद्ध भी होती है।

सर्वप्रथम उमास्वामी महाराजके 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' (त० सू० ५-३८) का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए—(१) द्रव्यपर्याय (२) गुणपर्यायके रूपमें दो प्रकारकी पर्यायें बतायी हैं।

दूसरे अनुच्छेदमें सूत्रकारके 'सद्द्रव्यलक्षणम्' (त० सू० ५-३०) सूत्र पर विचार करते हुए द्रव्य तथा द्रव्यके स्वभावभूत-गुणोंको 'सत्' स्पष्ट किया है। अनन्तर इसी अनुच्छेदमें बताया है कि द्रव्यमें ही नहीं, गुणोंमें भी प्रतिसमय उत्पाद-व्यय चल रहा है। साथ ही उत्पाद और व्ययकी व्याख्या भी स्पष्ट की गई है। आगे पर्यायोंको दूसरे प्रकारसे द्विरूप बताया गया है। (१) स्वप्रत्यय (२) स्व-परप्रत्यय। जो पर्यायें निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीके बिना ही उपादानकारणजन्य हैं वे स्वप्रत्यय व जो पर्यायें निमित्त-कारणभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य है वे स्वपरप्रत्यय पर्यायें हैं।

इन द्विविध पर्यायोंकी पुष्टिके लिये समयसारके सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८-३११, ३१२, ३१३, सर्वार्थसिद्धि व नियमसारादिके प्रमाण दिये है।

आगे बताया गया है कि निमित्त (१) प्रेरक और (२) अप्रेरक (उदासीन) दो प्रकारके होते हैं। प्रेरक निमित्त वे है जिनके साथ कार्यकी अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियाँ हो तथा उदासीन निमित्त वे हैं जिनकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हों। श्री व्याकरणाचार्यजीने बताया है कि प्रेरक निमित्तोंके बलसे कार्य आगे पीछे भी किया जा सकता है। तथा अनुकूल उदासीन निमित्तोंका भी यदि उपादानको सहयोग प्राप्त न हो तो उस उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणति नहीं हो सकती है। जैसे—उपादानरूप शिष्यकी पठनक्रिया निमित्तकारण (प्रेरक) भूत अध्यापक और अप्रेरक प्रकाश आदि निमित्तोंकी सहायताके बिना नहीं हो सकती है।

(२) प्रेरक निमित्तकारणभूत इञ्जन और अप्रेरक रेलपटरीरूप निमित्तोंके बिना रेल नहीं चल सकती।

(३) प्रेरक निमित्तकारणभूत कुम्भकार एवं अन्य विविध दण्डादि प्रेरक और उदासीनभूत कीली आदि अप्रेरक निमित्त कारणोकी सहायतासे ही उपादानकारणभूत मिट्टी स्थास, कोश, कुशूल व घट पर्यायरूप परिणत होती है।

इस प्रकार स्व-परप्रत्यय पर्यायें नियत क्रमबद्ध और अनियत क्रमबद्ध भी होती हैं।

यद्यपि आम्रफलका परिपाक अपने समय पर होना है, पर कृत्रिम उष्मासे उन्हें समयके पूर्व पकाया जा सकता है। वहाँ परिपाकरूप परिणमन अक्रमबद्ध ही होगा।

जीवका मरण उसकी निश्चित आयु पर ही होगा, पर विषपान, शस्त्राघात, अग्निदाह, अकस्मात् दुर्घटना आदि वश पहले भी अर्थात् अक्रमबद्ध समयपूर्व भी देखा जाता है।

सोनगढसिद्धान्तवादी केवलज्ञान-विषयतापर ही पर्यायोंका परिणमन मानते है पर उन्हे इस केवल-ज्ञानविषयतापर स्वय विश्वास नही है। अन्यथा ९० वर्ष जितनी लम्बी आयु भोग लेनेपर भी श्रीकानजी स्वामी अन्तिम समय मरणभयसे पीडित न होते और शान्तिपूर्वक सल्लेखनामरणकी उपेक्षा कर जसलोक अस्पतालमें बाल-बालमरणपूर्वक शरीर न छोडते। प्रत्युत जैनागमानुसार संयमके सोपानपर चढते।

सोनगढकी विचारधारा भवितव्यतापर जोर देती है। पर भवितव्यताके अनुसार ही कार्य हो, तो बुद्धि, पुरुषार्थ और अन्य सहायक कारणोके बिना भी कार्य हो जायगा। किन्तु ऐसा नही है। आचार्य समन्तभद्रस्वामीका वचन है—'अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा'—कि भवितव्यता, बुद्धि, व्यवसाय एवं विविधकारणसामग्रीपर अवलम्बित है।

'ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि'

इत्यादि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथाओका अभिप्राय अपने प्रयत्नमें असफल लोगोको साम्यभावमे स्थिर करना ही है।

स्वपर-प्रत्यय पर्यायोंके विषयमे उत्पत्ति और ज्ञप्तिका यह अन्तर सोनगढ़विचारधाराके पक्षधर पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसीने भी जैन तत्त्वमीमासा'मे निम्न प्रकार स्वीकार किया है कि—

'यद्यपि हम यह मानते है कि केवलज्ञानको सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायोंको जानने वाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायोकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्य-कारणपरम्पराको ध्यानमें रखकर ही की जानी चाहिए।'

इस प्रकार सोनगढसिद्धान्तवादी वर्गको कार्यकारणभावके आधारपर होनेवाली स्वपर-प्रत्यय पर्यायो-की उत्पत्तिको क्रमबद्ध तथा अक्रमबद्ध तथा केवलज्ञानसे होनेवाली उनकी ज्ञप्तिको क्रमबद्ध मान्य करनेमे आचार्यपरम्पराके समान कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।

केवलज्ञान ही क्यों, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्ययज्ञानमें भी ज्ञप्ति-अपेक्षा ऐसा क्रमबद्ध प्रतिभासन यथायोग्य होता है। उनका विश्लेषण तो श्रुतज्ञान ही कारणसामग्रीके आधारपर करता है। आखिर पाँचों ज्ञानोंमे केवल श्रुतज्ञान ही वितर्कात्मक है।

अतएव पदार्थोंके परिणमनमें केवलज्ञानकी विषयताको आधार न मानकर कार्यकारणभावको ही आधार मानना चाहिए, यही आगमपरम्परा है और तदनुसार पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी। यही निष्कर्ष आदरणीय पण्डित व्याकरणाचार्यजीने इस प्रबन्धमें प्रस्तुत किया है। अनेकान्तमय आगम भी यही कहता है।

व्याकरणाचार्यजीने तर्क और आगमके आधारपर इसमे गहन चिन्तन किया है तथा पर्यायोंको क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध सिद्ध किया है।

●

जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार : एक परिशीलन

● स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्तिजी, मूडबिद्री

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।। —समयसारकलश २

मेरे सामने जैन समाजके मूर्धन्य मनीषी श्री पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यकी कृति **"जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार"** है। वर्तमानमें समाजमें सर्वाधिक चर्चित विषय व्यवहार और निश्चय है। इस चर्चासे समाजमें विवेक व स्वाध्यायकी प्रवृत्ति ता जागृत हुई ही है, साथ ही जो व्यवहार और निश्चयसे सर्वथा अपरिचित थे वे भी इस ओर आकर्षित हुए हैं। अनेकान्तवादके महत्त्व व रहस्यसे (उभय नयोकी चर्चासे) भी अनेक लोग परिचित हुए है। इसका श्रेय सोनगढ धामके आध्यात्मिक सन्त आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीको हैं।

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि नय क्या है ? तत्त्वार्थवार्तिककारने लक्षणकी परिभाषा इस प्रकार दी है —

"व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् ।"

—अर्थात् परस्पर सम्मिलित वस्तुओंमेसे किसी एक वस्तुको अलग करने वाले हेतु (चिह्न) को लक्षण कहते हैं।

नयकी परिभाषा इस प्रकार है —

"प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्राय· नय"

—अर्थात् प्रमाणसे ज्ञात पदार्थके एक देश (अंश) को ग्रहण करनेवाले ज्ञाताके अभिप्रायविशेषको नय कहते है। अथवा "ज्ञातुरभिप्राय नय"—ज्ञाताका अभिप्राय नय हं। नयोके द्वारा ही वस्तुके अनेक गुणांशों-का विवेचन संभवनीय है। किसी प्रसगविशेषका ज्ञान नय द्वारा ही हो सकता है। स्पष्ट है कि जितने प्रकारके वचन हैं उतने ही प्रकारके नय कहे जा सकते है।

वस्तुका ज्ञान प्रमाण और नयोंसे होता है। तथ्य यह है कि नयके द्वारा वस्तुके एकदेश और प्रमाणके द्वारा वस्तुके सर्वांशका ज्ञान होता है। वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। ध्रौव्यके अभावमें उत्पाद-व्ययका अभाव है और उत्पाद-व्ययके अभावमे ध्रौव्यका अभाव है। वस्तुके द्रव्यत्वका बोध ध्रौव्यसे होता है व पर्यायत्वका बोध उत्पाद-व्ययसे होता है। वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक हैं। वस्तुके पूर्ण ज्ञानके लिए यह आवश्यक है कि उसका द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टिसे अवगाहन किया जाय। नयका कार्य एक दृष्टिसे उसके एक अंश (पक्ष) का ज्ञान प्राप्त करना है, जबकि उभयदृष्टिकोणसे उसके दोनों (पक्षों) का ज्ञान होता है। निरपेक्ष नयोंसे प्राप्त ज्ञान मिथ्या है और सम्यक्ज्ञान वही है जो सापेक्ष नयोंसे प्राप्त किया जाता है, क्योंकि 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' ऐसा सिद्धान्त है। वस्तुत वस्तुका यथार्थ बोध प्राप्त करनेके लिए उभय नयोका आश्रय परमावश्यक है। यद्यपि आत्मानुभव 'नयातीत' व 'पक्षातीत' है। उसे इन विकल्पोंकी कोई आवश्यकता नही है—वह इनसे अतिक्रान्त है—तथापि अतिक्रमणकी योग्यता प्राप्त करनेके लिए वस्तुका परिचय भी आवश्यक है।

अध्यात्मशास्त्रमें विशेष रूपसे निश्चय व व्यवहारनयका कथन पाया जाता है। प्रमुख रूपसे नयके ये ही दो भेद है। इन्हें द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय भी कहते है। जो भेददृष्टि या खण्डदृष्टिको लेकर कथन करता है वह व्यवहारनय है और जो अभेद या अखण्डदृष्टिको लेकर कथन करता है वह निश्चयनय है। अभेदविधिसे जाननेवाले नयको निश्चयनय तथा भेदविधिसे जाननेवाले नयको व्यवहारनय कहा गया है। जिस प्रकार द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय श्रुतप्रमाणके अंश होनेसे सत्य हैं उसी प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय भी श्रुतप्रमाणके अंश होनेसे सत्य है। वस्तुको द्रव्यकी प्रधानतासे जाननेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है और वस्तुको पर्यायकी प्रधानतासे जाननेवाला नय पर्यायार्थिक है। निष्कर्ष यह कि वस्तुको अभेदविधिसे जाननेवाला-निश्चय-नय है और वस्तुको भेदविधिसे जाननेवाला व्यवहारनय है।

उभय नयोंके सम्बन्धमे कहा गया है —

"स्वाश्रितो निश्चय" तथा "पराश्रितो व्यवहार"

जिस समय व्यवहारनयसे कथन किया जाता है उस समय निश्चयनय गौण हो जाता है और जिस समय निश्चयनयमे कथन किया जाता है उस समय व्यवहारनय गौण हो जाता है। उभय नय अपनी-अपनी जगह सम्यक् है। एक नय अपर नयको गौण भले ही कर ले, तथापि उसको समाप्त नही कर सकता। यदि इस प्रकार सम्भव हो तो समस्त नय निरस्त होकर निरपेक्ष हो जाएँगे, तब नयोंका जो सापेक्षवाद सिद्धान्त है वह मिथ्या हो जाएगा। एक ही नयको विश्वस्त मान लेना या एक ही नयको आधार बना लेना एकान्त है और उभय नयोको समझकर उभयरूपमे कथन करना स्याद्वाद है। स्याद्वादके द्वारा समस्त विवाद व कलह शान्त हो जाते है। वस्तुको सर्वथा एकान्त समझना मिथ्यात्व है। स्याद्वादके आश्रय द्वारा ही वस्तुमे निहित अनन्तधर्मोंका (विभिन्न नयोसे) ज्ञान होता है। नय तो स्याद्वादके अङ्गोपाङ्ग है। नय न तो पूर्ण सत्य है और न असत्य है, अपितु सत्यांश है। किसी वस्तुका पूर्ण ज्ञान तभी होगा जब उसका सर्वाङ्ग अध्ययन हो। जो सत्यदृष्टा है या सत्यका प्रेमी है उन्हें तो सदा सापेक्षताके सिद्धान्तको स्वीकार करना होगा।

व्यवहारनय और निश्चयनयमे साधन व साध्यका सम्बन्ध है। जिस प्रकार मिट्टी साधन है, घडा साध्य है। जैनागमोंके कथनानुसार व्यवहारनय बाह्यदृष्टिपरक है और निश्चयनय आभ्यन्तरदृष्टि वाला है। यथा—यह जीव हाड, मास, रक्त, मज्जा, वीर्य आदिका पिण्ड है, कर्मबद्ध है, यह बाह्यदृष्टि है या व्यवहारनयका कथन है और यह जीव शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अजरामर व सहजानन्दमय है, यह भीतरी दृष्टि है या निश्चयनयका कथन है—दोनोमेंसे किसीको असत्य या मिथ्या नही कहा जा सकता—सापेक्षत दोनो सत्य है और निरपेक्षत दोनो मिथ्या है।

आ. कुन्दकुन्दने समयसारकी १२वी गाथामे कहा है —

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥

—जो परमभावको देखनेवाले है उनके द्वारा तो शुद्ध तत्त्वका कथन करनेवाला शुद्ध नय जाननेके योग्य है और जो अपरमभावमे स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनयका उपदेश कार्यकारी है। यह अवस्था (अपरमभाव) जीवनकी साधक दशा मानी गई है। साधक दशा क्षीणमोह १२वें गुणस्थान या चउदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समय तक रहती है। जिन जीवोंको आत्माकी शुद्धताका ज्ञान नही हुआ है उन्हे तो व्यवहारनय प्रयोजनवान् है, क्योकि तीर्थ और तीर्थफल इसी पर निर्भर है। जैसा कि कहा भी है :—

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छाए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

—अर्थात् यदि जिनेन्द्र भगवान्‌के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों ही नयोंको मत त्यागो, क्योंकि यदि व्यवहारनयको त्याग दोगे तो तीर्थंकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश हो नही हो सकेगा । फलत धर्मका लोप हो जावेगा । और यदि निश्चयनयको त्याग दोगे तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है । अतः व्यवहारनय न तो सर्वथा हेय ही है और न अनुपयोगी ही । अध्यात्मशास्त्रके मर्मज्ञ श्रीमद् रायचन्द्रजी इसी तथ्यको स्पष्टरूपसे व्यक्त करते हुए कहते है :—

लह्यु ं स्वरूप न वृत्ति नुं ग्रह्यु व्रत अभिमान ।
ग्रहे नही परमार्थने लेवा लौकिक मान ॥२८॥
अथवा निश्चय नय ग्रहे मात्र शब्दनी माय ।
लीये सद्‌व्यवहारने साधन रहित थाय ॥२९॥
निश्चय वाणी साभली साधन तजवा नोय ।
निश्चय राखी लक्ष मा साधन करवा सोय ॥१३१॥
नय निश्चय एकात थी आमा नथी कहेल ।
एकाते व्यवहार नही बन्ने सपि रहेल ॥१३२॥

—आत्मसिद्धिशास्त्र (रायचन्द्र)

—अर्थात् 'यदि कोई निश्चयदृष्टि अर्थात् नैतिक जीवनमें आन्तरिक प्रवृत्तियोको ही प्रधानता प्रदान करता है और वाह्याचरण (व्रत, पूजा, दान आदि) का लोप करता है तो वह साधनासे दूर है । वास्तविकता यह है कि तात्त्विक निश्चयदृष्टिको अर्थात् आत्मा असंग, अबद्ध और नित्य सिद्ध है—इस वाणीको सुनकर साधन अर्थात् बाह्य क्रिया वर्जन नही करना चाहिए, अपितु परमार्थपथको आदर्शरूपसे स्वीकार करके अर्थात् उस पर लक्ष्य रख करके बाह्य क्रियाओंका आचरण करते रहना चाहिए, क्योंकि यथार्थ लौकिक जीवनमें एकान्त नैश्चयिकदृष्टि अथवा एकान्त व्यवहारदृष्टि अलग-अलग अपना अस्तित्व नही रखती, अपितु एकसाथ कार्य करती हैं । वस्तुतः इस जीवनका निर्माण अन्तःपक्ष व बहिःपक्ष—दोनोसे मिलकर ही बनता है । नैतिकताके क्षेत्रमे आन्तरिक शुभ व बाह्य व्यवहार नैतिक जीवनके दो भिन्न पक्ष अवश्य है—परन्तु अलग-अलग तथ्य नही । उन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है किन्तु अलग-अलग किया नही जा सकता । अस्तु ।

प्रस्तुत कृतिके लेखक जैनदर्शनके मूर्धन्य विद्वान् समाजमान्य विद्वद्वर्य श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य जैनागमके मर्मज्ञ प्रकाण्ड मनीषी हैं । प्रशम-हृदयी व भद्रपरिणामी हैं । इस वृद्धावस्थामे अस्वस्थ रहते हुए भी, इस समय समाजमें सर्वाधिक चर्चित विषयपर आपने सन्तुलित लेखनी चलाई है । जैनागमके अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत 'जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार' का अध्ययन व मनन करके निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार आदिको स्याद्वाद व अनेकान्तके आधारपर समझकर मुमुक्षु जीव स्वात्मकल्याणकी ओर प्रवृत्त हों, यही सत्कामना है ।

'जैनं जयतु शासनम् ।'

जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार : एक विमर्श

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

ज्ञेय (वस्तु) के यथार्थ ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा गया है। ज्ञेयका यथार्थ ज्ञान दो तरहसे होता है। एक प्रमाणसे और दूसरे नयसे। आचार्य गृद्धपिच्छने[1] सम्यग्ज्ञानका विवेचन करते हुए लिखा है कि प्रमाण और नयोंके द्वारा सभी पदार्थोंका अधिगम—यथार्थ ज्ञान होता है। उनके आद्य टीकाकार आचार्य पूज्यपादने[2] उनके इस कथनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रमाण दो प्रकारका है—एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोमें श्रुतज्ञानको छोडकर शेष चारो ज्ञान स्वार्थ हैं और श्रुतज्ञान स्वार्थ तथा परार्थ दोनों प्रकारका है। उनमें ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ प्रमाण और वचनात्मक श्रुत परार्थ प्रमाण है। उन्हीके भेद नय हैं। आगे पूज्यपादने[3] प्रमाण और नयके अन्तरको भी स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि सकलादेश (अखण्ड रूपमे पूरी वस्तु) को जानना प्रमाण है और विकलादेश (खण्ड रूपमें अंशात्मक वस्तु) को जानना नय है। नयके अन्तर और उसकी विशेषताको और अधिक स्पष्ट करते हुए आगमप्रमाणके उद्धरण द्वारा उन्होंने[4] पुन लिखा है कि प्रमाणसे वस्तुको जानकर उसकी किसी अवस्था (धर्म—अंश) विशेषसे पदार्थका निश्चय करना नय है।

इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जैन संस्कृतिमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान करनेके लिए प्रमाण और नय इन दो को मूल वस्त्वधिगमोपाय माना गया है। जैन मनीषियोने इसीसे इन दोनोका विवेचन करनेके लिए प्रमाणग्रन्थों[5] और नयग्रन्थोंकी[6] स्वतंत्र एवं संयुक्त रूपमे दर्जनोंकी संख्यामे रचना की है। सच पूछा जाय, तो प्रमाणकी अपेक्षा नयोंका ज्ञान लौकिक औऱ पारमार्थिक दोनों दृष्टियोसे विशेष आवश्यक है। इसीसे ही सम्भवतः श्रुतज्ञानकी महिमा सर्वाधिक गायी गयी है, क्योकि श्रुतसे ही अल्पज्ञोंको सज्ज्ञान (आत्मज्ञान) की प्राप्ति होती है, जो संसारकी निवृत्ति और मोक्षका कारण है। जैसा कि निम्न आगमप्रमाण-से प्रकट है—

> श्रुते भक्तिः श्रुते भक्ति. श्रुते भक्ति. सदाऽस्तु मे।
> सज्ज्ञानमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ॥—सं० देव-शास्त्र-गुरु-पूजा

नयोंका प्रतिपादन शास्त्रकारोने दो तरहसे किया है। एक तो वस्तुको जाननेकी दृष्टिसे और दूसरे हेयोपादेयकी दृष्टिसे। प्रथम प्रकारसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो मूल नयोंका कथन किया गया है, क्योंकि ज्ञेय वस्तु मूल दो अंशों—द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेषमें समव्याप्त है। द्रव्य (सामान्य) को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय (विशेष) को विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। इन दोनों मूल नयोंके भी भेदो और उपभेदोका विवेचन विस्तारपूर्वक विशदताके साथ किया गया है। द्रव्यार्थिकके नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीनका तथा पर्यायार्थिकके ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन चारका कथन शास्त्रोमें बहुलतया उपलब्ध है।

---

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः'—त० सू० १-६।

२. 'तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्।
श्रुत पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्।—स० सि० १-६।'

३. 'सकलादेश प्रमाणधीनो विकलादेशो नयाधीन इति।'—वही, १-६।

४ एव ह्युक्तं "प्रगृह्य प्रमाणतः' परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः"—वही १-६।

५. प्रमाणसग्रह, न्यायविनिश्चय, प्रमाणपरीक्षा, परीक्षामुख, प्रमाणमीमासा, न्यायदीपिका आदि।

६. नयचक्र, द्वादशारनयचक्र, नयविवरण, आलापपद्धति आदि।

यद्यपि ये नय अपने-अपने अंशोंको जब ग्रहण करते—जानते हैं तो उनमें परस्पर विरोध दिखाई देता है और लगता है कि जब वस्तु द्रव्यरूप (शाश्वत) है तब वह पर्यायरूप (अशाश्वत) कैसे हो सकती है? दोनों ही अंश (द्रव्य और पर्याय) परस्पर विरोधी हैं। वे एक ही वस्तुमें नहीं रह सकते। तब दो विरोधी नयों (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) की प्रवृत्ति वस्तुमें सम्भव नहीं है? किन्तु इन नयोंके विरोधको मिटानेवाला 'स्यात्पद' है, जिसका प्रयोग स्याद्वाददर्शन (आर्हत दर्शन) में अभिप्रेत है। उसके बिना वस्तुसत्यका न कथन हो सकता है और न ज्ञान। आचार्य समन्तभद्रने[1] स्पष्ट कहा है कि अभिप्रेत विशेषकी प्राप्तिके हेतु 'स्यात्कार'का प्रयोग, जो प्रत्येक वाक्यमें अन्तर्निहित रहता है, वक्ता चाहे उसे बोले या न बोले, वस्तुसत्यका बोधक है। आचार्य अमृतचन्द्रने[2] भी जिनवचनोंको उभयनयोंमें दिखाई देनेवाले विरोधको मिटाने वाले 'स्यात्पद' से अंकित बतलाया है। एकान्ती और अनेकान्तीके भाषाप्रयोग (कथन) में यही अन्तर बतलाया गया है। तात्पर्य यह कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा उनका समूह ज्ञेय वस्तुका यथार्थ ज्ञान करानेके लिए उपदिष्ट है।

द्वितीय प्रकारसे निश्चय और व्यवहार इन दो नयोंका निरूपण किया गया है। निश्चयका अर्थ परमार्थ, वास्तविक, भूतार्थ, परसंयोगसे रहित है और व्यवहारका अर्थ उपचार, अवास्तविक, अभूतार्थ, परसंयोगसे सहित है। विश्व षड्द्रव्यात्मक है। उनमेंसे एक चेतन द्रव्य—आत्मा उपादेय है और बाकीके सब हेय। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन छह द्रव्योंमें जीव चेतन द्रव्य है, शेष पाँचों द्रव्य अचेतन हैं। जीवका पुद्गल (कर्म और नोकर्म) के साथ अनादि सम्बन्ध है, जिसके कारण जीव उससे प्रभावित है। आचार्य अमृतचन्द्रने[3] स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि जीव शुद्ध चित् (चेतन) मात्रकी मूर्ति है। परन्तु उसमें जो पररूप परिणति हो रही है उसका निमित्तकारण मोहनीय नामके कर्मका उदय है। इस मोहनीय कर्मके उदयसे ही निरन्तर (अनादि कालसे) वह उत्पन्न राग-द्वेषादिसे कलुषित (विकृत) है। इसीसे जीव कर्म और नोकर्मसे बद्ध तथा स्पृष्ट है। यह संयोगी अवस्था है और वह उपादेय नहीं है—हेय है। निश्चयनय यही बतलाता है। वह जीवकी निज परिणति—रागादिरहित चैतन्यपरिणतिको ही उपादेय कहता है। उसकी दृष्टिमें जीवमें न कर्म है, न नोकर्म है और न उनके निमित्तसे होनेवाले राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि परिणमन हैं। किन्तु कर्म और नोकर्मका सम्बन्ध जीवके साथ है और उनके निमित्तसे उसीमें रागादि परिणमन होते हैं, यह अयथार्थ नहीं है, यथार्थ है। अतएव जीव बद्ध है, स्पृष्ट है, अशुद्ध है और अज्ञ है। यह व्यवहारनय बतलाता है। इसीसे जैन दर्शन स्याद्वाददृष्टिसे हर वस्तुको, जो अनेकान्तात्मक है, स्वीकार करता है। अकलंकदेवने[4] लिखा है कि अनेकान्तको प्रतिपत्ति प्रमाण है, एक धर्मकी, जो अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखे—उनका तिरस्कार न करे, प्रतिपत्ति नय है और एक धर्मको स्वीकार कर वस्तुके शेष धर्मोंका प्रतिक्षेप (तिरस्कार) दुर्नय है। यह कथन उन्होंने समन्तभद्रस्वामीके द्वारा प्रतिपादित नयलक्षणके व्याख्यान-

---

१. 'अभिप्रेतविशेषाप्ते स्यात्कारः सत्यलांछन ॥'—आप्तमी० ११२।

२. उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥—समयसार कलश ४।

३. परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ स० सा० कलश ३।

४ 'अनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्नयः, केवलविपक्षविरोधप्रदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात्'—अष्टश०, आप्तमी० का० १०६ की व्याख्या।

सन्दर्भमें किया है, जिसमें समन्तभद्रने[1] बतलाया है कि स्याद्वाद (श्रुतप्रमाण) के द्वारा गृहीत वस्तुके नित्यत्वादि पृथक्-पृथक् धर्मका प्रकाशक नय है। अकलंकने एक ही धर्मको स्वीकार कर शेष धर्मोका प्रतिक्षेप करनेवाले नयको दुर्नय क्यो कहा, इसका वे स्वयं उत्तर देते हुए कहते है, क्योकि वह विपक्षका निषेध करके अपने ही पक्षका अभिनिवेश (आग्रह) करता है, जबकि वस्तु वैसी नही है। वस्तु[2] तो नयो और उपनयोके द्वारा ज्ञात होने वाले त्रिकालवर्ती एकान्तो (धर्मों) का, जिन्हे एक-दूसरेसे पृथक् नही किया जा सकता है अर्थात् जिनमे अविष्वक्भाव सम्बन्ध है, समुच्चय है।

जब वस्तु और उसे ग्रहण करनेवाले नयोकी ऐसी स्थिति है। तब एक पक्षको स्वीकार कर इतर पक्षका निषध करना मिथ्या एकान्त ही कहा जायगा। उससे बचनेके लिए हमे स्यात्पदांकित वचनोका ही प्रयोग कर जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित अनेकान्ततत्त्वका प्ररूपण करना चाहिए।[3] आचार्य अमृतचन्द्रने[4] यह बिलकुल ठीक लिखा है कि जो शिष्य व्यवहार और निश्चयको सम्यक् प्रकारसे (एक दूसरेकी उपेक्षा या तिरस्कार न करके) दोनोंमे मध्यस्थ (तटस्थ) रहता है वही शिष्य स्याद्वादशासनके अविकल (पूर्ण) फलको प्राप्त करता है। इसीसे वे[5] अनेकान्तमयी मूर्ति (जिनवाणी) को, जो अनन्तधर्मा वस्तुके प्रत्येक धर्मका सही-सही प्रकाशन करती है, सदैव प्रकाशमान रहनेकी मङ्गल-कामना करते है। इतना ही नही, वे[6] एकान्तोके विवादोमे आगत विरोधको मिटाने वाले और जिनशासनके प्राण अनेकान्तको विनम्रतापूर्वक प्रणाम करते है।

प्रस्तुत रचनामे विद्वत्समाजके सिद्धान्तविद् मनीषी श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीने वर्तमानमे निश्चय और व्यवहारकी सन्धिसे भटके हुए लोगोको निश्चय और व्यवहारके सुमेलका स्मरण दिलाया है तथा दोनाकी देशना सर्वथा एकान्तका त्याग करके कथंचित् एकान्तपरक करनेकी प्रेरणा की है। निश्चय और व्यवहारके जितने रूप हो सकते है उन सबका इसमे विस्तारपूर्वक विशदताके साथ विवेचन किया है। उनका यह आवश्यक प्रयास निःसन्देह स्तुत्य है।

विश्वास है यह सन्तुलित और गम्भीर, किन्तु विशद शैलीमे रचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्वानो, जिज्ञासुओं और स्वाध्याय-प्रेमियो द्वारा निश्चय ही समादृत होगा।

●

---

१. 'स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नय ॥'—आप्तमी० का० १०६।

२. नयोपनयैकान्ताना त्रिकालाना समुच्चय ।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥—वही, का० १०७

३. दुर्निवार-नयानीक-विरोध-ध्वंसनौषधि ।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धति. ॥—पचास्तिकाय टी० प्रार०।

४ व्यवहार-निश्चयौ य. प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकल शिष्य. ॥—पुरुषार्थसि० श्लो० ८

५. अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मन. ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥—स० सा० कलश २।

६. परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसिताना विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥—पुरुषार्थसि० श्लो० २।

मनस्वी मनीषी : कुछ संस्मरण

● पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, हैदराबाद

[यह संस्मरणात्मक लेख श्रद्धेय पं० बालचन्द्रजीने मेरे पास १३ अप्रैल १९८९ को भेजा था और वे १७ अप्रैल १९८९ को स्वर्गस्थ हो गये, यह दैवकी विडम्बना है। भेजते समय वे नही जानते होगे कि उनका इहलौकिक जीवन मात्र ४-५ दिनका है। स०]

पं० बंशीधरजी एक मनस्वी विद्वान् है। वे अभावोसे खूब जूझे हैं। किन्तु कभी स्वाभिमानको नहीं खोया और अपनी मनस्विता बनाये रखा। यद्यपि मै उनका भतीजा हूँ, किन्तु उनसे तीन माह ज्येष्ठ होनेसे आरम्भसे मित्रवत् रहे है। अत उनके जीवनसे सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण संस्मरण दे रहा हूँ।

बचपनमे हम दोनों समवयस्क होनेसे सोरईमे साथ-साथ प्रेमसे खेलते-कूदते व लडते-झगडते भी रहे हैं। दैववशात् वि० सं० १९७५ मे एक सार्वभौमिक बीमारी फैली, जिसे लाल बुखार (इनफ्लूजा) कहा जाता था। इस बीमारीमे बंशीधरजीके बडे भाई छनारेलाल (आयु लगभग १५, १६ वर्ष) और उनकी मा राधाबाई दोनोंकी ही २-४ दिनके अन्तरसे मृत्यु हो गयी, तब बंशीधरजी अकेले रह गये थे। उस समय उनकी अवस्था लगभग १२-१३ वर्ष रही होगी। संयोगसे उनके मामा उन्हे बारासिवनी (म० प्र०) अपने घर लिवा ले गये। पर वहाँ उच्च शिक्षाके साधन न होनेसे उन्हें काका प० शोभारामजी उपदेशक भारत-वर्षीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई अपने साथ सागर लिवा ले आये और वहाँ पं० मुन्नालालजी रांधेलीय न्यायतीर्थ द्वारा सत्तर्क सुधातरंगिणी पाठशालामे उनके अध्ययनकी व्यवस्था करा दी गयी। संयोगसे मैं भी तीन माह पहले सागर पहुँच गया था और उक्त पाठशालामे पढता था। बादको पूज्य प० गणेशप्रसाद वर्णी हम दोनोको बनारस ले गये और स्याद्वाद-विद्यालयमे प्रवेश करा दिया, यह उनका महोपकार था। मैं विद्यालयमे ८ वर्ष रहा और बंशीधरजी ११ वर्ष रहे। बंशीधरजी उस समयके विद्यार्थियोंमे अत्यन्त मेधावी छात्र होनेके कारण विद्यालयकी ओरसे अतिरिक्त दस रुपए छात्रवृत्ति मिलती थी।

बंशीधरजीको अन्याय पसन्द नही रहा। एक छात्र प्रेमचन्द कटनीको अमृतसरके सेठ मसद्दीलालजी आठ रुपए मासिक छात्रवृत्ति देते थे। यह विद्यालयके उपाधिष्ठाता बाबू हर्षचन्द्रजीको मालूम हुआ तो उन्होंने वह छात्रवृत्ति विद्यालयमे रोक ली और प्रेमचन्द्रको यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य किया कि वह छात्रवृत्तिकी माग न करे। इसपर बंशीधरजीने उपाधिष्ठाताजीसे कहा कि छात्रवृत्ति तो प्रेमचन्द्रको दे दी जाय और भोजन फीसके रूपमे वह छात्रवृत्ति उनसे विद्यालयमे जमा कर ली जाय। यह बात उपाधिष्ठाता-जीको मान्य नही हुई और प्रेमचन्द्रको विद्यालयसे पृथक् कर दिया। इसका बंशीधरजीने विरोध किया, तो उपाधिष्ठाताजीने उनसे भी कहा कि 'क्यो न आपको भी विद्यालयसे पृथक् कर दिया जाय ?' उत्तरमे बंशीधरजीने लिखकर दे दिया कि प्रेमचन्द्र छात्रका मामला समाप्त हो जानेपर मैं स्वयं ही विद्यालय छोड दूँगा। बंशीधरजी उपाधिष्ठाताजीकी बातका इसलिए विरोध कर रहे थे कि वे वह छात्रवृत्ति एक अन्य छात्रको दिलाना चाहते थे, जो उनकी जातिका था। उपाधिष्ठाताजीकी कार्यवाहीकी अधिकारी वर्गमे कडी प्रतिक्रिया हुई और अध्यक्षजीने प्रेमचन्द्रका मामला अपने हाथमे ले लिया। बंशीधरजीने भी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विद्यालयसे अलग होकर लाला छेदीलालजीके मन्दिरके नीचेके हालमे एक वर्ष रहते हुए व्याकरणा-चार्यका अन्तिम खण्ड उत्तीर्ण किया। यह थी बंशीधरजीकी न्यायप्रियता और मनस्विता, जो छात्रावस्थासे ही प्रकट हो चुकी थी।

इनकी मनस्विताकी इसी प्रकारकी एक दूसरी घटना है। ये सन् १९४२ में '**भारत छोड़ो**' आन्दोलन-मे सक्रिय भाग लेनेसे सागरसे बीना आते समय बीना स्टेशनपर गिरफ्तार कर सागर जेलमे भेज दिये गये और वहाँसे अमरावती जेलमें भेजे गये। वहाँ जेलका सुपरिन्टेन्डेन्ट उस्मान अली था, जो बहुत क्रूर था।

उसने सागरके पं० ज्वालाप्रसाद ज्यौतिषी व पद्मनाभ तैलंगको बिना अपराधके गुनाहखानेमें भेज दिया था। इसका इन्होंने विरोध किया और उसके द्वारा निर्धारित कार्यक्रममें ये सम्मिलित नही हुए। तो उक्त सुपरिन्टेन्डेन्ट जेलर माधवरावके साथ इनके बैरकमें आया और इनसे कहा कि 'कार्यक्रममें क्यों सम्मिलित नही हुए, क्या तुम्हें भी गुनाहखानेमे जाना है?' इन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं ज्वालाप्रसाद ज्यौतिषी व पद्मनाभ तैलंगको गुनाहखानेमें भेजनेका विरोध करता हूँ?' तब उसने जेलरसे कहा कि 'इन्हें भी गुनाहखानेमें भेज दो।' इस तरह इन्हे गुनाहखानेमे भेज दिया गया और इनकी 'बी' श्रेणीको बदलकर 'सी' श्रेणी कर दी गयी तथा 'बी' श्रेणीकी सारी सुविधाएँ 'सी' श्रेणीमे परिवर्तित कर दी गयी। किन्तु बंशीधरजीने अन्याय पक्षका विरोध करना नही छोडा और न सुपरिन्टेन्डेन्टसे माफी माँगी। यह थी उनकी न्यायनिष्ठा।

तीसरी घटना इनके गृहस्थ-जीवनकी है। बंशीधरजीका विवाह बीनामें शाह मौजीलालजीकी एकमात्र सुपुत्री लक्ष्मीबाईके साथ सन् १९२८ मे हुआ था। शाहजी चाहते थे कि बंशीधरजी बीनामे घरपर ही रहें। इन्होंने कर्त्तव्यकी दृष्टिसे अपने श्वसुर साहब (शाह मौजीलालजी) की कठिनाईको ध्यानमे रखकर बीनामे रहना स्वीकार कर लिया। किन्तु उनसे लोन लेकर कपडेका व्यवसाय करनेका निर्णय किया। उनका यह वस्त्रव्यवसाय आज करीब साठ वर्षसे सुचारुरीत्या चल रहा है। अब तो उनके सुयोग्य दो पुत्रोंने उसे सम्हाल लिया है और अपनी योग्यता एवं पिताजीके मार्ग दर्शनमे उसे कई गुना बढा लिया है। तथा उनकी ही तरह न्याय-निष्ठा एवं प्रतिष्ठाको बना रखा है। यह है प० बंशीधरजीका स्वाभिमान और न्याय्यजीवनकी प्रतिष्ठा।

ख्यातव्य है कि बंशीधरजीने वस्त्र-व्यवसायी होकरके भी अपने ज्ञानका निस्पृहभावसे उपयोग करना नही छोडा। प्रवचना करना, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें अनुसन्धान एवं चिन्तनपूर्ण लेख लिखना, सस्थाओका योग्यतापूर्वक संचालन करना, सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय कार्योंमे भाग लेना, आरम्भसे अबतक, ये सभी प्रवृत्तियाँ उनकी चालू है। तस्कृति और सिद्धान्तपर कहीसे कोई वार होता है तो वे उसके निराकरणके लिए उद्यत रहते हैं।

सोनगढकी ओरसे प्रचारित एवं प्रसारित एकान्त अध्यात्मको वे जैनदर्शनके अनेकान्तवाद और स्याद्वादके प्रतिकूल मानते है। वे ही क्यो, सारा जैनागम और दि० जैन परम्परा उसके विरुद्ध है। निमित्त अकिंचित्कर है आदि सोनगढकी मान्यताएँ आगमविरुद्ध है। प० बंशीधरजीने आगमका पक्ष लेकर इन मान्यताओका दृढतासे निरसन किया है।

प० बंशीधरजी निश्चय ही गम्भीर चिन्तक और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्वके स्वामी है। न्यायप्रियता और स्वाभिमान उनके जन्मजात गुण है।

श्रद्धा-सुमन

● पं० शोभालाल जैन, साहित्याचार्य, जयपुर

पंडित बंशीधर व्याकरणाचार्यजीसे मेरा प्रत्यक्ष सम्पर्क नही रहा है, लेकिन उनके द्वारा लिखे गये गहन सैद्धान्तिक एव आध्यात्मिक लेखोसे जो बंध, संवर और निर्जरा सम्बंधी तिकड़ीको समझाने एवं सुलझानेमें सच्चे गुरुके समान कार्य कर रहे हैं।

दूसरा सम्बध, मेरा पूज्यनीय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके माध्यमसे है। जैन जगत्के अद्‌भुत नैयायिकके रूपमे ख्याति प्राप्त डॉ० कोठियाजी साहब इनके भतीजे हैं। अत. पंडितजीके विषयमें कुछ कहना सूर्यको दीपक दिखाना है।

ऐसे महान् व्यक्तित्वके अभिनन्दनके लिये समाजका अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशित कर उनकी सेवामे प्रस्तुत करना अपनी कृतज्ञता प्रकट करना है। ऐसे मंगल अवसर पर मैं भी उन्हें अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

धर्म और सिद्धान्त

धर्म और सिद्धान्त

●

आप्त और अनाप्तके लक्षण

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे ही आप्तका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।५।।

अर्थ—जो अपने सम्पूर्ण दोषोको नष्ट कर चुका हो, सर्वज्ञ हो गया हो और धर्म-मार्गका प्रवर्तक बन चुका हो, उसे ही आप्त जानना चाहिए, क्योंकि इन तीन गुणोके प्रकट हुए बिना आप्तता सम्भव नही है।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके उपर्युक्त सूत्रकी टीका प्रमेयरत्नमालामे आप्तका लक्षण निम्न प्रकार निश्चित किया गया है—

यो यत्रावचकः स तत्राप्त ।

अर्थ—जो पुरुष जिस विषयमे अवचक है अर्थात् दूसरोके साथ ठगाई नहा करता है, वह पुरुष उस विषयमे आप्त है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार और प्रमेयरत्नमालाके उपर्युक्त उद्धरणोसे यह बात निर्णीत होती है कि सर्वज्ञ तो आप्त होता ही है क्योकि वह पूर्ण वीतरागी हो जानेसे सर्वथा अवचकवृत्ति हो जाता है। लेकिन अल्पज्ञ भी यदि किसी विषयमे अवचकवृत्ति हो तो उसे भी उस विषयमे आप्त जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि हितकर उपदेशका नाम आगम है और जो हितकर उपदेश देता है वह आप्त है। उस उपदेशकी हित-कारिताका आधार उपदेश देनेवाले पुरुषकी अवंचक-वृत्ति ही हुआ करती है तथा अवचकवृत्तिका निर्णय उसमे (उपदेश देनेवाले पुरुषमें) पाई जानेवाली वीतरागता (नि स्वार्थवृत्ति) से होना है। अत आप्तताका निर्णय पुरुषमे विद्यमान वीतरागता (नि स्वार्थवृत्ति)के आधारपर ही करना चाहिए। इस तरह सर्वज्ञके साथ अल्पज्ञ भी आप्तकी कोटिमे गर्भित हो जाता है।

उक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि अल्पज्ञ भी सर्वज्ञकी तरह तभी आप्त हो सकता है जब कि वह अवंचक वृत्ति हो। इसका फलितार्थ यह है कि अल्पज्ञ आप्त और अनाप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमेसे जो अल्पज्ञ अपनेमे यथासम्भव पाई जानेवाली वीतरागता (नि स्वार्थ वृत्ति) के आधारपर अवचक वृत्ति होते है, वे आप्त कहलाते है और जो अल्पज्ञ अपनेमे पाई जानेवाली सरागता (स्वार्थपूर्ण वृत्ति)के आधार-पर वंचकवृत्ति होते हैं, वे अनाप्त कहलाते है।

आगम और आगमाभासका प्रवर्तन

आगम और आगमाभासका प्रवर्तन अनादिकालसे चला आ रहा है, जिसका विवेचन इस प्रकार है कि निश्चयकाल (स्वत सिद्ध कालनामा पदार्थ) नित्य (अनादिसे अनन्त काल तक रहनेवाला) है। इस निश्चय-कालकी पुद्गल-परमाणुके अत्यन्त मन्द-गमनके आधारपर विभक्त अखण्ड-वृत्तिरूप समय और यथा-योग्य समयोंके समूहरूप आवली, घडी, मुहूर्त, घण्टा, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष तथा वर्षोंके भी समूह—यह सब व्यवहारकाल है। यद्यपि ये सब निश्चय-कालकी पर्यायें है परन्तु इन्हें व्यवहार-काल इसलिए कहते है कि इनका अस्तित्व मूलत परवस्तुभूत पुद्गल-परमाणुके अत्यन्त मन्द गमनके आधार-पर निष्पन्न होनेसे इनमे पराश्रितता पाई जाती है।

इस व्यवहारकालका प्रवर्तन प्रवाहरूपसे अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता

तीर्थंकर महावीरकी धर्मतत्त्व-देशना

आगम और आगमाभासकी परिभाषा

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके तृतीय समुद्देशमे आगमकी परिभाषा निम्न प्रकार बतलायी गयी है—

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।३-९९।

अर्थ—आप्तके वचन आदिके आधारपर जो पदार्थ-ज्ञान हमे होता है वह आगम है ।

सूत्रमे 'वचन' शब्दके आगे पठित 'आदि' शब्दका अभिप्राय सूत्रकी टीका प्रमेयरत्नमालामे अंगुलि आदिके संकेतोंके रूपमें ग्रहण किया गया है ।[1] अत जिस प्रकार आप्तके वचनोंके आधारपर हमें होने वाला पदार्थ-ज्ञान आगम है उसी प्रकार उसकी अंगुल्यादिके संकेतोके आधारपर हमे होनेवाला पदार्थ-ज्ञान भी आगम है ।

यह परिभाषा भावात्मक आगमकी है । लेकिन सूत्रका यह भी आशय है कि हमे उपर्युक्त प्रकारसे होनेवाले ज्ञानरूप भावात्मक-आगमके उद्भवमें निमित्तभूत आप्तके वचनो और उसकी अंगुलि आदिके संकेतोको द्रव्यात्मक-आगम जानना चाहिए । स्वामी समन्तभद्रने वचनरूप द्रव्यात्मक-आगमकी रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे निम्न लिखित परिभाषा बतलाई है—

आप्तोपज्ञमनुल्लध्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

अर्थ—शास्त्र (वचनरूप द्रव्यात्मक-आगम) वह है, जो आप्तके द्वारा कहा गया हो, अन्य मतो द्वारा अकाट्य हो, दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमान) द्वारा अबाधित हो, तत्त्व (तथ्यात्मक[2] व सत्यात्मक[3] प्रयोजनभूत वस्तु)का प्रतिपादक हो, सम्पूर्ण जीवोके लिए हितकर हो और कुमार्ग (जीवोके लिए अहितकर मार्ग) का निषेध करने वाला हो ।

स्वामी समन्तभद्रने उक्त परिभाषामे आगमका प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित होना न बतलाकर जो "अदृष्टेष्टविरोधकम्" पद द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित होना बतलाया है, इसका अभिप्राय यह है कि आप्तके वचनरूप सम्पूर्ण द्रव्यात्मक-आगमका हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अल्पज्ञ होनेके कारण समर्थित होना सम्भव नही है, लेकिन अबाधित होना अवश्य सम्भव है—इस तरह आप्तके वचनरूप जो द्रव्यात्मक-आगम हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित हो, वह तो आगम है ही, लेकिन आप्तके वचनरूप जो द्रव्यात्मक-आगम हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित हो, उसे भी आगम जान लेना चाहिए ।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके उक्त सूत्रमें व रत्नकरण्डकश्रावकाचारके उक्त पद्यमे पठित 'आप्त' शब्दसे यह भी निर्णीत होता है कि पुरुष आप्त और अनाप्तके भेदसे दो प्रकारके होते है । उनमेसे आप्तके वचन व उसकी अंगुलि आदिके संकेत ही आगम हैं, अनाप्तके वचन और उसकी अंगुलि आदिके संकेत आगम नही है । अत अनाप्तके वचन व उसकी अंगुलि आदिके संकेतोको आगमाभास जानना चाहिए ।

---

१. आदिशब्देनागुल्यादिसंज्ञापरिग्रह ।

२. परनिरपेक्ष (स्वत सिद्ध) वस्तुस्थितिरूप ।

३. परसापेक्ष वस्तुस्थितिरूप ।

जायगा। आगममे बतलाया गया है कि व्यवहारकालका यह प्रवर्तन एकके बाद एक कल्पके रूपमे चल रहा है। एक कल्पकी मर्यादा बीस कोडाकोडी सागर वर्षोंकी है, जो कि असंख्यात वर्ष प्रमाण होती है।

प्रत्येक कल्प भी अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके रूपमे अपना प्रवर्तन किया करता है। अवसर्पिणी वह है, जिसमे मानव-समाज अपनी उच्चतम स्थितिको एक-एक समयके आधारपर धीरे-धीरे समाप्त कर क्रमश हीनतम स्थिति तक पहुँचता है और उत्सर्पिणी वह है, जिसमे मानव-समाज अपनी हीनतम स्थितिको एक-एक समयके आधारपर ही धीरे-धीरे समाप्त कर क्रमश उच्चतम स्थिति तक पहुंचता है। इस तरह अवसर्पिणीका प्रवर्त्तन सुषमा-सुषम (अत्यन्त सुखमय समय), सुषमा (सुखमय समय), सुषमा-दुःषमा (दुःख मिश्रित सुखमय समय), दु षमा-सुषमा (सुखमिश्रित दु खमय समय), दु षमा (दु खमय समय) और दु षमा-दु षमा (अत्यन्त दु खमय समय)—इन छह भेदोके रूपमे तथा इसके पश्चात् उत्सर्पिणीका प्रवर्तन दु षमा-दु षमा (अत्यन्त दु खमय समय), दु षमा (दु खमय समय), दु षमा-सुषमा (सुखमिश्रित दु खमय समय), सुषमा-दु षमा (दु खमिश्रित सुखमय समय), सुषमा (सुखमय समय) और सुषमा-सुषमा (अत्यन्त सुखमय समय) इन छह भेदोके रूपमे हुआ करता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि क्रमश एकके बाद एकके रूपमे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीका प्रवर्तन होते हुए अनादिसे अबतक अनन्त कल्पकाल व्यतीत हो चुके है तथा आगे इन बीते हुए कल्प-कालोंसे अनन्तगुणे कल्पकाल व्यतीत हो जानेपर भी काल-द्रव्य (निश्चयकाल) का अस्तित्व अनादि-निधन होनेसे कल्पकालोका प्रवर्तन कभी समाप्त नही होगा।

प्रत्येक कल्पकालका अवसर्पिणीके चतुर्थ दु.षमा-सुषमा भागमे और प्रत्येक उत्सर्पिणीके तृतीय दु षमा-सुषमा भागम ससारी जीवोके लिए मोक्ष-प्राप्तिके साधनभूत धर्म-तीर्थका प्रवर्तन करनेवाले चौबीस महापुरुष उत्पन्न होते है, जिन्हे आगममे तीर्थकर' नामसे पुकारा गया है। इस तरह अनादि-कालसे अबतक अनन्त तीर्थकरोकी अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी है और आगे भी सतत तीर्थकरोकी चौबीसियोके होनेका यही क्रम चलता जायगा।

प्रत्येक तीर्थकरने अपने समयमे अपनी दिव्यवाणी (दिव्यध्वनि) द्वारा जो धर्मतीर्थका उपदेश ससारी जीवोको दिया था, उसे आगममे 'देशना' नामसे पुकारा गया है और उस देशनाको तथा उस देशनाके आधारपर गणधर आदि अल्पज्ञ आप्तो द्वारा ग्रथित उपदेशको 'आगम' नामसे पुकारा गया है। इस तरह कहना चाहिए कि आगमका प्रवर्तन अनादि-कालसे चला आ रहा है और अनन्त कालतक चलता जायगा। यही स्थिति आगमाभासके प्रवर्तनकी समझना चाहिए।

वर्तमान आगमकी आधारभूमि

वर्तमानकाल अवसर्पिणीका पचम भाग दु षमाकाल है। इससे २५१४ वर्ष पूर्व इसी अवसर्पिणीका चतुर्थ भाग दु षमा-सुषमा काल चल रहा था। उस समय तक इस अवसर्पिणीमे होनेवाले चौबीस तीर्थकरोमे अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर इस भारतभूमिपर विद्यमान थे, जिन्होने अपनी पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञताके आधारपर जगत्के प्राणियोको हितकारी उपदेश दिया था, जिसे तीर्थकर महावीरकी देशना कहते है। यद्यपि तीर्थकर महावीरकी वाणी आज हमे उपलब्ध नही है, फिर भी उनकी वाणीके आधारपर उत्तरोत्तर अल्पज्ञ आप्तो द्वारा रचित आगम वर्तमानमे भी उपलब्ध है, जिसके द्वारा उनकी (तीर्थकर महावीरकी) देशनाकी झाकी हमे वर्तमानमे भी उपलब्ध हो रही है। इस तरह कहना चाहिए कि वर्तमान आगम यद्यपि अल्पज्ञ आप्तो द्वारा रचा गया है, परन्तु उसकी आधारभूमि तीर्थकर महावीरकी देशना ही है।

अल्पज्ञको आप्त माननेका प्रयोजन

ऊपर कहा गया है कि वर्तमानमे जितने कल्याणकारी उपदेशके रूपमे आगम उपलब्ध है वह साक्षात् तीर्थंकर महावीरकी वाणी नही है, अल्पज्ञ आप्तोकी ही वाणी है। अब यदि अल्पज्ञोको आप्त नही माना जाता तो सर्वज्ञके अभाव रहनेके कारण वर्तमानमे कल्याणकारी मार्ग समाप्त हो जाता। दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञको आप्त न माननेपर लोक-व्यवहारकी चल रही सम्पूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाती। तीसरी बात यह भी है कि सर्वज्ञकी सत्ता और उसके उपदेशकी प्रामाणिकताका निर्णय हम अल्पज्ञ आप्तो द्वारा विरचित आगमके आधारपर ही तो वर्तमानमे कर सकते है। अत अल्पज्ञको आप्त न माननेपर सर्वज्ञकी सत्ता और उसके उपदेशकी प्रामाणिकताके निर्णयके लिए आधार ही समाप्त हो जाता। ये सब कारण हैं जिसकी वजहसे अल्पज्ञको भी आप्त मानना अनिवार्य हो जाता है। इतनी बात अवश्य है और जैसा कि पूर्वमे बतलाया भी जा चुका है कि सर्वज्ञकी आप्तता तो असदिग्ध है क्योंकि वह पूर्ण वीतरागी हो जानेसे सर्वथा अवंचक वृत्ति हो जाता है परन्तु अल्पज्ञकी आप्तताका निर्णय उसमे अवचक वृत्तिका निर्णय हो जानेपर ही हो सकता है ऐसा जानना चाहिए। फिर भी जैसे सर्वज्ञका उपदेश जीवोको हितकर होनेसे आगम कहलाता है वैसे ही अल्पज्ञ आप्तोके उपदेशको भी जीवोको हितकर होनेसे आगम मानना चाहिए।

सर्वज्ञसे अल्पज्ञ-आप्तके उपदेशमे अन्तर भी है

यद्यपि ऊपर यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार सर्वज्ञका उपदेश जीवोको हितकर होनेसे आगम कहलाता है। उसी प्रकार अल्पज्ञ आप्तोके उपदेशको भी जीवोको हितकर होनेसे आगम मानना चाहिए। परन्तु सर्वज्ञसे अल्पज्ञ आप्तके उपदेशमे यह अन्तर भी समझना चाहिए कि जहाँ सर्वज्ञका उपदेश उसकी सर्वज्ञताके कारण हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे नियमत समर्थित या अबाधित होनेसे निर्विवाद रूपमे आगम कहलाता है, वहाँ अल्पज्ञ आप्तका उपदेश उसकी अल्पज्ञताके कारण जबतक हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित या अबाधित रहेगा तभी तक वह आगम कहलावेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अल्पज्ञ आप्तका कोई उपदेश यदि कालान्तरमे प्रत्यक्ष या अनुमानसे बाधित हो जाय, तो उसे तब हमारे लिए आगम न माननेमे कठिनाई नही होना चाहिए।

उदाहरणके रूपमे यह कहा जा सकता है कि चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी जिस रूपमे आगममे बतलायी गई है, उससे विलक्षण ही चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी, उत्कर्षकी एक सीमा तक पहुँचे भौतिक विज्ञानने निर्णीत की है, जिसे अस्वीकार करना सम्भव नही है, इसलिये इस सम्बन्धमे यही मानना श्रेयस्कर है कि वर्तमान आगमके रचयिता आप्त चूँकि अल्पज्ञ थे, अत तथ्यपूर्ण स्थितिका पता लगानेके साधनोकी कमीके कारण जैसा उनकी समझमे आया वैसा प्रतिपादन चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी आदिका उस समय उन्होने वर्णन किया था। इस प्रतिपादनको सर्वज्ञ आप्तके उपदेशके आधारपर किया हुआ नही समझना चाहिए। कारण कि सर्वज्ञके ज्ञानमे असंख्य परमाणुओके पिण्ड-स्वरूप चन्द्रमाका प्रत्येक परमाणु अपनी परिणतियोके साथ पृथक्-पृथक् ही प्रतिभाषित हो रहा है, ऐसी दशामे उसको उन समस्त परमाणुओका चन्द्र पिण्डरूपसे ज्ञान होना सम्भव नही है तथा श्रुतज्ञानका अभाव हो जानेसे श्रुतज्ञानकी विषयभूत चन्द्रमाकी भूमितलसे दूरी आदिका ज्ञान भी सर्वज्ञको सम्भव नही है, अत निर्णीत होता है कि इन बातोका प्रतिपादन सर्वज्ञ द्वारा नही किया गया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि सर्वज्ञ स्वत-सिद्ध, अनादि-निधन और अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताविशिष्ट प्रत्येक वस्तुका दृष्टा और ज्ञाता है तथा प्रत्येक वस्तुकी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय सभी पर्यायों

भी वस्तुरूपसे उसके दर्शन और ज्ञानमे प्रति समय प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित होती है। दो आदि वस्तुओं-का संयोग या बन्ध (मिश्रण) उनके दर्शन और ज्ञानमे प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित नही होता है। इसका कारण यह है कि सयुक्त अथवा बद्ध (मिश्रित) वस्तुओकी अखण्ड एकरूपता कदापि सम्भव नही है क्योंकि एक वस्तुके गुण-धर्म कभी दूसरी वस्तुमे प्रविष्ट नही हो सकते है। जैसे द्वयणुक दो पुद्गल परमाणुओंके बन्ध (मिश्रण) से बना है, परन्तु उसमे प्रत्येक परमाणु एक-दूसरे परमाणुके निमित्तसे अपना-अपना पृथक्-पृथक् ही परिणमन कर रहा है। दोनो परमाणुओका एक परिणमन नही हो रहा है। अत जब दो परमाणु मिलकर एक परिणमन नही कर रहे हैं, तो वे उस मिले हुए रूपमे सर्वज्ञके ज्ञानके विषय कैसे हो सकते है ? अर्थात् नही हो सकते है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञके दर्शन व ज्ञानमे द्वयणुकमे विद्यमान दोनों परमाणु एक-दूसरेके निमित्तसे होनेवाले अपने-अपने परिणमनके साथ तादात्म्यको प्राप्त होते हुए पृथक्-पृथक् ही प्रति-बिम्बित और प्रतिभासित होते है। यही बात द्वयणुकसे ऊपर छोटे-बडे सभी स्कन्धोके विषयमें जान लेना चाहिए।

एक प्रश्न

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब चन्द्रमाकी रचना और उसकी भूमितलसे दूरी आदिका तथ्यात्मक (जैसा है वैसा) ज्ञान अल्पज्ञ आप्तोको नही था तो फिर उन्होंने उनका अतथ्यात्मक (जैसा नही है वैसा) प्रतिपादन क्यो किया है ?

समाधान

उक्त प्रश्नका समाधान यह है कि अल्पज्ञ आप्तोंने चन्द्रमाकी रचना और उसकी भूमितलसे दूरी आदि का अतथ्यात्मक प्रतिपादन किसी कषायवश नही किया है, केवल तथ्यात्मक (जैसा है वैसा) प्रतिपादनके लिए साधनोंकी कमी होनेके कारण ही वह अतथ्यात्मक (जैसा नही है वैसा) प्रतिपादन जैसा समझमे आया वैसा प्रयोजनभूत समझकर किया है। इसलिये इन्हे मिथ्यादृष्टि या मिथ्याज्ञानी नही समझना चाहिए, क्योंकि गोम्मटसार जीवकाण्डमे यह स्पष्ट लिखा है कि सम्यग्दृष्टि जीव तथ्यात्मक वस्तुका श्रद्धान तो करता ही है लेकिन साधनोके अभावमे वह अतथ्यात्मक वस्तुको भी तथ्यात्मक समझकर उसका भी श्रद्धान करता है और ऐसा श्रद्धान करते हुए भी वह मिथ्यादृष्टि न होकर सम्यग्दृष्टि ही बना रहता है। इतना अवश्य है कि यदि उसे कालान्तरमे अपनी भूल किसी प्रकार समझमे आ जावे, फिर भी वह उस अतथ्यात्मक प्रतिपादनको तथ्यात्मक माननेका ही आग्रह करता है तो तब वह सम्यग्दृष्टि न रहकर मिथ्यादृष्टि ही हो जाता है।[1] इस तरह आज भौतिक विज्ञान द्वारा किया गया चन्द्रमाकी रचना व उसकी भूमितलसे दूरी आदिका निर्णय अल्पज्ञ आप्तो द्वारा प्रतिपादित आगमसे विपरीत होते हुए भी यदि तथ्यात्मक हो तो उसे स्वीकार करनेमे हमे संकोच नही होना चाहिए, क्योंकि इससे हमारे आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानको कोई ठेस पहुँचनेकी सम्भावना नही है।

एक बात और है कि अल्पज्ञ आप्तो द्वारा लोक-कल्याण भावनासे जान-बूझकर भी अतथ्यात्मक विवेचन कर दिया जाता है। जैसे भोले बच्चेकी माँ बच्चेकी सुरक्षाकी दृष्टिसे कह दिया करती है कि "बेटा!

---

१ सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयण तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥
सुत्तादो तं सम्म दरसिज्जंत जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥ २८॥

सड़क पर नहीं जाना, क्योंकि वहाँ हौवा बैठा हुआ है" तो यह कथन यद्यपि अतथ्यात्मक है, परन्तु बच्चेके प्रति कल्याण-भावनाकी दृष्टिसे कहा जानेके कारण लोकमें सत्य मान लिया जाता है। इसी तरह गायकी सुरक्षाकी दृष्टिमें अल्पज्ञ आप्तो द्वारा कमाईको गायके जानेका सही मार्ग न बतलाया जाकर जो गलत मार्ग भी बतला दिया जाता है, उसे भी सत्यात्मक लोकमें मान लिया जाता है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें किसी प्राणीके लिए विपत्तिकारक सत्य-वचनको भी असत्य और हितकारक असत्य-वचनको भी सत्य-वचन कहा है।[1] तथा संकल्पी हिंसाके समान पाप होते हुए भी स्वपर-कल्याण-भावनाके आधारपर की गई आरम्भी हिंसाको यथास्थान उचित बतलाया गया है।[2]

आगमके भेद और उनके लक्षण

वर्तमानमें जितना भी आगम है, उसे चार भागोंमें विभक्त किया गया है—१ द्रव्यानुयोग, २. करणानुयोग, ३ चरणानुयोग और ४. प्रथमानुयोग।[3]

१. द्रव्यानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर विश्वकी समस्त वस्तुओंकी स्वतन्त्र सत्ता, उपयोगिता और उनकी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्ययपर्यायोंका निर्धारण किया गया हो। इस अनुयोगसे संसारी प्राणियोंके लिए अपना लक्ष्य निर्धारित करनेमें सहायता मिलती है।

२ करणानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर संसारी प्राणियोंकी पाप, पुण्य और धर्ममय पर्यायों और उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है। इस अनुयोगमें संसारी प्राणियोंको अपनी पाप, पुण्य और धर्ममय पर्यायों व उनके कारणोंका परिज्ञान होता है।

३. चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर संसारी प्राणियोंको पाप, पुण्य और धर्मके मार्गोंका परिज्ञान कराया गया हो। इस अनुयोगसे संसारी प्राणियोंमें अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए पुरुषार्थ जाग्रत होता है।

४ प्रथमानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर तथ्यात्मक (जैसे हो वैसे) और आपेक्षिक सत्यताको प्राप्त प्रयोजनभूत कथानकोंके आधारपर संसारी प्राणियोंको पाप, पुण्य और धर्मके फलोंका दिग्दर्शन कराया गया हो। इस अनुयोगसे प्राणियोंमें अपने लक्ष्यकी पूर्तिके मार्गमें श्रद्धा (रुचि) जागृत होती है।

अध्यात्म (आत्महित) और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ?

श्रद्धेय प० दौलतरामजीने छहढालाके प्रथम पद्यमें अध्यात्म (आत्महित) का अर्थ सुख बतलाया है[4] और प्रथम ढालके प्रथम पद्यमें यह बतलाया है कि संसारके सभी अनन्तानन्त जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं।[5] सुखप्राप्तिका साधन (मार्ग) स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें धर्मको बतलाया है[6]

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५५।

२ वही, श्लोक ५३।

३ प्रथमं चरणं करणं द्रव्यं नमः (शान्तिपाठ) व रत्नकरण्डकश्रावकाचारके पद्य ४३, ४४, ४५, व ४६।

४. आतमको हित है सुख इत्यादि।

५ जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुःखतैं भयवन्त।

६ देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिर्बर्हणम्। संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ २॥

इसलिए कहना चाहिए कि तीर्थंकर महावीरकी देशनाका मुख्य उद्देश्य भी संसारी प्राणियोंको दु:खके जनक अधर्मसे हटाकर सुखके जनक धर्मकी ओर मोड़ना ही था, जिसका प्रतिपादन चरणानुयोगमें किया गया है।

धर्म और अधर्मका स्वरूप

धर्म और अधर्मका स्वरूप बतलानेके पूर्व इस सम्बन्धमें लोककी दृष्टिको भी समझ लेना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार है :—

१. प्राय प्रत्येक मनुष्यकी दृष्टिमें वही सम्प्रदाय श्रेष्ठ है, जिसमें वह पैदा हुआ है, वही दर्शन सत्य है जिसे वह मानता है और उसी क्रियाकाण्डमे स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकता है, जो उसे कुल-परम्परासे प्राप्त है। इसके अतिरिक्त शेष सभी सम्प्रदाय निम्न कोटिके, सभी दर्शन असत्य और सभी क्रियाकाण्ड आडम्बर मात्र है। इस तरह लोकका प्रायः प्रत्येक मनुष्य इसी आधारपर अपनेको धर्मात्मा और दूसरोंको अधर्मात्मा मान रहा है।

२ लोकमे धर्मात्मा व्यक्तिके लिए आस्तिक और अधर्मात्मा व्यक्तिके लिए नास्तिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है और इन दोनो शब्दोकी व्युत्पत्ति व्याकरणमें निम्न प्रकारकी गई है—

अस्ति परलोके मतिर्यस्य स आस्तिक, नास्ति परलोके मतिर्यस्य स नास्तिकः।

अर्थात् जो परलोकको मानता है, वह धर्मात्मा है और जो परलोकको नही मानता है वह अधर्मात्मा है।

वास्तवमे देखा जाय तो धर्म और अधर्मकी ये व्याख्याएँ पूर्णत सही न होकर ये व्याख्याएँ ही पूर्णत: सही है कि लोकमे जिस मार्गपर चलनेसे अभ्युदय (शान्ति) और अन्तमे नि.श्रेयस (मुक्ति अर्थात् आत्म-स्वातन्त्र्य) प्राप्त हो सकता है, वह तो धर्म है और जो लोक तथा परलोक सर्वत्र दु:खका कारण हो वह अधर्म है। तीर्थंकर महावीरकी देशनामे इस बातको लक्ष्यमें रखकर ही चरणानुयोगमे प्रतिपादित धर्मके दश भेद स्वीकार किए गए हैं।

धर्मके दश भेद और उनका स्वरूप

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये धर्मके दश भेद है।[1] जीवनमे क्रमिक-विकासके आधारपर ही तीर्थंकर महावीरकी देशनामें धर्मकी यह दश सख्या निश्चित की गयी है। आगे इनका पृथक्-पृथक् विकास-क्रमके आधारपर स्वरूप-विवेचन किया जा रहा है।

१ क्षमा—कभी क्रोधावेशमे नही आना, कभी किसीको कष्ट नही पहुँचाना, कभी किसीके साथ गाली-गलौज या मार-पीट नही करना तथा सबके साथ सदा सहिष्णुताका बर्ताव करना।

२. मार्दव—कभी अहंकार नही करना, कभी किसीको अपमानित नही करना, सबके साथ सदा समानताका व्यवहार करना और मनमें कभी प्रतिष्ठाकी चाह नही करना।

३ आर्जव—कभी किसीके साथ छल-कपट नही करना, कम देकर अधिक लेने और असली वस्तुमे नकली वस्तु देनेका कभी प्रयत्न नही करना—इस तरह अपने जीवनको लोकका विश्वासपात्र बना लेना।

४. सत्य—सबके साथ सदा सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार करना, हित, मित और प्रिय

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।६।

वचन बोलना, आवश्यकतानुसार दूसरोंकी यथाशक्ति तन, मन और धनसे सहायता करना तथा जीवनके लिए उपयोगी कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, मानवोचित और सांस्कृतिक-संरक्षणका पूरा-पूरा प्रयत्न करना।

५ शौच—अपने जीवनकी सुरक्षा और शान्तिके लिए कुटुम्ब, समाज, नगर, राष्ट्र, विश्व और संस्कृतिके संरक्षणका पूरा-पूरा प्रयत्न करते हुए जीवन-रक्षामें उपयोगी साधनोंके संग्रह और उपयोगका यथोचित ध्यान रखना अर्थात् न तो जीवन-रक्षाके लिए पराश्रित-वृत्ति अपनाना और न उपयोगमें कंजूसी करना।

६. संयम—अपने जीवनकी सुरक्षामें साधन-भूत सामग्रीके संग्रह और उपयोगमें कुटुम्ब, समाज, नगर, राष्ट्र, विश्व और संस्कृतिके संरक्षणका पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए अपनी आवश्यकताओं और अपने अधिकारोंकी सीमा निर्धारित करना और अनावश्यक, प्रकृति-विरुद्ध, संस्कृति-विरुद्ध और लोक-विरुद्ध एवं अधिकारके बाहर उपयोग नहीं करना—इस प्रकार जीवनमें सादगी बना लेना।

७ तप—बाह्य[1] प्रयत्नों द्वारा शरीरको आत्मनिर्भर बनानेका प्रयत्न करना तथा अन्तरंग[2] प्रयत्नों द्वारा आत्माकी स्वालवम्बन शक्तिको जागृत करना—इस प्रकार जीवनकी वर्तमान आवश्यकताओंको कम करना।

८. त्याग—बाह्य-प्रयत्नों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्मनिर्भरता और अन्तरंग-प्रयत्नों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत आत्माकी स्वावलम्बनशक्तिके अनुरूप भोगसामग्रीके संग्रह और उपभोगमें धीरे-धीरे यथायोग्य क्रमसे कमी करते जाना अर्थात् जीवनरक्षाकी साधनभूत उपयोग-सामग्रीका धीरे-धीरे यथाक्रम-से यथाशक्ति त्याग करना।

९. आकिंचन्य—उपर्युक्त दोनों प्रकारके प्रयत्नों द्वारा ही उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्मनिर्भरता व आत्माकी स्वावलम्बन-शक्तिके अनुरूप जीवन-रक्षाकी साधनभूत उपभोग-सामग्रीके अवलम्बनको यथोक्त क्रम से कम करते-करते अन्तमें अकिंचन (नग्न, दिगम्बर-मुद्राधारी बनकर मोक्ष (आत्मस्वातन्त्र्य) की पूर्णता प्राप्त करनेके लिए गृहवासको छोड़कर बनवासी हो जाना।

१० ब्रह्मचर्य—उपर्युक्त दोनों प्रकारके प्रयत्नों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्म-निर्भरता और आत्माकी स्वालम्बन-शक्तिके आधारपर ही भूख, प्यास, रोग आदि शारीरिक बाधाओंके पूर्णतः नष्ट हो जाने (शरीरके पूर्णरूपसे आत्मनिर्भर हो जाने), तथा आत्माकी स्वालम्बन, शक्तिका चरम-विकास हो जानेपर आत्माके स्वभावभूत अनन्त-चतुष्टय (असीमित-दर्शन, असीमित-ज्ञान असीमित-वीर्य और असीमित-सुख) का उद्भव हो जानेके पश्चात् यथासमय आयुकी समाप्ति हो जानेपर संसार (शरीरके साथ आत्माके विद्यमान सम्बन्ध) का सर्वथा विच्छेद हो जाना और तब आगे अनन्तकालतक आत्माका अपने स्वतन्त्र-स्वरूपमें ही रमण करते रहना।

इस प्रकार दश धर्मोंके स्वरूपका आगमके आधारपर जो यह दिग्दर्शन कराया गया है, वह मानव-जीवनमें धर्मके क्रमिक-विकासको बतलाता है तथा इससे तीर्थंकर महावीरकी देशनामें प्रतिपादित धर्मका स्वरूप और उसका प्रारम्भिक व सर्वोत्कृष्ट रूप सरलतासे समझमें आ जाता है।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ९।१९।

२. तत्त्वार्थसूत्र ९।२०।

उक्त दश-धर्मोका वर्गीकरण

पूर्वमे स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचारके अनुसार धर्मको सुखका कारण बतलाया गया है। धर्म और सुखका यह कार्य-कारणभाव दीपक और प्रकाशकी तरह सहभावी है। अर्थात् जिस प्रकार जहाँ दीपक है वहाँ प्रकाश अवश्य रहता है ओर जहाँ दीपक नही है वहाँ प्रकाश भी नही रहता है। इसी प्रकार जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख अवश्य होगा और जहाँ धर्म नही होगा वहाँ सुख भी नही होगा। पूर्वमे धर्मका जो यह स्वरूप निर्धारित किया गया है कि लोकमे जिस मार्गपर चलनेसे अभ्युदय (जीवनमे सुख शान्ति) और अन्तमें निःश्रेयस (मुक्ति अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य) प्राप्त हो सकता है, वह धर्म है। इससे स्पष्ट होता है कि सुख दो प्रकारका होता है—एक तो अभ्युदय अर्थात् लौकिक-जीवनमे शान्तिरूप सुख और दूसरा निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्म-स्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक-सुख। इसके आधारपर धर्म भी मूलतः दो भेदोमे विभक्त हो जाता है—एक तो अभ्युदय अर्थात् लौकिक-जीवनमे शान्तिरूप सुखका कारणभूत लौकिक-धर्म और दूसरा निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्म-स्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक-सुखका कारणभूत पारमार्थिक-धर्म। जो मनुष्य उक्त पारमार्थिक-सुखको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो पारमार्थिक-धर्मकी शरणमे ही जाना होगा, लेकिन जो मनुष्य पारमार्थिक-धर्मकी शरणमे अपनी अशक्तिवश नही जा सकता है, उसे कम-से-कम अपने लौकिक-जीवनमे शान्तिरूप सुखकी प्राप्तिके लिए लौकिक-धर्मकी शरणमे जाना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-का मुख्य कर्तव्य तो पारमार्थिक सुखकी प्राप्तिके लिए पारमार्थिक-धर्मपर चलना ही है, लेकिन जो मनुष्य पारमार्थिक-धर्मपर चलनेमे असमर्थ है, उसे कम-से-कम लौकिक-जीवनमे सुख-शान्तिके उद्देश्यसे लौकिक-धर्म-पर अवश्य ही चलना चाहिए। तीर्थंकर महावीरकी देशनामे जो धर्मके उपर्युक्त दश भेद बतलाए गए है, वे इसी आशयमे बतलाए गए है। इसलिए उन दश धर्मोके दो वर्ग निश्चित हो जाते है—एक तो लौकिक-धर्मोका वर्ग और दूसरा पारमार्थिक-धर्मोका वर्ग। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम ये छह धर्म तो लौकिक-धर्म कहलाने योग्य है और तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये चार धर्म पारमार्थिक-धर्म कहलाने योग्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पारमार्थिक-सुखकी प्राप्तिके लिए जिस प्रकार तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप पारमार्थिक-धर्मोका मानव-जीवनमे महत्त्व है, उसी प्रकार लौकिक-जीवनमे सुख शान्ति प्राप्त करनेके लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच एवं संयम रूप लौकिक-धर्मोका भी मानव-जीवन मे महत्त्व है। यही कारण है कि धर्मके उल्लिखित दोनो वर्गोको मानवकी बहत्तर कलाओमेसे प्रधान कलाके रूपमें स्वीकार किया गया है।[1] धर्मोके क्रमिक-विकासकी दृष्टिसे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि मानव-जीवनमे जब तक उक्त लौकिक धर्मोका समावेश नही होता, तब तक उसमे उक्त पारमार्थिक-धर्मोका विकास होना असम्भव ही है।

मानव जीवनमे लौकिक-धर्मोके महत्त्वका कारण

मानव जीवनमे लौकिक-धर्मोके महत्त्वका उपर्युक्त एक कारण तो यही है कि जब तक मानव-जीवनमें लौकिक धर्मोका समावेश नही होगा, तब तक उसमे पारमार्थिक धर्मोका विकास होना असम्भव है, लेकिन सामान्यरूपसे मानव-जीवनमें लौकिक-धर्मोका महत्त्व इसलिए है कि तीर्थंकरकी देशनाके अनुसार प्रत्येक सप्राण शरीरमे उस शरीरसे अतिरिक्त जीवका अस्तित्व है। इतना ही नही, वह जीव शरीरके साथ इतना घुला-मिला है कि शरीरके अस्तित्वके साथ ही उसका अस्तित्व उसे समझमे आता है, उसके बिना नही। जीवके भीतर जो ज्ञान करनेकी शक्ति है वह भी शरीरको अंगभूत इन्द्रियोके सहयोगके बिना पंगु बनी रहती

---

१. कला बहत्तर पुरुषकी तामे दो सरदार। एक जीवकी जीविका द्वितीय जीव उद्धार॥

है और यह भी बात है कि जीव शरीरके इतना अधीन हो रहा है कि उसके जीवनकी स्थिरता शरीरकी स्वास्थ्यमय स्थिरतापर अवलम्बित है। जीवकी शरीरावलम्बनताका यह भी एक विचित्र किन्तु तथ्यपूर्ण अनुभव है कि यदि शरीरमें शिथिलता आदि विकार पैदा हो जाते हैं, तो जीवको क्लेश होता है और जब उन विकारोंके नाशके अनुकूल साधनोंका सहयोग उसे प्राप्त हो जाता है, तो उन विकारोंका नाश हो जानेपर जीवको सुखानुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वे साधन अपना प्रभाव शरीरपर ही डालते हैं, परन्तु शरीरकी अधीनताके कारण सुखानुभोक्ता जीव होता है।

अब यदि यह कथन मनुष्यके ऊपर लागू किया जाय तो समझमें आ जायगा कि मानव-प्राणी भी शरीरके अधीन है और उसका वह शरीर भी भोजनादिकके अधीन है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य भोजनादिक के उपभोगमें प्रवृत्त होता है। प्रत्येक मनुष्यको भोजनादिककी प्राप्ति अन्य मनुष्योंके सहयोगसे ही होती है। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीरने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (त० सू० ५।२१) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। वैसे तो यह सिद्धान्त सम्पूर्ण संसारी जीवोंपर लागू होता है, परन्तु मानव-जीवनमें तो इसकी वास्तविकता स्पष्ट परिलक्षित होती है और इसीलिए मनुष्यको सामाजिक प्राणी स्वीकार किया गया है जिसका अर्थ यह है, कि प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें सुख प्राप्त करनेके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र और यहाँ तक कि विश्वके सहयोगकी आवश्यकता है। इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें सुख प्राप्त करनेके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र और विश्वके रूपमें मानव-संगठनके छोटे-बड़े जितने रूप हो सकते हैं, उन सबको ठोस रूप देनेका सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसलिए तीर्थंकर महावीरकी देशना में प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम उपदेश दिया गया है कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् दूसरोंका जो आचरण उसको अपने प्रतिकूल जान पड़ता है वैसा आचरण उसको दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिए, इतना ही नहीं, दूसरोंसे अपने प्रति वह जैसा आचरण चाहता है, वैसा ही आचरण उसे दूसरोंके साथ भी करना चाहिए।

वास्तवमें देखा जाय तो वर्तमानमें प्रत्येक मनुष्यकी यह दशा है कि वह दूसरोंको निरपेक्ष भावसे सहयोग देनेके लिए तो तैयार ही नहीं होता है, परन्तु अपनी प्रयोजन-सिद्धिके लिए वह न केवल दूसरोंसे निरपेक्ष-सहयोग प्राप्त करनेका सतत् प्रयत्न करता रहता है, प्रत्युत दूसरोंके साथ संघर्ष करने, उन्हें तिरस्कृत करने और उन्हें धोखेमें डालनेसे भी नहीं चूकता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक मनुष्यका यह स्वभाव बना हुआ है कि वह अपना प्रयोजन रहते अथवा न रहते भी दूसरोंके साथ हमेशा अनुचित आचरण करनेमें आनन्दित होता है।

तीर्थंकर महावीरके समयमें भी मानव-समाजकी यही दशा थी और उन्होंने जाना था कि यह दशा मानव-समाजको विघटित करके प्रत्येक मनुष्यके जीवनको त्रस्त करनेवाली है, अतः उन्होंने अपनी देशनामें यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया था कि मानव-जीवनमें शान्ति-स्थापनाकी रीढ़ सामाजिक संगठनको सुदृढ़ करनेके लिए प्रत्येक मनुष्यको दूसरे मनुष्योंके साथ, प्रत्येक कुटुम्बको दूसरे कुटुम्बोंके साथ, प्रत्येक नगरको अन्य नगरोंके साथ और प्रत्येक राष्ट्रको अन्य सभी राष्ट्रोंके साथ अपना प्रयोजन रहते न रहते कभी भी अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़नेपर सभीको सभीके साथ निरपेक्ष-भावसे सतत् सहायकपनेका आचरण करते रहना चाहिए।

तीर्थंकर महावीरकी देशनामें तो यज्ञोंमें धर्मके नामपर होनेवाले पशुओंकी रक्षाके अनुकूल जनमत जागृत करनेके लिये यहाँ तक कहा गया था कि जब प्राणीमात्र एक-दूसरे प्राणीका उपकारक है तो प्रत्येक

मनुष्यको सतत् "सत्वेषु मैत्री"[1] वाला पाठ याद रखना चाहिए और दूसरोंके साथ पूर्वोक्त स्वरूपवाले क्षमा, मार्दव, आर्जव तथा सत्य धर्मोंके रूपमें ही अपना पवित्र आचरण बना लेना चाहिए। इस तरह प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक राष्ट्र अर्थात् विश्वका मानवमात्र जब तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त स्वरूपवाले क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्ममय अपना जीवन बना ले तभी वह अपनेको मानव या सभ्य कहलानेका अधिकारी हो सकता है तथा विश्वमें सच्ची अहिंसाका प्रसार भी इसी आधारपर हो सकता है और मानव-जीवनमें इसी आधारपर सुख-शान्तिकी लहर दौड सकती है।

ऊपर मनुष्यके सामाजिक-जीवनकी झाँकी बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त मनुष्यको जीवनमें सुखी बननेके लिए अपने व्यक्तिगत जीवनको भी धर्ममय बनाना होगा। अर्थात् लोकमें बहुतसे मनुष्य ऐसे देखनेमें आते हैं कि वे लोभके वशीभूत होकर सम्पत्तिके संग्रहमें जितना आनन्द लेते हैं, उतना आनन्द वे उसके उपभोगमें नही लेते, यहाँ तक कि वे अपने शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें भी बडी कंजूसीके साथ काम लेते है। इसी तरह लोकमें बहुतसे मनुष्य ऐसे देखनेमें आते हैं कि वे लोलुपतावश पाँचो इन्द्रियोंके विषयोका आवश्यकतासे अधिक उपभोग करते हुए भी कभी तृप्त नही होते।

बात तो वास्तवमें यह है कि भोजनादि पदार्थ मनुष्यको मनसन्तुष्टिके लिए बिलकुल उपयोगी नही है, केवल शरीरके लिए ही वे उपयोगी सिद्ध होते है, फिर भी मनुष्य अपने मनके वशीभूत होकर ऐसा भोजन करनेसे नही चूकता, जो उसकी शारीरिक प्रकृतिके बिलकुल प्रतिकूल पडता है। इसी प्रकार वस्त्र या अन्य सभी उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंके विषयमें प्राय प्रत्येक मनुष्य जितनी मानसिक अनुकूलताकी बात सोचता है, उतनी शारीरिक अनुकूलताकी बात वह कभी नही सोचता है। ऐसा करनेसे मनुष्यके जीवनका ह्रास तो होना ही है, परन्तु साथ ही उसके इस आचरणका मानव-समाजके ऊपर भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इसलिए तीर्थंकर महावीरके उपदेशमें यह बात बतलायी गयी है कि भोजन आदि बाह्य-सामग्री जीवनके लिए बडी उपयोगी है। अत मनुष्यको उसका जीवनमें उपयोग तो करना चाहिए, लेकिन उसका दुरुपयोग न हो—इस बातका भी उसे पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। इस तरह प्रत्येक मनुष्यको उपर्युक्त क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्मोंके साथ ही संग्रहवृत्तिको समाप्त करनेवाले शौच-धर्म तथा विलासपूर्ण-वृत्तिको समाप्त करनेवाले संयम-धर्मका अवलम्बन अपने जीवनमें अवश्य लेना चाहिए।

वास्तवमें विचार किया जाय तो लोक-शान्ति और जीवन-शान्तिके लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम ये छह धर्म है। इसलिए जबतक मानव-समाज इनके महत्त्वको न समझकर इनकी उपेक्षा करता रहेगा, तबतक उसके जीवनमें कुटुम्बमें, नगरमें, राष्ट्रमें और विश्वमें कभी भी शान्ति स्थापित नही हो सकती, और न कोई भी मनुष्य पारमार्थिक सुखके कारणभूत पारमार्थिक धर्मकी ओर ही वास्तविक रूपमें अग्रसर हो सकता है।

पारमार्थिक धर्मोंकी मोक्ष-कारणता

ऊपर बतलाया गया है कि पारमार्थिक धर्म निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्मस्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक सुखके कारण है और यह भी बतलाया गया है कि मानव-जीवनमें जबतक उपर्युक्त लौकिक-धर्मोंका समावेश नही होगा, तबतक उसमें उक्त पारमार्थिक धर्मोंका विकास होना सम्भव नही है। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार

---

१. सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥—सामायिक पाठ।

लौकिक धर्मोंपर चलनेवाला मानव जब शारीरिक और ऐहिक दृष्टिसे सुखी हो जाता है, तभी वह यह सोचनेके लिए सक्षम होता है कि मेरा जीवन शरीरके अधीन है और शरीरकी स्थिरताके लिए मुझे भोजन, वस्त्र, आवास और इनकी पूर्तिके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र तथा विश्व तकका सहारा लेना पड़ता है। इस तरह मैं मानव-सगठनके विशाल-जालमें फंसा हुआ हूँ। ऐसी स्थितिमें वह अपना भावी कर्त्तव्यका मार्ग इस प्रकार निश्चित करता है कि जिससे वह शरीर-बन्धनसे छुटकारा पा सके। उसके उस कर्त्तव्य-मार्गको तीर्थंकर महावीरकी देशनामें इस प्रकार बतलाया गया है कि सर्व प्रथम उसे अनशन आदि पूर्वोक्त बाह्य-प्रयत्नों (तपों) द्वारा शरीरमें आत्म-निर्भरता लानेका व प्रायश्चित आदि पूर्वोक्त अन्तरग प्रयत्नो (तपो) द्वारा आत्मामें स्वावलम्बनता लानेका पुरुषार्थ करना चाहिए तथा इन बहिरग और अन्तरग प्रयत्नोंके आधारपर ही जैसी-जैसी शरीरकी आत्मनिर्भरता और आत्माकी स्वावलम्बनता बढ़ती जाए, उसके आधारपर उसे बाह्य-पदार्थोंके अवलम्बनको छोड़ने रूप त्याग धर्म (अणुव्रत आदि श्रावक धर्म) और इसके भी आगे आकिंचन्य धर्म (महाव्रत आदि मुनि-धर्म)को अगीकार कर लेना चाहिए। इस तरहका पुरुषार्थ उसे तबतक करते रहना चाहिए, जब-तक कि उसका शरीर पूर्ण आत्मनिर्भर न हो जावे और आत्मा पूर्ण स्वावलम्बी न बन जावे। शरीरके पूर्ण आत्मनिर्भर हो जाने और आत्माके पूर्ण स्वावलम्बी बन जानेपर वह सर्व प्रथम जीवन्मुक्त परमात्मा बनता है और अन्तमें वह शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेपर ब्रह्मचर्यका धारक (आत्मलीन परमात्मा) बन जाता है अर्थात् नि श्रेयस (मुक्ति या आत्मस्वातन्त्र्य) को प्राप्तकर पारमार्थिक सुखका भोक्ता परमात्मा बन जाता है और वह सर्वदा अजर व अमर बना रहता है।

तीर्थंकर महावीरकी देशनामें उपदिष्ट धर्मतत्त्वका यह विवेचन आगमके एक भेद चरणानुयोगके आधार पर किया गया है, क्योंकि तीर्थंकर महावीरके धर्मतत्त्वको समझनेके लिए हमें चरणानुयोग ही एक सहारा है। चरणानुयोगमें धर्मतत्त्वको समझनेके लिए यद्यपि और भी कई प्रकार बतलाए गए हैं, परन्तु वे सब प्रकार भी धर्मतत्त्वको उपर्युक्त रूपमें ही प्रदर्शित करते हैं। यथा—

१ मिथ्यादर्शन (सुखकी अभिलाषासे दु:खके कारणोमें रुचि रखना), मिथ्याज्ञान (दु:खके कारणोको सुखके कारण समझना) और मिथ्याचारित्र (सुखकी प्राप्तिके लिए दु:खजनक प्रवृत्ति करना) यह सब अधर्म है तथा इनके ठीक विपरीत अर्थात् सम्यग्दर्शन (सुखकी अभिलाषासे सुखके कारणोमें ही रुचि रखना), सम्यग्ज्ञान (सुखके कारणोको ही सुखके कारण समझना) और सम्यक्चारित्र (सुख-प्राप्तिके लिए सुखके ही कारणोंमें प्रवृत्त होना) यह सब धर्म है।[1]

२ हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, भोगविलासमें जीवन बिताना और धनादिकके संग्रहको ही जीवनका लक्ष्य बना लेना—यह सब अधर्म है तथा इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंको जीवनसे निकाल देना—यह सब धर्म है।[2]

३ धार्मिक प्रवृत्ति (धर्मपुरुषार्थ), आर्थिक प्रवृत्ति (अर्थपुरुषार्थ) और भोगमें प्रवृत्ति (कामपुरुषार्थ) इनका जीवनमें समन्वय नहीं करना अधर्म है तथा इनका जीवनमें समन्वय करते हुए अन्तमें केवल धर्मपुरुषार्थ-पर आरूढ हो जाना अर्थात् मोक्षपुरुषार्थमय जीवनको बना लेना धर्म है।

पहले प्रकारमें जो सम्यग्दर्शनादिकको धर्म कहा गया है, उनमेसे सम्यग्दर्शनका अन्तर्भाव तो क्षमा,

---

१ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।

२. हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।—तत्त्वार्थसूत्र ७।१।

मार्दव, सत्य, शौच और संयम धर्मोंमे हो जाता है, क्योंकि कोई भी मनुष्य जबतक अपने जीवनमे इन छह धर्मोंको स्थान नही देगा तब तक सम्यग्दृष्टि त्रिकालमे नही हो सकता है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टिको वृत्ति और प्रवृत्ति कभी अन्याय, अत्याचार आदि उच्छृंखलताओको लिए हुए नही हो सकती है और यदि इस तरहकी वृत्ति और प्रवृत्ति किसीकी होती है तो वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है। इसी प्रकार सम्यक्चारित्रका अन्तर्भाव तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्मोंमे हो जाता है। जैसा कि इन धर्मोंके पूर्वमे किए गए स्वरूप-विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है। सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमे यदि विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि ज्ञान अपने आपमे न तो धर्म है और न अधर्म है, इसलिए जब तक उसका सम्बन्ध मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे रहता है तब तक तो उसका अन्तर्भाव अधर्ममे होता और जब उसका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे हो जाता है तब उसका अन्तर्भाव धर्ममे हो जाता है।

दूसरे प्रकारसे जो अहिंसादिकको धर्म कहा गया है उनका समावेश क्षमा आदि धर्मोंमे निम्न प्रकार होता है।

अहिंसा और अचौर्य ये दोनो निवृत्तिपरक धर्म है क्योकि हिंसासे निवृत्ति अहिंसा, और चोरीसे निवृत्ति अचौर्य कहलाता है। दूसरोके लिए अप्रिय वचन बोलना अथवा बध, बन्धन, ताडन, छेदन, भेदन आदि क्रियाओ द्वारा कष्ट पहुँचाना हिंसा है, अत इन सबसे निवृत्ति स्वरूप अहिंसाका समावेश क्षमाधर्ममे होता है। इसी प्रकार दूसरोकी वस्तुओको उनकी आज्ञाके बिना अपनी बना लेना चोरी है। यह चोरी अपने आपमे अधर्म न होकर दूसरोको कष्ट पहुँचाने रूप हिंसाका कारण होनेसे ही अधम है अत कारणमे कार्यका उपचार होनेसे चोरी भी एक तरहसे हिंसाका ही रूप सिद्ध होती है, इसलिए चोरीसे निवृत्तिरूप अचौर्यधर्मका समावेश भी क्षमाधर्ममे हो जाता है। तथा यदि और बारीकीसे अहिंसा व अचौर्यका विश्लेषण किया जाय तो अहिंसाका समावेश क्षमाके साथ-साथ मार्दवधर्ममे होता है, कारण कि अप्रिय वचन बोलनेका अर्थ दूसरोका तिरस्कार करना ही तो है अत दूसरोका तिरस्कार नही करने रूप अहिंसाका समावेश मार्दवधर्ममे भी हो जाता है। इसी तरह अचौर्य धर्मका समावेश आर्जव धर्ममे करना उचित है कारण कि छल-कपट करना चोरी-का ही रूपान्तर है।

सत्य धर्म प्रवृत्तिपरक धर्म है। लोकमे दूसरोको कष्ट नही पहुँचाना, इनका तिरस्कार नही करना और उन्हे धोखेमे नही डालना—यह तो धर्म है ही, परन्तु अहिंसा और अचौर्य धर्मोंकी सीमा केवल इस तरह-के अधर्मसे निवृत्ति रूपमे ही नही समाप्त हो जाती है प्रत्युत इस निवृत्तिके आगे इनका कुछ प्रवृत्तिपरक रूप भी होता है। इसलिये उक्त प्रकारसे अहिंसा और अचौर्यवृत्तिके धारक मनुष्यको तीर्थंकर महावीरकी देशनामे यह उपदेश दिया गया है कि दूसरोके प्रति हित-मित-प्रिय वचन बोलो, उनके साथ सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार भी करो तथा आवश्यकतानुसार उन्हे यथाशक्ति तन-मन-धनसे सहायता भी पहुँचाओ। इस तरह अहिंसादि पाँच धर्मोंमे समाविष्ट सत्य-धर्म और क्षमा आदि दश धर्मोंमे समाविष्ट सत्य धर्म—इन दोनोमे कोई अन्तर नही रह जाता है। ये अहिंसा आदि तीन धर्म और क्षमा आदि चार धर्म लौकिक धर्म ही है, कारण कि ये सभी मानव-संगठनकी स्थिरताके आधार हैं।

'कुशील' शब्दका लौकिक दृष्टिसे अर्थ होता है—पर वस्तुओका जीवनको हानिकर एव अमर्यादित होकर उपभोग करना, इसलिए इससे विपरीत अर्थके बोधक ब्रह्मचर्य धर्मका समावेश संयम धर्ममें होता है। परन्तु यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिए कि पारमार्थिक धर्मकी ओर बढने वाले मनुष्यके लिए जो उपभोग आज आवश्यक है, कल वह उसे अनावश्यक भी हो जाता है। अतः ऐसे अनावश्यक उपभोगका त्याग

धर्ममें और अन्ततोगत्वा आकिंचन्य धर्ममे समाविष्ट होता है। लोकमे और धर्मग्रन्थोमे ब्रह्मचर्य धर्मका जो पर-पुरुष या पर-स्त्री-रमणका त्याग अथवा आगे स्वपुरुष और स्वस्त्री-रमणका भी त्याग अर्थ किया जाता है वह यद्यपि मिथ्या नही हैं परन्तु वह अपूर्ण अवश्य हैं, कारण कि मनके वशीभूत होकर अथवा शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए जितना पर वस्तुओंका अवलम्बन जीवनमे लिया जाता है वह सभी कुशीलमें अन्तर्भूत होता है। इसलिए परवस्तुओके अवलम्बनका मानसिक दृष्टिसे तो सर्वथा त्याग हो जाना तथा शारीरिक दृष्टिसे शक्तिके अनुसार त्यागकर देना ही ब्रह्मचर्य धर्म है।

'अपरिग्रह' शब्दके दो अर्थ होते है—एक तो ईषत् परिग्रह (सग्रह) अर्थात् परिग्रह (सग्रह) का परिमाण और दूसरा परिग्रह (सग्रह) का त्याग। इस तरह परिग्रहके परिमाण रूप अपरिग्रह धर्मका समावेश लौकिक धर्म होनेके कारण शौच धर्ममें और परिग्रहके त्याग रूप अपरिग्रह धर्मका समावेश पारमार्थिक धर्मके रूपमे त्याग तथा आकिंचन्य धर्ममे होता है। और अन्तमे उपभोग तथा परिग्रह दोनोका त्याग दशम ब्रह्मचर्यमे अन्तर्भूत होता है।

यदि उक्त पाँचों पापोके उद्भवके सम्बन्धमे विचार किया जाय तो समझमे आ जायगा कि उनमेसे कुशील (भोग) और परिग्रह (संग्रह) ये दोनो पाप जीवकी लोभ-वृत्तिके परिणाम हैं तथा हिंसा, झूठ और चोरी क्रोध, मान और माया-वृत्तिके परिणाम हैं लेकिन इनमे यदि परस्परके कार्यकारणभावपर विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि कुशील (भोग) और परिग्रह (संग्रह) ये दोनो पाप ही सब पापोके मूल है क्योकि प्राय. देखनेमे आता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्तिके लिये ही हिंसा करनेमे उद्यत होता है, झूठ बोलता है और चोरी भी करता है। इस तरह कहना चाहिए कि सबसे भयकर पाप जीवकी स्वार्थ-वृत्तिका परिचायक लोभ ही है। यही कारण है कि चरणानुयोग-आगममे "लोभ पापका बाप बखाना" के रूपमे लोभको पापका बाप कहकर पुकारा गया है।

इस प्रकार धर्मकी चाहे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप व्याख्या की जावे, चाहे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप व्याख्या की जावे अथवा चाहे क्षमा आदि उपर्युक्त दश धर्म रूप व्याख्या की जावे—इन सभी व्याख्याओंमे भावका कुछ भी अन्तर नही है। अर्थात् ये सभी प्रकारके धर्म पूर्वोक्त प्रकार धर्मके लौकिक और पारमार्थिक दोनो वर्गोंमे समाविष्ट होते हैं। इसी धर्मका एक प्रकार जो धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंके समन्वयरूप त्रिवर्गके रूपमें व केवल धर्म पुरुषार्थकी स्थितिको प्राप्त मोक्ष-पुरुषार्थरूप अपवर्गके रूपमे बतलाया गया है वह भी त्रिवर्गके रूपमें तो धर्मके लौकिक वर्गमे और अपवर्गके रूपमे धर्मके पारमार्थिक वर्गमे समाविष्ट होता है।

यहाँपर मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि तीर्थंकर महावीरकी देशनाके अनुसार धर्मका सद्भाव सम्यग्दर्शनके रूपमे देवगति और नरक गतिमे तथा सम्यग्दर्शन और यत्किंचित् चारित्रके रूपमे तिर्यग्गतिमे भी स्वीकार किया गया है। परन्तु लोकमें और धर्मग्रन्थो (चरणानुयोग) मे धर्मके विषयमे जो कुछ सोचा और कहा गया है, उसमे मुख्यतया मानव-जीवनको ही लक्ष्य बनाया गया है। वास्तवमे बात भी ऐसी है कि धर्मका जो महत्त्व मानव-जीवनमे प्रस्फुटित होता है वह नारकियों, देवो और तिर्यंचोंके जीवनमे प्रस्फुटित नही होता, क्योकि संसारमे मानव ही ऐसा प्राणी है जिसे अपना जीवन सुखमय बनानेके लिए मानव-समाजको लेकर सगठनात्मक प्रयत्न करना और अपने जीवनके अधिकारोंकी सीमा निर्धारित करना अनिवार्य होता है तथा मोक्षकी प्राप्ति भी मानव-जीवनसे ही होती हैं।

इस तरह चरणानुयोगकी दृष्टिसे निर्णीत किया जाय, तो तीर्थंकर महावीरका तत्त्वज्ञान धर्मतत्त्वके

रूपमें ही निर्णीत होता है और यह धर्मतत्त्व जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है—लौकिक तथा पारमार्थिक सुखमें कारणभूत लौकिक और पारमार्थिक धर्मोके रूपमे विभक्त हो जाता है। इस धर्मतत्त्वको इसी रूपमे यदि प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक देश—इस तरह सम्पूर्ण विश्वकी मानव जाति हृदयंगम करके अपने जीवनका अग बना ले तो एक तो विश्वमे सर्वत्र संघर्षकी स्थिति समाप्त होकर परस्पर प्रेमभावका सचार हो सकता है; दूसरे प्रत्येक मानव अन्तमे अपने महान लक्ष्य पूर्वोक्त पारमार्थिक सुखकी प्राप्तिकी ओर भी यथाशक्ति अग्रसर हो सकता है।

यद्यपि तीर्थंकर महावीरका तत्त्वज्ञान द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे छह प्रकारके द्रव्योके रूपमे व करणानुयोग की दृष्टिसे सप्ततत्त्व या नवतत्त्वोके रूपमे भी निर्णीत होता है। साथ ही इस सभी प्रकारके तत्त्वज्ञानकी व्यवस्थाके लिए तीर्थंकर महावीरकी देशनामे कर्मवाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद तथा प्रमाणवाद और नयवादकी भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। परन्तु जिस प्रकार ऊपर धर्मतत्त्वकी विस्तारसे विवेचना की गयी है, उसी प्रकार इन सबकी विवेचना भी विस्तारकी अपेक्षा रखती है, जो कि स्वतन्त्र रूपसे अनेक लेखोका रूप धारण करने योग्य है। अत आवश्यक होकरके भी इन सबपर लेखमे विचार नही किया गया है। ये सभी विषय आवश्यक इसलिए है कि इनका सम्बन्ध मनुष्यके पारमार्थिक जीवनसे तो है ही, परन्तु उसके लौकिक जीवनसे भी कम सम्बन्ध नहीं है क्योकि विचारकर देखा जावे तो समझमे आ सकता है कि प्रत्येक मनुष्य का एक क्षण भी इनके बिना नही व्यतीत होता अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमे इनका उपयोग तो करता ही रहता है, परन्तु इनके स्वरूपसे वह हमेशा अनभिज्ञ बना हुआ है।

जैन दर्शनमें आत्मतत्त्व

१. जैन दर्शनके प्रकार

प्रचलित दर्शनोमेसे किसी-किसी दर्शनको तो केवल भौतिक दर्शन और किसी-किसी दर्शनको केवल आध्यात्मिक दर्शन कहा जा सकता है। परन्तु जैन-दर्शनके भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार स्वीकार किये गये है।

विश्वको सम्पूर्ण वस्तुओंके अस्तित्व, स्वरूप, भेद-प्रभेद और विविध प्रकारसे होनेवाले उनके परिणमनका विवेचन करना 'भौतिक दर्शन' और आत्माके उत्थान, पतन तथा इनके कारणोका विवेचन करना 'आध्यात्मिक दर्शन' है। साथ ही भौतिक दर्शनको 'द्रव्यानुयोग' और आध्यात्मिक दर्शनको 'करणानुयोग' भी कह सकते हैं। इस तरह भौतिकवाद, विज्ञान (साइन्स) और द्रव्यानुयोग ये सब भौतिक दर्शनके और अध्यात्मवाद तथा करणानुयोग ये दोनो आध्यात्मिक दर्शनके नाम है।

२ जैन संस्कृतिमे विश्वकी मान्यता

'विश्व'[१] शब्दको कोष-ग्रन्थोमे सर्वार्थवाची शब्द स्वीकार किया गया है, अत विश्व शब्दके अर्थमे उन सब पदार्थोका समावेश हो जाता है जिनका अस्तित्व संभव है। इस तरह विश्वको यद्यपि अनन्त[२] पदार्थोका समुदाय कह सकते है। परन्तु जैन-संस्कृतिमे इन सम्पूर्ण अनन्त पदार्थोको निम्नलिखित छ[३] वर्गोमे समाविष्ट कर दिया गया है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

इनमेंसे जीवोंकी[४] संख्या अनन्त है, पुद्गल भी अनन्त हैं, धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनो एक-एक हैं तथा काल असख्यात हैं। इन सबको जैन-संस्कृतिमे अलग-अलग द्रव्य[५] नामसे पुकारा गया है क्योंकि एक प्रदेशको[६] आदि लेकर दो आदि संख्यात और अनन्त प्रदेशोके रूपमे अलग-अलग इनके आकार पाये जाते है या बतलाये गये है।

जिस द्रव्यका सिर्फ एक ही प्रदेश होता है उसे एकप्रदेशी[७] और जिस द्रव्यके दो आदि संख्यात, असख्यात या अनन्त प्रदेश होते है उसे बहुप्रदेशी[८] द्रव्य माना गया है। इस तरह प्रत्येक जीव तथा धर्म और

---

१. अमरकोष–तृतीयकाण्ड-विशेष्यनिघ्नवर्ग, श्लोक–६४, ६५।

२ 'अनन्त' शब्द जैन-संस्कृतिमे सख्याविशेषका नाम है। इसी तरह आगे आनेवाले संख्यात और असंख्यात शब्दोको भी संख्याविशेषवाची ही माना गया है। जैन-संस्कृतिमे सख्यातके सख्यात, असख्यातके असख्यात और अनन्तके अनन्त-भेद स्वीकार किये गये है। (इनका विस्तृत विवरण-तत्त्वार्थराजवार्तिक—१–३८।

३. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला', जीवाश्च और कालश्च।–त० अ० ५–१, ३ व ३८।

४. यद्यपि विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोकी संख्या ही अनन्त है लेकिन अनन्त सख्याके अनन्त-भेद होनेके कारण जीवोंकी संख्या भी अनन्त है और पुद्गलोकी सख्या भी अनन्त है। इसमे कोई विरोध नही आता।

५. द्रव्याणि।–तत्त्वार्थसूत्र ५।२।

६ द्रव्यसंग्रह गा० २७।

७. एकप्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात् खण्डवर्जित' स यथा।–पंचाध्यायी, १–३६।

८. पंचाध्यायी, १।२५।

अधर्म ये तीनों द्रव्य समान असंख्यात[1] प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी द्रव्य हैं, अनन्त[2] पुद्गल सिर्फ एक प्रदेश वाले द्रव्य हैं और अनन्त[3] पुद्गल दो आदि संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी द्रव्य माने गये हैं। इसी प्रकार आकाशको अनन्त[4] प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी और संपूर्णकालोंमेंसे प्रत्येक कालको एकप्रदेशी[5] द्रव्य स्वीकार किया गया है। यहाँपर इतना ध्यान और रखना चाहिये कि संपूर्ण काल द्रव्य असंख्यात[6] होकर भी उतने है, जितने कि प्रत्येक जीवके या धर्म अथवा अधर्म द्रव्यके प्रदेश बतलाये गये हैं।

इन सब द्रव्योंमेंसे आकाश द्रव्य सबसे बड़ा और सब ओरसे असीमित विस्तार वाला द्रव्य है तथा बाकीके सब द्रव्य इसी आकाशके अन्दर ठीक मध्यमें सीमित होकर रह रहे हैं।[7] इस प्रकार जितने आकाशके अन्दर उक्त सब द्रव्य याने सब जीव, सब पुद्गल, धर्म, अधर्म, और सब काल विद्यमान है उतने आकाशको लोकाकाश और शेष समस्त सीमारहित आकाशको अलोकाकाश नामसे पुकारा गया है।[8] यहाँपर भी इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि आकाशके जितने हिस्सेमें धर्म द्रव्य अथवा अधर्म द्रव्यका जिस रूपमें वास है वह हिस्सा उसी रूपमें लोकाकाशका समझना चाहिये। इस तरह लोकाकाशके भी धर्म अथवा अधर्म द्रव्यके समान ही असख्यात प्रदेश सिद्ध होते हैं तथा धर्म और अधर्म द्रव्योंकी ही तरह सम्पूर्ण अनन्त जीव द्रव्यों, सपूर्ण अनन्त पुद्गल द्रव्यो तथा सपूर्ण असख्यात काल द्रव्योका निवास भी आकाशके इसी हिस्सेमें समझना चाहिये।

धर्म और अधर्म इन दोनो द्रव्योंकी बनावटके बारेमे जैन-ग्रन्थोमे लिखा है कि जब कोई मनुष्य यथासंभव अपने दोनो पैर फैलाकर ओर दोनो हाथोको अपनी कमरपर रखकर सीधा खडा हो जावे, तो जो आकृति उस मनुष्यकी होती है वही आकृति धर्म और अधर्म दोनों द्रव्योकी समझनी चाहिये। यही कारण है कि लोकको पुरुषके आकार वाला बतलाया गया है ओर जिसे--ब्रह्माण्ड या परब्रह्म भी इसीलिए कहा गया है।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यकी बनावटके[9] बारेमे जैन-ग्रन्थोंमें यह भी लिखा है कि इन दोनों द्रव्योकी ऊँचाई चौदह रज्जु, मोटाई उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु ओर चौडाई पूर्व-पश्चिम नीचे बिलकुल अन्तमे सात रज्जु, ऊपर क्रमसे घटते घटते मध्यमे सात रज्जुकी ऊँचाईपर एक रज्जु, फिर इसके ऊपर क्रमसे बढते-बढते साढे तीन रज्जुकी ऊँचाईपर पाँच रज्जु तथा उसके भी ऊपर क्रमसे घटते-घटते बिल्कुल अन्तमें साढे तीन रज्जुकी ऊँचाईपर एक रज्जु है।

---

१ असंख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्।--तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ८।

२. नाणो।--तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ११। यहाँपर 'अणु' एकप्रदेशी द्रव्य है' यही अर्थ ग्रहण किया गया है।--पंचाध्यायी, अध्याय १ श्लोक ३६।

३. संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।--तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १०।
यहाँपर 'च' शब्दसे अनन्तसंख्याका भी ग्रहण किया गया है।

४. आकाशस्यानन्ता।--तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ९।

५. देखिये, टिप्पणी नं० ७ "कालाणुर्वा यत स्वत सिद्ध."।

६ ते कालाणू असखदव्वाणि।--द्रव्यसंग्रह गा० २२।

७ लोकाकाशेऽवगाहः।--तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १२।

८. पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक २२।

९. तत्त्वार्थराजवार्तिक--५--३८।

जब कि धर्म और अधर्म द्रव्योंकी बनावटके समान ही लोकाकाशकी बनावट है तो इसका मतलब यही है कि लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर धर्म और अधर्म द्रव्योंका एक-एक प्रदेश साथ-साथ बैठा हुआ है[1] तथा इसी तरह लोकाकाशके उस-उस प्रदेशपर धर्म और अधर्म द्रव्योंके प्रदेशोंके साथ-साथ एक-एक काल द्रव्य भी विराजमान[2] है। इस तरह सम्पूर्ण असंख्यात काल द्रव्य मिलकर धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा लोकाकाशकी बनावटका रूप धारण किये हुए है।

इन चारों द्रव्योंमेंसे आकाश द्रव्य तो असीमित अर्थात् व्यापक होनेकी वजहसे निष्क्रिय है ही, साथ ही शेष धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और संपूर्ण काल द्रव्योंको भी जैन-संस्कृतिमें निष्क्रिय[3] द्रव्य ही स्वीकार किया गया है अर्थात् इन चारों प्रकारके द्रव्योंमें हलन-चलनरूप क्रियाका सर्वथा अभाव है। ये चारों ही प्रकारके द्रव्य अकंप स्थिर होकर ही अनादिकालसे रहते आये हैं और रहते रहेंगे। इनके अतिरिक्त सभी जीव और सभी पुद्गल द्रव्योंको क्रियावान् द्रव्य स्वीकार किया गया है और यह भी एक कारण है कि जिस प्रकार धर्मादि द्रव्योंकी बनावट नियत है उस प्रकार जीव द्रव्यों और पुद्गल द्रव्योंकी बनावट नियत नहीं है। प्रत्येक जीव यद्यपि धर्म या अधर्म अथवा लोकाकाशके बराबर प्रदेशों वाला है और कभी-कभी कोई जीव अपने प्रदेशोंको फैलाकर समस्त[4] लोकमें व्याप्त होता हुआ उस आकृतिको प्राप्त भी कर लेता है। परन्तु समान्यरूपसे प्रत्येक जीव छोटे-बड़े जिस शरीरमें जिस समय पहुँच गया हो, उस समय वह उसीकी आकृति[5] का रूप धारण कर लेता है। पुद्गल द्रव्योंमें यद्यपि एकप्रदेशी सभी पुद्गल क्रियावान् होते हुए भी नियत आकारवाले हैं। परन्तु अवगाहन-शक्तिकी विविधताके कारण दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाले पुद्गलोंके आकार नियत नहीं है। यही वजह है कि दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाले अनन्तों पुद्गल लोकाकाशके एक-एक प्रदेशमें भी समाकर रह रहे हैं। यद्यपि सामान्यरूपसे प्रत्येक जीवका निवास लोकाकाशके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें माना गया है, परन्तु परस्पर अव्याघातशक्तिके प्रभावसे एक ही क्षेत्रमें अनन्तों जीव भी एक साथ रहते हुए माने गये हैं।

प्रत्येक जीव चेतना-लक्षण वाला है और चेतनारहित होनेके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और संपूर्ण काल द्रव्योंको अजीव माना गया है। इसी प्रकार सभी पुद्गल रूपी[6] माने गये हैं अर्थात् सभी पुद्गलोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं। यही कारण है कि इनका ज्ञान हमें स्पर्शन, रसना, नासिका और नेत्र इन बाह्य इन्द्रियोंसे यथायोग्य होता रहता है।[7] पुद्गलोंके अतिरिक्त सब जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और सब काल इन सभीको अरूपी स्वीकार किया गया है अर्थात् इनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चारों पुद्गल गुणोंका सर्वथा अभाव पाया जाता है। अत: इनका ज्ञान भी हमें उक्त बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं

---

१. धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।—तत्त्वार्थसूत्र, ५।१२।

२. द्रव्यसंग्रह, गाथा २२।

३. निष्क्रियाणि च ।—तत्त्वार्थ० ५।७।

४. केवलसमुद्घातके भेद लोकपूरण समुद्घातमें यह स्थिति होती है।

५. द्रव्यसंग्रह, गाथा १०।

६. रूपिणः पुद्गलाः । स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।—तत्त्वा० ५।२३।

७ इन्द्रियग्राह्य होनेसे ही पुद्गल द्रव्योंको मूर्त और इन्द्रियग्राह्य न होनेसे ही शेष सब द्रव्योंको अमूर्त भी माना गया है।
—पंचाध्यायी २, श्लोक ७।

होता है। यद्यपि अनन्तो पुद्गलोका ज्ञान भी हमें बाह्य इन्द्रियोसे नही होता है। परन्तु इससे उन पुद्गलोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका अभाव नही मान लेना चाहिये। कारण कि इन गुणोका सद्भाव रहते हुए भी इन पुद्गलोमें पायी जानेवाली सूक्ष्मता ही उक्त बाह्य इन्द्रियोसे उनका ज्ञान होनेमे बाधक है। इसी तरह शब्दका ज्ञान जो हमे बाह्य कर्ण इन्द्रियसे होता है। इससे शब्दकी पौद्गलिकता सिद्ध होती है।

जीवद्रव्योके अस्तित्व और स्वरूपके विषयमें इस लेखमे आगे विचार किया जायगा। शेष द्रव्योके अस्तित्व और स्वरूपके विषयमें यहाँपर विचार किया जा रहा है—

जिनका स्वभाव पूरण और गलनका है[1] अर्थात् जो परस्पर संयुक्त होते-होते बडे-से-बडे पिण्डका रूप धारण कर ले और पिण्डमेंसे वियुक्त होते-होते अन्तमे अलग-अलग एक-एक प्रदेशका रूप धारण कर ले, उन्हे पुद्गल कहा गया है। ऐसे स्थूल पुद्गल तो हमें सतत दृष्टिगोचर हो ही रहे है लेकिन सूक्ष्मसे सूक्ष्म और छोटे-से-छोटे पुद्गलोंके अस्तित्वको भी—जिनका ज्ञान हमे अपनी बाह्य इन्द्रियोसे नही हो पाता है—विज्ञानने सिद्ध करके दिखला दिया है। अणुबम और उद्जनबम आदि पदार्थ उन सूक्ष्म और छोटे पुद्गलोंकी अचिन्त्य शक्तिका दिग्दर्शन करा रहे है।

सब जीव और सब पुद्गल क्रियाशील द्रव्य है वे जिस समय क्रिया करते है और जबतक करते है तब तक उनकी उस क्रियामें सहायता करना धर्म द्रव्यका स्वभाव है।[2] इसी तरह कोई जीव या कोई पुद्गल क्रिया करते-करते जिस समय रुक जाता है और जब तक रुका रहता है उस समय और तबतक उसके ठहरनेमे सहायता करना अधर्म द्रव्यका स्वभाव है[3]। यद्यपि जैन-संस्कृतिमे जीव और पुद्गल द्रव्योको स्वत क्रियाशील माना गया है परन्तु यदि अधर्म द्रव्य नही होता तो गतिमान् जीव और पुद्गल द्रव्योके स्थिर होनेका आधार ही समाप्त हो जाता और यदि धर्म द्रव्य नही होता तो ठहरे हुए जीव और पुद्गलोके गतिमान होनेका भी आधार समाप्त हो जाता, अत जैन-संस्कृतिमे धर्म और अधर्म दोनो द्रव्योका अस्तित्व स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि मुक्त जीव स्वभावत ऊर्ध्व गमन करते हुए भी ऊपर लोकके अग्रभागमें जैन मान्यताके अनुसार इसलिये रुक जाते है क्योकि उसके आगे धर्म द्रव्यका अभाव है[4]।

सब द्रव्योको उनकी निज-निज आकृतिके अनुसार अपने उदरमें समा लेना आकाश द्रव्यका स्वभाव है।[5] प्रत्येक द्रव्यका लम्बे, चौडे, मोटे, गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि विभिन्न रूपोमे दृष्टिगोचर होता हुआ छोटा-बडा आकार हमें आकाशके अस्तित्वको माननेके लिये बाध्य करता है। अन्यथा आकाश द्रव्यके अभावमे सब वस्तुओंके परस्पर विलक्षण आकारोका दिखाई देना असंभव हो जाता।

इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव, प्रत्येक पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश स्वत परिणमनशील द्रव्य माने गये है परन्तु इन सबके उस परिणमनका क्षणिक विभाजन करना काल द्रव्यका स्वभाव है[6] अर्थात् द्रव्यो

---

१. अणव स्कन्धाश्च। भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते। भेदादणु —त० सू० ५–२५, २६, २७।

२ द्रव्यसग्रह, गा० १७।

३. द्रव्यसंग्रह, गा० १८।

४ धर्मास्तिकायाभावात्।–तत्त्वा०–१।९।

५. आकाशस्यावगाह।–तत्त्वा०–५।१८।

६ वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य। तत्त्वा०–५।२२।

की अवस्थाओंमें जो भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ताका व्यवहार होता रहता है अथवा कालिक दृष्टिसे जो नये-पुराने या छोटे-बड़ेका व्यवहार वस्तुओंमें होता है उससे कालद्रव्योंके अस्तित्वको स्वीकार किया गया है।

आकाश द्रव्य एक क्यों है? इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि वह सीमारहित द्रव्य है। 'सीमा-रहित' शब्दका व्यापकरूप अर्थ होता है और 'सीमासहित' शब्दका व्याप्य रूप अर्थ होता है तथा व्यापक द्रव्य वही होगा जिससे बड़ा कोई दूसरा द्रव्य न हो। अतः आकाश द्रव्यका एकत्व अपरिहार्य है और इस आकाशकी बदौलत ही दूसरे द्रव्योंको ससीम कहा जा सकता है।

धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको भी जैन-संस्कृतिमें जो एक-एक ही माना गया है उसका कारण यह है कि लोकाकाशमें विद्यमान समस्त जीव द्रव्यों और समस्त पुद्गल द्रव्योंको गमनमें सहायक होना धर्म द्रव्यका काम है और ठहरनेमें सहायक होना अधर्म द्रव्यका काम है। ये दोनों काम एक, अखण्ड और लोकाकाश भरमें व्याप्त धर्म द्रव्य और इसी प्रकार एक, अखण्ड और लोकाकाश भरमें व्याप्त अधर्म द्रव्यके माननेसे सिद्ध हो जाते हैं। अतः इन दोनों द्रव्योंको भी अनेक स्वीकार न करके एक-एक[1] ही स्वीकार किया गया है।

काल द्रव्यको अणुरूप (एकप्रदेशी) स्वीकार करके उसके लोकाकाशके प्रमाण विस्तारमें रहनेवाले असंख्यात भेद स्वीकार करनेका अभिप्राय यह है कि काल द्रव्यसे संयुक्त होनेपर ही वस्तुमें वर्तमानताका व्यवहार होता है और यदि किसी वस्तुका काल द्रव्यसे संयोग था, अब नहीं है तो उस वस्तुमें भूतताका तथा यदि किसी वस्तुका आगे काल द्रव्यसे संयोग होने वाला हो, तो उस वस्तुमें भविष्यत्ताका व्यवहार होता है। अब यदि काल द्रव्यको धर्म और अधर्म द्रव्योंकी तरह एक अखण्ड लोकाकाश भरमें व्याप्त स्वीकार कर लेते हैं तो किसी भी वस्तुका कभी भी काल द्रव्यसे असंयोग नहीं रहेगा। ऐसी हालतमें प्रत्येक वस्तु सतत और सर्वत्र विद्यमान ही मानी जायगी, उसमें भूतता और भविष्यत्ताका व्यवहार करना असंगत हो जायगा। लेकिन जब काल द्रव्योंको अणु रूपसे अनेक मान लेते हैं तो जितने काल द्रव्योंमें जिस वस्तुका जब संयोग रहता है उन काल द्रव्योंकी अपेक्षा उस वस्तुमें तब वर्तमानताका व्यवहार होता है और जिनसे पहले संयोग रहा है किन्तु अब नहीं है उनकी अपेक्षा भूतताका तथा जिनसे आगे संयोग होने वाला है उनकी अपेक्षा भविष्यत्ताका व्यवहार भी उस वस्तुमें सामञ्जस हो जाता है। जैसे एक ही व्यक्तिमें एक ही साथ हम 'यहाँ है, पहले वहाँ था, और आगे वहाँ होगा' इस तरह वर्तमानता, भूतता और भविष्यत्ताका जो व्यवहार किया करते हैं उसका कारण यही है कि जहाँके काल द्रव्योंसे पहले उसका संयोग था उनसे अब नहीं है। अब दूसरे काल द्रव्योंसे उसका संयोग हो रहा है और आगे दूसरे काल द्रव्योंसे उसका संयोग होनेकी संभावना है। इस प्रकार जब दूसरे अणुरूप भी द्रव्य पाये जाते हैं और उनमें भी भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ताका व्यवहार होता है तो इनमें यह व्यवहार कालको अणुरूप स्वीकार किये बिना संभव नहीं हो सकता है अतः काल द्रव्यको अणुरूप मानकर उसके लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात भेद मानना ही युक्तिसंगत है।

इस तरहसे अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल इन सब द्रव्योंके समुदायका नाम ही विश्व है क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु विश्वमें शेष नहीं रह जाती

---

१. आ आकाशादेकद्रव्याणि।—तत्त्वा० ५।६। इस सूत्रमें धर्म, अधर्म और आकाशको एक-एक ही द्रव्य बतलाया गया है।

है। ये सब द्रव्य यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र रूपमे अनादि है और अनिधन[1] हैं फिर भी अपनी-अपनी अवस्थाओके रूपमे परिणमनशील[2] है। अत सब वस्तुओंके परिणमनशील होनेकी वजहसे ही विश्वको 'जगत्' नामसे भी पुकारा जाता है क्योंकि 'गच्छतीति जगत्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'जगत' शब्दका अर्थ 'परिणमनशील वस्तु' स्वीकार करनेका ही यहाँपर अभिप्राय है।

३. द्रव्यानुयोगमें आत्म-तत्त्व

ऊपर जैन-संस्कृतिके अनुसार जितना कुछ विश्वके पदार्थोंका विवेचन किया गया है वह सब विवेचन द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे ही किया गया है। उस विवेचनमे विश्वके पदार्थोंमें जीवद्रव्यको भी स्थान दिया गया है इसलिए यहाँपर द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे उसका भी विवेचन किया जाता है।

जीव द्रव्यका ही अपर नाम 'आत्मा' है। इसका ग्रहण स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन बाह्य इन्द्रियोंसे न हो सकनेके कारण "विश्वके पदार्थोंमें आत्माको स्थान दिया जा सकता है या नही ?"— यह प्रश्न प्रत्येक दर्शनकारके समक्ष विचारणीय रहा है। इतना होते हुए भी हम देखते है किसी भी दर्शनकार ने स्वकीय (स्वय अपने) अस्तित्वको अमान्य करनेकी कोशिश नही की है। वह ऐसी कोशिश करता भी कैसे ? क्योंकि उसका उस समयका संवेदन (अनुभवन) उसे यह बतलाता रहा कि वह स्वय दर्शनकी रचना कर रहा है इसलिए वह यह कैसे कह सकता था कि "उसका निजी कोई अस्तित्व ही नही है ?"

यही बात सभी सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोके विषयमे कही जा सकती है अर्थात् कोई भी सज्ञी पचन्द्रिय जीव अपने अस्तित्वके विषयमे सदेहशील नही रहते है। कारण कि जिस समय जो कुछ वे करते है उस समय उन्हे इस बातका अनुभवन होता ही है कि वे अमुक कार्य कर रहे हैं। इस तरह जब वे अपने अनुभवके आधारपर स्वय अपनेको यथासमय उस कार्यका कर्ता स्वीकार करते रहते है तो फिर वे ऐसा सदेह कैसे कर सकते है कि 'उनका अपना कोई अस्तित्व है या नही ?' यहाँपर अपने अस्तित्वका अर्थ ही आत्माका अस्तित्व है।

प्रश्न—यद्यपि यह बात ठीक है कि सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोको सतत स्वसंवेदन (अपना अनुभवन) होता रहता है परन्तु शरीरके अन्दर व्याप्त होकर रहने वाला 'मै' शरीरसे पृथक् तत्त्व हूँ—ऐसा संवेदन तो किसीको भी नही होता है, अत यह बात कैसे मानी जा सकती है कि 'शरीरसे अतिरिक्त 'आत्मा' नामका कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ?'

उत्तर—जितने भी निष्प्राण घटादि पदार्थ है उनकी अपेक्षा प्राणवाले शरीरोंमे निम्नलिखित तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं—

(१) निष्प्राण घटादि पदार्थ दूसरे पदार्थोंका ज्ञान नही कर सकते है जब कि प्राणवान् शरीरोंमें दूसरे पदार्थोंका ज्ञान करनेको सामर्थ्य पायी जाती है।

(२) निष्प्राण घटादि पदार्थ स्वत कोई प्रयत्न नही कर सकते है जबकि प्राणवान् शरीरोको हम स्वत प्रयत्न करते देखते है।

(३) निष्प्राण घटादि पदार्थोंमे 'मैं सुखी हूँ या दु खी हूँ, मैं गरीब हूँ या अमीर हूं, मै छोटा हूँ या

१. पंचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक ८।

२. वही, अध्याय १, श्लोक ८९।

बडा हूँ' आदि रूपसे स्वसंवेदन[१] नही पाया जाता है जबकि प्राणवाले शरीरोंमें उक्त प्रकारसे स्वसंवेदन करने की यथायोग्य योग्यता पायी जाती है।

इस प्रकार निष्प्राण घटादि पदार्थों और प्राणवान् शरीरोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शकी समानता पायी जाने पर भी प्राणवान् शरीरोमें जो परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसंवेदकत्व ये तीनों विशेषताएँ पायी जाती हैं उनका जब घटादि निष्प्राण पदार्थोंमें सर्वथा अभाव विद्यमान है तो इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणवान् शरीरोके अन्दर किसी ऐसे स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता स्वीकृत करनी चाहिये, जिसकी वजहसे ही उनमे (प्राणवान् शरीरोंमें) उक्त प्रकारसे ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये विशेषताएँ पायी जाती हैं तथा जिसके अभावके कारण ही निष्प्राण घटादि पदार्थोंमें उक्त विशेषताओका भी अभाव पाया जाता है। इस पदार्थको ही 'आत्मा' नामसे पुकारा गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीनो ही प्राणशब्दके वाच्य है। ये जिस शरीरमे जब तक विद्यमान रहते है तब तक वह शरीर प्राणवान् कहलाता है तथा जब जिस शरीरमे इनका सर्वथा अभाव हो जाता है तब वह शरीर तथा जिन पदार्थोंमे इनका सतत अभाव पाया जाता है वे घटादि पदार्थ निष्प्राण कहे जाते हैं। हम देखते हैं कि शरीरके विद्यमान रहते हुए भी कालान्तरमे उक्त प्राणोका उसमे सर्वथा अभाव भी हो जाता है अत. यह मानना अयुक्त नही है कि वे शरीरमे ही उत्पन्न होने वाले धर्म नही हैं तो जिसके वे धर्म हो सकते हैं, वही 'आत्मा' है।

प्रश्न—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों भूतों (पदार्थों) के योगसे ही शरीरका निर्माण होता है और तब उस शरीरमे उक्त प्राणोंका प्रादुर्भाव अनायास ही (अपने आप हो) हो जाता है। यही कारण है कि शरीरमे पृथ्वीतत्त्वका मिश्रण होनेसे हमें नासिका द्वारा गन्धका ज्ञान होता रहता है क्योंकि गन्ध पृथ्वीका गुण है, जल तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमें रसना द्वारा रसका ज्ञान होता रहता है क्योंकि रस जलका गुण है, अग्नि तत्त्वका मिश्रण होनेसे नेत्रो द्वारा हमे रूपका ज्ञान होता रहता है क्योकि रूप अग्निका गुण है, वायु तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमें स्पर्शन द्वारा स्पर्शका ज्ञान होता रहता है, क्योकि स्पर्श वायुका गुण है और इसी तरह आकाश तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमे कर्णो द्वारा शब्दका ग्रहण होता रहता है क्योकि शब्द आकाशका गुण है ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि 'शब्द आकाशका गुण है' इस सिद्धान्तको शब्दके लिए कैद कर लेने वाले विज्ञानने आज समाप्त कर दिया है। इसलिए शब्दका ज्ञान करनेके लिये शरीरमे अब आकाश तत्त्वके मिश्रणको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नही रह गयी है। इसके अलावा शब्दमे जब घात-प्रतिघात रूप शक्ति पायी जाती है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि शब्द आकाशका या दूसरी किसी वस्तुका गुण न होकर अपने आपमे द्रव्य रूप ही हो सकता है क्योंकि गुणमे वह शक्ति नही पायी जाती है कि वह स्वयं असहाय होकर किसी दूसरे पदार्थका घात कर सके अथवा दूसरे पदार्थसे उसका घात हो सके। और यदि शब्दको कदाचित् गुण भी मान लिया जाय, तो फिर आकाशके अलावा वह किसका गुण हो सकता है ? इसका निर्णय करना असम्भव है। यही कारण है कि जैन-संस्कृतिमे शब्द[२]को रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला पुद्गल द्रव्य माना गया है तथा जैन-संस्कृतिकी यह मान्यता तो है ही, कि पृथ्वी, जल, अग्नि,

१. पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक ५।
२. वही, अध्याय २, श्लोक ९७।

और वायु इन चारों ही तत्त्वोमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों ही गुण विद्यमान रहते है। अत रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेके लिये शरीरमे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन पृथक्-पृथक् चारो तत्त्वोंके संयोगकी आवश्यकता नही रह जाती है। इतना अवश्य है कि शरीर भी घटादि पदार्थोंकी तरह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला एक पुद्‌गल पिण्ड है और जिस प्रकार घटादि पदार्थ निष्प्राण है उसी प्रकार यह शरीर भी अपने आपमे निष्प्राण ही है; फिर भी जब तक इस शरीरके अन्दर आत्मा विराजमान रहती है तब तक वह प्राणवान् कहा जाता है।

दूसरी बात यह है कि उक्त प्राणरूप शक्ति जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन सबमें या इनमेसे किसी एकमे स्वतन्त्र रूपसे नही पायी जाती है तो इन सबके मिश्रणसे वह शरीरमे कैसे पैदा हो जायेगी ? यह बात समझके बाहरकी है। कारण कि स्वभावरूपसे अविद्यमान शक्तिका किसी भी वस्तुमे दूसरी वस्तुओ द्वारा उत्पाद किया जाना असम्भव है[1]। इसका मतलब यह है कि जो वस्तु स्वभावसे निष्प्राण है उसे लाख प्रयत्न करनेपर भी प्राणवान् नही बनाया जा सकता है। अत शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंको कोई कदाचित् अलग-अलग पृथ्वी आदि तत्त्वोके रूपमे मान भी ले, तो भी उस शरीरमे स्वभाव रूपसे असम्भव स्वरूप प्राणशक्तिका प्रादुर्भाव कैसे माना जा सकता है ? इसलिए विश्वके समस्त पदार्थोंमे चित् (प्राणवान्) और अचित् (निष्प्राण इन दो परस्पर-विरोधी पदार्थोंका मूलत भेद स्वीकार करना आवश्यक है।

तीसरी बात यह है कि कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द-श्रवणकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमे रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द-श्रवण और रूप-ग्रहणकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमे रस और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द, रूप और गन्धका ज्ञान करनेकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है। इसी प्रकार कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमे केवल स्पर्श-ग्रहणकी ही योग्यता पायी जाती है, शेष योग्यताओका उनमे सर्वथा अभाव रहता है। ऐसी हालतमे इन शरीरोमे यथासम्भव पचभूतोके मिश्रणका अभाव मानना अनिवार्य होगा। अब यदि पचभूतोंके मिश्रणमे शरीरमे चित्‌शक्तिका उत्पाद स्वीकार किया जाय तो उक्त शरीरोमे चित्‌शक्तिका उत्पाद असम्भव हो जाएगा, लेकिन उनमे भी चित्-शक्तिका सद्‌भाव तो पाया ही जाता है।

चौथी बात यह है कि सम्पूर्ण शरीरमे एक ही चित्‌शक्तिका उत्पाद होता है या शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोमे अलग-अलग चित्‌शक्ति उत्पन्न होती है ? यदि सम्पूर्ण शरीरमे एक ही चित्‌शक्तिका उत्पाद होता है तो नियत रूपमे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शका ही, रसना इन्द्रिय द्वारा रसका ही, नासिका द्वारा गन्धका ही, नेत्रो द्वारा रूपका ही और कर्णों द्वारा शब्दका ही ग्रहण नही होना चाहिये। यदि शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोमे पृथक्-पृथक् चित्‌शक्ति उत्पन्न होती है तो हमे स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण द्वारा एक ही साथ स्पर्श, रस, गन्ध रूप और शब्दका ग्रहण होते रहना चाहिये। लेकिन यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जिस कालमे हमे किसी एक इन्द्रियसे ज्ञान हो रहा हो, उस कालमे दूसरी सब इन्द्रियोंसे ज्ञान नही होता है।

यदि कहा जाय कि चित्‌शक्तिका धारक स्वतन्त्र आत्माका अस्तित्व शरीरमे माननेसे नियत अंगों

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६।

द्वारा ही रूपादिकका ज्ञान क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि भिन्न-भिन्न अंगोंके सहयोगसे ही आत्मा अपनी स्वाभाविक चित्शक्तिके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान किया करती है। अत सब अंगोंके विद्यमान रहते हुए भी, जिस ज्ञानके अनुकूल अगका सहयोग जिस कालमे आत्माको प्राप्त होगा, उस कालमे वही ज्ञान उस आत्माको होगा, अन्य नही।

पाँचवी बात यह है कि पंचभूतोंके संयोगसे शरीरमे चित्शक्तिका उत्पाद मान लेने पर भी हमारा काम नही चल सकता है। कारण कि ज्ञानकी मात्रा रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्दका ज्ञान कर लेनेमे ही समाप्त नही हो जाती है। इन ज्ञानोंके अतिरिक्त स्मरण, एकत्व और सादृश्य आदिके ग्रहणस्वरूप प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द-श्रवण अथवा अंगुल्यादिके संकेतोके अनन्तर होनेवाला अर्थज्ञानरूप आगम-ज्ञान (शब्दज्ञान) ये ज्ञान भी तो हमे सतत होते रहते है। इस तरह इन ज्ञानोके लिये किन्ही दूसरे भूतोंका संयोग शरीरमें मानना आवश्यक होगा।

यदि कहा जाय कि ये सब प्रकारके ज्ञान हमे मन द्वारा हुआ करते हैं तो यहाँ पर प्रश्न होता है कि शरीर तथा मन दोनोंमे एक ही चित्शक्तिका उत्पाद होता है या दोनोमे अलग-अलग चित्शक्तियाँ एक साथ उत्पन्न हो जाया करती है अथवा मनमें स्वभाव रूपसे चित्शक्ति विद्यमान रहती है ?

पहले पक्षको स्वीकार करने पर मनसे ही स्मरणादि ज्ञान हो सकते है, स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियोसे नही, इसका नियमन करनेवाला कौन होगा ?

दूसरे पक्षको स्वीकार करने पर जिस कालमे हमे स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियोसे ज्ञान होता रहता है उसी कालमे हमे स्मरणादि ज्ञान होनेका भी प्रसग उपस्थित हो जायगा, जो कि अनुभवके विरुद्ध है।

तीसरा पक्ष स्वीकार करने पर "पंचभूतोके सम्मिश्रणसे शरीरमे चित्शक्तिका प्रादुर्भाव होता है" इस सिद्धान्तका व्याघात हो जायगा।

यदि कहा जाय कि स्वाभाविक चित्शक्ति-विशिष्ट मनको स्वीकार करनेसे यदि काम चल सकता है तो आत्मतत्त्वको माननेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैन-संस्कृतिमे एक तो मनको भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण विशिष्ट पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया गया है, दूसरे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और बहुतसे पंचेन्द्रिय जीव ऐसे पाये जाते है जिनके मन नही होता है। इसलिए चित्शक्ति विशिष्ट-आत्मतत्त्वको स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। यह आत्मा ही मन तथा स्पर्शन आदि इन्द्रियोके सहयोगसे पदार्थोंका यथायोग्य विविध प्रकारसे ज्ञान किया करता है।

तात्पर्य यह है कि जितने संज्ञी[1] पचेन्द्रिय जीव है उनके मन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँचो इन्द्रियाँ विद्यमान रहती है। अत. वे इन सबकी सहायतासे पदार्थोंका ज्ञान किया करते हैं। जो जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय होते है उनके मन नही होता, उनमे केवल उक्त पाँचों इन्द्रियाँ ही विद्यमान रहती हैं। अत' वे मनके बिना इन पाँचो इन्द्रियोसे ही पदार्थोंका ज्ञान किया करते है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवोंके मन और कर्ण इन्द्रियके अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ, त्रीन्द्रिय जीवोके मन तथा कर्ण और नेत्र इन्द्रियोके अतिरिक्त तीन इन्द्रियाँ, द्वीन्द्रिय जीवोके मन तथा कर्ण, नेत्र और नासिका इन्द्रियोंको छोडकर शेष दो इन्द्रियाँ पायी जाती हैं एवं एकेन्द्रिय जीवोके मन तथा कर्ण, नेत्र, नासिका और रसनाके अतिरिक्त सिर्फ एक स्पर्शन

---

१. संज्ञिन समनस्का ।—तत्त्वार्थसूत्र २-२४।

इन्द्रिय ही पायी जाती है । इसलिए ये सब[1] जीव उन-उन इन्द्रियोंसे ही पदार्थोंका ज्ञानका किया करते है ।

इस प्रकार प्राणवान् शरीरोमे जो "परपदार्थज्ञातृत्व' शक्ति पायी जाती है वह शरीरका धर्म न होकर आत्माका ही धर्म है—ऐसा मानना ही उचित है । इसी तरह प्राणवान् शरीरोमे जो "प्रयत्नकर्तृत्व" शक्ति पायी जाती है उसे भी शरीरका धर्म न मानकर आत्माका ही धर्म मानना चाहिये, क्योकि परपदार्थ-ज्ञातृत्व शक्ति जिन युक्तियों द्वारा शरीरकी न होकर आत्माकी ही सिद्ध होती है उन्ही युक्तियों द्वारा प्रयत्न-कर्तृत्व शक्ति भी शरीरकी न होकर आत्माकी ही सिद्ध होती है ।

प्रयत्नके जैन-सस्कृतिमे तीन[2] भेद माने गये है—मानसिक, वाचनिक और कायिक । इनमेसे मानसिक प्रयत्नको वहाँ पर 'मनोयोग', वाचनिक प्रयत्नोको 'वचनयोग' और कायिक प्रयत्नको 'काययोग' कहकर पुकारा गया है । मनका अवलम्बन लेकर होनेवाले आत्माके प्रयत्नोको मनोयोग कहते है, इसी प्रकार वचन (मुख) और कायका अवलम्बन लेकर होनेवाले आत्माके उस-उस यत्नको क्रमसे वचनयोग और काययोग कहते है ।

वचनोको बोलनेका नाम ही आत्माका वाचनिक यत्न है और शरीरके द्वारा प्रतिक्षण हमारी जो प्रशस्त और अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ हुआ करती है उन्हीको आत्माका कायिक प्रयत्न समझना चाहिये । मानसिक प्रयत्नका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

मन पौद्गलिक पदार्थ है, यह बात तो हम पहले ही बतला चुके है । वह मन दो प्रकारका है—एक मस्तिष्क और दूसरा हृदय । जितना भी स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द (श्रुत) रूप ज्ञान हमे होता रहता है वह सब मस्तिष्ककी सहायतासे ही हुआ करता है अत ये सब ज्ञान आत्माके मानसिक ज्ञान कहलाते है । इसी प्रकार जितने भी क्रोध, अहकार, माया, लोभ, लिप्सा, भय, संक्लेश आदि मोहके विकार तथा यथायोग्य मोह का अभाव होने पर क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, तुष्टि, निर्भयता, विशुद्धि आदि गुण हमारे अन्दर प्राप्त होत रहते है वे सब हृदयकी सहायतासे ही हुआ करते है अत उन सबको भी आत्माके मानसिक प्रयत्नोमे अन्तर्भूत करना चाहिये ।

इन तीनो प्रकारके प्रयत्नोमेसे सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोके तो ये सब प्रयत्न हुआ करते है, लेकिन असंज्ञी पचेन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय जीवोके सिर्फ वाचनिक और कायिक प्रयत्न ही हुआ करते है क्योकि मनका अभाव होनेसे इन जीवोके मानसिक प्रयत्नका अभाव पाया जाता है । इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोके सिर्फ कायिक प्रयत्न ही होता है, कारण कि उनमे मनके साथ-साथ बोलनेका साधनभूत मुखका भी अभाव पाया जाता है अतः उनके मानसिक और वाचनिक प्रयत्न नहीं होते है । द्वीन्द्रियादिक जीव चलते-फिरते रहते है इसलिए उनके शारीरिक प्रयत्नोंका तो पता हमे चलता ही रहा है, परन्तु एकेन्द्रिय वृक्षादिक जीवोकी जो शरीर-वृद्धि देखनेमे आती है वह उनके शारीरिक प्रयत्नका ही परिणाम है ।

यह बात हम पहले बतला आये है कि जितने भी सज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी है, उन्हे पदार्थोंका ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय स्वसंवेदन अर्थात् 'अपने अस्तित्वका भान' सतत होता रहता है, परन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियोके अतिरिक्त जितने भी असज्ञी पचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय प्राणी है उन्हे मनका अभाव होनेके कारण यद्यपि पदार्थ-ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोकी

---

१ वनस्पत्यन्तानामेकम् । कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।—त० सू० २-२२, २३ ।

२. कायवाङ्मनःकर्मयोग. ।—तत्त्वार्थसूत्र ६-१ ।

तरह अपने अस्तित्वका भान नही होता है अर्थात् 'मैं अमुक पदार्थका ज्ञान कर रहा हूँ' अथवा 'मै अमुक कार्य कर रहा हूँ' ऐसा ज्ञान उन्हें नही हो पाता है, फिर भी उस समय उनकी उस ज्ञान-रूप या उस क्रिया-रूप परिणति होते रहनेके कारण उस परिणतिका अनुभवन तो उन्हे होता ही है अन्यथा चीटी आदि प्राणियोको अग्नि आदि के समीप पहुँचने पर यदि उष्णताजन्य दुख-रूप सामान्य अनुभवन न हो तो फिर वहाँसे वे हटते क्यो हैं ? इसी प्रकार शक्कर आदि अनुकूल पदार्थोंके पास पहुँचनेपर यदि मिठासजन्य सुख-रूप सामान्य अनुभवन उन्हे न हो, तो वे उन पदार्थोंसे चिपटते क्यो है ? इससे यह बात सिद्ध होती है कि एकेन्द्रिय आदि सभी प्राणियोंको यथायोग्य स्वसवेदन होता ही है । एक बात और है कि जैन-दर्शनमे प्रत्येक ज्ञानको स्वपर-प्रकाशक स्वीकार किया गया है, अत एकेन्द्रिय आदि सब प्राणियो के स्वसंवेदकत्वका सद्भाव अनिवार्य रूपसे मानना पड़ता है । इतनी विशेषता है कि एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोका जो स्वसवेदन होता है उसे जैन-संस्कृतिमे 'कर्मफलचेतना'[1] नामसे पुकारा गया है, क्योकि इन जीवोमे मनका अभाव होनेके कारण कर्ता, कर्म, क्रिया और फलका विश्लेषण करनेकी असामर्थ्य पायी जाती है तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके स्वसंवेदनकी 'कर्मचेतना'[2] नामसे पुकारा गया है; कारण कि मनका सद्भाव होनेसे इन जीवोमें कर्ता आदिके विश्लेषण करनेकी सामर्थ्य विद्यमान रहती है । इन्ही संज्ञी पचेन्द्रिय जीवोमेसे ही जो जीव हित और अहितकी पहचान करके पदार्थज्ञान अथवा प्रवृत्ति करने लग जात है उनके स्वसवेदनको 'ज्ञानचेतना'[3] के नामसे पुकारा जाने लगता है ।

प्राणवान् शरीरोंमें होने वाला यह स्वसंवेदन भी पूर्वोक्त युक्तियोके आधारपर शरीरका धर्म न होकर आत्माका ही धर्म सिद्ध होता है अत जैन-संस्कृतिमे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालकी तरह आत्माका भी परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसंवेदकत्वके आधारपर स्वत.सिद्ध और अनादिनिधन अस्तित्व माना गया है ।

४. करणानुयोगमे आत्मतत्व

हम देखते है कि प्रत्येक प्राणी दु खसे डरता है और सुखकी चाह करता है, यही कारण है कि जिन दार्शनिकोंने आत्माके अस्तित्वको नही माना है उन्होने भी "महाजनो येन गत स पन्था" के रूपमें जगतको सुखके साधनोंपर चलनेका उपदेश दिया है । तात्पर्य यह है कि आत्माके अस्तित्वके बारे मे विवाद हो सकता है, परन्तु जगत्के प्रत्येक प्राणीको जो सुख और दु खका अनुभवन होता रहता है इस अनुभवनके आधारपर अपनी सुखी और दु खी हालतोकी सत्ता माननेमे कौन इन्कार कर सकता है ? इसलिए ऊपर जो द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा स्वतःसिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्तिविशिष्ट आत्मतत्त्वके अस्तित्वकी सिद्धि करनेका प्रयत्न किया गया है, इतने मात्रसे ही हमारे प्रयत्नकी इतिश्री नहीं हो जाती है । इसके साथ ही आखिर हमे यह भी तो सोचना है कि सुखी और दु खी हालतें आत्माकी ही मानी जायँ या आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध ही नही है ? और यदि इन हालतोको आत्माकी हालतें मान लिया जाय तो क्या ये हालतें आत्माकी स्वत-सिद्ध हालतें है या किन्ही दूसरे कारणोंसे ही आत्मामे इनकी उत्पत्ति हो रही है ? और क्या ये नष्ट भी की जा सकती हैं ?

---

१. पंचाध्यायी (उत्तरार्ध) २-१९५ ।
२. पंचाध्यायी (पूर्वार्ध) २-१९५ ।
३. वही, २-१९४, २१७ ।

वेदान्त दर्शनमें इन सुख और दुःख रूप हालतोको आत्माकी हालतें नही स्वीकार किया गया है। वहाँपर तो आत्माको सत्, चित् और आनन्दमय ही स्वीकार किया गया है। सुख और दुःख 'जिनका अनुभवन हमे सतत होता रहता है' ये सब मायाके रूप है और मिथ्या है तथा इनसे आत्मा सदा अलिप्त रहती है।

जैन-संस्कृतिमे भी आत्माको वेदान्त दर्शनकी तरह यद्यपि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ही माना गया है परन्तु सतत प्रत्येक प्राणीके अनुभवनमे आने वाले सुख और दुःखको जहाँ वेदान्त दर्शनमे मिथ्या स्वीकार किया गया है वहाँ जैन-संस्कृतिमे इन्हे स्वसवेदन प्रत्यक्ष होनेकी वजहसे उसी आनन्दगुणके विकारी परिणमन माना गया है। जैन-दर्शनमे वेदान्त दर्शनकी अपेक्षा आत्मतत्त्वकी मान्यताके विषयमे यही विशेषता है। जैन-संस्कृतिमे आत्माके आनन्दगुणके इन विकारी परिणमनोंका कारण आत्माका पुद्गलद्रव्यके साथ अनादि[1] सयोग माना गया है और साथ ही वहाँ यह भी स्वीकार किया गया है कि पुद्गल द्रव्यके संयोगको आत्मासे सर्वथा पृथक् किया जा सकता है तथा आनन्द गुणके सुख-दुःख रूप विकारोको भी नष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्वको स्वीकार करनेके साथ-साथ जैन-संस्कृतिमे यह भी स्वीकार किया गया है कि आत्मा अनादिकालसे परतन्त्र (बद्ध) है परन्तु स्वतन्त्र (बन्धरहित) हो सकता है, अशुद्ध है परन्तु शुद्ध हो सकता है, मोह, राग तथा द्वेष आदि विकारोका घर है, परन्तु ये सब विकार दूर किये जा सकते है, ससारी है परन्तु मुक्त हो सकता है, अल्पज्ञानी है परन्तु पूर्ण ज्ञानी हो सकता है। इसी तरह कभी तिर्यक्, कभी मनुष्य, कभी देव और कभी नारकी होता रहता है, परन्तु इन सबसे परे सिद्ध भी हो सकता है।

यदि जैन-संस्कृतिके द्रव्यानुयोग पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम होता है कि आत्माकी बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदिके विषयमे कुछ भी जानकारी देनेमें वह सर्वथा असमर्थ है। कारण कि द्रव्यानुयोग सिर्फ द्रव्यके स्वरूपका ही प्रतिपादन कर सकता है और द्रव्यका स्वरूप वही हो सकता है जो उस द्रव्यमे सतत विद्यमान रहता हो अत आत्माका स्वरूप स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्तिको ही माना जा सकता है। आनन्द यद्यपि मुक्तात्माओमे तो पाया जाता है, परन्तु ससारी आत्माओमे उसका अभाव रहता है। इसी तरह बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि कोई भी अवस्था आत्माका स्वरूप नही हो सकती है। कारण, यदि ससारी आत्मामे अबद्धता और शुद्धि आदि अवस्थाओका अभाव है तो मुक्तात्माओमें बद्धता और अशुद्धि आदि अवस्थाओका अभाव रहता है। इसलिए द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे जब आत्मतत्त्वके बारेमे कुछ निर्णय करना हो तो वह निर्णय यही होगा कि आत्मा स्वत सिद्ध और अनादि-निधन चित्शक्तिस्वरूपका धारक है। कारण कि यह स्वरूप ससारी और मुक्त दोनो प्रकारकी सब आत्माओमे पाया जाता है। यही कारण है कि द्रव्यानुयोगकी दृष्टिमे एकेन्द्रियसे लेकर समस्त ससारी आत्मायें और समस्त मुक्त आत्मायें समान मानी गयी है, क्योंकि समस्त संसारी और सिद्ध आत्माएँ सब काल और सब अवस्थाओंमें स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-रूप स्वरूपसे रहित नही होती है। लेकिन इसका यह भी मतलब नही कि यदि द्रव्यानुयोग आत्माकी बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदिका प्रतिपादन नही करता है तो ये सब आत्माकी अवस्थाएँ नही मानी जा सकती है, कारण कि यदि इन्हें आत्माकी अवस्थाएँ नही माना जायगा तो संसारी और मुक्तका भेद समाप्त हो जायगा और इस तरह

---

१. पंचाध्यायी, २-३५।

मुक्तिके लिये प्रयास करना भी निरर्थक हो जायगा। इसी तरह संसारी जीवोमे भी 'अमुक जीव एकेन्द्रिय है और अमुक जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अथवा संज्ञी पंचेन्द्रिय है, अमुक जीव मनुष्य है अथवा तिर्यक्, नारकी या देव है' इत्यादि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमगम्य विविधताओका लोप कर देना होगा। हमारे अन्दर कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया, कभी लोभ, कभी मोह, कभी काम, कभी सुख और कभी दु ख आदि अवस्थाओंका जो सतत अनुभवन होता रहता है इसे गलत मानना होगा तथा अच्छे-बुरे कामोका जीवनमे भेद करना असंभव हो जायगा या तो अहिंसा आदि पुण्य कर्मोंकी कीमत घट जायगी अथवा हिंसा आदि पापकर्मोंकी कीमत बढ जायगी। इस प्रकार समस्त संसारका प्रतीतिसिद्धि और प्रमाण-सिद्ध जितना भेद है सब निरर्थक हो जायगा। इसलिए जैन-सस्कृतिमे द्रव्यानुयोगके साथ करणानुयोगको भी स्थान दिया गया है और जिस प्रकार द्रव्यानुयोग वस्तु-स्वरूपका प्रतिपादक होनेके कारण आत्माके स्वरूपका प्रतिपादक है उसी प्रकार करणानुयोगको आत्माकी उक्त प्रकारको विविध अवस्थाओका प्रतिपादक माना गया है। अर्थात् आत्माकी बद्धता आदिका ज्ञान हमें द्रव्यानुयोगसे भले ही न हो परन्तु करणानुयोगसे तो हमे उनका ज्ञान होता ही है अत जिस प्रकार द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे आत्मा स्वत सिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्ति-विशिष्ट है उसी प्रकार वह करणानुयोगकी दृष्टिसे बद्ध और अबद्ध आदि अवस्थाओको भी धारण किये हुए है। लेकिन ये बद्ध आदि दशाएँ आत्माकी स्वत सिद्ध अवस्थाएँ नही है, बल्कि उपादान और सहकारी कारणोंके सहयोगसे ही इनकी निष्पत्ति आत्मामे हुआ करती है। आत्मा अनादि कालसे परावलम्बी बनी हुई है इसलिए अनादि कालसे ही बद्ध आदि अवस्थाओको प्राप्त किये हुए है और जब तक परावलम्बी बनी रहेगी तब तक इन्ही अवस्थाओंको धारण करती रहेगी, क्योकि बद्ध आदि अवस्थाओका परावलम्बन कारण है। लेकिन जिस दिन आत्मा इस परावलम्बनवृत्तिको छोडनेमे समर्थ हो जायेगी उस दिन वह बन्ध-रहित अवस्थाको प्राप्त कर लेगी। अत हमे आत्माकी स्वावलम्बन-शक्तिमे जागरणके लिए अनुकूल कर्त्तव्य-पथको अपनानेकी आवश्यकता है, जिसका उपदेश हमे जैन-सस्कृतिके चरणानुयोगसे मिलता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक सस्कृतिके हमे दो रूप देखनेको मिलते है—एक दर्शन और दूसरा आचार। जैन-सस्कृतिके भी यही दो रूप बतलाये गये है। इनमेसे पहले रूप यानी दर्शनको पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्यानुयोग और करणानुयोग इन दो भागोंमे विभक्त कर दिया गया है और दूसरे रूप याने आचारका प्रतिपादन चरणानुयोगमे किया गया है।

इस प्रकार चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्वका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुए उनकी अनादि-कालीन पौद्गलिक परतन्त्रतासे होने वाली विविध प्रकारकी विकारी अवस्थाओसे छुटकारा पानेके लिये प्रत्येक व्यक्ति आत्माकी स्वावलम्बनवृत्तिके जागरणके साधनभूत अहिंसा आदि पाँच व्रतरूप अथवा क्षमा आदि दश धर्म रूप कर्त्तव्यपथपर आरुढ हो। आत्माके विषयमे यही जैन-संस्कृतिका रहस्य है।

●

निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग

जैनागमकी व्यवस्था यह है कि प्रत्येक जीव अनादिकालसे संसारी बनकर हो रहता आया है। परन्तु संसार-प्राप्त संपूर्ण जीवोंमें बहुतसे ऐसे भी जीव हो गये हैं, जिन्होंने अनादिकालीन अपने उस ससारको समाप्त कर दिया है और उनमे आज भी बहुतसे ऐसे जीव हैं जो अपने अन्दर उस अनादिकालीन समारको समाप्त करनेकी सामर्थ्य[1] छिपाये हुए है।

संसारकी परिसमाप्ति जीवके साथ अनादिकालसे ही सम्बद्ध ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मों और इनके निमित्तसे जीवमें उत्पन्न होनेवाले भावकर्मोंका समूल क्षय हो जानेपर हुआ करती है। इस तरह कहना चाहिये कि उक्त संपूर्ण कर्मोंके समूल क्षय हो जाने अथवा यो कहिये, कि उक्त संपूर्ण कर्मोंसे जीव द्वारा सर्वथा छुटकारा पा जानेका नाम मोक्ष जानना चाहिये।[2]

जैनागममे यह भी बतलाया गया है कि जीवोको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी उपलब्धि हो जानेपर ही सभव है[3] अत वहाँपर यह और बतलाया गया है कि उक्त सम्यग्दर्शन आदि तीनोंका समाहार ही मोक्षका मार्ग है।[4] चूँकि मोक्षमार्गस्वरूप उक्त सम्यग्दर्शनादिक तीनो निश्चय तथा व्यवहारके भेदसे दो-दो भेद रूप होते है अत इस आधारपर मोक्षमार्गको भी निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्ष-मार्गके रूपमे दो भेद रूप जान लेना चाहिये।[5]

इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग तथा निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चय-सम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग दोनोका अवलम्बन प्राप्त होनेपर ही होती है।[6] इतना अवश्य है कि निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण होता है और व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहारमोक्षमार्ग उसका परंपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर कारण होता है।[7]

श्रद्धेय पडितप्रवर दौलतरामजीने छहढालाकी तीसरी ढालके प्रारम्भमे इस विषयपर सक्षेपसे बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है और वह निम्न प्रकार है—

---

१. आप्तमीमांसा, श्लोक १००। जीवभव्याभव्यत्वानि च। तत्त्वार्थसूत्र २-७।

२. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष।—तत्त्वार्थसूत्र, १०-२।

३ समयसार, गाथा १७, १८।

४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।—तत्त्वार्थसूत्र १-१। पंचास्तिकाय, गाथा १०६।

५. पंचास्तिकाय, गाथा १६०, १६१।

६. निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्ष—कार्यं सम्भवति।—पंचा० का०गा० १०६ की टीका, आ० जयसेन।

७. निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधनभावत्वात्।—पचास्तिकाय, गाथा १६०, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।
—पंचास्तिकाय, गा० १६२, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।
—पंचास्तिकाय गाथा १६३ की टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः।—परमात्मप्रकाश-टीका, पृष्ठ १४२।

"आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता-बिन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न तातें शिवमग लाग्यौ चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो॥१॥"

इस पद्यमें श्रद्धेय पंडितजीने कहा है कि आत्माका हित सुख है और वह सुख जीवमें आकुलताका अभाव होनेपर उत्पन्न होता है। उस आकुलताका अभाव भी मोक्षमें ही है। अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। यह सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों व्यवहाररूप भी होते हैं और निश्चयरूप भी होते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि जो सम्यग्दर्शनादिक निश्चयरूप होते हैं वे निश्चय-मोक्षमार्गमें गर्भित होते हैं और जो सम्यग्दर्शनादिक व्यवहाररूप होते हैं वे व्यवहार-मोक्षमार्गमें गर्भित होते हैं। इनमेंसे जो मोक्षमार्ग मोक्षका साक्षात् कारण होता है वह निश्चय-मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका कारण होता है वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है।

यहाँ हम मुख्यतया इसी विषयको स्पष्ट करना चाहते हैं। इसलिये यहाँ पर हम सर्व प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार-मोक्षमार्गके स्वरूपका प्रतिपादन कर रहे हैं।

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये भी श्रद्धेय पं० दौलतरामजीके छहढालाकी तीसरी ढालका निम्नलिखित पद्य पर्याप्त है—

'परद्रव्यनते भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूपको जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है॥
आप रूपमें लीन रहे थिर सम्यक्चारित सोई।
अब ववहार मोख मग सुनिये हेतु नियत को होई॥२॥'

इस पद्यका आशय यह है कि समस्त चेतन-अचेतनरूप परपदार्थोंकी ओरसे मुड़ कर अपने आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर जीवकी अभिरुचि (उन्मुखता या झुकाव) हो जानेका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है, जीवको अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जानेका नाम निश्चयसम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप व पुण्यरूप समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर जीवका अपने आत्मस्वरूप-में लीन हो जाना ही निश्चयसम्यक्चारित्र है।

इस पद्यके अन्तिम चरणमें श्रद्धेय पंडितजीने संकेत किया है कि आगे सम्पूर्ण छहढालामें निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहार-सम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्गका विवेचन किया जायगा। इस तरह पंडित दौलतरामजीके द्वारा छहढालामें किये गये विवेचनके अनुसार व्यवहारमोक्षमार्ग-रूप व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप निर्धारित होता है। उसीका यहाँपर विशेष कथन किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शनका स्वरूप

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामके सात तत्त्वोंके प्रति जीवके अन्त:करणमें श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादिकी वास्तविकताके सम्बन्धमें ज्ञानकी दृढता (आस्तिक्य भाव) जागृत हो जानेका नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधारपर ही जीवोंको उपर्युक्त निश्चयसम्यग्दर्शनकी उपलब्धि हुआ करती है।

आचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रमें व स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह व्यवहारसम्यग्दर्शनका ही स्वरूप है। यद्यपि उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रमें उपर्युक्त सात तत्त्वोंके श्रद्धानका नाम ही सम्यग्दर्शन कहा है[१]। लेकिन स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका लक्षण इस रूपमे बतलाया है कि परमार्थ अर्थात् वीतरागताके आदर्श देवों, परमार्थ अर्थात् वीतरागताके पोषक शास्त्रो ओर परमार्थ अर्थात् वीतरागताके मार्गमें प्रवृत्त गुरुओंके प्रति जीवके अन्त:करणमें भक्तिका जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[२] अत तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रतिपादित सम्यग्दर्शनके इन लक्षणोंमें उपर्युक्त प्रकारसे यद्यपि भेद दिखाई देता है। परन्तु गहराईसे विचार करने पर मालूम हो जाता है कि रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रतिपादित लक्षणसे भी निष्कर्षके रूपमें जीवके अन्त:करणमें उपर्युक्त सात तत्त्वोके प्रति आस्तिक्यभावकी जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शनका स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप

वीतरागताके पोषक अथवा सप्ततत्त्वोंके यथावस्थित स्वरूपके प्रतिपादक आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मननका नाम व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकारके व्यवहारसम्यग्ज्ञानके आधार पर ही जीवोको समस्त वस्तुओके और विशेष कर आत्माके स्वत:सिद्ध स्वरूपका बोध होता है। जैसे आत्माका स्वत सिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना[3] अर्थात् समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। चूंकि यह स्वरूप स्वत:सिद्ध है। अत यह आत्मा के अनादि, अनिधन स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिए हुए) अस्तित्वको सिद्ध करता है।[४] हमे आत्माके इस तरहके स्वरूपको समझनेमें उपर्युक्त प्रकारके आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मनन सहायक होता है।

विचार कर देखा जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पूर्व ही इस प्रकारके सम्यक् अर्थात् वीतरागताके पोषक ज्ञानको प्राप्त करनेकी प्रत्येक जीवके लिये आवश्यकता है। आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारकी गाथा १८ से भी यही संकेत प्राप्त होता है[५] क्योंकि उसमे बतलाया है कि पहले आत्मारूपी राजाकी पहिचान करो, फिर उसका श्रद्धान अर्थात् आश्रयण करो और तत्पश्चात् उसके अनुकूल आचरण करो तो मोक्षकी प्राप्ति होगी। इस तरह मोक्षमार्गमें यद्यपि सम्यग्दर्शनसे पूर्व ही सम्यग्ज्ञानको स्थान देना चाहिये। परन्तु वहाँपर इसको जो

---

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। त० सू० १–२।
जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।–तत्त्वार्थसूत्र १–४।

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।

३. समयसार, गाथा ६।

४. पंचाध्यायी, श्लोक ८।

५. समयसार, गाथा १८।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके मध्यमे स्थान दिया गया है, इसका एक कारण तो यह है कि जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर ही उसके उक्त प्रकारके ज्ञानकी सम्यक्रूपता अर्थात् सार्थकता सिद्ध होती है। और दूसरा कारण यह है कि जीवको उसकी (उक्त प्रकारके ज्ञानकी) उपयोगिता मध्यदीपक न्यायसे सम्यग्दर्शन-की तरह सम्यक्चारित्रपर आरूढ होनेके लिए भी सिद्ध होती है।[2] इसके अतिरिक्त एक तीसरा कारण यह भी है कि मोक्षमार्गके रूपमे सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सर्वप्रथम अर्थात् चतुर्थगुणस्थानसे लेकर अधिक-से-अधिक सप्तमगुणस्थान तक नियमसे हो जाती है, सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति उसके बाद तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमे होती है और सम्यक्चारित्रकी पूर्ति सम्यग्ज्ञानकी पूर्तिके अनन्तर चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमे ही होती है। इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यरूप प्रवृत्तियोसे निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूपमे लीन (स्थिर) होनेरूप निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओंमें जीवकी प्रवृत्ति होने लग जाना व्यवहार सम्यक्-चारित्र है।

उक्त प्रकारके निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम यथाख्यातचारित्र है तथा उसे वीतरागचारित्र भी कहते है।[3] उसकी प्राप्ति जीवको यद्यपि उपशमश्रेणीपर आरूढ होकर ११वे गुणस्थानमे पहुंचनेपर भी होती है और क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर १२वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर भी होती है। परन्तु ११वें गुणस्थान और १२वें गुणस्थानके निश्चयसम्यक्चारित्रमें परस्पर अन्तर पाया जाता है। अर्थात् उपशमश्रेणीपर आरूढ होकर ११वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमे ही पतनकी ओर उन्मुख हो जाता है और तब उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र भी उसी समय समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव कदापि पतनकी ओर उन्मुख नही होता। इसलिए उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र स्थायी रहा करता है साथ ही वह जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमे ही १२वें गुणस्थान-से १३वें गुणस्थानमें पहुँच कर नियमसे सर्वज्ञताको प्राप्त कर लेता है। मोक्ष-मार्गके प्रकरणसे १२वें गुण-स्थानमें प्राप्त होने वाले स्थायी निश्चयचारित्रको ही ग्रहण किया गया है।

यहाँपर एक बात हम यह कह देना चाहते है कि उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए ही चतुर्थ गुणस्थानका अविरतसम्यग्दृष्टि जीव मुमुक्षु होकर पुरुषार्थ करके पाँचवे गुणस्थानमे अणुव्रत धारण करता है तथा इसमे भी आगे बढकर छठे गुणस्थानमें वह महाव्रत धारण करता है। इतना ही नही, घोर तपश्चरण करके आगे बढता हुआ वह सातवें गुणस्थानमें शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त होकर आत्मपरिणामो-की उत्तरोत्तर बढती हुई यथायोग्य विशुद्धिके अनुसार उपशमश्रेणीपर आरूढ होता है या क्षपक श्रेणीपर आरूढ होता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीवको उक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नही हो जाती है तब तक वह पाँचवें और छठे गुणस्थानोमें बुद्धिपूर्वक और सातवेंसे लेकर दशवे तकके गुणस्थानोमें अबुद्धि-पूर्वक उपर्युक्त व्यवहारसम्यक्चारित्रमे ही प्रवृत्त रहता है। इस व्यवहारसम्यक्चारित्रका भी अपर नाम संक्षेपसे सरागचारित्र और विस्तारसे सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापरायरूप चारित्र है।

---

१. रत्नकरंडकश्रावकाचार, श्लोक ९७। २ प्रवचनसार, गाथा ७।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एव तपश्चरण आदि बाह्यक्रियायें उस-उस कषायके उदय और अनुदयके अनुसार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शनसे रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नही, इन क्रियाओको संलग्नतापूर्वक करनेपर उनमेसे कोई-कोई जीव यथासंभव स्वर्गमे नववे ग्रैवेयक तक जन्म भी धारण कर लेते हैं। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि इन क्रियाओंकी निश्चयसम्यक्-चारित्रकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षप्राप्तिरूप सार्थकता उक्त सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर ही हुआ करती है अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसके अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकनेके कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायोका क्षयोपशम होना असम्भव ही रहा करता है जब कि अणुव्रत और महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायोंका क्षयोपशम होनेपर ही जीवको प्राप्त हुआ करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब जीवके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय समाप्त होकर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्चारित्रके रूपमे अणुव्रतोको धारण करता है।[1] और जब जीवके अप्रत्याख्यानावरण कषायके साथ-साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय भी समाप्त होकर मात्र संज्वलन कषाय व नोकषायका उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्-चारित्रके रूपमे महाव्रत धारण करता है।[2] यह स्थिति अनन्तानुबन्धी कषायके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के अभावमे मिथ्यादृष्टि जीवके कदापि सभव नही है। अत उसके (मिथ्यादृष्टि जीवके) यथायोग्य कषायके अनुदयके साथ-साथ यथायोग्य कषायके उदयमे बाह्यक्रियाके रूपमे अणुव्रत, महाव्रत आदिकी स्थितिका होना तो संभव है। लेकिन जब तक उस जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो जाता है तब तक अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकनेके कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी उदय-समाप्ति असंभव होनेसे अणुव्रत, महाव्रत आदिकी स्थितिको व्यवहारसम्यक्चारित्रका रूप प्राप्त होना सभव नही है।

यहाँपर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर नियमसे अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जानेपर भी सामान्यतया यह नियम नही है कि उसके अणुव्रत अथवा महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र अथवा अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोकी उदय-समाप्ति हो ही जाना चाहिये। किन्तु नियम यह है कि जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोका उदय समाप्त हो जाता है उसके ही यथायोग्य अणुव्रत व महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्-चारित्रकी स्थिति उत्पन्न होती है, शेष सम्यग्दृष्टि जीव तब तक अव्रती ही रहा करते हैं, जब तक उनके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोका उदय समाप्त नही हो जाता है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शनादिकका यह सम्पूर्ण विवेचन हमने चरणानुयोगकी दृष्टिसे ही किया है। इस तरह इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोगमे सम्यग्दर्शनादि-रूप निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गके रूपमें जो दो प्रकारके मोक्षमार्गका कथन किया गया है उसका आशय निश्चयमोक्षमार्गको तो मोक्षका साक्षात् कारण बतलाया है और व्यवहारमोक्षमार्गको उसका (मोक्षका) परपरा अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर कारण बतलाना है। इसी प्रकार उसका आशय निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको तो कार्यरूप तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन,

१ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०।

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३१।

व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको क्रमशः उन निश्चय सम्यग्दर्शनादिकका कारण रूप बतलाना ही है।

इससे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक जीवको मोक्षके साक्षात् कारण-भूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रकी तथा इन निश्चयसम्यग्दर्शनादिक-की प्राप्तिके लिए व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रकी अनिवार्य आवश्य-कता है। इस तरह दो प्रकारके मोक्षमार्गकी मान्यता उचित हो है, अनुचित नही है।

अब यदि कोई व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गरूप निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिके बिना ही केवल व्यव-हारमोक्षमार्गरूप व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके आधार पर ही मोक्ष-प्राप्तिकी मान्यता रखते हैं तो वे गलती-पर हैं कारण कि फिर तो व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकको व्यवहारमोक्षमार्ग कहना ही असंगत होगा, क्योंकि इस मान्यतामें वे व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक मोक्षके साक्षात कारण हो जानेसे निश्चय मोक्षमार्गरूप ही हो जावेंगे।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकमे पठित 'निश्चय' शब्द हमें निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकमे मोक्षकी साक्षात् कारणताका बोध कराता है और व्यवहार-मोक्षमार्ग अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकमें पठित 'व्यवहार' शब्द हमें व्यवहारमोक्षमार्ग अथवा व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकमें मोक्षकी परंपरया कारणताका अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग अथवा निश्चयसम्यग्दर्शनादि-की कारणतापूर्वक मोक्षकी कारणताका बोध कराता है। हमारे इस कथनकी पुष्टि, आगममे जो पूर्वोक्त प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकको साध्यरूप या कार्यरूप तथा व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकको साधनरूप या कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, उससे हो जाती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति ऐसा कहते है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति तो निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चय-सम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धि हो जाने पर ही होती है। अत हमें व्यवहारमोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्श-नादिकपर लक्ष्य न देकर निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकके ऊपर ही लक्ष्य देना चाहिये, तो ऐसे व्यक्ति भी गलती पर हैं, क्योंकि वे इस बातको नहीं समझ पा रहे हैं कि जीव जब तक व्यवहारमोक्ष-मार्गपर आरूढ़ नहीं होगा तब तक उसे निश्चय-मोक्षमार्गकी उपलब्धि होना संभव नही है क्योकि यह बात पूर्वमे स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्गके अंगभूतनिश्चय सम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होनेके अनन्तर अस्थायी रूपमें तो ११वें गुणस्थानमें पहुँचने पर होती है तथा स्थायीरूपमें क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होनेके अनन्तर १२वें गुणस्थानमे पहुँचने पर होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जीव पंचम गुणस्थानसे लेकर जब तक उपशम या क्षपक श्रेणी माडकर ११वें या १२वें गुणस्थानमें नही पहुँच जाता तब तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक उसके पूर्वोक्त व्यवहारसम्यक्चारित्र ही रहा करता है। इससे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि व्यवहारमोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ हुए बिना ही निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति जीवको हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक जीव जब यथायोग्य गुणस्थानक्रमसे आगे बढ़ता हुआ ही ११वें गुणस्थानमे अथवा १२वें गुणस्थानमें पहुँच सकता है जहाँ कि निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि उसे होती है तो इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ हुए बिना निश्चयमोक्षमार्गकी उपलब्धि कदापि जीवको संभव नहीं है।

हमारे इस कथनसे एक मान्यता यह भी खण्डित हो जाती है कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्र

की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नही करना पडता है। हमारे उपर्युक्त कथनसे इस मान्यताके खण्डित होनेमें एक आधार यह भी है कि आगममें व्यवहारसम्यक्चारित्रको निश्चयसम्यक्चारित्रमे कारण बतलाया गया है, इस तरह कारण होनेकी वजहसे जब जीवमें व्यवहारसम्यक्चारित्रका निश्चयसम्यक्चारित्ररूप कार्यके पूर्व सद्भाव रहना आवश्यक है तो इस स्थितिमे फिर यह बात कैसे संगत कही जा सकती है "कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्-चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसको व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है—उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नही करना पडता है ?" इस विषयमें दूसरा आधार यह भी है कि जो व्यक्ति व्यवहारमोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके ऊपर लक्ष्य न देकर केवल निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक-के ऊपर लक्ष्य देनेकी बात कहते है वे भी निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यक्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये पुरुषार्थ करनेका उपदेश जीवोंके देते हैं तो इसका आशय यही होता है कि प्रत्येक जीवको निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिका ही प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकी उपलब्धिके लिये जो भी प्रयत्न किया जायगा वह प्रयत्न व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके अलावा और कुछ नही होगा। अर्थात् उस प्रयत्न (पुरुषार्थ) का नाम ही व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक है जो निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये किया जाता है।

एक बात और है कि हमारे पूर्व प्रतिपादनके अनुसार व्यवहारसम्यक्चारित्रका अपर नाम सराग-चारित्र है जैसा कि निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम वीतरागचारित्र है और यह बात निर्विवाद है कि दशवे गुणस्थान तक जीवमे सरागचारित्र ही रहा करता है, वीतरागचारित्र नही, तथा यो भी कहिये कि दशवे गुणस्थान तक हो सरागचारित्र रहा करता है, आगेके गुणस्थानोंमे नही, इस तरह इसका अभि-प्राय यह होता है कि सरागचारित्रका अभाव हो जाने पर ही वीतरागचारित्रकी उपलब्धि जीवको हुआ करती है और इसका अभिप्राय भी यह हुआ कि व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव हो जाने पर ही निश्चय-सम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको हुआ करती है अथवा यो कहिये कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है उसके फिर व्यवहारचारित्रका अभाव ही हो जाया करता है। इस तरह तब इस बात-को कैसे सगत माना जा सकता है कि "जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाने पर व्यवहार-सम्यक्चारित्रकी उपलब्धि अनायास हो जाती है ?" और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३०५ की टीकामें व्यवहाराचारसूत्र[1] का उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब तक अमृत-कुम्भ कहा है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि नही हो जाती है तथा भगवान कुन्दकुन्द[2]-ने उसी व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब विषकुंभकी उपमा दे दी है जब जीवको निश्चय सम्यक्चारित्रकी उप-लब्धि हो जाती है।

इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीवको निश्चयसम्यक्-चारित्रकी उपलब्धि नही हो जाती है तब तक उसके लिए मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे परपरया कारणके रूपमे अथवा निश्चयसम्यक्-चारित्रके साधनके रूपमें व्यवहारसम्यक्चारित्र नियमसे उपयोगी सिद्ध होता है। इसलिये मोक्ष-प्राप्तिके उद्देश्यसे निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक जीवको व्यवहारसम्यक्चारित्रको धारण

१. समयसार, गाथा ३०५, आचार्य अमृतचन्द्र टीका।

२ समयसार, गाथा ३०६, ३०७।

करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। इतनी बात अवश्य है कि कोई भी चारित्र तब तक 'व्यवहारसम्यक्चारित्र' नाम नहीं पा सकता है जब तक कि वह चारित्र सम्यग्दर्शनके सद्भावमें न हो, जैसाकि पूर्वमें हम स्पष्ट कर आये हैं।

इस प्रकार आगमप्रमाणके आधार पर किये गये उपर्युक्त विवेचनसे यह मान्यता, कि 'जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है,'' निश्चित रूपमें खण्डित हो जाती है।

इतना स्पष्ट विवेचन करने पर भी अब यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग तो संसारका ही कारण है, मोक्षका नहीं, तो उसका ऐसा कहना भी दुराग्रहपूर्ण ही माना जायगा।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यदि व्यवहारमोक्षमार्ग संसारका ही कारण है मोक्षका नहीं, तो फिर उसे आगममें 'मोक्षमार्ग' शब्दसे पुकारना ही असंगत है। दूसरी बात यह है कि संसारका मुख्य कारण तो मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाले जीवके मिथ्यादर्शन, 'मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम ही है। यद्यपि यह बात सत्य है कि व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको प्राप्त करके भी जीव जब तक निश्चय–सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक उसे मोक्षका प्राप्त होना असंभव है। अर्थात् वह तब तक संसारमें ही रहा करता है। परन्तु इस आधार पर उन व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकको सर्वथा संसारका ही कारण मान लेना असंगत बात है। फिर भी इतना तो माना जा सकता है कि चूँकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिककी उत्पत्तिमें कारण होते हैं अतः इस रूपमें वे कथंचित् मोक्षके भी कारण हैं और चूँकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकके सद्भावमें भी जीवको जब तक निश्चय–सम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक मोक्षकी प्राप्ति असंभव है। अतः उनमें कथंचित् संसारकी कारणता स्वीकार करना भी असंगत नहीं है। इस स्पष्टीकरणमें कही हुई इन सब बातोंको समझनेके लिये यहाँ पर थोड़ा करणानुयोगकी दृष्टिसे भी सम्यग्दर्शनादिकके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है।

करणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकका स्वरूप

इसके पूर्व कि हम करणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकका विवेचन करें, आवश्यक जानकर करणानुयोगके सम्बन्धमें ही कुछ विवेचन कर देना चाहते हैं।

करणानुयोगमें पठित 'अनुयोग' शब्दका अर्थ आगम होता है। इस तरह सम्पूर्ण जैनागमको यदि विभक्त किया जाय तो वह चार भागोंमें विभक्त हो जाता है—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

इनमेंसे प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर महापुरुषोंके जीवनचरित्रके आधारपर पाप, पुण्य और धर्मके फलका दिग्दर्शन कराया गया है। चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर पाप, पुण्य और धर्मकी व्यवस्थाओंका निर्देश किया गया है। करणानुयोग वह है जिसमें जीवोंकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओंके पृथक् अस्तित्वको बतलाने वाले स्वतःसिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनोंका निर्धारण किया गया है। यहाँपर हम इन सब अनुयोगोंके आधारपर वस्तुस्वरूपपर प्रकाश न डाल कर प्रकरणके लिये उपयोगी प्रतिज्ञात करणानुयोगके आधारपर ही वस्तुस्वरूपपर प्रकाश डाल रहे हैं।

आत्माका स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् विश्वके समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। यह कथन हम पूर्वमें भी कर आये हैं। इसमें निर्दिष्ट ज्ञायकपना आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव है, इसलिये इस आधार पर एक तो आत्माका स्वतन्त्र और अनादि तथा अनिधन अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरे, जिस प्रकार आकाश अपने स्वतःसिद्ध अवगाहक स्वभावके आधारपर विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको अपने अन्दर एक साथ हमेशा समाये हुए है उसी प्रकार आत्माको भी अपने स्वतःसिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधारपर विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको एक साथ हमेशा देखने-जानते रहना चाहिये। परन्तु हम देख रहे है कि जो जीव अनादिकालसे संसार-परिभ्रमण करते हुए इसी चक्रमे फँसे हुए है उन्होंने अनादिकालसे अभी तक न तो कभी विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको एक साथ देखा व जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे है। इतना ही नही, इन संसारी जीवोमें एक तो तरतमभावसे ज्ञानकी मात्रा अल्प ही पायी जाती है। दूसरे, जितनी मात्रामे इनमें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनोकी सहायतासे ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये ससारी जीव पदार्थोंको देखने-जाननेके पश्चात् उन जाने हुए पदार्थोमे इष्टपने या अनिष्टपनेकी कल्पनारूप मोह किया करते है और तब वे इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोमे प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमें अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमे और अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमे हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमे और इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमे विषाद हुआ करता है। यद्यपि ऐसा भी सम्भव है कि किन्ही-किन्ही (सम्यग्दृष्टि) ससारी जीवोको इस प्रकारसे हर्ष-विषाद नही होते, फिर भी वे जीव जब शरीरकी अधीनतामे ही रह रहे है और उनका अपना-अपना शरीर अपनी स्थिरताके लिये अन्य भोजनादिककी अधीनताको स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थितिमे शरीरके लिये उपयोगी (आवश्यक) उन पदार्थोंकी प्राप्ति व अप्राप्तिमें उन्हें भी यथायोग्य सुख या दुःखका संवेदन तो हुआ ही करता है और तब उन्हें अपने दुःख-संवेदनको समाप्त करने व सुख-संवेदनको प्राप्त करनेके लिये उन पदार्थोंकी प्राप्ति व उपभोगमे प्रवृत्त होना पडता है। इसके भी अतिरिक्त जिनका संसार अभी चालू है ऐसे संसारी जीव अनादिकालसे कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारकी होते आये है, वे कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पञ्चेन्द्रिय भी होते आये है। इतना ही नहीं, इन्होने कभी पृथ्वीका, कभी जलका, कभी तेजका, कभी वायुका और कभी वनस्पतिका भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते है कि एक ही श्रेणीके जीवोंके शरीरोमे भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई तो लोकमे प्रभावशाली देखे जाते हैं व कोई प्रभावहीन देखे जाते हैं। और भी देखा जावे तो लोक एक जीवमे उच्चताका तथा दूसरे जीवमे नीचताका भी व्यवहार किया करता है। इसी प्रकार प्रायः किसीको यह पता नही कि कौन जीव कब अपने वर्तमान शरीरको छोड़ कर चला जायगा और दूसरा शरीर धारण कर लेगा।

जीवोंमें ये सब विलक्षणतायें क्यो हो रही हैं? इसका समाधान आगमग्रंथोमे इस तरह किया गया है कि प्रत्येक संसारी जीव अपने स्वतःसिद्ध देखने-जाननेरूप स्वभाव वाला होकरके भी अनादिकालसे स्वर्ण-पाषाणकी तरह पौद्गलिक कर्मोंके साथ सम्बद्ध (मिश्रित यानी एक क्षेत्रावगाही रूपसे एकमेकपनेको प्राप्त) हो रहा है।[२] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे मूल रूपमें आठ प्रकारके हैं।. इनमेंसे ज्ञानावरण कर्मका कार्य जीवकी जाननेकी शक्तिको आवृत करना है,

---

१. समयसार, गाथा १६० । गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २ । २. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८ ।

दर्शनावरण कर्मका कार्य जीवकी देखनेकी शक्तिको आवृत करना है, वेदनीय कर्मका कार्य जीवको शरीरादिक परपदार्थोंके आधारपर यथायोग्य सुख अथवा दुःखका संवेदन कराना है, मोहनीय कर्मका कार्य जीवको पर पदार्थोंके आधारपर ही यथायोग्य मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित अनुचित रूप विविध प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें व्यापृत करनेका है, आयु कर्मका कार्य जीवको उसके अपने शरीरमें सीमित काल तक रोक रखनेका है, नामकर्मका कार्य जीवको मनुष्यादिरूपता प्राप्त करानेका है, गोत्र कर्मका कार्य कुल, शरीर तथा आचरण आदिके आधारपर जीवमें उच्चता तथा नीचताका व्यवहार करानेका है और अन्तरायकर्मका कार्य जीवकी स्वतःसिद्ध स्वावलम्बन शक्तिका घात करना है।[1]

करणानुयोगकी व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकारके कर्मोंको जीव हमेशा अपने विकारी भावो (परिणामों) द्वारा बाँधता है और जीवके वे विकारी परिणाम पूर्वमें बद्ध पुद्गल कर्मके उदयमें हुआ करते हैं।[2] इस तरह जीवके साथ बँधे हुए ये कर्म उसमें अपनी सत्ता बना लेते हैं तथा अन्तमें उदयमे आकर अर्थात् जीवको अपना फलानुभव कराकर ये निर्जरित हो जाते हैं।[3] लेकिन इतनी बात अवश्य है कि उस फलानुभवसे प्रभावित होकर यह जीव इसी प्रकारके दूसरे कर्मोंसे पुनः बंधको प्राप्त हो जाता है।

ये कर्म जीवको जिस रूपमें अपना फलानुभव कराते है वह जीवका औदयिक भाव है क्योंकि जीवका उस प्रकारका भाव उस कर्मका उदय होनेपर ही होता है।[4] कदाचित् कोई जीव अपनेमें सत्ताको प्राप्त यथायोग्य कर्मको अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्तिको सुरक्षित रखते हुए भी जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये फल देनेमें असमर्थ हो जाता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम उपशम है। इस तरह कर्मका उपशम होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे उस जीवका औपशमिक भाव कहते हैं।[5] कदाचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मको सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीवसे अपना सम्बन्ध समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम क्षय है और इसके होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायिक भाव कहते है।[6] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि जिसके होनेपर कर्मके कुछ निश्चित अंश तो उदयरूपताको प्राप्त रहते हैं, कुछ निश्चित अंश उपशमरूपताको प्राप्त रहते हैं और कुछ निश्चित अंश क्षयरूपताको प्राप्त रहते हैं। कर्मकी इस प्रकारकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है। कर्मका इस प्रकारका क्षयोपशम होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।[7] इस क्षायोपशमिक भावका अपर नाम मिश्रभाव[8]

---

१. प्रत्येक कर्मके कार्यको जाननेके लिए गो० कर्मकाण्डकी गाथा १० से गाथा ३३ तकका अवलोकन करना चाहिये।
२. समयसार, गाथा ८०।
३. विपाकोऽनुभव। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।—तत्त्वार्थसूत्र ८-२१, २२, २३।
४. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६७।
५. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६४।
६. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६५।
७. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६६।
८. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामकौ च। —तत्त्वार्थसूत्र २-१।

भी आगममें बतलाया गया है। इस प्रकार कहना चाहिये कि यथायोग्य कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होनेपर जीवकी भी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक अवस्थायें हो जाया करती हैं।[1]

उपर्युक्त आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मोंकी प्रत्येक संसारी जीवमें अनादिकालसे क्षयोपशमरूप अवस्था हो रही है क्योंकि कभी इनकी सर्वथा उदय रूप अवस्था नहीं होती। इतना अवश्य है कि अनन्त संसारी जीवोंने अपने पुरुषार्थ द्वारा इन तीनों कर्मोंका सर्वथा क्षय कर डाला है और यदि कोई संसारी जीव अब भी पुरुषार्थ करे तो वह भी इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंके यथायोग्य निमित्तसे सामान्यरूपमें जीवकी क्षायोपशमिक और क्षायिक दो ही प्रकारकी अवस्थायें होना संभव है, औदयिक और औपशमिक अवस्थायें इनमें संभव नहीं है। इतना अवश्य है कि यदि इन कर्मोंके यथायोग्य अन्तर्भेदोंकी अपेक्षा विचार किया जाय तो उनके निमित्तसे फिर जीवकी औदयिक अवस्था भी संभव है। जैसे जीवमें केवलज्ञान और केवलदर्शनका जब तक सर्वथा अभाव विद्यमान है तब तक इनके घातक केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्मोंका उदय विद्यमान रहनेके कारण जीवकी केवलज्ञान और केवलदर्शनके अभावरूप औदयिक अवस्थायें भी मानी जा सकती हैं।

इसी प्रकार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मोंकी प्रत्येक जीवमें अनादिकालसे तो उदयरूप अवस्थायें ही रही हैं। कभी इनकी उपशम या क्षयोपशम रूप अवस्था न तो हुई और न होगी, लेकिन इनके सम्बन्धमें भी यह बात है कि अनन्त संसारी जीवोंने अपने पुरुषार्थ द्वारा इन चारों कर्मोंका सर्वथा क्षय अवश्य कर डाला है और यदि कोई संसारी जीव अभी भी पुरुषार्थ करे तो इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह कहना चाहिये कि इन कर्मोंके निमित्तसे जीवकी औदयिक और क्षायिक दो अवस्थायें ही संभव हैं। परन्तु यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि इनके क्षयके निमित्तसे होनेवाले क्षायिक भावोंकी गणना आगमोक्त क्षायिक भावोंमें करना उपयोगी न होनेके कारण आवश्यक नहीं समझा गया है। इनके क्षयके निमित्तसे होनेवाले जीवके क्षायिक भावोंको या तो अव्याबाध, अवगाहना, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व गुणोंके रूपमें प्रतिजीवी भाव आगममें कहा गया है या फिर सामान्यतया संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला सिद्धत्व भाव इन्हें कह दिया गया है।

इन सात कर्मोंके अतिरिक्त जो मोहनीय कर्म शेष रह जाता है उसकी प्रत्येक संसारी जीवमें अनादिकालसे तो उदयरूप अवस्था ही विद्यमान रहती है। लेकिन भूतकालमें अनन्त संसारी जीवोंने अपने पुरुषार्थ द्वारा अनेक बार यथायोग्य उपशम या क्षयोपशम करके अन्तमें उसका सर्वथा क्षयकर मुक्तिको प्राप्त कर लिया है। अनेक संसारी जीवोंमें वह अभी भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूपमें बना हुआ है तथा जिन जीवोंमें वह अभी भी उदय रूपमें बना हुआ है वे भी अगर पुरुषार्थ करें तो उसकी इस उदयरूप हालतको परिवर्तित करके उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अवस्था बना सकते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मोहनीय कर्मका यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जीवकी क्रमश. औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चारों प्रकारकी अवस्थायें संभव होती हैं।

इस प्रकार जिन संसारी जीवोंने अनादिकालसे अभी तक अपने पुरुषार्थ द्वारा समस्त कर्मोंका क्षय कर डाला है वे तो मोक्षको प्राप्त हो चुके हैं और जो संसारी जीव आगे जब इन सभी कर्मोंका सर्वथा क्षय कर लेंगे वे भी तब मोक्षको प्राप्त हो जावेंगे।

१. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६२।

ऊपर बतलाये गये ढंगसे उपर्युक्त आठ कर्मोंके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधार पर होनेवाली जीवोंकी अवस्थाओंकी उपयोगी कुल संख्या आगममे संक्षेपसे पचास बतलायी गयी है तथा इनमें तीन पारिणामिक भावोको भी मिला देनेपर जीवकी अवस्थाओंकी संख्या तिरेपन हो जाती है। इन तिरेपन भावोंकी आगममें जो गणना की गयी है वह इस प्रकार है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रूपमे दो भाव औपशमिक है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये नौ भाव क्षायिक रूप है। मति, श्रुत, अवधि, मन पर्ययके रूपमे चार सम्यग्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कु-अवधिके रूपमें तीन मिथ्याज्ञान, चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शनके रूपमे तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यके रूपमे पाँच लब्धियाँ (शक्तियाँ) तथा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और संयमासंयम ये अठारह भाव क्षायोपशमिक रूप है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवके रूपमे चार गतियाँ, क्रोध मान, माया और लोभके रूपमे चार कषाय, पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंगके रूपमे तीन लिंग, पर-पदार्थोंमें अहंकार और ममकाररूप मिथ्यादर्शन, ज्ञानविशेषका अभावरूप अज्ञान, चारित्रका अभावरूप असंयतत्व, संसारी अवस्थारूप असिद्धत्व तथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्लके रूपमें छह लेश्यायें ये इक्कीस भाव औदयिक रूप है। इसी प्रकार जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भाव पारिणामिक रूप हैं।[1]

आगममे आठ कर्मोंके भेदोकी गणना इस प्रकार की गयी है कि ज्ञानावरणकर्म मतिज्ञानावरण आदिके रूपमें पाँच प्रकारका, दर्शनावरणकर्म चक्षुर्दर्शनावरण आदिके रूपमे नौ प्रकारका, वेदनीयकर्म साता तथा असाताके रूपमे दो प्रकारका, मोहनीयकर्म मिथ्यात्व आदिके रूपमे अट्ठाईस प्रकारका, आयु कर्म नरकायु आदिके रूपमें चार प्रकारका, नामकर्म गति, जाति आदिके रूपमे तेरानवे प्रकारका, गोत्रकर्म उच्च तथा नीच के रूपमें दो प्रकारका और अन्तरायकर्म दानान्तराय आदिके रूपमे पाँच प्रकारका होता है।[2]

आगममे यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारो कर्म जीवके यथायोग्य अनुजीवी गुणोंका घात करनेमे समर्थ होनेके कारण घाती[3] कहलाते है तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चारो कर्म जीवके अनुजीवी गुणोका घात करनेमे असमर्थ होनेके कारण अघाती[4] कहलाते हैं। इतना ही नही, आगममे यह भी बतला दिया गया है कि संपूर्ण घाती कर्म तथा अघाती कर्मोंकी कुछ प्रकृतियाँ मिलकर पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं[5] और अघाती कर्मोंकी शेष प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती हैं।[6]

ऊपर जो जीवके तिरेपन भावोकी गणना की गयी है उनमेसे तीन पारिणामिक भावोंको छोडकर शेष पचास भाव उक्त कर्मोंमेसे उस कर्मके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण ही पूर्वोक्त प्रकार क्रमश· औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नामसे पुकारे जाते है। इन औदयिकादिरूप पचास भावोमेसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररूप जो औदयिक भाव है वे भाव संसारके

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २ सूत्र २, ३, ४, ५, ६, ७।
२ वही, अध्याय ८ सूत्र, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३८।
३. पचाध्यायी, अध्याय २ श्लोक ९९८।
४. वही, अध्याय, २, श्लोक ९९९।
५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३, ४४।
६. वही, गाथा ४१, ४२।

कारण है[१] तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप जो औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव हैं वे भाव मोक्षके कारण हैं।[२] यद्यपि मिथ्याज्ञानरूप क्षायोपशमिक भावको भी बन्धका कारण तथा सम्यग्ज्ञानरूप क्षायोपशमिक और क्षायिकभावको भी मोक्षका कारण आगममें स्वीकार किया गया है। परन्तु इसके विषयमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानकी संसारकारणता और मोक्षकारणता यथायोग्य मोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशमसे सम्बद्ध होकर ही मानी गयी है। यही कारण है कि चतुर्दश गुणस्थान-व्यवस्थामें केवल मोहनीयकर्मको ही उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशमके आधारपर आगममें प्रमुखता दी गयी है।[३]

उक्त कथनका विस्तार यह है कि उक्त औदयिक भाव मोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण जीवके संसारके कारण होते हैं। औपशमिक भाव मोहनीयकर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेके कारण यद्यपि संसारके कारण नहीं होते, परन्तु ये जीवमें अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहरते हैं अर्थात् मुहूर्तके अन्दर-अन्दर ही ये नष्ट हो जाते हैं, इसलिए मोक्षके कारण होकर भी इनसे जीवको साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। इन्हें छोड़कर मोहनीयकर्मकी उस-उस प्रकृतिके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होनेवाले क्षायिक भाव ही जीवकी मोक्ष-प्राप्तिमें साक्षात् कारण हुआ करते हैं। अर्थात् उक्त क्षायिक भावोंको प्राप्त कर लेनेपर जीव नियमसे मुक्तिको प्राप्त करता है। कारण कि ये भाव जीवको एक बार प्राप्त हो जानेपर फिर कभी नष्ट नहीं होते हैं। क्षायोपशमिक भावोंके विषयमें व्यवस्था यह है कि इनमें सर्वघाती प्रकृतिके वर्तमान समयमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय और उसी सर्वघाती प्रकृतिके आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृतिका उदय विद्यमान रहा करता है अतः इनमें देशघाती प्रकृतिका उदय कार्यकारी रहनेके कारण तो संसारकी कारणता व सर्वघाती प्रकृतिका उदयाभावीक्षय तथा सदवस्थारूप उपशम भी कार्यकारी रहनेके कारण मोक्षकी कारणता इस तरह दोनों ही प्रकारकी कारणतायें विद्यमान रहा करती हैं। यही कारण है कि आगममें यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि जीवमें जिस कालमें जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्रका अंश प्रकट रहता है उतने रूपमें उसके कर्मबन्ध नहीं होता है और उसी कालमें जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्रका अपना-अपना विरोधी रागांश प्रकट रहता है उतने रूपमें उसका कर्मबन्ध भी होता है।[४]

इस प्रकार क्षायोपशमिक भावोंमें यद्यपि संसार और मुक्ति उभयकी कारणता विद्यमान रहा करती है फिर भी उन्हें आगममें मोक्षका ही कारण बतलाया गया है, संसारका नहीं।[५] यह बात हम पूर्वमें भी कह चुके हैं। इसको यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि आगममें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको औपशमिक, क्षयिक व क्षायोपशमिकका भेद न करके सामान्यरूपसे ही मोक्षका कारण प्रतिपादित किया गया है[६] व औदयिक भावरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको संसारका कारण प्रतिपादित किया गया है।[७] इतनी बात अवश्य आगममें स्पष्ट कर दी गयी है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुआ जीव यदि शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त करके क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हो जावे तो वह मोक्ष सुखको ही प्राप्त करता है।[८] लेकिन यदि कोई जीव शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त होकर भी क्षपक-

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक, ३। २. तत्त्वार्थसूत्र, १-१।
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४।
४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २१२, २१३, २१४।
५. वही, श्लोक २११।
६. तत्त्वार्थसूत्र, १-१।
७-८. रत्नकरण्डकश्रावकाचार श्लोक २, ३।

श्रेणीपर आरूढ़ न होकर उपशमश्रेणीपर आरूढ हुआ अथवा शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त न होकर शुभोपयोगकी भूमिकामें ही प्रवर्तमान रहा और ऐसी हालतमे उसका यदि मरण हो गया तो वह जीव स्वर्ग-सुखको प्राप्त करता हुआ[1] परंपरया मोक्षसुखको प्राप्त करता है।[2] इसके साथ ही आगममे यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है कि यदि कोई जीव अपनेको भूलकर स्वर्गसुखमें रम जाय तो फिर इसमे भी संदेह नहीं कि वह मारीचकी तरह यथायोग्य अनेक भवों तक सासारिक विभिन्न प्रकारकी कुयोनियोंमें भी भ्रमण करता है।[3]

इस कथनसे इतनी बात स्थिर हो जाती है कि अशुभोपयोग और अशुभ प्रवृत्तिरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र संसारके कारण है, शुभोपयोग और शुभ प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वर्गादिसुखपूर्वक परपरया मोक्षके कारण हैं। तथा शुद्धोपयोग व शुद्ध प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्षके कारण है।

इस प्रकार करणानुयोगके आधारपर किए गए उपर्युक्त विवेचन और इसके पूर्व चरणानुयोगके आधारपर किए गए विवेचनसे हमारा प्रयोजन यह है कि चरणानुयोगकी दृष्टिसे जो निश्चय और व्यवहार-रूप मोक्षमार्गद्वयका अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा निश्चयसम्यक्चारित्र और व्यवहारसम्यक्चारित्रका विवेचन किया गया है एवं करणा-नुयोगकी दृष्टिसे जो औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रका विवेचन किया गया है। इन दोनों प्रकारके विवेचनोंका यदि समन्वय किया जाय तो यह निर्णीत हो जाता है कि जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये तथा जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इसी प्रकार जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायिक-सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोगको दृष्टिसे क्षायोपशमिक सम्यक्ज्ञान समझना चाहिये और इसी प्रकार जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चयसम्यक्चारित्र यथाख्यातचारित्र या वीतरागचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे औपशमिक व क्षायिक सम्यक्चारित्र समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे अणुव्रत, महाव्रत आदिरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र, सरागचारित्र या सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापरायचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक चारित्र समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकारके मोक्ष-मार्गका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थानसे ही होता है, चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्व किसी भी तरहके मोक्षमार्गका प्रारम्भ नही होता है, ऐसा जानना चाहिये। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके विषयमे यह बात कही गयी है कि वह दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहकी अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस

---

१. प्रवचनसार, गाथा ११।   २. छहढाला, ४।१४।

३. वही, गाथा १२।

तरह सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर ही उत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् आगममें कहा गया है कि उक्त सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व[1] और उक्त सात ही प्रकृतियोंके क्षयसे[2] क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उक्त सात प्रकृतियोंमेंसे ही मिथ्यात्व व सम्यक्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान समयमें उदय आने वाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय व आगामी कालमें उदय आने वाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम एवं सम्यक्-प्रकृतिरूप देशघातिप्रकृतिका उदय होनेपर[3] क्षायोपशमिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

आगममें यह बात भी कही गयी है कि उक्त औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक तीनों ही प्रकार-के सम्यग्दर्शन जीवको क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि पूर्वक ही उत्पन्न हुआ करते है।[4] साथमें इन लब्धियोंके सम्बन्धमें वहीपर यह विशेषता भी बतला दी गयी है कि पाँचों लब्धियोंमेंसे पूर्व-की चार लब्धियाँ तो भव्य तथा अभव्य दोनों ही प्रकारके जीवोंके संभव हैं। परन्तु करणलब्धि ऐसी लब्धि है कि वह भव्य जीवके ही संभव है, अभव्यके नही।[5] इसका आशय यह हुआ कि जो भव्य जीव पूर्वकी चार लब्धियोंके साथ-साथ करणलब्धिमें प्रवृत्त होकर उक्त सात प्रकृतियोकी पूर्वोक्त प्रकार उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमरूप जैसी स्थिति बना लेता है उसीके अनुरूप वह अपनेमें औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक कोई भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लेता है।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनो सम्यग्दर्शनोमेसे कोई भी सम्यग्दर्शन ऐसा नही है जो चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्वके किसी भी गुणस्थानमे उत्पन्न हो सकता हो, क्योकि प्रथम गुणस्थानमें तो सम्यग्दर्शनकी घातक सर्वघाती मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय विद्यमान रहता है,[6] द्वितीय गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनकी घातक सर्वघाती अनन्तानुबन्धी कषायका उदय विद्यमान रहता है[7] और तृतीय गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनकी घातक सर्वघाती सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय विद्यमान रहता है।[8] चूंकि यह बात हम पूर्वमें कह चुके है कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका ही अपर नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है और औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनो सम्यग्दर्शनोका ही अपर नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। अतः यह बात निर्णीत हो जाती है कि व्यवहार और निश्चय दोनो ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोमेसे कोई भी सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्वके किसी भी गुणस्थानमे उत्पन्न नही होता है। इतना अवश्य है कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवे गुणस्थान तकके जीवोमे उक्त तीनो प्रकारके सम्यग्दर्शनोमेसे कोई भी एक सम्यग्दर्शन संभव है। इसलिये चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवे गुणस्थान तकके जीव या तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा व्यवहारसम्य-ग्दृष्टि रह सकते है या फिर औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा निश्चयसम्यग्दृष्टि रह सकते है। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यानमे रखना चाहिये कि सातवें गुणस्थानका जो जीव उपशमश्रेणी या क्षपक-श्रेणीपर आरूढ होने के लिए अधःकरण परिणामोंमें प्रवृत्त होता है उसके व्यवहाररूप क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन

१-२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २६ पूर्वा०।
३ वही, गा० २५ का उत्तरार्ध।
४-५. वही, गाथा ६५०।
६. वही गाथा १५।
७. वही, गाथा १९।
८ वही, गाथा २१।

न रहकर नियमसे निश्चयरूप औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शन ही रहा करता है। इसमे भी इतनी विशेषता है कि उपशमश्रेणीपर आरूढ़ होनेवाले जीवके निश्चयरूप औपशमिक और क्षायिक दोनो सम्यग्दर्शनोंमेसे कोई एक सम्यग्दर्शन रह सकता है। लेकिन क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होनेवाले जीवके निश्चयरूप क्षायिक सम्यग्दर्शन ही रहता है, औपशमिक सम्यग्दर्शन नही। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आठवें गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तकके जीव या तो औपशमिकसम्यग्दृष्टिके रूपमे निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते है या फिर क्षायिकसम्यग्दृष्टिके रूपमे निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते है। इन गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव कभी भी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके रूपमें व्यवहारसम्यग्दृष्टि नही रहता है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थानमें और इससे आगेके गुणस्थानोमे रहनेवाला कोई भी जीव केवल क्षायिकसम्यग्दृष्टिके रूपमें ही निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करता है।

इसी प्रकार मोक्षमार्गके अंगभूत सम्यग्ज्ञानका प्रारम्भ भी चतुर्थ गुणस्थानसे ही होता है। इसमे भी चतुर्थगुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो प्रत्येक जीवमें क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञानके रूपमे व्यवहार-सम्यग्ज्ञान ही रहा करता है निश्चयसम्यग्ज्ञान नही, तथा इसके आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोंमें क्षायिकज्ञानके रूपमे निश्चयसम्यग्ज्ञान ही रहा करता है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नही। कारण कि तेरहवें गुण-स्थानसे पूर्व बारहवे गुणस्थानके अन्त समयमें मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञा-नावरण और केवलज्ञानावरण इन पाँचों ही ज्ञानावरणोंका एक साथ सर्वथा क्षय हो जानेके कारण क्षायोप-शमिक ज्ञानोंका तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि भव्य तथा अभव्यके भेदसे सहित एकेन्द्रियादिक समस्त संसारी जीवोंमें अनादिकालसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके रूपमे क्षायोपशमिक ज्ञानोंका नियमसे सद्भाव पाया जाता है। परन्तु उन ज्ञानोंमें व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप तब तक नही आता जब तक जीवमे सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव नहीं हो जाता[1] है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एक तो संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवका क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण कर सकता है, एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञान कदापि व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप नही धारण करता है। दूसरे, भव्यजीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण कर सकता है, अभव्य जीवोका नहीं। और तीसरे संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य जीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञान भी सम्यग्दर्शनकी तरह चतुर्थगुणस्थानमे ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण करता है, इससे पूर्वके गुणस्थानोंमें नही, क्योकि वह सम्यग्दर्शनके सद्भावमे सम्यग्ज्ञानरूपताको प्राप्त होता है।

मोक्षमार्गके अंगभूत व्यवहार तथा निश्चय दोनों ही प्रकारके सम्यक्चारित्रोके विषयमे आगमकी व्यवस्था यह है कि एकदेश क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारसम्यक्चारित्रका प्रारम्भ पचम गुणस्थानसे ही होता[2] है, इससे पूर्वके चारों गुणस्थानोंमें तो असंयत भाव ही रहा करता[3] है। कारण कि इन चारों गुणस्थानोंमे अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयका अभाव नही होता है। यही क्षायोपशमिक-रूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्‌चारित्र संज्वलनकषायके उदयके सद्भाव तथा प्रत्याख्यानावरणकषायके उदयके अभावमें षष्ठगुणस्थानमें सर्वदेशात्मक महाव्रतका रूप धारण कर लेता[4] है तथा आगे संज्वलन कषाय व

---

१. छहढाला, ४-१।

२-३. तदियकसायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।
विदियकसायुदयेण य असंजमो होदि णियमेण॥ गो० जी० ४६८।

४. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४६५।

नोकषाय धीरे-धीरे कृश होकर जब दशवें गुणस्थानमें केवल सूक्ष्म लोभका उदय कार्यकारी रह जाता है तब वही क्षायोपशमिक-रूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्र सूक्ष्मसांपरायचारित्रके रूपमें अपनी चरम सीमाको पहुँच जाता है[1]। और इस तरह दशवें गुणस्थानके अन्तमें समस्त कषायोंका यदि उपशम होता है तो ग्यारहवें गुणस्थानके प्रारम्भमें औपशमिकचारित्रके रूपमें निश्चयसम्यक्चारित्र प्रकट हो जाता[2] है तथा दशवें गुणस्थानके अन्तमें यदि समस्त कषायोंका क्षय होता है तो १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमें क्षायिकचारित्रके रूपमें निश्चयसम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता[3] है और यह क्षायिकचारित्र रूप निश्चयचारित्र १३वें तथा १४ वें गुणस्थानोंमें भी बना रहता[4] है। जीवको जब औपशमिक अथवा क्षायिक रूपमें निश्चयचारित्रकी प्राप्ति हो जाती है तब क्षायोपशमिकरूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्रकी समाप्ति नियमसे हो जाती है। कारण कि जीवमें प्रत्येक कर्मका यथासम्भव उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षायोपशममेंसे एक कालमें एक ही अवस्था रह सकती है, दो आदि अवस्थायें कभी एक साथ नहीं होतीं। इसलिए एक कर्मके उदयादिककी निमित्तताके आधारपर होनेवाले औदयिकादि भावोंका सद्भाव भी जीवमें एक साथ नहीं रह सकता है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि औपशमिकचारित्ररूप निश्चयसम्यक्-चारित्र केवल ११ वें गुणस्थानमें ही रहता है, कारण कि जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही इससे पतित होकर यथायोग्य कषायका उदय हो जानेसे फिर क्षायोपशमिकचारित्ररूप व्यवहार चारित्रमें आ जाता है। इस तरह क्षायिक चारित्ररूप निश्चयचारित्र ही ऐसा है जो १२वें में उत्पन्न होकर १३वें और १४वें गुणस्थानोंमें भी अपना सद्भाव कायम रखता है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीवको पूर्वोक्त प्रकार अधिक-से-अधिक सप्तम गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दर्शनरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है और १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमें क्षायिक-चारित्ररूप निश्चयसम्यग्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर १२वें गुणस्थानमें ही जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता है ? इसका समाधान निम्न प्रकार है—

१२ वें गुणस्थानमें क्षायिकचारित्रकी उपलब्धि हो जानेपर भी जीवके मुक्त न होनेका एक कारण तो यह है कि उस समय तक उसे ज्ञानावरणकर्मका पूर्णतः क्षय न होनेसे क्षायिकज्ञानरूप निश्चयसम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो पाती है। दूसरा कारण यह है कि १२वें गुणस्थानवर्ती क्षायिकचारित्ररूप निश्चय-चारित्रमें जीव यद्यपि भावात्मक चारित्रके रूपमें पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है परन्तु तब भी उसमें पराव-लम्बनपूर्ण योगात्मक क्रिया तो होती ही रहती है क्योंकि उसके भी मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और काय-वर्गणाके निमित्तसे प्रदेशपरिस्पन्दन होता है। अतः उसके स्वावलम्बनके रूपमें निश्चयचारित्रकी पूर्णता नहीं हो पाती है। यह योगात्मक क्रिया केवलज्ञानरूप क्षायिकनिश्चयसम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेके अनन्तर भी जीवके हुआ करती है। अतः केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें जीव मुक्त नहीं हो पाता है। इसी प्रकार केवलज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जब जीवकी योगात्मक क्रिया भी समाप्त हो जाती है तब जीवको मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण यह है कि जीव द्रव्यात्मकदृष्टिसे उस समय भी परावलम्बी रहा करता है क्योंकि अघाती कर्मोंका उदय उस समय भी उसे प्रभावित किये रहता है। इस तरह यह निर्णीत होता है कि १४वें गुणस्थानके अन्त समयमें अघाती कर्मोंका भी पूर्णतया क्षय हो जानेसे जब जीव द्रव्यात्मकदृष्टिसे भी पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है तभी उसके निश्चयसम्यक्चारित्रकी

१, २, ३, ४ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४७३, ४६७, ४७४।
५. तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ७०, पंक्ति ९।

पूर्णता समझनी चाहिए। इस तरह मोक्षमार्गकी पूर्णता १४वें गुणस्थानके अन्त समयमें होनेसे उससे पूर्व जीव मुक्ति नहीं पा सकता है दूसरे उस समय निश्चयचारित्रकी पूर्णता हो जानेसे मोक्षमार्गकी भी पूर्णता हो जानेपर यह जीव फिर एक क्षणके लिए भी संसारमे नही ठहरता है।[1]

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रको व्यवहार-मोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्षकी साक्षात् कारणता नही है, परंपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्रका कारण होकर ही मोक्षकी कारणता विद्यमान है। जैसा कि पूर्वमे हम विस्तारसे स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार क्षायिकसम्यग्दर्शन, क्षायिकसम्यग्ज्ञान और क्षायिक सम्यक्चारित्रको निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्षकी साक्षात् कारणता रहा करती है। यह बात भी हम पूर्वमे विस्तारसे स्पष्ट कर चुके हैं।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रको व्यवहार मोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्-चारित्र नामसे पुकारनेमे तथा औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान और औपशमिक व क्षायिक-चारित्रको निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्र नामसे पुकारनेमे प्रकारान्तरसे यह युक्ति भी दी जा सकती है कि आगममे स्वाश्रितपनेको वस्तुका निश्चय धर्म व पराश्रित पनेको वस्तुका व्यवहार धर्म माना गया है।[2] इस तरह औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यक्ज्ञान और औप-शमिक व क्षायिक सम्यक्चारित्र ये सभी चूंकि यथायोग्य अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मोके सर्वथा उपशम या सर्वथा क्षय हो जानेपर ही जीवमे उद्भूत होते है। अतः पूर्णरूपसे स्वाश्रयता पायी जानेके कारण इन्हे निश्चय नामसे पुकारना योग्य है तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्-चारित्र ये सभी चूंकि अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मोके सर्वघाती अंशोके यथायोग्य उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम एवं देशघाती अंशोंके उदयके सद्भावमे ही जीवमे उद्भूत होते है, अत पूर्ण रूपसे स्वाश्रयता नही पायी जाने अथवा कथंचित् पराश्रयता पायी जानेके कारण इन्हें व्यवहारनामसे पुकारना योग्य है।

यहाँ पर कोई कह सकता है कि द्रव्यलिंग और भावलिंगके रूपमे भी दर्शन, ज्ञान और चारित्रका वर्णन आगममे पाया जाता है। इनमेसे तद्रूपताका अर्थ भाव-लिंग होता है और अतद्रूपताका अर्थ द्रव्यलिंग होता है। इस तरह जो जीव यथायोग्य मोहनीयकर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न रहनेके कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी भावरूपताको प्राप्त न होते हुए भी तद्रूपके समान बाह्याचरण करते हैं उनमे तो द्रव्यलिंगके रूपमें ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते हैं, लेकिन जो जीव यथायोग्य मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जानेके कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी भावरूपताको प्राप्त होकर तदनुकूल बाह्याचरण करते है उनमें भावलिंगके रूपमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते है। इनमेसे जो जीव द्रव्यलिंगके रूपमे दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारक है, वे व्यवहार मोक्ष-मार्गी और जो जीव

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ७१, पंक्ति १५। तत्त्वा० श्लो० वा०, पृष्ठ ७१, पंक्ति २७।
तत्त्वार्थश्लोक वा०, पृष्ठ ७१, वार्तिक ९३, ९४।

२. आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। —समयसार, गाथा ५७२ की आत्मख्याति टीका।

भावलिंगके रूपमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारक हैं वे निश्चयमोक्षमार्गी आगममें स्वीकार किये गये हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यक्ज्ञानी और क्षायोपशमिक सम्यक्-चारित्री जीव हैं उन्हें भी निश्चयमोक्षमार्गी या निश्चयसम्यग्दृष्टि, निश्चयसम्यग्ज्ञानी और निश्चय-सम्यक्-चारित्री ही कहना उचित है, उन्हें व्यवहारमोक्षमार्गी या व्यवहारसम्यग्दृष्टि, व्यवहारसम्यग्ज्ञानी और व्यवहारसम्यक्-चारित्री कहना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समस्याका समाधान यह है कि व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दोंके प्रकरणानुसार विविध अर्थ आगममें स्वीकार किये गये है। जैसे कहीं भेदरूपता व्यवहार है और अभेदरूपता निश्चय है कहीं नानारूपता व्यवहार है और एकरूपता निश्चय है, कहीं पर्यायरूपता व्यवहार है और द्रव्यरूपता निश्चय है, कहीं विशेषरूपता व्यवहार है और सामान्यरूपता निश्चय है कहीं व्यतिरेकरूपता व्यवहार है और अन्वयरूपता निश्चय है, कहीं विभावरूपता व्यवहार है, और स्वभावरूपता निश्चय है, कहीं अभाव-रूपता व्यवहार है और भावरूपता निश्चय है, कहीं अनित्यरूपता व्यवहार है और नित्यरूपता निश्चय है, कहीं असद्रूपता व्यवहार है और सद्रूपता निश्चय है, कहीं विस्ताररूपता व्यवहार है और संक्षेप या संग्रह-रूपता निश्चय है, कहीं पराश्रय-रूपता व्यवहार है और स्वाश्रय-रूपता निश्चय है, कहीं विधेयरूपता, साधनरूपता व कारणरूपता व्यवहार है और उद्देश्यरूपता, साध्यरूपता व कार्यरूपता निश्चय है, कहीं परम्परारूपता व्यवहार है और साक्षात्रूपता निश्चय है, कहीं निमित्तरूपता व्यवहार है और उपादानरूपता निश्चय है, कहीं बहिरंग-रूपता व्यवहार है और अंतरंग-रूपता निश्चय है, कहीं उपचार, अभूतार्थ, असद्भूत-रूपता व्यवहार है और परमार्थ, भूतार्थ, सद्भूतरूपता निश्चय है। इन या इसी प्रकारके और भी व्यवहार और निश्चय शब्दके संभव अर्थोमेंसे जहाँ किस प्रकारका अर्थ ग्रहण करनेसे प्रकरणकी सुसंगति होती हो वहाँ पर उसी प्रकारका अर्थ व्यवहार और निश्चय शब्दोंका ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार द्रव्यलिंगके रूपमें जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीवमें रहा करते हैं उन्हें बाह्यरूपताके आधारपर व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना तथा भावलिंगके रूपमें जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीवमें रहा करते हैं उन्हें अन्तरंगरूपताके आधारपर निश्चयदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना भी संगत है एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्-ज्ञान और क्षायोपशमिक चारित्रको पराश्रयताके आधारपर व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यक्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र नामोंसे पुकारना तथा औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक ज्ञान व औपशमिक और क्षायिक चारित्रको स्वाश्रयताके आधारपर निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यक्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र नामसे पुकारना भी सगत है।

जैनागममें जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूपमें चार निक्षेपोंका वर्णन पाया जाता है उनमेंसे नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीनको तो व्यवहारनिक्षेपरूप जानना चाहिये तथा भावको निश्चयनिक्षेप-रूप जानना चाहिये। जैसे वास्तवमें अर्थात् निश्चयरूपमें तो वही जीव जैनी कहा जा सकता है जो भावसे जैनी हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो। लेकिन जो जीव सम्यग्दृष्टि बननेकी क्षमताको प्राप्त है उस जीवको भी द्रव्य-रूपसे व्यवहारमें जैनी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न सम्यग्दृष्टि बनने-की क्षमताको प्राप्त है लेकिन चूँकि जैन कुलमें उत्पन्न हुआ है अतः उसे भी व्यवहारमें नामरूपसे जैनी कहा जाता है तथा जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न उसमें सम्यग्दृष्टि बननेकी क्षमताको प्राप्त है लेकिन गृहस्थके छह[1] आवश्यक कृत्योंको अवश्य कर रहा है उसे स्थापनारूपसे व्यवहारमें जैनी माना जाता है। इस तरह

१. देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥—यशस्तिलकचम्पू, आश्वास ८, प्रकीर्ण विधिकल्प।

सर्वत्र हमें व्यवहार और निश्चयकी प्रक्रियाको सुसंगत कर लेना चाहिये। श्रद्धेय पंडितप्रवर आशाधरजीने सागारधर्मामृत (अध्याय २ श्लोक ५४) में नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूपमें विभक्त सभी जैनोंकी जो तरतमभावसे महत्ता बतलायी है उससे व्यवहारकी महत्ता प्रस्फुटित होती है।

मैं समझता हूँ कि अब तकके विवेचनसे आगम द्वारा स्वीकृत निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्ष-मार्गोंकी निर्विवाद स्थिति एवं सार्थकता अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। ●

सम्यग्दृष्टिका स्वभाव

'दिव्य ध्वनि' वर्ष २, अंक १२ में 'सम्यग्दृष्टिका स्वभाव' शीर्षकसे आगमप्रमाणके आधार किसी व्यक्तिके विचार मुद्रित हैं। व्यक्तिज्ञानकी कमीके कारण आगमका कैसा अनर्थ करता है, उसका परिचय इससे प्राप्त हो जाता है। मैं यहाँ उसीका उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारक ।।—समयसार कलश १९४।

इसका अर्थ वहाँ पर यह मुद्रित है—

"जैसे इस चैतन्यमूर्ति आत्माका स्वभाव परद्रव्यके भोगनेका नही है, उसी प्रकार इसका स्वभव परके कर्तापनेका भी नही है। अज्ञानके कारण यह जीव अपने आपको परका कर्त्ता भोक्ता मानता है। जब यह अज्ञान दूर हो जाता है तब यह अपनेको परका कर्ता-भोक्ता नही मानता है।"

इसका यथावत् अभिप्राय तो एक विस्तृत लेख द्वारा ही प्रकट किया जा सकेगा। पर मैं इतना ही यहाँ संकेत कर देना चाहता हूँ कि उक्त मुद्रित अर्थ भ्रमपूर्ण है। यथावत् अर्थ निम्नलिखित होना चाहिए—

"कर्तृत्व अर्थात् राग-द्वेष और मोहरूप परिणमन होना तथा पुद्गलकर्मोंसे बद्ध होना जीवका स्वभाव नहीं है। जिस प्रकार कर्मोंके फलकों भोगना अर्थात् कर्मोदयनिमित्तक राग-द्वेष-मोहादिरूप अपनी परिणतियोंका अनुभवन करना यानी सुखी-दुखी होना जीवका स्वभाव नही है, क्योंकि जब तक जीवमें अज्ञान अर्थात् कर्मोदयनिमित्तक राग-द्वेष और मोहरूप परिणमन हो रहा है, तब तक वह कर्ता अर्थात् उपादानरूपसे राग-द्वेष और मोह आदि अपनी परिणतियोका व निमित्तरूपसे पौद्गलिक कर्मोंके बन्धका कर्ता हो रहा है। इस तरह यदि जीवमें होनेवाली राग-द्वेष और मोहरूप अज्ञानपरिणतिका अभाव हो, जावे तो फिर न तो उसके भविष्यमें राग-द्वेष तथा मोहरूप भावोका कर्तृत्व रहेगा और जब यह कर्तृत्व नही रहेगा तो वह पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध भी नही करेगा।"

मुद्रित अर्थमें जो 'मानता है' ऐसा अर्थ निक्षिप्त किया गया है, इससे यह प्रकट होता है कि अज्ञानसे जीव अपनेको कर्ता केवल मान रहा है, है नही। जबकि यथावत् अर्थ यह है कि अज्ञानसे कर्ता है, केवल कर्तापन अपनेमें मान नही रहा है। यदि मानने रूप अर्थको सही माना जायगा, तो फिर यह भी मानना होगा कि जीव स्वभावसे संसारी नही है, केवल अज्ञानसे वह अपनेको संसारी मान रहा है। जबकि जीव ऐसा ही है, वह अपनेको केवल संसारी मान नहीं रहा है। उक्त पद्यमे अज्ञानका अर्थ भी ज्ञानका राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन अर्थात् विकृत परिणमन ही विवक्षित है, असत्य जानने रूप स्थिति अथवा ज्ञानका अभाव विवक्षित नहीं है।

निश्चय और व्यवहार धर्ममें साध्य-साधकभाव

धर्मका लक्षण

वस्तुविज्ञान (द्रव्यानुयोग) की दृष्टिसे "वत्थुसहावो धम्मो" इस आगमवचनके अनुसार धर्म यद्यपि आत्माके स्वत सिद्ध स्वभावका नाम है। परन्तु अध्यात्म (करणानुयोग और चरणानुयोग) की दृष्टिसे धर्म उसे कहते हैं जो जीवको संसार-दु.खसे छुड़ाकर उत्तम अर्थात् आत्मस्वातंत्र्यरूप मोक्ष-सुखमे पहुँचा देता है[1]।

आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण

रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे[2] आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रूपमे किया गया है, जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारके कारण होते है।

आध्यात्मिक धर्मका निश्चय और व्यवहार दो रूपोमे विभाजन और उनमे साध्य-साधकभाव

श्रद्धेय पं० दौलतरामजीने छहढालामें[3] कहा है कि आत्माका हित सुख है। वह सुख आकुलताके अभावमे प्रकट होता है। आकुलताका अभाव मोक्षमे है। अत जीवोको मोक्षके मार्गमे प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। एव वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भागोमे विभक्त है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सत्यार्थ अर्थात् आत्माके शुद्धस्वभावभूत है उन्हें निश्चयमोक्षमार्ग कहते है व जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयमोक्षमार्गके प्रकट होनेमे कारण है उन्हे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

छहढालाके इस प्रतिपादनमे मोक्षमार्गका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमे विश्लेषण उनकी निश्चय और व्यवहार दो भेदरूपता व निश्चय और व्यवहार दोनो मोक्षमार्गोंमे विद्यमान साध्य-साधक भाव इन सबका परिज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त पचास्तिकायकी गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकामे भी व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका कारण बतलाकर दोनो मोक्षमार्गोंमे साध्य-साधक भाव मान्य किया गया है। तथा गाथा १५९, १६० और १६१ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकामे भी ऐसा ही बताया गया है।

निश्चयधर्मकी व्याख्या

करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार जीव अनादिकालसे मोहनीयकर्मसे बद्ध रहता आया है और उसके उदयमे उसकी स्वत सिद्ध स्वभावभूत भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत परिणमनके विपरीत अशुद्ध विभाव-भूत परिणमन होता आया है। भाववतीशक्तिके इस अशुद्ध विभावरूप परिणमनकी समाप्ति करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक ही होती है। इस तरह जीवकी भाववतीशक्तिके अशुद्ध विभावभूत परिणमनके समाप्त हो जानेपर उसका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है, उसे ही निश्चयधर्म जानना चाहिए। इसके प्रकट होनेकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक २।

२. वही, श्लोक ३।

३. छहढाला, ३-१।

(क) सर्वप्रथम जीवमें दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासंभवरूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चयसम्यग्दर्शनके रूपमें व निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ख) इसके पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका पंचमगुणस्थानके प्रथम समयमें देशविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका सप्तमगुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है। ऐसा सप्तमगुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम इस तरह दोनो गुणस्थानोंमें यथायोग्य समय तक सतत झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) यदि वह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव पहलेसे ही उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो अथवा सप्तम गुणस्थानके कालमें ही वह उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो जावे, तो वह तब करणलब्धिके आधारपर नवनोकषायोंके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण और तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण इन दोनों कषायोंकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका तथा उसके चतुर्थ भेद संज्वलन कषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका भी यथास्थान नियमसे उपशम या क्षय करता है और उपशम होनेपर उसकी भाववतीशक्तिका एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमे औपशमिक, यथाख्यातनिश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे अथवा क्षय होनेपर उसकी भाववतीशक्तिका द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।[1]

व्यवहार धर्मक व्याख्या

व्यवहारधर्मकी व्याख्या करनेसे पूर्व यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नारकी, देव और तिर्यंच इन तीनों प्रकारके जीवोंमे केवल अगृहीत मिथ्यात्व पाया जाता है, अत इनमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थितक्रमसे विवेचन करना संभव नहीं है। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसमें अगृहीतमिथ्यात्वके साथ गृहीतमिथ्यात्व भी पाया जाता है। फलत मनुष्योंमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थितक्रमसे विवेचन करना संभव हो जाता है। अतः यहाँ मनुष्योंकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका विवेचन किया जाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार पापभूत अघाती कर्मोंके उदयमें अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि

---

१. निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतो व्यवहारमोक्षमार्गः।

(क) निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधकभावत्वात्। —समय०, गा० १५२ की टीका

(ख) निश्चयमोक्षमार्गसाधकभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। वही, गा० १६० की टीका

(ग) व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्। वही, गा० १६१ की टीका

मनुष्योंकी भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानके रूपमें मिथ्यापरिणमन होते रहते हैं तथा जब उनमें पुण्यभूत अघाती कर्मोंका उदय होता है तब अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप परिणमनोंकी समाप्ति होनेपर उनकी उस भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानके रूपमें सम्यक्परिणमन होने लगते हैं। भाववतीशक्तिके दोनों प्रकारके सम्यक्परिणमनोंमेंसे तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन सम्यग्दर्शनके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है और तत्त्वज्ञानरूप परिणमन सम्यग्ज्ञानके रूपमें व्यवहारधर्म कहलाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानसे प्रभावित मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत प्रवृत्तियाँ किया करते हैं और कदाचित् साथमें लौकिक स्वार्थकी पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करते हैं। तथा जब वे भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होते हैं, तब वे अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्यागकर मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ कर्तव्यवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानके आधारपर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य कदाचित् क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरंभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका भी एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए अनिवार्य आरम्भीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं। इस प्रकार अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्यागकर जो अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप आरंभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं, उन्हें नैतिक आचारके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है। तथा वे ही मनुष्य जब संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक आरंभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं, तब उन्हें सम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है।

प्रसंगवश मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वश्रद्धान व्यवहारमिथ्यादर्शन कहलाता है। और उनकी उस भाववतीशक्तिके ही परिणमनस्वरूप मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वज्ञान व्यवहारमिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान इन दोनोंसे प्रभावित उन मनुष्योंकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापभूत जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है वह व्यवहार मिथ्याचारित्र कहलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रकारके व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानके विपरीत व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानसे प्रभावित होकर वे भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य संकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग करते हुए यदि अशक्तिवश आरम्भीपापका अणुमात्र भी त्याग नहीं कर पाते हैं तो उनकी यह आरम्भी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति व्यवहाररूप अविरति कहलाती है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पूर्वमें मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यातसम्यक्चारित्रके रूपमें निश्चयधर्मका विवेचन किया

गया है उसी प्रकार यहाँ प्रथम गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमे भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मिथ्यात्वभूत निश्चयमिथ्यादर्शन, निश्चयमिथ्याज्ञान और निश्चयमिथ्याचारित्रके रूपमे, द्वितीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी केवल अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सासादनसम्यक्त्वभूत निश्चयमिथ्यादर्शन, निश्चयमिथ्याज्ञान और निश्चयमिथ्याचारित्रके रूपमे एव तृतीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके रूपमें निश्चय अधर्मका भी विवेचन कर लेना चाहिए। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि चतुर्थगुणस्थानके जीवमे नव नोकषायोके उदयके साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंके सामूहिक उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है उसे भाव-अविरति जानना चाहिए। इसे न तो भावमिथ्याचारित्र कह सकते है और न विरतिके रूपमें भावसम्यक्चारित्र कह सकते है, क्योकि भावमिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होता है और विरतिके लिए कम-से-कम अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके स्पष्टीकरणोंके साथ ही यहाँ निम्नलिखित कुछ विशेषताएं भी ज्ञातव्य है

१. अभव्य जीवोंके केवल प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है, जबकि भव्यजीवोके प्रथम गुणस्थान-मिथ्यादृष्टिसे लेकर चतुर्दश अयोगकेवली गुणस्थानपर्यन्त सभी गुणस्थान होते है।

२. निश्चयधर्मका विकास भव्य जीवोंमें ही होता है, अभव्य जीवोंमे नही होता। तथा भव्य जीवोमे भी उस निश्चयधर्मका विकास चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसके पूर्वके गुणस्थानोसे नहीं होता।

३. जीवके चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमे जो निश्चयधर्मका विकास होता है, वह उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमे होता है। इसके पश्चात् जीवके पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमे निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप देशविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है तथा इसके भी पश्चात् जीवके निश्चयधर्मका विकास सप्तम-गुणस्थानके प्रथम समयमे उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सर्वविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है और जीवमे उसका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उत्तरोत्तर उत्कर्षके रूपमे विद्यमान रहता है। दशम गुणस्थानके आगे जीवके एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमे निश्चयधर्मका विकास जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप औपशमिक, यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है अथवा दशम गुणस्थानसे ही आगे जीवके द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप क्षायिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है तथा यह जीवके आगेके सभी गुणस्थानोमे विद्यमान रहता है।

४. पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है कि पहला व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शनके रूपमे जीवकी भाववतीशक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला परिणमन है और दूसरा व्यवहारधर्म सम्यग्ज्ञानके रूपमे जीवकी भाववतीशक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला परिणमन है एवं तीसरा व्यवहारधर्म नैतिक आचार तथा देशविरति व सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमे मन, वचन और कायके सहारेपर होनेवाला जीवकी क्रियावतीशक्तिका परिणमन है। इस सभी प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास प्रथमगुणस्थानमे सम्भव है और अभव्य व भव्य दोनों प्रकारके जीवोमे हो सकता है। इतना अवश्य है कि उक्त सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप तथा नैतिक

आचाररूप व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें नियमसे होता है क्योंकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास किये बिना अभव्य जीवमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोंका तथा भव्य जीवमे इन लब्धियोंके साथ करणलब्धिका भी विकास नही हो सकता है। प्रथम गुणस्थानमे देशविरति और सर्वविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मके विकसित होनेका कोई नियम नही है, परन्तु देशविरति-सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका विकास, चतुर्थ गुणस्थानमे नियमसे होकर पचम गुणस्थानमें भी नियमसे रहता है। एवं सर्वविरति-सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका पंचम गुणस्थानमें नियमसे विकास होकर षष्ठसे दशम गुणस्थान तक उसका सद्भाव नियमसे रहता है।

यहाँ इतना अवश्य ध्यातव्य है कि सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उस व्यवहारधर्मका सद्भाव अंतरंग रूपमे ही रहा करता है। तथा द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमे यथासभव रूपमे रहनेवाला व्यवहारधर्म भी अबुद्धिपूर्वक ही विद्यमान रहता है। एकादश गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थानोंमे व्यवहारधर्मका सर्वथा अभाव रहता है। वहाँ केवल निश्चयधर्मका ही सद्भाव रहता है।

जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है

प्रकृतमे 'मोक्ष' शब्दका अर्थ जीव और शरीरके विद्यमान सहयोगका सर्वथा विच्छेद हो जाना है। जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद चतुर्दश गुणस्थानमे तब होता है जब उस जीवके साथ बद्ध चार अघाती कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको चतुर्दश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब त्रयोदश गुणस्थानमे कर्मास्रवमे कारणभूत जीवके योगका सर्वथा निरोध हो जाता है। जीवको त्रयोदश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मोंका द्वादश गुणस्थानमे सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको द्वादश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध मोहनीयकर्मप्रकृतियोका पूर्वमे यथासमय क्षय होते हुए दशम गुणस्थानके अन्त समयमें शेष सूक्ष्म लोभप्रकृतिका भी क्षय हो जाता है। द्वादश गुणस्थानका अर्थ ही दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मकी पूर्णता हो जाना है। इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है।

जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है

जीवके भाववतीशक्तिका निश्चयधर्मके रूपमे प्रारंभिक विकास चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमे होता है और उसका वह विकास पंचमादि गुणस्थानोंमें उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर एकादश गुणस्थानके प्रथम औपशमिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे क्षायिक-यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे पूर्णताको प्राप्त होता है। निश्चयधर्मका यह विकास मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोके यथास्थान यथासम्भव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होता है। तथा मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोका यथायोग्य वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम भव्य जीवमे आत्मोन्मुखरूप करणलब्धिका विकास होनेपर होता है व उसमे उस करणलब्धिका विकास क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक होता है। एवं जीवमें इन लब्धियोंका विकास व्यवहारधर्मपूर्वक होता है। यह व्यवहारधर्म अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप होता है। जीवको इसकी प्राप्ति तब होती है जब उस जीवमें भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। इसके विकासकी प्रक्रियाको पूर्वमे व्यवहार-

धर्मकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारण होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवको अपनी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयकी उत्पत्तिमे कारण-भूत मोहनीयकर्मका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम करनेके लिए इस व्यवहारधर्मके अन्तर्गत एकान्त-मिथ्यात्वके विरुद्ध प्रशमभाव, विपरीतमिथ्यात्वके विरुद्ध संवेगभाव, विनयमिथ्यात्वके विरुद्ध अनुकम्पाभाव, संशयमिथ्यात्वके विरुद्ध आस्तिक्यभाव और अविवेकरूप अज्ञानमिथ्यात्वके विरुद्ध विवेकरूप सम्यग्ज्ञानभावको भी अपनेमें जागृत करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवको समस्त जीवोंके प्रति मित्रता (समानता) का भाव, गुणीजनोंके प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंके प्रति सेवाभाव और विपरीत दृष्टि, वृत्ति और प्रवृत्ति वाले जीवोंके प्रति मध्यस्थता (तटस्थता) का भाव भी अपनानेकी आवश्यकता है। इस तरह सर्वांगीणताको प्राप्त व्यवहारधर्म उपर्युक्त प्रकार निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक सिद्ध हो जाता है।
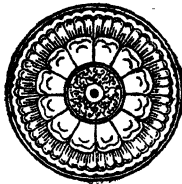
निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थाख्यान

सम्पूर्ण जैनागमको चार भागोंमें विभक्त किया गया है—१. प्रथमानुयोग (धर्मकथानुयोग), २. चरणानुयोग, ३. करणानुयोग ४. और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर महापुरुषोंके जीवनचरित्रके आधारपर पाप, पुण्य और धर्मका दिग्दर्शन कराया गया है। चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर पाप, पुण्य और धर्मकी व्यवस्थाओंका निर्देश किया गया है। करणानुयोग वह है जिसमें जीवोंकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओंके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको बतलाने वाले स्वतःसिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनोंका निर्धारण किया गया है। इनमेंसे चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोगमें आवश्यकतानुसार विविध अर्थोंमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका बहुलताके साथ प्रयोग हुआ है, इसलिये इन दोनों शब्दोंका कहाँ क्या अर्थ ग्राह्य है, इस विषयपर यहाँ विचार किया जा रहा है।

निश्चय और व्यवहार शब्दोंका व्युत्पत्त्यर्थ

निश्चय और व्यवहार दोनों शब्दोंमेंसे निश्चय शब्द तो 'निस्' उपसर्गपूर्वक चयनार्थक 'चिञ्' धातुसे 'अप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है और व्यवहार शब्द 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृञ्' धातुसे 'ण' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार इन व्युत्पत्तियोंके अनुसार वस्तुमें संभवनीय अभेदाश्रित व भेदाश्रित तथा स्वाश्रित व पराश्रित परस्परविरुद्ध धर्मयुगलोंमें एक-एक धर्म तो निश्चय शब्दका तथा एक-एक व्यवहार शब्दका अर्थ समझना चाहिये। उक्त व्युत्पत्तियोंके अनुसार वस्तुमें संभवनीय अभेदाश्रित व भेदाश्रित तथा स्वाश्रित और पराश्रित परस्परविरुद्ध धर्मोंके वे युगल निम्न प्रकार संग्रहीत किये जा सकते हैं—

अखण्डरूपता-खण्डरूपता, एकरूपता-नानारूपता, तद्रूपता-अतद्रूपता, भावरूपता-अभावरूपता, नित्यरूपता-अनित्यरूपता, स्वाश्रयरूपता-पराश्रयरूपता, संग्रहरूपता-विस्ताररूपता, सामान्यरूपता-विशेषरूपता, अन्वयरूपता-व्यतिरेकरूपता द्रव्यरूपता-पर्यायरूपता, गुणरूपता-पर्यायरूपता, स्वभावरूपता-विभावरूपता, उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, उपादानरूपता-निमित्तरूपता, साक्षाद्रूपता-परम्परारूपता आदि। इसमें पूर्व-पूर्व धर्म तो अभेदाश्रित या स्वाश्रित होनेके कारण वस्तुका निश्चयधर्म और उत्तर-उत्तर धर्म भेदाश्रित या पराश्रित होनेके कारण वस्तुका व्यवहारधर्म समझना चाहिये।

यहाँपर सर्वप्रथम हम यह विवेचन करने जा रहे हैं कि चरणानुयोगमें प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दोंका क्या-क्या अर्थ आगममें ग्रहण किया गया है?

चरणानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थ

जैन संस्कृतिके अध्यात्मका प्रधान और अन्तिम उद्देश्य जीवों द्वारा सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा पाकर आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त कर लेना ही बतलाया गया है। जीवों द्वारा सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा पा लेनेका नाम मोक्ष है[1] और इस मोक्षको प्राप्त करनेका जो उपाय है वह मोक्षमार्ग है। जैनागममें मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें प्रतिपादित किया गया है।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।—तत्त्वार्थसूत्र १०-२।

२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र १।१।

और सम्यक्चारित्रको आगममें निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो-दो रूप बतलाया गया है।[1] इस तरह मोक्षमार्ग वहाँपर दो भेदरूप बतला दिया गया है—एक निश्चयमोक्ष-मार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्ष-मार्ग।[2] साथ ही इतना और स्पष्ट कर दिया गया है कि निश्चयमोक्ष-मार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण है और व्यवहारमोक्ष-मार्ग परम्परया, अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण है।[3]

श्रद्धेय पण्डित दौलतरामजीने छहढालामे तीसरी ढालके प्रारम्भमे इस विषयको बहुत ही सुन्दरताके साथ सारगर्भित दो पद्यों द्वारा स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित किया है। वे पद्य ये हैं—

"आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न, तातें शिवमग लाग्यौ चहिये।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो।।१।।
पर द्रव्यन तें भिन्न, आप में रुचि, सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जानपनो, सो सम्यग्ज्ञान कला है।।
आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई।
अब ववहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई।।२।।

प्रथम पद्यमें पण्डितजीने कहा है कि आत्माका हित सुख है, वह सुख आकुलताके अभावमे उत्पन्न होता है और आकुलताका अभाव मोक्षमें है, अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। ये तीनों निश्चयरूप भी होते हैं और व्यवहाररूप भी होते हैं अतः मोक्षमार्ग भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। इनमेंसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका सीधा कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग इस निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण है अर्थात् वह परम्परया मोक्षका कारण है।

द्वितीय पद्यमें पण्डितजीने कहा है कि समस्त चेतन-अचेतन पर-द्रव्योकी ओरसे मुड़कर अपने आत्म-स्वरूपकी ओर जीवकी अभिरुचि (उन्मुखता) होना निश्चयसम्यग्दर्शन है, उसको अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जाना निश्चयसम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होनेवाली कषायजन्य पाप और पुण्यरूप समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर उसका अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो लीन हो जाना निश्चयसम्यक्चारित्र है।

---

१. पंचास्तिकाय—गाथा १०६।

२. पंचास्तिकायमें व्यवहारमोक्ष-मार्ग, गाथा १६०। पंचास्तिकायमें निश्चयमोक्ष-मार्ग, गाथा १६१। निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं संभवति।—पंचास्तिकाय, गाथा १६० की टीकामें आचार्य जयसेन।

३. निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्।—पंचास्तिकाय, गाथा १६० की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र। पंचास्तिकाय, गाथा १६२ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र। पंचास्तिकाय गाथा १६३ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र। साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः।—परमात्मप्रकाश, टीका, पृष्ठ १४२ एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधनभावेन तीर्थंकुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यम्।—परमात्मप्रकाश, श्लोक ७ की टीका।

द्वितीय पद्यके अन्तिम चरणमें श्रद्धेय पण्डितजीने कहा है कि आगे छहढालामें निश्चय-सम्यग्दर्शनादि रूप उक्त निश्चयमोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार मोक्षमार्गका विवेचन किया जायगा। इस तरह छहढालामें किये गये विवेचनके अनुसार व्यवहारमोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका पृथक्-पृथक् जो स्वरूप निर्धारित होता है उसका कथन यहाँपर किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शनका स्वरूप

छहढालामें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं और कहा गया है कि इनके प्रति जीवोंके अन्त करणमें श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादिकी वास्तविकताके सम्बन्धमे ज्ञानकी दृढ़ता यानी आस्तिक्यभाव जागृत हो जानेका नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधारपर ही जीवोंको निश्चय-सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि होती है।

आचार्य उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमें और स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप बतलाया है उसे व्यवहारसम्यग्दर्शनका ही स्वरूप समझना चाहिये। आचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थ-सूत्रके अनुसार उपर्युक्त सात तत्त्वोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है।[1] और स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डक-श्रावकाचारके अनुसार परमार्थ अर्थात् वीतरागताके आदर्श देवो, परमार्थ अर्थात् वीतरागताके पोषक शास्त्रों और परमार्थ अर्थात् वीतरागताके मार्गमें प्रवृत्त गुरुओंके प्रति जीवोंके अन्तःकरणमें श्रद्धान (भक्ति या आस्था) का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[2]

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें निबद्ध सम्यग्दर्शनके उक्त लक्षणोंमें परस्पर भेद दिखाई देता है। परन्तु तत्त्वतः उनमें भेद नहीं है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र द्वारा रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रतिपादित लक्षणसे भी निष्कर्षके रूपमें जीवोंके अन्त करणमे उक्त सात तत्त्वोंके प्रति आस्तिक्य भावकी जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शनका स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप

वीतरागताके पोषक अथवा सात तत्त्वोंके यथावस्थित स्वरूपके प्रतिपादक आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश यह सब व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जीवों-को समस्त वस्तुओंके और विशेषकर आत्माके स्वत सिद्ध स्वरूपका बोध होता है। जैसे आत्माका स्वत सिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। इसके आधारपर ही आत्माका अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिए हुए) स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्माके इस स्वरूपको समझनेके लिये उपर्युक्त प्रकारके आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश सहायक होता है।

विचार कर देखा जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पूर्व ही जीवोंको इस प्रकारके सम्यक् (वीतरागता-के पोषक) आगमज्ञानकी संप्राप्ति आवश्यक है। इसलिये यद्यपि मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनके पूर्व ही सम्यग्ज्ञानको स्थान मिलना चाहिये, परन्तु वहाँ इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके मध्य स्थान दिया गया है इसका एक कारण तो यह है कि जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर ही उक्त प्रकारके ज्ञानका सम्यक्पना

---

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।—तत्त्वार्थसूत्र १-२, १-४।
२. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

(सार्थकत्व) माना जा सकता है और दूसरा कारण यह है कि उक्त ज्ञानकी उपयोगिता मध्यदीपकन्यायसे सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यक्चारित्रपर आरूढ़ होनेके लिये भी आवश्यक है।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यमय प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूपमें लीन होने रूप निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओंमें जीवकी प्रवृत्ति होना व्यवहारसम्यक्चारित्र है।

निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम यथाख्यातचारित्र है। इसे वीतरागचारित्र और करणानुयोगकी दृष्टिमें औपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है।[1] इनकी प्राप्ति जीवोंको उपशमश्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर औपशमिक चारित्रके रूपमें अथवा क्षपकश्रेणी चढ़कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने पर क्षायिक चारित्रके रूपमें होती है। परन्तु ११वें गुणस्थानके औपशमिक चारित्र और १२वें गुणस्थानके क्षायिक चारित्रमें इतना अन्तर है कि उपशमश्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही पतनकी ओर मुड़ जाता है। अतः जहाँ उसका औपशमिक चारित्र तत्काल (अन्तर्मुहूर्तमें) समाप्त हो जाता है वहाँ क्षपकश्रेणी चढ़कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने वाले जीवका क्षायिक चारित्र स्थायी रहता है और वह जीव पतनकी ओर न मुड़ कर अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही १२वें गुणस्थानसे १३वें गुणस्थान में पहुँच कर सर्वज्ञताको प्राप्त कर लेता है। इसी निश्चयचारित्रकी प्राप्तिके लिये चतुर्थ गुणस्थानका अविरतसम्यग्दृष्टि जीव पाँचवें गुणस्थानमें अणुव्रत धारण करता है तथा और भी आगे बढ़ कर छठे गुणस्थान में महाव्रत भी धारण करता है। इतना ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढ़ता हुआ वह जीव सातवें गुणस्थानमें शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त हो कर आत्मपरिणामोंकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यथायोग्य विशुद्धिके आधारपर उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी माड़ता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीवको उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक वह पाँचवें और छठें गुणस्थानोंमें तो बुद्धिपूर्वक और सातवेंसे लेकर १०वें तकके गुणस्थानोंमें अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहारचारित्रकी पालनामें ही लगा रहता है। इस व्यवहारचारित्रका भी अपर नाम सरागचारित्र और करणानुयोगकी दृष्टिमें क्षायोपशमिक चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एवं तपश्चरण आदि क्रियाएँ पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन-से रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, इन क्रियाओंको संलग्नताके साथ करनेसे वे यथासंभव स्वर्गमें जन्म धारण करके नवें ग्रैवेयक तक भी पहुँच जाते हैं, परन्तु यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि इन क्रियाओंकी निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षप्राप्तिरूप सार्थकता सम्यग्दर्शनके आधार पर ही हुआ करती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसको अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंका क्षयोपशम होना असंभव है जबकि अणुव्रत और महाव्रत आदिरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायोंका आगममें बतलायी गयी प्रक्रियाके अनुसार क्षयोप-शम होनेपर ही उत्पन्न होता है।[2]

इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि करणानुयोगमें जो सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय और

---

१. प्रवचनसार, गाथा ७।

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०, ३१।

व्यवहारके भेदसे दो प्रकारके मोक्षमार्गका कथन मिलता है उसका आशय निश्चयमोक्षमार्गको तो मोक्षका साक्षात् कारण बतलाना है तथा व्यवहारमोक्षमार्गको मोक्षका परंपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण बतलाना है। विचार कर देखा जाय तो यह आशय 'मोक्षमार्ग' शब्दके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंसे ही ध्वनित होता है। इसी प्रकार निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको तो कार्यरूप तथा व्यवहारमोक्षमार्गस्वरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको उस निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप सम्यग्दर्शनादिका कारणरूप बतलाना भी उसीका आशय है। यहाँपर भी यदि विचार करके देखा जाय तो यह आशय भी सम्यग्दर्शन आदि शब्दोंके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंसे ही ध्वनित होता है। इस तरह ज्ञात होता है कि चरणानुयोगके प्रकृत प्रकरणमें मोक्षमार्ग शब्दके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोका क्रमसे कारण की साक्षाद्रूपता और परंपरारूपता ही अर्थ होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शब्दोंके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंका क्रमसे निश्चयरूप और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शनादिकको कार्यरूपता और कारणरूपता ही अर्थ होता है। इस तरह यह विवेचन हमे इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि मोक्षप्राप्तिके लिये जीवको मोक्षके साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रकी तथा परंपरया कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रकी अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसी स्थितिमे जो व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गरूप निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिके बिना केवल व्यवहारमोक्षमार्गरूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकसे ही मोक्षप्राप्ति कर लेना चाहते हैं, वे गलती पर हैं। कारण कि उपर्युक्त विवेचनके अनुसार उन्हें अपने मोक्षप्राप्ति रूप उद्देश्यमें सफलता मिलना असंभव है। इसी तरह जो व्यक्ति ऐसा कहते है कि "जब निश्चयमोक्षमार्गके बिना मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती है तो निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिका ही जीवको प्रयत्न करना चाहिये, व्यवहार मोक्षमार्गके ऊपर ध्यान देनेकी कुछ भी आवश्यकता नही है", तो ये व्यक्ति भी गलतीपर है, क्योंकि ऊपरके विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीवको व्यवहारमोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए बिना निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति होना असंभव है। यह बात पूर्वमें ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्गके अंगभूत निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति जीवको औपशमिकरूपमे तो उपशमश्रेणी माड कर ११वें गुणस्थानमे पहुँचनेपर ही होती है और क्षायिकरूपमें क्षपकश्रेणी माड कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर ही होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जब तक जीव उपशम या क्षपक श्रेणी माडकर ११वें अथवा १२वें गुणस्थानमे नही पहुँच जाता है तब तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र, जिसे सरागचारित्र या करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिकचारित्र कहा जाता है, ही रहा करता है।

इससे यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि "व्यवहारसम्यक्चारित्रको धारण किये बिना ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको संभव है", कारण कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य गुणस्थानक्रमसे बढता हुआ ही ११वें या १२वें गुणस्थानमें पहुंच कर निश्चयसम्यक्चारित्रको उपलब्ध कर सकता है और यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि १०वें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र ही सरागचारित्र या यों कहिये कि क्षायोपशमिकचारित्र के रूपमें रहा करता है।

उपर्युक्त कथनसे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि "जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारचारित्र हो ही जाता है।" कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव हो जाने पर ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति जीवको होती है। क्या कोई व्यक्ति इस बातको स्वीकार करेगा कि क्षायोपशमिकचारित्ररूप सरागचारित्र या व्यवहारचारित्रका सद्भाव रहते हुए भी

जीवमें औपशमिक या क्षायिकरूप वीतरागचारित्र, यथाख्यातचारित्र या निश्चयचारित्र रह सकता है ? अर्थात् कोई भी व्यक्ति इस बातको स्वीकार नहीं करेगा और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३३५ की टीकामें व्यवहाराचार सूत्रका[1] उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब तक अमृतकुम्भ कहा है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है और भगवान कुन्दकुन्दने उसी व्यवहार-सम्यक्चारित्रको तब विषकुम्भकी उपमा दे दी है जब जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है।[2] इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे परंपरया मोक्षके कारणभूत व्यवहारसम्यक्चारित्रकी नियमसे उपयोगिता है। लेकिन तभी तक व्यवहारसम्यक्चारित्रकी उपयोगिता है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं हो जाती है, आगे नहीं।

अब आगे इस बात पर विचार किया जाता है कि आगममें निश्चयमोक्षमार्गको जो भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है और व्यवहारमोक्षमार्गको जो अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है, तो इसमें आगमका अभिप्राय क्या है ?

आगममें निश्चयमोक्षमार्गको जो भूतार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है इसमें आगमका अभिप्राय इतना ही लेना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्गकी इससे साक्षात् कारणताका बोध हो जाता है और चूँकि मोक्षकी साक्षात् कारणताका व्यवहारमोक्षमार्गमें अभाव पाया जाता है, कारण कि उसमें तो परंपरया ही कारणता पायी जाती है। अतः उसे अभूतार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि "व्यवहारमोक्षमार्गकी मोक्षकी प्राप्तिमें कुछ भी उपयोगिता नहीं है, वह तो वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही है", कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारमोक्षमार्ग मोक्षप्राप्तिमें परंपरया कारण नियमसे होता है। इस तरह व्यवहारमोक्षमार्गमें मोक्षप्राप्तिकी साक्षात् कारणताका अभाव रहनेसे जहाँ अभूतार्थता आदि धर्म सिद्ध होते हैं वहाँ उसमें मोक्षप्राप्तिकी परंपरया कारणताका सद्भाव रहनेसे भूतार्थता आदि धर्म भी सिद्ध होते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो सर्वथा भूतार्थ आदि है क्योंकि उसमें मोक्षकी साक्षात् कारणता विद्यमान है और व्यवहारमोक्षमार्ग कथंचित् भूतार्थ आदि हैं क्योंकि उसमें मोक्षकी परंपरया कारणता विद्यमान है और कथंचित् अभूतार्थ आदि भी हैं क्योकि उसमें मोक्षकी साक्षात् कारणताका अभाव है। इस तरह इसे सर्वथा अभूतार्थ तो नहीं माना जा सकता है, कारण कि जब पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारसम्यक्चारित्रका सद्भाव १०वें गुणस्थान तक मानना अनिवार्य है, ११वें और १२वें गुणस्थानमें ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको होती है तो इसे मोक्षका सर्वथा अकारण कैसे माना जा सकता है, जिससे कि इसे सर्वथा अभूतार्थ आदि माना जा सके ?

इस कथनका तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्तिके साक्षात् कारणभूत निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति किसी भी जीवको व्यवहारमोक्षमार्गको अपनाये बिना संभव नहीं है। अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक जीवको हर हालतमें व्यवहारमोक्षमार्गको अपनाना ही होगा।

इतना स्पष्टीकरण हो जानेके बाद जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्गको संसारका कारण मानते हैं वे बहुत

---

१. अपडिकमणं अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोही य विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

—व्यवहाराचारसूत्र

२. समयसार, गाथा, ३०६-३०७।

भारी भूल करते हैं। कारण कि संसारके मुख्य कारण तो मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्या-ज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं तथा व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमें देशघाती प्रकृतियोंका उदय विद्यमान रहता है वह यद्यपि संसारका कारण होता है लेकिन उसमें (क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमें) जितना अंश यथाविधि उपशम या क्षयके रूपमें सर्वघाती कर्मके उदयाभावरूप रहा करता है वह कभी संसारका कारण नहीं होता है।[1] यही कारण है कि देशघाती प्रकृतिके प्रभावसे ऐसा जीव मर कर उत्तम गतिमें ही जन्म लिया करता है[2] और परंपरया उस देशघाती प्रकृतिके प्रभावको समाप्त करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।[3]

निश्चयमोक्षमार्गकी सर्वथा भूतार्थता और व्यवहार मोक्षमार्गकी कथंचित् भूतार्थता और कथंचित् अभूतार्थताको सिद्धिमें एक तर्क यह भी है कि निश्चयमोक्षमार्ग सर्वथा बन्धका अकारण है जबकि व्यवहार-मोक्षमार्ग पूर्वोक्त प्रकारसे कथंचित् बन्धका अकारण है और कथंचित् बन्धका कारण भी है। अतः मुक्तिका सर्वथा कारण होनेसे निश्चयमोक्षमार्गको सर्वथा भूतार्थ आदि कहना उचित है और कथंचित् बन्धका कारण तथा कथंचित् बन्धका अकारण होनेसे जब व्यवहारमोक्षमार्गमे कथंचित् संसारकी कारणता और कथंचित् मुक्तिकी कारणता सिद्ध हो जाती है तो एक प्रकारसे उसे मुक्तिकी कथंचित् अकारणताके आधारपर कथंचित् अवास्तविक या अभूतार्थ आदि मानना तथा मुक्तिकी कथंचित् कारणताके आधार पर कथंचित् वास्तविक या भूतार्थ आदि मानना ही उचित है। उसे सर्वथा अभूतार्थ मानना तो बिलकुल अनुचित है, क्योंकि सर्वथा अभूतार्थता तो ससारके सर्वथा कारणभूत या मोक्षके सर्वथा अकारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्रमें सिद्ध होती है। यदि व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमें सर्वथा अभूतार्थता स्वीकार की जायगी तो फिर उसका मिथ्यादर्शनादिकी अपेक्षा भेद ही क्या रह जायेगा ? अर्थात् कुछ भेद नही रह जायगा।

करणानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थ

इस लेखके आरम्भमें हम कह आये हैं कि करणानुयोग वह है जिसमें जीवोंकी पाप, पुण्य और धर्म-मय परिणतियों तथा उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है और आगे चल कर एक स्थान पर हम यह भी कह आये है कि आत्माका स्वभाव ज्ञायकपना अर्थात् विश्वके समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। प्रकृतमे जो कुछ विवेचन किया गया है वह सब इसके आधार पर ही किया गया है।

उपर्युक्त प्रकार ज्ञायकपना आत्माका स्वत:सिद्ध स्वभाव है। इसलिये इस आधार पर एक तो आत्माका स्वतंत्र और अनादि-निधन अस्तित्व सिद्ध होता है, दूसरे, जिस प्रकार आकाश अपने स्वतःसिद्ध अवगाहक स्वभावके आधार पर विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओंको अपने उदरमें एक साथ हमेशा समाये हुए रह रहा है उसी प्रकार आत्माको भी अपने स्वतःसिद्ध ज्ञायक स्वभावके आधार पर विश्वकी संपूर्ण वस्तुओंको एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिये, परन्तु जो जीव अनादिकालसे संसार-परिभ्रमण करते हुए अभी भी इसी चक्रमें फँसे हुए हैं उन्होंने अनादिकालसे अभी तक न तो कभी विश्वकी संपूर्ण वस्तुओंको एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं, इन संसारी जीवोंमें एक तो तरतमभावसे ज्ञानकी मात्रा अल्प ही पायी जाती है। दूसरे, जितनी मात्रामें इनमें ज्ञान पाया जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनोंकी अधीनतामें ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये संसारी जीव पदार्थोंको देखने-जाननेके

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २१२, २१३, २१४।

२. प्रवचनसार, गाथा, ११-१२।

३. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २९।

पश्चात् उन जाने हुए पदार्थोंमें इष्टपन या अनिष्टपनकी कल्पनारूप मोह किया करते हैं और तब वे इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमें प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमें अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमे और इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमें विषाद हुआ करता है। यदि किन्ही-किन्ही जीवोको इस प्रकारसे हर्ष और विषाद न भी हो, तो भी ऐसे जीव भी जब शरीरकी अधीनतामें ही रह रहे है और उनका अपना शरीर भी किन्हीं दूसरे पदार्थोंकी अधीनता स्वीकार किए हुए है तो ऐसी स्थितिमें शरीरके लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थोंकी प्राप्ति व अप्राप्तिमें अथवा शरीरके लिये पीडाकारक पदार्थोंकी अप्राप्तिमे और प्राप्तिमे उन्हें भी क्रमसे सुख व दुःखका संवेदन हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सभी संसारी जीव अनादिकालसे अभी तक कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारक भी हुए है। कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीइन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय भी हुए है। इसी तरह कभी मनरहित असंज्ञी और कभी मनसहित संज्ञी भी हुए हैं। इन्होंने कभी पृथ्वीका, कभी जलका, कभी तेजका, कभी वायुका और कभी वनस्पतिका भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणीके जीवोंके शरीरोमें भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई जीव लोकमे प्रभावशाली देखे जाते है और कोई जीव प्रभावहीन भी देखे जाते है। एक जीव मे उच्चताका और एक जीवमें नीचताका भी व्यवहार लोकमे देखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीवको जन्म-मरण भी धारण करना पड रहा है।

यह सब क्यों हो रहा है? इसका समाधान आगम-ग्रन्थोंमें इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक ससारी जीव अपने स्वतःसिद्ध जानने-देखनेके स्वभावको न छोडते हुए भी अनादिकालसे स्वर्ण-पाषाणकी तरह पौद्-गलिक कर्मोंके साथ सम्बद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाहीरूपसे एकमेकपनेको प्राप्त हो रहा है।[1] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारके आगममे बतलाये गये है।[2] आगममें यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरणकर्मका कार्य जीवकी जाननेकी शक्तिको आवृत करना है, दर्शनावरणकर्मका कार्य जीवकी देखनेकी शक्तिको आवृत करना है, वेदनीयकर्मका कार्य जीवको परपदार्थोंके आधारपर यथायोग्य सुख और दुःखका संवेदन कराना है, मोहनीयकर्मका कार्य जीव-को परपदार्थोंके आधार पर मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित-अनुचितके भेदसे रहित प्रवृत्तियोमे व्यवहृत कराना है, आयुकर्मका कार्य जीवको प्राप्त शरीरमें सीमित काल तक रोक रखना है, नामकर्मका कार्य जीवको मनुष्यादिरूपता प्राप्त कराना है, गोत्रकर्मका कार्य कुल, शरीर और आचरण आदिके आधार-पर जीवमें उच्चता-नीचताका व्यवहार कराना है और अन्तरायकर्मका कार्य जीवकी स्वावलम्बन शक्तिका घात करना है।[3]

करणानुयोगकी व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकारके कर्मोंको जीव हमेशा अपने विकारी भावो (परि-णामों) द्वारा बाँधता है[4] और तब ये कर्म जीवके साथ बँध कर उसमें सीमित कालके लिये अपनी सत्ता बना

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २।

२. वही, गाथा ८।

३. किस कर्मका क्या कार्य है, इसकी सामान्य जानकारीके लिये गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा १० से गाथा ३३ तक देखना चाहिये।

४. समयसार, गाथा ८०।

केते हैं तथा अन्तमें उदयमें आकर अर्थात् जीवको अपना फलानुभव कराकर ये कर्म तो निर्जरित हो जाते हैं[१]। लेकिन उस फलानुभवसे प्रभावित होकर अपनेमें उत्पन्न विकारी भावों द्वारा वह जीव दूसरे इसी तरहके नवीन कर्मोंसे पुन. बँध जाता है। ये कर्म उदयमें आकर अपना फलानुभव जिस रूपमें जीवको कराते हैं वह जीवका औदयिक भाव कहलाता है[२] क्योंकि जीवका उस रूप भाव उस कर्मका उदय होनेपर ही होता है, अन्यथा नहीं। कदाचित् कोई जीव अपनेमे सत्ताको प्राप्त यथायोग्य किसी कर्मको अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्तिको सुरक्षित रखते हुए भी जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये फल देनेमे (उदयमें) असमर्थ हो जाता है, कर्मकी इस अवस्थाका नाम उपशम है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका औपशमिक भाव कहते हैं।[३] कदाचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मको सर्वथा शक्तिहीन* बना देता है, जिससे वह कर्म उस जीवसे अपना सम्बन्ध सर्वथा समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम क्षय है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायिक भाव कहते हैं।[४] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि कर्मके कुछ अंश (देशघाती रूप) तो उदय रूप रहें, कुछ अंश (सर्वघाती रूप) उदयाभावी क्षयरूप हो जावें और कुछ अंश (सर्वघातीरूप) सदवस्थारूप उपशमकी स्थितिको प्राप्त हो जावें तो इसका नाम कर्मकी क्षयोपशम अवस्था है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायोपशमिक भाव कहते हैं[५]। क्षायोपशमिक भावका अपर नाम मिश्र भाव भी है।

इस प्रकार कहना चाहिये कि कर्मोंके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जीवकी अवस्थायें भी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकरूप हो जाया करती हैं[६]। अब इनमें यदि कारणताकी व्यवस्थाकी जाय तो कहा जा सकता है---जीवकी इन औदयिकादि अवस्थाओंकी उत्पत्तिमें कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओके आधारपर व्यवहारकारण होता है और जीव स्वयं निश्चयकारण है। जैसा कि नयचक्रकी निम्नलिखित गाथामे स्पष्ट होता है—

"बंधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥२३५॥

अर्थात् बन्ध और मोक्षमें अन्य अर्थात् कर्म अपनी यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप अवस्थाओंके आधार पर व्यवहाररूपसे कारण होता है और जीव निश्चयरूपसे कारण होता है।

यहाँ पर "कर्म व्यवहाररूपसे कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि कर्म निमित्त या सहायकरूपसे कारण होता है और "जीव निश्चयरूपसे कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि जीव उपादानरूपसे कारण होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उक्त गाथा द्वारा कर्ममें जीवके बन्ध और मोक्षकी उत्पत्तिके प्रति यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधारपर निमित्तकारणताका सद्भाव सिद्ध

१. विपाकोऽनुभव.। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।—तत्त्वार्थसूत्र ८।२१, २२, २३।
२. पंचाध्यायी, २।९७७। धवला पुस्तक १ पृष्ठ २१२।
३. पंचाध्यायी, २।९६८। पंचास्तिकाय, गाथा ५८ तथा उसकी टीका
४. पंचाध्यायी, २-९६९। *धवल, पुस्तक १, पृ० २१२।
५. वही, २।९६६।
६. वही, २।९६२।

होता है तथा जीव स्वयं अपने उस बन्ध और मोक्षके प्रति उपादान कारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्मकी उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमरूप अवस्थाएँ होती हैं तब जीव अपनी विकारी योग्यताके कारण क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाओंके रूपमें अपनी परिणति बना लेता है। यानी जीव इन औदयिकादि परिणतियोंके रूपमे परिणत हो जाया करता है, कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओंके आधारपर आत्माकी उन अवस्थाओंकी उत्पत्तिमे सहायक मात्र हुआ करता है।[1] अर्थात् कर्मकी कोई परिणति यहाँपर जीवकी परिणति बन जाती हो—ऐसी बात नहीं है।

"उपादीयत अनेन" इस विग्रहके आधारपर 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक "आ" उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे कर्ताके अर्थमे 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो कार्यरूप परिणत हो उसे उपादान कहते हैं।[2] इसी प्रकार "निमेद्यति" इस विग्रहके आधारपर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे कर्ताके अर्थमें 'क्त' प्रत्यय होकर 'निमित्त' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'मित्र' शब्द भी इसी स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे 'क्र' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस तरह कहना चाहिये कि जो मित्रके समान उपादानका स्नेहन करे अर्थात् उपादानको उसकी अपनी परिणतिमे मित्रके समान सहयोग प्रदान करे वह निमित्त कहलाता है।

यद्यपि यहाँपर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान स्वयं कार्यरूप परिणत होनेके कारण "स्वाश्रितो निश्चय"[3] इस आगमवाक्यके अनुसार उसे कार्यका निश्चयकारण मानना उचित है और कार्यरूप परिणत न होकर उपादानको उसकी अपनी कार्यरूप परिणतिमे सहयोग मात्र देनेके कारण "पराश्रितो व्यवहार"[4] इस आगमवाक्यके अनुसार निमित्तको कार्यका व्यवहारकारण मानना उचित है, परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपादान और निमित्त दोनों कारणोंमें निश्चयकारणता और व्यवहारकारणताका अन्तर रहते हुए भी कार्यकी उत्पत्तिमे दोनों ही कारण उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारणको निश्चयकारणके रूपमे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाता है उसी प्रकार निमित्तकारणको भी व्यवहारकारणके रूपमे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाना अयुक्त नही है, क्योंकि जिस प्रकार उपादानका कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्तका उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होना भी वास्तविक है। इतनी बात अवश्य है कि चूँकि निमित्त उपादानकी तरह कार्यरूप परिणत नहीं होता, अत. इस दृष्टिसे उसमे यदि अभूतार्थता आदि धर्मोका सद्भाव माना जाय तो यह भी असंगत नही है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उपादान चूँकि कार्यरूप परिणत होता है इसलिये सर्वथा भूतार्थ आदि है और निमित्त चूँकि कार्यरूप परिणत नही होता, इसलिये तो कथचित् अभूतार्थ आदि है लेकिन उपादानकी कार्यरूप परिणतिमे सहायक होता है, अतः कथंचित् भूतार्थ आदि भी है। अत. जो व्यक्ति निमित्तको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि मान लेना चाहते है उनका यह प्रयास गलत ही है।

अनुभवमें यह बात आती है कि उपादानको कार्यपरिणतिमे निमित्तके सहयोगकी अनिवार्य रूपसे सर्वदा अपेक्षा रहा करती है और प्रत्यक्ष देखनेमे आता है कि जब तक उपादानको आवश्यकतानुसार स्वाभा-

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२।

२. समयसार, गाथा ८६ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा "य. परिणमति स कर्ता....." आदि पद्यों द्वारा यही आशय व्यक्त किया गया है।

३-४. समयसार, गाथा २७२ की समयसार-टीका।

बिक रूपसे अथवा पुरुषकृत प्रयत्न द्वारा निमित्तका सहयोग प्राप्त नहीं होता है तब तक उपादान कार्यरूप परिणत नहीं होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निमित्त उपादानमें कार्योत्पत्तिके लिये उसकी कार्योत्पत्ति न हो सकनेरूप असामर्थ्यका नियमसे भेदन करने वाला है। आगममें भी इस बातको स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि निमित्त कार्योत्पत्तिमें यदि उपादानसे कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्यका भेदन नही करता है तो फिर उसे निमित्त कहना ही असत्य होगा।[1] इसलिये जो महानुभाव कहते है कि "कार्य तो उपादान स्वयं अपनी सामर्थ्यसे ही उत्पन्न कर लेता है उसमे उसको निमित्तके सहयोगकी बिल्कुल अपेक्षा नही रहा करती है, वह तो वहाँपर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है," तो उनका ऐसा कहना गलत ही है। साथ ही जो व्यक्ति व्यवहारविमूढ होकर ऐसा कहते हैं कि "निमित्त अपने रूपका समर्पण कार्यमें करता है," तो उनका ऐसा कहना भी गलत है। कारण कि निमित्त यदि कार्यमे अपना रूप समर्पित करने लग जाय तो फिर निमित्तमें उपादानकी अपेक्षा अन्तर ही क्या रह जायगा ? अर्थात् ऐसी स्थितिमें निमित्त स्वयं ही उपादान बन जायगा और तब उसे निमित्त कहना ही असंगत होगा। वेदान्त और चार्वाक दर्शनोमे यही बात बतलायी गयी है कि वेदान्तके मतानुसार चित्से अचित्की उत्पत्ति होती है और चार्वाकके मतानुसार अचित्से चित्की उत्पत्ति होती है अर्थात् वेदान्त चित्को अचित्का और चार्वाक अचित्को चित्का उपादान कारण मानते हैं। जैनदर्शन इन दोनो ही मान्यताओंका खण्डन करता है, कारण कि जैनदर्शनका यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप परिणत नही होता और न कभी एक द्रव्यके गुण-धर्म ही किसी अन्य द्रव्यमे संक्रमित होते हैं।[2] लेकिन वेदान्त और चार्वाककी उक्त मान्यताओका खण्डन करता हुआ भी जैनदर्शन चित्को अचित्की परिणतिमें तथा अचित्को चित्की परिणतिमें निमित्त कारण अवश्य मानता है।[3] यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें इन दोनो बातोका विस्तारसे विवेचन किया है। अर्थात् समयसारमें स्थान-स्थानपर यही बात देखनेको मिलती है कि उसमे जहाँ एक वस्तुमे दूसरी वस्तुकी उपादानकारणताके सद्भाव का दृढ़ताके साथ निषेध किया गया है वहाँ उतनी ही दृढ़ताके साथ एक वस्तुमें दूसरी वस्तु की निमित्त-कारणताका समर्थन भी किया गया है[4] और यह बात हम पूर्वमे स्पष्ट ही कर चुके है कि निमित्तकारणता उपादानकारणताके रूपमे अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक और असत्यार्थ होते हुए भी स्वयं अपने रूपमे तो वह भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-में तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए वार्तिक श्लोक १३के अन्तर्गत पृष्ठ. ५१ पर सहकारी—निमित्त कारणकी उपादानकी कार्यपरिणतिमें सहकारितारूपसे पारमार्थिकता (वास्तविकता) को स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।[5]

---

१. तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?—आप्तमीमांसा कारिका, १०की अष्टशती-टीका।

२. जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे। —समयसार, गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध।

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२, १३।

४. समयसार, गाथा ८०, ८१।

५. क्रमभुवो· पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविध· कार्यकारणभावः सिद्धान्त-विरुद्धः। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् ? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धि·। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य कारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। तदेवं व्यवहारनय-समाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुन· कल्पनारोपित·, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

यहाँपर उपादानकारणता और निमित्तकारणताके स्वरूपका, उनकी क्रमसे निश्चयरूपता और व्यवहाररूपताका एवं दोनोंकी अपने-अपने रूपमें वास्तविकताका जो विश्लेषण किया गया है, उसका प्रकृतमें उपयोग यह है कि जीवकी पूर्वोक्त औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियोंके प्रति कर्ममें जो उदयादिकके आधारपर कारणता विद्यमान है वह तो व्यवहार रूपसे अर्थात् निमित्तरूपसे है और जीव स्वयंमें उन औदयिकादि परिणतियोंके प्रति जो कारणताएँ विद्यमान है वे निश्चयरूपसे अर्थात् उपादानरूपसे हैं तथा साथ ही ये दोनों ही कारणतायें अपने-अपने रूपमे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही हैं क्योंकि जिस प्रकार उक्त औदयिकादि परिणतियोंके प्रति जीव स्वयकी उपादानकारणता पूर्वोक्त प्रकारसे कल्पनारोपित नहीं है उसी प्रकार जीवकी उन औदयिकादि परिणतियोंके प्रति अपनी उदयादिपरिणतियोंके आधारपर सहयोगी होनेके कारण कर्ममे विद्यमान निमित्तकारणता भी कल्पनारोपित नही है। इतना अवश्य है कि चूँकि उपादानकारण होनेके सबब जीव ही कार्यरूप परिणत होता है, इसलिये उपादानकारणता तो सर्वथा भूतार्थ आदि है, लेकिन निमित्तकारण होनेके सबब चूंकि कर्म स्वयं कार्यरूप परिणत नही होता, इसलिये वह कथंचित् अभूतार्थ आदि है फिर भी उपादानभूत जीवकी कार्यभूत औदयिकादि परिणतियोंमें अपनी उदयादिपरिणतियोंके आधारपर वह सहायक अवश्य होता है, अत वह सहायकपनेकी अपेक्षा कथंचित् भूतार्थ आदि भी है।

यहाँ पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति जो कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता है वह उसकी उदयादि परिणतियोको छोडकर और कुछ नही है अर्थात् कर्मका उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूपसे परिणत होना ही जीवकी औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियोंके प्रति कर्मकी क्रमश निमित्तकारणता है। ऐसा नही समझना चाहिये कि कर्मकी उदयादिकपरिणतियाँ अलग हैं और जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति उसमें (कर्ममे) विद्यमान निमित्तकारणता अलग है। इसीलिये यदि इस तरहसे विचार किया जाय तो कर्मकी उदयादिक परिणतियाँ उसकी अपनी स्वाश्रित या स्वात्मभूत परिणतियाँ होनेके कारण जहाँ "स्वाश्रितो निश्चय." इस आगमवाक्यके आधारपर उसके निश्चयधर्म हैं वहाँ कर्मकी वे ही परिणतियाँ जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति यथायोग्य रूपमे निमित्तकारणताका रूप धारण कर लेनेसे "पराश्रितो व्यवहार" इस आगमवाक्यके आधारपर निमित्तकारणताके रूपमें उसके व्यवहारधर्म भी है। अब ऐसी हालतमे भी यदि निमित्तकारणताकी भूतार्थता आदिके विषयमे विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति कर्ममे विद्यमान निमित्तकारणता जहाँ उस कर्मकी उदयादि परिणतियोके रूपमें भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ धर्म है वहीं उसका कर्ममे उदयादि परिणतियोंसे पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व न रहनेके कारण वह कर्मका अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ धर्म भी है। इस तरहसे भी जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता उस कर्मका कथंचित् वास्तविक और कथंचित् अवास्तिक धर्म ही सिद्ध होती है। गधेके सींगकी तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ आदिके रूपमे कदापि नही माना जा सकता है।

इस कथनको निचोड़ यह है कि जीवकी जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप परिणतियाँ हुआ करती है वे सब परिणतियाँ जीवकी अपनी ही परिणतियाँ हैं। इसलिये जीव इन परिणतियोंका उपादानकारण या निश्चयकारण होता है। साथ ही ये सभी परिणतियाँ क्रमशः कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होनेपर ही होती है, इसलिये कर्म जीवकी इन औदयिकादि परिणतियोंका अपनी उदयादिक परिणतियोंके आधार पर निमित्तकारण या व्यवहारकारण होता है। चूँकि कर्मके उदयादिकके अभावमें जीवकी ये औदयिकादि परिणतियाँ कदापि नही होती हैं, अतः कर्मको जीवकी इन परिणतियोंमें अकिंचित्कर

या निश्चयोगी मानना मिथ्या है और चूँकि कर्मकी कोई परिणति कदापि जीवकी परिणति नहीं बनती है, इसलिए कर्मको जीवकी औदयिकादि परिणतियोंका उपादानकारण या निश्चयकारण मानना भी मिथ्या है।

इस प्रकार अब तकके विवेचनसे यह बात अच्छी तरह समझमे आ जानी चाहिये कि चरणानुयोगके प्रकरणमे मोक्षकार्यकी दृष्टिसे जो निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गका कथन किया गया है वह कथन निश्चय और व्यवहार शब्दोंके आधारपर क्रमश. निश्चयमोक्षमार्गमें मोक्षकी साक्षात् कारणताके और व्यवहारमोक्षमार्गमे मोक्षकी परंपरया कारणताके अस्तित्वका ही बोध कराता है। इसी प्रकार वही पर जो निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रका तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यग्ज्ञान, और व्यवहारसम्यक्चारित्रका कथन किया गया है वह कथन भी निश्चय और व्यवहार शब्दोंके आधार पर क्रमश' निश्चयसम्यग्दर्शनादिमे तो कार्यताके और व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकमे कारणताके अस्तित्व-का ही बोध कराता है। इसके अतिरिक्त करणानुयोगके प्रकरणमें जीवके बन्ध और मोक्षरूप अथवा जीवकी औदयिकादिपरिणतिरूप कार्य और उसके अभावरूपकारणकी दृष्टिसे जो नयचक्रकी उपर्युक्त २३५ वी गाथाके अनुसार निश्चयकारण और व्यवहारकारणके रूपमें दो कारणोका कथन किया गया है वह कथन निश्चयशब्दके आधार पर जीव स्वयंमे उपादानकारणताके और व्यवहारशब्दके आधार पर कर्ममे यथायोग्य उदयादिरूपसे निमित्तकारणताके अस्तित्वका ही बोध कराता है। अब आगे हम इस विषय पर विचार करना चाहते है कि द्रव्यानुयोगमे निश्चय और व्यवहार शब्दोका क्या अर्थ ग्रहण किया गया है?

द्रव्यानुयोगमे निश्चय और व्यवहार शब्दोका अर्थ

लेखके प्रारम्भमे हमने यह भी कहा है कि द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्वकी संपूर्ण वस्तुओके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको बतलानेवाले स्वत सिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनोका विवेचन किया गया है। यहाँ प्रकृत विषय पर इमीको आधार बनाकर विचार किया जा रहा है।

जैनागममे बतलाया गया है कि पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी स्वतन्त्र सद्रूपता ही वस्तुका लक्षण है। प्रत्येक वस्तुकी यह सद्रूपता स्वतन्त्र तभी मानी जा सकती है जबकि वह स्वत सिद्ध हो, अत कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी सद्रूपता स्वत.सिद्ध है और जब प्रत्येक वस्तुकी सद्रूपता स्वत सिद्ध है तो इस आधार पर प्रत्येक वस्तुमें निम्नलिखित चार विशेषताएँ अनायास सिद्ध हो जाती हैं।

प्रत्येक वस्तु अनादि है (अनादिकालसे रहती आ रही है), अनधिन है (अनन्तकाल तक रहने वाली है), स्वाश्रित है, (स्वावलम्बनपूर्ण है) और अखण्ड है (अपने-अपने स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिये हुए है।) इस विषयको पंचाध्यायीमे निम्न प्रकारसे स्पष्ट किया गया है—

"तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वत. सिद्धम्।
तस्मादनादि-निधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च॥१-८॥"

इस प्रकार विश्वमे अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वतःसिद्ध सद्रूपताको प्राप्त संपूर्ण वस्तुओकी संख्या अनन्तानन्त है। इनमे भी जीवोकी संख्या अनन्तानन्त है, पुद्गल जीवोंकी संख्यासे भी अनन्तानन्त गुणे हैं, काल असंख्यात है और धर्म, अधर्म तथा आकाश एक-एक है।[1] इस प्रकार ये सभी अनन्तानन्त वस्तुएँ सामान्यरूपसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके छह द्रव्य प्रकारोमे समाविष्ट होती हैं।[2]

---

१. सर्वार्थसिद्धि-टीका-१-२९।

२. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला.। द्रव्याणि। जीवाश्च। कालश्च।—तत्त्वार्थसूत्र ५-१, २, ३, ३९।

प्रत्येक वस्तुमें अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनन्तगुण विद्यमान हैं। इन्हें धर्म या स्वभाव भी कहते हैं।[१] वस्तुका जो एक गुण है वह उसका कभी अन्य गुण नही हो सकता है। इस तरह प्रत्येक वस्तुमें गुणोंकी संख्या अनन्त ही सिद्ध होती है।[२]

प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक गुण परिणमनशील है इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि अगुरुलघुगुणके अतिरिक्त शुद्ध द्रव्यके अन्य गणोंके शक्त्यंशोंमें हानि-वृद्धि होती है।[३] इस प्रकार सभी वस्तुओंकी निम्नप्रकार स्थिति निश्चित होती है—

"वस्तुकी आकृति (प्रदेशवत्तारूप द्रव्यरूपता), वस्तुकी प्रकृति (स्वभाववत्तारूप गुणरूपता और वस्तुकी तथा वस्तुके प्रत्येक गुणकी विकृति (परिणामवत्तारूप पर्यायरूपता)।"

इस तरह कहना चाहिये कि द्रव्यानुयोगमे द्रव्यरूपताके साथ-साथ वस्तुकी अनन्त द्रव्यपर्यायो तथा वस्तुके अनन्तगुणों और उन गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणकी अनन्तगुणपर्यायोंके रूपमें वस्तुका जैनागममें विश्लेषण किया गया है।[४]

प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपता और गुणरूपता दोनों ही शाश्वत (स्थायी) हैं तथा पर्यायरूपता समय, आवलि, मुहूर्त्त, घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिके रूपमें विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) है। इस तरह प्रत्येक वस्तुको जैनागममें सत् मानते हुए भी उस सत्ताको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया गया है।[५] अर्थात् जैनागममें प्रत्येक वस्तुमें द्रव्य पर्यायों और गुण पर्यायोंके रूपमें तो उत्पाद तथा व्यय और द्रव्यत्व और गुणत्वके रूपमें ध्रौव्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है।

परिणमन करते हुए भी प्रत्येक वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् परिणमनमें वस्तु न तो अपने अस्तित्व (सद्रूपता) को छोडती है और न ही एक वस्तुकी अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता कभी अन्य वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता बन सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परिणमन करते हुए भी वस्तु न तो कभी सर्वथा नष्ट हो सकती है और न वह कभी अन्य वस्तुरूप भी परिणमती है।

इस प्रकार जीव परिणमन करते हुए भी कभी सर्वथा नष्ट नही हो सकता है और न ही वह कभी अन्य द्रव्यरूप परिणत हो सकता है, वह हमेशासे जीव ही रहा आया है, जीव ही है और जीव ही रहेगा। यही व्यवस्था पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्योंमें समझना चाहिये। इतना ही नही,

१. पंचाध्यायी, १–४८।
२. पंचाध्यायी, १–४९, ५२।
३. (क) वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।—पंचाध्यायी, १-८९।
(ख) वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।—पंचाध्यायी, १-११२।
४. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्वाधिकार, गाथा ९३।
इह हि किल म. कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारायतविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वात् गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। —प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गाथा १ की टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
५. सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।—तत्त्वा० ५–२९, ३०।

एक जीव कभी दूसरे जीवरूप परिणत नहीं होता, एक पुद्‌गलाणु कभी दूसरा पुद्‌गलाणु नहीं बनता और एक कालाणु कभी दूसरा कालाणु नहीं हो जाता। इतना अवश्य है कि सभी वस्तुएँ यथायोग्य एक-दूसरी वस्तुके साथ संयुक्त होकर ही रह रही हैं।[१] इसके अतिरिक्त जीवों और पुद्‌गलोंमें ऐसी स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) वैभाविकी शक्ति नामकी विशेषता विद्यमान है[२], जिसके आधारपर सभी जीव अनादिकालसे यथायोग्य पुद्‌गलोंके साथ संबद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाहीरूपमें एकमेकपनेको प्राप्त रहे है। उनमेंसे बहुत-से जीवोंने यद्यपि पुद्‌गलोंके साथ विद्यमान अपनी अनादिकालीन उस बद्धता (मिश्रण) को समाप्त कर दिया है, परन्तु उनसे अनन्तगुणे जीव अभी भी उसी बद्धावस्थामें रह रहे हैं।[३] बहुतसे पुद्‌गल अपनेमें विद्यमान उपर्युक्त वैभाविकी शक्तिके आधारपर अनादिकालसे जीवोंके साथ तो सम्बद्ध हो ही रहे हैं, साथ ही बहुतसे पुद्‌गल एक-दूसरे पुद्‌गलोंके साथ भी इसी तरह सम्बद्ध होकर रह रहे हैं।

जिन जीवोंने पुद्‌गलोंके साथ अनादिकालसे विद्यमान अपनी बद्धस्थितिको समूल समाप्त कर दिया है वे अब कभी पुन. पुद्‌गलोंके साथ बद्ध नहीं होंगे। परन्तु पुद्‌गल एक बार जीवके साथ अथवा अन्य पुद्‌गलोंके साथ विद्यमान अपनी बद्धस्थितिको समूल समाप्त करके भी पुनः उस योग्य बन जाया करते हैं। यही कारण है कि वे यथायोग्य जीवों, पुद्‌गलाणुओं और पुद्‌गलस्कन्धोंके साथ हमेशा ही बंधते और बिछुड़ते रहते हैं।

जिस प्रकार वस्तु परिणमन करते हुए भी कभी अपने द्रव्यत्वको नष्ट नहीं होने देती है और न कभी अन्य द्रव्यरूप ही परिणत होती है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक गुण परिणमन करते हुए भी न तो अपने गुणत्वको कभी सर्वथा नष्ट होने देता है और न वह कभी उस वस्तुके अन्य गुणरूप अथवा अन्य वस्तुके गुणरूप ही परिणत हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुकी अथवा प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक गुणकी प्रत्येक पर्याय यद्यपि उत्पाद और व्ययरूपताको धारण किये हुए है। परन्तु इन सभी पर्यायोंमें भी यह व्यवस्था बनी हुई है कि एक वस्तुकी कोई भी पर्याय केवल उसी वस्तुकी पर्याय होती है व एक गुणकी भी कोई पर्याय केवल उसी गुणकी पर्याय होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता ये तीनों ही उपर्युक्त प्रकारसे सतत प्रतिनियतताको ही धारण किये हुए हैं।[४]

प्रत्येक वस्तुमें यथासंभव जो भी द्रव्यपरिणमन होते हैं वे सभी नियमसे स्वपर-प्रत्यय ही हुआ करते हैं। लेकिन प्रत्येक वस्तुमें जो गुणपरिणमन होते हैं उनमेंसे कुछ तो स्वप्रत्यय होते हैं और कुछ स्वपरप्रत्यय होते

---

१. (क) सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्‌गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वात्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्ते.।

—समयसार, गाथा ३, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

(ख) पंचास्तिकाय, गाथा, ७।

२. पंचाध्यायी, २-४५।

३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा १९६।

४. (अ) जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमदि दव्वे।—समयसार, गाथा १०३।

(आ) समयसार, गाथा ७६, ७७, ७८, ७९।

हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन दो प्रकारसे होते है। उनमेंसे एक प्रकार तो स्वप्रत्ययका है और दूसरा प्रकार स्वपरप्रत्ययका है।[1] यह बात निश्चित ही समझना चाहिये कि वस्तुका कोई भी द्रव्यपरिणमन अथवा गुणपरिणमन परप्रत्यय नही होता है।[2]

प्रत्येक वस्तुमें जो गुणका परिणमन उस वस्तुकी अपनी परिणमनशक्तिके आधारपर परकी अपेक्षाके बिना ही केवल स्वत होता है वह स्वप्रत्यय परिणमन कहलाता है और प्रत्येक वस्तुमे जो द्रव्य या गुणका परिणमन उस वस्तुकी अपनी परिणमन शक्तिके आधारपर परवस्तुका सहयोग मिलनेपर होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणके शक्त्यंशोंमें अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, सख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानिके रूपमे तथा इसके अनन्तर अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इस प्रकार षट्स्थानपतित हानि और वृद्धिरूपमे जो परिणमन समय-समयके विभागपूर्वक सतत हुआ करता है उसे तो स्वप्रत्यय परिणमन[3] जानना चाहिये। इसके अलावा प्रत्येक वस्तुमे होनेवाले शेष सभी गुणपरिणमन और सभी द्रव्यपरिणमन स्वपरप्रत्यय[4] ही हुआ करते हैं। ये सभी परिणमन यथायोग्य व्यवहारकालके समय, आवली, घडी, मुहूर्त, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि विभागोमें विभक्त किये जा सकते हैं।

यद्यपि वेदान्त और चार्वाक जैसे दर्शनोंमें परप्रत्यय परिणमनोंको भी स्वीकार किया गया है। जैसा पूर्वमें हम बतला आये हैं कि वेदान्तदर्शनमें चित्को अचित्का उपादान मान लिया गया है और चार्वाक दर्शनमें अचित्को चित्का उपादान मान लिया गया है। परन्तु जैनदर्शनमें चूँकि पर-प्रत्यय परिणमनका सर्वथा निषेध कर दिया गया है और जो अनुभव सिद्ध भी है इसलिये वस्तुमे परप्रत्ययपरिणमन मानने वाले वेदान्त आदि दर्शनोंकी इन मान्यताओका वहाँ पर (जैनदर्शनमे) खण्डन किया गया है। और यही कारण है कि जैन मान्यताके अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंकी जितनी सख्या विश्वमें निर्धारित की गयी है वह नियत है, उसमे कभी घटा-बढी नही हो सकती है।

प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणके शक्त्यंशोंके आधारपर होनेवाले षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय गुणपरिणमनोका संकेत ऊपर हम कर चुके है। वस्तुके स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमनों और गुणपरिणमनोका विवरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

---

१. द्विविध उत्पाद. स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च। —सर्वार्थसिद्धि-टीका, ५–२।
नोट—यहाँ पर पर-प्रत्ययसे तात्पर्य स्वपरप्रत्ययका आगमानुसार ग्रहण किया गया है।

२. समयसार, गाथा ११६ से १२० व १२१ से १२५ तक।

३. स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च।—सर्वार्थसिद्धि, ५–७।

४. स्वश्च परश्च, स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोस्तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्च उत्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषा ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः। के पुनस्ते ? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्य. प्रत्यय. तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दति। तत्समर्थश्च स्व प्रत्यय। तावुभौ संभूय भावानामुत्पादविगमयोर्हेतू भवत., नान्यतरापाये कुशूलस्थमाषपच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५–२।

जीवका शरीरके छोटे-बड़े आकारके अनुसार जो छोटा-बड़ा आकार यथासमय बनता रहता है तथा जीवकी नर-नारकादि पर्यायोंके रूपमें पर्यायें बनती रहती हैं ये सभी तथा इसी प्रकारके प्रत्येक वस्तुमें अन्य वस्तुके यथायोग्य संयोग या मिश्रणसे होने वाले सभी द्रव्यपरिणमन स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमन कहलाते हैं। इसी प्रकार आत्माकी ज्ञानशक्तिका पदार्थको जाननेरूप परिणमन आत्माकी उस ज्ञानशक्तिमें विद्यमान परिणमन करनेकी योग्यताके आधारपर उस-उस पदार्थका योग मिलनेपर ही हुआ करता है। यह आत्म-वस्तुका स्वपरप्रत्यय गुणपरिणमन है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थको जानने रूप परिणमनमें पदार्थ तो सर्वत्र कारण होता है। वह ज्ञान-शक्ति चाहे मतिज्ञानरूप हो अथवा चाहे श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान या केवलज्ञानरूप हो। अर्थात् इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे कोई भी ज्ञान पदार्थके अभावमें कदापि पदार्थज्ञानरूप परिणमन नहीं कर सकता है। यही कारण है कि केवलज्ञानकी शक्ति विश्वमें विद्यमान सभी पदार्थोंसे अनन्तगुणी[1] होकर भी सर्वज्ञ उसके द्वारा केवल उन्हीं पदार्थोंको जानता है जो अपनी सद्रूपताको धारण किये हुए हैं। इसका अभिप्राय यही है कि बिना पदार्थका सहयोग मिले केवलज्ञानका परिणमन पदार्थको जानने रूप नहीं हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानशक्तिका पदार्थज्ञानरूप परिणमन पदार्थाधीन ही सिद्ध होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो पदार्थके साथ-साथ यथायोग्य पाँच पौद्गलिक इन्द्रियो तथा छठे मनकी सहायतासे ही उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थको जाननेरूप परिणमनमें स्वगत योग्यताके साथ-साथ पदार्थों तथा आवश्यकतानुसार इन्द्रियों और मनकी कारणता भी रहा करती है। इतना ही नहीं, मतिज्ञानमें प्रकाश भी यथायोग्य कारण हुआ करता है और श्रुतज्ञानमें शब्द भी कारण हुआ करते हैं।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि पदार्थज्ञानरूप परिणमनमे आत्माकी ज्ञानशक्तिमें रहनेवाली कारणता भिन्न प्रकारकी है और पदार्थोंमे रहनेवाली कारणता भिन्न प्रकारकी है तथा इन्द्रियोंमें, मनमें और प्रकाशमें रहनेवाली कारणता भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। इसी तरह श्रुतज्ञानमें शब्दकी कारणता भी भिन्न प्रकारकी है। अर्थात् आत्माकी ज्ञानशक्तिकी जो कारणता है वह उपादानरूप है क्योंकि वह ज्ञानशक्ति ही पदार्थज्ञानरूप परिणत होती है। पदार्थोंमे, मनमे, इन्द्रियोंमें, प्रकाशमें और शब्दमें जो कारणता है वह निमित्तरूप है क्योंकि ये सब स्वयं पदार्थज्ञानरूप परिणमन न करते हुए आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थज्ञानरूप परिणमनमें सहायक होते हैं। इनमें भी आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थज्ञानरूप परिणमनमें पदार्थ अवलम्बनरूपसे निमित्त होता है अर्थात् पदार्थ जब आत्मप्रदेशोंपर दर्पणकी तरह प्रतिबिम्बित होता है तभी आत्माकी ज्ञानशक्तिका पदार्थ-ज्ञानरूप परिणमन होता है, अन्यथा नहीं। इन्द्रियाँ और मन करणरूपसे निमित्त होते है। प्रकाश विद्यमानता रूपसे ही निमित्त होता है। श्रुतज्ञानमें शब्द श्रवणपूर्वक निमित्त होते हैं।

पूर्वमें हम इस बातका कथन कर आये है कि कार्यके प्रति कार्यसे अभिन्न वस्तुमें विद्यमान उपादान-कारणता स्वाश्रित धर्म होनेके कारण "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्यके अनुसार निश्चयरूप है और उसी कार्यके प्रति कार्यसे भिन्न वस्तुमें विद्यमान निमित्तकारणता "पराश्रितो व्यवहार." इस आगमवाक्यके अनुसार व्यवहाररूप है।

पूर्वमें हम यह भी कह आये हैं कि जिसमें निश्चयरूपता रहा करती है वह सर्वथा वास्तविक, भूतार्थ, सद्भूत या सत्यार्थ हुआ करता है और जिसमें व्यवहाररूपता रहा करती है वह कथंचित् वास्तविक आदि

१. त्रिलोकसार, द्विरूपवर्गधारा प्रकरण, गाथा ६९, ७०, ७१, ७२।

होता है और कथंचित् अवास्तविक आदि भी होता है। इस प्रकार उपादान कारण चूंकि निश्चयरूप कारण है, इसलिये उसे सर्वथा वास्तविक होना ही चाहिये और यह सर्वथा वास्तविकता उपादानकारणमें इस तरह सिद्ध होती है कि कार्य जब तक रहता है तब तक कार्यमे उपादानकी अपेक्षा रहा करती है, इसलिये वह सर्वथा वास्तविक आदि है। लेकिन निमित्तकी अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नही हो जाता। कार्यके उत्पन्न हो जाने पर निमित्तकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है। अत जब तक कार्यमें उसकी अपेक्षा है तब तक निमित्तको उस अपेक्षाके रूपमें वास्तविक ही कहा जायगा और कार्यके उत्पन्न होने पर चूंकि उसकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है, अत तब उसे इस दृष्टिसे अवास्तविक ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि निमित्त तो कार्योत्पत्तिमें सहायक ही होता है, अत इस दृष्टिसे तो यह वास्तविक ही होगा और चूँकि वह कार्यरूप परिणत नही होता, अत. इस दृष्टिसे वह अवास्तविक ही होगा, यह हम पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं।

इस तरह उपादानमे तो सर्वथा वास्तविकता और निमित्तमें कथंचित् वास्तविकता तथा कथंचित् अवास्तविकता रहनेके कारण उपादान तो कार्यमें निश्चयकारण होता है और निमित्त व्यवहारकारण होता है।

इसी प्रकार जो वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत् है वह परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत् है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत्तारूप धर्म विद्यमान है तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत्तारूप धर्म विद्यमान है। जैसे आत्मा चित् है। यहाँपर जिस प्रकार आत्मामे चिद्रूप धर्मकी सत्ता सिद्ध होती है उसी प्रकार उसके अचिद्रूप धर्मकी असत्ता भी सिद्ध होती है। अत कहना चाहिये कि आत्मामें चिद्रूपताका सद्भाव और अचिद्रूपताका अभाव इन दोनों धर्मोंमेंसे चिद्रूपताका सद्भाव आत्माका स्वरूपपरक धर्म होने, अत एव स्वाश्रित धर्म होनेके कारण निश्चयधर्म है व अचिद्रूपताका अभाव स्वरूपपरक धर्म न होने, एतावता पराश्रित धर्म होनेके कारण व्यवहारधर्म है। ये दोनों ही भावात्मक और अभावात्मक धर्म आत्मामे अपनी-अपनी सत्ता जमाकर बैठे है। यही कारण है कि जैनागममें यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वस्तुमे प्रत्येक प्रकारकी सत्ता अपनी प्रतिपक्षभूत असत्ताके साथ ही रहती है।[1] यदि ऐसा नही माना जायगा अर्थात् आत्मामें चिद्रूपताके सद्भावके साथ अचिद्रूपताका अभाव नही माना जायगा तो फिर चिद्रूप आत्माका अचिद्रूप पुद्गलादि द्रव्योंके साथ वास्तविक भेद सिद्ध नही हो सकेगा। इसलिये जिस प्रकार आत्मामे चिद्रूपताका सद्भाव वास्तविक है उसी प्रकार उसमे अचिद्रूपताका अभाव भी वास्तविक ही है। इतनी बात अवश्य है कि चिद्रूपताका सद्भाव अपनी स्वाश्रयताके कारण जहाँ सर्वथा वास्तविक है वहाँ अचिद्रूपताका अभाव पराश्रयताके कारण कथंचित् वास्तविक है और कथंचित् अवास्तविक भी है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मामे चिद्रूपताका सद्भाव एक और अखण्ड धर्म है उस प्रकार अचिद्रूपताका अभाव एक और अखण्ड धर्म नही है, क्योंकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी अचिद्रूप वस्तुओंकी अचिद्रूपता भिन्न-भिन्न है। इसलिये इनमेंसे प्रत्येकको अचिद्रूपताका अभाव भी आत्मामे भिन्न-भिन्न ही होगा। इस तरह आत्मामें नाना अचिद्रूपताओंके अभाव (स्वान्यन्यावृत्तियाँ) भी नाना सिद्ध हैं और तब अचिद्रूपता भी सखण्ड व नानारूप सिद्ध हो जाती है। नानारूपता और खण्डरूपताको व्यवहारधर्म व एकरूपता और अखण्डरूपताको निश्चयधर्म इन दोनों शब्दोंको व्युत्पत्तिके आधार पर हम पूर्वमें प्रतिपादित कर ही चुके हैं।

भावरूपताको निश्चयशब्दका प्रतिपाद्य और अभावरूपताको व्यवहारशब्दका प्रतिपाद्य माननेमें एक कारण यह भी है कि प्रत्येक वस्तुका भावरूप धर्म अपने वैशिष्टयके कारण उस वस्तुको स्वतंत्रताका निर्णायक

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय १, १५।

होता है, अभावरूप धर्म नही। इसका कारण यह है कि अभावरूप धर्म तो नाना वस्तुओंमें भी समानता लिये हुये पाये जाते है। जैसे जीवमे पुद्गलद्रव्यकी-अचिद्रूपताका जैसा अभाव है वैसा ही पुद्गलद्रव्यकी अचिद्रूपताका अभाव आकाशादि वस्तुओंमे भी है अन्यथा आकाशादि वस्तुओंमे पुद्गलद्रव्यसे भेद करना असंभव हो जायगा। अथवा यों कहें कि पुद्गलादि अचिद्रूप वस्तुओंकी अचिद्रूपताका जैसे अभाव एक जीवमे है वैसा ही अभाव अन्य जीवोंमें भी है तो इस तरह नाना जीवोंमें परस्पर पार्थक्य सिद्ध करना असंभव हो जायगा। इसलिये मानना पड़ता है कि प्रत्येक वस्तुका भावरूप धर्म ही उस वस्तुकी स्वतंत्रताका निर्णायक होता है अभावरूप धर्म नही। इस तरह भावरूप धर्मको निश्चयधर्म तथा अभावरूप धर्मको व्यवहारधर्म कहना उचित ही है। अनन्तानन्त जीवों, अनन्तानन्त पुद्गलों, असंख्यात कालद्रव्यों तथा एक धर्म, एक अधर्म और एक आकाश इन सबका अपना-अपना पृथक्-पृथक् भावरूप धर्म ही इन सब वस्तुओंके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको सुरक्षित रखे हुए है। अन्यथा जीवोंकी अनन्तता, पुद्गलोको अनन्तता और कालद्रव्योंकी असंख्यातता भंग हो जायगी। इतना ही नही, सम्पूर्ण वस्तुओंमे एकत्वका प्रस्थापन होकर संपूर्ण जगत् अद्वैतताके साँचेमे ढल जायगा। एक बात और है। अभावको जैनदर्शनमें भावान्तर स्वभाव माना गया है, भावको अभावान्तर स्वभाव नही। इसका भी कारण यह है कि सत्तात्मक (भावात्मक) धर्मके आधार पर ही वस्तुकी स्वतंत्रताका भान हो सकता है, असत्तात्मक (अभावात्मक) धर्म वस्तुकी स्वतंत्रताका भान करनेमें कदापि सहायक नही हो सकता है। ये सब कारण हैं जिनके आधार पर हमे प्रत्येक वस्तुके भावात्मक धर्मको निश्चयधर्म और अभावात्मक धर्मको व्यवहारधर्म ही स्वीकार करना पडता है। यह सब निश्चय और व्यवहारकी व्यवस्था वस्तुके नित्यत्व-अनित्यत्व, तत्त्व-अतत्त्व, अभेद-भेद, एकत्व-अनेकत्व आदि वस्तुधर्मोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। इस विषयको पचाध्यायी ग्रन्थमें अध्याय प्रथमके श्लोक १५ से श्लोक २२ तक विस्तारसे स्पष्ट किया है।

ऊपरके कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वस्तुके निश्चयधर्मको निश्चयरूपसे अर्थात् सर्वथारूपसे वास्तविक माना जाता है उसी प्रकार वस्तुके व्यवहारधर्मको व्यवहाररूपसे अर्थात् कथंचित् रूपसे वास्तविक मानना ही उचित है। गधेके सीगकी तरह सर्वथा अवास्तविक, कल्पित या मिथ्या मानना उचित नही है।

इन सब निश्चय-व्यवहारधर्मोंके अलावा भी यदि निश्चय-व्यवहारधर्मोंके विषयमे विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहाँ द्रव्यानुयोगकी दृष्टिमे उपर्युक्त प्रकारसे विधिरूप धर्म निश्चय और निषेधरूप धर्म व्यवहारधर्म माना जाता है वहाँ करणानुयोगकी दृष्टिमे निषेधरूप धर्म निश्चयधर्म और विधिरूप धर्म व्यवहारधर्म कहा जाने योग्य है। जैसे मुक्ति ससारका अभावरूप धर्म है लेकिन पराश्रितताका अभावरूप धर्म होकर भी आत्माको स्वतंत्रतारूप स्वाश्रयताका बोधक होनेसे निश्चयधर्म है तथा संसार आत्माकी परतंत्रता-रूप पराश्रितताका बोधक होनेके कारण भावरूप धर्म होकर भी व्यवहार है। इसी प्रकार उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता आदि परस्पर-विरोधी धर्मयुगलोमे भी निश्चय और व्यवहारकी व्यवस्था बैठा लेना चाहिये। लब्धि और उपयोग, स्वभाव और विभाव, द्रव्य और पर्याय, गुण और पर्याय, अन्वय और व्यतिरेक, अन्तरंग और बाह्य आदिके विकल्पोंमे भी पूर्व-पूर्वका धर्म निश्चयरूप और उत्तर-उत्तरका धर्म व्यवहाररूप ही होता है। किस धर्मको वस्तुका निश्चयधर्म माना जाय और किस धर्मको वस्तुका व्यवहारधर्म माना जाय, इसका निर्णय हमें सर्वत्र निश्चय और व्यवहार शब्दोंके व्युत्पत्त्यर्थोंके आधारपर प्रकरणानुसार ही कर लेना चाहिये। लेकिन सर्वत्र इस बातका ध्यान रखना ही चाहिये कि वे तो निश्चयधर्म हैं जो अपने-अपने ढगसे सर्वथा वास्तविक हैं और वे व्यवहारधर्म हैं जो अपने-अपने ढंगसे कथंचित् वास्तविक और कथंचित् अवास्तविक हैं। इस तरह जो भी सर्वथा अवास्तविक धर्म हो उसे व्यवहार-

धर्म कहना असंगत, मिथ्या या कल्पनारूप ही है। इसीलिये जो व्यक्ति सर्वथा अवास्तविक धर्मोंको ही व्यवहार धर्मके रूपमें समझ बैठे हैं वे महान् भ्रमके शिकार हो रहे है। इसी तरह जिन लोगोंने व्यवहारधर्मको भी सर्वथा वास्तविक धर्म मान रक्खा है वे भी महान् भ्रमके शिकार हो रहे है।

लोकमें भी व्यवहारधर्मको कथंचित् वास्तविक मानना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे—"यह शरीर मेरा है", "यह मकान मेरा है", "यह द्रव्य मेरा है", "ये मेरे स्वजन है", "मै अमुक समाजका व्यक्ति हूँ" और "अमुक ग्राम या देशका रहनेवाला हूँ" इत्यादि व्यवहार यदि सर्वथा अवास्तविक ही है तो लोककी और अध्यात्मकी संपूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी, क्योंकि फिर तो सर्वत्र अराजकता फैल जायगी व अधार्मिकताका ही बोलबाला हो जायगा। विवेकी पुरुषोकी तो कल्पना करके रूह कांपने लग सकती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक स्थानपर वस्तुका जो व्यवहारधर्म है वह दूसरे स्थान पर निश्चयधर्म हो सकता है। परन्तु ऐसे भी निश्चयधर्म होते है जो सर्वथा निश्चय होकर ही रहते हैं जैसे—पुद्गलाणुओंके मिश्रणसे बनी हुई मिट्टीरूप स्कंधपर्याय व्यवहारधर्म है परन्तु वही मिट्टी घटोत्पत्तिमें निश्चय-रूपताको प्राप्त हो जाती है। यही कारण कि मिट्टीरूप स्कंधपर्यायको द्रव्यके रूपमें यदि कहा जाय तो वह अशुद्ध द्रव्य ही कहा जायगा। इस तरह केवल अणुरूप पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसे एकान्त (सर्वथा) वास्तविक या शुद्ध द्रव्य कहा जा सकता है। यह व्यवस्था सर्वत्र लागू कर लेना चाहिये।

इस तरह हम पुनः कह देना चाहते हैं कि परसापेक्ष सर्वथा वास्तविकताका होना निश्चयकी कसौटी है, कथंचित् वास्तविकता और कथंचित् अवास्तविकताका होना व्यवहारकी कसौटी है तथा परनिरपेक्ष सर्वथा वास्तविकताका होना मिथ्यारूपता की कसौटी है।

उपसंहार

अध्यात्मके प्रकरणमें जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गका विवेचन किया गया है और उससे जो निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यकचारित्रको व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है, इनके विषयमें इसतरह निश्चय-व्यवहारका विभाजन करना चाहिये कि किसमें, किस तरहसे स्वाश्रयता या अभेदरूपता पायी जाती है और किसमें, किस तरहसे पराश्रयता या भेदरूपता पायी जाती है। इसप्रकार यह निर्णीत होता है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा औपशमिक सम्यक्चारित्र और क्षायिक सम्यक्चरित्र ये सभी निश्चयधर्मकी कोटिमें आते हैं। यह बात दूसरी है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यक्चारित्र अशाश्वत (अन्तर्मुहूर्तस्थायी) है, जबकि क्षायिकसम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र शाश्वत (स्थायी) हैं। इन सबको निश्चयधर्म इसलिये कहा जाता है कि ये सभी उस-उस कर्मके उपशम या क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण सर्वथा आत्माश्रित धर्म सिद्ध होते है। क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिकसम्यक्चारित्र ये दोनों व्यवहारधर्मकी कोटिमें आते हैं। इनको व्यवहारधर्म कहनेका कारण यह है कि ये दोनों उस-उस कर्मके क्षयोपशमसे पैदा होते है अर्थात् इनकी उत्पत्तिमें उस-उस कर्मकी सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमानमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय, आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृतिका उदय, इसतरह कर्मका उदयांश, उपशमांश और क्षयांश तीनों ही कारण होते है। ऐसी स्थितिमें इनमें जहाँ कर्मके उपशम और क्षयकी अपेक्षा आत्मा-श्रितता पायी जाती हैं वहाँ कर्मके उदयकी अपेक्षा पराश्रितता भी पायी जाती है। इस तरह इनमें जहाँ

संसारकी कारणताका अभाव पाया जाता है वहीं संसारकी कारणताका सद्भाव भी पाया जाता है। अथवा यों कहिये कि जहाँ इनमें मोक्षकी कारणताका सद्भाव पाया जाता है वहीं मोक्षकी कारणताका अभाव भी पाया जाता है।[१]

व्यवहार या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी स्थिति जीवके चौथे गुणस्थानसे सप्तमगुणस्थान तक ही संभव है, औपशमिकरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी स्थिति चौथेसे सातवें तक तथा उपशमश्रेणीके सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानोंमें एवं उपशांतमोह नामक ११वें गुणस्थानमें संभव है तथा क्षायिकरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी स्थिति चौथेसे सातवें तक तथा उपशमश्रेणीके सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानोंमें एवं ११वें उपशान्तनामक गुणस्थानमें भी संभव है। इसके अतिरिक्त क्षपकश्रेणीके सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानोंमें तथा क्षीणमोहनामक १२वें गुणस्थानमें एवं उसके आगे सर्वत्र नियमसे क्षायिक सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। चौथे गुणस्थानसे पूर्व प्रथम गुणस्थानमें मिथ्यात्वके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमें सासादन अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न औदयिकभावके रूपमें तथा तृतीय गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रभाव) के रूपमें सम्यग्दर्शनका सर्वथा अभाव रहा करता है अर्थात् इन गुणस्थानोंमें निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन नहीं रहा करते हैं।

व्यवहार या क्षायोपशमिक चारित्र या यों कहिये कि सरागचारित्र नियमसे पाँचवेंसे लेकर दशवें गुण-स्थान तक रहा करता है, ११वें गुणस्थानमें नियमसे औपशमिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है और १२वें गुणस्थानसे लेकर आगे १४वें गुणस्थानके अन्ततक क्षायिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है। आगे मोक्षमें चूँकि आत्मस्वरूपमें कारणरूपता समाप्त होकर कार्यरूपताका प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः वहाँपर चारित्रकी स्थितिको आगममें अस्वीकृत कर दिया गया है।[२] यहाँ पर इतनी विशेषता और समझ लेना चाहिये कि यद्यपि निश्चयसम्यक्चारित्र, क्षायिकत्व और यथाख्यातत्वकी दृष्टिसे १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमें जीवको उपलब्ध हो जाता है। परन्तु यह सब उसका भावात्मकरूप है, द्रव्यात्मक दृष्टिसे अभी उसकी (निश्चयसम्यक्चारित्रकी) पूर्णता शेष रह जाती है, क्योंकि अभी भी उसके कर्मोंके साथ बद्धता बनीहुई है। साथ ही निश्चयसम्यग्ज्ञानका पूर्णता और पूर्ण आत्माश्रिताके रूपमें अभी भी अभाव बना रहता है। इसके अलावा नोकर्मनिमित्तक योग भी आत्मामें हुआ करता है। तेरहवें गुणस्थानकी आदिमें यद्यपि समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और समस्त अन्तराय कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे निश्चयसम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो जाती है फिर भी द्रव्यात्मक रूपसे निश्चयसम्यक्चारित्र अभी भी अपूर्ण बना रहता है। यद्यपि योगका निरोध हो जानेपर नोकर्मनिमित्तक योग समाप्त हो जाता है फिर भी अघातीकर्म अभी भी कार्यरत रहा करते हैं। इन अघाती कर्मोंका प्रभाव १४वें गुणस्थानके अन्त समयमें ही समाप्त होता है। अतः उसी समय आत्मा भी द्रव्यात्मकरूपमें पूर्ण स्वावलम्बी बनता है, यही निश्चयसम्यक्चारित्रकी पूर्णता है और इसके होनेपर आत्मा भी तत्काल पूर्ण स्वतन्त्र्यमय मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।[३]

---

१. आगममें सरागसम्यक्त्वको जो व्यवहारसम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व कहा गया है उसके साथ प्रकृतका विरोध नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँपर सम्यग्दर्शनके सम्यक्त्व सम्बन्धमें मात्र दर्शनमोहनीयकर्मके उदय-अनुदयकी अपेक्षासे विचार किया गया है।

२. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १० के सूत्र ३ व ४ की श्लोकवार्तिकटीका।

३. तत्त्वार्थसूत्र, अ० १ के सूत्र १ की श्लोकवार्तिकटीकामें वार्तिकश्लोक ८७ से ९७ तक व इनका भाष्य।

ऊपर पाँचवें गुणस्थानसे दशवें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्रका और ११वें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक निश्चयसम्यक्चारित्रका सद्भाव बतला आये हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथमसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार यदि स्वाश्रयता और पूर्णताको ही निश्चयसम्यग्ज्ञानकी कसौटी माना जाय, जो कि तत्त्वतः सही है, तो क्षायिकरूप केवलज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञानकी कोटिमें आता है। अत पराश्रयता और अपूर्णताके आधारपर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ही ज्ञान क्षायोपशमिक होनेके कारण व्यवहार-सम्यग्ज्ञानकी कोटिमें भी आ जाते हैं। ऐसी स्थितिमे व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी स्थिति चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक सिद्ध होती है व तेरहवें गुणस्थान व उसके आगे ही निश्चयसम्यग्ज्ञानका सद्भाव सिद्ध होता है।[1] चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्वका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस विवेचनका सार यह है कि प्रथमसे तृतीय गुणस्थान तक मोक्षमार्गताका सर्वथा अभाव है, कारण कि वहाँ तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अभाव ही रहा करता है। अत. वहाँ पर संसार-की ही कारणता रहा करती है। व्यवहारसम्यग्ज्ञानरूप मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थानसे प्रारम्भ हो जाता है और १२वें गुणस्थान तक रहता है व तेरहवें गुणस्थानमें निश्चयसम्यग्ज्ञान हो जाता है और वह आगे भी रहता है। व्यवहारसम्यग्दर्शन भी चतुर्थ गुणस्थानमें उत्पन्न होकर सातवें गुणस्थान तक रहता है। इसके आगे निश्चयसम्यग्दर्शन ही रहा करता है। परन्तु किसी जीवके निश्चयसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति चतुर्थ गुण-स्थानमें भी हो जाती है, किसीको पाँचवेंमें, किसीको छठेमे और किसीको सातवेंमे भी होती है। इस तरह निश्चयसम्यग्दर्शनका सद्भाव चौथेसे सातवें तकके गुणस्थान तक भी सम्भव हो जाता है। व्यवहारसम्यक्-चारित्रकी प्राप्ति पाँचवें गुणस्थानमें होती है। इसका सद्भाव १०वें गुणस्थान तक रहता है। ११वे गुणस्थानमे व आगे निश्चयसम्यक्चारित्र ही रहता है तथा इसकी पूर्णता चतुर्दश गुणस्थानके अन्त समयमे होती है। पाँचवें गुणस्थानसे पूर्व व्यवहारसम्यक्चारित्र भी नही रहता है।

विषयका उपसंहार करते हुए हमने ऊपर यद्यपि निश्चय और व्यवहाररूप विभाजन मोक्षमार्गको दृष्टिमें रखकर अथवा यों कहिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको दृष्टिमे रखकर किया है। परन्तु लेखमें शास्त्रीय दृष्टिसे चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन सभी अनुयोगोके आधारसे भी विस्तारसे किया है। साथ ही लौकिक दृष्टिसे भी संक्षिप्त रूपमें किया है। इसलिये इसके सम्बन्धमें विस्तार न करके अब इस बातपर विचार करते है कि जब आगममे 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' शब्दों का भी सर्वत्र बहुलतासे प्रयोग मिलता है तो इनका अर्थ और प्रयोजन क्या है?

निश्चयनय और व्यवहारनयका अर्थ और प्रयोजन

नयोको जैनागममें प्रमाणका अंश स्वीकार किया है।[2] जैनागममे यह भी बतलाया गया है कि वस्तुतत्त्वको समझनेके लिये जो साधकतम (करणरूप) साधन हो उसे प्रमाण समझना चाहिये।[3] इसके साथ

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १ की श्लोकवार्तिकटीकाके वार्तिक-श्लोक ९३, ९४, ९५।

२. नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मत.। स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधत.॥

—तत्त्वा०, श्लो० १-६, वा० २९।

३. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाणम्।

—प्रमेयरत्नमाला १-१ की टीका।

ही वहाँ पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतत्त्वको समझनेका साधकतम (करणरूप) साधन ज्ञान ही हो सकता है, अतः ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिये।[1] इस तरह चूँकि वस्तुतत्त्वको समझनेका साधन-भूत ज्ञान ही पूर्वोक्त प्रकारसे प्रमाण होता है और प्रमाणका अंश ही नय होता है। अतः इसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि जो वस्तुतत्त्वके अंशको समझनेका साधनभूत ज्ञान हो उसे नय कहना चाहिये।[2]

प्रमाणरूप ज्ञान जैनागममें पाँच बतलाये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[3] इनमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान अखण्डवस्तुका ज्ञान कराते हैं और इनमेंसे भी केवलज्ञान तो वस्तुका सर्वात्मना ज्ञान कराता है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एकदेशात्मना वस्तुका ज्ञान कराते हैं। श्रुतज्ञानकी वस्तुका ज्ञान करानेकी प्रक्रिया इन चारों ज्ञानोंसे भिन्न प्रकारकी है। अर्थात् श्रुतज्ञान वस्तुका यद्यपि सर्वात्मना ज्ञान कराता है, परन्तु केवल-ज्ञानसे वस्तुका ज्ञान सर्वात्मना होता है वह युगपत् प्रत्यक्षरूपमें होता है और श्रुतज्ञानसे जो वस्तुका सर्वात्मना ज्ञान होता है वह क्रमशः एक-एक अंशके ग्रहणपूर्वक परोक्ष रूपमें होता है। इस तरह कहना चाहिये कि श्रुतज्ञान द्वारा वस्तुके एक-एक अंशका क्रमशः पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है इसलिये श्रुतज्ञानमें नयोंकी व्यवस्थाको अनायास स्थान प्राप्त हो जाता है और यही कारण है कि आगममें श्रुतज्ञानमें ही नयोंकी व्यवस्थाका प्रतिपादन किया गया है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें नयव्यवस्थाका निषेध किया गया है।[4]

उपर्युक्त कथनका अभिप्राय यह है कि वस्तुके एक-एक अंशका पृथक्-पृथक् रूपमे क्रमशः बोध होनेका नाम नय है। ऐसा बोध श्रुतज्ञानको छोड़कर मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें सम्भव नहीं है। श्रुतज्ञानमे कैसे संभव है? इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति वचनके आधारपर ही हुआ करती है और चूँकि वचन सांश होता है अत सांश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेवाला जो श्रुतज्ञानरूपी बोध है उसमे भी सांशताकी सिद्धि हो जाती है। इसप्रकार श्रुतज्ञानमें नय व्यवस्थाकी सिद्धि हो जाती है।[5]

वचनमें सांशताकी सिद्धि अनुभवसिद्ध है, कारण कि वाक्योंके समूहरूप महावाक्यमें समाविष्ट जितने वाक्य हों उनका उच्चारण या लेखन क्रमसे ही होता है। इसी तरह प्रत्येक वाक्यमे जितने पद हों उनका

---

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परीक्षामुख, ।१-१।
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। वही, १।२।

२. स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नय स्मृतः १-९८।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १-६ वा० ४।

३. मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।
—तत्त्वार्थसूत्र, १।९, २०, ११, १२

४. मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात्। तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टतः॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु। श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत्॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६, वा० २४, २५, २६, २७।

५. नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।—तत्त्वा० श्लो० १-३३, वा० ६।

भी उच्चारण या लेखन क्रमसे होता है और प्रत्येक पदमें जितने अक्षर हों उनका भी उच्चारण या लेखन क्रमशः होता है। यही कारण है कि निरर्थक अक्षरोंके समूहका नाम शब्द कहलाता है, और शब्द यदि विभक्त्यन्त हो जावे तो वह पद कहलाने लगता है।[1] पद दो प्रकारके होते हैं एक संज्ञापद और दूसरा क्रियापद। इन दोनोंके योगसे वाक्य बनता है।[2] दो आदि वाक्योंके योगसे महावाक्य बनता है।[3] इसी प्रकार दो आदि महावाक्योंके योगसे भी महावाक्यकी निष्पत्ति होती है।

सबसे बड़ा महावाक्य ग्रन्थ होता है। ग्रन्थके अन्तर्गत अध्याय आदिके रूपमें भी महावाक्य होते हैं। एक-एक अध्याय भी कई-कई महावाक्योंका समुदाय होता है। एक-एक महावाक्यमें दो आदि अनेक वाक्य होते हैं और एक-एक वाक्यमें दो आदि अनेक पद होते हैं। इस प्रकार वचनरूप श्रुतका रूप पदसे लेकर बड़े-से-बड़े महावाक्य तक हो जाता है। जैनागमका सबसे बड़ा महावाक्य द्वादशांग रूप है। इसके १२ अन्तर्भेद हैं। १२वें अन्तर्भेद दृष्टिवादके मुख्य पाँच भेद हैं और फिर इनके भी अनेक उपभेद हैं। ये सब भेद वचनरूप श्रुतके हैं तथा इनके श्रवण या पाठसे जो वस्तुतत्त्वका बोध श्रोता या पाठकको हुआ करता है वह ज्ञानरूप श्रुत कहलाता है। ज्ञानरूप श्रुत अर्थात् वचनके आधारपर जो बोध श्रोता या पाठकको हुआ करता है उसे आगममें स्वार्थश्रुत भी कहा गया है और वहींपर उस वचनरूप श्रुत या वचनको परार्थश्रुत भी कहा गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान चूँकि ज्ञानरूप ही हुआ करते हैं, अतः अपनी ज्ञानरूपताके कारण ये चारों ज्ञान स्वार्थ प्रमाणरूप ही हुआ करते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि प्रमाण दो तरहका होता है—एक स्वार्थरूप और दूसरा परार्थरूप। जो प्रमाण ज्ञानरूप हो उसे स्वार्थ प्रमाण और जो प्रमाण-वचनरूप हो उसे परार्थ-प्रमाण जानना चाहिये। इस प्रकार मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चारों प्रमाण तो अपनी ज्ञानरूपताके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही होते हैं और श्रुतप्रमाण अपनी ज्ञानरूपताके कारण तो स्वार्थप्रमाणरूप होता है तथा अपनी वचनरूपताके कारण वह परार्थप्रमाणरूप भी होता है।[4]

जो वचन वक्ता या लेखकके अभिप्रायरूप वस्तुतत्त्वका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करता है वह तो प्रमाणरूप होता है और जो वचन वक्ता या लेखकके अभिप्रायरूप वस्तुतत्त्वके एक देश (अंश)का प्रतिपादन करता

---

१. *सुप्तिङन्तं पदम्—पाणिनीय अष्टाध्यायी १-४-१४।*

२. पदानां परस्परसापेक्षाणा निरपेक्षः समुदायो वक्यम्।—अष्टशती, अकलंकदेव, आप्तमी० का० १०३।

३. वाक्योच्चयो महावाक्यम्।—साहित्यदर्पण २-१। यहाँपर 'वाक्योच्चयः' पदका विशेषण इसकी टीकामें "योग्यताकांक्षासत्तियुक्त." दिया गया है। इस तरह महावाक्यका लक्षण निम्न प्रकार हो जाता है—

"परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षः समुदायो महावाक्यम्"।

इस लक्षणके आधारपर ही गोम्मटसार जीवकाण्डमें श्रुतमार्गणाप्रकरणमें गिनाये गये श्रुतके बीस भेदोंमेंसे आदिके अक्षर, पद और संघात (वाक्य)से आगे जितने भेद गिनाये गये हैं वे सब यहाँ वाक्यके भेद समझना चाहिये।

४. महावाक्योंके योगसे जो महावाक्य बनता है उसका लक्षण निम्न प्रकार जानना चाहिये—परस्परसापेक्ष महावाक्योंके निरपेक्ष समुदायका नाम भी महावाक्य है।—(लेखक)।

५. प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः—सर्वार्थसिद्धि १-६।

है वह नयरूप होता है।[१] इस तरह पद, यदि वाक्यसे सम्बद्ध हो तो वह नयरूप होगा और पद तभी नयरूप होगा, जबकि वह वाक्यसे सम्बद्ध होगा। स्वतन्त्र पद प्रमाणरूप तो होगा ही नहीं, लेकिन अर्थांशके भी प्रतिपादनमें असमर्थ रहनेके कारण वह नयरूप भी नही होगा। वाक्य यदि अपनी स्वतन्त्र हालतमें वक्ता या लेखकके पूर्ण अभिप्रायका प्रतिपादन करता है तो वह प्रमाणरूप होगा और यदि किसी महावाक्यका अवयव होकर वक्ता या लेखकके अभिप्रायके एकदेशका प्रतिपादन करता है तो वह नयरूप होगा। यही व्यवस्था वाक्योंके समूहरूप महावाक्योंके और महावाक्योंके समूहरूप महावाक्योंमें भी जानना चाहिये। लेख-विस्तारके भयसे यहाँपर इन सब बातोंपर विशेष प्रकाश नही डाला जा रहा है।

जैनागममें नयोंकी व्यवस्था विविध प्रकारसे की गयी है। उनमें एक प्रकार तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नामके सात नयोंका है।[२] दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नामके दो नयोंका[३] है और तीसरा प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नामके दो नयोंका है।[४] नयोंका इन प्रकारोंके अलावा एक प्रकार वह भी है, जिसमे वचनके सभी प्रकारोंका समावेश हो जाता है। इसे हम लोक-संग्राहक नयोंका प्रकार कहना उचित समझते है। इस सम्बन्धमें गोम्मटसार कर्मकाण्डकी निम्नलिखित गाथा ध्यान देने योग्य है—

जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥८९४॥

अर्थात् जितने वचन बोलनेके मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय है।

नयोके इन सब प्रकारोका विवेचन यहाँ हमें नही करना है। प्रकृत प्रसंग तो निश्चयनय और व्यवहारनयका है। अत इन्ही दो नयोपर ही हम यहाँ प्रकाश डाल रहे हैं।

सर्वप्रथम यहाँपर इस बातको समझना है कि उपर्युक्त पदादि महावाक्य पर्यन्त वचन दो प्रकारका होता है—एक तो वस्तुतत्त्वको सत्य (यथावस्थित) रूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन और दूसरा वस्तु-तत्त्वको असत्य (जैसा नही है वैसा) रूपमे प्रतिपादित करनेवाला वचन। इनमेंसे वस्तुतत्त्वको सत्यरूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन सकलादेशी प्रमाणरूप होता है और वस्तुतत्त्वके एकदेशको सत्यरूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन विकलादेशी नयरूप होता है। इसी प्रकार वस्तुतत्त्वको असत्यरूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन प्रमाणाभास और नयाभासके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो वचन अवस्तुको वस्तुरूपमे प्रतिपादित करता हो वह भी प्रमाणाभासरूप होता है तथा जो वचन वस्तुके एक अंशको संपूर्ण वस्तुरूपमें प्रतिपादित करता हो, वह वचन भी प्रमाणाभासरूप होता है। इसी प्रकार जो वचन वस्तुके अंशको दूसरे अंशरूपमें प्रतिपादित करता हो वह वचन नयाभासरूप होता है।

---

१. सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति।—सर्वार्थसिद्धि १-६।

२. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नया।—तत्त्वार्थसूत्र १-३३।

३. नयो द्विविध। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च।—सर्वार्थसिद्धि १-६।
(नय.) द्वेधा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यं सामान्यमुत्सर्ग अनुवृत्तिरित्यर्थं, तद्विषयो द्रव्यार्थिक। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थं, तद्विषय पर्यायार्थिकः।—सर्वार्थसिद्धि १-३३।

४. पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः।—आलापपद्धति।

जैनागममें वस्तुको अनेकान्तात्मक माना गया है अर्थात् जैनागममें बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु भावरूप और अभावरूप परस्पर-विरोधी अनन्तधर्मात्मक है और वे भावरूप तथा अभावरूप परस्पर-विरोधी अनन्तधर्म वस्तुमें अपने-अपने विरोधी धर्मके साथ ही रहा करते हैं। प्रत्येक भावरूप धर्म अपने विरोधी अभावरूप धर्मके साथ ही वस्तुमें रह रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुमे नित्यरूप धर्म रह रहा है, तो उसका विरोधी अनित्यरूप धर्म भी उसमें रह रहा है। इस विषयको आवश्यकताके अनुसार पूर्वमें स्पष्ट किया गया है। पूर्वमें हम यह भी बतला आये हैं कि प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान परस्पर-विरोधी उन दो धर्मोंमेंसे एक धर्म तो निश्चयरूप होता है और एक धर्म व्यवहाररूप होता है। इस आधारपर वस्तुतत्त्वके प्रतिपादनमें यह बात निर्णीत होती है कि जो वचन वस्तुतत्त्वके निश्चय और व्यवहाररूप दोनों अंशोंका प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणरूप है। जैसे—"वस्तु नित्यानित्य है"। यह वचन वस्तुके निश्चय और व्यवहार दोनों अंशोंका प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणरूप है। जो वचन वस्तुके निश्चयांशका निश्चय-रूपसे प्रतिपादन करता है वह वचन निश्चयनयरूप है। जैसे—"प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी परिणतिका उपादान कारण होता है"। यह वचन वस्तुमें विद्यमान उपादनकारणतारूप निश्चय धर्मका प्रतिपादन करता है, इसलिए निश्चयनयरूप है। जो वचन वस्तुके व्यवहारांशका व्यवहारांश रूपमें प्रतिपादन करता है वह वचन व्यवहार-नयरूप है। जैसे—"चित् अचित्की परिणतिमें और अचित् चित्की परिणतिमें निमित्तकारण होता है"। वह वचन चित्में अचित्की परिणतिकी और अचित्में चित्की परिणतिको विद्यमान निमित्तकारणतारूप व्यवहारधर्मका प्रतिपादन करता है, इसलिये व्यवहारनयरूप है। जो वचन अवस्तुको वस्तुरूपमें प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणाभास है, जैसे—"गधेके सींग होते है"। यह वचन सर्वथा असद्भूत वस्तुका प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणाभास हैं। जो वचन एक वस्तुको अन्य वस्तुरूप प्रतिपादन करता है वह वचन भी प्रमाणाभास है जैसे—"संपूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्माकी ही पर्याय है"। यह वचन अचेतनको चेतनरूप प्रतिपादित कर रहा है इसलिये प्रमाणाभास है। इसी प्रकार जो वचन वस्तुके एक अंशको वस्तु रूपमें प्रतिपादन करता है वह भी प्रमाणाभास है। जैसे—वस्तुको सर्वथा भावात्मक या सर्वथा अभावात्मक मानना अथवा सर्वथा नित्यात्मक या सर्वथा अनित्यात्मक मानना इत्यादि वचन वस्तुके अंशको वस्तुरूपमें प्रतिपादन करते हैं, इसलिये ये वचन भी प्रमाणाभास हैं। जो वचन वस्तुके एक अंशको वस्तुके अन्य अशके रूपमे प्रतिपादन करते है वे वचन नयाभास होते हैं ऐसा ऊपर कहा गया है। इस आधार पर जो वचन वस्तुके व्यवहारांशका निश्चयांश-रूपमें प्रतिपादन करनेवाला हो वह निश्चयनयाभास है। जैसे—"चित् ही अचित्रूप परिणत होता है"। अथवा "अचित् ही चित् रूप परिणत होता है" यह वचन निश्चय नयाभास है क्योंकि चित् अचित्की उत्पत्तिमें और अचित् चित्की उत्पत्तिमें निमित्तकारणरूप व्यवहारकारण ही होते है, उपादानकारणरूप निश्चयकारण नही होते हैं। इस तरह उक्त वाक्योंमें निमित्तकारणरूप व्यवहारकारणको उपादानकारणरूपमें निश्चय-कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, इसलिये वे दोनों वाक्य निश्चयनयाभास हैं। इसी प्रकार आत्मा और उसके स्वभावभूत चैतन्यका पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करके चैतन्यके योगसे आत्माको चित्रूप प्रतिपादन करना व्यवहारनयाभास है। आत्मा और चैतन्यमें सर्वथा अभेद मानना भी निश्चयनयाभास है।

यहाँ प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभासके रूपमें जितना विवेचन किया गया है वह सब वचनरूप श्रुतके सम्बन्धमें किया गया है। ज्ञानरूप श्रुतके सम्बन्धमे कहा जा सकता है कि इनसे होने वाला बोध भी उस रूपमें प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभासरूप ही होगा। इसलिये यहाँ पर उसका विवेचन अलगसे नही किया जा रहा है।

ऊपरके कथनसे यह बात स्पष्ट होती है कि वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुतका पदार्थके साथ

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध रहता है और ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुतका पदार्थके साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भावरूप सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तुके अंशोंके प्रतिपादक होते हैं तथा वस्तु और वस्तुके अंश क्रमशः उनके प्रतिपाद्य होते हैं। इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रमाण-श्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तुके अंशोंके ज्ञापक होते हैं तथा वस्तु और वस्तुके अंश क्रमशः उनके ज्ञाप्य होते हैं। इस प्रकार पूर्वमें जितना चरणानुयोग आदिकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहाररूप अर्थोंका व्याख्यान किया गया है उसमें जितना निश्चयरूप अर्थ है उसका उसी रूपमें प्रतिपादन करने वाला वचनरूप निश्चयनय होता है और उसका उसी रूपमें बोध करने वाला ज्ञानरूप निश्चयनय होता है। इसी प्रकार उसमें जितना व्यवहाररूप अर्थ है उसका उसी रूपमे प्रतिपादन करनेवाला वचनरूप व्यवहारनय होता है और उसका उसी रूपमें बोध करानेवाला ज्ञानरूप व्यवहारनय होता है। इस बातको लक्ष्यमे रखकर ही सर्वत्र हमें वस्तुतत्त्वका निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ऐसा आगममें बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग दो प्रकारका है—एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, तो दोनो ही मोक्षमार्गोंकी वास्तविकताको मानकर नय-प्रक्रियासे इस बातका निर्णय करना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परया कारण होता है, जैसा कि पूर्वमें प्रतिपादित किया गया है। इस तरह मोक्षमार्गकी स्वतंत्र-स्वतंत्र दो भेदरूपताके प्रसंगके भयसे जिनको व्यवहारमोक्षमार्गको अकिंचित्कर माननेका सहारा लेना पडता है उन्हें उस सहारेकी फिर आवश्यकता नही लेनी पडेगी। इसी प्रकार आत्माकी परिणतिको जब औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नामसे पुकारा जाता है, तो नयात्मक दृष्टिकोण रहनेसे इसका अर्थ यही होता है कि आत्माकी उक्त, औदयिकादि परिणतियोंमें कर्मकी उदयादि परिणितियाँ निमित्तकारण हुआ करती है। यदि कर्मकी उदयादि परिणतियाँ आत्माकी औदयिकादि परिणतियोंकी उत्पत्तिमें निमित्त-कारण नहीं होने पर उन्हें आत्माकी औदयिकादि परिणतियोंमें निमित्तकारण कहा जाता है तो फिर यह कथन तो असत्य ही हो सकता है। इसको व्यवहारनयका कथन किसी भी हालतमें नहीं कहा जा सकता है। इसे व्यवहार नय तभी कहा जा सकता है जबकि कर्मकी उदयादिक परिणतियोंमें आत्माकी औदयिकादि परिणतियोकी निमित्तकारणताका सद्‌भाव माना जायगा और उपादानकारण हो कार्यरूप परिणत होता है निमित्त कारण नहीं, क्योंकि उपादानकारणका कार्य ही कार्यरूप परिणत होना है, निमित्त-कारणका कार्य तो उपादानको कार्यरूप परिणत होनेमें केवल सहायता देनेका ही रहता है। इसलिये किसीको ऐसा भय करनेकी आवश्यकता नहीं कि "यदि कार्यमें निमित्तकारणकी निमित्तकारणताको वास्तविक मान लिया जाता है तो निमित्तकारण ही कार्य बन जायेगा।" इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्दने 'समयसार' ग्रन्थमें आत्माको स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तु सिद्ध करनेके लिये सर्वप्रथम उसके स्वतःसिद्ध ज्ञायकस्वभावका प्रतिपादन किया है। लेकिन जब आत्मा अनादिकालसे अपने उक्त स्वभावमें स्थिर न रहकर विकारी बन रहा है तो इसके लिये उन्होंने आत्माकी पुद्‌गलकर्मके साथ बद्धताको भी स्वीकार किया है। अर्थात् जिस प्रकार आत्माके स्वभाव ज्ञायकभावको आचार्य कुन्दकुन्द स्वतःसिद्ध मानते हैं उस प्रकार वे आत्माके विकारको स्वतःसिद्ध नहीं मानते हैं। इस बातको बतलानेके लिये सर्वप्रथम उन्होंने शुद्धनय और व्यवहारनयका आश्रय लिया है। इससे आचार्य कुन्दकुन्द यह दिखलाना चाहते हैं कि यदि आत्माको स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तुके रूपमें जानना है तो आत्माके स्वतःसिद्धस्वरूपको बतलानेवाले शुद्धनयका अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका प्रतिपादक शुद्धनय है अथवा यों कहिये कि वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका प्रतिपादन करना ही शुद्धनय है। इसी तरह यदि आत्माकी

अनादिकालसे चली आ रही विकारी संसाररूप अवस्थाको समझना है तो इसका ज्ञान शुद्धनयसे तो होगा नही, कारण कि वह तो वस्तुके स्वत सिद्धस्वरूपका ही ज्ञापक होता है, जबकि आत्माकी विकारी संसाररूप अवस्था उसकी स्वतःसिद्ध अवस्था न होकर कर्मोदयजन्य अवस्था है। इसलिये इसको समझानेके लिये व्यवहारनयका अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तुके पराश्रितस्वरूपका प्रतिपादक व्यवहारनय है। अथवा यों कहिये कि वस्तुके पराश्रित धर्मका प्रतिपादन करना ही व्यवहारनय है। इसके भी अतिरिक्त यदि आत्माकी संसाररूप विकारी अवस्थाको समाप्त करके उत्पन्न होनेवाली मोक्षरूप अवस्थाको समझना है तो इसका भी ज्ञान शुद्धनयसे नहीं होगा; कारण कि यह अवस्थायी आत्माकी स्वत सिद्ध अवस्था न होकर कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमजन्य अवस्था है। इसलिये इसको समझनेके लिये भी वस्तुके पराश्रित धर्मके प्रतिपादक व्यवहारनयका अवलम्बन लेना होगा।

अब प्रश्न उठता है कि आत्माकी ससार और मोक्ष दोनो ही प्रकारकी अवस्थायें जब क्रमश कर्मके उदयसे जन्य और कर्मके उपशम, क्षय तथा क्षयोपशमसे जन्य है। यानी आत्माकी संसाररूप अवस्थामे कर्मका उदय कारण है और मोक्षरूप अवस्थामे कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम यथायोग्य साक्षात् और परंपरया कारण है तो क्या कर्मके ये उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मामे तद्रूप परिणमनकी योग्यता के अभावमें आत्माको संसारी या मुक्त बना सकते है ? इस विषयमे आचार्य कुन्दकुन्दका कहना है कि वस्तुमें स्वगत योग्यताके अभावमें अन्य कोई भी कारण उसको किसी रूप परिणमन करानेमे असमर्थ ही रहा करता है। यही कारण है कि जैनागममें आत्माकी ससाररूप अवस्थाका कारण आत्माकी स्वत सिद्ध वैभाविकी शक्तिको तथा आत्माकी मोक्षरूप अवस्थाका कारण आत्माकी स्वत सिद्ध भव्यत्वशक्तिको भी स्वीकार किया गया है। इस तरह यह बात निर्णीत होती है कि यथायोग्य कर्मका उदय होनेपर आत्मा अपनी वैभाविकी शक्तिके आधारपर संसारी बना हुआ है और कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम होते हुए अन्तमे सर्वथा क्षय हो जानेपर आत्मा अपनी भव्यत्वशक्तिके आधार पर मोक्षरूप अवस्थाको भी प्राप्त कर लेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकल आता है कि आत्माके संसारमे उसकी वैभाविकी शक्ति और कर्मका उदय ये दोनों कारण है तथा आत्माके मोक्षमें उसकी भव्यत्वशक्ति और कर्मका यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षय कारण हैं। अब यदि ससारके दोनों कारणोंके विषयमे यह विचार किया जाय कि ससारके दोनों कारणोंमेंसे कौन किस रूपमे कारण होता है और मोक्षके दोनो कारणोंमेसे कौन किस रूपमे कारण होता है ? तो आत्माके संसारमे कारणभूत उसकी वैभाविकी शक्ति उसके ससारमे तथा आत्माके मोक्षमे कारणभूत उसकी भव्यत्वशक्ति उसके मोक्षमे उपादानकारण है, कारण कि ये शक्तियाँ ही व्यक्त होकर क्रमश ससार और मोक्षरूपताको प्राप्त होती है। इसी प्रकार आत्माके संसारमे कारणभूत कर्मका उदय व आत्माके मोक्षमें कारणभूत कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम निमित्त कारण है। कारण कि कर्मका उदय आत्माके संसाररूपसे और कर्मका उपशम, क्षय व क्षयोपशम आत्माके मोक्षरूप से कदापि परिणत नही होते, केवल आत्माके उस परिणमनमे सहयोग मात्र दिया करते हैं क्योंकि कर्मके उदयका सहयोग न मिलनेपर आत्माकी वैभाविकी शक्ति संसाररूप परिणत नही हो सकती है और कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमका सहयोग न मिलनेपर आत्माकी भव्यत्वशक्ति भी मोक्षरूप परिणत नही हो सकती है।

इस तरह उपर्युक्त निमित्त और उपादान दोनो कारणोंमेंसे उपादानकारणको तो स्वाश्रयताके आधार पर निश्चयकारण कहना योग्य है और निमित्तकारणको पराश्रयताके आधारपर व्यवहारकारण कहना योग्य है। यह सब विषय पूर्वमें विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है। अब यदि इन दोनों ही कारणताओंके

प्रतिपादन करने या बोध करनेकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि उपादानकारणता रूप निश्चयकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावके आधारपर निश्चयनयरूप वचनका तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भावके आधारपर निश्चयनयरूप ज्ञानका विषय होती है और निमित्तकारणतारूप व्यवहारकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावके आधारपर व्यवहारनयरूप वचनका तथा ज्ञाप्य-ज्ञापकभावके आधारपर व्यवहारनयरूप ज्ञानका विषय होती है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें शुद्धनय और व्यवहारनयके विकल्पोंके समान निश्चयनय और व्यवहारनयके विकल्पोका भी समावेश किया है।

आगममें निश्चयनयके भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इस तरह दो भेद कर दिये गये हैं। इनमेंसे आत्माका विकाररहित शुद्ध स्वरूप स्वाश्रितपनेकी दृष्टिसे शुद्धनिश्चयनयका विषय होता है और आत्माका विकारी अशुद्ध स्वरूप भी स्वाश्रितपनेकी दृष्टिसे अशुद्धनिश्चयनयका विषय होता है। आत्माके इसी स्वरूपको यदि पराश्रितपनेकी दृष्टिसे देखा जाय, तो फिर यह व्यवहारनयका विषय हो जाता है। व्यवहार-नयके भी आगममे दो भेद किये गये हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूतव्यवहारनय। सद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और दूसरा उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय। इसी प्रकार असद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकारका है—एक अनुपचरितअसद्भूतव्यवहार-नय और दूसरा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इस विषयको आलापपद्धतिमे निम्न प्रकार निबद्ध किया गया है—

> "तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः। तत्र निश्चयो द्विविध —शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च। तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक शुद्ध-निश्चयो, यथा केवलज्ञानादयो जीव। सोपाधिक (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चय। यथा मति-ज्ञानादयो जीव। व्यवहारो द्विविध सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः। तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुप-चरितभेदात्। तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयःउपचरित सद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य मति-ज्ञानादयो गुणा। निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयानुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञाना-दयो गुणा। असद्भूतव्यवहारो द्विविध -उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्ध-विषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा देवदत्तस्य धनम्। संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरि-तासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरम्।" इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है।

इस तरह नयोके स्वरूपको यथावत् प्रकार समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, कारण कि संपूर्ण वस्तु-तत्त्वको समझनेका साधन अल्पज्ञ प्राणियोके लिये नय-व्यवस्था ही है।

इस नय-व्यवस्थाको लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि "कुम्भकारने दण्ड और चक्रके सहयोगसे मिट्टीसे घडा बनाया" ऐसा वाक्य यदि बोला जाता है तो इसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

• यह संपूर्ण वाक्य वक्ताके संपूर्ण अर्थका यदि निराकांक्षरूपसे बोधक है, तो इसे अपने वर्तमान रूपमे प्रमाणवचन और इससे होने वाले बोधको प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा। इस वाक्यके संपूर्ण अर्थमे इतने अर्थ गर्भित हैं—

अभेददृष्टिसे मिट्टी और घटमें जो अभेदका बोध होता है यह निश्चयनय है, कार्यकारण-भावकी दृष्टिसे जो भेदका बोध होता है यह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टीकी घटरूप परिणतिरूप उत्पादमें मिट्टीमे जो उपादान-

कारणताका बोध होता है यह भी निश्चयनय है। यहींपर कुम्भकारमें जो निमित्तकारणताका बोध होता है वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, कारण कि कुम्भकार मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें साक्षात् निमित्त-कारण है, यहींपर चक्रमें जो निमित्तकारणताका बोध होता है वह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है, क्योंकि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें परंपरया अर्थात कुम्भकारका सहयोगी होकर ही चक्र निमित्तकारण होता है, और यहींपर दण्डमे जो निमित्तकारणताका बोध होता है, वह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें दण्डनिष्ठ निमित्तकारणता दो परंपराओंसे अनुरक्त है अर्थात् दण्ड चक्रका सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकारका सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टीका सहयोगी होता है। इस विषयको इस रूपमें भी समझा जा सकता है कि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें मिट्टी उपादानकारण अर्थात् वास्तविक कारण है। यह निश्चयनयका विषय है और यही पर कुम्भकार निमित्तकारण होनेसे व्यवहार कारण अर्थात् उपचरितकारण है, यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। यहींपर चक्रमें जो निमित्त कारणता है वह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनयका विषय है तथा यहीं दण्डकी निमित्त कारणता है वह उपचरितोपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहारनयका विषय है।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझमें आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहारनय हो, इसमें भी चाहे सद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूतव्यवहारनय हो और इसमें भी चाहे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे उपचरितोप-चरितअसद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढंगसे सद्भूतताप्राप्त वस्त्वंशोको ही विषय करते हैं। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि निश्चयनयका विषय ही सद्भूत होता है तथा व्यवहारनयका विषय सर्वथा असद्भूत ही होता है। इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा सद्भूत विषयको ग्रहण करता है लेकिन चाहे सद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूतव्यवहारनय हो दोनो ही कथंचित् सद्भूत विषयको ही ग्रहण करते हैं। कोई भी व्यवहारनय न तो सर्वथा असद्भूत विषयको ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषयको ही ग्रहण करता है क्योंकि सर्वथा असद्भूत वस्तु गधेके सींगकी तरह सर्वथा अभावात्मक हो जानेसे वह, नय अथवा प्रमाण किसीका भी विषय नहीं होती है। सर्वथा सद्भूत वस्तु तो निश्चयनयका ही विषय होती है, व्यवहारनयका नही। अन्तमे इतना ध्यान और रखना चाहिये कि व्यवहारनयका विषय भी अभेद और स्वाश्रयताकी दृष्टिसे निश्चयनयका विषय हो जाता है और निश्चयनयका विषय भी भेद और पराश्रयता-की दृष्टिसे व्यवहारनयका विषय हो जाता है। जैसा कि पंचाध्यायीमे कहा है—

> "इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च न यस्य यद्वाच्यम्"।
> सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य स्याद् वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थात् जो व्यवहारनयका विषय है वही संपूर्ण विकल्पोंका अभाव होने पर निश्चयनयका विषय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि संपूर्ण नय पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि है और वस्तु अनन्तधर्मात्मक एवं अनेकान्तात्मक है, अतः सभी अविरुद्ध है।

●

व्यवहारनयकी अभूतार्थताका अभिप्राय

आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारमें निम्नलिखित गाथा पायी जाती है—

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणयो।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥"

अर्थ—(जिन शासनमें) व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयको भूतार्थ कहा गया है। जिस जीवने भूतार्थनयरूप शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयका अवलम्बन लेकर वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान कर ली है वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जीवोंको वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान भूतार्थनयरूप शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय द्वारा ही हो सकती है। अतः इसके लिए प्रत्येक जीवको इस नयका ही अवलम्बन लेना चाहिए।

इस कथनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिन-शासनमें निश्चयनय और व्यवहारनय ऐसे दो भेद नयोंके बतलाये गये हैं। नय प्रमाणका अंशरूप होता है और प्रमाण वचनात्मक और ज्ञानात्मक दो प्रकारका होता है। अत निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारके नय भी वचनात्मक और ज्ञानात्मकके भेदसे दो-दो प्रकारके सिद्ध होते हैं। वचनका अपने विषयभूत पदार्थके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकसम्बन्ध रहता है। अर्थात् वचन अपने विषयभूत पदार्थका प्रतिपादक होता है और वह पदार्थ उस वचनका प्रतिपाद्य होता है। इसी तरह ज्ञानका अपने विषयभूत पदार्थके साथ ज्ञाप्य-ज्ञापकसम्बन्ध रहता है। अर्थात् ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थका ज्ञापक होता है और वह पदार्थ उस ज्ञानका ज्ञाप्य होता है। चूँकि उपर्युक्त गाथामें व्यवहारनयको अभूतार्थनय कहा गया है, अतः इसका प्रतिपाद्य अथवा ज्ञाप्य पदार्थ भी अभूतार्थ होना चाहिए और चूँकि उपर्युक्त गाथामें ही निश्चयनयको भूतार्थनय कहा गया है अत. इसका प्रतिपाद्य अथवा ज्ञाप्य पदार्थ भी भूतार्थ होना चाहिए। यही कारण है कि उपर्युक्त गाथाकी टीकामें आचार्य श्रीअमृतचन्द्रने लिखा है कि—

"व्यवहारनयो हि सर्व एव अभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद्-भूतमर्थं प्रद्योतयति।"

अर्थ—सम्पूर्ण व्यवहारनय अभूतार्थ होनेके कारण अभूत पदार्थका प्रद्योत करता है तथा शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय एक ही ऐसा नय है कि वह भूतार्थ होनेसे भूत पदार्थका प्रद्योत करता है।

इस कथनका निचोड यह है कि वचनरूप व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत अभूत अर्थका ही प्रतिपादन करता है और ज्ञानरूप व्यवहारनय भी अभूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत अभूत अर्थका ही ज्ञापन करता है। इसी प्रकार वचनरूप निश्चयनय भूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत भूत अर्थका ही प्रतिपादन करता है और ज्ञानरूप निश्चयनय भी भूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत भूत अर्थका ही ज्ञापन करता है। चूँकि उपर्युक्त गाथाके अनुसार जीवको सम्यग्दृष्टि बननेके लिए वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान होना आवश्यक है तथा वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान उसकी भूतार्थताकी पहिचानके ऊपर निर्भर है और इस भूतार्थताकी पहिचान भी उपर्युक्त गाथाकी टीकाके उपरिनिर्दिष्ट उद्धरणके अनुसार भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनयके द्वारा ही हो सकती है। अतः आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने जीवको सम्यग्दृष्टि बननेके लिए भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनयका अवलम्बन ग्रहण करनेका उपदेश दिया है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पदार्थकी भूतार्थता क्या वस्तु है, जिसके आधारपर

पदार्थ भूतार्थ कहलाता है और जिसका ग्रहण भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनय द्वारा होता है ? इसी तरह पदार्थकी अभूतार्थता क्या वस्तु है, जिसके आधारपर पदार्थ अभूतार्थ कहलाता है और जिसका ग्रहण अभूतार्थ कहे जानेवाले व्यवहारनयद्वारा होता है ? आगे इसी विषयपर विचार किया जाता है।

प्रत्येक वस्तुमें दो प्रकारके धर्म विद्यमान रहते है—एक तो वस्तुके स्वतःसिद्ध धर्म और दूसरे आपेक्षिक धर्म। प्रकृतिमें वस्तुके जितने स्वतःसिद्ध धर्म होते हैं उन्हें ही भूतार्थ धर्म समझना चाहिए और वस्तुके जितने आपेक्षिक धर्म होते हैं उन्हें ही अभूतार्थ धर्म समझना चाहिए।

वस्तुके स्वतःसिद्ध धर्मोंको भूतार्थ कहनेका कारण यह है कि इनके आधारपर वस्तुका स्वतन्त्र (स्वावलम्बनपूर्ण), स्वतःसिद्ध (अन्यकी अपेक्षाके बिना ही स्वके आधारपर निष्पन्न), स्वाश्रित (वस्तुकी अपनी ही सीमामें रहनेवाला), व्यापक (स्वको व्याप्तकर रहनेवाला), प्रतिनियत (अन्य सभी वस्तुओंमें नहीं पाया जानेवाला) और शुद्ध (अखण्ड अर्थात् अमिश्रित एकत्वविशिष्ट) स्वरूप निश्चित होता है। स्वतःसिद्ध धर्मोंकी इस विशेषताके आधारपर ही अनन्त जीवद्रव्य, अनन्त अणुरूप पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात अणुरूप कालद्रव्य ये सभी वस्तुएँ अपने-अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्वको धारण किये हुए विश्वमें अनादिकालसे रहती आयी हैं और अनन्तकाल तक रहनेवाली है। जीवद्रव्योंका अपना-अपना चित्स्वभाव (ज्ञायकभाव), पुद्गल द्रव्योंका अपना-अपना रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्व, धर्मद्रव्यका जीवद्रव्यों और पुद्गलद्रव्योंकी हलन-चलन क्रियामें सहकारित्व, अधर्मद्रव्यका जीवद्रव्यों और पुद्गलद्रव्योकी स्थितिमें सहकारित्व, आकाशद्रव्यका समस्त द्रव्योंको अपने अन्दर समा लेनेकी सामर्थ्यरूप अवगाहकत्व और कालद्रव्योंका समस्त द्रव्योकी वर्तमानतामें साहाय्यरूप वर्तना इनके अपने-अपने स्वतःसिद्ध धर्म हैं। अग्निकी उष्णता और जलकी शीतलता भी क्रमसे अग्निका और जलका अपना-अपना स्वतःसिद्ध धर्म है क्योंकि इनके आधारपर अग्निका तथा जलका भी अपना-अपना स्वरूप और व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

वस्तुके आपेक्षिक धर्म दो प्रकारके होते है। एक प्रकारके आपेक्षिक धर्म वे है जो भेदके आधारपर वस्तुमे उत्पन्न होते है और दूसरे प्रकारके आपेक्षिक धर्म वे है जो अन्य वस्तुके आधारपर वस्तुमे उत्पन्न होते है। इन सभी आपेक्षिक धर्मोंको अभूतार्थ कहनेका कारण यह है कि ये धर्म वस्तुमे सर्वदा विद्यमान न रहनेके कारण उसके स्वरूप और व्यक्तित्वका निर्धारण करनेमे सहायक नही होते है। जीवके अन्दर मुक्ति और संसार तथा संसारमें भी विविध अवस्थाओ रूप भेदके आधारपर तरतमभावसे पाये जानेवाले दर्शन, ज्ञान और चारित्र भेद सापेक्ष आपेक्षिक धर्म हैं तथा जीवके अन्दर ही पौद्गलिककर्मोंके सहयोगके आधारपर तरतमभावसे पाये जानेवाले राग, द्वेष, मोह आदि औदयिक भाव तथा क्षायोपशमिक आदि भाव अन्य वस्तु सापेक्ष आपेक्षिक धर्म है। इसी प्रकार जलमे पायी जानेवाली उष्णता भी अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्म है। जीवमे पाये जानेवाले राग, द्वेष और मोहरूप औदयिक भाव उस उस पौद्गलिककर्मका उदय होनेपर ही उत्पन्न होते है तथा क्षायोपशमिकादिभाव उस-उस पौद्गलिककर्मके क्षयोपशम आदिके होनेपर ही उत्पन्न होते है। इसी तरह जलमें पाई जानेवाली उष्णता भी अग्निके सहयोगसे उत्पन्न होती है। अतः ये सभी धर्म अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्म कहे गये है।

वस्तुके स्वतःसिद्ध धर्म वस्तुमें सर्वदा पाये जाते हैं, कभी भी इनका अभाव नही होता। अतः इन्हें कथंचित् सद्भूत (सद्भाव प्राप्त) और कथंचित् असद्भूत (अभाव प्राप्त) धर्म माना गया है। जैसे जीवके

चित्स्वभाव (ज्ञायकभाव) में जब तक भेदकी विवक्षा होती है तब तक दर्शन, ज्ञान और चारित्रका सद्भाव सिद्ध होता है और यदि भेदकी विवक्षा न रहे तो दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रकी स्थिति भी नहीं रहती है। जीवमें भेदकी यह विवक्षा तभी तक रहती है जब तक कि दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपसे चित्स्वभाव (ज्ञायकभाव) के विभाजनकी उपयोगिता सामने रहा करती है और यदि चित्स्वभावके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपसे विभाजनकी उपयोगिता न हो तो फिर जीवके चित्स्वभावमात्रकी ही स्थिति रह जाती है। इसप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र जीवोंके कथंचित् सद्भूत और कथंचित् असद्भूत धर्म हैं। इसी प्रकार जब तक उस-उस पौद्गलिककर्मका उदय विद्यमान रहता है तब तक जीवमें राग, द्वेष और मोहका सद्भाव रहा करता है और यदि उस-उस कर्मके उदयका अभाव हो जाता है तो जीवमें राग, द्वेष तथा मोहका भी अभाव हो जाता है। यही बात जीवके क्षायोपशमिकादि भावोंके विषयमें भी समझ लेनी चाहिए। इसी प्रकार जबतक जलको अग्निका सहयोग प्राप्त रहता है तबतक उसमें उष्णताका भी सद्भाव रहा करता है और यदि जलको अग्निका सहयोग मिलना बन्द हो जाता है तो जलकी उष्णता भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अन्य वस्तु सापेक्ष-आपेक्षिक धर्म भी कथंचित् सद्भूत और कथंचित् असद्भूत माने गये हैं।

दर्पणमें पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ना भी प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थके अवलम्बन अन्य दर्पणका आपेक्षिक धर्म है और मिट्टीकी कुम्भकारनिमित्तक घटपर्याय भी मिट्टीका आपेक्षिक धर्म (अवस्था) है। परन्तु इनमें अन्तर यह है कि प्रतिबिम्बित पदार्थका अवलम्बन समाप्त होते ही दर्पण अपनी स्वच्छ अवस्थाको प्राप्त-कर लेता है। लेकिन कुम्भकारकी निमित्तता समाप्त होनेपर भी द्रव्यपर्याय होनेके कारण मिट्टीकी घटपर्याय बनी रहती है। ज्ञानकी पदार्थके अवलम्बनपूर्वक होनेवाली उपयोगाकार परिणति भी ज्ञानका आपेक्षिक धर्म हैं। ये सब धर्म भी कथंचित् सद्भूत और कथंचित् असद्भूत ही हुआ करते हैं और इनका ज्ञान तथा कथन भी ज्ञान तथा वचनरूप व्यवहारनयसे ही होता है।

इस तरह यों भी कहा जा सकता है कि इन या इसी तरहके अन्य आपेक्षिक धर्मोंकी कथंचित् सद्भूतता और कथंचित् असद्भूतता ही वस्तुकी अभूतार्थता तथा स्वतःसिद्ध धर्मोंकी सर्वथा सद्भूतता ही वस्तुकी भूतार्थता जानना चाहिये। भूतार्थताके कथनके लिए आगममें यथार्थ, निश्चय, वास्तविक तथा मुख्य आदि शब्दोंका भी प्रयोग मिलता है और अभूतार्थताके कथनके लिए अयथार्थ, व्यवहार, आरोपित तथा गौण आदि शब्दोंका भी प्रयोग मिलता है। परन्तु फिर भी इन सब शब्दोंका प्रयोग होते हुए भी जिस तरह भूतार्थ धर्मोंकी सर्वथा सद्भूतता सुरक्षित रहती है उसी तरह अभूतार्थ धर्मोंकी कथंचित् सद्भूतता और कथंचित् असद्भूतता भी सुरक्षित रहती है। इसलिए जिस प्रकार भूतार्थको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय अपनी सत्यताको सुरक्षित रखता है। उसी प्रकार अभूतार्थको ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय भी अपनी सत्यताको सुरक्षित रखता है। यदि ऐसा न हो तो फिर आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह व्यवहारनयका विषय सर्वथा असद्भूत ही हो जायगा, जिससे व्यवहारनयकी प्रामाणिकता सर्वथा लुप्त हो जायगी। इस तरह तब उसे व्यवहारनय कहना ही असंगत होगा, क्योंकि आगममें प्रमाणका अंश होनेके कारण निश्चयनयकी तरह व्यवहारनयको भी प्रामाणिकरूपमें स्वीकार किया गया है और व्यवहारनयकी प्रामाणिकरूपमें स्थिति तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि उसका विषयभूत पदार्थ आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह सर्वथा अभावात्मक न हो। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार, गाथा १४ की आत्मख्याति-टीकामें, पानीमें, डूबे हुए कमलपत्रका जो पानीके साथ संस्पर्श हो रहा है उस संस्पर्शको तथा पानीकी अग्निके सहयोगसे जो उष्णतामय पर्याय बनती है उस उष्णतामय पर्यायको व्यवहारनयका विषय होनेके कारण सद्भूत अर्थात् सद्भाव

अन्य पदार्थ माना है। यह मानी हुई बात है कि पराश्रित और अस्थायी होनेके कारण पानीके साथ हो रहा संस्पर्श कमलपत्रका और अग्निके सहयोगसे हो रही उष्णतामय पर्याय पानीका स्वत सिद्ध धर्म नहीं है और यही कारण है कि वे दोनों निश्चयनयके विषय नहीं हैं। लेकिन स्वत सिद्ध धर्म न होनेसे यदि उनको आकाशके पुष्प और गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत (अभावात्मक) ही माना जाय तो फिर उन्हें व्यवहारनयका विषय कैसे माना जा सकेगा? तथा सब जीवोंको जलके साथ हो रहे कमलपत्रके संस्पर्शका और जलकी अग्निके सहयोगसे हो रही उष्णतामय पर्यायका जो भान होता है उसे क्या भ्रमज्ञान नही कहा जायगा? और यदि ऐसे ज्ञानोंको भ्रमज्ञान माना जाता है तो इसके अतिरिक्त व्यवहारनय फिर क्या वस्तु मानी जायगी? जो जैन मान्यताको वेदान्तकी मान्यतासे पृथक् कर सके। अत यही स्वीकार करना चाहिए कि जिसप्रकार वस्तुमें निश्चयनयके विषयभूत स्वत:सिद्ध धर्मोंका सर्वथा सद्भाव रहता है उसी प्रकार वस्तुमे व्यवहारनयके विषयभूत भेद-सापेक्ष और अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्मोंका भी कथंचित् सद्भाव और कथंचित् अभाव रहता है।

तात्पर्य यह है कि कमलपत्रका जलके साथ हो रहा संस्पर्श व जलकी अग्निसहयोगजन्य उष्णतामय पर्याय दोनों ही जब जीवोंके अनुभवमें आते हैं तो जबतक वह अपेक्षा विद्यमान है तबतक उनकी आपेक्षिक धर्मके रूपमें सद्भूतताको अस्वीकृत करनेकी कौन हिम्मत कर सकता है?

इस प्रकार कमलपत्रका जलके साथ हो रहा संस्पर्श, जलकी अग्निके सहयोगसे निष्पन्न हुई उष्णतामय पर्याय, मिट्टीकी कुम्भकारके सहयोगसे उत्पन्न होनेवाली घटरूप पर्याय, दर्पणमे पदार्थके अवलम्बनसे पडनेवाला पदार्थका प्रतिबिम्ब, और ज्ञानकी पदार्थके अवलम्बनसे पदार्थज्ञानरूप परिणति ये सब उस-उस वस्तुकी आपेक्षिक अवस्थाके रूपमें जब तक अपेक्षा बनी हुई है तब तक सद्भूत हैं। इसी प्रकार कमलपत्रका जलके साथ हो रहे संस्पर्शमें जलका सहयोग, जलकी उष्णतामय पर्यायमें अग्निका सहयोग, मिट्टीकी घटपर्यायमें कुम्भकारका सहयोग, दर्पणमें पड़ रहे पदार्थके प्रतिबिम्बमें पदार्थका सहयोग और ज्ञानकी पदार्थज्ञानरूप परिणतिमे पदार्थका सहयोग ये सब उस-उस वस्तुके आपेक्षिक धर्मके रूपमें जबतक अपेक्षित है तबतक सद्भूत है और इसीलिए ये सभी प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावकी अपेक्षा वचनरूप व्यवहारनयके तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भावकी अपेक्षा ज्ञानरूप व्यवहारनयके विषय हैं एवं क्योंकि ये सब उस-उस वस्तुके स्वत सिद्ध धर्म या स्वत उत्पन्न होनेवाले धर्मोंके रूपमें सर्वथा सद्भूत नही हैं, इसीलिए ये सब प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावकी अपेक्षा वचनरूप निश्चयके तथा ज्ञाप्य-ज्ञापकभावकी अपेक्षा ज्ञानरूप निश्चयनयके विषय नही हैं। साथमें यह भी निश्चित समझना चाहिए कि व्यवहारनयके विषय होनेके कारण उपर्युक्त सभी धर्म आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत भी नहीं हैं।

इसीप्रकार आत्मामें उस-उस पुद्गलकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष और मोह आदि औदयिक भावो तथा उस-उस पुद्गलकर्मके क्षयोपशम आदिके आधारपर आत्मामें उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिकादिभावोंके विषयमें भी कथंचित् सद्भूतपने और कथंचित् असद्भूतपनेकी मान्यता ही युक्त है।

एक बात और है कि यदि व्यवहारनयके विषयभूत उक्त सभी धर्मोंको या इसी प्रकारके अन्य धर्मोंको सर्वथा असद्भूत माना जायगा तो इसका समयसारकी गाथा १४ की आत्मख्यातिटीकासे साथ ही उनके विषयमें जीवोंको होनेवाले सद्भूतताके अनुभवके तो विरुद्ध होगा ही लेकिन इस तरहसे तो दो आदि पुद्गल परमाणुओंके परस्पर-संयोगसे निष्पन्न द्वयणुक आदि स्कन्धोकी कथंचिद् सद्भूतता भी समाप्त हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि लोकमें जितना-जितना स्कन्धाश्रित व्यवहार चलता है और प्राणियोंको जो

स्कन्धोंकी सद्भूतताका अनुभव होता है वह सब भी मिथ्या कल्पनाकी वस्तु रह जायगी, क्योंकि वो आदि परमाणुओंके मिश्रणसे ही तो द्व्यणुक आदि स्कन्धोंका निर्माण होता है। परन्तु जब यह सिद्धान्त निश्चित है कि प्रत्येक अणु दूसरे एक या अनेक अणुओंके साथ बद्धता (मिश्रण) को प्राप्त होकर भी स्वतन्त्र द्रव्य होनेके कारण सर्वदा अपनी-अपनी आकृति, प्रकृति और विकृतिमें ही रहता है, कभी न तो दूसरे अणुरूप हो सकता है और न दूसरे अणुओंके गुणधर्मोंको ही अपने अन्दर लाता है तो द्व्यणुकादि स्कन्धोंकी कोरी कल्पनाके अतिरिक्त और क्या स्थिति रह जायगी ?

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुमें भेदके आधारसे अथवा परवस्तुके आधारसे जितने अभूतार्थ धर्म सिद्ध होते हैं वे सब इस लेखमें दर्शाये गये प्रकारसे कथंचित् सद्भूत और कथञ्चित् असद्भूत ही होते हैं। न तो भूतार्थ धर्मोंकी तरह सर्वथा सद्भूत ही होते हैं और न आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत ही होते हैं। अथवा यो कहिये कि स्वतःसिद्धताके रूपमें सर्वथा सद्भूत रहना ही वस्तुकी भूतार्थता है और सापेक्षताके रूपमें कथञ्चित् सद्भूत और कथञ्चित् असद्भूत रहना ही वस्तुकी अभूतार्थता है। समयसारकी उल्लिखित गाथा ११ के भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दोंका इसी प्रकार विश्लेषण करना चाहिए।

संसारी जीवोंकी अनन्तता

'जैन जगत्'के संपादक 'जैनधर्मका मर्म' शीर्षक लेखमाला प्रकाशित करते हुए ता० १६ जुलाई सन् ३२ के 'जैन जगत्'में दूसरे अध्यायके 'मतभेद और उपसंप्रदाय' प्रकरणमे लिखते हैं कि 'वीर वर्धमानके निर्वाणके २२० वर्ष बाद अश्वमित्रने यह वाद खड़ा किया कि एक दिन संसारमें एक भी जीव न रहेगा।'

लेखमालाके लेखक महोदयने इस शंकाको जितना महत्व दिया है, विचारकी दृष्टिसे वह उतना महत्व अवश्य रखती है। मैं भी उसका समाधान विचारकी दृष्टिसे ही कर रहा हूँ और लेखकमहोदयसे भी यह आशा रखता हूँ कि वे इस समाधानपर विचारकी दृष्टि ही रक्खेंगे।

अश्वमित्रकी शंका—'एक दिन संसारमें एक भी जीव न रहेगा।' इसका अभिप्राय लेखकमहोदय-ने यह निकाला है और जो मेरी समझसे भी ठीक जान पड़ता है कि छ महिना आठ समयमें ६०८ जीव सतत मोक्ष जाते रहते हैं, इसलिये यह शंका होती है कि इससे तो एक दिन संसार जीव-शून्य हो जायगा, क्योंकि जीवराशि बढ़ती तो है नहीं, इसलिये वह समाप्त हो जायगी।

इस शंकाकी पुष्टि एवं समाधानका प्रकार बतलाते हुए लेखकमहोदयने जो कुछ विवेचन किया है उसमें निम्नलिखित बातोंका उत्तर होना भी आवश्यक हो जाता है।

१. शास्त्रोंमें जीवराशिसे अनन्तानन्तगुणी व्यवहारकालराशिके बतलानेका अभिप्राय क्या है ?

२. शास्त्रोंमें भव्य और अभव्यकी केवलज्ञानके गुणानुवाद करनेके लिये कल्पना की गयी है या तात्विक कथन है ?

इनमेंसे भव्य और अभव्यके विषयमें स्वतन्त्र लेख द्वारा प्रकाश डालूंगा, केवल पहिली बातकी उत्तर इस शकाके उत्तरके साथ इसी लेखमें करूँगा।

वैसे तो यह समाधान "छः महीना आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं।" इस सिद्धान्तको ध्यानमे रख करके किया जा रहा है। यदि यह नियम न भी माना जावे तो भी समाधानके मूलमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचती है।

समाधान—जगत्में दो प्रकारके जीव है—भव्य और अभव्य। भव्य मोक्ष जा सकते हैं, अभव्य नहीं, इसलिये एक तो अभव्य जीव ससारमें रहेंगे ही। दूसरी बात यह है कि भव्य जीवोका मोक्ष जाना सतत् जारी रहेगा तो भी उनकी समाप्ति कभी नही होगी। इसका कारण यह है कि काल भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है। भूतकाल अनादि होकरके भी मुक्तजीवराशिके असंख्यात गुणे समयोमे विभक्त है, कारण कि छः महिना आठ समयोंमे ६०८ जीव मोक्ष चले आते है। छः महीना आठ समयोंके असंख्यात समय होते हैं। इनमेंसे यदि एक जीवके मोक्ष जानेके समयोंकी औसत निकाली जाय तो यही सिद्ध होता है कि असंख्यात समयोंमें एक जीव मोक्ष चला जाता है। यह क्रम अनादिकालसे जारी है। इसलिये आजतक जितने जीव मोक्ष चले गये, उनसे असंख्यात गुणे कालके समय भी बीत गये, उतके इन्ही बीते हुए समयोंको भूतकाल कहते हैं। वर्तमान काल एकसमय मात्र है। भविष्यत्कालके कितने समय होना चाहिये, इस बातका विचार किया जाता है।

जबकि जैन सिद्धान्त यह बतलाता है कि जीवोका मोक्ष जाना सतत् जारी रहेगा, फिर भी संसार

भव्यजीवोंसे शून्य नहीं होगा, तो इससे यह बात अवश्य निकल आती है कि भविष्यत्कालके समय भी उतने ही माने जायें, जितने (समयों)में पूर्वोक्त क्रमसे भव्यजीव मोक्ष भी जाते रहें किन्तु कालकी समाप्ति होनेपर भी भव्यजीवोंकी समाप्ति न हो, लेकिन कालकी समाप्ति मान लेनेपर भी भव्यजीवोंकी समाप्ति न मानी जाय, तो यह शंका उपस्थित होती है कि वे फिर कालके बिना मोक्ष कैसे जा सकेंगे ? इसलिये जितने भव्य जीव इस समय विद्यमान हैं उनसे उतने ही अधिक भविष्यत् कालके समय माने जायें, जितनेमें कि समस्त भव्य जीव असंख्यात समयोंमें एक जीवके हिसाबसे मोक्ष जा सकें, अर्थात् अन्तिम भव्य जीवके मोक्ष जानेका समय भविष्यत्कालका अन्तिम समय सिद्ध हो सके, इसलिये जिस तरह भूतकालके समय मुक्तजीवराशिसे असंख्यातगुणे सिद्ध होते हैं उसी प्रकार भविष्यकालके समय भी विद्यमान भव्यराशिसे असंख्यातगुणे सिद्ध हुए। यहाँपर गुणकार असंख्यातका प्रमाण वही है, जितना कि औसतसे एक जीवके मोक्ष जानेका समय निश्चित होता है।

इसके बाद यह आपत्ति खड़ी होती है कि भविष्यकालको विद्यमान भव्यराशिसे असंख्यातगुणा माननेसे जब उन दोनोंकी समाप्ति हो जायगी, तब एक तो कालद्रव्यका अभाव मानना पड़ेगा तथा इसके साथ अन्य द्रव्योंका भी अभाव मानना होगा, कारण कि कोई भी द्रव्य बिना परिणमनके अपनी सत्ता नहीं रखता, परिणमन करानेवाला कालद्रव्य ही माना गया है और जब पूर्वोक्त प्रकारसे कालद्रव्यमें परिणमन-का अभाव हो जानेसे कालद्रव्यका अभाव सिद्ध होता है तो उसके अभावमें अन्य द्रव्य भी अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकते हैं, जो कि प्रमाण-विरुद्ध है, कारण सत्‌का विनाश कभी नहीं होता।

इसका समाधान भी इस ढंगसे किया जा सकता है कि भविष्यत्कालके समय और भव्यजीव दोनों ही अक्षयानन्त है, जिससे भविष्यत्कालके समय और भव्यजीवोंमें कमी होनेपर भी दोनोंका अन्त नहीं होगा। अर्थात् कालद्रव्यके समय सदा भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होते ही रहेंगे, जिससे काल द्रव्यकी सत्ता कायम रहेगी और उसके सद्भावमें अन्य द्रव्य भी परिणमन करते हुए अपनी सत्ता कायम रख सकेंगे।

शंका—भविष्यत्कालके समयों और भव्यजीवोंमे बराबर कमी होती जा रही है तो उनका अन्त अवश्य होगा, यह मानना कि कमी तो होती जावे ओर अन्त कभी भी न हो, बिल्कुल असंगत है ?

उत्तर—जब हम अतीतकी ओर दृष्टि डालते हैं तो यही कहना पड़ता है कि जो कुछ हम देख रहे हैं वह अनादिकालसे परिवर्तित होता हुआ अवश्य चला आ रहा है। इस अनादिकालकी सीमा निश्चित करना चाहें तो नहीं हो सकती, तब यही निश्चित होता है कि आजतक इतना काल बीत चुका, जिसका कि अन्त नहीं, अर्थात् वर्तमान समयसे बीते हुए समयोंकी गणना की जाय तो उनका कहींपर अन्त नहीं, कारण अन्त आ जानेसे उसमे अनादिपनेका अभाव हो जायगा। इसी तरह जब अनादिकालसे भव्यजीव मोक्ष जा रहे हैं तो इस समयसे मुक्त जीवोंकी गणना करनेपर उनका कहीं अन्त नहीं होगा। इसमें विचार पैदा होता है कि भविष्यत्कालके समयो और भव्यजीवोमें जब इतनी अधिक संख्याकी कमी हो गयी, जिसका अन्त नहीं, तो अबतक समाप्त क्यो नहीं हुई ? यदि कहा जाय कि भविष्यत्कालके समयों और भव्यजीवोंकी संख्या इतनी अधिक है कि अनादिकालसे कम होते हुए भी वह अभीतक तो समाप्त नहीं हुई, लेकिन असंख्यात या अनन्त समयोंमें वह अवश्य समाप्त हो जायगी, तो इसका तात्पर्य यही होगा कि कालका और जीवोंके मोक्ष जानेका प्रारम्भ किसी निश्चित समयसे हुआ है और इस प्रकार हमारी अनादिकल्पना केवल कल्पनामात्र

रह जाती है। जिस राशिकी कमीके प्रारम्भ होनेकी कल्पना नही कर सकते, ऐसी हालतमे वह राशि कितनी ही बडी क्यों न हो, यदि वह अक्षयानन्त नही है तो बहुत पहिले ही नष्ट हो जाना चाहिये थी, घटनेपर भी यदि वह आज भी विद्यमान है तो 'कभी नष्ट नही होगी' यह सिद्धान्त अटल हो जाता है। जिस राशि-की घटते-घटते समाप्ति हो जाय, वह अनन्त तो कही जा सकती है लेकिन अक्षयानन्त नही। अनन्तराशिकी यदि समाप्ति होती है तो उसके घटनेका प्रारंभ भी अवश्य होता है किन्तु अक्षयानन्त राशि घटनेके प्रारंभ और समाप्ति दोनोंसे रहित होती है, उसकी सदा मध्यकी हालत बनी रहती है। भविष्यत्कालके समय अनादिसे वर्तमान होते हुए भूतरूप हो रहे हैं, भव्यजीव अनादिसे मोक्ष जा रहे हैं फिर भी दोनोंकी सत्ता इस समय मौजूद है, इसलिये कभी इनका अन्त नही होगा।

शंका—(१) जीवका संसार अनादिकालसे चला आ रहा है। (२) जीवका भव्यत्वभाव अनादि-कालसे है। (३) आज जिस कार्यकी उत्पत्ति हुई तो कहना होगा कि अनादिकालसे आजतक उसका प्रागभाव रहा। लेकिन संसार, भव्यत्व और प्रागभावका अन्त भी माना जाता है?

उत्तर—प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव परिवर्तन करनेका है। परिवर्तनमें पूर्व पर्यायका नाश और उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति होती है अर्थात् पूर्व वर्तमान पर्याय भूत हो जाती है और उत्तर भविष्यत् पर्याय वर्तमान हो जाती है, यह क्रम अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक रहेगा।

(१) जीव द्रव्यके बहुतसे परिणमन पुद्गलद्रव्यसे संबद्ध हालतमें होते हैं। लेकिन पुद्गलद्रव्यका संबन्ध छूट सकता है, इसलिये जबतक पुद्गलद्रव्यसे संबद्ध हालतमें जीव परिणमन करता रहेगा, तबतक जितनी पर्यायें उत्पन्न या विनष्ट होंगी उन सबके समूहका नाम ही जीवका संसार है और इसके आगे जो पर्यायें उत्पन्न या विनष्ट होंगी, उन सबके समूहका नाम जीवका मोक्ष है।

(२) भव्यत्वभाव भी इसी तरहकी पर्यायोंकी अपेक्षा लिये हुए है, कारण कि जबतक जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होती, तबतक तो भव्यत्वभाव उस जीवमें संपूर्णरूपसे विद्यमान रहता है और सम्यग्दर्शनके सद्भावसे जिस समय जीवको मोक्ष हो जाता है वहाँतककी पर्यायोंके परिवर्तनके क्रमसे भव्यत्वभाव भी नष्ट होते-होते अन्तमें सर्वथा नष्ट हो जाता है।

(३) कार्यका प्रागभाव भी उस कार्यके पूर्व अनादिकालसे होनेवाली द्रव्यकी पर्यायोंके समूहका ही नाम है।

जबकि पर्यायें हमेशा उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है अर्थात् भविष्यत् पर्यायें वर्तमान और वर्त-मान भूत होती रहती हैं तो जैसा-जैसा पर्यायोंमें अन्तर आता जायगा वैसा-वैसा संसार, भव्यत्व और प्रागभावमें भी अन्तर आता जायगा और जब ये पर्यायें क्रमसे उत्पन्न होकर विनष्ट हो जायेंगी तब जीवके संसार व भव्यत्वका और कार्यके प्रागभावका व्यवहार नही होगा, लेकिन यह कभी संभव नही, कि ऐसा होनेसे उस द्रव्यकी आगेकी पर्यायोंके उत्पाद और विनाशका क्रम भी नष्ट हो जायगा। यह क्रम अनादि है तो अनन्त अवश्य रहेगा। भविष्यत् कालका एक समय वर्तमान होता है और फिर भूत हो जाता है। इसी तरह दूसरे, तीसरे समयोंका भी नियम है। भव्यजीवोंमेंसे छः महिना आठ समयमें ६०८ जीवोंके मोक्ष जानेका नियम है और इन दोनोका यह क्रम अनादिकालसे चला आ रहा है तो इसका कोई कारण नही कि वह क्रम नष्ट हो जायगा।

शंका—काल आकाशकी तरह अपरिमित है, इसलिये उसकी समाप्ति न हो, लेकिन भव्यजीव जितने मोक्ष चले जाते है वे फिर कभी संसारमें आते नही, इसलिये उनका अन्त अवश्य हो जाना चाहिये?

उत्तर—यद्यपि इस शंकाका उत्तर भव्यजीवराशिके पूर्वोक्त अक्षयानन्तपनेसे ही हो जाता है जब कि मोक्ष जानेका क्रम अनादिसे है, तो भी कुछ विशेष विचार किया जाता है।

जिस तरह भूतकालके समय मुक्तजीवराशिसे असंख्यातगुणे हैं उसी तरह भविष्यत्कालके समय भी वर्तमान भव्यराशिसे असंख्यातगुणे हैं। ऐसी हालतमें दोनों ही राशियाँ परिमित सिद्ध होती हैं। लेकिन यह परिमितता अक्षयानन्तराशियोंकी हीनाधिकतासे ही मानी गयी है। परिमितताका यह जो लक्षण किया जाता है कि 'जिसकी समाप्ति हो सके' वह अवश्य ही ऊपर कही हुई राशियोंमें नहीं पाया जाता है। जिस तरह आकाशके प्रदेशोंकी संख्या पूछी जाय तो यही "उत्तर मिलता है कि अन्तरहित है। लेकिन उनकी परिमितता भी इस ढंगसे सिद्ध की जा सकती है।

लोकाकाशके एकप्रदेशपर अनेक जीव, अनेक 'पुद्गलपरमाणु, धर्म और अधर्म द्रव्यका एक-एक प्रदेश तथा एक कालाणू विद्यमान है। इन सबको वह प्रदेश एक ही समयमें स्थानदान देता है, इससे उस प्रदेशके अनेक स्वभाव सिद्ध होते हैं, कारण कि एक स्वभावसे वह आकाशप्रदेश भिन्न-भिन्न वस्तुओंको स्थानदान नहीं दे सकता तथा आकाश प्रदेश अनन्त हैं। वे भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न परिवर्तन करते रहते है। यदि समयभेदसे भिन्न-भिन्न परिवर्तन नही माने जावें तो आकाशमें कूटस्थता सिद्ध होगी, जो कि वस्तुका स्वभाव नही है। दोनों ही प्रकारसे आकाशके स्वभावोंकी गणना की जाय तो आकाशके प्रदेशोकी तरह अक्षयानन्त होनेपर भी वे स्वभाव उन प्रदेशोंसे अनन्तगुणे सिद्ध होंगे और आकाशके प्रदेश अक्षयानन्त होनेपर भी उन स्वभावोंके अनन्तवें भाग मात्र सिद्ध होंगे। इसी तरह कालकी भूत, वर्तमान और भविष्यत् समयराशि भी अपने स्वभावोंके अनन्तवें भाग मात्र सिद्ध होती है। यही आकाश और कालकी परिमितता है। ये राशियां अक्षयानन्त होकरके भी उक्त प्रकारसे हीनाधिकरूपमें रहती हैं, इसलिये परिमित कही जा सकती हैं तो परिमित होते हुए भी जिस प्रकार अक्षयानन्त होनेसे कालका अभाव नहीं होगा उसी प्रकार परिमित होते हुए भी अक्षयानन्त होनेसे भव्यजीवोंका भी अभाव नही होगा। जिस तरह भव्य जीव मोक्ष चले जाते हैं। इसलिये उनमें कमी होती जा रही है। उसी तरह भविष्यत्कालके समय भी बीतते चले जाते हैं; इसलिये उनमे भी कमी होती जा रही है।

शंका—जैन शास्त्रोंमें कालद्रव्यके अणु स्वीकार किये गये हैं। उनका तो कभी अभाव होता नहीं, कारण कि सत्का विनाश नही होता, भूत, वर्तमान और भविष्यत्रूप उनकी पर्यायें हैं, जो कि उत्पाद व्यय रूप है। कालद्रव्यके सद्भावमें ये पर्यायें हमेशा पैदा होती रहेंगी इसलिये उनका कभी अन्त नही होगा, इस तरह नये जीवोंकी उत्पत्ति तो होती नही, जिससे कि वे कम होते हुए भी समाप्त न हों ?

उत्तर—यह बात ठीक है कि भूत, वर्तमान और भविष्य कालाणुकी पर्यायें है। लेकिन विचारना यह है कि ये पर्यायें हमेशा नवीन-नवीन पैदा होती हैं अथवा जितनी भी कालाणुकी पर्यायें है वे सब कालाणुमें शक्तिरूपसे विद्यमान हैं और वे ही भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होती हुई अनादिकालसे चली आ रही है और चली जायेंगी।

द्रव्य त्रैकालिक पर्यायोंका पिण्ड है। इसलिये द्रव्यकी जितनी पर्यायें हो सकती है वे चाहे भूत हो या वर्तमान अथवा भविष्य, द्रव्यमें एक ही साथ रहती अवश्य हैं लेकिन इतना भी अवश्य है कि उस समयमें द्रव्यकी भूत पर्यायें भूतरूपसे वर्तमान पर्याय वर्तमान रूपसे और भविष्यत्पर्यायें भविष्यरूपसे ही रहती है। यदि वर्तमान पर्यायके साथ द्रव्यमे भूत और भविष्यत्पर्यायोंका सर्वथा अभाव माना जाय, तो यह अभाव

आकाशके फूलकी तरह तुच्छाभावरूप ही होगा, जिससे आकाशके फूलकी जिस प्रकार कभी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार घटकी वर्तमान पर्यायकी भी उत्पत्ति नहीं होना चाहिये तथा ज्योति:शास्त्रसे जो भावी चन्द्रग्रहणादिका पहिलेसे ही ज्ञान कर लिया जाता है, वह भी असंगत ठहरेगा, कारण कि पहली अवस्थामे वह तुच्छाभाव रूप ही मान लिया गया है। इसलिये वर्तमान पर्यायका इसकी पहली अवस्थामें द्रव्यमे भविष्यद्रूपसे सद्भाव अवश्य मानना पड़ता है। इसी तरह वर्तमान पर्यायके साथ भूतपर्यायोंका द्रव्यमें भूतरूपसे सद्भाव नहीं माननेसे वर्तमानमें ज्योति-शास्त्रादिके द्वारा भूत अवस्थाका ज्ञान असंगत ठहरेगा, क्योंकि भूतपर्यायोंको द्रव्यमें तुच्छाभावात्मक मान लिया गया है। इसलिये प्रतिसमय द्रव्यमे त्रैकालिक अनन्त पर्यायें अपने-अपने रूपमे अवश्य रहती हैं और वे ही परिवर्तन करती हुई भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत हो जाती हैं, ऐसा मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। जैनशास्त्रोमें जो द्रव्यके परिवर्तनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको कारण माना गया है उनमें भाव इन्हीं त्रैकालिक पर्यायोंका नाम है अर्थात् जिस द्रव्यमे जो वर्तमान पहले भविष्यरूप होगी वही वर्तमानरूप हो सकेगी, जो वर्तमान होगी वही भूतरूप हो सकेगी। वर्तमान पर्यायमें भविष्यत्पर्याय कारण पड़ती है अर्थात् भविष्यत्पर्याय ही वर्तमानरूप हो जाती है और भूतपर्यायमें वर्तमान पर्याय कारण पड़ती है अर्थात् वर्तमान पर्याय ही भूतपर्यायरूप हो जाती है इसलिये यह सिद्धान्त भी संगत हो जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नही करता, अन्यथा कोई कारण नहीं, कि पुद्गलद्रव्यमें जीवद्रव्यकी पर्यायें पैदा न हों। इसी तरह भूतपर्यायें भूतरूपसे परिणमन करती हुई द्रव्यमें विद्यमान अवश्य रहती हैं, इसलिये "सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति नही होती" यह सिद्धान्त द्रव्यकी त्रैकालिक पर्यायोंमें भी लागू होता है क्योंकि सत्पर्यायोकी तुच्छाभावरूप विनाश और आकाशके फूलकी तरह असत् पर्यायोंकी उत्पत्ति माननेमें पूर्वोक्त दोष आते हैं।

प्रत्येक द्रव्यकी त्रैकालिक पर्यायें उतनी ही हैं जितने कि कालाणुके भूत और भविष्य समय हैं और जब तक इन पर्यायोंका द्रव्यमें परिणमन हो रहा है तभी तक उस द्रव्यका सद्भाव है। जब तक द्रव्यकी जो पर्याय भविष्यरूप रहती है तब तक द्रव्यमें उस पर्यायका सद्भाव शक्तिरूपसे माना जाता है और जब वह पर्याय वर्तमान हो जाती है तब वह व्यक्त पर्याय मानी जाती है। इसलिये द्रव्यकी भविष्यत्पर्यायका वर्तमान हो जाना ही उत्पाद और वर्तमानका भूत हो जाना ही विनाश माना जाता है। हम लोगोका प्रयोजन वर्तमान पर्यायसे ही सिद्ध होता है तथा हमारी इन्द्रियाँ वर्तमान पर्यायको ही ग्रहण कर सकती हैं, इसलिये वर्तमान पर्यायको व्यक्त पर्याय कहा जाता है।

इस तरहसे काल जब द्रव्य है तो उसके भूत, वर्तमान और भविष्य जितने भी समय-पर्याय हो सकते हैं उन सबका कालद्रव्यमें अपने-अपने रूपमें सद्भाव अवश्य मानना पड़ता है, अन्यथा पूर्वोक्त दोष आते हैं और क्रमसे एक-एक समय भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होता जा रहा है, तो जिस तरह जीव मोक्ष जा रहे हैं इसलिये उनमे कमी होती जा रही है उसी तरह कालके भविष्यत् समय भी वर्तमान और भूत होते जा रहे हैं इसलिये उनमें भी कमी होती जा रही है। साथमें यह भी है कि जब कालके असंख्यात समय (छः महिना आठ समयके जितने समय हों) बीत जाते हैं तब तक ६०८ जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसलिये यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि यदि भव्यजीवोंकी समाप्ति मानी जाय तो उनके असंख्यातगुणे कालके समयोंकी समाप्ति अवश्य माननी पड़ेगी, जिससे कालद्रव्यका भी अभाव हो जायगा। यदि सत्का कभी विनाश नहीं होता इसलिये काल द्रव्यके सद्भावके लिये उसके समयोंकी समाप्ति

नहीं मानी जाय तो उसके असंख्यातवेंभागप्रमाण तथा जिनकी समाप्ति हो तो कालके समयोंकी समाप्तिके साथ ही हो सकती है, भव्यजीवोंकी समाप्ति कैसे हो सकती है ?

शंका—यहाँ पर भूतकालके समयोंका प्रमाण मुक्तजीवराशिसे असंख्यातगुणा ही बतलाया गया है तथा वर्तमान एक समयमात्र और भविष्यत्कालके समय विद्यमान भव्यराशिके असंख्यातगुणे बतलाये है। लेकिन शास्त्रोंमें कालराशिका प्रमाण सर्वजीवराशिका अनन्तगुणा बतलाया गया है।[1] इसलिये यह कथन शास्त्रविरुद्ध होनेसे प्रमाण नही माना जा सकता है ?

उत्तर—पूर्वकथनमें वर्तमान समय एक ही बतलाया गया है। वह उत्पाद और विनाशके क्रमसे बतलाया गया है। वर्तमान समय कालाणुकी पर्याय है। कालाणु लोकमें असंख्यात माने गये है तथा एक ही साथ समस्त लोकाकाशमे वर्तमान समय रहता है। जब प्रत्येक कालाणु स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है तो इनकी पर्यायें भी स्वतन्त्र-स्वतन्त्र मानना पड़ती है। ऐसी हालतमे वर्तमान समयोंका प्रमाण कालाणुओंके समान असंख्यात हो जाता है। ऐसा ही कालाणुओंके भूत और भविष्यत् समयोंका भी प्रमाण समझना चाहिये। इसलिये पहले बतलाई हुई कालराशिका सर्वकालाणुओंके प्रमाणसे यदि गुणा कर दिया जाय तो सर्वसम्पूर्ण कालाणुओंके भूत, वर्तमान और भविष्यत् समयोंका प्रमाण निकल आता है। इतना होनेपर भी सर्वकालाणुओंके भूत, वर्तमान और भविष्य समयोंका प्रमाण मुक्त और वर्तमान भव्यराशिके प्रमाणसे असंख्यातगुणा ही सिद्ध होता है। इसके आगे यह विचार पैदा होता है कि कालाणुओंकी वर्तमान पर्यायें एक समय तक ही वर्तमान रहकर भूत हो जाती है। लेकिन वर्तमान व्यवहार कभी न नष्ट हुआ और न होगा, इसका कारण क्या माना जाय ? इसके लिये यही सुसंगत उत्तर दिया जा सकता है कि जब कालाणुओंकी एक-एक वर्तमान पर्याय भूत हो जाती है तो उसी समय उनकी एक-एक भविष्यत् पर्याय वर्तमान हो जाती है, यह क्रम अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता जायगा अर्थात् अनादिकालसे आज तक जितने समय बीत चुके वे सब वर्तमान होकर ही भूत हुए है एवं अनन्तकाल तक जितने समय बीतेंगे वे सब भी वर्तमान हो करके ही भूत होंगे। इसी प्रकार जब वर्तमान समय भूत हो जाता है तो प्रथम समयमें भिन्न प्रकारका, द्वितीय समयमें भिन्न प्रकारका, इसी तरह तीसरे, चौथे आदि अनन्तसमयोंमें अनन्तप्रकारका ही भूतपना उसमें रहेगा तथा प्रत्येक समयका भविष्यत्पना भी भिन्न-भिन्न कालमे भिन्न-भिन्न प्रकारका रहेगा। मान लीजिये कि आजका दिन आज वर्तमान है, आजसे जो भविष्यका दशवाँ दिन है वह कलके दिन भविष्यका नववाँ दिन कहा जायगा, परसोंके दिन आठवाँ, इसी तरह क्रमसे सातवाँ आदि होता हुआ दशवें दिन तक वर्तमान कहा जाने लगेगा तथा उसके आगे भूतका पहला, दूसरा, तीसरा आदि क्रमसे कहा जायगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक कालाणुके जितने भूत, वर्तमान और भविष्यत् समय है वे प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न परिणमन करते हैं और प्रत्येक समयके ये परिणमन उतने ही हो सकते हैं जितने कि प्रत्येक कालाणुके भूत, वर्तमान और भविष्यके समय बतला आये हैं। यदि ऐसा नही माना जाय तो आज दिन जो वर्तमान व्यवहार है वह इसके पहले व इसके आगेके दिन नही होना चाहिये। लेकिन इसके पहले व आगेके दिनमें भी हम वर्तमानका व्यवहार करते हैं अर्थात् जैसा आजके दिनको हम आज वर्तमान कहते है वैसे ही कलके दिनको कल वर्तमान कहेंगे, इसका कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये और यह यही हो सकता है कि कालाणुका प्रत्येक समय प्रतिक्षण परिवर्तन करता रहता है। ये सब कालाणुके ही परिवर्तन हैं। इनका प्रमाण सम्पूर्ण कालाणुओंके जितने भूत, वर्तमान और भविष्यत् समय हैं उनसे अनन्तानन्तगुणा सिद्ध होता है जो

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड पर्याप्तिप्ररूपणा।

कि सर्वजीवराशिसे अनन्तगुणा होगा और यही प्रमाण सर्वव्यवहारकालराशिका प्रमाण कहा जाने योग्य है, कारण कि व्यवहारनाम पर्याय अथवा परिवर्तनका है और ये परिवर्तन पूर्वोक्त प्रकारसे इतने ही सकते हैं, हीनाधिक नहीं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भव्यजीव सतत् मोक्ष जाते रहेंगे, फिर भी संसार जीव-शून्य नहीं होगा तथा मोक्षमार्ग भी बन्द नही होगा।

●

जैनदर्शनमें भव्य और अभव्य

इनके विषयमें ता० १६ जुलाई सन् १९३२ के "जैन जगत्" में सम्पादकमहोदयने निम्नलिखित विचार प्रकट किये है—"जैन शास्त्रोमें जीवोंके दो भेद मिलते है—भव्य और अभव्य। भव्योंमे मोक्ष प्राप्त करनेकी योग्यता है, अभव्योमे नही। ये भेद पारिणामिक या स्वाभाविक कहलाते हैं, परन्तु शक्ति तो सभी जीवोंमें एकसरीखी है। अभव्योमे भी केवलज्ञानकी शक्ति है। यदि ऐसा न होता तो अभव्योको केवल-ज्ञानावरणकर्मकी जरूरत ही नही रहती। इसलिये भव्य और अभव्यका स्वाभाविक भेद बिलकुल नही जँचता। अभी तक इस विषयमे मेरे निम्नलिखित विचार रहे है। अभव्योंकी कल्पना तीर्थंकरोके महत्त्वको बढ़ानेके लिये है'' '' । आगे इसीकी पुष्टि की गयी है।

लेकिन बात ऐसी नही है। शास्त्रोमे जो भव्य और अभव्यका भेद बतलाया गया है वह वास्तविक है। और मोक्ष जानेकी योग्यता व अयोग्यतासे ही किया गया है अर्थात् जिसमे मोक्ष जानेकी योग्यता है वह भव्य है और जिसमें नहीं है वह अभव्य है।

शंका—जबकि भव्योकी तरह अभव्योमे भी केवलज्ञानकी शक्ति है तब उनमें मोक्ष जानेकी योग्यता क्यों नही है?

उत्तर—अभव्योमे केवलज्ञानकी शक्ति है, इसका तात्पर्य यह है कि जीवोका जीवत्व (चैतन्य) पारिणामिकभाव माना गया है और संपूर्ण जीवोका असाधारण स्वरूप होनेसे वह संपूर्ण जीवोंमे पाया जाता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि उसी जीवत्वके विशेष है। इसलिये जीवत्वके सद्भावमे इनकी सत्ता संपूर्ण जीवमे अनायास सिद्ध हो जाती है। मोक्ष जानेकी योग्यताका मतलब केवलज्ञानादिके प्रकट होने-की योग्यतासे है, कारण जीवोके ज्ञानादिगुण कर्मोंसे आच्छादित है। इसलिये भव्य और अभव्यका लक्षण इस प्रकार हो जाता है, जिस जीवमें केवलज्ञानादिके प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य है और जिसमे यह योग्यता नही है वह अभव्य है। अभव्योंमे केवलज्ञानकी शक्ति है, इसका अर्थ इतना ही करना चाहिये कि अभव्योंमे कर्मोंसे आच्छादित केवलज्ञानका सद्भाव है, उसकी अभिव्यक्ति नही होती। यह अर्थ कि अभव्योंमें भी केवलज्ञानके प्रकट होनेकी योग्यता है, असंगत ही है।

शंका—भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवोंमें समानरूपसे केवलज्ञान कर्मोंसे आच्छादित रहता है, ऐसी हालतमे भव्योका केवलज्ञान प्रकट हो, अभव्योंका नहीं, यह भेद कैसे हुआ?

उत्तर—केवलज्ञानादिकी प्रकटता द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके मिलनेपर होती है—(१) द्रव्य—जिस

आत्मामें प्रकट हो, (२) क्षेत्र— जिस स्थानपर प्रकट हो, (३) काल—जिस समयमें प्रकट हो, (४) भाव—शुद्ध केवलज्ञानादिरूप पर्याय। ये चारों जिस आत्माके वर्तमानपनेको प्राप्त हो जाते हैं उसके उसी क्षणमें केवलज्ञानादि प्रकट हो जाते हैं। कारण कि इनका वर्तमान हो जाना ही केवलज्ञानादिकी प्रकटता है। जिस जीवमें ये चारों जब तक भविष्यत् रूपमें रहते हैं तब तक 'योग्यता' शब्दसे कहे जाते हैं। भव्योंमें यह योग्यता पायी जाती है। इसलिये उनके केवलज्ञानादि प्रकट हो जाते हैं, अभव्योंमें इस योग्यताके नही रहनेसे केवलज्ञानादि प्रकट नहीं होते हैं।

शंका—जिस प्रकार भव्योंमें यह योग्यता पायी जाती है उसी प्रकार अभव्योंमें क्यों नहीं पायी जाती है, इसका कारण क्या है ?

उत्तर—यह निश्चित बात है कि जितने भी जीव मोक्ष जा सकते हैं उन सबमें मोक्ष जानेकी योग्यता एक ही समयमें व्यक्त नही होती है। यदि एक ही समयमें सब जीवोंकी योग्यताका विकास माना जाय, तो सर्वजीवोंको एक ही समयमे मोक्ष होना चाहिये, जिससे या तो अभी तक किसी जीवका मोक्ष नही मानना चाहिये, या फिर जिस समयमे प्रथम जीवका मोक्ष हुआ होगा, उसी समयमें मोक्ष जाने वाले सर्वजीवोंका मोक्ष हो जाना चाहिये था, लेकिन ऐसी बात नहीं है, अर्थात् प्रत्येक जीवका अपने-अपने योग्यकालमें ही मोक्ष जाना संभव है, इसलिये यह बात सिद्ध होती है कि जीवोंकी मोक्ष जानेकी योग्यताकी व्यक्ति अपने योग्यकालमे ही होती है।

प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक पर्यायोका पिंड है और वे पर्यायें उतनी ही हो सकती हैं जितने कि कालाणुके त्रैकालिक समय हैं, अधिक इसलिये नही मान सकते, कि आगे जब कालके समयोका सद्भाव नही, तो उसके अभावमे दूसरे द्रव्योंकी सत्ता युक्तिसे असंगत जान पड़ती है, कालाणुका जब एक समय भविष्यसे वर्तमान होता है तो प्रत्येक द्रव्यकी एक भविष्यत् पर्याय भी वर्तमान हो जाती है और द्वितीय क्षणमें वह समय वर्तमानसे भूत हो जाता है, इसलिये प्रत्येक द्रव्यकी वह पर्याय भी भूत हो जाती है। इसी तरह कालाणुके दूसरे, तीसरे आदि समय जब क्रमसे भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होते जाते हैं तो प्रत्येक द्रव्यकी दूसरी, तीसरी आदि पर्यायें भी क्रमसे भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होती जाती है। यह क्रम अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा, कभी समाप्त नही होगा, कारण कालाणुके समय और प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें अक्षयानन्त है।

प्रत्येक जीव अनादिकालसे कर्मोंसे संबद्ध हो रहा है, लेकिन यह संबंध सर्वथा भी छूट सकता है इस-लिये जीवकी दो तरह पर्यायें हो सकती हैं—सकर्म हालतकी और अकर्म (कर्मरहित) हालतकी। पहले प्रकारकी पर्यायोंमें जबतक भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होनेका क्रम जारी रहता है, तब तक वह जीव संसारी कहलाता है और जबसे दूसरे प्रकारकी पर्यायामें भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होनेका क्रम प्रारम्भ होता है तबसे वह जीव मुक्त कहलाने लगता है।

यह पहले बतला आये हैं कि सब जीवोंकी मोक्ष जानेकी योग्यताका विकास एक ही समयमें नहीं होता, इसलिये जैनशास्त्रोंमे छः महीना आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं, यह नियम पाया जाता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि कालाणुके त्रैकालिक जितने समय हों, उनमें छः महीना आठ समयमें ६०८ जीवोंके हिसाबसे जितने जीव मोक्ष जा सकते हैं, उतने जीवोंकी त्रैकालिक पर्यायें दो भागोंमे विभक्त हो जाती हैं—सकर्महालतकी पर्यायें और अकर्महालतकी पर्यायें। जितने जीव बाकी रह जाते हैं उनकी त्रैकालिक

पर्यायें सकर्महालतकी ही है। कालाणुके सर्वसमयोंमेंसे जितने समय बीत चुके, उनमे छः महिना आठ समयमें ६०८ जीवोंके हिसाबसे जितने जीवोंका कर्मोंसे संबंध छूट गया है वे मुक्त कहे जाते हैं, कारण कि इनको मोक्षप्राप्तिके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्राप्त हो चुका है, इसलिये उनका भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूतरूप परिणमत कर्मरहित अवस्थाकी पर्यायोंमें होने लगा है। कालाणुके जितने समय अभी भविष्यत्‌रूप हैं उनमें छः महिना आठ समयोंमें ६०८ जीवोंके हिसाबसे जितने जीवोका कर्मोंसे संबंध छूटेगा, वे इस समय भव्य कहे जाते हैं, कारण उन जीवोंका भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूतरूप परिणमन इस समय तो सकर्म अवस्थाकी पर्यायोंमे हो रहा है, लेकिन उन जीवोंमे भविष्यके किसी भी समयसे लेकर कर्मरहित अवस्थाकी पर्यायोंमें उस परिणमनके होनेकी योग्यताका सद्भाव है। जो जीव बाकी रह जाते हैं उनको जैनशास्त्रोंमें अभव्य कहा गया है, कारण कि उन जीवोंका भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूतरूप परिणमन अनादिकालसे सकर्म हालतकी पर्यायोंमें हो रहा है तथा आगे अनन्तकालके किसी भी समयमें कर्म-रहित अवस्थाकी पर्यायोंमे पूर्वोक्त परिणमनके होनेकी योग्यताका सद्भाव भी उन जीवोमे नही है। कालाणुके जितने भविष्यत् रूप समय हैं, उनमें इन जीवोंकी जितनी पर्यायोकी पलटन होगी वे संपूर्ण पर्यायें सकर्म हालत की ही होंगी, इसलिये जब भविष्यकी कोई भी पर्याय इन जीवोंकी शुद्ध नही कही जा सकती, तो इन जीवोके कर्मरहित अवस्थाकी पर्यायरूप भावका अभाव सिद्ध होता है। इसी तरह जब कालाणुके समय इन जीवोंकी अशुद्ध पर्यायोंकी पलटनमें ही कारण हुए, क्योकि इन जीवोकी त्रैकालिक पर्यायें अशुद्ध ही है, तो मोक्ष जाने योग्य-कालका भी अभाव सिद्ध हो जाता है और जब इन जीवोंकी त्रैकालिक पर्यायें अशुद्ध ही है, तो आकाशके भी तीनों कालोंमें जितने परिणमन होंगे उन सबमें वह आकाश अशुद्धपर्यायविशिष्ट ही इन जीवोको स्थानदान देगा, इसलिये इन जीवोंके मोक्ष जाने योग्य क्षेत्रका भी अभाव सिद्ध होता है। आत्मा जब त्रैकालिक पर्यायोका पिंड है तथा इन जीवोंकी त्रैकालिक पर्यायें अशुद्ध ही है, तो इन अशुद्ध पर्यायो सहित इनका आत्मा भी मोक्षमें कारण नहीं हुआ, इसलिये इन जीवोंके मोक्ष जाने योग्य द्रव्यका भी अभाव सिद्ध हो जाता है। इस तरहसे जब इन जीवोंको मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न तो प्राप्त हुआ और न प्राप्त होगा, तो इसका अर्थ यही हुआ कि इन जीवोंमे केवलज्ञानादिके प्रकट होनेकी योग्यता नही है अर्थात् इन जीवोंकी कोई भी भविष्यरूप पर्याय ऐसी नहीं, जिसको हम केवलज्ञानादिरूप कह सके, इसलिये ये अभव्य कहे जाते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकके भव्याभव्यके [1]लक्षणवार्तिकोंका यही अर्थ है।

अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्यायोको जो प्राप्त होगा अर्थात् जिसकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप पर्याय इस समय भविष्यरूप है, वह भव्य है और इससे विपरीत अभव्य है।

शंका—जिन जीवोंमें मोक्ष जानेकी योग्यता है, वे सब जब मोक्ष चले जावेंगे, तब संसार भव्यजीवोंसे शून्य हो जायगा, तथा मोक्ष जानेका क्रम भी नष्ट हो जायगा ?

उत्तर—जितने कालके समय है उतने समयोंमें ही भव्यजीव मोक्ष जा सकते है। कालके समय और भव्य जीवोंकी संख्या अक्षयानन्त है, इसलिये उनकी कभी भी समाप्ति नही होनेसे संसार भव्यजीवोंसे शून्य नहीं होगा और मोक्ष जानेका क्रम भी नष्ट नही होगा।[2]

शंका—इस कथनसे यह बात निकलती है कि संपूर्ण भव्यजीव भी मोक्ष नही जायेंगे, तो जो भव्यजीव

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः। २।७।८।, तद्विपरीतोऽभव्यः। २।७।९।

२. इसके लिये जैनमित्र, अंक २२, वर्ष ३४मे "जीव की अनन्तता" शीर्षक लेख देखना चाहिये।

मोक्ष नहीं जायेंगे वे अभव्योंके समान ही हुए, इसलिये उनको अभव्य ही कहना उचित है, भव्य नहीं ?

उत्तर—भव्य और अभव्यका भेद मोक्ष जानेकी योग्यताके रहने न रहनेसे किया गया है, इसलिये जिन जीवोंमें मोक्ष जानेकी योग्यता है उनमेसे यदि भव्य इस योग्यताके वर्तमान (व्यक्त) नहीं होनेके कारण मोक्ष न भी जाय तो भी वह भव्य ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि जिन जीवोंके मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वर्तमान हो जाते है वे मोक्ष चले जाते है, यह काल अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा, कही भी विश्रान्तिकी संभावना नही, तो यह नियम कैसे बना सकते हैं कि इतने भव्यजीव मोक्ष जायेंगे, इतने नही।

योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेन्न भव्यराश्यन्तर्भावात् ।।त० वा०२।७।९।।

अर्थात्—जो भव्य अनन्तकालमें भी मोक्ष नही जायगा, उसको अभव्य नही कहना चाहिये, कारण कि उसकी गणना भव्यराशिमे ही होती है।

इसका तात्पर्य भी वही है जो ऊपर लिखा गया है। इसलिये जैनजगतके संपादक महोदयका यह लिखना कि "शास्त्रोमे भव्य दो तरहके बतलाये गय है—एक तो वे, जो मोक्ष जायेंगे, दूसरे वे, जो न जायेंगे, यह कल्पना अयुक्त और निरर्थक दोनो है"; उचित नही कहा जा सकता है, कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे आचार्योंका कथन कल्पना नही, किन्तु वस्तुस्वरूपका प्रतिपादक ही सिद्ध होता है। इसलिये सार्थक और उपपत्तिसहित ही है।

शंका—शास्त्रोंमें भव्यत्व और अभव्यत्वको पारिणमिक कहा गया है किन्तु यहाँपर मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यताको भव्यत्व और इसके अभावको अभव्यत्व कहा है, इसलिये यह कथन शास्त्र-विरुद्ध है।

उत्तर—जीवके पाँच प्रकारके भाव बतलाये है—कर्मोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदयसे होने वाले क्रमसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव कहे जाते है तथा जिनमे कर्मोंके उपशमादिकी अपेक्षा नही है वे भाव पारिणामिक कहे जाते है। जीवोंका सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणाम यथा-योग्य कर्मोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे प्रकट होता है। लेकिन इसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यता भी कारण पड़ती है। अर्थात् योग्यतामे कर्मोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम कारण नही, बल्कि कर्मोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशममे योग्यता कारण है। कर्मोंका उदय भी इस योग्यतामें कारण नही है। इसलिये इस योग्यतारूप भव्यत्व और इसके अभावरूप अभव्यत्वभावोको पारिणामिक भाव कहा गया है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें समानरूपसे भव्यता और अभव्यता पायी जाती है। पुद्गलद्रव्यकी जितनी पर्यायें हो सकती है उनकी योग्यताका पुद्गलद्रव्यमें सद्भाव है और चेतनादि पर्यायोंकी योग्यताका उसमें अभाव है। इसलिये पुद्गलद्रव्य अपनी पर्यायोकी अपेक्षा भव्य है और चेतनादिपर्यायोकी अपेक्षा अभव्य है। इस तरह सपूर्ण द्रव्य भव्य और अभव्य कहे जा सकते है। जीवोंकी तरह इनमे भव्य और अभव्यका भेद नही बतलानेका कारण यह है कि धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एकही हैं तथा ये अपनी पर्यायोंकी अपेक्षा भव्य और दूसरे द्रव्यकी पर्यायोकी अपेक्षा अभव्यरूप हैं। इनमें ये भव्यता और अभव्यता परस्पर अविरुद्ध होनेसे एक जगह पायी जाती है। कालाणु और पुद्गल यद्यपि बहुत है लेकिन इन सबमें भी समानरूपसे अपनी पर्यायोंको अपेक्षा भव्यता और परद्रव्यकी पर्यायोकी अपेक्षा अभव्यता एक ही जगह एक ही साथ पायी जाती है, इसलिये इन द्रव्योंमे भव्य अभव्यका भेद नहीं बन सकता है। इन द्रव्योंकी यह भव्यता

और अभव्यता यद्यपि क्रमसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यता और उसके अभावरूप ही हैं तो भी यदि कोई प्रश्न करे कि प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायोंमें परिणमन करता है दूसरे द्रव्यकी पर्यायोंमें परिणमन नही करता है, इसमे क्या कारण है, तो यही उत्तर दिया जायगा कि प्रत्येक द्रव्यका यही स्वभाव है। इस तरहकी भव्यता और अभव्यता सब जीवोंमें भी पायी जाती हैं फिर भी यह भव्यता और अभव्यता समस्त जीवोंमे समान होनेके कारण भेद नही पैदा कर सकती है। किन्तु मोक्षकी भव्यता और अभव्यता परस्पर विरुद्ध होनेके कारण दोनों एक जगह नही रह सकती है इसलिये ये जीवोंमें भेद पैदा कर देती है। तथा यह भव्यता और अभव्यता भी क्रमसे मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यता और इसके अभावरूप ही है, इसलिये इन दोनोको जीवका स्वभाव कहा जाता है।

तीसरी बात यह है कि स्वभाव नाम परिणमनका है और परिणमन पर्यायको कहते है। जिस द्रव्यमे जो पर्याय भविष्यत्‌रूप है उसमे वह पर्याय अपने प्रकट होने योग्य क्षेत्र और कालरूप निमित्तको पाकर प्रकट हो जाती है। जब तक वह पर्याय प्रकट होने योग्य रहती है तब तक उस द्रव्यमे उस पर्यायकी अपेक्षा भव्यता रहती है। जिस द्रव्यमे जो पर्याय भविष्यत् (शक्ति) रूप नही है उसमे वह पर्याय कभी भी प्रकट नही होगी इसलिये उस द्रव्यमे उस पर्यायकी अपेक्षा अभव्यता रहती है। इस तरह भव्यता और अभव्यता दोनोका कारण क्रमसे द्रव्यकी भविष्यत् पर्याय और उसका अभाव ही हुआ। इसलिये भव्यताको पारिणामिक या स्वाभाविक कहना संगत जान पड़ता है। किसी-किसी जीवमे शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय भविष्यत्‌रूप है, इसलिये वे जीव भव्य कहे जाते है और किसी-किसी जीवमें शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय भविष्यत्‌रूप नही है किन्तु भविष्यत्कालके संपूर्ण समयोमे वह सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय कर्मोंसे आवृत्त रहनेसे अशुद्ध ही रहेगी, इसलिये वे अभव्य कहे जाते हैं। इस तरहसे जीवोकी इस भव्यता और अभव्यताको भी पारिणामिक या स्वाभाविक कहते है।

शंका—यदि भव्यता और अभव्यताको पारिणामिक माना जाय, तो स्वभावके अविनाशी होनेके कारण मोक्षमे भव्यताका नाश नही होना चाहिये ?

उत्तर—भव्यताका अर्थ है शुद्ध सम्यग्दर्शनादिके प्रकट (वर्तमान) होने योग्य भविष्यत् (शक्ति) रूपसे शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्यायका सद्भाव। प्रत्येक द्रव्यका भविष्यत् पर्याय वर्तमान और वर्तमानपर्याय भूत होती जा रही है और होती जायगी, तो भव्य जीवमे शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय कभी प्रकट (वर्तमान) होगी ही, और जब वह प्रकट हो जायगी तब उसके प्रकट होनेकी योग्यता भी नष्ट हो जायगी, इस तरहसे सम्यग्दर्शनकी हालतसे चतुर्दश गुणस्थानके अन्त तक जैसे-जैसे आत्माकी शुद्ध पर्यायोका विकास होता जायगा वैसे-वैसे योग्यता भी नष्ट होती जायगी और अन्तमें संपूर्णरूप योग्यताका नाश हो जायगा, कारण कि उस समय आत्माके संपूर्ण स्वभावका विकास हो जायगा। आगे इस जीवका जो भी परिणमन होगा वह शुद्ध पर्यायोंमें ही होगा, इसलिये भव्यत्वका निमित्त छूट जानेके कारण मोक्षमें भव्यत्व भावका नाश माना जाता है।

इस तरहसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि भव्य और अभव्य जीवोंके वास्तविक भेद हैं, कल्पना नही की गयी है।

●

जीवदया : एक परिशीलन

जीवदयाके प्रकार

१. जीवदयाका एक प्रकार पुण्यभावरूप है। पुण्यभावरूप होनेके कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमे ही होता है, संवर और निर्जरामें अन्तर्भाव नही होता। यह पुण्यभावरूप जीवदया व्यवहारधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण है। इस बातको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२. जीवदयाका दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मरूप है। इसकी पुष्टि धवल-पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचनके आधारपर होती है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है अत इसके कर्मजनित होनेका विरोध है।

यद्यपि धवलाके इस वचनमें जीव-दयाको जीवका स्वतःसिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीवके स्वत सिद्ध स्वभाव-भूत वह जीवदया अनादिकालसे मोहनीयकर्मकी क्रोध-प्रकृतियोंके उदयसे विकृत रहती आई है, अत मोहनीयकर्मकी उन क्रोध-प्रकृतियोंके यथास्थान यथायोग्यरूपमें होने वाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जब वह शुद्धरूपमें विकासको प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें नही होता, क्योंकि जीवके शुद्ध स्वभावभूत होनेके कारण वह कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण नही होती है। तथा इसका अन्तर्भाव संवर और निर्जरा तत्त्व में भी नही होता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही संवर और निर्जरापूर्वक होती है।

३. जीवदयाका तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमें व्यवहारधर्मरूप है। इसका समर्थन भी आगम-प्रमाणोंके आधारपर होता है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभप्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेके आधारपर संवर और निर्जराका कारण हो जानेसे संवर और निर्जरा तत्त्वमें होता है, और दयारूप पुण्यप्रवृत्तिरूप होनेके आधारपर आस्रव और बन्धका कारण हो जानेसे आस्रव और बन्धतत्त्वमें भी होता है। कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण होनेसे यह व्यवहार-धर्मरूप जीवदया जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं, तथा कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते है। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उनके अन्त-करणमे उस अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिसे घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार-धर्मकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध हो जाती है।

निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्ति भव्य जीवमें ही होती है, अभव्य जीवमे नही। तथा उस भव्य जीवमें उसकी उत्पत्ति मोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन-रूप कषायोंकी क्रोधप्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावके रूपमें उत्तरोत्तर प्रकर्षको लेकर होती है। इसकी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार है—

(क) अभव्य और भव्य दोनो प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारों कषायोंकी क्रोध-प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनों प्रकारके जीवोंमें उस अदयारूप विभावपरिणमनकी समाप्तिमे कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासकी योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। भव्य जीवोंमे तो उस अदयारूप विभाव-परिणतिकी समाप्तिमें अनिवार्य कारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासकी योग्यता भी स्वभावत विद्यमान है। इस तरह जिस भव्य जीवमें जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोका विकास हो जानेपर उक्त करणलब्धिका भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धिके बलसे उस भव्य जीवमे मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासंभवरूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियोंका व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथमभेद अनन्तानुबंधीकषायके नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमे उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे एक प्रकारका जीवदया-रूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्यजीवमें यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विशेष उत्कर्ष हो जावे, तो उसके बलमें उसमें चारित्रमोहनीय कर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध-प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमे उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे दूसरे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्यजीवमें यदि उस आत्मोमुखता-रूप करणलब्धिका और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ-प्रकृतियोंके साथ क्रोध-प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर सप्तमगुणस्थानके प्रथम समयमे उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे तीसरे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तमगुणस्थानको प्राप्त जीव सतत सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमे अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें झूलते हुए जीवमे यदि सप्तम गुणस्थानसे पूर्व ही दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी उक्त चार—इन सात प्रकृतियोंका उपशम या क्षय हो चुका हो, अथवा सप्तम गुणस्थानमें ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानोमें क्रमश: अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके रूपमे और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थानमें हो उस जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप

अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी क्रोध-प्रकृतियोके साथ चारित्रमोहनीय कर्मके चतुर्थ भेद संज्वलन कषायकी क्रोध-प्रकृतिका भी उपशम या क्षय होने पर उस जीवकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे चौथे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है ।

इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कषायोकी क्रोधप्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है, परन्तु जब जिस भव्यजीवकी उस भाववती शक्तिका वह अदयारूप विभाव-परिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध-प्रकृतिका यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर यथायोग्यरूपमें समाप्त होता जाता है, तब उसके बलसे उस जीवकी उस भाववतीशक्तिका उत्तरोत्तर विशेषता लिए हुए शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मके रूपमे दयारूप परिणमन होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन क्रोध-प्रकृतियोका यथास्थान यथायोग्यरूपमे होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीवमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होने पर ही होता है ।

व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीवमें उपर्युक्त पाँचो लब्धियोका विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियोंको क्रियावती शक्तिके ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियोसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिका नाम ही व्यवहारधर्मरूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके बलपर ही भव्यजीवमे भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीव-दयाकी उत्पत्तिमे कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धियोंका विकास होता है। इस तरह निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें व्यवहारधर्मरूप जीवदया कारण सिद्ध हो जाती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्यजीव भी व्यवहारधर्मरूप दयाको अंगीकार करके अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोका विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यताके कारण उसमे आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास नही होता है। इस तरह उसमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विकास भी नही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भव्यजीवमें उक्त क्रोध-प्रकृतियोका यथासम्भवरूपमे होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप कारणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है, परन्तु उसमें उस कारणलब्धिका विकास क्रमशः क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चारो लब्धियोका विकास होनेपर ही होता है। अत इन चारों लब्धियोंको भी उक्त क्रोध-प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण माना गया है।

जीवका भाववती और क्रियावती शक्तियोंके सामान्य परिणमनोंका विवेचन

जीवकी भाववती और क्रियावती—इन दोनों शक्तियोंको आगममें उनके स्वत सिद्ध स्वभावके रूपमें बतलाया गया है। इनमेसे भाववतीशक्तिके परिणमन एक प्रकारसे तो मोहनीयकर्मके उदयमें विभावरूप, व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें शुद्धस्वभावरूप होते हैं तथा दूसरे प्रकारसे हृदयके सहारेपर तत्त्व-

श्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते हैं। एवं क्रियावती शक्तिके परिणमन संसारावस्थामें एक प्रकारसे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं, दूसरे प्रकारसे पापमय अशुभ प्रवृत्तिमें मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकारसे सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके सहारेपर पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित आत्मक्रियाके रूपमें होते हैं। इनके अतिरिक्त संसारका विच्छेद हो जानेपर जीवकी क्रियावती शक्तिका चौथे प्रकारसे जो परिणमन होता है, वह स्वभावतः उर्ध्वगमन-रूप होता है। जीवकी क्रियावती शक्तिके इन चारों प्रकारसे होने वाले परिणमनोंमेंसे पहले प्रकारके परिणमन कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। दूसरे प्रकारके परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तरूप होनेसे भव्यजीवमें यथायोग्य कर्मोंके संवरपूर्वक निर्जरणमें कारण होते हैं तथा पुण्यरूप शुभ प्रवृत्ति-रूप होनेसे यथायोग्य कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। तीसरे प्रकारके परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित होनेसे केवल सातावेदनीयकर्मके आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्धमें कारण होते हैं और चौथे प्रकारका परिणमन केवल आत्माश्रित होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धमें कारण नहीं होता है और कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जानेसे कर्मोंका संवर और निर्जरणका कारण होनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका विश्लेषण

जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारे पर अतत्त्व-ज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं, उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं। एवं कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते हैं, इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धान-रूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके एक तो आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं और दूसरे कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं।

संसारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेषके वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थोंके अनावश्यक भोग और संग्रह-रूप क्रियाएँ सतत करता रहता है, वे सभी क्रियाएँ संकल्पी पाप कहलाती हैं। इनमें सभी तरहकी स्वपरहितविघातक क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोंवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति-रूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और संग्रहरूप क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ आरम्भीपाप कहलाती हैं। इनमें जीवनका संचालन, कुटुम्बका भरण-पोषण तथा धर्म, संस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोकका संरक्षण आदि उपयोगी कार्योंको सम्पन्न करनेके लिए नीतिपूर्वक की जानेवाली असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और संग्रहरूप क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ पुण्य कहलाती हैं। इस प्रकारकी पुण्यरूप क्रियाएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक तो सांसारिक

स्वार्थवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया। इनमेंसे कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रियासे ही परोपकारकी सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वीतरागी देवकी आराधना, वीतरागताके पोषक शास्त्रोंका पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुओंकी सेवा-भक्ति तथा स्वावलम्बनशक्तिको जागृत् करनेवाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओंमें अन्तर्भूत होते हैं।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी अहकार आदिके वशीभूत होकर किये जाते है तो उन्हें संकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदया-रूप परिणमनोंका विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवकी भाववतीशक्तिका चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कपायोकी क्रोधप्रकृतियोके उदयमे अदयारूप विभाव-परिणमन होता है, और उन्ही क्रोधप्रकृतियोके यथास्थान, यथासभवरूपमे होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशममे दयारूप स्वभाव-परिणमन होता है। यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोंके विषयमे यह बतलाया जा रहा है कि जीवद्वारा परहितकी भावनासेकी जानेवाली क्रियाएँ पुण्यके रूपमे दया कहलाती है और जीवद्वारा परके अहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियाएँ संकल्पीपापके रूपमें अदया कहलाती है। इनके अतिरिक्त जीवकी जिन क्रियाओमे परके अहितकी भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहितकी भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे परका अहित होना निश्चित हो, वे क्रियाएँ आरम्भीपापके रूपमे अदया कहलाती है। जैसे—एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण करना संकल्पीपापरूप अदया है, परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्म-रक्षाके लिए उस आक्रामक व्यक्तिपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भीपापरूप अदया है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवकी पुण्यमय क्रिया संकल्पीपापमय क्रियाके साथ भी संभव है और आरम्भीपापमय क्रियाके साथ भी सभव है, परन्तु सकल्पी और आरम्भी दोनो पापरूप क्रियाओमे जीवकी प्रवृत्ति एकसाथ नही हो सकती है, क्योंकि संकल्पीपापरूप क्रियाओके साथ जो आरम्भीपापरूप क्रियाएं देखनेमे आती हैं उन्हे वास्तवमे सकल्पी पापरूप क्रियाएँ ही मानना युक्तिसगत है। इस तरह संकल्पीपापरूप क्रियाओसे सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भीपापरूप क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हें ही वास्तविक आरम्भीपापरूप क्रियाएँ समझना चाहिए।

व्यवहारधर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदया-रूप अशुभ क्रियाओके साथ परहितकी भावनासे की जाने वाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियाएँ पुण्यके रूपमे दया कहलाती हैं और वे कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होती है, परन्तु भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवो द्वारा कम-से-कम मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे होनेवाली सर्वथानिवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दयाके रूपमें पुण्यमय शुभ क्रियाएँ की जाने लगती है वे क्रियाएँ ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती है। इसमे हेतु यह है कि उक्त सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली पुण्यभूत

दया भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासका कारण होती है तथा भव्यजीवमें तो वह पुण्यरूप दया इन लब्धियोके विकासके साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासका कारण होती है। उक्त करणलब्धि प्रथमत मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासंभव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्मके भेद चारित्र-मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार—इस तरह सात प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममे कारण होती है। इस तरह उक्त व्यवहारधर्मरूप दया कर्मोंके संवर और निर्जरणमे कारण सिद्ध हो जाती है। इतनी बात अवश्य है कि उस व्यवहारधर्मरूप दयामें जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका अंश विद्यमान रहता है वह तो कर्मोके आस्रव और बन्धका ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्मरूप दयाका संकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे होनेवाली सर्वथानिवृत्तिका अंश ही कर्मोंके सवर और निर्जरणका कारण होता है। द्रव्यसग्रहग्रन्थकी गाथा ४५ मे जो व्यवहार-चारित्रका लक्षण निर्धारित किया गया है, उसके आधारपर व्यवहारधर्मरूप दयाका स्वरूप स्पष्ट रूपसे समक्षमे आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभ प्रवृत्तिको जिन भगवान्‌ने व्यवहार-चारित्र कहा है। ऐसा व्यवहार-चारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथामें व्रत, समिति और गुप्तिको व्यवहारचारित्र कहनेमे हेतु यह है कि इनमे अशुभसे निवृत्ति और शुभमे प्रवृत्तिका रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथासे निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप दया-के साथ करता है तबतक तो उस दयाका अन्तर्भाव पुण्यरूप दयामे होता है और वह जीव उक्त पुण्यरूप जीव-दयाको जब पापरूप अदयासे निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहारधर्मका रूप धारण कर लेती है, क्योंकि इस दयासे जहाँ एक ओर पुण्यमय प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहाँ दूसरी ओर उस दयासे पापरूप अदयासे निवृत्तिरूपताके आधारपर भव्यजीवमे कर्मोंका संवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहारधर्मरूप दयासे कर्मोका सवर और निर्जरण होता है, इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेनके द्वारा जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामे निर्दिष्ट निम्न वचनसे होती है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—शुभ और शुद्धके रूपमे मिश्रित परिणामोंसे यदि कर्मक्षय नही होता हो, कर्मक्षयका होना असंभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेनके वचनसे 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदका ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेनके वचनके 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदमें सुह और शुद्ध दो शब्द विद्यमान है। इनमेसे 'सुह' शब्दका अर्थ भव्यजीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप शुभ परिणमनके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस भव्यजीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमनके रूपमे ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी भाववतीशक्तिके पुण्यकर्मके उदयमे होनेवाले शुभ परिणामके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना युक्त नहीं है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और उसी क्रियावतीशक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक उन प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्यजीवमें कर्मोंके सवर और निर्जरणके कारण होते हैं। जीवकी भाववतीशक्तिके न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं, और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते है, इसमें यह हेतु है कि जीवकी क्रियावतीशक्तिका मन, वचन और कायिक महयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है, उसे योग कहते हैं ('कायवाङ्मनःकर्म योग'—त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीवकी भाववतीशक्तिके पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते हैं और वह योग यदि जीवकी भाववतीशक्तिके पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान, अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते है, ('शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभं। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो योग अशुभः'—सर्वार्थसिद्धि ६-३)। यह योग ही कर्मोका आस्रव अर्थात् बन्धका द्वार कहलाता है। ('स आस्रव' त० सू० ६-२)। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मोंके आस्रव-पूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप बन्धका कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योगकी शुभरूपता और अशुभरूपताका कारण होनेसे जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोको व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमनोको भी कर्मोके आस्रवपूर्वक बन्धका कारण मानना अयुक्त नही है, परन्तु कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशीमे रखी हुई तेजाबको भ्रमवश आँखकी दवाई समझ रहा है तो भी तबतक तेजाब रोगीकी आँखको हानि नही पहुँचाती है, जबतक वह डाक्टर उस तेजाबको रोगी-की आँखमे नही डालता है। जब डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमे डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि पहुँचा देती है। इसी तरह आँखकी दवाईको आँखकी दवाई समझकर भी जबतक डाक्टर उसे रोगीकी आँखमे नही डालता है तबतक वह दवाई उस रोगीकी आँखको लाभ नही पहुँचाती है। परन्तु, जब डाक्टर उस दवाईको आँखमे डालता है, तो तत्काल वह दवाई रोगीकी आँखको लाभ पहुँचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावतीशक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववतीशक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्व-श्रद्धानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन और जीवकी भाववतीशक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योगकी शुभरूपता और अशुभरूपतामे कारण होनेसे परम्परया आस्रव और बन्धमे कारण माने जा सकते हैं, परन्तु आस्रव और बन्धमे साक्षात् कारण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीवकी क्रियावतीशक्तिके योग-रूप परिणमनके निरोधको ही कर्मके सवर और निर्जरणमे कारण मानना युक्त है—('आस्रवनिरोध सवरः'—त० सू० ९-१)। जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशममे होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनाको सवर और निर्जराका कारण मानना युक्त नही है, क्योकि भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीयकर्मके यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेके कारण संवर और निर्जराके कार्य हो जानेसे कर्मोंके सवर और निर्जरणमे कारण सिद्ध नही होते है। एक बात और, जब जीवकी क्रियावतीशक्तिके योगरूप परिणमनोसे कर्मोका आस्रव होता है तो कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण योग-निरोधको ही मानना युक्त होगा। यही कारण है कि

जीवमें गुणस्थानक्रमसे जितना-जितना योगका निरोध होता जाता है उस जीवमे वहाँ उतना-उतना कर्मोंका सवर नियमसे होता जाता है तथा जब योगका पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मोंका सवर भी पूर्णरूपसे हो जाता है। कर्मोंका सवर होनेपर बद्ध कर्मोंकी निर्जरा या तो निषेक-रचनाके अनुसार सविपाकरूपमे होती है अथवा 'तपसा निर्जरा च' (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावतीशक्तिके परिणमन-स्वरूप तपके बलपर अविपाकरूपमे होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोको सवर और निर्जराका कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे ही भाववतीशक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोंमें सातावेदनीय कर्मका आस्रवपूर्वक प्रकृति ओर प्रदशरूपमे बन्ध नही होना चाहिए। दूसरे, द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववतीशक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घाती-कर्मोंका तथा चारों अघाती-कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना चाहिए। परन्तु जब ऐसा होता नही है तो यही स्वीकार करना पडता है कि आस्रव ओर बन्धका मूल कारण योग है और विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनो घाती-कर्मों एव चारो अघाती-कर्मोंकी निर्जरा निषेकक्रमसे ही होती है। त्रयोदश गुणस्थानमें केवली भगवान् अघाती कर्मोंकी समान स्थितिका निर्माण करनेके लिए जो समुद्घात करते है वह भी उनकी क्रियावतीशक्तिका ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामे निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके उपर्युक्त वचनके अगभूत "सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदसे जीवकी क्रियावतीशक्तिके अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्ति-रूप परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना ही संगत है। भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ व मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोका अभिप्राय ग्रहण करना सगत नही है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जयधवलाके उक्त वचनके 'सुह-सुद्ध परिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दका अर्थ यदि जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें विकासको प्राप्त शुद्ध परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमे स्वीकार किया जाये तो उस पदके अन्तर्गत 'सुह' शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनके रूपमे तो स्वीकार किया ही नही जा सकता है, इसलिए उस 'सुह' शब्दका अर्थ यदि जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें स्वीकार किया जाये तो यह भी सभव नही है, क्योंकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। अत उस 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमे ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि इस प्रकारके व्यवहार-धर्मके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अंशसे जहाँ कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहीं उसके पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप अंशसे कर्मोंका संवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भी जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमनको पूर्वोक्त प्रकार कर्मोंके सवर ओर निर्जरणका कारण सिद्ध न होनेसे 'सुद्ध' शब्दका अर्थ कदापि नही माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवलाके 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दके निरर्थक होनेका प्रसग उपस्थित हो जायेगा। अत उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' इस सम्पूर्ण पदका अर्थ जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणामस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति उसकी भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चय-

धर्मके रूपमे परिणमन होनेपर ही होती है, इसलिए 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द निरर्थक नही है तो इस बातको स्वीकार करनेमे यद्यपि कोई आपत्ति नही है. परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्षकी प्राप्ति जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके होनेपर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मक्षयका कारण मानना अन्य बात है, क्योकि वास्तवमे देखा जाये तो द्वादशगुणस्थानवर्ती जीवका वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभावका ही अंश है जो मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होनेपर ही प्रकट होता है ।

अन्तमे एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दका जीवकी भाववतीशक्तिका स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे शुद्धस्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्ण विकास हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाती कर्मोंका एव चारों अघाती कर्मोंके एक साथ क्षय होनेकी प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके विकासका प्रारम्भ, जब प्रथम गुणस्थानके अन्त समयमे मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार, इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमे होता है, तो ऐसी स्थितिमें उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नही माना जा सकता है । यह बात पूर्वमे स्पष्ट की जा चुकी है ।

प्रकृतमे कर्मोंके आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जराकी प्रक्रिया

१. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जबतक आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते है तबतक वे उस प्रवृत्तिके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं, तथा उस संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ वे यदि कदाचित् सासारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते है तो भी वे उन प्रवृत्तियोके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध भी किया करते हैं ।

२ अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आसक्तिवश होनेवाले संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्तव्यवश करने लगते हैं, तब भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है ।

३. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे सर्वथा त्यागकर यदि आसक्तिवश होने वाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते है, तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है ।

४. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागकर कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते है, तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है ।

५. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग-

कर उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने हुए अथवा उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा व उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका अपनेमें विकास कर लेते है, तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

६. यत' मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीवके ही होते है, अभव्य जीवके नही, अतः जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हो, उनमे भी उक्त पाँचो अनुच्छेदोंमेसे दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदोंमे प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्वसंस्कारवश या सामान्यरूपसे लागू होती है, तथा अनुच्छेद तीन और चारमे प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें भी लागू होती हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एकमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे जीव एक तो केवल संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नही करते है व उनकी प्रवृत्तिपूर्वक होनेके कारण वे पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सासारिक स्वार्थवश नही करते हैं, तथा उनमे अनुच्छेद पाँचमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियमसे मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करते है। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमे अनुच्छेद एक और दोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसलिए लागू नही होती कि उनमे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमे अनुच्छेद पाँचकी व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे भी मिथ्यात्वगुणस्थानकी ओर झुके हुए होनेके कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इस तरह सासादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्वगुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंकी प्रवृत्तियाँ भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती है।

७. उपर्युक्त जीवोंसे अतिरिक्त जो भव्यमिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व-प्राप्तिकी ओर झुके हुए हो अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्तिमे अनिवार्य कारणभूत करणलब्धिको प्राप्त हो गये हो, वे नियमसे यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भवरूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान —क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार—इस तरह सात कर्म-प्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूपमे संवर और निर्जरण किया करते है। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुण-स्थानोंमें विद्यमान जीव यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध, यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण किया करते है।

उपर्युक्त विवेचनका फलितार्थ

१. कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते है। अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ सासारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति कर्त्तव्यवश किया करते है। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पी-पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश

पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एवं कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

२ कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पूर्व संस्कारके बलपर कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कारके बलपर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, और कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कारवश संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा व आरम्भीपापरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं, परन्तु उनमे इतनी विशेषता है कि वे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूपमें नही करते हैं।

४. चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान सभी जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती जीवोंके समान संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित होते है। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो आसक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

५. पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेशनिवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको पंचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नही होता है। इतना अवश्य है कि कोई पंचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदया रूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश-निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

६ षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्ति-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते है, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नही होता।

७ षष्ठ गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानोंमें जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्य रूपमें नही करते हुए अन्तरंगरूपमें ही तब तक करता रहता है, जब तक नवम गुणस्थानमें उसको अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंकी क्रोध-प्रकृतियोंके सर्वथा उपशम या क्षय करनेकी क्षमता प्राप्त नही होती। तात्पर्य यह है कि जीवके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानके अन्त समय तक रहता है और पंचमगुणस्थानमे और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्याना-वरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थानके अन्त समय तक रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थानके अन्त समय तक रहा करता है, और षष्ठ गुणस्थानमे और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुण-स्थानोंमें संज्वलनक्रोधकर्मका उदय ही रहा करता है। परन्तु संज्वलनक्रोधकर्मका उदय व अप्रत्याख्याना-वरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मोंका क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थानमें इनका

सर्वथा उपशम या क्षय नहीं हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थानके एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्धका कारण जीवकी भाववती शक्तिके हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होने वाले यथायोग्य परिणमनोंसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थानमें जब तक आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका यथायोग्य रूपमें एकदेश त्याग नहीं करता, तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश त्यागकर देता है और उस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीवमें उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रथम और तृतीय गुणस्थानमें भी लागू होती है। इसी तरह जीव पंचम गुणस्थानमें जब तक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका-सर्वदेश त्याग नही करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही है, परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्यागकर देता है और इस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीवमे उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थानके समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोंमें भी लागू होती है। पंचम गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमें तब तक जीव संज्वलन क्रोधकर्मका बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थानमे बन्धके अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता है। और जब वह नवम गुणस्थानमे संज्वलन क्रोधकर्मके उपशम या क्षयकी क्षमता प्राप्त कर लेता है तो इसके पूर्व उस जीवमे उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करनेमें मेरा उद्देश्य इस बातको स्पष्ट करनेका है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियोंके रूपमे होनेवाले परिणमन ही क्रोधकर्मके आस्रव और बन्धमें कारण होते हैं और उन प्रवृत्तियोंका निरोध करनेसे ही उन क्रोधकर्मोंका संवर और निर्जरण करनेकी क्षमता जीवमें आती है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो मोहनीयकर्मके उदयमें होनेवाला विभाव परिणमन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाला भाववती शक्तिका स्वभावरूप शुद्ध परिणमन संवर और निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपताके आधारपर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके परम्परया कारण होते हैं, और तत्त्वश्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शनके रूपमे तथा तत्त्वज्ञान व्यवहार-सम्यग्ज्ञानके रूपमें यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जराके भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियाँ यथायोग्य अशुभ और शुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण होती हैं तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणका साक्षात् कारण होती हैं, एवं जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप तथा दयारूप शुभ और अदयारूप

अशुभरूपतासे रहित जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीयकर्मके आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धका कारण होती है, तथा योगका अभाव कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म रूप भी होती है तथा इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप भी होती है। अर्थात् तीनों प्रकारकी जीवदयाएँ अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती हैं।

जैनागममें कर्मबन्ध

गुणस्थानोंकी व्यवस्था

गोम्मटसार जीवकण्डकी गाथा तीनमे गुणस्थानोंकी व्यवस्था मोह और योगके आधारपर बतलाई गई है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

आगममें संसारी जीवोंके १४ गुणस्थान निश्चित किये गये है—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इनका निर्धारण जीवमे मोहनीकर्मकी यथायोग्य प्रकृतियोंके उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम और योगके सद्भाव और अभावके आधारपर होता है।

मोहनीयकर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके रूपमे दो भेद हैं। उनमें दर्शनमोहनीयकर्मके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिके रूपमें तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीयकर्मके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीयके रूपमें दो भेद हैं। कषायवेदनीय कर्मके मूलत क्रोध, मान, माया और लोभके रूपमे चार भेद है तथा ये चारों अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके रूपमे चार-चार प्रकारके हैं। फलत कषायवेदनीयकर्मके १६ भेद हो जाते हैं। अकषायवेदनीयकर्मके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके रूपमे ९ भेद है। गुणस्थानोंकी चतुर्दश संख्याके निर्धारणमें दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और कषायवेदनीयकर्मकी १६ प्रकृतियोका ही उपयोग है, अकषायवेदनीयकर्मकी ९ प्रकृतियोका गुणस्थानोकी चतुर्दश सख्याके निर्धारणमे उपयोग नही है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानकी ओर आता है उस समय मिथ्यात्वकर्मका उदय न होकर प्रथमत. यदि अनन्तानुबन्धीकर्मका उदय होता है तो उस समय जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह द्वितीय सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव यदि द्वितीय सासादनसम्यग्दृष्टि होता है तो वह विसंयोजित अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी संयोजना करके उसके उदयमें होता है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह तृतीय सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और अनन्तानुबन्धी कषायकी उक्त चार इस प्रकार सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।

अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशममें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह पंचम देशविरत गुणस्थान है।

प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम और संज्वलनकषायके तीव्र उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह षष्ठ प्रमत्तविरत गुणस्थान है।

औपशमिक, क्षयोपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवमें जब संज्वलनकषायका सामान्यरूपसे मंदोदय होता है तब जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है तब वह सप्तम स्वस्थानाप्रमत्त गुणस्थान कहलाता है तथा औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवमें जब संज्वलन कषायका विशेषरूपसे मंदोदय होता है तब वह सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थान कहलाता है। वह सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे अधः-करणरूप आत्मविशुद्धिको प्राप्त रहता है।

संज्वलनकषायके मन्दतर उदयमें औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान है। यह जीव नियमसे अपूर्वकरणरूप आत्मविशुद्धिको प्राप्त रहता है।

संज्वलन कषायके मन्दतम उदयमें औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह नवम अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें जीव अकषायवेदनीय प्रकृतियोंके साथ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंको सम्पूर्ण प्रकृतियोका यथायोग्य उपशम या क्षय करता है तथा संज्वलनकषायकी क्रोध, मान, माया प्रकृतियोंका भी यथायोग्य उपशम या क्षय करता है एव संज्वलन लोभप्रकृतिका कर्षण भी करता है।

संज्वलनकषायकी सूक्ष्मताको प्राप्त लोभ प्रकृतिका उदय रहते हुए जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह दशम सूक्ष्मलोभ गुणस्थान कहलाता है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी ३ और अनन्तानुबन्धी कषायकी ४ इन ७ प्रकृतियोंके उपशम अथवा क्षय तथा चारित्रमोहनीयकर्मकी शेष सभी प्रकृतियोंके उपशममें जीवकी भाववतीशक्ति जो परिणमन होता है वह ११वाँ उपशान्तमोह गुणस्थान है।

सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके क्षयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह १२वाँ क्षीणमोह गुणस्थान है।

यत १२वाँ गुणस्थान सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका क्षय होनेपर होता है और यह स्थिति जीवकी १३वें और १४वें गुणस्थानोंमें भी रहती है, अतः इस आधारपर इन तीनो गुणस्थानोंमे समानता पाई जाती है तथापि १२वें गुणस्थानवर्ती जीवकी अपेक्षा १३वें और १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोंमें यह विशेषता पाई जाती है कि उनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मोका सर्वथा क्षय होजानेके कारण जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप केवलज्ञान आदि गुणोका विकास भी पाया जाता है। इसी प्रकार १३वें और १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोमे भी यह विशेषता पाई जाती है कि जहाँ १३वें गुणस्थानवर्ती जीवोंमें क्रियाशील पौद्गलिक मन, बोलनेके स्थानभूत वचन और कायके अवलम्बनसे उन जीवोंकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप हलन-चलन क्रियारूप योग पाया जाता है वहाँ १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोमे पौद्गलिक मन, वचन और कायका सद्भाव रहते हुए भी उनके निष्क्रिय हो जानेसे योगका सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रकार १४ गुणस्थानोंकी व्यवस्था निराबाध हो जाती है।

कर्मबन्धका मूल कारण

जीव और पुद्गल दोनों द्रव्योंमें स्वभावतः भाववतीशक्तिके साथ क्रियावतीशक्ति भी पायी जाती है। उस क्रियावतीशक्तिके आधारपर ही जीव और पुद्गल दोनों द्रव्योंमें हलन-चलन क्रिया होती है। संसारी जीवोंमें क्रियाशील पौद्गलिक मन या वचन या कायके अवलम्बनसे जो हलन-चलन क्रिया होती है उसे ही योग कहते हैं और वह योग ही कर्मबन्धका मूल कारण है। उसका सद्भाव जीवोंमें प्रथमगुणस्थानसे लेकर १३वें गुणस्थानतक पाया जाता है, इसलिए उनमें विद्यमान जीवोंमें नियमसे प्रतिक्षण कर्मबन्ध होता रहता है। यतः १४वें गुणस्थानवर्ती जीवमें पौद्गलिक मन, वचन और कायका सद्भाव रहते हुए भी उनके निष्क्रिय हो जानेसे योगका अभाव रहता है अत. वहाँ कर्मबन्ध नही होता।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीवके जो आयुकर्मका बन्ध नही होता उसका कारण वहाँ योगकी अनुकूलताका अभाव है। तथा आदिके तीन गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिका व आदिके छह गुणस्थानोंमें आहारकशरीर और आहारकअङ्गोपांगका जो बन्ध जीवके नही होता है उसका कारण वहाँ भी योगकी अनुकूलताका अभाव है। इसी प्रकार नीचे-नीचेके गुणस्थानोमे बन्धको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियोंकी ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें जो बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है उसका कारण भी वहाँ योगकी तरतमताको ही माना जा सकता है।

कर्मबन्धके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि आगममें बन्धके चार भेद बतलाये गये हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। आगममें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगके आधारपर होते हैं व स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायोंके आधारपर होते है।

तात्पर्य यह है कि योगके आधारपर ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओंका आस्रव होता है और उस आस्रवके आधारपर उन वर्गणाओंका आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है उसका नाम प्रकृतिबन्ध है तथा वे कर्मवर्गणाएँ कितने-कितने परिमाणमें आत्माके साथ सम्पर्क करती हैं उसका नाम प्रदेशबन्ध हैं। फलत प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दोनोंको योगके आधारपर मान्य करना युक्त है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिका निर्माण योगके आधारपर होता है? तो ऐसा नहीं है, क्योंकि योगका कार्य ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओंका आस्रवपूर्वक आत्माके साथ सम्पर्क कराना मात्र ही है अतएव यह स्वीकार करना होगा कि कर्मवर्गणाओंका जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन होता है वह उन वर्गणाओमें विद्यमान उस-उस कर्मरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यताके आधारपर होता है। इतनी बात अवश्य है कि वे वर्गणाएँ तभी ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत होती है जब वे योगके आधार-पर आस्रवित होकर आत्माके साथ सम्पर्क करती हैं। इससे निर्णीत होता है कि ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् ही लोकमें व्याप्त हो रही हैं तथा योगके आधारपर उनका आस्रव होकर आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है उसे ही प्रकृतिबन्ध कहना चाहिए। ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वर्गणाओंके पृथक्-पृथक् होनेके कारण ही वे आठो कर्म कभी एक-दूसरे कर्मरूप परिणत नहीं होते हैं।

इसीप्रकार दर्शनमोहनीयकर्म चारित्रमोहनीयकर्मरूप और चारित्रमोहनीयकर्म दर्शनमोहनीयकर्मरूप कभी परिणत नही होते एवं चारो आयुकर्म भी कभी एक-दूसरे आयुकर्मरूप परिणत नहीं होते। इससे भी निर्णीत होता है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों कर्मोंकी एवं चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाएँ लोकमें पृथक्-पृथक् ही विद्यमान है। तथा उनका योगके आधारपर आस्रव होकर आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है वह

योगके आधारपर होता है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें जो "बहुभागे समभागो" इत्यादि गाथा १९५ पायी जाती है उसका आशय यही ग्रहण करना चाहिए कि योगके आधारपर एक साथ कर्मवर्गणाओंका जो आस्रव होता है वह आस्रव सबसे अधिक वेदनीयकर्मकी वर्गणाओंका होता है, उससे कम मोहनीयकर्मकी वर्गणाओंका होता है, उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी वर्गणाओका होता है, उससे कम नाम और गोत्र कर्मकी वर्गणाओंका होता है और उससे कम आयुकर्मकी वर्गणाओंका होता है।

चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि एक आयुकर्मकी वर्गणाओंके आस्रवके अवसरपर अन्य तीनों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव नहीं होता, क्योंकि चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंके आस्रवके लिए परस्पर विरुद्ध योग कारण होता है। फलतः जिस समय अनुकूल योगके आधारपर किसी एक आयुकर्मकी वर्गणाओंका आस्रव होता है उस समय अनुकूल योगका अभाव रहनेके कारण अन्य तीन आयु-कर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव नही होता है। इसी प्रकार चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार अन्य सात कर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव अनुकूल योगके सद्भावमें प्रतिसमय होता है उस प्रकार चारों आयुकर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव अनुकूल योगका अभाव रहनेके कारण प्रतिसमय न होकर *कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च जीवोंकी भुज्यमान आयुका त्रिभाग शेष रहनेपर व भोगभूमिज मनुष्य और* तिर्यञ्च जीवोंकी भुज्यमान आयुका ९ माह शेष रहनेपर एवं देव और नारकीय जीवोंकी भुज्यमान आयुका छहमाह शेष रहनेपर ही होता है और तब भी अनुकूल योगका सद्भाव हो तो ही होता है अन्यथा नही। यहाँ सर्वत्र योगकी अनुकूलताका आधार अन्य अनुकूल निमित्त सामग्रीके समागमको ही समझना चाहिए।

सभी कर्मोंकी वर्गणाओंके आस्रवमें कारणभूत व आत्माकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त योग यद्यपि यथाप्राप्त क्रियाशील पौद्गलिक मन, वचन और कायके अवलम्बनपूर्वक होता है, परन्तु उस योगके साथ जबतक चारित्रमोहनीयकर्मके उदयके सद्भावमें यथायोग्य नोकर्मभूत निमित्तोंके सहयोगसे आत्मा-की भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप रागद्वेष होते रहते हैं तब तक आत्माके साथ सम्पर्कको प्राप्त सभी कर्मवर्गणाओंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी नियमसे होते रहते हैं।

कर्मरूप परिणत वर्गणाओंका आत्माके साथ यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तसे लेकर यथायोग्य समय तक सम्पर्क बना रहना स्थितिबन्ध है और उनमें आत्माको फल प्रदान करनेकी शक्तिका प्रादुर्भाव होना अनुभागबन्ध है। इससे निर्णीत होता है कि कर्मवर्गणाओका आत्माके साथ सम्पर्क होना अन्य बात है और उस सम्पर्कका किसी नियतकाल तक बना रहना अन्य बात है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार मैं यह कहना चाहता हूँ कि ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोंमें विद्यमान जीवोंके साथ जिस योगके आधारपर सातावेदनीयकर्मकी वर्गणाओंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते हैं इसी योग के आधारपर श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराजकी अकिंचित्कर पुस्तकके पृ० ७-८ पर उन जीवोंके साथ उसी सातावेदनीयकर्मकी उन वर्गणाओंके जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध बतलाये गये हैं व समर्थनमें तर्क और आगम वचन प्रस्तुत किये गये हैं यह सब मुझे सम्यक् प्रतीत नही होता है। इसका स्पष्टी-करण इस प्रकार है—

१. पूर्वमें किये गये संकेतके अनुसार जब जिस योगके आधारपर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव होता है उसी योगके आधारपर तब उन वर्गणाओंका आत्माके साथ सम्पर्क भी होता है एवं वे वर्गणायें उस सम्पर्कके निमित्तसे ही ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत होती हैं। फलतः यह सब विषय प्रकृतिबन्धकी

परिधिमें आता है तथा ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत उन वर्गणाओंका आत्माके साथ उस सम्पर्कके यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तसे लेकर सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त यथायोग्य काल तक बने रहनेकी योग्यताका विकास स्थिति-बन्धकी और उनमें जीवको स्वकीय फल प्रदान करनेकी योग्यताका विकास अनुभागबन्धकी परिधिमें आते हैं। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप योगके आधारपर कर्मवर्गणाओंके आत्माके साथ प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते हैं, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होते। वे दोनों बन्ध उस-उस कषायके उदयमें यथायोग्य नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप राग-द्वेषके आधारपर ही होते हैं। आगममें जो प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धको योगके आधारपर व स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्धको कषायके आधारपर बतलाया गया है उसका यही अभिप्राय है।

२. आगममें स्थितिबन्धका काल कषायके सद्भावमें सामान्यरूपसे कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है व विशेषरूपसे वेदनीयकर्मका १२ मुहूर्त, नाम और गोत्रका आठ मुहूर्त बतलाकर शेष कर्मोंका अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है जबकि कषायके अभावमें सातावेदनीयकर्मके बन्धका काल उन कर्मवर्गणाओंका आत्माके साथ सम्पर्क होने व उनकी समाप्ति होने रूपमें एक समय ही सिद्ध होता है। इसलिए स्थितिबन्धके बिना ११वें, १२वें और १३वे गुणस्थानोमे बँधनेवाले सातावेदनीयकर्मकी उत्पत्ति और समाप्तिका काल एक समय मान्य करना ही युक्त है। फलतः गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा १०२ और उसकी संस्कृतटीकामे उन गुणस्थानोमे सातावेदनीयकर्मके बन्धको जो एक समयकी स्थिति वाला बतलाया गया है उसका सम्बन्ध प्रकृतिबन्धसे हो समझना चाहिए, क्योकि कषायका अभाव होनेसे वहाँ स्थितिबन्धका होना सम्भव नही है। इसी प्रकार कषाय-का अभाव होनेसे वहाँ जब स्थितिबन्ध नही होता तो अनुभागबन्ध भी नही हो सकता है, क्योंकि वह भी कषायके सद्भावमे होता है। अतएव उदयका भी अभाव हो जानेसे वहाँ उसके फलका भोग जीवको नही होता। वहाँ जीवको जो सातावेदनीयकर्मके फलका भोग होता है वह भोग पूर्वमे बद्ध वेदनीयकर्मके फलका ही होता है।

कर्मबन्धकी प्रक्रिया

पहले आगमके अनुसार मोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधारपर जीवके गुण-स्थानोंकी जो व्यवस्था बतलायी जा चुकी है उससे निर्णीत होता है कि मोहनीयकर्मका उदय गुणस्थानोकी व्यवस्थाका ही आधार है। वह उन गुणस्थानोंमें होनेवाले कर्मबन्धमे कारण नहीं होता। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थोंमें मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही बन्धके कारण माने गये है। इसका आशय यह है कि मोहनीयकर्मके उदयमें कर्मबन्ध तो होता है परन्तु बन्धका कारण मोहनीयकर्मका उदय न होकर उस उदयमें निमित्तोंके सहयोगसे यथायोग्य रूपमें होनेवाले जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय एवं योग परिणमन ही हैं।

बन्धके कारणोंमें निर्दिष्ट मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका उपलक्षण है, क्योंकि जीवमे मिथ्यादर्शनके साथ नियमसे मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र पाये जाते हैं। अतः बन्धके कारणोंमे मिथ्यादर्शन शब्दसे मिथ्यादर्शनके साथ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका भी समावेश होता है तथा उनमेंसे मिथ्याचारित्र ही बन्धका साक्षात् कारण है। यतः वह मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक होता है अतः परम्परया मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको भी बन्धके कारण स्वीकार किया गया है।

मिथ्यादर्शनका अर्थ है अतत्त्वश्रद्धान। वह दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वश्रद्धानका न होना और दूसरा

अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान करना । तत्त्वश्रद्धानके न होने रूप मिथ्यादर्शन एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें पाया जाता है । परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान करने रूप मिथ्यादर्शन केवल संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जाता है, क्योंकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान नोकर्मभूत हृदयके अवलम्बनसे होता है जो हृदय जैन सिद्धान्तके अनुसार संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमे ही रहता है । मिथ्यादर्शनका जो मिथ्यापन है वह उस दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें अनुकूल निमित्तोंके आधारपर होनेके कारण है ।

इसीप्रकार मिथ्याज्ञानका अर्थ है अतत्त्वज्ञान । वह भी दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वज्ञानका न होना और दूसरा अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें ज्ञान करना । तत्त्वका ज्ञान न होने रूप मिथ्याज्ञान भी एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें पाया जाता है । परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें ज्ञान करने रूप मिथ्यादर्शन पूर्वक होनेवाला मिथ्याज्ञान केवल संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जाता है, क्योंकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान नोकर्मभूत मस्तिष्कके अवलम्बनसे होता है और वह मस्तिष्क जैनसिद्धान्तके अनुसार संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही रहता है । यहाँ भी मिथ्याज्ञानका जो मिथ्यापन है वह उस मिथ्याज्ञानके मिथ्यादर्शनपूर्वक होनेके कारण है ।

मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान दोनों जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन है तथा दोनों दर्शनमोहनीय कर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयके आधारपर निर्मित मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवमे ही एक साथ पाये जाते है ।

मिथ्याचारित्रके विषयमे यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो क्रिया-व्यापार उस मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती जीवका होता है उसे ही मिथ्याचारित्र कहा जाता है और उसका उत्पादन चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके प्रभावमे अनुकूल निमित्तोके आधारपर होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग-द्वेषके अनुसार होता है ।

यह मिथ्याचारित्र एकेन्द्रिय जीवमे नोकर्मभूत काय (शरीर) के अवलम्बनसे, द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी-पंचेन्द्रिय तकके जीवोमे नोकर्मभूत काय और बोलनेके आधारभूत वचनके अवलम्बनसे एवं संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंमें नोकर्मभूत काय, वचन और मन तीनोके अवलम्बनसे होता है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें जीव मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है और उस जीवके ही अनुकूल निमित्तोके आधारपर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र होते है । परन्तु वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र उस जीवमें मिथ्यात्वकर्मके उदयके सद्भावमे नियमसे नही होते, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती कोई-कोई संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव यदि निमित्त मिलनेपर हृदयके अवलम्बनसे व्यवहारसम्यग्दर्शन और मस्तिष्कके अवलम्बनसे व्यवहारके सम्यग्ज्ञानको प्राप्त होते हैं, तो उनका क्रिया-व्यापार मिथ्याचारित्र रूप न होकर या तो अविरतिरूप होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेष देश अविरतिरूप होता है अथवा उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणोंमे प्रवृत्तिरूप होता है । फलत मेरी समझके अनुसार मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती संज्ञीपंचेन्द्रिय उन भव्य और अभव्य जीवोको जो कर्मबन्ध होता है वह या तो अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेष एकदेश अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणों में प्रवृत्तिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है । अतएव उस क्रिया-व्यापारके मिथ्याचारित्ररूप न होनेके कारण उनको होनेवाला कर्मबन्ध मिथ्याचारित्रके आधारपर नही होता है ।

यदि ऐसा न माना जावे तो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती अभव्य जीवोंको मिथ्याचारित्ररूप क्रिया-व्यापारके अभावमें जो क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोंकी प्राप्ति होती है एवं भव्य जीवोंको उक्त चार लब्धियोंके साथ जो करणलब्धिकी प्राप्ति होती है वह सब नही हो सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य जीव उस करणलब्धिके आधारपर जो दर्शनमोहनीय-कर्मकी तीन और चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी चार इसप्रकार सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम करता है, अथवा उक्त ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके साथ जो अप्रत्याख्याना-वरणचतुष्कका क्षयोपशम करता है अथवा इसके भी साथ जो प्रत्याख्यानावरणचतुष्कका क्षयोपशम करता है यह सब वह नहीं कर सकेगा। अतएव मानना पड़ता है कि भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें रहते हुए भी अनुकूल निमित्तोंका योग मिलनेपर व्यवहारसम्यग्दृष्टि और व्यवहारसम्यग्ज्ञानी होकर जब मिथ्याचारित्ररूप क्रियाव्यापार नही करते हैं तो वे यथायोग्य अविरत या देशविरत या महाव्रती हो जाते हैं एवं इस आधारपर ही अभव्य जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं तथा भव्य जीव उक्त लब्धियोंके साथ करण-लब्धिको भी प्राप्त कर लेते हैं।

समयसारकी गाथा २७५ से भी यही ध्वनित होता है कि अभव्य जीव भी धर्मका श्रद्धान करता है, उसका ज्ञान करता है, उसमें रुचि करता है और उसको अपनाता भी है। परन्तु उसकी अभव्यताके कारण वह भेदविज्ञानी नही हो सकता। अतएव उससे वह सांसारिक भोग ही पाता है। यद्यपि वह यह सब मोक्ष पानेकी भावनासे ही करता है, परन्तु वह जब भेदविज्ञानी नही होता, तो मोक्षमार्गी नही बन सकता।

इस विवेचनसे यही समझमें आता है कि अविरतिरूप क्रियाव्यापार करनेवाले व्यवहारसम्यग्दृष्टि और व्यवहारसम्यग्ज्ञानी प्रथम गुणस्थानवर्ती अभव्य जीव तथा अविरतिरूप क्रियाव्यापार करनेवाले प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके भव्य जीव जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे अविरतिरूप क्रिया व्यापारके आधारपर ही करते हैं तथा प्रथम गुणस्थान तकके वे ही भव्य जीव और प्रथमगुणस्थानसे लेकर पचमगुणस्थान तकके वे ही भव्यजीव देशविरत होनेपर जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे शेष एकदेशअविरतिरूप क्रियाव्यापारके आधार पर करते हैं एवं प्रथमगुणस्थानवर्ती वे ही अभव्य जीव और प्रथम गुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थान तकके वे ही भव्य जीव महाव्रती हो जानेपर जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर करते हैं। प्रथमगुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थान पर्यन्तके जीवोंमेंसे द्वितीय और तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवोंमे जो विशेषताएँ आगममें प्रतिपादित की गई हैं वे करणानुयोगकी अपेक्षासे ही है, चरणानुयोगकी अपेक्षासे नही, जबकि कर्मबन्धको व्यवस्था चरणानुयोगकी प्रक्रियापर हो आधारित है, क्योंकि जीवोंको जो कर्मबन्ध होता है वः क्रियाशील नोकर्मभूत मन, वचन और कायके अवलम्बनसे जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर ही होता है। इतना अवश्य है कि वह कर्मबन्ध मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक मिथ्या-चारित्ररूप क्रियाव्यापारके आधारपर भी होता है तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक अविरतिरूप या क्रियाव्यापारके आधारपर एकदेश अविरतिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर अथवा २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर होता है। वे अविरतिरूप या एकदेशअविरतिरूप या २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप सभी क्रियाव्यापार नियमसे व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक ही जीवोंमें पाये जाते हैं और ये सभी क्रियाव्यापार क्रियाशोल नोकर्मभूत मन, वचन और कायके आधारपर होनेवाले जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप ही हैं।

यद्यपि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान एवं व्यवहार सम्यग्ज्ञान ये सभी यथायोग्य नोकर्मभूत हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होने वाले जीवकी भाववती शक्तिके ही परिणमन है, परन्तु वे चरणानुयोगकी प्रक्रियामे ही अन्तर्भूत होते हैं।

उक्त विवेचनसे यह भी ज्ञात होगा है कि मिथ्याचारित्र और अविरतिरूप दोनों क्रियाव्यापारोंमें अन्तर है, क्योंकि जहाँ मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक होता है वहाँ अविरति व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है। जहाँ मिथ्याचारित्र आसक्तिवश होनेके कारण संकल्पी पाप माना जाता है वहाँ अविरति अशक्तिवश होनेके कारण आरम्भी पाप माना जाता है। मिथ्याचारित्र और अविरतिके अन्तरको इसप्रकार भी समझा जा सकता है कि मिथ्याचारित्रका सद्भाव प्रथमगुणस्थानमे ही रहता है क्योकि वह मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक ही होता है। इसके विपरीत अविरतिका सद्भाव व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेके कारण प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके जीवोंमे आगम द्वारा स्वीकार किया गया है।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर ही ऊपर बन्धके कारणोंमें मिथ्याचारित्र और अविरतिको पृथक्-पृथक् रूपमे ही सम्मिलत किया गया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कर्मबन्धमें कारणभूत मिथ्याचारित्र, अविरति, एकदेशअविरति और २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप सभी क्रियाव्यापार नोकर्मभूत मन, वचन और कायके अवलम्बनसे होनेवाले जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनोंके रूपमे योग ही हं। परन्तु ये सभी चारित्रमोहनीयकर्मकी उस-उस प्रकृतिके उदयमे यथायोग्य नोकर्मोंके अवलम्बनसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन स्वरूप राग और द्वेषसे प्रभावित रहते हैं एवं जबतक उनका प्रभाव उक्त योगोंपर बना रहता है तबतक उन योगोंके आधारपर कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नियमसे होते रहते है।

यत ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोंमें केवल स्वतन्त्र योग ही बन्धका कारण शेष रह जाता है, अत. उससे कर्मोंके केवल प्रकृति और प्रदेशबन्ध ही होते हैं, स्थिति और अनुभागबन्ध नही होते।

यद्यपि बन्धके कारणोंमे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानका ही समावेश है, परन्तु पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि वे दोनों कर्मोंके बन्धमें साक्षात्कारण नही होकर परंपरया ही कारण होते हैं, क्योकि उनकी बन्धकारणता बन्धके कारणभूत मिथ्याचारित्रका उत्पादन करना ही है। दूसरी बात यह है कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान ये दोनों जीवको भाववतीशक्तिके परिणमन है, इसलिए इनका कर्मबन्धके मूलकारणभूत जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप योगमें अन्तर्भाव नही होता है।

बन्धका साक्षात्कारण जो मिथ्याचारित्र है वह मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक ही होता है और उसका सद्भाव प्रथम गुणस्थानमें ही रहता है, आगेके गुणस्थानोंमे नही। बन्धके कारणोंमें जो अविरति और शेष एकदेश अविरति एवं २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमाद सम्मिलित है वे भी प्रथमगुणस्थानमें पाये जा सकते है, परन्तु वह अविरति जीवन-संरक्षणमें उपयोगी आरम्भी पापोंके रूपमे मानी जा सकती है, जीवनके लिए अनुपयोगी और हानिकर अनैतिक आचरणरूप संकल्पी पापोंके रूपमें नही, क्योंकि अनैतिक आचरणरूप संकल्पी पापोंका अन्तर्भाव मिथ्याचारित्रमे ही होता है।

अविरति तृतीय और चतुर्थ दोनों गुणस्थानोंमे समानरूपसे पायी जाती है, परन्तु तृतीय गुणस्थानमें पायी जानेवाली अविरतिमें यह विशेषता रहती है कि वहाँ उसका सद्भाव दर्शनमोहनीयकर्मके भेद सम्य-

मिथ्यात्वके उदयमें नोकर्मभूत हृदयके अवलम्बनसे होनेवाले व्यवहार सम्यग्मिथ्यात्वसे प्रभावित रहता है। इस अविरतिका उत्पादन प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोंमें व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही होता है।

द्वितीय गुणस्थानमें मिथ्यात्वकर्मके उदयका अभाव रहनेके कारण मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानका अभाव हो जानेसे यद्यपि मिथ्याचारित्रका अभाव पाया जाता है तथापि अनन्तानुबन्धी कर्मका उदय रहनेके कारण नोकर्मभूत मनके अवलम्बनपूर्वक जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग या द्वेषपूर्वक अनैतिक आचाररूप संकल्पीपापके रूपमें अविरति वहाँ भी पायी जाती है। व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्य-ग्ज्ञानका अभाव रहनेके कारण आरम्भी पापरूप अविरतिका वहाँ अभाव ही माना जा सकता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवमें आरम्भी पापरूप अविरति तो रहती ही है परन्तु एकदेश अविरति या २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमादका सद्भाव भी वहाँ संभव है। इसी प्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती जीवमें एकदेश अविरति तो रहती है, परन्तु उसमें २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमाद भी सम्भव है। षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवमें बन्धका कारण केवल २८ मूलगुणोंमें प्रवृत्तिरूप प्रमाद ही पाया जाता है और वह वहाँ नियमसे पाया जाता है।

सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोंमें बन्धका कारण सञ्ज्वलन कषायके यथायोग्य मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपमें होनेवाले उदयके आधारपर यथायोग्य नोकर्मोंके अवलम्बनसे जीवकी भाव-वतीशक्तिके परिणमनस्वरूप यथासम्भव राग और द्वेषसे प्रभावित मानसिक, वाचनिक और कायिक योग ही होता है और वहाँ उसका सद्भाव अव्यक्तरूपमें ही पाया जाता है।

इस लेखके अन्तमें मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि श्री प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनीका एक लेख "कर्मबन्ध और उसके कारणोंपर विचार" शीर्षकमें "वीरवाणी" पत्रिकाके वर्ष ४०, अंक ९ व संयुक्त अंक ११-१२ में प्रकाशित हुआ है। उसमें प० जीने कुछ विषयको संशयरूपमें, कुछ विषयको अनध्य-वसाय एवं कुछ विषयको विपर्ययरूपमें भी निबद्ध किया है उसका समाधान भी मेरे इस लेखसे हो सकता है, ऐसा विश्वास है।

आगममें कर्मबन्धके कारण

समयसारमें बन्धके कारणोंका उल्लेख :

> सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
> मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
> तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो ।
> मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥

इन दो गाथाओंमे आचार्य कुन्दकुन्दने सामान्यतया मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारके रूपमे बन्धके कारणोंका उल्लेख किया है। तथा विस्तारसे मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली इन तेरह गुणस्थानोंके रूपमें कथन किया है।

इसका आशय यह है कि मिथ्यात्वादि चार बन्धके साधकतम कारण है और मिथ्यादृष्टि आदि तेरह गुणस्थान बन्धके अवलम्बन कारण हैं। अर्थात् जीवोके जो कर्मबन्ध होता है वह मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके द्वारा होता है तथा वह तेरह गुणस्थानोमें स्थित जीवोंमें यथायोग्य रूपमे होता है।

बन्धका मूलकारण योग

जीवमें कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाके आधारपर जो हलन-चलन रूप क्रियाव्यापार होता है वह योग है। वह योग जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणाम है और प्रथम गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थान तकके जीवोंमे प्रतिक्षण होता रहता है। वह एकेन्द्रिय जीवोमे कायवर्गणाके अवलंबनसे, द्वीन्द्रियसे लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोमे कायवर्गणा और वचनवर्गणाके अवलम्बनसे तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंमे काय, वचन और मन इन तीनो वर्गणाओंके अवलम्बनसे पृथक्-पृथक् होता है।

योगका कार्य

लोकमे व्याप्त ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारकी कर्मवर्गणाओका उक्त सभी योगोके आधारपर आस्रव होकर वे कर्मवर्गणाएं, जो जीवके साथ सम्बद्ध होती हैं उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं और प्रत्येक कर्मवर्गणा जितने परिमाणमे जीवके साथ बद्ध होती है उसे प्रदेशबन्ध कहते है। इस तरह योगका कार्य प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध निर्णीत है।

गुणस्थानोंमे योगोंकी विशेषता

आठों कर्मोकी आगममे १४८ प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं। उनमेसे सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन दोको छोडकर शेष १४६ प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य मानी गयी है। इनमेंसे प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोमें योगकी प्रतिकूलताके कारण नामकर्मकी तीर्थंकर, आहारकशरीर, आहारकबन्धन, आहारकसंघात और आहारकआंगोपांग इन पाँच प्रकृतियोंका बन्ध नही होता। फलत. प्रथम गुणस्थानमे १४१ प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य मानी गयी हैं।

मिथ्यात्वगुणस्थानमें बन्धयोग्य उन १४१ प्रकृतियोंमेंसे द्वितीय गुणस्थानमें १२५ प्रकृतियाँ ही बन्ध योग्य है, क्योंकि मिथ्यात्व, हुण्डकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय), नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी

और नरकायु इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध योगकी अनुकूलताके कारण प्रथम गुणस्थानमें ही सम्भव है, योगकी प्रतिकूलताके कारण द्वितीय आदि गुणस्थानोंमे सम्भव नही है।

द्वितीय गुणस्थानमे बन्धयोग्य १२५ प्रकृतियोंमेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक और वामनसंस्थान, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच और कीलितसंहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु और उद्योत इन पच्चीस प्रकृतियोका बन्ध योगकी प्रतिकूलताके कारण द्वितीय गुणस्थान तक ही सम्भव है, योगकी प्रतिकूलताके कारण तृतीय आदि गुणस्थानोमे सम्भव नही है। तथा योगकी प्रतिकूलताके कारण आयुर्बन्ध न होनेसे मनुष्यायु और देवायुका भी बन्ध तृतीय गुणस्थानमे सम्भव नही है। अत. तृतीय गुणस्थानमे ९८ प्रकृतियोका ही बन्ध सम्भव है।

यत तृतीय गुणस्थानमें बन्धयोग्य ९८ प्रकृतियोंका योगकी अनुकूलताके कारण चतुर्थ गुणस्थानमे भी बन्ध सम्भव है। तथा योगकी अनुकूलताके कारण तीर्थंकर प्रकृति, मनुष्यायु और देवायुका भी बन्ध चतुर्थ-गुणस्थानमे सम्भव है। अत चतुर्थगुणस्थानमे १०१ प्रकृतियाँ बन्धयोग सिद्ध होती है।

चतुर्थ गुणस्थानमे बन्धयोग प्रकृतियाँ १०१ मानी गयी है। इनमे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, वज्रर्षभनाराचसंहनन, औदारिकशरीर, औदारिकबन्धन, औदारिकसघात और औदारिक-अङ्गोपांग तथा मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु इन बारह १२ प्रकृतियोका बन्ध योगकी अनुकूलताके कारण चतुर्थ गुणस्थानतक ही सम्भव है, योगकी प्रतिकूलताके कारण पंचम आदि गुणस्थानोमे सभव नही है। अत पंचम गुणस्थानमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ ८९ सिद्ध होती है।

पचमगुणस्थानमे बन्धयोग्य इन ८९ प्रकृतियोंमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका षष्ठगुणस्थानमे बन्ध सम्भव नही है, अत इस षष्ठगुणस्थानमे योगकी अनुकूलताके कारण ८५ प्रकृतियोंका ही बन्ध सम्भव है।

षष्ठ गुणस्थानमें बन्धयोग्य पचासी ८५ प्रकृतियोमेसे अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशःकीर्ति, अरति और शोक इन छह प्रकृतियोंका बन्ध योगकी प्रतिकूलताके कारण सप्तम गुणस्थानमें सम्भव नहीं है। साथ ही योगकी अनुकूलताके कारण आहारकशरीर, आहारबन्धन, आहारकसंघात और आहारकअंगोपांगका बन्ध सम्भव है, अत. सप्तम गुणस्थानमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ ८३ सिद्ध होती है।

सप्तम गुणस्थानमे बन्धयोग्य ८३ प्रकृतियोमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण देवायुका बन्ध अष्टम गुणस्थानमे सम्भव नही है, अत अष्टम गुणस्थानमे बियासी ८२ प्रकृतियोका ही बन्ध सम्भव है।

अष्टम गुणस्थानमे बन्धयोग्य इन बियासी ८२ प्रकृतियोंमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण सर्वप्रथम निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोका बन्ध समाप्त होता है। इसके पश्चात् तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पंचेन्द्रियजाति, तैजसशरीर, तैजसबन्धन और तैजससंघात, कार्मणशरीर, कार्मणबन्धन और कार्मणसंघात, आहारकशरीर, आहारकबन्धन, आहारक संघात और आहारकअंगोपांग, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकबन्धन, वैक्रियिकसंघात और वैक्रियिक अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, स्पर्शनामकर्मके आठ भेद (हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, ठंडा, और गरम) रसनामकर्मके पाँच भेद (खट्टा, मीठा, कडुआ, कसायला और चरपरा), गंधनामकर्मके दो भेद (सुगन्ध और दुर्गन्ध) वर्णनामकर्मके पाँच भेद (काला, पीला, नीला, लाल और सफेद), अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक-

शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय इन चौवन (५४) प्रकृतियोका बन्ध समाप्त होता है और अन्तमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार (४) प्रकृतियोका बन्धविच्छेद होता है। इस तरह नवम गुणस्थानमें बन्धयोग्य प्रकृतियाँ बाईस (२२) रह जाती है।

नवम गुणस्थानमें बन्धयोग्य बाईस (२२) प्रकृतियोंमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण क्रमसे पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन पाँच प्रकृतियोका बन्ध समाप्त हो जानेसे दशम गुणस्थानमें योगकी अनुकूलताके कारण बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १७ सिद्ध होती हैं।

दशम गुणस्थानमें बन्धयोग्य १७ प्रकृतियोंमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण ज्ञानावरणकर्मकी ५ दर्शनावरण कर्मकी ४, अन्तरायकर्मकी ५ तथा उच्चगोत्र और यशःकीर्ति इन १६ प्रकृतियोंका बन्धाभाव होनेपर ११वें गुणस्थान उपशान्तमोह, १२वें गुणस्थान क्षीणमोह और १३वें गुणस्थान सयोगकेवलीमें योगकी अनुकूलताके कारण एक मात्र सातावेदनीय प्रकृतिका बन्ध होता है। तथा १४वें गुणस्थानमें योगका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण कर्मबन्धका सर्वथा अभाव ही है।

इस विवेचनका आशय यह है कि जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमे विद्यमान आकर्षणशक्तिके आधारपर आकृष्ट होकर लोहेकी सुई चुम्बक पत्थरके साथ सम्बद्ध हो जाती है उसी प्रकार जीवमे विद्यमान योगकी अनुकूलताके आधारपर कर्मप्रकृतियोंका आस्रव होकर वे कर्मप्रकृतियां जीवके साथ बन्धको प्राप्त होती हैं।

योगकी अनुकूलता और प्रतिकूलताका आधार :

कर्मप्रकृतियोंके बन्धमें योगकी अनुकूलताको जो कारण माना गया है उसका आधार मोहनीयकर्मके उदयके साथ अन्य कारणसामग्री है। और उनके बन्धाभावमें योगकी प्रतिकूलताको जो कारण माना गया है उसका आधार मोहनीयकर्मके उपशम, क्षयोपशम या क्षयके साथ अन्य कारणसामग्री है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड और इस लेखका समन्वय

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस लेखमें बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १४६ कही गयी हैं, जबकि गोम्मटसार कर्मकाण्डमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० बतलाई गयो है। इन दोनों कथनोंका समन्वय इसप्रकार करना चाहिए कि गोम्मटसार कर्मकाण्डमे जो १२० प्रकृतियाँ बन्धयोग्य बतलाई हैं उनमें बन्धकी समानताके कारण ८ स्पर्शोको स्पर्शसामान्यमें, ५ रसोंको रससामान्यमे, २ गंधोंको गन्धसामान्यमे और ५ वर्णोंको वर्णसामान्यमें अन्तर्भूत कर लिया गया है। तथा एक साथ बन्ध होनेके कारण औदारिकशरीरमे औदारिकबंधन और औदारिक संघातको, वैक्रियिकशरीरमे वैक्रियिकबंधन और वैक्रियिकसंघातको, आहारकशरीरमें आहारकबन्धन और आहारकसंघातको, तैजसशरीरमें तैजसबन्धन और तैजससंघातको तथा कार्मणशरीरमे कार्मणबन्धन और कार्मणसंघातको समाहित कर लिया गया है। इसलिये बद्ध्यमान प्रकृतियाँ वास्तवमें १४६ होनेपर भी गोम्मटसार कर्मकाण्डमे उक्त प्रकार अभेदसे (अभेद विवक्षासे) १२० कही गयी हैं। फलत वास्तविकताके आधारपर इस लेखमें बन्धयोग्य प्रकृतियोंकी संख्या १४६ बतलाना गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनके विरुद्ध नही है। इसीप्रकार प्रकृतियोंके बन्धनके समान अबन्ध और बन्धव्युच्छित्तिकी व्यवस्थामें गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनके साथ इस लेखमें पाये जानेवाले संख्याभेदका भी समन्वय कर लेना चाहिए।

यह भी यहाँ ज्ञातव्य है कि यद्यपि जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती कहा गया है और मिथ्यात्वगुणस्थानमें बन्धयोग्य १४१ प्रकृतियोंमें १६ प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थानमें ही होता है, अन्य गुणस्थानोंमें नहीं, परन्तु यह नियम नहीं है कि उन १६ प्रकृतियोंका बन्ध इस गुणस्थानमें

प्रत्येक जीवके होता ही है, क्योंकि ऐसा नियम स्वीकार करनेपर नरकायुका बन्ध प्रत्येक मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवके होनेका प्रसंग आयेगा, जो कर्मसिद्धान्तके विरुद्ध है। यत: कर्मसिद्धान्तमें इस गुणस्थानमें चारों आयुओंका बन्ध स्वीकार किया गया है। साथ ही यह भी कर्मसिद्धान्तमें माना गया है कि एक आयुका बन्ध होनेपर जीवके दूसरी आयुका बन्ध उसी भवमें नहीं होता। तथा प्रथमगुणस्थानवर्ती, देव और नारकीको नरक आयुका बन्ध कदापि नही होता है।

दूसरी बात यह है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवमे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोंका बन्ध तभी तक होता है जब तक वह व्यवहारमिथ्यादर्शन (अतत्त्वश्रद्धान) और व्यवहारमिथ्याज्ञान (अतत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्याआचरण करता है और जीव यदि व्यवहारसम्यग्दर्शन (तत्त्व श्रद्धान) और व्यवहारसम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्याआचरणको छोडकर अविरतिरूप या एकदेशअविरतिरूप या महाव्रतोंमें प्रवृत्तिरूप आचरण करने लगता है तो उस समय उसके मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोंका बन्ध नही होता। यदि ऐसा न माना जाये तो समयसार गाथा २७५ के अनुसार अभव्य जीव तत्त्वश्रद्धानी और तत्त्वज्ञानी होकर जो अविरति-रूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोंमें प्रवृत्तिरूप आचरण करता है और उसके आधारपर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोको भी प्राप्त कर लेता है, यह जो आगमका कथन है वह अयुक्त हो जायेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि ऐसा अभव्य जीव नवम ग्रैवेयक तक जन्म लेकर स्वर्ग-सुखका उपभोग करता है, यह कथन भी अयुक्त हो जायेगा।

इससे यह निर्णीत होता है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती तो है, परन्तु जब तक मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक मिथ्या आचरण करता रहता है तभीतक उसके मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोंका बन्ध होता है और यदि वह जीव व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूप आचरण करने लगता है तो उस समय वह मिथ्यात्वकर्मका उदय रहते हुए भी मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियोका बन्ध नही करता है, भले ही वह जीव अभव्य ही क्यो न हो, क्योंकि बन्धका आधार चरणानुयोगकी पद्धति है, करणानुयोगकी पद्धति नही।

तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकारके जीव करणानुयोगको पद्धतिके अनुसार मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती होते हुए भी चरणानुयोगको पद्धतिके अनुसार जबतक व्यवहार मिथ्यादर्शन (अतत्त्व श्रद्धान) और व्यवहार मिथ्याज्ञान (अतत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्या आचरण करते है तभीतक वे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध करते है और यदि वे व्यवहारसम्यग्दर्शन (तत्त्वश्रद्धान) और व्यवहारसम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) पूर्वक अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूप आच-रण करने लगते है तो वे उन प्रकृतियोंका बन्ध नही करते हैं, क्योकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि ऐसा न माननेपर अभव्य जीव स्वर्गसुखमे कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंकी प्राप्ति नही कर सकेगा। और न भव्य जीव उक्त चारों लब्धियोंकी प्राप्तिके पश्चात् भेदविज्ञानपूर्वक करण लब्धिको प्राप्त कर सकेगा। और इस तरह इससे मोक्षप्राप्तिकी प्रक्रिया ही समाप्त हो जायेगी। इस विवेचनपर उन महानुभावोंको ध्यान देना चाहिए, जो मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों-का बन्ध नियमसे मानते है।

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोंका बन्ध तभी होता है जब जीव व्यवहारमिथ्यादर्शन (अतत्त्व श्रद्धान) और व्यवहार मिथ्याज्ञान (अतत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्या आचरण

करता है, अन्यथा नहीं । इतना उल्लेखयोग्य है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोंका बन्ध न होते हुए भी जो उसका उदय रहता है उसका कारण पूर्वमें बद्ध मिथ्यात्वकर्मकी सत्ता है ।

स्थितिबंध और अनुभागबधकी व्यवस्था

अभी तक जितना विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि बन्धका मूल कारण नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाला जीवकी क्रियावतीशक्तिका हलन-चलन-क्रियाव्यापाररूप योग ही है । यतः वह योग प्रथम गुणस्थानसे लेकर त्रयोदश गुणस्थान तकके जीवोंमें प्रतिक्षण यथायोग्यरूपमें होता रहता है, अतः कर्मबन्ध भी उन सभी जीवोंमे प्रतिक्षण होता रहता है और वह प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके रूपमें दो प्रकार का होता है ।

आगममें बतलाया गया है कि कर्मबन्ध प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधके अलावा स्थितिबंध और अनुभागबंधरूप भी होता है, अतः कर्मबंधके प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके रूपमें चार भेद माने गये हैं ।

कर्मबन्धका जीवके साथ यथायोग्य नियतकाल तक बना रहना स्थितिबन्ध है और कर्मोंमें जीवको फल देनेकी शक्तिका विकास होना अनुभागबंध है ।

जिस प्रकार प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबंध ये दोनों योगके आधारपर होते हैं उसी प्रकार स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध ये दोनों कषायके आधारपर होते हैं । इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है :—

मोहनीयकर्मके आगममे दो भेद कहे गये है—१. दर्शनमोहनीय और २. चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीयकर्मके तीन भेद हैं १ मिथ्यात्व २. सम्यग्मिथ्यात्व और ३. सम्यक्त्वप्रकृति । चारित्रमोहनीयकर्मके दो भेद हैं—१. कषायवेदनीय २ अकषायवेदनीय । कषाय-वेदनीयकर्मके मूलत चार भेद—१. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ । ये चारो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके रूपमें चार-चार प्रकारके है । तथा इनके उदयमे नोकर्मोंके सहयोगसे कर्मबन्धके कारणभूत एवं जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप कषायभाव होते हैं तथा वे यदि क्रोध या मानरूप हों तो उन्हें द्वेष कहते है और यदि माया या लोभरूप हो तो उन्हे राग कहते हैं। इस प्रकार कर्मोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कारण यथायोग्य नोकर्मोकी सहायतापूर्वक होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग और द्वेषरूप कषायभाव ही हैं ।

आगममे अकषायवेदनीय-चारित्रमोहनीयकर्मके जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुसक वेद ये नौ भेद कहे गये हैं उन्हें राग और द्वेषरूप कषायभावोके सहायक कर्म जानना चाहिए ।

कर्मबन्धकी प्रक्रिया

मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिनामधारी प्रथमगुणस्थानवर्ती जीवको भाववतीशक्तिके यथायोग्य नोकर्मोंके सहयोगसे व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानरूप परिणमन होते हैं व उनके होनेपर यथायोग्य नोकर्मोंके सहयोगसे ही उसकी क्रियावतीशक्तिका मिथ्या-आचरण (मिथ्याचारित्र) रूप परिणमन होता है, जो कर्मबन्धका कारण होता है । यत. वह मिथ्या आचरण अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयमें होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग व द्वेषरूप कषायभावोंसे प्रभावित रहता है, अतः उस आचरणके आधारपर कर्मोंके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी होते हैं ।

अर्थात् वह आचरण योगरूप होनेसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण होता है व वह नियमसे जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग या द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है, इसलिए कर्मोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका भी कारण होता है।

इसी प्रकार वह आचरण यत. व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानपूर्वक होता है, उनके अभावमें नहीं होता और वह व्यवहारमिथ्यादर्शन व व्यवहारमिथ्याज्ञानपूर्वक नियमसे होता है, अत. उक्त बन्धोंमें मिथ्याआचरणके साथ व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञान भी परम्परया कारण होते हैं तथा मिथ्याआचरण साक्षात् कारण होता है।

पहले बतलाया जा चुका है कि कर्मबन्ध चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार होता है, करणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार नही। अत' मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टिनामधारी प्रथमगुणस्थानवर्ती जीव यदि अनुकूल निमित्तोका सहयोग मिलनेपर व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर ले तो उसका आचरण मिथ्यारूप न होकर अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोंमे प्रवृत्तिरूप ही होता है, जिससे वह जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय रहते हुए भी मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध नही करता है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मिथ्यारूप आचरण, अविरतिरूप आचरण, एकदेश-अविरतिरूप आचरण और महाव्रतोंमें प्रवृत्तिरूप आचरण—ये चारों योगके समान जीवकी क्रियावतीशक्तिके ही परिणमन हैं। इनमें जो विशेषता है वह यह है कि मिथ्या-आचरण अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होने-वाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। अविरतिरूप आचरण अप्रत्याख्यानावरण कर्मके उदयमे नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग-द्वेष-रूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। एकदेश अविरतिरूप आचरण प्रत्याख्यानावरणकर्मके उदयमे नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। और महाव्रतोंमें प्रवृत्तिरूप आचरण संज्वलनकर्मके तीव्र उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववती-शक्तिके परिणमन राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। फलत उक्त चारो आचरण योगके समान जीवकी क्रियावतीशक्तिके नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले हलन-चलन रूप क्रियाव्यापार रूप होनेसे कर्मोंके प्रकृति-बन्ध और प्रदेशबंधके कारण होते हैं व जीवको भाववतीशक्तिके नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित होनेके कारण स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके भी कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त चारों प्रकारके आचरणोमेंसे प्रत्येक आचरण उक्त चारो बन्धोंका कारण है। यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि अनन्तानुबन्धीकर्मके उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे जीवको क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो आचरण होता है वह आसक्तिवश होनेवाला संकल्पी पाप है।

अनन्तानुबन्धीकर्मका उदय प्रथम और द्वितीय इन दो गुणस्थानोंमें स्थित जीवोंके होता है। विशेषता यह है कि प्रथमगुणस्थानवर्ती जीवका यह आचरण दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे यथायोग्य नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहार-मिथ्याज्ञानपूर्वक होता है। अतः उसके आधारपर वह प्रथमगुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों-का बन्ध करता है। यतः द्वितीयगुणस्थानवर्ती जीवका वह आचरण व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहार-मिथ्याज्ञानपूर्वक नही होता, क्योंकि द्वितीय गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम विद्यमान रहनेके कारण मिथ्यात्वकर्मके उदयका अभाव रहता है, अत वह द्वितीयगुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोंका बन्ध नही करता है और क्योंकि उस जीवमें अनन्तानुबन्धीकर्मके उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे क्रियावतीशक्ति-

के परिणमन स्वरूप संकल्पी पापरूप आचरण होता ही रहता है। अतः उस आचरणके आधार पर वह जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ आदि २५ प्रकृतियोंका बन्ध अवश्य करता है।

तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोंमें स्थित जीवोंमें नियमसे अप्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय रहता है, अतः उस उदयमें उक्त दोनों गुणस्थानवर्ती जीव निमित्तोंके सहयोगसे अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो आचरण करते हैं वह अशक्तिवश होनेवाला आरम्भी पाप है व उसीका नाम अविरति है।

वह अविरति तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवमें दर्शनमोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्रभाव होता है उसके अनुसार ही कर्मबंधका कारण होती है तथा चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवमे यतः दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबंधीकर्मकी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षयोपशम या क्षय विद्यमान रहता है, अतः वह अविरति उन कर्मोंके उदयकी अपेक्षाके बिना ही कर्मबन्धका कारण होती है। यही कारण है कि जहाँ तृतीयगुणस्थानवर्ती जीव ९८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है वहाँ चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव तीर्थंकर, मनुष्यायु और देवायुके साथ उन ९८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है। तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवमें तीर्थंकर, मनुष्यायु और देवायु इन प्रकृतियोका बन्ध इसलिए नही होता कि कर्मसिद्धान्तमे इस गुणस्थानमें उनके बन्धका निषेध किया गया है और चतुर्थगुणस्थानमे इसलिए उनका बन्ध होना है कि कर्मसिद्धान्तमे उसमें इन प्रकृतियोंके बंधका विधान किया गया है। तीर्थंकरप्रकृतिका बंध चतुर्थ गुणस्थानमें इसलिए होना है कि उसका बंध कर्मसिद्धान्तके अनुसार निश्चयसम्यग्दृष्टि जीवके ही होता है।

पंचम गुणस्थानवर्ती जीवमें अप्रत्याख्यानावरणकर्मके क्षयोपशमके साथ प्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय रहता है, अत वहाँ उस उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियावतीशक्तिकी परिणतिस्वरूप एकदेश अविरति ही बन्धका कारण होती है।

षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण दोनों कर्मोंके क्षयोपशमके साथ संज्वलन कषायका तीव्रोदय रहता है। अतः उस उदयमे नोकर्मोंके सहयोगसे जीवकी क्रियावतीशक्तिका प्रमादरूप परिणाम ही बन्धका कारण होता है।

सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तकके जीवोमे संज्वलनकषायका उत्तरोत्तर मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपसे उदय रहता है और उस उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे अव्यक्तरूपमें जीवकी क्रियावतीशक्तिका जो परिणाम होता है वही वहाँ बंधका कारण होता है।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थानसे लेकरके षष्ठ गुणस्थानतक होनेवाला यथायोग्य मिथ्यात्वरूप, अविरतिरूप, एकदेश अविरतिरूप और महाव्रतोंमे प्रवृत्तिरूप जीवकी क्रियावतीशक्तिका जो व्यक्तरूपमें परिणमन होता है वह परिणमन कर्मोंके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों बंधोंका कारण होता है। तथा सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोंमें जीवकी क्रियावतीशक्तिका जो अव्यक्तरूपमें परिणमन होता है वह भी कर्मोंके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग इन चारो प्रकारके बंधोका कारण होता है क्योंकि ये सभी परिणाम यथायोग्य उस-उस कषायके उदयमें होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहते हैं। ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोंमें जीवकी क्रियावतीशक्तिका योगरूप

परिणमन ही मात्र प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण होता है। यतः १४वें गुणस्थानमें योगका सर्वथा अभाव रहता है, अतः वहाँ उस जीवमें कर्मबन्धका भी सर्वथा अभाव रहता है।

इसके अतिरिक्त प्रथम गुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थानतकके जीवोमें व्यक्तरूपमें और सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोंमें अव्यक्तरूपमें जीवकी क्रियावतीशक्तिका जो पुण्यकर्मरूप व्यापार होता रहता है वह भी यथायोग्य उस-उस कषायके उदयमें होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग या द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित होनेसे जीवकी क्रियावतीशक्तिका परिणाम है व उसके आधारपर भी उन जीवोंमें कर्मोंका प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारका बन्ध होता है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानको कर्मबन्धका परम्परया कारण माना गया है उस प्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानको कर्मबन्धका साक्षात् या परम्परया कारण नही माना जा सकता है, क्योंकि व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान कर्मबन्धके कारण न होकर उसके अभावके ही कारण होते है। अतएव चतुर्थ गुणस्थानमें मात्र अविरति ही कर्मबन्धका कारण होती है व पंचम गुणस्थानमें मात्र एकदेश अविरति ही कर्मबन्धका कारण होती है तथा षष्ठ गुणस्थानमें मात्र महाव्रतोंमें प्रवृत्तिरूपता ही कर्मबन्धका कारण होती है।

निष्कर्ष :

प्रथमगुणस्थानवर्ती जीव इसलिए अज्ञानी है कि उसके मिथ्यात्वकर्मका उदय रहता है और तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव इसलिए अज्ञानी है कि उसके सम्यग्मिथ्यात्वकर्मका उदय रहता है। यद्यपि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीवमें दर्शनमोहनीयकर्मकी प्रकृतियोका उपशम रहता है, परन्तु वह जीव अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयमें आसक्तिवश संकल्पीपाप भी करता रहता है। इसलिए उसे ज्ञानी नही कहा जा सकता है, उसे भी आगममें अज्ञानी ही कहा गया है। समयसार गाथा ७२ की आत्मख्यातिटीकामे स्पष्ट लिखा है कि जो जीव भेदज्ञानी होकर भी आस्रवोमें प्रवृत्त रहता है उसे भेदविज्ञानी नही कहा जा सकता है और यही कारण है कि जीवको निश्चयसम्यग्दृष्टि बननेके लिए दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम या क्षयके साथ अनन्तानुबन्धीकर्मके उपशम या क्षयको भी कारण माना गया है। फलतः चतुर्थगुणस्थानमे जीवको होनेवाले कर्मबन्धमें मात्र अविरति ही कारण होती हैं, पंचमगुणस्थानमें जीवको होनेवाले कर्मबन्धमे मात्र एकदेश अविरति ही कारण होती है और षष्ठ गुणस्थानमें जीवको होनेवाले कर्मबन्धमे मात्र महाव्रतोंमें प्रवृत्तिरूपता ही बन्धका कारण होती है, क्योंकि जबतक जीव अज्ञानधारामे वर्तमान रहता है तबतक ही उस जीवके कर्मबन्धमे व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानको कारण माना गया है और जब जीव ज्ञानी हो जाता है अर्थात् निश्चयसम्यग्दृष्टि हो जाता है तो केवल अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोंमे प्रवृत्तिरूप कर्मधारा ही जीवके कर्मबन्धमें कारण होती है। इसी तरह सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोंके जो कर्मबन्ध होता है वह भी कर्मधाराके आधारपर ही होता है, इसलिए सप्तम गुणस्थानसे दशम गुणस्थानतक जीवोंमें ज्ञानधाराके साथ कर्मबन्धमें कारणभूत कर्मधाराका सद्भाव स्वीकार किया गया है। इस विवेचनसे यह भी स्पष्ट है कि प्रथम गुणस्थानसे तृतीय गुणस्थानतकके जीवोंमे अज्ञानधारापूर्वक कर्मधारा बन्धकी कारण होती है व चतुर्थ गुणस्थानसे षष्ठ गुणस्थानतकके जीवोंमें व्यक्तरूपसे व सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोंमे अव्यक्तरूपसे मात्र क्रियाधारा ही यथायोग्य राग-द्वेषरूप कषाय भावोंसे प्रभावित होती हुई कर्मबन्धका कारण होती है। इत्यलम्।

●

गोत्रकर्मके विषयमें मेरा चिन्तन

८ अगस्त सन् १९५७ के जैनसंदेशमें श्रीब्रह्मचारी पं० रतनचंदजी सहारनपुर द्वारा परिचालित "शंका-समाधान" प्रकरणमे निम्न प्रकार शंका और उसका समाधान किया गया था।

"शंका१—नीच-उच्चगोत्र जन्मसे है या कर्मसे ? क्या बौद्धधर्ममें दीक्षित शूद्र ५० साल पश्चात् उच्चगोत्री न माने जायेंगे ? अव्रत रहते हुए भी क्या गोत्र बदल सकता है ?

समाधान—षट्खण्डागम पुस्तक १३, पृष्ठ ३८८ पर उच्चगोत्रके कार्यके विषयमें यह शंका उठाई गयी है कि उच्चगोत्रका कार्य राज्यादि संपदाकी प्राप्ति, महाव्रतों, अणुव्रतों तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति, इक्ष्वाकु कुल आदिमें उत्पत्ति नही है क्योंकि इनसे अन्यत्र जीवमें भी उच्चगोत्रका उदय पाया जाता है। इसलिये उच्चगोत्र निष्फल है, उसमे कर्मपना भी घटित नहीं होता ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेन स्वामीने लिखा है (१) उच्चगोत्र न माननेसे जिन वचन (आगम) से विरोध आता है, (२) केवलज्ञानद्वारा विषय किये गये सभी अर्थोंमे छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नही होते है। यदि छद्मस्थोको कोई अर्थ उपलब्ध नही होते हैं तो इससे जिनवचनोको अप्रमाण नही कहा जा सकता। (३) गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नही है क्योंकि जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचार वालोंके साथ जिन्होंने संबन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इसप्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारके निमित्त है—उन पुरुषोकी परम्पराको उच्चगोत्र कहा जाता है तथा उनमे उत्पत्तिका कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है।

षट्खण्डागमकी धवलाटीकाके इस कथनसे यह बात स्पष्ट है कि हमको उच्चगोत्रके विषयमें विशेष जानकारी नही है। इसपर भी जन्मसे उच्चगोत्र कहा है तथा कहीपर कर्मसे भी। जैन चक्रवर्तीके संबंधी म्लेच्छखण्डी जो चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमे आकर दीक्षित हो गये थे वे कर्मसे उच्चगोत्र वाले है। बौद्धधर्ममें दीक्षित शूद्र ५० साल पश्चात् उच्चगोत्री नही हो सकता। अव्रत रहते हुए गोत्र-परिवर्तन नही हो सकता, ऐसा समझमे आता है।"

मैंने जो शंका-समाधानका यह अवतरण यहाँपर दिया है, उसका कारण यह है कि पाठक प्रत्येक बातको ठीक तरहसे समझ सकें। मेरा सामान्यरूपसे ख्याल यह है कि विद्वान वस्तुतत्त्वके निर्णयमे आगमकी अपेक्षा तर्कसे काम लें और उसका आगमके साथ केवल आवश्यक समन्वय मात्रका ध्यान रखें, तो संस्कृति सबंधी बहुत-सी गुत्थियाँ अनायास सुलझ जावेंगी, इस तरह विद्वान् संस्कृति और समाजके महान् उपकारक सिद्ध होंगे।

कर्मसंबंधी गुत्थी भी बडी जटिल है। उसके एक अंश गोत्रके विषयमे यहाँपर विचार किया जा रहा है। समयानुसार अन्तराय आदि दूसरे अंशोपर भी विचार किया जायगा।

गोत्रकर्मपर विचार करनेसे पहले मैं पाठकोको एक बात सुझाना चाहता हूँ कि फल देनेमे कर्मके लिये नोकर्म सहायता प्रदान करता है। आगममे भी नोकर्मको कर्मका सहायक कर्म माना गया है, इसका अभिप्राय यही है कि कर्म जीवको अपना फल देनेमें नोकर्मके साहाय्यकी अपेक्षा रखता है।

यह बात इतनी स्पष्ट होते हुए भी आधुनिक और बहुतसे भूतकालीन विद्वानोंने इस सिद्धान्तको मान्यता दे रखी है कि कर्म और नोकर्ममे भी कार्य-कारणभाव है अर्थात् जीवको कर्मफल भोगनेमें नोकर्मका

समागम भी कर्मसे ही प्राप्त होता है। जैसे—साता और असाता वेदनीय कर्मोंका कार्य जीवको क्रमशः साता और असाताका अनुभव कराना है। लेकिन विद्वान् मानते हैं कि साता और असातारूप अनुभवनके अनुकूल साधनोंको जुटाना भी क्रमशः साता और असाता वेदनीय कर्मोंका ही कार्य है।

यहाँपर हमें (विद्वानोंको) कम-से-कम यह तो सोचना चाहिये कि जब साता और असाता वेदनीय कर्म जीवको अपना फल सहायक साधनोंके अभावमें नहीं दे सकते हैं तो फिर सहायक साधनोंको जुटाना साता और असाता वेदनीय कर्मोंका कार्य कैसे माना जा सकता है? कारण कि सहायक साधनोंको जुटाना कर्मका फल मान लेनेसे उक्त मान्यताके अनुसार उसमें भी सहायक साधनोंके समागमकी आवश्यकता उत्पन्न हो जायगी, इस तरह साता और असाता वेदनीय कर्मोंके कार्यमें अनवस्थिति दोषका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसलिये यही मानना उचित है कि सहायक साधनोंको जुटाना साता और असाता वेदनीय कर्मोंका कार्य नहीं है, बल्कि स्वपुरुषार्थ या परपुरुषार्थसे अथवा अन्य प्रकारसे अनायास ही जीवको जब साता-सामग्री या असाता सामग्री प्राप्त हो जाती है, तब साता और असाता वेदनीय कर्म जीवको अपना फल साता और असाताके रूपमें देने लगते हैं। बस! यही बात उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्मोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्मोंका कार्य जीवमें क्रमशः उच्चता और नीचताका व्यवहार कराना है। परन्तु उच्चगोत्र कर्म जीवमें उच्चताका व्यवहार करानेके लिये उसके (जीवके) उच्चकुलमें पैदा होने अथवा उसकी (जीवकी) उच्च आचाररूप प्रवृत्ति होने रूप सहायक साधनोंकी अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार नीचगोत्रकर्म जीवमें नीचताका व्यवहार करानेके लिये उसके (जीवके) नीचकुलमें पैदा होने अथवा उसकी (जीवकी) नीच आचाररूप प्रवृत्ति होने रूप सहायक साधनोंकी अपेक्षा रखता है, इसप्रकार जीवका उच्चकुलमें पैदा होना अथवा उसकी उच्च-आचाररूप प्रवृत्ति होना उच्चगोत्रकर्मका तथा जीवका नीच कुलमें पैदा होना अथवा उसकी नीच आचाररूप प्रवृत्ति होना नीचगोत्रकर्मका कार्य कदापि नहीं माना जा सकता है। अन्यथा पूर्वोक्त प्रकारसे अनवस्थिति दोषका प्रसंग साता और असाता वेदनीय कर्मोंकी तरह यहाँपर भी उपस्थित हो जायगा।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जीवका उच्च या नीच कुलमें पैदा होना अथवा उसकी उच्च या नीच आचाररूप प्रवृत्ति होना उच्च और नीचगोत्र कर्मोंका कार्य नहीं है बल्कि कोई जीव जब उच्चकुलमें पैदा होता है अथवा उच्च आचाररूप प्रवृत्ति करने लगता है तो इनकी सहायतासे उच्चगोत्रकर्म उस जीवमें उच्चताका व्यवहार कराने लगता है। इसी तरह जब कोई जीव नीचकुलमें पैदा हो जाता है अथवा नीच आचार-रूप प्रवृत्ति करने लगता है तब इनकी सहायतासे नीचगोत्रकर्म उस जीवमें नीचताका व्यवहार कराने लगता है।

जीवका उच्चकुलमें पैदा होना अथवा उसकी उच्च आचाररूप प्रवृत्ति होना उच्चगोत्र कर्मके और जीवका नीचकुलमें पैदा होना अथवा उसकी नीच आचाररूप प्रवृत्ति होना नीचगोत्रकर्मके नोकर्म (सहायक कर्म) होनेके कारण ही लोक जीवमें उच्चता और नीचताका व्यवहार जन्मना और कर्मणा दोनों प्रकारसे किया करता है। परन्तु जैन संस्कृति जन्मसे उच्च-नीच व्यवहारको महत्त्व नहीं देती है। वह तो जीवकी उच्च और नीच आचाररूप प्रवृत्तियोंसे ही उसमें (जीवमें) उच्च और नीच व्यवहारकी हामी है। यही कारण है कि जैन संस्कृतिमें गोत्र-परिवर्तनका सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और यह बात इसलिये असंगत नहीं मानी जा सकती है कि कन्या जब विवाहित हो जाती है, तो उसका पितृगोत्रसे संबंध विच्छेद होकर पतिगोत्रसे संबन्ध स्थापित हो जाता है।

जैन संस्कृतिमें जीवकी उच्च-नीच आचार-प्रवृत्तियोंके आधारपर ही उसमें (जीवमें) उच्च-नीच व्यवहार माननेका मुख्य कारण यह है कि वहाँपर (जैन संस्कृतिमें) उच्च और नीच सभी प्रकारके कुलोंकी व्यवस्था भी उस-उस प्रकारके उच्च और नीच आचारके आधारपर ही स्वीकार की गयी है। जैसे—चमारके कुलमें उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति चमार तो कहलाता है परन्तु वह कुल, जो चमार कहलाता है, उसका मूलकारण यही है कि उस कुलमें चमड़ेका कार्य किया जाता है। इसीप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों तथा सुनार, लुहार, बढ़ई, कुम्हार आदि जातियों (जो कुलके ही नामान्तर हैं) के नामकरण भी मनुष्योंके उस-उस प्रकारके आचारके आधारपर ही स्वीकार किये गये हैं। लोकमें उक्त सभी प्रकारके आचारोंमेंसे जिस-जिस आचारको उच्च माना गया है उसके आधारपर उस कुलको उच्च और जिस-जिस आचारको नीच माना गया है उसके आधारपर उस-उस कुलको नीच मान लिया गया है।

यद्यपि देशविशेष, प्रान्तविशेष, व्यक्तिविशेष आदि दूसरे विविधप्रकारके आधारोंपर भी जातियोंका निर्माण हुआ है। परन्तु जीवोंकी उच्चता और नीचताके व्यवहारमें इनका कुछ भी उपयोग नहीं होता। इसी प्रकार जैन, बौद्ध, वैष्णव, आर्यसमाज, मुसलमान, ईसाई आदि जातियोंका निर्माण उस-उस संस्कृतिकी मान्यताके आधारपर हुआ है। लेकिन इनको भी जीवोंकी उच्चता और नीचताका द्योतक नहीं माना जा सकता है।

प्रायः लोगोंका ख्याल है कि धर्माचरण उच्चताका और अधर्माचरण नीचताका व्यवहार करानेमें कारण है परन्तु उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत है, कारण कि लोकव्यवहारमें यह भी देखा जाता है कि अधर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण उच्चगोत्री माना जाता है और धर्माचरण करनेवाला शूद्र नीचगोत्री ही माना जाता है। जैन संस्कृतिमे भी मिथ्यादृष्टि जीवोंको भी उच्चगोत्री और देशविरत (पंचम गुणस्थानवर्ती) जीवोंको भी नीचगोत्री स्वीकर किया गया है।

इस तरह यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक जीवके कुलपरंपरागत जीवन-संरक्षणके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंकी उच्चता और नीचताके आधारपर ही उनमें उच्चता और नीचताका व्यवहार करना उचित है।

"संतानकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥"—(गोम्मटसारकर्मकाण्ड)।

यह गाथा भी हमें यही उपदेश देती है कि जीवों द्वारा अपने जीवनसंरक्षण (जीविका)के लिये अपनाया गया जो कुलपरम्परागत पेशा है वही गोत्र है। वह गोत्र (पेशा) उच्च और नीच दो प्रकारका है।

गाथामें गोत्रसम्बन्धी यह वर्णन वास्तवमें मनुष्यजातिको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। फिर भी इतना तो निश्चित समझना चाहिये कि गाथाके "जीवाचरण" शब्दका अर्थ जीविका (जीववृत्ति) ही है। इस तरह नारकजातिके जीवोंमें या तो जीवनवृत्तिका सर्वथा अभाव है अथवा उनकी जीववृत्ति कष्टमय है, इस तरह नारकियोंकी जीवनवृत्तिमें नीचताका व्यवहार उपयुक्त होनेके कारण सभी नारकी जीव नीचगोत्री माने गये हैं। तिर्यंग्गतिके जीवोंकी जीवनवृत्ति क्रूरता और दीनताको लिये हुए कष्टमय होनेके कारण नीच है, अतः सभी तिर्यंच भी नीचगोत्री माने गये हैं। देवोंकी वृत्तिको सात्विकवृत्ति कहा जा सकता है, अतः सभी देव उच्चगोत्री मान लिये गये है। मानववर्गको चार भागोंमें विभक्त किया गया है। उनमेंसे ब्राह्मणोंकी वृत्तिको सात्विक तथा क्षत्रियों और वैश्योंकी वृत्तिको राजस माना गया है। ये दोनों प्रकारकी वृत्तियाँ लोकमें उच्च

मानी गयी हैं। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके सभी मनुष्य उच्चगोत्री माने गये हैं। शूद्रोंकी वृत्ति दीनवृत्ति होनेके कारण तामसवृत्ति है। लोकमें तामसवृत्ति नीचवृत्ति कही जाती है, अतः सभी शूद्र नीचगोत्री माने गये हैं। इनके अतिरिक्त म्लेच्छवृत्तिको अपनानेवाले भी मनुष्य होते हैं। म्लेच्छवृत्ति भी चूँकि क्रूरवृत्ति होनेके कारण तामसवृत्ति मानी गयी है, अतः म्लेच्छमानव भी नीचगोत्री माने गये हैं। भोगभूमिके तिर्यंच-दीनवृत्तिके कारण नीचगोत्री और भोगभूमिके मनुष्य सात्त्विकवृत्तिके कारण उच्चगोत्री माने गये हैं। इस तरह मानवजातिमें उच्च और नीच दोनों गोत्रवाले जीवोंका अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

जो मनुष्य अपने गार्हस्थ्य जीवनको लाँघकर साधुमार्गको अपना लेते हैं उनकी वृत्ति जैन संस्कृतिके अनुसार सात्त्विक हो जाती है। अतः साधुओंकी श्रेणीमें पहुँचा हुआ नीचगोत्री मनुष्य भी उस हालतमें उच्चगोत्री हो जाता है। इस तरह शूद्रको नीचगोत्री होनेके कारण दीक्षा लेनेका जो निषेध किया जाता है, वह उचित नहीं है बल्कि यही मानना उचित है कि यदि कोई शूद्र कदाचित् अपने गार्हस्थ्य जीवनको लाँघकर साधुजीवनमें प्रवेश कर जाये, तो उसका नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र हो जायगा। कारण कि साधुजीवनमें प्रवेश पानेसे उसकी गार्हस्थ्यजीवन सम्बन्धी शूद्रकुलवृत्ति समाप्त होकर साधुजीवन सम्बन्धी सात्त्विकवृत्ति हो जावेगी। यदि कहा जावे कि कम-से-कम अस्पृश्य शूद्रको तो दीक्षा लेनेका निषेध होना ही चाहिये, तो मैं कहूँगा कि शूद्रोंमें अस्पृश्यता और स्पृश्यताका भेद ब्राह्मण (वैदिक) संस्कृतिकी ही देन है। जैन संस्कृतिमें अस्पृश्यताको कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

ऊपरके कथनसे यद्यपि यह बात सिद्ध होती है कि शूद्र बौद्ध संस्कृतिमें दीक्षित होनेपर ५० वर्ष बाद भी उच्चगोत्री नहीं हो सकता है, कारण कि कोई भी संस्कृति गोत्रपरिवर्तनमें कारण नहीं होती है। परन्तु संस्कृति बदले या न बदले, फिर भी यदि कौलिक आचार (जीवनवृत्ति) बदल जाता है तो किसी भी समय शूद्र (नीचगोत्री) उच्चगोत्री और उच्चगोत्री नीचगोत्री हो जायगा। इससे इस बातका भी निषेध हो जाता है कि अव्रत रहते हुए गोत्रपरिवर्तन नहीं हो सकता है। कारण कि धर्म उच्चगोत्रका और अधर्म नीचगोत्रका कारण नहीं है। साधुजीवनको जो गोत्रपरिवर्तनमें कारण माना है वह धार्मिक वृद्धिके कारण नहीं, बल्कि जीवनवृत्ति बदल जानेके कारण ही वहाँ गोत्रपरिवर्तन माना गया है।

उक्त विषयको कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी स्पष्ट कर देना मैं उचित समझता हूँ—आयुकर्मकी सब प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सातावेदनीय और असातावेदनीय, उच्चगोत्र और नीचगोत्र तथा चारों गति आदि परस्पर विरोधी जितनी कर्मप्रकृतियाँ हैं उन सबकी प्रत्येक जीवमें अपनी-अपनी सीमा तक एक साथ सत्ता स्वीकार की गयी है। इन प्रकृतियोंके बन्धके विषयमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि नीचगोत्री उच्चगोत्रका और उच्चगोत्री नीचगोत्रका बन्ध नहीं करता है बल्कि यहाँ तक संभव है कि कोई जीव प्रथम क्षणमें यदि नीचगोत्रका बन्ध कर रहा हो तो वही जीव द्वितीय क्षणमें उच्चगोत्रका भी बन्ध कर सकता है। यही बात उक्त साता और असाता वेदनीय तथा चारों गति आदि सभी परस्पर विरोधी प्रकृतियोंमें भी लागू होती है। इन सब प्रकृतियोंकी अन्तरालरहित निषेक रचना अपने-अपने अबाधाकालको छोड़कर स्थितिके अनुसार बन्धके साथ हो हो जाया करती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ तक संभव है वहाँ तक एक भी क्षण ऐसा परिलक्षित नहीं होता, जिस क्षणमें परस्पर विरोधी उक्त कर्मप्रकृतियोंके निषेकोंकी सत्ता न पायी जाती हो। प्रत्येक कर्मप्रकृतिके प्रत्येक निषेकका अपने-अपने समयमें खिरनेका नियम है। इस तरह जिस क्षणमें उच्चगोत्रका निषेक खिरता है उसी क्षणमें उसका विरोधी नीचगोत्रका निषेक भी खिरता है। यह खिरना तीन प्रकारसे संभव है—संक्रमण होकर, फल देकर और फल न देकर। संक्रमणका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र-

का निषेक कभी-कभी नीचगोत्रका निषेक बनकर खिरता है और इसी तरह नीचगोत्रका निषेक कभी-कभी उच्चगोत्रका निषेक बनकर खिरता है। फल देकर और फल नहीं देकर खिरनेका अर्थ यह है कि यदि खिरते समय उच्चगोत्रके निषेकको नोकर्मकी सहायता प्राप्त हो जाती है तो उच्चगोत्रका निषेक तो फल देकर खिरता है और उस समय नीचगोत्रका निषेक बिना फल दिये ही खिर जाता है। इसी तरह यदि खिरते समय नीचगोत्रके निषेकको नोकर्मकी सहायता प्राप्त हो जाती है तो नीचगोत्रका निषेक तो फल देकर खिरता है और उच्चगोत्रका निषेक बिना फल दिये ही खिर जाता है। यही व्यवस्था साता और असाता आदि परस्पर विरोधी सभी कर्मप्रकृतियोंके निषेकोंके खिरनेमें लागू होती है।

कर्मसिद्धान्तके इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवको एक ही भवमें जिस प्रकार अपने-अपने अनुकूल नोकर्मकी सहायतासे कभी सातावेदनीय और कभी असातावेदनीय कर्म अपना फल देते रहते हैं। इसी प्रकार जीवको एक ही भवमें अपने-अपने अनुकूल नोकर्मकी सहायतासे कभी उच्चगोत्र और कभी नीचगोत्र कर्म भी अपना-अपना फल दे सकते हैं। चूंकि नारकी, तिर्यंच, देव इन तीनों गतियोंमें तथा भोगभूमिमें कहीं उच्चगोत्रका और कहीं नीचगोत्रका ही नोकर्म नियमसे रहता है, अतः नारकियों, तिर्यंचों, देवों और भोगभूमिके तिर्यंचों तथा मनुष्योंका गोत्रपरिवर्तन नहीं होता है। परन्तु कर्मभूमिज मनुष्योंके जीवनमें पूर्वोक्त प्रकार जीवनवृत्ति बदलनेकी संभावनाके आधारपर उच्चगोत्र और नीचगोत्र दोनोंके नोकर्ममें परिवर्तनकी संभावना बनी रहती है, अतः कर्मभूमिज मनुष्योंके गोत्रपरिवर्तन स्वीकार किया गया है।

भुज्यमान आयुमें अपकर्षण और उत्कर्षण

कई विद्वानोंका ऐसा मत है कि भुज्यमान किसी भी आयुमें उत्कर्षणकरण नहीं होता, अपकर्षणकरण भी भुज्यमान तिर्यगायु और मनुष्यायुमें ही हो सकता है, कारण इन दोनोंकी उदीरणा संभव है। भुज्यमान देवायु और नरकायु अनपवर्त्य होनेके कारण उदीरणारहित हैं इसलिये इनमें अपकर्षणकरण भी नहीं होता है। आयुकर्ममे यदि उत्कर्षण, अपकर्षणकरण हों तो वे बध्यमानमें ही होंगे।

बध्यमान आयुमे उत्कर्षण, अपकर्षणकरण होते हैं, इसमें किसीका विवाद नहीं, लेकिन अभीतक मेरा खयाल है कि भुज्यमान सम्पूर्ण आयुओंमें भी उत्कर्षण, अपकर्षणकरण हो सकते हैं, इसका कारण यह है कि भुज्यमान तिर्यगायु और मनुष्यायुकी उदीरणा तो सर्वसम्मत है; भुज्यमान देवायु और नरकायुकी भी उदीरणा सिद्धान्तग्रन्थोंमें बतलाई है—

संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व-आऊणं ॥ गोम्मट० कर्म० गा० ४४१।

एक संक्रमणकरणको छोडकर बाकीके बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण उदीरणा, सत्त्व, उदय उपशान्त, निधत्ति और निकाचना ये नवकरण संपूर्ण आयुओंमें होते हैं।

किसी भी कर्मकी उदीरणा उसके उदयकालमें ही होती है कारण उदीरणाका लक्षण निम्न प्रकार माना गया है —

अण्णत्थठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु अत्थि त ॥ गो० कर्म० गा० ४३९।

सं० टी०—उदयावलिबाह्यस्थितस्थितिद्रव्यस्यापकर्षणवशादुदयावल्या निक्षेपणमुदीरणा खलु।

उदयावलीके द्रव्यसे अधिक स्थितिवाले द्रव्यको अपकर्षणकरणके द्वारा उदयावलीमे डाल देना अर्थात् उदयावलीप्रमाण उस द्रव्यकी स्थिति कर देनेका नाम उदीरणा है। उदयगतकर्मके वर्तमान समयसे लेकर आवली पर्यन्त जितने समय हो उन सबके समूहको उदयावली कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कर्मकी उदीरणा उसके उदय हालतमे ही हो सकती है।

परभव-आउगस्स च उदीरणा णत्थि णियमेण॥ —गो०कर्म० गा० १५९।

यह नियम स्पष्टरूपसे परभवकी (बध्यमान) आयुकी उदीरणाका निषेध कर रहा है।

उदयाणमावलिह्मि य उभयाण बाहिरम्मि खिवणट्ठं। लब्धिसार, गा० ६८।

अर्थात्—उदयावलीमें उदयगत प्रकृतियोंका ही क्षेपण होता है। उदयावलीके बाहिर उदयगत और अनुदयगत दोनो तरहकी प्रकृतियोका क्षेपण होता है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिस कर्मका उदय होता है उसीका उदयावली-बाह्यद्रव्य उदयावलीमे दिया जा सकता है। इसलिये देवायु और नरकायुकी उदीरणा क्रमसे देवगति और नरकगतिमें होगी, अन्यत्र नही, अर्थात् भुज्यमान देवायु और नरकायुकी ही उदीरणा हो सकती है, बध्यमान की नही।

शंका—परभव-आउगस्स च उदीरणा णत्थि णियमेव ॥ —गो० कर्म० गा० ९१८।

स० टीका—परभवायुषो नियमेनोदीरणा नास्ति, उदयगतस्येवोपपादिकचरमोत्तमदेहा-सङ्ख्येयवर्षायुर्भ्योऽन्यत्र तत्सम्भवात् ॥

अर्थात्—परभवकी (बध्यमान) आयुकी नियमसे उदीरणा नही होती, कारण कि देव, नारकी,

चरमोत्तमदेहके धारक तथा असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य-तिर्यंचोंको छोड़कर बाकीके जीवोंके उदयगत आयुकी ही उदीरणा संभव है। इस कथनसे यह बात निकलती है कि देवायु और नरकायुकी उदीरणा ही नहीं होती है तथा पूर्वकथनसे यह सिद्ध होता है कि देवायु और नरकायुकी भी उदीरणा होती है; इसलिये शास्त्रोंमें ही पूर्वापर विरोध आता है ?

उत्तर—शास्त्रोंमें उदीरणा दो तरहकी बतलायी है—एक तो अन्य निमित्तसे मरण हो जानेको उदीरणा कहते हैं, दूसरी स्वतः आत्माकी क्रियाविशेषसे उदयावली बाह्यद्रव्यको उदयावलीमें डाल देनेको उदीरणा कहते हैं। ऐसी उदीरणा देवायु और नरकायुकी भी होती है, उदीरणामरण नहीं होता। आचार्य-कल्प पं० टोडरमलजी इस शंकाका निरास इस प्रकार करते हैं—"बहुरि उदीरणाशब्दका अर्थ जहाँ देवादिकके उदीरणा न कही तहाँ तो अन्य निमित्ततें मरण होय ताका नाम उदीरणा है। अर दश करणनिके कथनविर्षे उदीरणाकरण देवायुके भी कहा, तहाँ ऊपरके निषेकनिके द्रव्यको उदयावली विर्षे दीजिये, ताका नाम उदीरणा है

—मोक्ष० प्रकाश, पुस्तकाकार, पृ०—४२१।

इस प्रकार शास्त्रके दोनों प्रकारके कथनोंको आपेक्षिक कथन स्वीकार करनेसे पूर्वापर-विरोधकी शंका नहीं रहती है।

कर्मोंकी उदीरणा अपकर्षणपूर्वक ही होती है। जबतक कर्मके द्रव्यको स्थितिका अपकर्षण नहीं होगा तबतक उस द्रव्यका उदयावलीमें प्रक्षेप नहीं हो सकता है, कारण कि उदयावलीमे प्रक्षेपका मतलब ही यह है कि जो कर्मद्रव्य अधिक समयमें उदय आने योग्य था वह अब उदयावलीमे ही उदय आकर नष्ट हो जायगा। इसी अभिप्रायसे कर्मकाण्डकी संस्कृत टीकाकारने उदीरणाके लक्षणमें "अपकर्षणवशात्" यह पद दिया है।

इस कथनसे भुज्यमान देवायु और नरकायुमें अपकर्षणकरण होता है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

"हाणी ओक्कट्टण णाम", "उक्कट्टणं हवे वड्ढी" ॥ गो० कर्म० गा० ४३८।

स० टी०—स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षणम्, स्थित्यनुभागयोर्वृद्धिरुत्कर्षणम् ॥

कर्मोंकी स्थिति और अनुभागको घटा देना अपकर्षण है और बढ़ा देना उत्कर्षण है। शुभ प्रकृतियोंके स्थिति और अनुभागमे कमी संक्लेशपरिणामोंसे होती है और वृद्धि विशुद्ध परिणामोसे होती है। अशुभ प्रकृतियोंकी स्थिति और अनुभागमे हानि विशुद्ध परिणामोंसे होती है और वृद्धि संक्लेशपरिणामोसे होती है। देवायु शुभप्रकृति है, इसलिये उसके स्थिति और अनुभागमे कमी संक्लेशपरिणामोंसे होगी और वृद्धि विशुद्ध परिणामोसे होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब देवोंके संक्लेशता होनेसे देवायुका अपकर्षण हो सकता है तो विशुद्धता होनेसे देवायुका उत्कर्षण होना भी न्यायसंगत है। इसीप्रकार नरकायु अशुभ प्रकृति है, इसलिये उसके स्थिति और अनुभागमें कमी विशुद्ध परिणामोंसे होगी और वृद्धि संक्लेश परिणामोंसे होगी; इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब नारकियोंके विशुद्धता होनेसे नरकायुका अपकर्षण हो सकता है तो संक्लेशता होनेसे नरकायुका उत्कर्षण होना भी न्यायसंगत है। इस प्रकार भुज्यमान देवायु और नरकायुमें भी अपकर्षण और उत्कर्षण सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार भुज्यमान तिर्यगायु और मनुष्यायुमे भी अपकर्षणकरणकी तरह उत्कर्षण करण स्वीकार करना चाहिये।

शंका—किसी भी कर्मप्रकृतिका उत्कर्षण उसकी बन्धव्युच्छित्तिके पहिले तक ही होता है।

बंधुक्कट्टणकरणं सग-सग बन्धोत्ति णियमेण ॥४४४॥कर्म०॥

इससे यह निष्कर्ष निकला कि आत्माकी जो अवस्था जिस कर्मप्रकृतिके बन्धमें कारण पड़ती है उसी अवस्थामें उस प्रकृतिका उत्कर्षण हो सकता है। वर्तमान भवमें उत्तर भवकी आयुका ही बन्ध होता है—वर्तमान (भुज्यमान) का नहीं। इसलिये भुज्यमान आयुका उत्कर्षण भी नहीं हो सकता है ?

उत्तर—बन्धव्युच्छित्तिके पहिले-पहिले ही उत्कर्षण होता है, यह कथन उत्कर्षणकी मर्यादाको बतलाता है अर्थात् जहाँतक जिस प्रकृतिका बंध हो सकता है वहींतक उस प्रकृतिका उत्कर्षण होगा, आगे नहीं। इसका यह आशय नहीं कि आत्माकी जो अवस्था कर्मप्रकृतिके बन्धमें कारण है उसी अवस्थामें उस प्रकृतिका उत्कर्षण हो सकता है, अन्यत्र नहो। यदि ऐसा माना जाय, तो उत्कर्षणकरणको त्रयोदशगुणस्थान तक मानना असंगत ठहरेगा।

सुहुम सजोगित्ति तदो ॥कर्म० गा० ४४२।

संयोगीपर्यन्त उत्कर्षण, अपकर्षण, उदय, उदीरणा, बन्ध और सत्व ये ६ करण होते हैं। लेकिन स्थिति-अनुभागकी वृद्धिको उत्कर्षणकरण माना गया है, यहाँ आत्माकी कोई भी अवस्था किसी भी कर्मके स्थिति-अनुभागबन्धमें कारण नही, तब ऐसी हालतमें उस कर्मके स्थिति और अनुभागका उत्कर्षण भी नही सकेगा। किन्तु जब उक्त वचनको उत्कर्षणकी मर्यादा बतलानेवाला मान लेते हैं तो कोई विरोध नही रहता, कारण कि त्रयोदशगुणस्थानमें सातावेदनीयका प्रकृति-प्रदेशबन्ध होता ही है। इसलिये उसीका उत्कर्षण भी त्रयोदशगुणस्थानतक होगा, अन्यका नही, ऐसा संगत अर्थ निकल आता है।

उक्त वचन मर्यादासूचक ही है। इसमें दूसरा प्रमाण यह है कि संक्रमणकरण को—

संकमणं करणं पुण सग-सग जादीण बंधोत्ति ॥ कर्म० ४४४॥

इस वचनके द्वारा अपनी-अपनी सजातीय प्रकृतिके बन्धपर्यन्त बतला करके भी—

णवरि विसेसं जाणे संकममवि होदि संतमोहम्मि ॥
मिच्छस्स यमिस्सस्स य सेसाणं णत्थि संकमणं ॥ कर्म० ४४३ ।

इस वचनके द्वारा मिथ्यात्व और मिश्रप्रकृतिका संक्रमण ११वें गुणस्थान तक बतलाया है। इसलिये जिस प्रकार यह वचन संक्रमणके लिये यह नियम नहीं बना सकता कि आत्माकी जिस अवस्थामें जिस कर्मकी सजातीय प्रकृतियोंका बन्ध हो सकता है उसी अवस्थामें उस कर्मका संक्रमण होगा, दूसरी अवस्थामें नही, इसी प्रकार उक्त वचन उत्कर्षणके लिये भी ऐसा नियमसूचक नही है।

इस लेखका सारांश यह हुआ कि चारों भुज्यमान आयुओंकी उदीरणा हो सकती है और उदीरणा अपकर्षणपूर्वक ही होती है। इसलिये चारों भुज्यमान आयुओंमें अपकर्षण भी सिद्ध हो जाता है। शुभ प्रकृतियों-का अपकर्षण संक्लेश परिणामोंसे और अशुभका विशुद्ध परिणामोंसे होता है। जब चारों आयुओंके अपकर्षण-के योग्य शुभ-अशुभकी अपेक्षा संक्लेश या विशुद्ध परिणाम चारों गतियोंमें पैदा हो सकते हैं तो उनके उत्कर्षणके योग्य उनसे विपरीत परिणाम भी चारों गतियोंमें पैदा हो सकते हैं। इसलिये चारों भुज्यमान आयुओंमे उत्कर्षण भी सिद्ध हो जाता है।

यह लेख मैंने अपनी शंकाको दूर करनेके लिये लिखा है। इसलिये विद्वानोंसे निवेदन है कि यदि उनको मेरे ये विचार विपरीत मालूम पड़ें, तो अपने विचार प्रमाणसहित अवश्य ही जैन दर्शनमें प्रकट करें, ताकि इस बातका निर्णय हो सके।

क्या असंज्ञी जीवोंमें मनका सद्भाव है ?

श्री डॉ० हीरालाल जैन एम० ए० नागपुरने अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलनके १६वें अधिवेशनके समय प्राकृत और जैनधर्म विभागमें जो निबन्ध पढा था उसका हिन्दी अनुवाद 'असंज्ञी जीवोंकी परंपरा' शीर्षकसे अनेकान्तपत्रके वर्ष १३ की संयुक्त किरण ४-५ और ७ में प्रकाशित हुआ है।

डॉ० साहबके निबन्धका सारांश यह है कि असंज्ञी माने जाने वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके जब मति और श्रुत दोनों ज्ञानोंका सद्भाव जैन आगममें स्वीकार किया गया है तो निश्चित ही उन सभी जीवोंके मनका सद्भाव सिद्ध होता है कारण कि मति और श्रुत ये दोनों ही ज्ञान मनकी सहायताके बिना किसी भी जीवके सम्भव नहीं है।

अभी तकको प्रचलित दि० आगमपरंपरा यह है कि जिन जीवोंके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव संज्ञी और जिन जीवोंके मनका सद्भाव नहीं पाया जाता है वे जीव असंज्ञी कहे जाते हैं। परन्तु डॉ० साहबने संज्ञी जीवोंके साथ असंज्ञी जीवोंका अन्तर दिखलानेके लिये अमनस्क शब्दका मनरहित अर्थ न करके 'ईषत् मन वाला' अर्थ किया है।

डॉ० साहबने अपने उक्त विचारोंकी पुष्टि आगमके कतिपय उद्धरणों और युक्तियों द्वारा की है।

इन्द्रियजन्य सभी प्रकारके मतिज्ञानमें मनकी सहायता अनिवार्य है—यह विचार न तो आज तक मेरे मनमें उठा और न अब भी मैं इस बातको माननेके लिये तैयार हूँ। परंतु समूचे जैन आगममें असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनेसे मेरे मनमें यह विचार सतत उत्पन्न होता रहा कि श्रुतज्ञान, जो कि मनके अवलम्बनसे ही उत्पन्न होता है, मन रहित असंज्ञी जीवोंके कैसे सम्भव हो सकता है ?

प्राय वर्तमान समयके सभी दि० विद्वान् असंज्ञी जीवोंके मनका अभाव निश्चित मानते है; इसलिये उनके (असंज्ञी जीवोंके) आगममें स्वीकृत श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करके भी वे विरोधका परिहार इस तरह कर लेते है कि असंज्ञी जीवोंके मनका अभाव होनेके कारण लब्धिरूप ही श्रुतज्ञान पाया जाता है क्योंकि उपयोगरूप श्रुतज्ञान मनके सद्भावके बिना उनके (असंज्ञी जीवोंके) संभव नहीं है।

दि० विद्वानोंका उक्त निष्कर्ष मुझे संतोषप्रद नही मालूम होता है। अत. मेरे सामने आज भी यह प्रश्न खडा हुआ है कि मनके अभावमें असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी संगति किस तरह बिठलाई जावे ?

श्वे० आगमग्रंथ विशेषआवश्यकभाष्यका वह प्रकरण, जिसका उद्धरण डॉ० साहबने अपने निबन्धमें दिया है और जिसमें एकेन्द्रिय आदि समस्त असंज्ञी जीवोंके भी तरतमभावसे मनकी सत्ताको स्वीकार किया गया है। करीब २० वर्ष पहले मेरे भी देखनेमें आया था। लेकिन उससे भी मेरे उक्त प्रश्नका उचित समाधान नही होता है, क्योंकि असंज्ञी जीवोंके मनके अभावमे लब्धिरूप श्रुतज्ञानकी सत्ताको स्वीकार करने और उनके ईषत्-मनका सद्भाव स्वीकार करके उपयोगरूप श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनेमें असंतोषप्रद स्थितिका विशेष अन्तर नही है।

चूँकि डॉ० साहबने उक्त विषयमे अपने विचार लिपिबद्ध किये है, अतः इस विषयपर मेरे अब तकके चिंतनका जो निष्कर्ष है उसे मैं भी विद्वानोंके समक्ष उपस्थित कर देना उचित समझता हूँ।

ज्ञानकी उत्पत्ति दो प्रकारसे सम्भव है—स्वापेक्ष और परापेक्ष। अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीनोंकी उत्पत्ति स्वापेक्ष मानी गई है तथा मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंकी उत्पत्ति परापेक्ष मानी गई है। यहाँ परशब्दसे मुख्यतया स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँच द्रव्य-इन्द्रियाँ और द्रव्यमन ग्रहीत होती हैं।

मतिज्ञानका प्रारम्भिक रूप अवग्रह ज्ञान है और अनुमान उस मतिज्ञानका अन्तिमरूप है। मतिज्ञानका अंतिम रूप यह अनुमानज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है। आगमके 'मतिपूर्वं श्रुतम्' इस वाक्यसे भी उक्त बातका समर्थन होता है।

किसी एक घटशब्दमें गुरु द्वारा घटरूप अर्थका संकेत ग्रहण करा देनेके अनन्तर शिष्यको सतत घट-शब्दश्रवणके अनन्तर जो घटरूप अर्थका बोध हो जाया करता है वह बोध उस शिष्यको अनुमान द्वारा उस घट शब्दमे घटरूप अर्थका संकेत ग्रहण करनेपर ही होता है। अत: अनुमानकी श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे कारणता स्पष्ट है और चूँकि अनुमान मतिज्ञानका ही अंतिमरूप है, अत: 'मतिपूर्वं श्रुतम्' ऐसा निर्देश आगममे किया गया है।

कई लोगोका ख्याल है कि 'जब अर्थसे अर्थान्तरके बोधको श्रुतज्ञान कहतेहै तो श्रुतज्ञानको अनुमान ज्ञानसे पृथक् नही मानना चाहिये', परन्तु उन लोगोंका उक्त ख्याल गलत है, क्योंकि मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि श्रुतज्ञानमे अनुमान कारण है, अत: अनुमानज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो एक कैसे हो सकते हैं?

जिस प्रकार श्रुतज्ञानमे कारण अनुमानज्ञान है और अनुमानज्ञानके अनन्तर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार अनुमानज्ञानमे कारण तर्कज्ञान होता है और तर्कज्ञानके अनन्तर ही अनुमानज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है, इसी तरह तर्कज्ञानमे कारण प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानमे कारण स्मृतिज्ञान और स्मृतिज्ञानमें कारण धारणा ज्ञान हुआ करता है तथा तर्कज्ञानके अनन्तर ज्ञानकी उत्पत्तिके समान ही प्रत्यभिज्ञानके अनन्तर ही तर्कज्ञानकी, स्मृतिज्ञानके अनन्तर ही प्रत्यभिज्ञानकी और धारणाज्ञानके अनन्तर ही स्मृतिज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है।

इस प्रकार श्रुतज्ञानकी तरह उक्त प्रकारके मतिज्ञानोमे भी मतिज्ञानकी कारणता स्पष्ट हो जाती है क्योंकि अनुमान, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति और धारणा ये सभी ज्ञान मतिज्ञानके ही प्रकार मान लिये गये हैं— 'मति: स्मृति: संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' इस आगमवाक्यमें मतिके अर्थमें 'अवग्रहेहावायधारणा' इस सूत्रवाक्यनुसार धारणाका अन्तर्भाव हो जाता है तथा प्रत्यभिज्ञानका ही अपर नाम संज्ञाको, तर्कका ही अपर नाम चिन्ताको और अनुमानका ही अपर नाम अभिनिबोधको माना गया है।

यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिये कि जब स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन सब प्रकारके मतिज्ञानोंमें तथा श्रुतज्ञानमें पदार्थका दर्शन कारण न होकर यथायोग्य ऊपर बतलाये गये प्रकारानुसार पदार्थज्ञान अथवा यों कहिये कि पदार्थज्ञानका दर्शन ही कारण हुआ करता है। अत: ये सब ज्ञान परोक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते हैं क्योंकि पदार्थदर्शनके अभावमें उत्पन्न होनेके कारण इन सब ज्ञानोंमें विशदताका अभाव पाया जाता है जबकि 'विशदं प्रत्यक्षम्' आदि वाक्यों द्वारा आगममें विशद ज्ञानको ही प्रत्यक्षज्ञान बतलाया गया है। यहाँ पर ज्ञानको विशदताका तात्पर्य उसकी स्पष्टतासे है और ज्ञानमे स्पष्टता तभी आ सकती है जबकि वह ज्ञान पदार्थदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हो।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रत्येक ज्ञानमें दर्शन कारण होता है। परन्तु इतना विशेष है कि किसी-किसी

ज्ञानमें तो पदार्थका दर्शन कारण होता है और किसी-किसी ज्ञानमें पदार्थका दर्शन कारण न होकर पदार्थ-ज्ञानका दर्शन कारण होता है, जिन ज्ञानोंमें पदार्थका दर्शन कारण होता है उन ज्ञानोंमें पदार्थ स्पष्टताके साथ झलकता है। अत: वे ज्ञान विशद कहलाते हैं और इस प्रकारकी विशदताके कारण ही वे ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान-की कोटिमें पहुँच जाते हैं। जैसे—अवधि, मन:पर्यय और केवल ये तीनों स्वापेक्षज्ञान तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंसे होने वाला पदार्थज्ञान तथा मानस प्रत्यक्ष ज्ञान। एवं जिन ज्ञानोंमें पदार्थका दर्शन कारण नहीं होता है अर्थात् जो ज्ञान पदार्थदर्शनके अभावमें ही पदार्थज्ञानपूर्वक या यों कहिये कि पदार्थज्ञानदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ करते हैं उन ज्ञानोंमें पदार्थ स्पष्टताके साथ नहीं झलक पाता है अत: वे ज्ञान अविशद कहलाते हैं और इस प्रकारकी अविशदताके कारण ही वे ज्ञान परोक्ष-ज्ञानकी कोटिमें चले जाते हैं जैसे—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क व अनुमान ये चारों मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान।

यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दर्शन और ज्ञानमें जो कार्य-कारण भाव पाया जाता है, वह सहभावी है। इसलिए जब तक जिस प्रकारका दर्शनोपयोग विद्यमान रहता है तब तक उसी प्रकारका ज्ञानोपयोग होता रहता है और जिस क्षणमें दर्शनोपयोग परिवर्तित हो जाता है उसी क्षणमें ज्ञानोपयोग भी बदल जाता है—'दंसणपुव्वं णाणं' इस आगमवाक्यका यह अर्थ नहीं है कि दर्शनोपयोगके अनन्तरकालमें ज्ञानोपयोग होता है क्योंकि यहाँ पर पूर्वशब्द ज्ञानमें दर्शनकी सिर्फ कारणताका बोध करानेके लिये ही प्रयुक्त किया गया है जिसका भाव यह है कि दर्शनके बिना किसी ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

इस कथनसे छद्मस्थजीवोंमें दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके क्रमवर्तीपनेकी मान्यताका खण्डन तथा केवलीके समान ही उनके (छद्मस्थोंके) उक्त दोनों उपयोगोंके यौगपद्यका समर्थन होता है।

इस विषयके मेरे विस्तृत विचार पाठकोंको भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होने वाले 'ज्ञानोदय' पत्रके अप्रैल सन् १९५१ के अंकमें प्रकाशित 'जैन दर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान' शीर्षक लेखमें तथा जून ५१ के अंकमें प्रकाशित 'ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार' शीर्षक लेखमें देखनेको मिल सकते हैं। ये दोनों लेख इसी ग्रन्थमें यथास्थान प्रकाशित हैं।

अस्तु! ऊपर जो स्मृतिमें कारणभूत धारणाज्ञानका संकेत किया गया है वह धारणाज्ञान चूँकि पदार्थ दर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होता है अत: वह ज्ञान प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाता है। तथा इस धारणा-ज्ञानके अतिरिक्त इसके पूर्ववर्ती अवाय, ईहा और अवग्रहज्ञान भी चूँकि पदार्थदर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न हुआ करते हैं अत ये तीनों ज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते हैं।

यहाँपर इतना विशेष समझना चाहिए कि अवाय, ईहा और अवग्रह ये तीनों ज्ञान यद्यपि धारणाज्ञानके पूर्ववर्ती होते हैं परन्तु इनका धारणाज्ञानके साथ कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिस प्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे धारणा आदि ज्ञान स्मृति आदि ज्ञानोंमें कारण होते हैं उस प्रकार धारणाज्ञानमें अवाय आदि ज्ञानोंको कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि धारणाज्ञानके पहले अवाय आदि ज्ञान होना ही चाहिये।

तात्पर्य यह है कि कभी कभी हमारा ऐन्द्रियिकज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमकालमें ही धारणारूप हो जाया करता है, अत: वहाँपर यह भेद करना असम्भव होता है कि ज्ञानकी यह हालत तो अवग्रहज्ञानरूप है और उसकी यह हालत धारणारूप है। कभी-कभी हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमकालमें धारणा-रूप नहीं हो पाता, धीरे-धीरे कालान्तरमें ही वह धारणाका रूप ग्रहण करता है। इसलिए जब तक हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान धारणारूप नहीं होता, तब तक वह ज्ञान अवग्रहज्ञानकी कोटिमें बना रहता है। यदि कदाचित्

हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान किन्हीं कारणोंकी वजहसे संशयात्मक हो जाता है तो निराकरणके साधन उपलब्ध हो जानेपर संशयके निराकरणकालमें ही वह ज्ञान धारणारूप नही हो जाया करता है। कदाचित् संशयके निराकरणकालमें वह ज्ञान धारणा रूप नहीं हो सका तो जब तक वह ज्ञान धारणारूप नहीं होता तब तक उसकी अवायरूप स्थिति रहा करती है। कभी कभी संशयनिराकरणके साधन उपलब्ध होनेपर भी यदि संशयका पूर्णतः निराकरण नहीं हो सका तो उप हालतमें हमारा वह ज्ञान ईहात्मक रूप धारण कर लेता है और कालान्तरमें वह ज्ञान या तो सीधा धारणारूप हो जाया करता है अथवा पहले अवायात्मक होकर कालान्तरमें धारणारूप होता है। इस तरह ज्ञानके धारणारूप होनेमें निम्न प्रकार विकल्प खड़े किए जा सकते हैं—

१. पदार्थदर्शनकी मौजूदगीमें ही उस पदार्थका प्रत्यक्ष होता है।

२. इन्द्रियों अथवा मन द्वारा होनेवाला पदार्थ प्रत्यक्ष या तो सीधा धारणारूप होता है। अथवा

३. अवग्रहपूर्वक धारणारूप होता है। अथवा

४. संशयात्मक अवग्रहण होनेके अनन्तर यथायोग्य साधन मिलनेपर धारणारूप होता है। अथवा

५. संशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोंके मिलनेपर उसकी अवायात्मक स्थिति होती है और तदनन्तर वह धारणारूप होता है अथवा

६. संशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोंके मिलनेपर उसकी ईहात्मक स्थिति होती है और तब वह धारणारूप होता है। अथवा

७. ईहाके बाद अवायात्मक स्थिति होकर वह धारणारूप होता है। इस प्रकार ऐन्द्रियिक पदार्थ प्रत्यक्षके धारणारूप होनेमें ऊपर लिखे विकल्प बन जाते हैं और इन सब विकल्पोंके साथ पदार्थदर्शनका संबंध जैसाका तैसा बना रहता है। लेकिन जिस समय और जिस हालतमें पदार्थका दर्शन होना बन्द हो जाता है उसी समय और उसी हालतमें पदार्थप्रत्यक्षकी धारा भी बन्द हो जाती है। इस तरह कभी तो ऐन्द्रियिक पदार्थ-प्रत्यक्ष धारणारूप होकर ही समाप्त होता है और कभी-कभी यथायोग्य अवग्रह, संशय, ईहा या अवायकी दशामें ही वह समाप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार धारणाप्रत्यक्षसे लेकर परोक्ष कहे जाने वाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतरूप ज्ञानोंमें नियत, आनन्तर्य पाया जाता है उस प्रकार प्रत्यक्ष कहे जानेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञानोंमें आनन्तर्य नियत नहीं है तथा यह बात तो हम पहले ही कह आये हैं कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानोंमें उत्तरोत्तर कार्यकारणभावका सर्वथा अभाव ही रहता है।

इन पूर्वोक्त प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी ऐन्द्रियिक ज्ञानोंमेंसे एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके समस्त असंज्ञी जीवोंके पदार्थका केवल अवग्रहरूप प्रत्यक्षज्ञान स्वीकार किया जावे और शेष प्रत्यक्ष कहे जानेवाले ईहा, अवाय और धारणाज्ञान तथा परोक्ष कहे जानेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतज्ञान उन असंज्ञी जीवोंके न स्वीकार किये जायें, जैसा कि बुद्धिगम्य प्रतीत होता है, तो इनके (असंज्ञी जीवोंके) ईषत् मनकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है और तब संज्ञी तथा असंज्ञी जीवोंकी 'जिनके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव संज्ञी, तथा जिनके मनका सद्भाव नहीं पाया जाता है वे जीव असंज्ञी कहलाते हैं' ये परिभाषाएँ भी सुसंगत हो जाती हैं।

इतना स्वीकार कर लेनेपर अब हमारे सामने यह मुख्य प्रश्न विचारके लिए रह जाता है कि जब असंज्ञी जीवोंके मनका सद्भाव नहीं है तो केवलियोंके अतिरिक्त पंचेन्द्रियसे लेकर एकेन्द्रिय तकके समस्त संसारी जीवोंके मति और श्रुत दोनो ज्ञानोंकी सत्ता बतलानेका कारण क्या है ?

इसका उत्तर यह है कि जैन संस्कृतिमें वस्तुविवेचनके विषयमें दो प्रकारकी पद्धतियाँ अपनायी गयी हैं—एक तो करणानुयोगकी आगमिक पद्धति और दूसरी द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धति। इनमेंसे जो द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिका श्रुतज्ञान है, जिसका अपर नाम आगमज्ञान है और जिसका कथन द्रव्यश्रुतके रूपमे 'द्व्यनेकद्वादशभेदम्' इस सूत्रवाक्य द्वारा किया गया है अथवा जो वचनादिनिबन्धन अर्थज्ञानके रूपमें प्रत्येक संज्ञी जीवके हुआ करता है—वह श्रुतज्ञान असंज्ञी जीवोंके नही होता, यह बात तो निर्विवाद है तब फिर इसके अतिरिक्त कौन-सा ऐसा श्रुतज्ञान शेष रह जाता है जिसकी सत्ता असंज्ञी जीवोंके स्वीकार की जावे ?

शंका—एकेन्द्रियादि सभी असंज्ञी जीवोंकी भी संज्ञी जीवोंकी तरह सुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोंका ग्रहण और दुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोंका वर्जनरूप, जो यथासम्भव प्रवृत्तियाँ देखनेमे आती है वे उनकी प्रवृत्तियाँ बिना श्रुतज्ञानके सम्भव नहीं जान पड़ती हैं ?

प्राय देखनेमें आता है कि चींटी मिठासजन्य सुखानुभवन होनेपर मीठे पदार्थकी ओर दौडकर जाती है और उष्णताजन्य दु खानुभवन होनेपर अग्नि आदि पदार्थोंसे दूर भागती है, इस प्रकार चींटीकी इस प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप क्रियाका कारण श्रुतज्ञानको छोडकर दूसरा क्या हो सकता है ? अत. असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी सत्ता भले ही वह किसी रूपमे हो—मानना अनिवार्य है और इसीलिए उनके ईषत् मनका सद्भाव स्वीकार करना असंगत नही माना जा सकता है ?

समाधान—एकेन्द्रियादिक सभी जीवोंका प्रत्येक ज्ञान स्वसंवेदी होता है। ज्ञानकी यह स्वसंवेदना प्रकाशमे रहनेवाली स्वप्रकाशकताके समान है। अर्थात् जिस प्रकार प्रकाशको अपना प्रकाश करनेके लिये दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकार ज्ञानको अपना प्रकाश करने (ज्ञान कराने) के लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती है।

ज्ञानका यह स्वसंवेदन ही एकेन्द्रिय आदि सभी असंज्ञी जीवोंको प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप समस्त क्रियाओंमें प्रेरक हुआ। करता है अत. इनको (असज्ञी जीवोंकी) उक्त प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियाओंके लिये कारण रूपसे उन जोवोंके अतिरिक्त श्रुतज्ञानका सद्भाव माननेकी आवश्यकता ही नही रह जाती है, जिसके लिये हमें उनके ईषत् मनकी कल्पना करनेके लिये बाध्य होना पडे।

मेरा ऐसा मत है कि करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमें उक्त स्वसंवेदन ज्ञानको ही संभवतः श्रुतज्ञान शब्दसे पुकारा गया है; क्योंकि अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञानरूप श्रुतज्ञानका लक्षण उसमे घटित हो जाता है। घट पदार्थका ज्ञान होनेके साथ जो घटज्ञानका स्वसंवेदनरूप ज्ञान हमें होता है वह अर्थान्तर ज्ञानरूप ही तो है। यह स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञान चूँकि इन्द्रियों द्वारा न होकर ज्ञानद्वारा ही हुआ करता है, अत. श्रुतको अनिन्द्रियका विषय माननेमें कोई विरोध भी उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि "अ" का अर्थ निषेध करके अनिन्द्रिय शब्दका "ज्ञान" अर्थ करनेमें भी कोई बाधा उपस्थित नही होती है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिमें जिस श्रुतका विवेचन किया जाता है वह तो मनका विषय होता है। अतः इस प्रकरणमें अनिन्द्रियको "अ" का ईषत् अर्थ करके मनका वाची मान लेना चाहिये और करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमें जिस स्वसंवेदनरूप ज्ञानको श्रुत नामसे ऊपर बतला आये हैं

वह ज्ञानका विषय होता है। अतः उस प्रकरणमें अनिन्द्रिय शब्दको "अ" का अर्थ निषेध करके ज्ञानवाची मान लेना चाहिये।

अमनस्क शब्दका "ईषत् मन वाला" अर्थ भी कुछ असंगत-सा प्रतीत होता है। अर्थात् इन्द्रियशब्द-के साथ अनिन्द्रिय शब्दका "ईषत् इन्द्रिय" अर्थ जितना उचित प्रतीत होता है उतना समनस्क शब्दके साथ अमनस्क शब्दका "ईषत् मन वाला" अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि समनस्क शब्दमे 'सह' शब्दका प्रयोग मनकी मौजूदगीके अर्थमें ही किया गया है। अतः स्वभावतः अमनस्कशब्दमें "अ" का अर्थ मनकी गैर-मौजूदगी ही करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अनिन्द्रियशब्दके विशेषणार्थक संज्ञा होनेकी वजहसे उसका वाच्यार्थ मन होता है, इसलिये जिस प्रकार इन्द्रियशब्दके साथ अनिन्द्रियशब्दके प्रयोगमे सामंजस्य पाया जाता है, उस प्रकार अमनस्कशब्दका "ईषित् मनवाला" अर्थ करके समनस्क शब्दके साथ उसका (अमनस्कशब्दका) प्रयोग करनेमें सामंजस्य नहीं है क्योंकि अमनस्कशब्दका जब हम "ईषित् मनवाला" अर्थ करेंगे तो स्वभावतः समनस्कशब्दका हमें "पूर्ण मनवाला" अर्थ करना होगा, लेकिन समनस्क शब्दका "पूर्ण मनवाला" अर्थ करना क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है।

पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी[1]

पूर्वपक्षका प्रश्न—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी ?

उत्तरपक्षका उत्तर—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं।

समीक्षा

पर्यायोंका विवरण

१. प्रवचनसारके दूसरे ज्ञेयतत्त्वाधिकारकी[2] गाथा १ में बतलाया है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ हैं उन्हें द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्यमें स्वतःसिद्ध अनन्त गुण है। तथा प्रत्येक द्रव्यमें द्रव्य-पर्यायें व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणमें गुणपर्यायें होती है। तत्त्वार्थसूत्रके "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" (५-३८) सूत्रका भी यही अभिप्राय है।

२. तत्त्वार्थसूत्रके "सद्द्रव्यलक्षणम्" (५-२९) सूत्रमें द्रव्यका लक्षण "सत्" कहा है तथा द्रव्यका स्वतःसिद्ध स्वभाव होनेसे गुण भी "सत्" कहलाता है। प्रत्येक द्रव्यमे व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपसे परिणमन होता रहता है। द्रव्य और गुणकी स्व-स्व उत्तरपर्यायके विकासको उत्पाद और पूर्वपर्यायके विनाशको व्यय कहते है। द्रव्यों और गुणोंमें ये उत्पाद और व्यय दोनों उनकी द्रव्यरूपता और गुणरूपताको सुरक्षित रखकर ही होते है। अत द्रव्य और गुणमे ध्रौव्यरूपता भी सतत् बनी रहती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" (५-३०) सूत्रमें सत्का लक्षण ऐसा ही निर्धारित किया गया है।

पर्यायोंकी द्विरूपता :

सभी द्रव्यपर्यायें स्व-परप्रत्यय ही होती है तथा सभी गुणपर्यायोंमेंसे षट्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायें स्वप्रत्यय और इनके अतिरिक्त शेषगुणपर्यायें स्व-परप्रत्यय ही होती है। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य हो उसे स्व-परप्रत्यय और जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीकी सहायताके बिना उपादानकारणजन्य हो उसे स्वप्रत्यय कहते है। पर्यायका-विभाजन कालद्रव्यकी अखण्ड पर्यायभूत समयसापेक्ष होनेसे द्रव्य और गुणकी प्रत्येक पर्याय समयवर्ती मानी गई है।

उभय पर्यायोंकी आगमद्वारा पुष्टि :

तत्त्वार्थसूत्रके "निष्क्रियाणि च" (५-७) सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमे व नियमसारकी गाथा १४ के उत्तरार्द्धमे पर्यायोंके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद स्पष्ट स्वीकार किये गये है।

पर्यायोंको उत्पत्तिमें नियतक्रमता और अनियतक्रमताका निर्णय :

यत स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है, अत. वह नियतक्रमसे ही होती है और स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है, अत. वह निमित्तोंके समागमके अनुसार नियतक्रमसे भी होती है और अनियतक्रमसे भी होती है।

---

१. वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित, १९८४ ई०।

२. अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥

स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी अन्य आगमवचनों द्वारा पुष्टि :

समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८ से ३११ तककी आत्मख्याति टीकामें "जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः" यह कथन पाया जाता है। इस कथनमें विद्यमान "जीव एव नाजीव" और "अजीव एव न जीव" इन दोनों अंशोंसे ज्ञात होता है कि जीवकी पर्यायें अजीवकी सहायतापूर्वक और अजीवकी पर्यायें जीवकी सहायतापूर्वक उत्पन्न होती हैं। यदि ऐसा न माना जावे, तो उक्त कथनके ये दोनों अंश निरर्थक हो जायेंगे, क्योंकि जीवको अजीवरूप और अजीवको जीवरूप माननेका प्रसंग तभी उपस्थित होता है जब जीवकी पर्यायोंका अजीवके साथ और अजीवकी पर्यायोंका जीवके साथ निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणसम्बन्ध माना जावे। समयसार-कलश १९५ मे स्पष्ट कहा गया है कि जीवका प्रकृतियोंके साथ जो बन्ध होता है वह जीवके अज्ञानभावका ही माहात्म्य है। समयसारकी गाथा ३१२-१३ में तो और भी स्पष्ट लिखा है कि जीव प्रकृतिके निमित्त (सहयोग) से उत्पन्न और विनष्ट होता है व प्रकृति जीवके निमित्त (सहयोग) से उत्पन्न और विनष्ट होती है। समयसारकी गाथा ८०, ८१ और १०५ तथा प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी गाथा ७७ से भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंका स्पष्ट समर्थन होता है।

इसके अलावा जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षा (भाग–१) के अन्तर्गत प्रश्नोत्तर–१की समीक्षामें मैंने तर्क और आगम प्रमाणोंके आधारसे निमित्तोंके प्रेरक और उदासीन (अप्रेरक) दो भेद बतलाकर उनके लक्षण इस रूपमें निर्धारित किये हैं कि प्रेरक निमित्त वे हैं जिनके साथ उपादानके कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हों तथा उदासीन निमित्त वे है जिनकी उसी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हो। इन लक्षणोंके अनुसार वहींपर मैंने यह भी स्पष्ट किया है कि प्रेरकनिमित्तोंके बलसे कार्य आगे-पीछे भी किया जा सकता है तथा अनुकूल उदासीन निमित्तोका भी यदि उपादानको सहयोग प्राप्त न हो तो उस उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणति नहीं होती है। इससे भी निर्णीत होता है कि निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर ही स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है। इसका स्पष्टीकरण उदाहरणों द्वारा किया जाता है—

१. पठनकी योग्यताविशिष्ट शिष्यकी पठनक्रिया प्रेरकनिमित्तकारणभूत अध्यापककी सहायतासे होती है, उसकी सहायताके बिना नहीं होती। तथा वहाँ यदि उदासीन निमित्तकारणभूत प्रकाशका अभाव हो तो न अध्यापक पढ़ा सकता है और न शिष्य पढ़ सकता है। इसी प्रकार चलनेकी योग्यताविशिष्ट रेलगाड़ी प्रेरकनिमित्तकारणभूत इंजनके चलनेपर ही चलती है, उसके अभावमें नही चलती, तथा वहाँ यदि उदासीन निमित्तकारणभूत रेलपटरीका सहयोग प्राप्त न हो तो न इंजन चल सकता है और न रेलगाड़ी चल सकती है। इस विवेचनके अनुसार स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनों ही प्रकारकी व्यवस्था निश्चित होती है।

२. प्रेरक निमित्तकारणभूत कुम्भकार अन्य प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणोंकी सहायतापूर्वक घटरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट मिट्टीसे क्रमशः स्थास, कोश और कुशल पर्यायोंकी उत्पत्तिपूर्वक ही संकल्पित घटको उत्पन्न करता है, तथा आवश्यक होनेपर वह कुम्भकार उसी मिट्टीसे विवक्षित सकोरा आदिको भी उत्पन्न करता है। इतना ही नही, यदि डंडका आघात आदि कारण मिल जायें तो चालू कार्यके

विभाव आदि कार्य भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह क्रोधकर्मका उदय रहते क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट जीवकी क्रोधपर्याय होते-होते यदि मान, माया या लोभ कर्मका उदय हो जावे तो क्रोध पर्याय रुककर उस जीवकी यथायोग्य मान, माया या लोभ पर्याय होने लगती है। इस विवेचनके अनुसार भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियत-क्रमता दोनों ही प्रकारकी व्यवस्था निर्णीत होती है।

३. पकनेकी योग्यता विशिष्ट आम्रफलका पाक ऋतुके अनुसार समयपर होनेका नियम है, परन्तु उस आम्रफलको यदि कृत्रिम ऊष्माका योग मिल जावे तो वह असमयमें भी पक जाता है। इसी प्रकार मरणकी योग्यताविशिष्ट संसारी जीवका मरण आयुकर्मके स्थितिबन्धके अनुसार आयुकी समाप्तिपर होना निश्चित है, परन्तु यदि विषपान आदिका योग मिल जावे तो जीव असमयमें भी मरणको प्राप्त हो जाता है। इस विवेचन-के अनुसार भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनों ही प्रकारकी व्यवस्था सिद्ध होती है।

यहाँ 'असमय' शब्दका अर्थ नियतसमयसे भिन्न अनियतसमय ही ग्रहण करना युक्त है, समयसे भिन्न अन्य निमित्तकारणभूत पदार्थ ग्रहण करना युक्त नहीं है—जैसा कि उत्तरपक्ष मानता है। इतना अवश्य है कि जिस पर्यायकी उत्पत्ति उस अनियतसमयमें होती है वह अनुकूल निमित्तकारणसापेक्ष ही होती है।

उत्तरपक्षकी दृष्टिमें स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिकी व्यवस्था

१. समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी ३०८ से ३११ तककी गाथाओंकी आत्मख्याति-टीकाके पूर्वोक्त कथनके अंशभूत दोनों "क्रमनियमितात्मपरिणामैं" पदोंमें विद्यमान "क्रमनियमित" शब्दका डॉ० हुकमचन्द्र भारिल्लने अपनी "क्रमबद्धपर्याय" पुस्तकमें पृष्ठ १२३ पर यह स्पष्टीकरण किया है कि "क्रम-नियमितशब्दमें क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्बरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आने-वाली है वही आयेगी इसमें फेरफार नहीं हो सकता। उत्तरपक्ष भी यही मानता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि उत्तरपक्ष आत्मख्याति-टीकाके उक्त क्रमनियमित शब्दके आधारपर प्रत्येक स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिका नियत समय मानकर अपना यह मत निश्चित करता है कि सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही होती है, अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे नहीं होती।

२ सम्पूर्ण द्रव्योंकी त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें सर्वज्ञके केवलज्ञानमें प्रतिसमय युगपत् (एकसाथ) क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं, अतः उन पर्यायोंकी उत्पत्तिको स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही मानना युक्त है, अन्यथा अर्थात् केवल स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिको अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे स्वीकार करनेपर प्रत्येक द्रव्यकी त्रैकालिक उन पर्यायोंकी केवलज्ञानमें प्रतिसमय युगपत् (एकसाथ) क्रमबद्ध प्रतिभासित होना असम्भव हो जायेगा, फलतः इस तर्कके आधारसे वह अपना यह मत निश्चित करता है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति स्व-प्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही होती है, अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे नहीं होती।

निष्कर्ष—

यद्यपि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा[1] व आचार्य रविषेण रचित पद्मपुराणके[2] प्रतिपाद्य विषयको प्रमाण मानता है, तथापि ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ पूर्व पक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें जिस देश और जिस कालमें पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी उस देश और उस कालको महत्व न देकर उपादान कारणभूत अन्तरंग सामग्रीके साथ निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्व देता है, वहाँ उत्तरपक्ष उस स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत अन्तरंग सामग्रीको महत्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्व न देकर उस देश और उस कालको महत्व देता है जिस देश और जिस कालमें वह पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी।

पूर्वपक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उक्त देश और कालको महत्व न देकर जो उपादानकारणभूत अन्तरंगसामग्रीके साथ निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्व देता है। उसमें हेतु यह है कि वह पक्ष उस पर्यायकी उत्पत्तिमें उस देश और उस कालको नियामक नहीं मानता है जिस देश और जिस कालमें उस पर्यायकी उत्पत्ति हुई, हो रही है या होगी। तथा वह पक्ष उस पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत अन्तरंग सामग्रीको उस पर्यायरूप परिणत होनेके आधारपर और निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको उपादानकी उस पर्यायरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर नियामक मानता है। इसके विपरीत उत्तरपक्ष उस स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूतअन्तरंग सामग्रीको महत्त्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्य-सामग्रीको महत्व न देकर जो उक्त देश और कालको महत्व देता है उसमें हेतु यह है कि वह पक्ष उस पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानको उस पर्यायरूप परिणत होनेके आधारपर नियामक मानते हुए भी निमित्तकारणभूत सामग्रीको उस पर्यायरूप परिणत न होने और उपादानकी उस पर्यायरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर मानते हुए नियामक न मानकर केवलज्ञानसे ज्ञात होनेके आधारपर उस देश और उस कालको ही नियामक मानता है जिस देश और जिस कालमें वह पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी। प्रकृतमें दोनों पक्षोंके मध्य यही मतभेद है।

तथ्यका निर्णय :

स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दोनों ही प्रकारकी पर्यायोंको उत्पत्तिमें जिस देश और जिस कालमें वे पर्यायें उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही हैं या उत्पन्न होगी उस देश और उस कालको नियामक न माना जाकर स्वप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें मात्र उपादानकारणको व स्व-परप्रत्ययपर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणके साथ निमित्तकारणको भी नियामक मानना युक्त है, क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिकी नियामक वही वस्तु हो सकती है

---

१. जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा॥ ३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिदो वा॥ ३२२॥

२. प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यदा यत।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तदा तत॥]—सर्ग ११०, श्लोक ४०।

जो कार्यरूप परिणत हो या उस कार्यरूप परिणतिमें उसकी सहायक हो। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है उस वस्तुका कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाना निर्विवाद है, परन्तु जो वस्तु उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होती है उस वस्तुका भी उस कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाना आवश्यक है, जैसा कि परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके तृतीय समुद्देशके सूत्र ६३ की प्रमेयरत्नमाला-टीकामें कहा गया है—

"अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापार-सव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति।"

अर्थ—कार्यकारणभावकी सिद्धि अन्वय और व्यतिरेकपर आधारित है। तथा वे (अन्वय और व्यतिरेक) कार्यके प्रति कारणव्यापार सापेक्ष ही सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार घटकार्यके प्रति कुम्भकारके अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध होते हैं।

अतएव कहा जा सकता है कि अन्वय और व्यतिरेकके आधारपर जैसा कार्यकारणभाव स्वप्रत्ययकार्य और उपादानमें व स्व-परप्रत्ययकार्य और उपादानकारण तथा निमित्तकारणमें निर्णीत होता है वैसा कार्य-कारणभाव उस कार्य और उक्त देश व कालमें निर्णीत नहीं होता, क्योंकि कार्योत्पत्तिमें जिस प्रकार उपादान-कारण कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर व प्रेरक और उदासीन दोनो निमित्तकारण उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी सिद्ध होते हैं उस प्रकार उस कार्योत्पत्तिमें उक्त देश और उक्त काल कार्यरूप परिणत होने या उसमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध नहीं होते। तात्पर्य यह है कि देश, कार्य और कारणभूत वस्तुओंका अवगाहक मात्र होता है व कालके आधारसे कार्य और कारणभूत वस्तुओंकी वृत्ति (मौजूदगी) मात्र सिद्ध होती है। तथा कालद्रव्यकी जो पर्यायें हैं वे उन द्रव्योंकी पर्यायोंका सीमानिर्धारण या विभाजन मात्र करती है। अतएव देश और कालकी कार्योत्पत्तिमें कुछ भी उपयोगिता नहीं है, केवल आवश्यकतानुसार उपादान कारण व प्रेरक और उदासीन निमित्तकारण ही कार्योत्पत्तिमें उपयोगी होते हैं।

आगममें जो यह बतलाया गया है कि क्षेत्रकी अपेक्षा भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंके भव्य मानव ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, हेमवत आदि क्षेत्रोंके भव्य मानव नहीं। इसी प्रकार कालकी अपेक्षा विदेह क्षेत्रके भव्य मानव मोक्ष-प्राप्तिके अनुकूल स्थिति विद्यमान रहनेके कारण सर्वदा मुक्त हो सकते हैं, तथा भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके भव्य-मानव उत्सर्पिणी कालके तृतीय भागमें व अवसर्पिणी कालके चतुर्थ भागमें सामान्य रूपमें एवं अवसर्पिणी कालके तृतीय भागके अन्तिम हिस्सेमें व पंचम भागके प्रारम्भिक हिस्सेमें अपवाद रूपसे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके शेष भागोंमें या उन भागोंके किसी अन्य हिस्सेमें कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते है। सो आगमके इस कथनसे यद्यपि देश और कालको भी मुक्तिरूप कार्यके प्रति उदासीनरूपसे निमित्तकारणता सिद्ध होती है, परन्तु इस कथनका यही आशय है कि जीव और पुद्गल द्रव्योंके यथायोग्य मध्यम उत्कर्षाप-कर्षमय देश और कालकी स्थिति ही जीवको मुक्ति प्राप्त करनेमें उदासीनरूपसे निमित्तकारण सिद्ध होती है। अमूर्त होनेके कारण देश और कालकी मुक्तिके प्रति कारणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि देश और कालका कार्य ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यदि देश और काल भी जीवको मुक्ति प्राप्त करनेमें उदासीनरूपसे निमित्त-कारण होने लगें, तो ऐसी स्थितिमें कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा—३२१-२२ व पद्मपुराण सर्ग—११० के श्लोक ४० में उनका कारणसामग्रीसे पृथक् निर्देश करना असंगत हो जायेगा।

उत्तरपक्ष स्वपरप्रत्ययपर्यायकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे सिद्ध करनेके लिए समयसार गाथा ३०८-११ की आत्मख्याति-टीकाके 'क्रमनियमित' शब्दका यह आशय ग्रहण करना है कि "क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्बरवार) नियमित अर्थात् निश्चित । जिस समय जो पर्याय आनेवाली हो वही आयेगी, उसमें फेर-बदल नहीं हो सकता ।" सो यह उसकी भ्रमबुद्धि है, क्योंकि उस टीकामें प्रयुक्त 'क्रमनियमित' शब्दका क्रममें नियमित अर्थात् बद्ध अर्थ ही ग्राह्य है, जिसका अभिप्राय है कि एकजातीय स्व-परप्रत्यय पर्यायें एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही उत्पन्न होतीं हैं । एकजातीय दो आदि अनेक पर्यायें युगपत् (एकसाथ) एकसमयमें कदापि उत्पन्न नहीं होतीं । फलतः उक्त 'क्रमनियमित' शब्दका उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त अर्थ युक्त न होकर पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत क्रममें अर्थात् एकके पश्चात् एकरूप क्रममें नियमित अर्थात् बद्ध अर्थ ही युक्त है ।

यद्यपि त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें केवलज्ञानमें एकसाथ एकसमयमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं, परन्तु उसके आधारसे उन पर्यायोंकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध स्वीकार करना युक्त नही है, क्योंकि उन त्रैकालिक पर्यायोंका केवलज्ञानमें युगपत् (एकसाथ) प्रत्येक समयमें क्रमबद्ध प्रतिभासित होना अन्य बात है और उनका उपादान और प्रेरक तथा उदासीन निमित्त कारणोंके बलसे यथासंभव क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध रूपमे उत्पन्न होना अन्य बात है । अर्थात् केवलज्ञानी जीव क्रम अथवा अक्रमसे उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंको क्रमबद्धरूपमें जानता है । फलत. स्व-परप्रत्यय पर्यायोंके विषयमे यदि उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि उनकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणसापेक्ष होनेसे क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध उभयरूप सिद्ध होती है तथा ज्ञप्तिकी अपेक्षा विचार किया जाये तो कहा जा सकता है कि उनका प्रतिभासन केवलज्ञानमें युगपत् (एकसाथ) एक समयमें क्रमबद्ध ही होता है ।

स्व-परप्रत्यय पर्यायोंके विषयमें उत्पत्ति और ज्ञप्तिका यह अन्तर उत्तरपक्षके प्रमुख प्रतिनिधि पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्यने जैन-तत्त्व-मीमांसा (प्रथम संस्करण) पृष्ठ—२९१ पर इस प्रकार प्रकट किया है—

"यद्यपि हम मानते हैं कि केवलज्ञानको सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जाननेवाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायोंकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्य-कारणपरम्पराको ध्यानमें रखकर ही की जाना चाहिए ।"

इस प्रकार कार्य-कारणभावके आधारपर होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध तथा केवलज्ञानमे होनेवाली उनकी ज्ञप्तिको मात्र क्रमबद्ध मान्य करनेमें पूर्वपक्षके समान उत्तरपक्षको भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि केवलज्ञानमें ही नहीं, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें भी अमुक कार्य अमुक कारणोंसे अमुक देशमे अमुक कालमें अमुकरूपसे उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हो रहा है या उत्पन्न होगा ऐसा क्रमबद्ध प्रतिभासन यथायोग्य सीमामें होता है, परन्तु यह अवश्य ध्यातव्य है कि चाहे केवलज्ञान हो अथवा चाहे मतिज्ञान, अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान हो, ये सभी ज्ञान अपने द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण करनेमें अक्षम ही हैं । स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

नेत्रइन्द्रियसे उत्पन्न हुए चाक्षुष-मतिज्ञानसे घटका ज्ञान तो होता है परन्तु वह घट है ऐसा विश्लेषण

उस मतिज्ञानसे नहीं होता, तथा कर्णेन्द्रियसे उत्पन्न हुए श्रावण-मतिज्ञानसे घटशब्दका ज्ञान तो होता है, परन्तु घटशब्दका अर्थ घटरूप पदार्थ है, यह विश्लेषण उस मतिज्ञानसे नहीं होता। यही स्थिति अन्य इंद्रियों-से उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानकी एवं अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी जान लेना चाहिए। इसमें हेतु यह है कि मति आदि उक्त चारों ज्ञानो द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण वितर्कात्मक ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। जबकि वे चारो ज्ञान वितर्कात्मक नही होते। यत. श्रुतज्ञान वितर्कात्मक होता है, अत. मति आदि उक्त ज्ञानों द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण श्रुतज्ञान द्वारा ही हो सकता है। यत मति-ज्ञानो, अवधिज्ञानो और मनःपर्ययज्ञानी जीवोंमें श्रुतज्ञानका सद्भाव नियमसे रहता है, अत मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीव इन ज्ञानोंसे प्रतिभासित पदार्थोंका श्रुतज्ञानके आधारपर विश्लेषण भी करते है पर जो केवलज्ञानी जीव हैं उनमे केवलज्ञानके साथ यत श्रुतज्ञानका सद्भाव नही रहता है, अतः केवलज्ञानी जीव द्वारा केवलज्ञानमे प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण किया जाना सम्भव नही है। इतना अवश्य है कि केवलज्ञानी तीर्थंकर जीवकी भव्य जीवोंके भाग्य और वचनयोगके बलसे जो निरक्षरी दिव्य-ध्वनि खिरती है उसके अर्थको गणधर अपनी अतिशयपूर्ण श्रुतज्ञानशक्तिके आधारपर ग्रहणकर उस आधारसे अक्षरात्मक श्रुतका निर्माण करते है, तथा इस अक्षरात्मक श्रुतका अध्ययन करके अन्य विशेष श्रुतज्ञान शक्तिके धारक महापुरुष भी ग्रन्थोंका निर्माण करते हैं।

वर्तमानमें भी तीर्थंकर महावीरने केवलज्ञान द्वारा विश्वके सभी पदार्थोंको और उनकी त्रैकालिक समस्त पर्यायोंको युगपत् एक समयमें जब क्रमबद्ध जान लिया तब भव्यजीवोंके भाग्य और वचनयोगके बलसे उनकी निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरी जिसके अर्थको गोतमगणधरने अपनी अतिशयपूर्ण श्रुतशक्तिके बलसे ग्रहण किया और उन्होंने अक्षरात्मक श्रुतकी रचना की। उसी प्रकार अपनी श्रुतज्ञानशक्तिके बलसे उसका अध्ययन करके अन्य आचार्योंने भी ग्रन्थोंका निर्माण किया। इस तरह यह श्रुत-परम्परा आजतक चल रही है।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य-कारणभावका विश्लेषण वितर्कात्मक श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान द्वारा नही, क्योंकि इन ज्ञानोमे वितर्का-त्मकताका अभाव है।

जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंका एक साथ सद्भाव रहता, है तथा किसी-किसी जीवमे मति-ज्ञान और श्रुतज्ञानके साथ अवधिज्ञानका या मन पर्ययज्ञानका अथवा अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान दोनोंका सद्भाव भी आगम द्वारा स्वीकार किया गया है, किन्तु जीवमें जब केवलज्ञानका विकास हो जाता है तब उसमें पहलेसे यथायोग्यरूपमे विद्यमान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानका अभाव हो जाता है, क्योंकि आगमे क्षायिक केवलज्ञानका जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उससे ज्ञात होता है कि क्षायिक केवलज्ञानके साथ जीवमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानका सद्भाव सम्भव नही है, क्योंकि वे क्षायोपशमिक हैं। तथा केवलज्ञानका विकास जीवमें समस्त ज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेपर ही होता है, केवलज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेपर नही होता।

इसप्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव होनेसे मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीव तो श्रुतज्ञानके बलसे कार्य-कारणभावका विश्लेषण करते हैं, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव निश्चित हो जानेसे केवलज्ञानी जीव कार्यकारणभावका विश्लेषण नही

करते हैं। एक बात और है कि मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीव यत. कृतकृत्य नही होते, अतः उन्हें तो कार्योत्पत्तिके लिए कार्य-कारणभावका विश्लेषण करना अनिवार्य है, परन्तु केवलज्ञानी जीव यत कृतकृत्य होते है, अतः उन्हे कार्योत्पत्तिके अनावश्यक हो जानेसे उसमें हेतुभूत कार्य-कारणभावका विश्लेषण करना आवश्यक नहीं है।

पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात काल, अनन्त-जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ विद्यमान हैं उन सबमे प्रतिसमय स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्ययके भेदसे दोनों प्रकारके परिणमन होते रहते हैं व उनमेंसे जो स्व-परप्रत्यय परिणमन है वे प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके सहयोगपूर्वक ही होते हैं। एवं उन परिणमनोंकी उत्पत्तिके लिए पदार्थोंको प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग प्राय. निसर्गत. ही प्राप्त रहता है। परन्तु किन्ही-किन्ही पदार्थोको उन प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग आवश्यकतानुसार जीवोंके प्रयत्नपूर्वक भी होता है। जैसे रेलगाडीको उसकी चलनक्रियामें प्रेरक निमित्तभूत इंजनका और उदासीन निमित्तभूत रेलपटरीका जो सहयोग प्राप्त होता है वह जीवोंके प्रयत्नपूर्वक ही होता है।

यद्यपि कार्तिकेयानुपेक्षाकी गाथा–३२१-२२, पद्मपुराण सर्ग–११० के श्लोक–४० और अन्य आगम-वचनोंसे भी यह ज्ञात होता है कि पदार्थोंमे जो परिणमन होते है वे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे जैसे प्रतिभासित होते है वैसे ही होते है, परन्तु इस कथनका यह आशय नही ग्रहण करना चाहिए कि उन परिण-मनोंकी उत्पत्तिमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें होनेवाला वह प्रतिभासन कारण होता है, क्योंकि केवलज्ञानी जीव कार्य-कारणभावके आधारपर उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होने वाली पर्यायोको ही जानते है। अतएव केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार उन पर्यायोंकी उत्पत्ति स्वीकार करना गलत है। फलत प्रकृत विषयमे दोनो पक्षोके मध्य जो मतभेद है वह इस बातका है कि जहाँ उत्तरपक्ष पदार्थोंके सभी परिणमनोंकी उत्पत्तिमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर क्रम-बद्धता अर्थात् नियतक्रमता स्वीकार करता है वहाँ पूर्वपक्ष उन परिणमनोकी उत्पत्तिमे श्रुतज्ञानसे ज्ञात कार्य-कारणभावके आधारपर यथासम्भव क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनो ही बातोको स्वीकार करता है। अर्थात् पूर्वपक्षकी मान्यता है कि स्वप्रत्यय परिणमन तो प्रेरक और उदासीन निमित्तोंके सहयोगके बिना उपादानकारणजन्य होनेसे क्रमबद्ध ही होते हैं तथा स्व-परप्रत्यय परिणमन प्रेरक और उदासीन निमित्तोके सहयोगपूर्वक उपादानकारणजन्य होनेसे प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी प्राप्तिके अनुसार क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध उभयरूप होते है। पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्तिके विषयमें दोनों पक्षोकी परस्परविरोधी इन मान्यताओंमेंसे कौन मान्यता युक्त और कौन मान्यता अयुक्त है, इसका निर्णय किया जाता है—

१. यद्यपि कार्तिकेयानुप्रेक्षाको गाथा–३२१-२२, पद्मपुराण सर्ग–११० के श्लोक–४० एवं अन्य आगमवचनोंके आधारपर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों ही पदार्थोंके परिणमनोंके विषयमें यह स्वीकार करते हैं कि वे परिणमन जैसे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित होते है वैसे ही होते हैं। पर ध्यान रहे कि केवलज्ञानी जोवके केवलज्ञानमें होनेवाला पदार्थोंके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय परिणमनोंका वह प्रति-भासन उनको उत्पत्तिका नियामक नही होता है, क्योंकि वास्तविकता यह है कि पदार्थोंके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय परिणमन स्वकीय कार्य-कारणभावके आधारपर जिस रूपमे उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे हैं और

आगे उत्पन्न होंगे उस रूपमें ही वे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं। इससे निर्णीत होता है कि उन परिणमनोंकी उत्पत्तिका नियामक श्रुतज्ञानपर आधारित कार्य-कारणभाव ही होता है, केवलज्ञानमें होनेवाला उनका प्रतिभासन नहीं। फलत कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा—३२१-२२ के "जिस पदार्थका जिस देशमें और जिस कालमें जिस विधानसे जैसा परिणमन जिनेन्द्र भगवानने ज्ञात किया है उस पदार्थका उस देशमें और उस कालमें उस विधानसे वैसा ही परिणमन होता है।" इस कथनका व पद्मपुराण सर्ग—११० के श्लोक ४० के "जिस जीवके द्वारा जिस देशमें और जिस कालमें जिस कारणसे जैसा प्राप्तव्य है उस जीवका उस देशमें और उस कालमें उस कारणसे वैसा ही प्राप्त होता है" इस कथनका एवं भैया भगवतीदासके "जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे" इस कथनका मात्र यही प्रयोजन ग्रहण करना उचित है कि जीव विवक्षित पदार्थके विवक्षित परिणमनकी सम्पन्नताके लिए तदनुकूल कारणोंको जुटानेका जो प्रयत्न (पुरुषार्थ) करता है उसकी सफलतामें वह अहंकार न करे व असफलतामें हताश होकर अकर्मण्य न हो जावे। इस प्रकार उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है व पूर्वपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्तिको पूर्वोक्त प्रकार कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है। एक बात और है कि सभी पदार्थ जब अनादिसिद्ध हैं तो उनके परिणमन भी अनादिकालसे होते आये हैं, जबकि केवलज्ञानकी सादिता आगम-सिद्ध होनेसे दोनों ही पक्ष स्वीकार करते हैं। फलत. पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्तिमें उन परिणमनोंका केवलज्ञानमें प्रतिभासित होना कार्यकारी सिद्ध नहीं होता। इस बातको तृतीय दौरकी समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट किया जायगा।

२. पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्योत्पत्तिके लिए कार्य-कारणभावका विश्लेषण श्रुतज्ञान द्वारा ही हो सकता है, केवलज्ञान द्वारा नहीं, अत. केवलज्ञानी जीव एक तो श्रुतज्ञानके अभावमें कार्य-कारण-भावका विश्लेषण कर नहीं सकता है, दूसरे उसके कृतकृत्य हो जानेसे कार्योत्पत्तिके अनावश्यक हो जानेके कारण उसे कार्य-कारणभावका विश्लेषण करना आवश्यक नहीं है। यत. मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:-पर्ययज्ञानी जीव एक तो श्रुतज्ञानके सद्भावमें कार्यकारणभावका विश्लेषण करते हैं, दूसरे कृतकृत्य न होनेसे उन्हें कार्योत्पत्तिके लिए कार्य-कारणभावका विश्लेषण करना अनिवार्य भी है। अतएव मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञान द्वारा कार्य-कारणभावका विश्लेषण करके ही कारणोंके जुटानेका प्रयत्न करते हैं। इसके अलावा यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोंको कार्योत्पत्तिके लिए प्रयत्न करनेके अवसरपर जिस प्रकार कार्य-कारणभावपर दृष्टि रखना आवश्यक है उस प्रकार केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयतापर दृष्टि रखना आवश्यक नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि उत्तरपक्षद्वारा पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवकी केवलज्ञानकी विषयतापर आधारित क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है व पूर्वपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जीव द्वारा कार्योत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञानके बलसे किया गया कार्य-कारणभावका निर्णय यथायोग्य सम्यक् और मिथ्या दोनों प्रकारका हो सकता है, अत. वह निर्णय यदि सम्यक् हो तो उसके आधारसे कार्योत्पत्तिके लिए किया गया जीवका प्रयत्न सफल होता है और यदि मिथ्या हो तो उसके आधारके कार्योत्पत्तिके लिए किया गया जीवका प्रयत्न असफल होता है। इसके अतिरिक्त जीव यदि

विवेकी है तो अपने प्रयत्नके सफल हो जानेपर वह अहंकार नहीं करता है और असफल हो जानेपर हताश होकर अकर्मण्य भी नहीं होता है। परन्तु जीव यदि अविवेकी है तो वह अपने प्रयत्नके सफल होनेपर अहंकार करने लगता है व असफल होनेपर हताश होकर अकर्मण्य भी हो जाता है।

३. मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीवोंको कार्योत्पत्तिके अवसरपर एक तो उसके विषयमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें क्या प्रतिभासित हो रहा है ? इसकी जानकारी (ज्ञान) होनेका कोई नियम नहीं है। वे तो मात्र "जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे" यह विकल्प ही कर सकते हैं। दूसरे, कार्योत्पत्तिके अवसर-पर कदाचित् किसी जीवको कार्योत्पत्तिके विषयमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें जो प्रतिभासित हो रहा है उसका ज्ञान हो भी जावे, परन्तु वह जीव यदि अविवेकी है तो उस अविवेकके आधारपर वह अपना प्रयत्न विपरीत करनेको भी उद्यत हो सकता है। जैसे मारीचको तीर्थंकर ऋषभदेवकी दिव्यध्वनिके श्रवणसे जब यह ज्ञात हुआ कि वह भी तीर्थंकर होगा, तो 'नान्यथावादिनो जिनाः' ऐसा अटल विश्वास करके वह कुमार्गगामी बनकर नानाप्रकारकी कुत्सित योनियोंमें बहुत काल तक भ्रमण करता रहा और जब वह सुबोधके आधारपर कुमार्गको त्यागकर सन्मार्गका पथिक बना तभी वह महावीरके रूपमें अन्तिम तीर्थंकर बन सका। इस विषयमें उत्तरपक्षका "मारीचको अन्तिम तीर्थंकर महावीर बनना था, इसलिए वह कुमार्गगामी बना।" यह कथन तर्कपूर्ण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वह सन्मार्गपर चलकर उत्तम योनि-योंमें भ्रमण करके भी अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर बन सकता था। इससे निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त नहीं है अपितु पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणमनोंकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

४. श्रीकानजी स्वामीने तो भैया भगवतीदासजीके 'जो-जो देखी वीतरागने सो-सो होसी वीरा रे' इस वचनपर आधारित पर्यायोंकी उत्पत्तिकी क्रमबद्धतामें अटूट विश्वास रखकर यहाँ तक मान लिया कि कार्योत्पत्तिके लिये किया जानेवाला जीवोंका प्रयत्न (पुरुषार्थ) भी उसी क्रमबद्धताका अंग है। इसका परिणाम यह हुआ कि जब उन्हें शारीरिक व्याधि हुई, तो वे अपनेको महान् अध्यात्ममार्गी व अध्यात्मके अभूतपूर्व उपदेष्टा मानते हुए भी राजसी वैभवमें लिप्त रहनेके कारण उस व्याधिको सहन नहीं कर सके और भैया भगवतीदासजीके उक्त वचनके आधारपर पुरुषार्थहीन होकर वे न केवल इस मार्गको भूल गये, अपितु भक्तों-की प्रार्थना और डाक्टरोंके सुझावोंकी उपेक्षा करके उस व्याधिसे छुटकारा पानेके लिए बम्बई जाकर जसलोक अस्पतालमें प्रविष्ट हुए एवं वहीं कालकवलित हो गये। इससे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थों-के परिणमनोंकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवोंकी केवलज्ञानविषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है, किन्तु पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणमनोंकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

५. माना कि तीर्थंकर नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके श्रवणसे श्रोताओंको ज्ञात हुआ कि बारह वर्ष व्यतीत होनेपर द्वारिकापुरी भस्म हो जायेगी और उसे भस्म न होने देनेके लिए लोगों द्वारा लाख प्रयत्न करनेपर भी वह भस्म हो गयी, परन्तु इसमें ज्ञातव्य यह है कि द्वारिकापुरी तदनुरूप कारणोंके मिलनेपर ही भस्म हुई वह तीर्थंकर नेमिनाथके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके बलपर अथवा भगवान नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके बलपर नहीं भस्म हुई। इसी प्रकार केवलज्ञानी जीवोंके समान मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और

मन:पर्ययज्ञानी जीवोंकी भविष्यवाणियाँ भी यथायोग्य सत्य हो सकती हैं या होती हैं, परन्तु वहाँ भी कार्य तो श्रुतज्ञानके बलपर निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर ही सम्पन्न होते हैं। मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्ययज्ञानी जीवोंके यथायोग्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानके बलपर अथवा उनकी भविष्य-वाणियोंके बलपर नहीं। इस विवेचनसे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्ति-की केवलज्ञानी जीवकी केवलज्ञानविषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है व पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणामोंकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

६ उत्तरपक्षकी मान्यता है कि भवितव्यता (भविष्यमें होनेवाली कार्योत्पत्ति) के अनुसार ही जीवकी बुद्धि हो जाती है। उसका पुरुषार्थ भी उसी भवितव्यताके अनुसार होता है और अन्य सहायक कारण भी उसी भवितव्यताके आधारपर प्राप्त होते है—

"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृश ।
सहायस्तादृशाः सन्ति यादृशी भविव्यता ॥"

सो उसकी यह मान्यता भी मिथ्या है क्योंकि वह पक्ष भवितव्यताके अनुसार होनेवाली कार्योत्पत्तिमे कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय (पुरुषार्थ) और अन्य सहायक कारणोंकी प्राप्ति भी उसी भवितव्यताके अनुसार मानता है। फलत ऐसी अवस्थामे उक्त बुद्धि, पुरुषार्थ और सहायक कारणोंके बिना भी कार्योत्पत्तिके होनेका प्रसंग उपस्थित होता है। इसपर यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि वह प्रसंग उसको इष्ट है, तो उसका ऐसा कहना आप्तमीमासाकी कारिका[1] ८८, ८९, ९० और ९१ के कथनके विरुद्ध हैं। इस बातको दार्शनिक विद्वान् अच्छी तरह समझ सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि आप्तमीमासाकी उक्त कारिकाओंके अनुसार भवितव्यता (भविष्यमे होनेवाली कार्योत्पत्ति), जिसे वर्तमानमे कार्योत्पत्तिको योग्यता, अदृष्ट या दैव कहा जाता है—के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नही है। तथा इससे होनेवाली कार्योत्पत्ति (उसकी कार्यरूप परिणति) जीवकी बुद्धि (श्रुतज्ञान और व्यवसाय (पुरुषार्थ) तथा अन्य सहायक कारणोका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होती है, अत. भवितव्यताको उक्त बुद्धि, व्यवसाय और अन्य सहायक कारणोंकी प्राप्तिमे कारण नही माना जा सकता है। फलत उक्त कारिकाओके आधारपर यही निर्णीत होता है कि पदार्थमे विवक्षित भवितव्यता (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) हो उसे बुद्धि, पुरुषार्थ तथा अन्य साधनसामग्रीका योग प्राप्त हो जावे, तो ही विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा पदार्थमें विवक्षित भवितव्यता विद्यमान रहनेपर भो यदि बुद्धि, व्यवसाय और अन्य

१. दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषत कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्ष पौरुषं निष्फल भवेत् ॥८८॥
पौरुषादेवार्थसिद्धिश्चेत् पौरुष दैवत कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघ स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥
अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत. ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

साधनसामग्रीका योग न प्राप्त हो तो विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि भवितव्यताके अनुसार जो कार्यकी उत्पत्ति होती है वह बुद्धि, व्यवसाय और अन्य सहायकसामग्रीकी अपेक्षाके बिना ही होती है, तो उसकी यह स्वीकृति एक तो आप्तमीमांसाकी उपर्युक्त कारिकाओंके विरुद्ध है और दूसरे वह अयुक्त भी है, क्योंकि कार्योत्पत्तिके विषयमें कारणसामग्रीकी अपेक्षा कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१-२२ में व पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० में भी स्वीकार की गयी है। संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंके अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तर्कसे भी ऐसा ही निर्णीत होता है।

निष्पत्ति

१ समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८ से ३११ तककी आत्मख्याति-टीकाका जो कथन पूर्वमें उद्धृत किया गया है उसमें निर्दिष्ट "क्रमनियमित" शब्दका उत्तरपक्षने जो यह अर्थ समझा है कि "क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्बरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है वही आयेगी, उसमें फेर-फार नहीं हो सकता।" उसे मैं उसकी भ्रमबुद्धिका परिणाम मानता हूँ, क्योंकि प्रकरणको देखते हुए उस 'क्रमनियमित' शब्दका क्रम अर्थात् एकके पश्चात् एकरूप क्रममें नियमित अर्थात् निश्चित अर्थ ही सगत है। भाव यह है कि प्रत्येक पदार्थकी एकजातीय नाना पर्यायोकी उत्पत्ति एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही होती है, युगपत् अर्थात् एकसाथ एक ही समयमें नहीं होती। इस बातको पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

२ केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके अनुसार निर्णीत पर्यायोंकी क्रमबद्धताके आधारपर उन पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध मानना युक्त नहीं है, क्योंकि उन पर्यायोकी उत्पत्ति श्रुतज्ञानके आधारपर निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनो प्रकारसे होती है तथा श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्धरूपसे उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती है। इस विषयको भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

३ कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१-२२ व पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० तथा अन्य आगम-वाक्योमें पर्यायोंकी जिस क्रमबद्धताका विवेचन किया गया है उसका उपयोग पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका उपयोग कार्योत्पत्तिके लिए प्रयत्नशील जीवोको अपने प्रयत्नमें सफल होनेपर अहंकार न करने व असफल होनेपर हताश होकर अकर्मण्य न बननेके लिए करना ही उचित है। यदि कोई व्यक्ति उसका उसके अतिरिक्त अन्य उपयोग करना चाहता है तो उसका मारीच व काजीस्वामीके समान अकल्याण होना संभव है। इस विवेचनको भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार प्रकृत विषयके संबंधमें अबतक जो विवेचन किया गया है उससे निर्णीत होता है कि पदार्थोंकी श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्धरूपसे निष्पन्न हुई, निष्पन्न हो रही और आगे निष्पन्न होने वाली स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी केवल-ज्ञानी जीवके केवलज्ञान द्वारा होने वाली ज्ञप्तिको ही क्रमबद्ध स्वीकार करना उचित है। उनकी उत्पत्तिको तो श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य करना ही युक्त और कल्याणकारी है।

मुझे इस बातका आश्चर्य है कि श्री कानजीस्वामीने अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे विरुद्ध आगम-के अभिप्रायको ग्रहणकर केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर निर्णीत पर्यायोंकी क्रमबद्धताका

श्रुतज्ञानके बलपर निर्णीत कार्य-कारणभावपर आधारित पर्यायोंकी उत्पत्तिमें उपयोग किया है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि सोनगढसिद्धान्तवादी वर्ग भी उनके उपदेशसे प्रभावित होकर उनकी अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तर्कके विरुद्ध मान्यताका अनुसरण कर रहा है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी और डॉ० हुकुमचंद्र भारिल्ल जयपुरने उक्त मान्यताको पुष्ट किया है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि डॉ हुकमचन्द्र भारिल्लकी 'क्रमबद्ध पर्याय' पुस्तकमें निर्दिष्ट आचार्यों मुनिराजों, व्रतियों, विद्वानों और लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओंने आगमके अभिप्रायको समझनेकी चेष्टा न करके उनकी मान्यताका समर्थन किया है और मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि कतिपय अन्य साधु, व्रती, विद्वान् और सामान्य जन भी कार्योत्पत्तिके विषयमें उनकी (कानजीस्वामीको) उम मान्यताको स्वीकार करनेके लिए उत्सुक हैं। ऐसी विचित्र दशा देखते हुए मेरी दृष्टि आगमके उस वचनपर जाती है जिसमें यह बतलाया गया है कि सिद्धान्तग्रन्थोंका पठन-पाठन गृहस्थोंके लिए उचित नहीं है। वर्तमानमे तो आगमका वह वचन कतिपय साधु-संतोंपर भी लागू होता है। वास्तवमे सिद्धान्तका अनर्थ और दुरुपयोग रोकनेमे लिए ही आचार्योंने बड़ी सूझ-बूझसे सिद्धान्तग्रन्थोंके अध्ययनका सर्वसाधारणके लिए निषेध किया है।

मुझे आशा है कि सोनगढसिद्धान्तवादी सभी जन मेरे इस विवेचनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके तथ्यका निर्णय करेंगे। तथा आगमके अभिप्रायको समझनेमें लापरवाह एवं संशयमे पड़े हुए पुरातन सिद्धान्तवादी सभीजन भी उत्पत्तिकी अपेक्षा आगम द्वारा स्वीकृत व अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे सिद्ध स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध और स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिको निमित्तोके समागमके अनुसार क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध ही मान्य करेंगे।

केवलज्ञानकी विषयमर्यादा

समयसार गाथा १०३ मे बतलाया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके साथ संयुक्त या बद्ध होनेपर भी वे दोनों द्रव्य कभी तन्मयरूपसे एकरूताको प्राप्त नही होते। और न एक-दूसरे द्रव्यके गुण-धर्म ही एक-दूसरे द्रव्यमें संक्रमित होते है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमदि दव्वे।

पंचास्तिकायकी गाथा ७ मे भी बतलाया गया है कि सभी द्रव्य परस्परमें प्रविष्ट होते हुए भी, परस्परको अवगाहित करते हुए भी और परस्पर (दूध और जलकी तरह) मिलकर रहते हुए भी कभी अपने स्वभावको नही छोडते है—

अण्णोण्णं पविसंता दिता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सहावं ण विजहंति॥

तात्पर्य यह है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात् काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ हैं वे सभी यथायोग्य परस्पर संयुक्त होकर ही रह रहे हैं तथा जीव और पुद्गल एवं पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध होकर भी रह रहे हैं। तथापि सभी द्रव्य अपने-अपने द्रव्यरूप, गुणरूप और पर्यायरूप स्वभावमे रह रहे हैं और रहते जावेंगे। कोई भी पदार्थ संयुक्त या बद्ध दशामे दूसरे पदार्थकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको प्राप्त नही होता, न हो सकता है। इतना अवश्य है कि सभी पदार्थ यथायोग्य उस संयुक्त या बद्ध दशामें परस्परके सहयोगसे अपना स्व-परप्रत्यय परिणमन करते

रहते हैं। जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल तो उस बद्ध दशामें परस्परके सहयोगसे अपना-अपना स्व-परप्रत्यय परिणमन विकृत भी करते रहते हैं। समयसार गाथा ८० में कहा भी है कि जीवके परिणामोंके निमित्त (सहयोग) से पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गलकर्मके निमित्त (सहयोग) से जीव भी तथैव (रागादिभावकर्मरूप) परिणत होता है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमई ॥

समयसार गाथा ८१ में यह भी कहा गया है कि बद्ध दशामें जीव पुद्गलकर्मगुणरूप परिणत नहीं होता और पुद्गलकर्म जीवगुणरूप परिणत नहीं होता। परस्परके निमित्तसे (सहयोगसे) दोनोंका अपना-अपना परिणमन अवश्य होता है—

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोहृणंपि ॥

यह वस्तुस्थिति है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि उपर्युक्त सभी पदार्थ परस्पर संयुक्त होकर रह रहे हैं व जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल अनादिकालसे परस्पर बद्ध होकर भी रहते आये हैं, तथापि वे पदार्थ यथायोग्य उस संयुक्त दशामें या बद्ध दशामें भी सतत अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतामें ही विद्यमान हैं। जैसे संयुक्त दशामें आकाशकी अपनी द्रव्यरूपता नियत अनन्तप्रदेशात्मक ही है। धर्मकी, अधर्मकी और सभी जीवोंमेंसे प्रत्येक जीवकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता नियत असंख्यातप्रदेशात्मक ही है। तथा समस्त कालोंमेंसे प्रत्येक कालकी व समस्त पुद्गलोंमेंसे प्रत्येक पुद्गलकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता एकप्रदेशात्मक ही है। ऐसी ही स्थिति संयुक्त दशामें उन पदार्थोंकी अपनी-अपनी गुणरूपता और स्वप्रत्यय एवं स्व-परप्रत्ययपर्यायरूपताकी भी नियत है तथा बद्धदशामें जीव और पुद्गलकी व पुद्गल और पुद्गलकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता, व स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपताकी भी ऐसी ही स्थिति नियत है। यही कारण है कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय (पद्य एक) में बतलाया गया है कि सभी पदार्थ केवलज्ञानमें दर्पणतलके समान अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता, और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्ययपर्यायरूपतासहित प्रतिसमय युगपत् पृथक्-पृथक् ही प्रतिफलित हो रहे हैं—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥

जो बात इस पद्यमें बतलाई गई है वही बात तत्त्वार्थसूत्रके 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' (१-२९) सूत्रमें भी बतलाई गई है।

यह विवेचन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि उक्त सभी पदार्थ परस्पर संयुक्त रहते हुए भी जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध रहते हुए भी जब केवलज्ञानमें सतत् अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतासहित पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित हो रहे हैं तो उस स्थितिमें उन पदार्थोंकी संयुक्त दशाका व जीव और पुद्गल एवं पुद्गल और पुद्गलकी बद्धदशाका प्रतिभासन केवलज्ञानमें नहीं हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि समयसार, गाथा १०३, पंचास्तिकाय, गाथा ७ और समयसार, गाथा ८१ के अनुसार उक्त पदार्थोंका परस्पर पृथक्कपना वास्तविक सिद्ध होता है व उनकी यथायोग्य संयुक्त व बद्ध दशा

अवास्तविक सिद्ध होती है। इसलिए केवलज्ञानमें जब प्रतिक्षण पदार्थोंकी वास्तविक पृथक्-पृथक्रूपताका प्रतिभासन हो रहा है तो उसमें उनकी अवास्तविक यथायोग्य परस्पर संयुक्त दशाका या बद्ध दशाका प्रतिभासन होना संभव नहीं रह जाता है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमेंसे मतिज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जिसमें सीपकी वास्तविक सीपरूपताका और आस्तविक रजतरूपताका प्रतिभासन सम्भव है। परन्तु उस मतिज्ञानमें भी जब सीपको वास्तविक सीपरूपताका प्रतिभासन हो रहा हो तब उसकी अवास्तविक रजरूपताका प्रतिभासन नहीं होता है और उसमें जब सीपको अवास्तविक रजरूपताका प्रतिभासन हो रहा हो तब उसकी वास्तविक सीपरूपताका प्रतिभासन नहीं होता है।

यदि कहा जाये कि सीपकी रजतरूपता जैसी अवास्तविक है वैसी अवास्तविक पदार्थोंकी संयुक्त दशा या बद्ध दशा नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मतिज्ञानमें सीपकी अवास्तविक रजरूपताका प्रतिभासन मिथ्या माना जाता है उस प्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें होनेवाले पदार्थोंकी संयुक्त दशा या बद्धदशाके प्रतिभासनको मिथ्या नहीं माना जाता है, इसलिए केवलज्ञानके विषयमें 'मतिज्ञानका उपर्युक्त उदाहरण अयुक्त है, तो इसका समाधान यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाली पदार्थोंकी संयुक्तदशा या बद्धदशा नानापदार्थनिष्ठ होनेसे उपचरित धर्मके रूपमें उपचारसे ही वास्तविक है। एकपदार्थनिष्ठ स्वरूपदृष्टिसे तो वह मिथ्या ही है। अतएव प्रत्येक पदार्थके पृथक्-पृथक् स्वरूपका प्रतिभासन करनेवाले केवलज्ञानमें उसके प्रतिभासनका निषेध किया गया है, क्योंकि केवलज्ञानमें सतत प्रत्येक पदार्थके पृथक्-पृथक् तदात्मक स्वरूपका ही प्रतिभासन होता है। इस विवेचनसे यह भी सिद्ध होता है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन केवलज्ञानमें होनेवाले पदार्थके प्रतिभासनसे विलक्षण ही होता है। इस विलक्षणताका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

१—यतः जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर ही प्रकट होता है, अतः केवलज्ञानमें समस्त पदार्थोंकी एक-एक क्षणवर्ती स्थितिके प्रतिभासनकी क्षमता होनेसे उसमें सभी पदार्थोंकी एक-एक क्षणवर्ती स्थितिका पृथक्-पृथक् प्रतिभासन होता है। यतः जीवमें मतिज्ञान मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है, अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है और मनःपर्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है, अतः तीनों ज्ञानोंमें अपने-अपने विषयभूत पदार्थकी अन्तर्मुहूर्तकालवर्ती नाना स्थितियोंका अखण्डरूपसे प्रतिभासन होनेकी क्षमता होनेसे उस पदार्थकी अन्तर्मुहूर्तकालवर्ती नाना स्थितियोंका ही अखण्डरूपसे प्रतिभासन होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ उक्त प्रकार क्षायिक होनेसे केवलज्ञानमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील है वहाँ उक्त प्रकार क्षायोपशमिक होनेसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन तीनोंमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन अन्तर्मुहूर्तकालमें ही परिवर्तनशील है। एक-एक क्षणमें परिवर्तनशील नहीं है।

२—यतः जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मके सर्वथा क्षय होनेपर प्रकट होता है, अतः उसमें समस्त पदार्थोंका प्रतिभासन मात्र स्व-सापेक्ष होनेसे असीम होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" (१-२९) सूत्रसे जानी जाती है। इसके विपरीत जीवमें मतिज्ञान मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है अतः उसमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन पौद्गलिक स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र, कर्ण और मनके अवलम्बनपूर्वक होनेसे मर्यादित होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" (१-२६) सूत्रसे जानी जाती है। तथा जीवमें अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर व मनःपर्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होते हैं। अतः इनमें होनेवाला

पदार्थका प्रतिभासन स्वसापेक्ष होनेपर भी एक तो मात्र रूपी पदार्थका होता है। दूसरे वह प्रतिभासन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिए हुए होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "रूपिष्ववधे." (१-२७) व "तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य" (१-२८) दोनों सूत्रोंसे जानी जाती है।

३—यत: जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय होनेपर प्रकट होता है, अतः निराबाध होनेसे उसमें संयुक्त या बद्धपदार्थोंका संयुक्त या बद्धरूपसे प्रतिभासन न होकर पृथक्-पृथक् ही होता है जबकि जीवमे मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञान उस-उस ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होते हैं, अत बाधासहित होनेसे उनमें संयुक्त या बद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन तो संयुक्त या बद्धरूपमें ही होता है व असंयुक्त व अबद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन असंयुक्त या अबद्धरूपमें (पृथक्-पृथक्रूपमे) ही होता है। जैसे इन तीनों ज्ञानोंमें दूध और जलके मिश्रणमे तो दूध और जलका मिश्रितरूपसे ही प्रतिभासन होता है और पृथक्-पृथक्रूपमे विद्यमान दूध और जलका प्रतिभासन पृथक्-पृथक् ही होता है। इसी तरह अवधिज्ञान और मन पर्यज्ञानमें दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त अणुओंके स्कन्धरूपको प्राप्त अणुओंका प्रतिभासन पिण्डरूपसे ही होता है व पृथक्-पृथक्रूपमें विद्यमान अणुओका प्रतिभासन पृथक्-पृथक् रूपसे ही होता है।

इससे निर्णीत होता है कि जहाँ केवलज्ञानमें संयुक्त या बद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन संयुक्त दशामें या बद्ध दशामें संयुक्त या बद्धरूपसे न होकर पृथक्-पृथक्रूपसे होता है वहाँ मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें अपने-अपने विषयभूत संयुक्त और बद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन पृथक्-पृथक्रूपसे न होकर संयुक्त और बद्धरूपसे ही होता है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारके उपयोगप्रकरण[1]मे सभी क्षायोपशमिक ज्ञानोको विभावज्ञानकी व क्षायिकपनेको प्राप्त केवलज्ञानको स्वभावज्ञानको संज्ञा दी है। इस विषयको मैंने जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके प्रथम भागमे प्रश्नोत्तर–४ के प्रथम दौरकी समीक्षामे स्पष्ट किया है।

पूर्वमें यह बात बतलायी जा चुको है कि जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों एकसाथ अनादिकालसे विद्यमान है। तथा किसी-किसी जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके साथ अवधिज्ञानका या मन पर्ययज्ञानका अथवा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान दोनोंका भी विकास हो जाता है। परन्तु जीवमें जब केवलज्ञानका विकास होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानका अभाव हो जाता है। इससे निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—

---

१. जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणंत्ति ॥१०॥
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणंत्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेदं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाईभेददो चेव ॥१२॥
तह दंसण उवओगो ससहावेदर-वियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥
चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छित्ति। गाथा १४ का पूर्वार्ध।

१—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्ययज्ञानी जीव तो मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानसे ज्ञात पदार्थका उस श्रुतज्ञानके बलसे विश्लेषण भी करते हैं, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेसे केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानसे ज्ञात पदार्थका कदापि विश्लेषण नही करते है।

२—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीव श्रुतज्ञानके बलसे एक ही पदार्थमें गुण-गुणीभावका भेद करके गुण और गुणीमें आधाराधेयभावका विश्लेषण करते हैं, तथा एक ही पदार्थमे भेदके बलपर उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभावका भी विश्लेषण करते है। इतना ही नहीं, तादात्म्यसम्बन्धाश्रित अन्य सभी प्रकारके सम्बन्धोंका भी विश्लेषण करते हैं, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव एक ही पदार्थमें भेदकी अवास्तविकताके कारण उक्त सभी प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण नहीं करते हैं।

३—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्ययज्ञानी जीव उस श्रुतज्ञानके बलसे नाना पदार्थोंमे भी आधाराधेयभाव और निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव आदि संयोगसम्बन्धाश्रित सभी प्रकारके सम्बन्धोंका विश्लेषण करते है। परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव नाना पदार्थोंमे संयोगसम्बन्धाश्रित उक्त सभी प्रकारके सम्बन्धोंका कदापि विश्लेषण नहीं करते हैं।

४—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीव उस श्रुतज्ञानके बलसे अर्थ और शब्दमे वाच्य-वाचकभाव व पदार्थ व ज्ञानमें ज्ञेय-ज्ञायकभाव आदि विविध प्रकारके सम्बन्धोंका भी विश्लेषण करते है, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव इस प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण नही करते है।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोंका कार्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जाननेका तथा श्रुतज्ञानके द्वारा विविध प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण करना है वहाँ केवलज्ञानी जीवका कार्य केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानना तो है, परन्तु श्रुतज्ञानका अभाव होनेसे उक्त किसी भी प्रकारके सम्बन्धका विश्लेषण करना उसका कार्य नही है।

पुद्गलोंका आवश्यक विवेचन

जिस प्रकार कालद्रव्य अणुरूप है उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी अणुरूप है। दोनोमें विशेषता यह है कि जहाँ कालद्रव्य असंख्यात है और निष्क्रिय है वहाँ पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं और क्रियाशील भी है। काल और पुद्गल दोनों द्रव्योंमें एक विशेषता यह भी है कि जहाँ सभी कालाणु स्वभावदृष्टिसे समान है वहाँ सभी पुद्गलाणु स्वभावदृष्टिसे समान नहीं हैं। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

प्रत्येक पुद्गलाणुमे स्वभावतः काला, पीला, नीला, लाल और सफेद इन पाँच वर्णोंमेसे कोई एक वर्ण रहता है। अत: सभी पुद्गलाणु वर्णकी अपेक्षा पाँच प्रकारके हो जाते है। वर्णकी अपेक्षा पाँच प्रकारके सभी पुद्गलाणुओंमेंसे प्रत्येक पुद्गलाणुमे खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा और कषायला इन पाँच रसोंमे कोई एक रस रहता है। अत सभी पुद्गलाणु पाँच वर्णों और पाँच रसोकी अपेक्षा ५ × ५ = २५ प्रकारके हो जाते हैं। इन २५ प्रकारके पुद्गलाणुओमेसे प्रत्येक पुद्गलाणुमे सुगन्ध और दुर्गन्ध दो गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध

रहता है। अतः सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे २५ × २ = ५० प्रकारके हो जाते हैं। इन ५० प्रकारके पुद्गलाणुओंमेंसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्निग्ध और रूक्ष इन दो स्पर्शोंमेंसे कोई एक स्पर्श रहता है। इस प्रकार सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे ५० × २ = १०० प्रकारके हो जाते हैं। इस १०० प्रकारके पुद्गलाणुओंमेंसे प्रत्येक पुद्गलाणुमे शीत और उष्ण इन दो स्पर्शोंमेंसे कोई एक स्पर्श रहता है। अतः सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे १०० × २ = २०० प्रकारके हो जाते है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि आगममें स्पर्शके स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, हल्का, भारी, कठोर और कोमल इस प्रकार आठ भेद बतलाये गये हैं। किन्तु सभी पुद्गलाणु यत. एकप्रदेशात्मक ही होते हैं। अतः उनमें स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण ये चार स्पर्श रहते हुए भी हल्का, भारी, कठोर, और कोमल इन चार स्पर्शोंका सद्भाव सम्भव नही है, क्योकि हल्का, भारी, कठोर और कोमल ये चार स्पर्श नानाप्रदेशात्मक पुद्गल वस्तुमें ही सम्भव होते हैं। इतना अवश्य है कि प्रत्येक पुद्गलाणुमे जो स्निग्ध और रूक्ष दो स्पर्शोंमेंसे कोई एक स्पर्श पाया जाता है, उसके आधारपर एक पुद्गलाणु दूसरे पुद्गलाणुके साथ बन्धको भी प्राप्त होता रहता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके "स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः" (५-३३) सूत्रसे स्पष्ट है। इस प्रकार दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त पुद्गलपरमाणु जब परस्पर बन्धको प्राप्त हो जाते हैं तब उनमे हल्का, भारी, कठोर और कोमल इन चार स्पर्शोंके सद्भावकी सम्भावना हो जाती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके "अणवः स्कन्धाश्च" (५-२५) सूत्रमे पुद्गलके अणु और स्कन्ध दो भेद बतलाये गये हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि हल्का और भारी तथा कोमल और कठोर परस्परसापेक्ष होकर ही उस-उस स्पर्शरूपताको प्राप्त होते हैं।

पुद्गलोमें पृथ्वी, जल अग्नि और वायु ये चार स्कन्ध तो प्रत्यक्ष अनुभवमे आते हैं। इनका निर्माण भी पुद्गलाणुओंके परस्पर बन्धके आधारपर ही समझना चाहिए। गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा ६०२ मे जो बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म ये ६ भेद पुद्गलोंके बतलाये गये हैं, उनमेंसे पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि बादर-बादर स्कन्ध है। जल, तेल आदि बादर स्कन्ध हैं। छाया, आतप चाँदनी आदि बादर-सूक्ष्म स्कन्ध है। शब्द, गन्ध, रस आदि सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध है। ज्ञानावरणादिकर्म सूक्ष्म स्कन्ध है और अखण्ड पुद्गल परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्मरूपमें अणु ही हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा ५९३-९४ में पुद्गलोंके वर्गणाओके रूपमें २३ भेद भी बतलाये गये है। इनमेंसे वर्ग सूक्ष्म पुद्गलाणुरूप हं और एकजातीय वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है। इस तरह २३ वर्गणाओंकी व्यवस्था आगमके अनुसार ज्ञातव्य है। यहाँ आवश्यक जानकर आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषा-वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके विषयमें स्पष्टीकरण किया जाता है।

आहारवर्गणाके तीन भेद है। एक आहारवर्गणा वह है जिससे औदारिक शरीरकी रचना होती है। दूसरी आहारवर्गणा वह है जिससे वैक्रियिक शरीरका निर्माण होता है और तीसरी आहारवर्गणा वह है जो आहारकशरीररूप परिणत होती है। इनके भी यथासम्भव अनेक प्रकार आगमके आधारपर जान लेना चाहिए। जैसे तिर्यञ्चोंकी नाना जातियाँ देखनेमे आती हैं तो उनके शरीरका निर्माण भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी औदारिक वर्गणाओसे होता है। तैजसवर्गणासे तैजस शरीरका निर्माण होता है। भाषावर्गणासे शब्दकी रचना होती है व मनोवर्गणासे द्रव्यमनका निर्माण होता है। इसीप्रकार कार्मणवर्गणायें मूलमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारकी हैं व इनके बन्धकी अपेक्षा १४८ उत्तरभेद हैं। इनसे ही पृथक्-पृथक् उस-उस कर्मप्रकृतिका निर्माण होता है।

पुद्गलके विषयमें इतना जो विवेचन किया गया है उसका प्रयोजन यह है कि जो अणुरूप अनन्त-पुद्गल हैं वे ही कालाणुओंकी तरह वास्तविक द्रव्य हैं, अत: उनका प्रतिभासन ही केवलज्ञानमें होता है तथा पुद्गलाणुओंकी जितनी परस्पर संयुक्त या बद्ध दशाएँ हैं वे वास्तविक नहीं हैं अर्थात् उपचरित हैं, अतः पुद्गलाणुओंकी संयुक्त या बद्ध दशामें भी पृथक्-पृथक् पुद्गलाणुका ही प्रतिभासन केवलज्ञानमें होता है। उन संयुक्त या बद्ध दशाओंका प्रतिभासन केवलज्ञानमें नहीं होता। इतना अवश्य है कि पुद्गलाणुकी संयुक्त या बद्ध दशाएँ लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें उपयोगी हैं अतः उन्हें भी उपचरितरूपसे वास्तविक कहा जाता है। तथा उनका यथासम्भव प्रतिभासन भी मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानमें होता है व श्रुतज्ञान द्वारा उनका विश्लेषण भी होता है। यह सब विषय पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

इसप्रकार "केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा" प्रकरणमें अब तक जो विवेचन किया गया है उससे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलके रूपमें जितने पृथक्-पृथक् स्वतंत्रसत्ताधारी पदार्थ विद्यमान हैं वे सब पदार्थ परस्पर संयुक्त रहते हुए भी तथा जीव और पुद्गल एवं पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध रहते हुए भी अपनी-अपनी द्रव्य-रूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतामें ही रह रहे हैं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपता संयुक्त या बद्ध दशामें भी एक दूसरे पदार्थकी द्रव्यरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतासे भिन्न तदात्मक एकत्व प्राप्त धर्म है तथा प्रत्येक पदार्थकी ऐसी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपताका प्रतिभासन ही केवलज्ञानमें होता है। इनके लौकिक व आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें उपयोगी होनेके कारण उपचरितरूपसे वास्तविक संयुक्त दशा या बद्ध दशाका प्रतिभासन केवलज्ञानमें नहीं होकर मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानमें ही होता है। एवं विश्लेषण श्रुतज्ञान द्वारा होता है। अतएव इस विवेचनको ध्यानमें रखकर ही कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-२२ का, पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० का और कविवर भैया भगवतीदासजीके "जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे" इस कथनका तथा इसी प्रकारके अन्य आगम-वचनोंका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करनेसे ही वर्तमानमें जैनागमका वास्तविक रहस्य समझमें आ सकता है व सोनगढ़ द्वारा स्थापित की गयी गलत व्यवस्थाओंसे दिगम्बर जैन समाजमें जो उथल-पुथल मच गयी है वह शान्त हो सकती है। इस विषयमें वर्तमान पीढ़ीके विद्वानोंका यह उत्तरदायित्व है कि वे जैन संस्कृतिके आगममें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका निष्कषायभावसे सम्यक् उद्घाटन करें।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षाके अन्तर्गत उपयोगी

प्रश्नोत्तर १ की सामान्य समीक्षा

प्रश्नोत्तर १ के आवश्यक अंशोके उद्धरण

पूर्वपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नही ? त० च० पृ० १।

उत्तरपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमे व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म-सम्बन्ध नही है।—त० च० पृ० १।

पूर्वपक्ष २—इस प्रश्नका उत्तर जो आपने यह दिया है कि व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नही है, सो यह उत्तर हमारे प्रश्नका नहीं है, क्योंकि हमने द्रव्यकर्म और आत्माका निमित्त-नैमित्तिक तथा कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नही पूछा है।— त० च० पृ० ४।

उत्तरपक्ष २—यह ठीक है कि प्रश्नका उत्तर देते हुए समयसारकी ८० से ८२ तककी जिन तीन गाथाओंका उद्धरण देकर निमित्त-नैमित्तिकभाव दिखलाया गया है वहाँ कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निर्देश मात्र इसलिए किया गया है ताकि कोई ऐसे भ्रममे न पड जाय कि यदि आगममे निमित्तमे कर्तृपनेका व्यवहारसे व्यपदेश किया गया है तो वह यथार्थमें कर्त्ता बनकर कार्यको करता होगा। वस्तुत जैनागममे कर्त्ता तो उपादानको ही स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि जिनागममे कर्त्ताका लक्षण "जो परिणमन करता है वह कर्त्ता होता है" यह किया गया है।—त० च० पृ० ८।

पूर्वपक्ष ३—इस प्रश्नका आशय यह था कि जीवमे जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते है क्या वे द्रव्यकर्मोदयके बिना होते है या द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते है। संसारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गतिभ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या वह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतंत्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है।

आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमे दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्यमे दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था। आपने अपने दोनों वक्तव्योमे निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है।

यह तो सर्वसम्मत है कि जीव अनादिकालसे विकारी हो रहा है। विकारका कारण कर्मबन्ध है, क्योकि दो पदार्थोंके परस्पर बन्ध बिना लोकमें विकार नही होता। कहा भी है—"द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" —पद्मनन्दि-पंचविंशतिका २३-७।

यदि क्रोध आदि विकारीभावोंको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान वे भी जीवके स्वभाव-भाव हो जायेंगे और ऐसा माननेपर इन विकारीभावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आ जावेगा।—त० च० पृ० १०।

उत्तरपक्ष ३—इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमें ही हम यह बतला आये हैं कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्त मात्र है। विकारभाव और चतुर्गति-परिभ्रमणका मुख्यकर्त्ता तो स्वयं आत्मा ही है। इस तथ्यकी पुष्टिमें हमने समयसार, पंचास्तिकायटीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाके अनेक प्रमाण दिये हैं। किन्तु अपर पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान

माननेके लिये तैयार नहीं प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूलप्रश्नका उत्तर नहीं मानता, इसका हमें आश्चर्य है। हमारे प्रथम उत्तरको लक्ष्यकर अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशंका २ के उत्तरमें भी हमारी ओरसे अपने प्रथम उत्तरमें निहित अभिप्रायकी ही पुष्टि की गई है।

तत्काल हमारे सामने द्वितीय उत्तरके आधारसे लिखी गई प्रतिशंका ३ विचारके लिए उपस्थित है। इस द्वारा सर्वप्रथम यह शिकायत की गई है कि हमारी ओरसे अपर पक्षके मूलप्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें ही दिया गया है और न ही इस दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है। "संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें कर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्त मात्र है, मुख्यकर्त्ता नहीं" इस उत्तरको अपर पक्ष अप्रासंगिक मानता है। अब देखना यह है कि वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासंगिक है या अपर पक्षका यह कथन अप्रासंगिक ही नहीं, सिद्धान्तविरुद्ध है, जिसमे उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है, इसे यथार्थ कथन माना गया है।

अपर पक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिका २३-७ का "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस वचनको उद्धृत कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो यहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है? वह दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमें नहीं कर सकते। इसी बातको समयसार आत्मख्यातिटीकामें स्पष्ट करते हुए बतलाया है।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

—त० च० पृ० ३२

इन उद्धरणोंको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन

इन उद्धरणोको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वजिज्ञासुओंको यह समझमें आ जाए कि पूर्व पक्षने अपने प्रश्नोमे जो पूछा है उसका समाधान उत्तरपक्षके उत्तरसे नहीं होता। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है—

पूर्व पक्षके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट होता है कि वह उत्तरपक्षसे यह पूछ रहा है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है या नहीं। स्वयं उत्तरपक्षने भी अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमे उस बातको स्वीकार किया है[1]। इसलिये उत्तरपक्षको अपना उत्तर या तो ऐसा देना चाहिए था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है। अथवा ऐसा देना चाहिए था कि वह उसमे निमित्त नहीं होता है—संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण द्रव्यकर्मके उदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही होता रहता है।

उत्तरपक्षने प्रश्नका उत्तर यह दिया है कि "द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है।" त० च० पृ० १।

इस उत्तरमें "व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है" इस कथनका आशय यह होता है कि

१. एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है।—त० च० पृ० ३२।

द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। स्वयं उत्तरपक्षने भी अपने तृतीय दौरके अनुच्छेद १ में यह स्वीकार किया है[1]। परन्तु पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें यह नहीं पूछा है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है या निश्चयनयका। अथवा यह नहीं पूछा है कि उक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारसे है या निश्चयसे। पूर्वपक्षका प्रश्न तो यह है कि द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं (त० च० पृ० १)। इसका आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है या नहीं। अथवा यह आशय होता है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विद्यमान है या नहीं। प्रश्नका स्पष्ट आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहाँपर उस रूपमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है और संसारी आत्मा द्रव्यकर्मोदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणरूप परिणमन करता रहता है।

यतः उत्तरपक्ष द्वारा दिये गये उक्त उत्तरसे उक्त प्रश्नका उपर्युक्त प्रकार समाधान नहीं होता, अतः निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है।

उत्तर प्रश्नके बाहर भी है

उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें यह अतिरिक्त बात भी जोड़ दी है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है, जिसका प्रश्नके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमे उनके मध्य कर्तृ-कर्म सम्बन्ध होने या न होनेकी चर्चा ही नहीं की है। इस तरह इससे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है।

उत्तर अप्रासंगिक है

यतः उपर्युक्त विवेचनके अनुसार उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नहीं है अतः स्पष्ट हो जाता है कि उक्त उत्तर अप्रासंगिक है।

उत्तर अनावश्यक है

एक बात यह भी है कि दोनों ही पक्ष उक्त-नैमित्तिक सम्बन्धको व्यवहारनयका विषय मानते हैं। उसमें दोनों पक्षोंके मध्य कोई विवाद ही नहीं है। इस बातको उत्तर पक्ष भी जानता है। अतः उसे अपने उत्तरमें उसका निर्देश करना अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमें दोनों पक्षोंके मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहारनयके विषयको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है, परन्तु वह प्रकृत प्रश्नके विषयसे भिन्न होनेके कारण उसपर स्वतन्त्र रूपसे ही विचार करना संगत होगा। अतएव इस पर यथावश्यक आगे विचार किया जायगा।

दूसरी बात यह है कि द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्ष कर्तृ-कर्म सम्बन्धको नहीं मानते हैं और मानते भी हैं तो उपचारसे मानते हैं। इस बातको भी

---

१. और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूल प्रश्नका उत्तर नहीं मानता, इसका हमें आश्चर्य है।—त० च० पृ० ३२।

उत्तरपक्ष जानता है। अत उसके द्वारा उत्तरमें इसका निर्देश किया जाना भी अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमे भी दोनों पक्षोंके मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष उस उपचारको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ मानता है। इसपर भी यथावश्यक आगे विचार किया जायगा।

यत प्रसंगवश प्रकृत विषयको लेकर दोनो पक्षोके मध्य विद्यमान मतैक्य और मतभेदका स्पष्टीकरण किया जाना तत्त्वजिज्ञासुओको सुविधाके लिए आवश्यक है अत यहाँ उनके मतैक्य और मतभेदका स्पष्टीकरण किया जाता है।

मतैक्यके विषय

१. दोनो ही पक्ष संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तकारण और संसारी आत्माको उपादानकारण मानते हैं।

२. दोनो ही पक्ष मानते हैं कि उक्त विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण उपादानकारणभूत संसारी आत्माका ही होता है। निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मका नही होता।

३. दोनो ही पक्षोंकी मान्यतामे उक्त कार्यका उपादानकारणभूत संसारी आत्मा यथार्थ कारण और मुख्य कर्त्ता है व निमित्तकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म अयथार्थ कारण और उपचरित कर्त्ता है।

४ दोनों ही पक्षोका कहना है कि उक्त कार्यके प्रति उपादानकारणभूत संसारी आत्मामें स्वीकृत उपादानकारणता, यथार्थकारणता और मुख्यकर्तृत्व निश्चयनयके विषय है और निमित्तकारणभूत उदय-पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्ममे स्वीकृत निमित्तकारणता, अयथार्थकारणता ओर उपचरितकर्तृत्व व्यवहारनयके विषय है।

मतभेदके विषय

१. यद्यपि दोनो ही पक्ष प्रकृति कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्त कारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमे सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँपर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिंचित्कर और उपादानकारणभूत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणतिमे सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानता है।

२. यद्यपि दोनो ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता मानते है, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमे सहायक भी न होनेके आधारपर अयथार्थकारण और उपचरितकर्त्ता मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँपर उस कार्यरूप परिणत न होनेके साथ उपादानकारण-भूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर अयथार्थ कारण और उपचरितकर्त्ता मानता है।

३. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्थकारण और मुख्यकर्त्ता रूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर भूतार्थ मानते है, परन्तु जहाँ उत्तर पक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, अयथार्थकारण और उपचरित कर्त्ता रूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट

द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ मानता है।

४. यद्यपि दोनों ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता रूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर भूतार्थ मानकर निश्चयनयका विषय मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, यथार्थकारण और उपचरित कर्त्ता रूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्य रूप परिणत न होने और संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अभूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्य रूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यके प्रति दोनों पक्षोंके मध्य न तो संसारी आत्माको उपादान कारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता माननेके विषयमें विवाद है और न उसकी कार्यकारिता, भूतार्थता और निश्चयनय विषयताके विषयमें विवाद है। इसी तरह उसी कार्यके प्रति दोनो पक्षोंके मध्य न तो उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्त कारण, अयथार्थ कारण और उपचरितकर्त्ता माननेके विषयमें विवाद है और न उसकी व्यवहारनयविषयताके विषयमे विवाद है। दोनों पक्षोंके मध्य विवाद केवल उक्त कार्यके प्रति उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मकी उत्तरपक्षको मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्व पक्षको मान्य कथंचित् अकिंचित्करता व कथंचित् कार्यकारिता तथा कथंचित् अभूतार्थता व कथंचित् भूतार्थताके विषयमें है।

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर दो विचारणीय बातें

उपर्युक्त विवेचनके आधार पर दो बातें विचारणीय हो जाती हैं। एक तो यह कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें दोनों पक्षो द्वारा निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म को पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अकिंचित्कर और उपादान कारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँपर उस कार्य रूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी कार्यरूप परिणतिमे सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर माना जाय। और दूसरी यह कि उक्त उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको पूर्व पक्षकी मान्यताके अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे कथंचित् अकिंचित्कर व कथंचित् कार्यकारी मानकर उस रूपमे कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ माना जाय, व इस तरह उसे अभूतार्थ और भूतार्थरूपमें व्यवहारनयका विषय माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँपर उपर्युक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उस रूपमे सर्वथा अभूतार्थ माना जाए व इस तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ रूपमें व्यवहारनयका विषय माना जाए।

उपर्युक्त दोनों बातोंमेंसे प्रथम बातके सम्बन्धमें विचार करनेके उद्देश्यसे ही खानिया तत्त्वचर्चाके अवसरपर दोनों पक्षोंकी सहमतिपूर्वक उपर्युक्त प्रथम प्रश्न उपस्थित किया गया था। इतना ही नहीं, खानिया तत्त्वचर्चाके सभी १७ प्रश्न उभयपक्षकी सहमति पूर्वक ही चर्चाके लिये प्रस्तुत किये गये थे।

यहाँ प्रसंगवश मैं इतना संकेत कर देना उचित समझता हूँ कि तत्त्वचर्चाकी भूमिका तैयार करनेके

अवसरपर पं० फूलचन्द्रजीने मेरे समक्ष एक प्रस्ताव इस आशयका रखा था कि चर्चाके लिए जितने प्रश्न उपस्थित किये जायेंगे वे सब उभय पक्षकी सहमतिसे ही उपस्थित किये जायेंगे और उपस्थित सभी प्रश्नोंपर दोनों पक्ष प्रथमतः अपने-अपने विचार आगमके समर्थन पूर्वक एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे तथा दोनों ही पक्ष एक दूसरे पक्षके समक्ष रखे गये उन विचारोंपर आगमके आधारपर ही अपनी आलोचनाएँ एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे और अन्तमें दोनों ही पक्ष उन आलोचनाओंका उत्तर भी आगमसे प्रमाणित करते हुए एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि पं० फूलचन्द्रजीके इस प्रस्तावको मैंने सहर्ष तत्काल स्वीकार कर लिया था, परन्तु चर्चाके अवसरपर पं० फूलचन्द्रजी सोनगढ़के प्रतिनिधि नेमिचन्द्रजी पाटनीके दुराग्रहके सामने झुककर अपने उक्त प्रस्तावको रचनात्मक रूप देनेके लिए तैयार नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सभी प्रश्न उभय पक्ष सम्मत होकर दोनों पक्षोको समान रूपसे विचारणीय थे, वे पूर्वपक्षके प्रश्न बनकर रह गये और उत्तर-पक्ष उनका समाधानकर्त्ता बन गया।

यतः प्रश्नोंको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षने प्रमुख भूमिकाका निर्वाह किया था, अतः उसे एक तो पं० फूलचन्द्रजीके उक्त परिवर्तित रुखको देखकर उसको दृष्टिसे ओझल कर देना पड़ा और दूसरी बात यह भी थी कि उसके सामने तत्त्वनिर्णयका उद्देश्य प्रमुख था व उसको अणु मात्र भी यह कल्पना नहीं थी कि उत्तर-पक्ष पूर्वपक्षकी इस सहनशीलताका दुरुपयोग करेगा। परन्तु तत्त्वचर्चा अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि उत्तर पक्षने पूर्वपक्षकी सहनशीलताका तत्त्वचर्चामें अधिकसे अधिक दुरुपयोग किया है। यह बात तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षासे भी ज्ञात हो जायगी।

समीक्षा लिखनेमे हेतु

यत उभय पक्ष सम्मत वे सभी प्रश्न उपर्युक्त प्रकार पूर्वपक्षके प्रश्न बन गये और उत्तरपक्ष उनका समाधानकर्त्ता। अत इस समीक्षाका लिखना तत्त्वनिर्णय करनेकी दृष्टिसे आवश्यक हो गया है। एक बात और है कि पं० फूलचन्द्रजीके प्रस्तावके अनुसार दोनों पक्ष प्रत्येक प्रश्नपर यदि अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते तो दोनो पक्षोकी अन्तिम सामग्री एक-दूसरे पक्षकी समालोचनासे अछूती रहती। और इस तरह दोनों पक्षोंकी अन्तिम सामग्रीपर मतभेद रहनेपर तत्त्वनिर्णय करनेका अधिकार तत्त्वजिज्ञासुओंको प्राप्त होता। परन्तु जिस रूपमे तत्त्वचर्चा सामने है उसमे अन्तिम उत्तर उत्तरपक्षका होनेसे तत्त्वजिज्ञासुओंको तत्त्वनिर्णय कर लेना सम्भव नही रह गया है। इस दृष्टिसे भी इस समीक्षाकी उपयोगिता बढ़ गई है।

उत्तरपक्ष द्वारा अपने उत्तरमे विपरीत परिस्थितियोंका निर्माण

पूर्वमे बतलाया जा चुका है कि प्रकृत प्रश्नको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षका आशय इस बातको निर्णीत करनेका था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे अर्थात् सहायक होने रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है व संसारी आत्मा द्रव्यकर्मके उदयका सहयोग प्राप्त किये बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमण करता रहता है। उत्तरपक्ष प्रश्नको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षके इस आशयको समझता भी था, अन्यथा वह अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमे पूर्वपक्षके प्रति ऐसा क्यों लिखता कि "एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है।" परन्तु जानते हुए भी उसने अपने प्रथम दौरमे, प्रश्नका उत्तर न देकर उससे भिन्न नयविषयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चाको प्रारम्भ कर दिया। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें विपरीत परिस्थितियोंका निर्माण किया है और

इसके कारण ही पूर्वपक्षको अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमें यह लिखना पड़ा कि 'आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें दिया गया है और न दूसरे वक्तव्यमे दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था। आपने अपने दोनों वक्तव्योंमें निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है।

उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर उल्टा आरोप

ऊपर किये गये स्पष्टीकरणसे यह ज्ञात हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० २ में जो यह लिखा है कि 'वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासंगिक है या अपरपक्षका यह कथन अप्रासंगिक ही नहीं सिद्धान्तविरुद्ध है जिसमे उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है इसे *यथार्थ* कथन माना गया है।' सो उसका—उत्तरपक्षका ऐसा लिखना 'उल्टा चोर कोतवालको डाँटे' जैसा ही है, क्योंकि उसने स्वयं तो पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर न देकर नयविषयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की, लेकिन अपनी इस त्रुटिको स्वीकार न कर उसने अप्रासंगिकताका उल्टा पूर्वपक्षपर ही आरोप लगाया। इससे यही स्पष्ट होता है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर देनेमें आनाकानी की है और इसे छिपानेके लिये ही उसने उक्त अप्रासंगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की। यही कारण है कि उसके इस प्रयत्नको पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमे मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न कहा है। इसी तरह उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि 'विकारका कारण बाह्यसामग्री है इसे *यथार्थ* कथन माना गया है' सो यह भी पूर्वपक्षके ऊपर उत्तरपक्षका मिथ्या आरोप है, क्योंकि पूर्वपक्ष, जैसाकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है, विकारकी कारणभूत बाह्यसामग्रीको उत्तरपक्षके समान अयथार्थ कारण ही मानता है।

इस विषयमे दोनों पक्षोंके मध्य यह मतभेद अवश्य है कि जहाँ उत्तरपक्ष विकारकी कारणभूत उस बाह्यसामग्रीको वहाँ पूर्वोक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर रूपमे अयथार्थ कारण मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पूर्वोक्तप्रकार ही कथंचित् अकिंचित्कर और कथंचित् कार्यकारी रूपमे *अयथार्थ* कारण मानता है। दोनो पक्षोंकी परस्पर विरोधी इन मान्यताओंमेंसे कौन-सी मान्यता आगमसम्मत है और कौन-सी आगमसम्मत नहीं है, इस पर आगे विचार किया जायगा।

इसी प्रकार उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० ३ मे पूर्वपक्ष द्वारा तृतीय दौरमे उद्धृत 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस आगमवाक्यको लेकर उसपर (पूर्वपक्षपर) मिथ्या आरोप लगानेके लिये लिखा है कि 'अपरपक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिका २३–७ के 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस कथनको उद्धृत कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो वहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति है? वह दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नही जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमें नहीं कर सकते।'

इस विषयमे मेरा कहना है और उत्तरपक्ष भी जानता है कि उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय नही है कि दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, अपितु उसका अभिप्राय यही है कि एक वस्तुकी विकारी परिणति दूसरी अनुकूल वस्तुका सहयोग मिलनेपर ही होती है व पूर्वपक्षने इसी आशयसे उक्त आगमवाक्यको अपने वक्तव्यमें उद्धृत किया है, दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, इस आशयसे नही। इस तरह उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर यह आरोप लगाना भी मिथ्या है।

जान पड़ता है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षपर उक्त प्रकारका मिथ्या आरोप लगानेकी दृष्टिसे ही उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय लेना चाहता है कि दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है। इस तरह कहना चाहिए कि उत्तरपक्षकी यह वृत्ति उस व्यक्तिके समान है जो दूसरेको अपशकुन करनेके लिये अपनी आँख फोड़नेका प्रयत्न करता है।

अन्तमे मैं कहना चाहता हूँ कि तत्त्वफलित करनेकी दृष्टिसेकी जानेवाली इस तत्त्वचर्चामें ऐसे सारहीन और अनुचित प्रयत्न करना उत्तरपक्षके लिये शोभास्पद नही है। किन्तु उसने ऐसे प्रयत्न तत्त्वचर्चामें स्थान-स्थानपर किये हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरपक्षने अपने इसप्रकारके प्रयत्नों द्वारा पूर्वपक्षको उलझा देना ही अपने लिये श्रेयस्कर समझ लिया था।

उत्तरपक्षके इस तरहके प्रयत्नोका एक परिणाम यह हुआ है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्वचर्चा न रहकर केवल वितण्डावाद बन गई है और वह इतनी विशालकाय हो गई है कि उसमेसे तत्त्व फलित कर लेना विद्वानोके लिए भी सरल नही है।

यद्यपि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योंमें शक्ति भर यह प्रयत्न किया है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्व फलित करने तक ही सीमित रहे। परन्तु इस विषयमे उत्तरपक्षका सहयोग नही मिल सका, यह खेदकी बात है।

वास्तविक बात यह है कि इस तत्त्वचर्चामे उत्तरपक्षने अपनी एक ही दृष्टि बना ली थी कि जिस किसी प्रकारसे अपने पक्षको विजयी बनाया जावे। इसलिए उसके आदिसे अन्त तकके सभी प्रयत्न केवल अपने उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ही हुए हैं।

यहाँपर मै एक बात यह भी कह देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जिस आगमकी पग-पगपर दुहाई दी है उसका उसने बहुतसे स्थानोंपर साभिप्राय अनर्थ भी किया है। जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि पद्मनन्दि पंचविंशतिका २३-७ का उसने पूर्वपक्षका मिथ्या विरोध करनेके लिए जानबूझकर विपरीत अर्थ करनेका प्रयत्न किया है और इसी तरहके प्रयत्न उसने आगे भी किये है जिन्हे यथास्थान प्रकाशमे लाया जायगा।

प्रश्नोत्तर २ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नही? त० च० पृ० ७६।

उत्तरपक्षका उत्तर—जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमे अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है। त० च० पृ० ७६।

प्रश्न प्रस्तुत करनेमे पूर्वपक्षका अभिप्राय—पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म और अधर्म मानता है। यत उत्तरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म और अधर्म स्वीकार करनेके लिये तैयार नही है, अत उसने उत्तरपक्षके समक्ष प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया था।

जीवित शरीरकी क्रियासे पूर्वपक्षका आशय—जीवित शरीरकी क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक तो जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया और दूसरी शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया। इन दोनोंमेंसे प्रकृतमें पूर्वपक्षको शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया ही विवक्षित है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया विवक्षित नही है। इसका कारण यह है कि धर्म और अधर्म ये दोनों जीवकी ही परिणतियाँ है और उनके सुख-दुःख रूप फलका भोक्ता भी जीव ही होता है। अत जिस जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म होते हैं उसका कर्ता जीवको मानना ही युक्तिसंगत है, शरीरको नही।

उत्तरपक्षके उत्तरपर विमर्श—उत्तरपक्षने प्रश्नका जो उत्तर दिया है उससे उत्तरपक्षकी यह मान्यता ज्ञात होती है कि वह जीवित शरीरकी क्रियाको मात्र पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करके उससे आत्मामे धर्म और अधर्म होनेका निषेध करता है। उत्तरपक्षकी इस मान्यतामे पूर्वपक्षको जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा तो कुछ विरोध नही है, परन्तु आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति पूर्वपक्ष द्वारा कारण रूपसे स्वीकृत शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाकी अपेक्षा विरोध है। यदि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षको मान्य शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया रूप जीवित शरीरकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसको पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत करे तथा उससे आत्मामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति न माने तो उसकी इस मान्यतासे पूर्वपक्ष सहमत नही है, क्योंकि चरणानुयोगका समस्त प्रतिपादन इस बातकी पुष्टि करता है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया जीवित शरीरकी क्रिया है और पुद्गल द्रव्यकी पर्याय न होनेसे अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत न होकर जीवकी पर्याय होनेसे जीव तत्त्वमे अन्तर्भूत होती है तथा उससे आत्मामे धर्म और अधर्म उत्पन्न होते हैं।

उत्तरपक्षके समक्ष एक विचारणीय प्रश्न

उत्तरपक्ष यदि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसे पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करे तथा उसको आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण न माने तो उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिका आधार क्या है ? किन्तु पूर्वपक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित नही होता, क्योंकि वह शरीरके सह-योगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण रूपसे आधार मानता है।

यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिमें आत्माका पुरुषार्थ कारण है, तो वह पुरुषार्थ शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे भिन्न नही है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा। इसके अलावा यदि वह यह कहे कि आत्मामे धर्म और अधर्म आत्माकी कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप नियतिके अनुसार होते है तो इस प्रकारकी नियतिका निर्माण आत्माकी नित्य उपादान शक्ति (स्वाभाविक योग्यता) के आधारपर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप आत्मपुरुषार्थके बलपर ही होता है। इसका विशेष कथन प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें किया जा चुका है और आगे भी प्रकरणानुसार किया जायेगा।

प्रकृत विषयके सम्बन्धमे कतिपय आधारभूत सिद्धान्त

(१) धर्म और अधर्म दोनो जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन हैं और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रिया उसकी (जीवकी) क्रियावती शक्तिका परिणमन है। और जीवकी क्रियावती शक्तिका यह प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियापरिणाम ही उसकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप धर्म और अधर्म में कारण होता है।

(२) प्रकृतमे 'जीवित शरीर' पदके अन्तर्गत 'शरीर' शब्दसे शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन (बोलनेका स्थान मुख) और शरीर इन तीनोंका ग्रहण विवक्षित है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके परिण-मनस्वरूप धर्म और अधर्ममें जीवकी क्रियावती शक्तिका प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप जो क्रियारूप परिणाम कारण होता है वह शरीरके अंगभूत द्रव्यमन, वचन (मुख) और शरीर इन तीनोंमेसे प्रत्येकके सहयोगसे अलग-अलग प्रकारका होता है तथा जीवकी क्रियावती शक्तिका वह क्रियापरिणाम यदि बाह्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन अधर्म रूप होता है और यदि उसी क्रियावती शक्तिका वह क्रिया परिणमन बाह्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे

आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन धर्मरूप होता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

जीव द्रव्यमनके सहयोगसे शुभ-अशुभ संकल्पके रूपमें प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है, वचनके सहयोगसे शुभ-अशुभ बोलनेके रूपमे प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है और शरीरके सहयोगसे शुभ-अशुभ हलन-चलनके रूपमें प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है। द्रव्यमन, वचन और शरीरके सहयोगसे होनेवाला जीवका उक्त शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापारका अपर नाम आत्म-पुरुषार्थ है और इसे ही जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनके रूपमें जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रिया कहते हैं।

(३) जीवका संसार, शरीर और भोगोंके प्रति अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, भोग और संग्रह रूप पाँच पापोंके प्रति उक्त प्रकारका मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्म-व्यापार अशुभ कहलाता है व उसका देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, अणुव्रत, महाव्रत, समिति आदिके प्रति मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापार शुभ कहलाता है। तथा उसका इन मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापारोंसे मन, वचन और कायगुप्तियोंके रूपमें निवृत्तिरूप शुद्ध-आत्मव्यापार होता है।

(४) शरीरके अंग-भूत द्रव्य मन, वचन और शरीरके सहयोगसे होनेवाले उक्त तीनों प्रकारके आत्म-व्यापारोंमेंसे शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप दोनों प्रकारके आत्मव्यापारोंसे जीव यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंका बन्ध करता है व उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिरूप आत्मव्यापारोंसे जीव उन कर्मोंका संवर और निर्जरण करता है। इस तरह बद्धकर्मोंके उदयसे जीवमें भाववती शक्तिके विभाव परिणामके रूपमे अधर्मभाव प्रगट होता है तथा बंधनेवाले कर्मोंके बन्धमें रुकावटरूप संवर और बद्ध कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप निर्जरणसे जीवमें भाववती शक्तिके स्वभावपरिणमनके रूपमें धर्मभाव प्रगट होता है।

यहाँपर यह ज्ञातव्य है कि जब तक प्रथम गुणस्थानमें विद्यमान जीव केवल अशुभ प्रवृत्ति करता है तब तक वह यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करता है। तथा प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोमे विद्यमान जीव जो अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करते हैं वे भी यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करते हैं। इतना ही नहीं, यदि कदाचित् कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करने लगा हो तो वह भी कर्मोंका बन्ध ही करता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव कदाचित् आसक्तिवश होनेवाली अशुभप्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर देता है तथा यथावश्यक या किंचित् अनिवार्य अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ प्रधानतया शुभ प्रवृत्ति करने लगता है तो वह भी कर्मोंका बन्ध ही करता है। लेकिन कोई बिरला मिथ्यादृष्टि भव्य जीव या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागके आधारसे करणलब्धिके रूपमें आत्मोन्मुख हो जाता है तो वह यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण भी करने लगता है व अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करता हुआ कर्मोंका आस्रव और बन्ध भी करता है। इसी प्रकार आशक्तिवश होनेवाली अशुभप्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका भी एक देश त्याग कर अपनी आत्मोन्मुखतामें वृद्धि कर लेता है तो

वह यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणमें वृद्धि कर यथायोग्य रूपमें विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी प्रकार आसक्तिवश होने-वाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली प्रवृत्तिका यथायोग्य सर्वदेश त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणमें और भी वृद्धि करके यथायोग्य रूपमें विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम या षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणमें और भी वृद्धि करके क्रमशः सप्तम, अष्टम, नवम और दशम गुणस्थानोंमें पहुँचकर केवल आभ्यन्तर शुभ प्रवृत्तिके आधार-पर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह ऐसा दशम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तमें अपनी शुभ पुरुषार्थ-रूप प्रवृत्तिको भी समाप्त कर यथायोग्य आत्मोन्मुखताकी पूर्णताको प्राप्त होकर संवर और निर्जरणमें वृद्धि कर एकादश या द्वादश गुणस्थानमें और द्वादश गुणस्थानके पश्चात् त्रयोदश गुणस्थानमें केवल मानसिक, वाचनिक और कायिक योगप्रवृत्तिके आधारपर मात्र सातावेदनीय कर्मका केवल प्रकृति और प्रदेश बन्धके रूपमें आस्रव और बन्ध करने लग जाता है और त्रयोदश गुणस्थानवर्ती जीवकी जब उक्त योगप्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है तो वह चतुर्दश गुणस्थानके प्रारम्भमें पूर्ण संवरको प्राप्त कर तथा अन्त समयमें शेष विद्यमान अघातिया कर्मोंका भी क्षयके रूपमें पूर्ण निर्जरण करके नोकर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध समाप्त कर सिद्ध पदवीको प्राप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप जीवित-शरीरकी क्रियाके आधारसे अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप विभावरूप अधर्मभावको प्राप्त होता है और अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप जीवित शरीर-की क्रियाके आधारसे वह अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप स्वभावरूप धर्मभावको प्राप्त होता है।

इस विवेचनके आधारसे उत्तरपक्ष यदि कदाचित् प्रकृत विषय सम्बन्धी आगमके अभिप्रायको समझने-की चेष्टा करे, तो मुझे विश्वास है कि वह पूर्वपक्षकी इस मान्यताको नियमसे स्वीकार कर लेगा कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है।

प्रश्नोत्तर ३ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?—त० च० पृ० ९३।

उत्तरपक्षका उत्तर—(क) इस प्रश्नमें यदि "धर्म" पदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्य-भाव मानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि जीवदयाकी परिगणना शुभपरिणामोंमें की गई है और शुभ परिणामको आगममें पुण्यभाव माना है।—त० च० पृ० ९३।

(ख) यदि इस प्रश्नमें "धर्म" पदका अर्थ वीतराग परिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरा तत्त्वमें अन्तर्भाव नहीं होता।—त० च० पृ० ९३।

जीवदयाके प्रकार

(१) जीवदयाका एक प्रकार पुण्यभाव रूप है। इसे आगमके आधारपर उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष

भी मानता है तथा उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष यह भी मानता है कि पुण्यभाव रूप होनेके कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमे होता है संवर और निर्जरामे अन्तर्भाव नही होता। इसके सम्बन्धमे दोनो पक्षोमे इतना मतभेद अवश्य है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुण्यभाव रूप जीवदयाको व्यवहारधर्म रूप जीव दयाकी उत्पत्तिमे कारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष इस बातको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है। पुण्यभाव रूप जीवदया व्यवहारधर्म रूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारण होती है, इस बातको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

(२) जीवदयाका दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप है। इसकी पुष्टि पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोमे धवल पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचनके आधार-पर की है—

"करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो"

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है अतः इसके कर्मजनित होनेका विरोध है।

यद्यपि धवलाके इस वचनमे जीवदयाको जीवका स्वतःसिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीवके स्वतःसिद्ध स्वभावभूत वह जीवदया अनादिकालसे मोहनीय कर्मकी क्रोध प्रकृतियोके उदयसे विकृत रहती आई है, अतः मोहनीय कर्मकी उन क्रोध प्रकृतियोके यथास्थान यथायोग्य रूपमे होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जब वह शुद्ध रूपमे विकासको प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमे नही होता, क्योंकि जीवके शुद्धस्वभावभूत होनेके कारण वह कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण नही होती है। तथा इसका अन्तर्भाव संवर और निर्जरा तत्त्वमे भी नही होता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही संवर और निर्जरापूर्वक होती है।

(३) जीवदयाका तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमे व्यवहारधर्मरूप है। इसका समर्थन पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोमे आगम प्रमाणोंके आधारपर किया है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेके आधारपर संवर और निर्जराका कारण होनेसे संवर और निर्जरा तत्त्वमे होता है व दयारूप पुण्यप्रवृत्तिरूप होनेके आधारपर आस्रव और बन्धका कारण होनेसे आस्रव और बन्धतत्त्वमे भी होता है। कर्मोंके संवर और निर्जरणमे कारण होनेसे यह व्यवहारधर्मरूप जीवदया जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं। तथा कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उनके अन्तःकरणमे उस अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदया-रूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त हो जाते है। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्ति भव्य जीवमे ही होती है, अभव्य जीवमे नही। तथा उस भव्य-जीवमें उसकी उत्पत्ति मोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन-रूप कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावके रूपमें उत्तरोत्तर प्रकर्षको लेकर होती है। इसकी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार है :—

(क) अभव्य और भव्य दोनों प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनों प्रकारके जीवोंमें उस अदयारूप विभावपरिणमनकी समाप्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासकी योग्यता स्वभावत विद्यमान हैं। भव्य जीवोंमें तो उस अदयारूप विभाव परि-णतिकी समाप्तिमे अनिवार्यकारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासकी योग्यता भी स्वभावतः विद्य-मान है। इस तरह जिस भव्य जीवमे जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास हो जानेपर उक्त करणलब्धिका भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धिके बलसे उस भव्य जीवमे मोहनीय कर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियोंका व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे एक प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्य जीवमें यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमोहनीय कर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर पचमगुणस्थानके प्रथम समयमे उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे दूसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्य जीवमें यदि आत्मोन्मुखता रूप करणलब्धिका और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमे चारित्र-मोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्य-मान मान, माया और लोभ प्रकृतियोंके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमं तीसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तम गुणस्थानको प्राप्त जीव सतत सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोंमें अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनों गुणस्थानोमे झूलते हुये उस जीवमें यदि सप्तमगुणस्थानसे पूर्व ही दर्शनमोहनीय कर्मकी उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी उक्त चार इन सात प्रकृतियोका उपशम या क्षय हो चुका हो अथवा सप्तम गुणस्थानमें ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानोंमें क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके रूपमे और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थानमें ही उस जीवमे चारित्रमोहनीय कर्मके उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके ही चतुर्थ

भेद संज्वलन कषायकी क्रोध प्रकृतिका भी उपशम या क्षय होनेपर उस जीवकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे चौथे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवोंकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंकी क्रोध प्रकृतियोंके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता है, परन्तु जब जिस भव्य जीवकी उस भाववती शक्तिका वह अदयारूप विभावपरिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध प्रकृतिका यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर यथायोग्यरूपमे समाप्त होता जाता है तब उसके बलसे उस जीवकी उस भाववतीशक्तिका उत्तरोत्तर विशेषता लिये हुये शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मके रूपमे दयारूप परिणमन भी होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन उन क्रोध प्रकृतियोंका यथास्थान यथायोग्यरूपमें होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोके विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है।

व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीवमें उपर्युक्त पाँचों लब्धियोंका विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियोको क्रियावती शक्तिके ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वककी जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिका नाम ही व्यवहारधर्मरूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके बलपर ही भव्य जीवमे भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धियोका विकास होता है। इस तरह निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे व्यवहारधर्मरूप जीवदया कारण सिद्ध होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्य जीव भी इस व्यवहारधर्मरूप दयाको अंगीकार करके अपनेमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यताके कारण उसमें आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास नही होता है। इस तरह उसमे भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विकास भी नही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भव्य जीवमे उक्त क्रोध प्रकृतियोंका यथासम्भव रूपमे होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है, परन्तु उसमें उस करणलब्धिका विकास क्रमशः क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चारों लब्धियोंका विकास होनेपर हो होता है। अतः इन चारों लब्धियोंको भी उक्त क्रोध प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण माना गया है।

जीवकी भाववती और क्रियावती शक्तियोंके सामान्य परिणमनोंका विवेचन

जीवकी भाववती और क्रियावती दोनों शक्तियोंको प्रश्नोत्तर २ की समीक्षामें उसके स्वतःसिद्ध स्वभावके रूपमें बतलाया गया है। इनमेसे भाववतीशक्तिके परिणमन एक प्रकारसे तो मोहनीयकर्मके उदयमें विभावरूप व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें शुद्ध स्वभावरूप होते हैं व दूसरे प्रकारसे हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते है।

एवं क्रियावती शक्तिके परिणमन संसारावस्थामें एक प्रकारसे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं। दूसरे प्रकारसे पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकारसे सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके सहारेपर पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित आत्मक्रियाके रूपमें होते हैं। इनके अतिरिक्त संसारका विच्छेद हो जानेपर जीवकी क्रियावती शक्तिका चौथे प्रकारसे जो परिणमन होता है वह स्वभावतः ऊर्ध्वगमनरूप होता है। जीवकी क्रियावती शक्तिके इन चारों प्रकारसे होनेवाले परिणमनोमेंसे पहले प्रकारके परिणमन कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। दूसरे प्रकारके परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेसे भव्यजीवमें यथायोग्य कर्मोंके संवरपूर्वक निर्जरणमें कारण होते हैं व पुण्यरूप शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे यथायोग्य कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों प्रकारके बन्धमें कारण होते हैं। तीसरे प्रकारके परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित होनेसे केवल सातावेदनीय कर्मके आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्धमें कारण होते हैं और चौथे प्रकारका परिणमन केवल आत्माश्रित होनेसे कर्मोंके आस्रव और बन्धमें कारण नहीं होता है और कर्मोंके संवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जानेपर होनेसे उसके कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका विश्लेषण

जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप व मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं। एवं कदाचित् समारंभिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते हैं। इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके एक तो अशक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं और दूसरे कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं।

संसारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेषके वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थोंके अनावश्यक भोग और संग्रह रूप क्रियायें सतत करता रहता है वे सभी क्रियायें संकल्पी पाप कहलाती हैं। इनमें सभी तरहकी स्वपरहितविघातक क्रियायें अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोंवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और संग्रहरूप क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें आरम्भी पाप कहलाती हैं। इनमें जीवनका संचालन, कुटुम्बका भरण-पोषण तथा धर्म, संस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोकका संरक्षण आदि उपयोगी कार्योंको सम्पन्न करनेके लिये नीतिपूर्वक की जानेवाली असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और संग्रहरूप क्रियायें अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें पुण्य कहलाती हैं। इस प्रकारकी पुण्यरूप क्रियायें दो प्रकारकी होती हैं—एक तो सांसारिक स्वार्थवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया। इनमेंसे कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रियासे ही परोपकार की सिद्धि होती है। इसके

अतिरिक्त वीतरागी देवकी आराधना, वीतरागताके पोषक शास्त्रोंका पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ गुरुओंकी सेवा-भक्ति तथा स्वावलम्बन शक्तिको जागृत करनेवाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओंमें अन्तर्भूत होते हैं।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी यदि अहंकार आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तो उन्हें संकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदया रूप परिणमनोंका विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवकी भाववती शक्तिका चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कषायोकी क्रोध प्रकृतियोके उदयमें अदयारूप विभाव परिणमन होता है व उन्ही क्रोधप्रकृतियोंके यथास्थान यथासम्भव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशममें दयारूप स्वभाव परिणमन होता है। यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोके विषयमे यह बतलाना है कि जीव द्वारा परहितकी भावनामे की जानेवाली क्रियाये पुण्यके रूपमें दया कहलाती हैं और जीव द्वारा परके अहित-की भावनासे की जानेवाली क्रियायें संकल्पी पापके रूपमे अदया कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त जीवकी जिन क्रियाओमे परके अहितकी भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहितकी भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे परका अहित होना निश्चित हो वे क्रियाये आरम्भी पापके रूपमे अदया कहलाती हैं। जैसे एक व्यक्ति द्वारा अनीति-पूर्वक दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण करना संकल्पी पापरूप अदया है। परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षाके लिये उस आक्रमण व्यक्तिपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भी पापरूप अदया है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवकी पुण्यमय क्रिया संकल्पी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है और आरम्भी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है, परन्तु संकल्पी और आरम्भी दोनो पापरूप क्रियाओमे जीवकी प्रवृत्ति एक साथ नही हो सकती है क्योंकि संकल्पी पापरूप क्रियाओके साथ जो आरम्भी पापरूप क्रियायें देखनेमे आती हैं उन्हे वास्तवमे संकल्पी पापरूप क्रियाये ही मानना युक्तिसंगत है। इस तरह संकल्पी पापरूप क्रियाओंके सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भी पापरूप क्रियाये की जाती हैं उन्हें ही वास्तविक आरम्भी पापरूप क्रियाये समझना चाहिए।

व्यवहार धर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदया-रूप अशुभ क्रियाओंके साथ परहितकी भावनासे की जानेवाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियायें पुण्यके रूपमे दया कहलाती है और वे कर्मोके आस्रव और बन्धका कारण होती है। परन्तु भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवों द्वारा कम-से-कम मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे होनेवाली सर्वथा निवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाच-निक और कायिक दयाके रूपमें पुण्यमय शुभ क्रियायें की जाने लगती है वे क्रियायें ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती हैं। इसमे हेतु यह है कि उक्त संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे निवृत्तिपूर्वक की जाने-वाली पुण्यभूत दया भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवोंमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों-के विकासका कारण होती है तथा भव्य जीवमे तो वह इन लब्धियोके विकासके साथ आत्मोन्मुखतारूप करण-लब्धिके विकासका भी कारण होती है जो करणलब्धि प्रथमत मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मको यथासंभव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्मके भेद चारित्र-

मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण होती है। इस तरह उक्त व्यवहारधर्मरूप दया भव्यजीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणमे कारण सिद्ध होती है। इतनी बात अवश्य है कि भव्यजीवकी उस व्यवहारधर्म-रूप दयामें जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका अंश विद्यमान रहता है वह तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्मरूप दयाका संकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे होनेवाली सर्वथा निवृत्तिका अंश कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है। द्रव्यसंग्रह ग्रन्थकी गाथा ४५ मे जो व्यवहारचारित्रका लक्षण निर्धारित किया गया है उसके आधारपर व्यवहारधर्मरूप दयाका स्वरूप स्पष्ट रूपसे समझमे आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्ति रूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभमे प्रवृत्तिको जिन भगवानने व्यवहारचारित्र कहा है। ऐसा व्यवहारचारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथामे व्रत, समिति और गुप्तिको व्यवहारचारित्र कहनेमे हेतु यह है कि इनमे अशुभसे निवृत्ति और शुभमे प्रवृत्तिका रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथासे निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप जीवदयाको जब तक पापरूप अदयाके साथ करता है तब तक तो उस दयाका अन्तर्भाव पुण्यरूप दयामे होता है और वह जीव उक्त पुण्यरूप जीवदयाको जब पापरूप अदयासे निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहारधर्मका रूप धारण कर लेती है, क्योकि इस दयासे जहाँ एक ओर पुण्य-प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वहाँ दूसरी ओर उस दयासे पापप्रवृत्तिसे निवृत्तिरूपताके आधार-पर भव्य जीवमे कर्मोंका संवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहारधर्मरूप दयासे कर्मोंका संवर और निर्जरण होता है इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेनके द्वारा जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट निम्न वचनसे होती है—

"सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो"

अर्थ—शुभ और शुद्धके रूपमे मिश्रित परिणामोंसे यदि कर्मक्षय नही होता हो तो कर्मक्षयका होना असंभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेनके वचनमें "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदका ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेनके उक्त वचनके "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदमे 'सुह' और 'सुद्ध' दो शब्द विद्यमान हैं। इनमेसे 'सुह' शब्दका अर्थ भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप शुभ परिणमनके रूपमें और 'सुद्ध' शब्द-का अर्थ उस भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी भाववती शक्तिके पुण्यकर्मके उदय होनेवाले शुभ परिणामके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले शुद्ध परिणमनके रूपमे ग्रहण करना युक्त नही है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और उसी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक उस

प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्य जीवमें कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। जीवकी भाववती शक्तिके न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मोंके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। इसमें यह हेतु है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका मन, वचन और कायके सहयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है उसे योग कहते है—("कायवाङ्मनः कर्मयोग" त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोसे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते है और वह योग यदि जीवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते है। (शुभपरिणामनिर्वृत्तो योग शुभ.। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः अशुभः"—सर्वार्थसिद्धि ६-३)। यह योग ही कर्मोका आस्रव अर्थात् बन्धका द्वार कहलाता है—("स आस्रवः" त० सू० ६-२)। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप बन्धका कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योगकी शुभरूपता और अशुभरूपताका कारण होनेसे जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमनोंको व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुभ परिणमनोंको भी कर्मोंके आस्रवपूर्वक बन्धका कारण मानना अयुक्त नही है। परन्तु कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशीमे रखी हुई तेजाबको भ्रमवश आँखकी दवाई समझ रहा है तो भी तबतक वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि नही पहुँचाती है जब तक वह डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमें नही डालता है और जब डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमे डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि पहुँचा देती है। इसी तरह आँखकी दवाईको आँखकी दवाई समझकर भी जब तक डाक्टर उसे रोगीकी आँखमे नही डालता है तब तक वह दवाई उस रोगीकी आँखको लाभ नही पहुँचाती है। परन्तु जब डाक्टर उस दवाईको रोगीकी आँखमें डालता है तो तत्काल वह दवाई रोगीकी आँखको लाभ पहुँचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धान रूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन व जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप शुभपरिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योगकी शुभरूपता और अशुभरूपतामे कारण होनेसे परम्परया आस्रव और बन्धमे कारण माने जा सकते है। परन्तु आस्रव और बन्धमे साक्षात् करण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनके निरोधको ही कर्मके सवर और निर्जरणमें कारण मानना युक्त है—("आस्रवनिरोधः संवरः" त० सू० ९-१) जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण मानना युक्त नही है, क्योंकि भाववती शक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीयकर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेके कारण संवर और निर्जराके कार्य होनेसे कर्मोंके संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध नही होते है। एक बात और है कि जब जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनोंसे कर्मोंका आस्रव होता है तो कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण योगनिरोधको ही मानना युक्त है। यही कारण है कि जिस जीवमें गुणस्थानक्रमसे जितना-जितना योगका निरोध होता जाता है उस जीवमे वहाँ उतना-उतना कर्मोंका संवर नियमसे होता जाता है तथा जब योगका पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मोका संवर भी पूर्णरूप से हो जाता है। कर्मोंका संवर होनेपर बद्ध कर्मोंकी निर्जरा या तो निषेक रचनाके अनुसार सविपाक रूपमे

होती है अथवा "तपसा निर्जरा च" (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तपके बलपर अविपाक रूपमें भी होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीवकी भाववती शक्तिसे स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोंमें सातावेदनीय कर्मका आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशरूपमें बन्ध नहीं होना चाहिए। दूसरे द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिकर्मोंका तथा चारों अघातिकर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना चाहिये। परन्तु जब ऐसा नही होता है तो यही स्वीकार करना पड़ता है कि वहाँ आस्रव और बन्धका मूल कारण योग है व विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनों घातिकर्मोंकी एव चारों अघातिकर्मोंकी निर्जरा निषेकक्रमसे ही होती हैं। त्रयोदश गुणस्थानमें केवली भगवान अघातीकर्मोंकी समान स्थितिका निर्माण करनेके लिए जो समुद्घात करते हैं वह भी उनकी क्रियावती शक्तिका ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामे निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके उपर्युक्त वचनके अगभूत "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदमे आये 'सुह' शब्दसे जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका अभिप्राय ग्रहण करना ही संगत है। भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ व मोहनीय कर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोका अभिप्राय ग्रहण करना संगत नही है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जयधवलाके उक्त वचनके 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दका अर्थ यदि जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममे विकासको प्राप्त शुद्ध परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमें स्वीकार किया जाये तो उस पदके अन्तर्गत "सुह" शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनके रूपमे तो स्वीकार किया ही नही जा सकता है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप वे परिणमन पूर्वोक्त प्रकार न तो कर्मोंके आस्रव और बन्धके साक्षात् कारण होते है और न ही बद्ध कर्मोंके संवर और निर्जरणके ही साक्षात् कारण होते हैं। इसलिए उस "सुह" शब्दका अर्थ यदि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमे स्वीकार किया जाये तो यह भी सम्भव नही है, क्योकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। अत. उस "सुह" शब्दका अर्थ जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमे ही स्वीकार करना होगा, क्योकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अंशसे जहाँ कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वही उसके पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप अंशसे कर्मोंका संवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भी जीवकी भाववती शक्तिके स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमनको पूर्वोक्त प्रकार कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण सिद्ध न होनेसे वहाँ "सुद्ध" शब्दका अर्थ कदापि नही माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवलाके "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दके निरर्थक होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अत उक्त "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" इस सम्पूर्ण पदका अर्थ जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमे ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि कहा जाये कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति उसकी भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मके रूपमें परिणमन होनेपर ही होती है, इसलिए "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्द निरर्थक

नहीं है तो इस बातको स्वीकार करनेमें यद्यपि कोई आपत्ति नही है, परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्षकी प्राप्ति जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके होनेपर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मक्षयका कारण मानना अन्य बात है, क्योंकि वास्तवमें देखा जाये तो द्वादश गुणस्थानवर्ती जीवका वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभावका ही अंश है जो मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय होनेपर ही प्रकट होता है।

अन्तमें एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दका जीवकी भाववतीशक्तिका स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्ण विकास हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घातिकर्मोंका तथा चारों अघातिकर्मोंका एक साथ क्षय होनेकी प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके विकासका प्रारम्भ जब प्रथम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जानेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें होता है तो ऐसी स्थितिमें उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण कैसे माना जा सकता है? अर्थात् नही माना जा सकता है। यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है। उत्तरपक्षकी यह जो मान्यता है कि जीव द्रव्यकर्मोंके उदयकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही अज्ञानी बना हुआ है और उन कर्मोंसे यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही ज्ञानी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है सो इस मान्यताका निराकरण प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें किया जा चुका है तथा प्रश्नोत्तर षष्ठकी समीक्षामें भी किया जायेगा। इसी तरह उत्तरपक्षको मान्य नियतिवाद और नियतवादका निराकरण प्रश्नोत्तर पाँचकी समीक्षामें किया जायेगा।

प्रकृतमें कर्मोंके आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जराकी प्रक्रिया

(१) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जबतक आशक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते है तबतक वे उस प्रवृत्तिके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है। तथा इस संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ वे यदि कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते हैं तो भी वे उन प्रवृत्तियोंके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

(२) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आशक्तिवश होनेवाले संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्तव्यवश करने लगते हैं तब भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(३) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें सर्वथा त्याग कर यदि अशक्तिवश होनेवाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(४) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और

कायगुप्तिके रूपमें एक देश अथवा सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(५) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर उक्त आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा व उक्त आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियोंका अपनेमें विकास कर लेते है तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(६) यत. मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीवके ही होते हैं अभव्य जीवके नही, अतः जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हों उनमें भी उक्त पाँचों अनुच्छेदोंमेंसे दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदोंमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्वसंस्कारवश या सामान्यरूपसे लागू होती हैं तथा अनुच्छेद तीन और चारमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमे भी लागू होती हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एकमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे जीव एक तो केवल संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नही करते हैं व उनकी प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक होनेके कारण पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सासारिक स्वार्थवश नही करते है। तथा उनमे अनुच्छेद पाँचमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियमसे मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानको ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें अनुच्छेद एक और दोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसीलिए लागू नही होती क्योंकि उनमें सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमे अनुच्छेद पाँच की व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे भी मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए होनेके कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इस तरह सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोकी प्रवृत्तियाँ भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती है।

(७) उपर्युक्त जीवोसे अतिरिक्त जो भव्य मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्तिकी ओर झुके हुए हों अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्तिमे अनिवार्य कारणभूत करणलब्धिको प्राप्त हो गये हो वे नियमसे यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमे विद्यमान मिथ्यात्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात कर्मप्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशमके रूपमें संवर और निर्जरण किया करते हैं। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान जीव भी यथायोग्य कर्मोंका आस्रव और बन्ध तथा यथायोग्य कर्मोंका संवर और निर्जरण किया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचनाका फलितार्थ

(१) कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं। अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ सासारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी

किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभके साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्त्तव्यवश किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एवं कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(२) कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पूर्वसंस्कारके बलपर कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है। कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्वसंस्कारके बलपर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय अदयारूप शुभरूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है और कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वसंस्कारवश सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा व आरम्भीपापरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। परन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि जीवकी यथायोग्य ये सब प्रवृत्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करती हैं।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके समान ही प्रवृत्ति ही किया करते है परन्तु उनमे इतनी विशेषता है कि वे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूपमें नही करते है। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी भी प्रवृत्तियाँ सासादन सम्यग्दृष्टि जीवके समान अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करती है।

(४) चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें विद्यमान सभी जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित होते है। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो अशक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(५) पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश निवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है, क्योकि ऐसा किये बिना जीवको पंचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नहीं होता है। इतना अवश्य है कि कोई पंचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक भी कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(६) षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं; क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नही होता।

(७) षष्ठ गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानोंमे जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्यरूपमे नहीं करते हुए अन्तरंगरूपमें ही तब तक करता रहता है जब तक नवम गुणस्थानमें उसकी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनकषायोंको क्रोध प्रकृतियोंके सर्वथा उपशम या क्षय करनेकी क्षमता प्राप्त नही होती। तात्पर्य यह है कि जीवके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानके अन्त समय तक रहता है व पंचम गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोध

कर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पंचम गुणस्थानके अन्त समयतक रहा करता है व षष्ठ गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुणस्थानोंमे संज्वलन क्रोध कर्मका उदय ही रहा करता है। परन्तु संज्वलनक्रोधकर्मका उदय व अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मोंका क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थानमे इनका सर्वथा उपशम या क्षय नही हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध पंचम गुणस्थान तक ही होता है और संज्वलन क्रोध कर्मका बन्ध नवम गुणस्थानके एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्धका कारण जीवकी भाववती शक्तिके हृदय और मस्तिष्क के सहारेपर होनेवाले यथायोग्य परिणमनोंसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थानमे जब तक आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका यथा-योग्य रूपमे एकदेश त्याग नही करता तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश त्याग कर देता है और उस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमे उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रथम और तृतीय गुणस्थानोंमें भी लागू होती है। इसी तरह जीव पंचम गुणस्थानमें जब तक आरंभीपापमय अदया-रूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग नही करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही है। परन्तु यह जीव यदि आरंभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग कर देता है और इस त्यागके आधारपर उसमे कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमें उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थानके समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोमें भी लागू होती है। पंचम गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमे तब तक जीव संज्वलन-क्रोधकर्मका बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थानमे बन्धके अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता है। और जब वह नवम गुणस्थानमे संज्वलनक्रोध कर्मके उपशम या क्षयकी क्षमता प्राप्त कर लेता है तो उस जीवके उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करनेमे मेरा उद्देश्य इस बातको स्पष्ट करनेका है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियोंके रूपमें होनेवाले परिणमन ही क्रोधकर्मके आस्रव और बन्धमे कारण होते हैं व उन प्रवृत्तियोंका निरोध करनेसे ही उन क्रोध कर्मोंका संवर और निर्जरण करनेकी क्षमता जीवमें आती है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो मोहनीय कर्मके उदयमें होनेवाला विभावरूप परिणमन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममे होनेवाला भाववती शक्तिका स्वभावरूप शुद्ध परिणमन संवर और निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्व-श्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपताके आधारपर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके पर-म्परया कारण होते हैं व तत्त्वश्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शनके रूपमे तथा तत्त्वज्ञान व्यवहारसम्यग्ज्ञानके रूपमें यथायोग्य कर्मोंके आस्रव ओर बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जराके भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियाँ यथायोग्य अशुभ और शुभ

कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण होती हैं तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके संवर और निर्जरणका साक्षात् कारण होती है एवं जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तथा दयारूप शुभरूपता और अदया-रूप अशुभरूपतासे रहित जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीय कर्मके आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धका कारण होती है तथा योगका अभाव कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है।

इस सामान्य समीक्षाके सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्य-रूप भी होती है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मरूप भी होती है व इस निश्चय धर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारणभूत व्यवहार धर्मरूप भी होती है। अर्थात् तीनो प्रकारकी जीवदयाएँ अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती हैं।

प्रश्नोत्तर ४ को सामान्य समीक्षा

१. प्रश्नोत्तर ४ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नही ? त० च० पृ० १२९।

उत्तरपक्षका उत्तर—निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममे साधक नही है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। त० च० पृ० १२९।

धर्मका लक्षण

वस्तुविज्ञान (द्रव्यानुयोग) की दृष्टिसे "वत्थुसहाओ धम्मो" इस आगम वचनके अनुसार धर्म यद्यपि आत्माके स्वत सिद्ध स्वभावका नाम है, परन्तु अध्यात्म विज्ञान (करणानुयोग और चरणानुयोग) की दृष्टिसे धर्म उसे कहते है जो जीवको संसारदुःखसे छुडाकर उत्तम अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य रूप मोक्षसुखमे पहुँचा देता।[1]

आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण

रत्नकरण्डकश्रावकाचार[2] मे आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमे किया गया है जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ससारके कारण होते है।

आध्यात्मिक धर्मका निश्चय और व्यवहार दो रूपोमे विभाजन और उनमे साध्य-साधक भाव

श्रद्धेय पं० दौलतरामजीने छहढाला[3] में कहा है कि आत्माका हित सुख है। वह सुख आकुलताके

---

१. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखत. सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार

२. सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥३॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार

३. आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमाँहि न तातै शिवमग लाग्यो चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिव मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो ववहारो ॥३-१॥

अभावमें प्रकट होता है। आकुलताका अभाव मोक्षमें है, अतः जीवोंको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। एवं वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सत्यार्थ अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वभावभूत है उन्हें निश्चयमोक्षमार्ग कहते है व जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयमोक्षमार्गके प्रगट होनेमें कारण है उन्हें व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

छहढालाके इस प्रतिपादनसे मोक्षमार्गका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमें विश्लेषण, उनकी निश्चय और व्यवहार दो भेदरूपता व निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गोंमें विद्यमान साध्य-साधकभाव इन सबका परिज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त पंचास्तिकायकी गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकामें[1] भी व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका कारण बतलाकर दोनों मोक्षमार्गोंमें साध्य-साधकभाव मान्य किया गया है। तथा गाथा १५९, १६० और १६१ की आचार्य अमृतचंद्र कृत टीका[2] में भी ऐसा ही बतलाया गया है।

निश्चयधर्मकी व्याख्या

करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार जीव अनादिकालसे मोहनीयकर्मसे बद्ध है और उसके उदयमें उसकी स्वतःसिद्ध स्वभावभूत भाववती शक्तिका शुद्धस्वभावभूत परिणमनके विपरीत अशुद्ध विभावभूत परिणमन होता है। भाववती शक्तिके इस अशुद्ध विभावरूप परिणमनकी समाप्ति करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होती है। इस तरह जीवकी भाववती शक्तिके अशुद्ध विभावभूत परिणमनके समाप्त हो जानेपर उसका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है उसे ही निश्चयधर्म जानना चाहिए। इसके प्रकट होनेकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(क) सर्वप्रथम जीवमें दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चय-सम्यग्दर्शनके रूपमें व निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ख) इसके पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका पंचमगुणस्थानके प्रथम समयमें देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

---

१. निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतो व्यवहारमोक्षमार्गः।—गा० १०५, टीका।

२. (क) निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधकभावत्वात्। गा० १५९ की टीका।
   (ख) निश्चयमोक्षमार्गसाधकभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। गा० १६० की टीका।
   (ग) व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्। गा० १६१ की टीका।

ऐसा सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम इस तरह दोनों गुणस्थानोंमें यथायोग्य समय तक सतत झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(च) यदि वह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव पहलेसे ही उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो अथवा सप्तम गुणस्थानके कालमे ही वह उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो जावे तो वह तब करणलब्धिके आधारपर नव नोकषायोके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण और तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण इन दोनो कषायोकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका तथा उसके चतुर्थ भेद संज्वलनकषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोंका भी यथास्थान नियमसे उपशम या क्षय करता है और उपशम होनेपर उसको भाववती शक्तिका एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें अथवा क्षय होनेपर उसकी भाववती शक्तिका द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है।

व्यवहारधर्मकी व्याख्या

व्यवहारधर्मकी व्याख्या करनेसे पूर्व यहाँ मै यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नारकी, देव और तिर्यंच इन तीनों प्रकारके जीवोमे केवल अगृहीत मिथ्यात्व पाया जाता है। अत. इनमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव नही है। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसमे अगृहीत मिथ्यात्वके साथ गृहीत मिथ्यात्व भी पाया जाता है। फलत. मनुष्योंमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव हो जाता है। अत यहाँ मनुष्योंकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका विवेचन किया जाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार पापभूत अघातिकर्मोंके उदयमें अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानके रूपमे और मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानके रूपमें मिथ्या परिणमन होते रहते है तथा जब उनमें पुण्यभूत अघातिकर्मोंका उदय होता है तब अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप उन परिणमनोंकी समाप्ति होनेपर उनकी उस भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानके रूपमे और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानके रूपमे सम्यक्परिणमन होने लगते हैं। भाववती शक्तिके दोनों प्रकारके सम्यक् परिणमनोमेसे तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन सम्यग्दर्शनके रूपमे व्यवहारधर्म कहलाता है और तत्त्वज्ञानरूप परिणमन सम्यग्ज्ञानके रूपमे व्यवहारधर्म कहलाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानसे प्रभावित अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियाँ किया करते हैं और कदाचित् साथमें लौकिक स्वार्थवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करते है। तथा जब वे भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होते है तब वे अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पी-पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्याग कर मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ कर्तव्यवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करने लगते है। इतना ही नही, भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानके आधारपर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य कदाचित् क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका भी एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए अनिवार्य आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं। इस प्रकार अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य

भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंको सर्वथा त्याग कर जो अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन-स्वरूप आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं उन प्रवृत्तियोंको नैतिक आधारके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है। तथा वे ही मनुष्य जब संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं तब उन्हें क्रमशः देशविरति अथवा सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारधर्म कहा जाता है।

प्रसंगवश मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंको भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वश्रद्धान व्यवहारमिथ्यादर्शन कहलाता है। और उनकी उसी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वज्ञान व्यवहार-मिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान इन दोनोंसे प्रभावित उन मनुष्योंकी क्रियावती शक्तिके परिणाम स्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है वह व्यवहारमिथ्याचारित्र कहलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रकारके व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानके विपरीत व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानसे प्रभावित होकर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग करते हुए यदि अशक्तिवश आरम्भी पापका अणुमात्र भी त्याग नहीं कर पाते हैं तो उनकी वह आरम्भी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति व्यवहाररूप अविरति कहलाती है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पूर्वमें मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होनेवाले भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यक्दर्शन निश्चयसम्यग्ज्ञान व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमें निश्चयधर्मका विवेचन किया गया है उसी प्रकार यहाँ प्रथम गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी दोनों प्रकृतियों-के उदयमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्या-चारित्रके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी प्रकृतिके उदयमें भाववती शक्तिके परिणमन-स्वरूप सासादनसम्यक्त्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमें एवं तृतीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें भाववती शक्तिके परिणामस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमें निश्चय (भाव) अधर्मका भी विवेचन कर लेना चाहिए। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि चतुर्थ गुणस्थानके जीवमें नव नोकषायोंके उदयके साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंके सामूहिक उदयमें जीवकी भाववती शक्तिका जो परिणमन होता है उसे भाव-अविरति जानना चाहिये। इसे न तो भावमिथ्याचारित्र कह सकते हैं और न विरतिके रूपमें भावसम्यक्चारित्र ही कह सकते हैं, क्योंकि भावमिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होता है और विरतिके लिये कम-से-कम अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनों प्रकारके स्पष्टीकरणोंके साथ ही यहाँ निम्नलिखित विशेषतायें भी ज्ञातव्य है—

(१) अभव्य जीवोंके केवल प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है जबकि भव्य जीवोंके प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर चतुर्दश अयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त सभी गुणस्थान सम्भव है।

(२) निश्चयधर्मका विकास भव्य जीवोंमें ही होता है, अभव्य जीवोंमें नहीं होता। तथा भव्य जीवोंमें

भी उस निश्चयधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसके पूर्वके गुणस्थानोंसे नहीं होता।

(३) जीवके चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें जो निश्चयधर्मका विकास होता है वह उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें होता है। इसके पश्चात् जीवके पंचम गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा इसके भी पश्चात् जीवके निश्चयधर्मका विकास सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमें उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप सर्वविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है और जीवमें उसका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उत्तरोत्तर उत्कर्षके रूपमें विद्यमान रहता है। दशम गुणस्थानके आगे जीवके एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्र-के रूपमें होता है अथवा दशम गुणस्थानसे ही आगे जीवके द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा यह जीवके आगेके सभी गुणस्थानोंमें विद्यमान रहता है।

(४) पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शनके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला परिणमन है और दूसरा व्यवहारधर्म सम्यग्ज्ञानके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला परिणमन है। एवं तीसरा व्यवहारधर्म नैतिक आचार तथा देशविरति व सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें मन, वचन और कायके सहारेपर होनेवाला जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन है। इस सभी प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें सम्भव है और अभव्य व भव्य दोनों प्रकारके जीवोंमें हो सकता है। इतना अवश्य है कि उक्त सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप तथा नैतिक आचाररूप व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमें नियमसे होता है क्योंकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास किये बिना अभव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोंका व भव्य जीवमें इन चारों लब्धियोंके साथ करणलब्धिका विकास नही हो सकता है।

प्रथम गुणस्थानमें देशविरति और सर्वविरति सम्यक्चारित्र रूप व्यवहारधर्मके विकसित होनेका कोई नियम नही है परन्तु देशविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानमें होकर पंचम गुणस्थानमें भी रहता है। एवं सर्वविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका पचम गुणस्थानमें विकास होकर आगे षष्ठसे दशम गुणस्थान तक उसका सद्भाव नियमसे रहता हैं।

यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उस व्यवहारधर्मका सद्भाव अन्तरंगरूपमें ही रहता है। तथा द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमे यथासम्भव रूपमे रहनेवाला व्यवहारधर्म भी अबुद्धिपूर्वक ही रहता है। एकादश गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थानोंमें व्यवहारधर्म-का सर्वथा अभाव रहता है। वहाँ केवल निश्चयधर्मका ही सद्भाव रहता है। क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहार अविरतिका सद्भाव प्रथम गुणस्थानसे चतुर्थ गुणस्थान तक ही सम्भव है।

जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है

प्रकृतमें मोक्ष शब्दका अर्थ जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद हो जाना है। जीव और शरीरके विद्यमान संयोगका सर्वथा विच्छेद चतुर्दश गुणस्थानमें तब होता है जब उस जीवके साथ बद्ध चार अघाती कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको चतुर्दश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब त्रयो-

दश गुणस्थानमें कर्मास्रवमें कारणभूत जीवके योगका सर्वथा निरोध हो जाता है। जीवको त्रयोदश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मोंका द्वादश गुणस्थानमें सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको द्वादश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध मोहनीयकर्मप्रकृतियोंका पूर्वमें यथासमय क्षय होते हुए दशम गुणस्थानके अन्त समयमें शेष सूक्ष्म लोभ प्रकृतिका भी क्षय हो जाता है। द्वादश गुणस्थानका अर्थ ही दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्णत हो जाना है। इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्म पूर्वक होती है।

जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है

जीवकी भाववती शक्तिका निश्चयधर्मके रूपमें प्रारम्भिक विकास चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमें होता है और उसका वह विकास पंचमादि गुणस्थानोंमे उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे अथवा द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमें पूर्णताको प्राप्त होता है। निश्चयधर्मका यह विकास मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथास्थान यथासंभव रूपमें होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होता है। तथा मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका यथायोग्य वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम भव्य जीवमे आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर होता है व उसमें उस करणलब्धिका विकास क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक होता है। एवं जीवमें इन लब्धियोंका विकास व्यवहारधर्म पूर्वक होता है। यह व्यवहारधर्म अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्तिरूप होता है। जीवको इसकी प्राप्ति तब होती है जब उस जीवमें भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्दर्शनकी और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। इसके विकासकी प्रक्रियाको पूर्वमें व्यवहारधर्मकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारण होता है। यह विषय प्रश्नोत्तर २ और ३ की समीक्षासे भी जाना जा सकता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवको अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमे कारणभूत मोहनीयकर्मका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम करनेके लिए इस व्यवहारधर्मके अन्तर्गत एकान्तमिथ्यात्वके विरुद्ध प्रशमभाव, विपरीतमिथ्यात्वके विरुद्ध संवेगभाव, विनयमिथ्यात्वके विरुद्ध अनुकम्पाभाव, संशयमिथ्यात्वके विरुद्ध आस्तिक्यभाव और अविवेकरूप अज्ञानमिथ्यात्वके विरुद्ध विवेकरूप सम्यग्ज्ञानभावको भी अपनेमे जागृत करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवको समस्त जीवोंके प्रति मित्रता (समानता) का भाव, गुणीजनोंके प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंके प्रति सेवाभाव और विपरीत दृष्टि, वृत्ति और प्रवृत्ति वाले जीवोंके प्रति मध्यस्थता (तटस्थ) का भाव भी अपनानेकी आवश्यकता है। इस तरह सर्वांगीणताको प्राप्त व्यवहारधर्म उपर्युक्त प्रकार निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक सिद्ध हो जाता है।

●

दर्शन और न्याय

दर्शन और न्याय

●

भारतीय दर्शनोंका मूल आधार

'दर्शन' शब्द संस्कृत भाषाका शब्द है। यह शब्द संस्कृतव्याकरणके अनुसार "दृश्यते निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्" अथवा "दृश्यते = निर्णीयत इदं (वस्तु तत्त्वं) इति दर्शनम्" इन दोनों व्युत्पत्तियोंके आधारपर "दृश्" धातुसे निष्पन्न होता है। पहली व्युत्पत्तिके आधारपर निष्पन्न 'दर्शन' शब्द तर्क, वितर्क मंथन या परीक्षा स्वरूप उस विचारधाराका नाम है जो तत्त्वोंके निर्णयमें प्रयोजक हुआ करती है। दूसरी व्युत्पत्तिके आधारपर निष्पन्न 'दर्शन' शब्दका अर्थ उल्लिखित विचारधारा द्वारा निर्णीत तत्त्वोंकी स्वीकारता होता है। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द दार्शनिक जगतमें इन दोनों प्रकारके अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है अर्थात् भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यतायें हैं उनको और जिन तार्किक मुद्दोंके आधारपर उन मान्यताओंका समर्थन होता है उन तार्किक मुद्दोंको दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत स्वीकार किया है।

वर्तमान दृश्य जगत्की परंपराको सभी दर्शनोंमें किसी-न-किसी रूपसे अनादि स्वीकार किया गया है। इसलिए जगतकी इस परंपरामे न मालूम कितने दर्शन विकासको प्राप्त होकर विलुप्त हो गये होंगे और कौन कह सकता है कि भविष्यमें भी नये-नये दर्शनोका प्रादुर्भाव नही होगा। परन्तु आज हम सिर्फ उन्हीं दर्शनोंके बारेमें कुछ सोच सकते हैं जो उपलब्ध हैं या साहित्यके आधारपर जिनकी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। ये दर्शन सबसे पहले भारतीय और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शनोंके रूपमें हमारे सामने आते हैं। जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षमें हुआ है वे दर्शन भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षके बाहर पाश्चात्य देशोंमें हुआ है वे अभारतीय या पाश्चात्य दर्शनोंके नामसे पुकारे जाते हैं।

भारतीय दर्शन भी दो भागोंमें विभक्त किये गये हैं—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्पराके अन्दर जिनका प्रादुर्भाव और विकास हुआ है तथा जो वैदिक परम्पराके पोषक दर्शन हैं वे वैदिक दर्शन माने गये हैं और वैदिक परम्परासे भिन्न जिनकी स्वतंत्र परम्परा है या जो वैदिक परम्पराके विरोधी दर्शन हैं उनको अवैदिक दर्शन स्वीकार किया गया है। वैदिक दर्शनोमे मुख्यत. सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन माने गये हैं और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनोंको अवैदिक दर्शन स्वीकार किया गया है। इनके अलावा छोटे-मोटे भेदों और उपभेदोंके रूपमें और भी वैदिक तथा अवैदिक दर्शनोंको गणना की जा सकती है, परन्तु अनावश्यक विस्तारके भयसे उन्हे इस विभागक्रममें स्थान नहीं दिया गया है। आजकलके बहुतसे विद्वानोंमें गीताको एक स्वतन्त्र दर्शन माननेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु वास्तवमें गीता कर्त्तव्यरूप धार्मिक या आध्यात्मिक महान उपदेश मात्र है। यही कारण है कि गीतामें स्थान-स्थानपर श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुनके लिए कर्मयोगकी ओर झुकनेकी प्रेरणा की गई है। गीताको कर्मयोगका प्रतिपादक ग्रन्थ मानना भी मेरे विचारके अनुसार ठीक नही है। लेकिन मैं इतना अवश्य स्वीकार करता हूँ कि गीतामे कर्मयोगके आधारपर प्राय: समस्त वैदिक दर्शनोंके समन्वय करनेका प्रयत्न किया गया है।

इन वैदिक और अवैदिक दर्शनोंको दार्शनिक विकासके मध्य युगमे क्रमसे आस्तिक और नास्तिक नामों से भी पुकारा जाने लगा था। परन्तु मालूम पड़ता है कि वैदिक और अवैदिक दर्शनोका इस प्रकारका नामकरण वेदपरम्पराके समर्थन और विरोधके कारण प्रशंसा और निन्दा रूपमे साम्प्रदायिक व्यामोहके वशीभूत लोगों द्वारा किया गया है, कारण कि यदि प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिके न मानने रूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो जैन और बौद्ध ये दोनो अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनोंकी कोटिसे निकलकर आस्तिक दर्शनोंकी कोटिमें आ जायेंगे; क्योंकि ये दोनो दर्शन प्राणियोंके जन्मान्तर

रूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिका समर्थन करते हैं। और यदि जगतका कर्ता अनादिनिधन ईश्वर को न मानने रूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो सांख्य और मीमासा इन दोनों वैदिक दर्शनों को उपस्थित दर्शनोंकी कोटिमेंसे निकालकर नास्तिक कोटिमे पटक देना पड़ेगा, क्योंकि ये दोनों दर्शन अनादि-निधन ईश्वरको जगतका कर्ता माननेसे इन्कार करते है। इस प्रकार ऊपर बतलाया गया सम्पूर्ण विभागक्रम अव्यवस्थित हो गया है। "नास्तिको वेदनिन्दक:" इत्यादि प्रसिद्ध वाक्य भी हमे यह बतला रहे है कि वेद परम्पराको न मानने वालोके बारेमे ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायवादियो-ने अपने सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालाको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके मानने वालोंको नास्तिक स्वीकार किया है। जैन सम्प्रदायमें भी जैन परम्पराके माननेवालोको सम्यक्‌दृष्टि और जैनेतर परम्पराके माननेवालोको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। मेरे कहनेका मतलब यह है कि भार-तीय दर्शनका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोके रूपमें विभाग किया गया है वह निरर्थक एवं अनुचित है। इसलिए उनका विभाग उल्लिखित वैदिक और अवैदिक दर्शनोके रूपमे ही करना चाहिए।

उल्लिखित दर्शनोंकी उत्पत्तिके बारेमे जब हम सोचते हैं, तो हमें इनके मूलमे दो प्रकारके वादोंका पता चलता है—एक अस्तित्ववाद और दूसरा उपयोगितावाद। अर्थात् ये सभी दर्शन अस्तित्ववाद या उपयो-गितावादके आधारपर प्रादुर्भूत हुए हैं, ऐसा माना जा सकता है। जगत क्या और कैसा है? जगतमे कितने पदार्थोंका अस्तित्व है? उन पदार्थोंके कैसे-कैसे परिणाम होते है? इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर सामान्यतया तत्त्वोंका विचार करना अस्तित्ववाद कहलाता है और जगतके प्राणी दुःखी क्यों है? वे सुखी कैसे हो सकते है? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर सिर्फ लोककल्याणोपयोगी तत्त्वोके बारेमे विचार करना उपयोगितावाद सम-झना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अस्तित्ववादके आधारपर वे सब तत्त्व मान्यताकी कोटिमे आ जाते हैं जिनका अस्तित्व प्रमाणोंके आधारपर सिद्ध होता हो और उपयोगितावादके आधारपर सिर्फ वे ही तत्त्व मान्यताकी कोटिमे पहुँचते हैं जो लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध होते हों। मेरी रायके मुताबिक इस उपयोगिता-वादका ही अपर नाम आध्यात्मिकवाद और अस्तित्ववादका ही दूसरा नाम आधिभौतिकवाद समझना चाहिये। जिन विद्वानोंका यह ख्याल है कि समस्त चेतन और अचेतन जगतकी सृष्टि अथवा विकास आत्मासे मानना आध्यात्मिकवाद और उपर्युक्त जगतकी सृष्टि अथवा विकास अचेतन अर्थात् जड पदार्थसे मानना आधिभौतिक-वाद है, उन विद्वानोंके साथ मेरा स्पष्ट मतभेद है और इस मतभेदसे मेरा तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकवाद और आधिभौतिकवादके उल्लिखित अर्थके मुताबिक जो वेदान्त दर्शनको आध्यात्मिक दर्शन तथा चार्वाक दर्शनको आधिभौतिक दर्शन मान लिया गया है वह ठीक नही है। मैंने अभारतीय दर्शनोका तो नही, परन्तु भारतीय दर्शनोका जो थोडा बहुत अध्ययन एवं चिन्तन किया है उससे मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक ये वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये सभी अवैदिक दर्शन पूर्वोक्त उपयोगितावादके आधारपर ही प्रादुर्भूत हुए है, इसलिये ये सभी दर्शन आध्यात्मिकवादके अंतर्गत माने जाने चाहिए। किसी भी दर्शनका अनुयायी आज अपने दर्शनके बारमें यह आक्षेप सहन नही कर सकता है कि उसके दर्शनका विकास लोककल्याणके लिए नही हुआ है और इसका भी कारण यह है कि भारतवर्ष सर्वदा धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिए समस्त भारतीय दर्शनोंका मूल आधार उपयोगितावादको मानना युक्तिपूर्ण है।

लोककल्याणशब्दमे पठित लोकशब्द "जगतका प्राणिसमूह" अर्थमे प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है, इसलिए यहाँपर लोककल्याणशब्दसे "जगतके प्राणिसमूहका कल्याण" अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कोई-

कोई दर्शन प्राणियोंके दृश्य और अदृश्य दो भेद स्वीकार करते हैं और किन्ही-किन्ही दर्शनोंमे सिर्फ दृश्य प्राणियोंके अस्तित्वको ही स्वीकार किया गया है। दृश्य प्राणी भी दो प्रकारके पाये जाते है। एक प्रकारके दृश्य प्राणी वे है जिनका जीवन प्राय. समष्टि-प्रधान है और दूसरे प्रकारके दृश्य प्राणी वे है जिनका जीवन प्राय. व्यष्टिप्रधान है। मनुष्य समष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणियोमेंसे है क्योकि मनुष्योका जीवन प्राय एक दूसरे मनुष्यकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायतापर निर्भर है। बाकीके सभी दृश्य प्राणी पशु, पक्षी, सर्प, बिच्छू, कीट, पतग वगैरह व्यष्टि-प्रधान जीवन वाले प्राणी कहे जा सकते है; क्योकि इनके जीवनमें मनुष्यो जैसी परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताकी आवश्यकता प्राय देखनेमें नही आती है! व्यष्टिप्रधान जीवनकी समानताके कारण ही जैनदर्शनमे इन पशु, पक्षी आदि प्राणियोंका तिर्यग् (तिर्यञ्च) नामसे पुकारा जाता है, कारण कि तिर्यक् शब्दका समानता अर्थमे प्रयोग पाया जाता है। सभी भारतीय दर्शनकारोंने अपने-अपने दर्शनके विकासमे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार जगत्‌के इन दृश्य और अदृश्य प्राणियोके कल्याणका लक्ष्य अवश्य रखा है। एक चार्वाक दर्शनको छोडकर उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनोमें प्राणियोके जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिका समर्थन किया गया है, इसलिये इन दर्शनोके आविष्कर्ताओकी लोककल्याणभावनाके प्रति तो सदेह करनेकी गुजाइश ही नही है। लेकिन उपलब्ध साहित्यसे जो थोडा-बहुत चार्वाक दर्शनका हमे दिग्दर्शन होता है उससे उसके आविष्कर्ताकी लोककल्याण भावनाका पता भी हमें सहज हीमे लग जाता है।

"श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया, महाजनो येन गतः स पन्था ॥"

इस पद्यमे चार्वाकदर्शनकी आत्माका स्पष्ट आभास मिलता है। इस पद्यका आशय यह है कि "धर्म मनुष्यके कर्त्तव्यमार्गका नाम है और वह जब लोक-कल्याणके लिये है तो उसे अखड एकरूप होना चाहिये-नाना रूप नही। लेकिन धर्मतत्त्वकी प्रतिपादक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ नाना और परस्पर-विरोधी देखनेमे आती है। हमारे धर्मप्रवर्तक महात्माओने भी धर्मतत्त्वका प्रतिपादन एकरूपसे न करके भिन्न-भिन्न रूपसे किया है इसलिये उनके वचनोको भी सर्वसम्मत प्रमाण मानना असम्भव है। ऐसी हालतमें सर्वसाधारणके लिये धर्मतत्त्व एक गूढ पहेली बना हुआ है। अर्थात् धर्मतत्त्वके समझनेमे हमारे लिये श्रुति, स्मृति या कोई भी धर्मप्रवर्तक सहायक नही हो सकता है। इसलिए धर्मतत्त्वकी पहेलीमे न उलझ करके हमें अपने कर्त्तव्यमार्गका निर्णय महात्मापुरुषोके कर्त्तव्यमार्गके आधारपर करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि महात्मा पुरुषोंका जीवन स्वपरकल्याणके लिये ही होता है, इसलिये हमारा जो कर्त्तव्य स्वपरकल्याणविरोधी न हो उसे ही अविवाद रूपसे हमे धर्म समझना चाहिये।" मालूम पडता है कि चार्वाक दर्शनके आविष्कर्ताका अन्त करण धर्मके बारेमे पैदा हुए लोककल्याणके लिए खतरनाक मतभेदोको देखकर ऊब गया था, इसलिए उसने दुनियाके समक्ष इस बातको रखनेका प्रयत्न किया था कि जन्मान्तररूप परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्ति जैसे अदृश्य तत्त्वोकी चर्चा, जो कि विवादके कारण जनहितकी घातक हो रही है—को छोडकर केवल हमें ऐसा कर्त्तव्यमार्ग चुन लेना चाहिये, जो जनहितका साधक हो सकता है और ऐसे कर्त्तव्यमार्गमें किसीको विवाद करनेकी भी कम गुजाइश रह सकती है।

"यावज्जीवं सुखी जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुतः॥"

यह जो चार्वाकदर्शनकी मान्यता बतलाई जाती है वह कुछ भ्रममूलक जान पडती है। इस प्रकार दूसरे भारतीय दर्शनोकी तरह चार्वाकदर्शनको भी उपयोगितावाद अर्थात् आध्यात्मिकताकी कोटिसे बाह्य नही किया जा सकता है।

समस्त भारतीय दर्शनोंमें बीजरूपसे इस उपयोगितावादको स्वीकार कर लेने पर ये सभी दर्शन एक-दूसरे दर्शनके, जो अत्यन्त विरोधी मालूम पड़ते हैं, ऐसा न होकर अत्यन्त निकटतम मित्रोंके समान दिखने लगेंगे। तात्पर्य यह है कि उल्लिखित प्रकारसे चार्वाक दर्शनमें छिपे हुए उपयोगिताके रहस्यको समझ लेनेपर कौन कह सकता है कि उसका परलोकादिके बारेमें दूसरे दर्शनोंके साथ जो मतभेद है वह खतरनाक है। कारण कि जहाँ दूसरे दर्शन परलोकादिको आधार मानकर मनुष्योंके लिये योग्य कर्त्तव्यमार्गपर चलनेकी प्रेरणा करते हैं वहाँ चार्वाकदर्शन सिर्फ वर्तमान जीवनको सुखी बनानेके उद्देश्यसे मनुष्योंके लिये उसी योग्य कर्त्तव्यमार्गपर चलनेकी प्रेरणा करता है। तथा जब परलोक या स्वर्गादिके अस्तित्वको स्वीकार करते हुये भी सर्वदर्शनकारोंको यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त मानना पड़ता है कि मनुष्य अपने वर्तमान जीवनमें अच्छे कृत्य करनेसे ही परलोकमें सुखी हो सकता है या स्वर्ग पा सकता है तो परलोक या स्वर्गके अस्तित्वको न मानने मात्रसे चार्वाक मतानुयायीको यदि वह अच्छे कृत्य करता है तो परलोकमें सुख या स्वर्गकी प्राप्तिसे कौन रोक सकता है? इसी तरह नरकका अस्तित्व न मानने मात्रसे पाप करते हुए भी उसका नरकमें जाना असंभव कैसे हो सकता है? परलोक या स्वर्गादिके अस्तित्वको न मानने वाला व्यक्ति अच्छे कृत्य कर ही नहीं सकता है, यह बात कोई भी व्यक्ति माननेको तैयार न होगा, कारण कि हम पहले बतला आये हैं कि मनुष्य-का जीवन परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताके आधारपर ही सुखी हो सकता है। यदि एक मनुष्यको सुखी जीवन बितानेके संपूर्ण साधन उपलब्ध हैं और दूसरा उसका पड़ोसी मनुष्य चार दिनसे भूखा पड़ा हुआ है तो ऐसी हालतमें या तो पहले व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिके बारेमें सहायताके रूपमें अपना कोई कर्त्तव्य निश्चित करना होगा, अन्यथा नियमसे दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्तिके सुखी जीवनको ठेस पहुँचानेका कारण बन जायगा। तात्पर्य यह है कि हमें परलोककी मान्यतासे अच्छे कृत्य करनेके लिये जितनी प्रेरणा मिल सकती है उससे कहीं अधिक प्रेरणा वर्तमान जीवनको सुखी बनानेकी आकांक्षासे मिलती है। चार्वाक दर्शनका अभिप्राय इतना ही है।

बौद्धोंके क्षणिकवाद और ईश्वरकर्तृत्ववादियोंके ईश्वरकर्तृत्वमें भी वही उपयोगितावादका रहस्य छिपा हुआ है। बौद्ध दर्शनमें एक वाक्य पाया जाता है—"वस्तुनि क्षणिकपरिकल्पना आत्मबुद्धिनिरासार्थम्" अर्थात् पदार्थोंमें जगत्के प्राणियोंके अनुचित राग, द्वेष और मोहको रोकनेके लिये ही बौद्धोंने पदार्थोंकी अस्थिरताका सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसी प्रकार जगत्का कर्ता एक अनादिनिधन ईश्वरको मान लेनेसे संसारके बहुजन समाजको अपने जीवनके सुधारमें काफी प्रेरणा मिल सकती है। इस उपयोगितावादके आधार पर ही ईश्वरकर्तृत्वाद स्वीकार किया था। परन्तु अफसोस है कि धीरे-धीरे सभी दर्शन उपयोगितावादके मूल-भूत आधारसे हटकर अस्तित्ववादके उदरमें समा गये अर्थात् इन दर्शनोंमें जो तत्त्व उपयोगितावादके आधारपर निश्चित किये गये थे उन तत्त्वोंके बारेमें अस्तित्ववादके आधारपर विचार होने लग गया और इसका ही यह परिणाम है कि सभी दर्शनकारोंने अपनेसे भिन्न दूसरे दर्शनोंको उनकी उपयोगिताके ऊपर ध्यान न देते हुये उन्हें असत्य सिद्ध करनेका प्रयास किया है।

सांख्य और वेदान्त दोनों दर्शनोंकी तत्त्व-मान्यतामें उपयोगितावादकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है। सांख्यदर्शनमें प्रकृतिनामका चेतनाशून्य पदार्थ और पुरुषनामका चेतनात्मक आत्मरूप पदार्थ इस प्रकार दो मूल तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। इनमेंसे प्रकृतिको एक और पुरुषको अनेक रूपमें स्वीकार किया गया है। यह एक प्रकृति अनेक पुरुषोंके साथ संयुक्त होकर पुरुषोंमें मालूम पड़नेवाले बुद्धि, अहंकार आदि नानारूपसे परिणत हो जाया करती है। इसका अर्थ यह है कि जब तक प्रकृति पुरुषके साथ संयुक्त है तब तक वह बुद्धि

अहंकार आदि नानारूप है और जब इसका पुरुषके साथ हुए संयोगका अभाव हो जाता है तब अपने स्वाभाविक रूपमें पहुँच जाती है। प्रकृतिका पुरुषके साथ संयोग होकर बुद्धि, अहंकार आदि रूप हो जानेका नाम ही सांख्य दर्शनमें सृष्टि या संसार माना गया है। यह प्रकृतिका पुरुषके साथ संयोग होकर बुद्धि, अहंकार आदि रूप हो जाना कैसे संसारको ध्वनित करता है? यही सबसे अधिक विचारणीय प्रश्न है।

सांख्यदर्शनमें प्रकृतिका पुरुषके साथ संयोग होकर बुद्धि, अहंकार आदि नानारूप होनेकी परंपरा इस प्रकार बतलायी गयी है—प्रकृति पुरुषके साथ संयुक्त होकर बुद्धिरूप परिणत होती है, यह बुद्धि अहंकाररूप परिणत होती है, अहंकार पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पाँच तन्मात्रा इस प्रकार इन सोलह तत्त्वरूप परिणत होता है और इन सोलह तत्त्वोंमेसे पाँच तन्मात्रायें अन्तिम पाँच महाभूतरूप परिणत हो जाया करती है। इस व्यवस्थामें विचारणीय बात यह है कि जब पुरुष नाना है तो भिन्न-भिन्न पुरुषोंके साथ संयुक्त प्रकृतिके विपरिणामस्वरूप बुद्धितत्त्वमें भी नानात्व स्वीकार करना होगा और इस प्रकार नाना बुद्धितत्त्वोंके विपरिणामस्वरूप नाना अहंकारतत्त्व, नाना अहंकारतत्त्वोंके विपरिणामस्वरूप नाना पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आदि सोलह-सोलह प्रकारके तत्त्व और इन सोलह प्रकारके तत्त्वोंमें अन्तर्भूत नाना पाँच प्रकारकी तन्मात्राओंके विपरिणामस्वरूप नाना पंच महाभूत स्वीकार करने होंगे। इस तरहसे जब मूलभूत एक प्रकृतिके ही विपरिणामस्वरूप पंच महाभूत तककी सम्पूर्ण परम्परामें अनिवार्यरूपसे नानात्व स्वीकार करना पड़ता है तो इसमें एक आपत्ति यह उपस्थित होती है कि हमें पंचमहाभूत स्वरूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वोंमें गर्भित आकाशतत्त्वको भी नानारूप मानना होगा। दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि जब पुरुषकी संयुक्त हालतमें ही प्रकृतिका विपरिणाम होता है तो ये महाभूतस्वरूप पंचतत्त्व भी प्रकृति और पुरुषकी संयुक्त हालतके प्रकृति विपरिणाम मानने होंगे। प्रकृति और पुरुषकी संयुक्त हालतसे भिन्न स्वरूप इनका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना असंगत होगा। इन आपत्तियोंके आधारपर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पुरुषके साथ संयोग होनेसे प्रकृतिकी तेतीस तत्त्व की जो परम्परा है वह भिन्न-भिन्न पुरुषोंकी भिन्न-भिन्न देह तक ही सीमित है अर्थात् भिन्न-भिन्न पुरुषोंके साथ संयोग होनेपर होनेवाली प्रकृतिकी बुद्धिसे लेकर स्थूल शरीररचना तककी परम्पराका नाम ही सांख्यदर्शनमें सृष्टि या संसार माना गया है। उसकी सृष्टिमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्व गर्भित नहीं हैं। गीताके १३वें अध्यायमें जो क्षेत्र, क्षेत्रज्ञविषयक विचार किया गया है उसमें क्षेत्रका अर्थ शरीर ही किया गया है और उसका विस्तार सांख्यकी मान्यताके अनुसार प्रकृतिके विकार स्वरूप बुद्धिसे लेकर पंच महाभूत पर्यंत किया है। सांख्य दर्शनकी यह मान्यता वेदान्त दर्शनको भी अभीष्ट है। भेद सिर्फ इतना है कि वेदान्त दर्शन एक प्रकृति और नाना पुरुष इन दोनों प्रकारके तत्त्वोंको सांख्यदर्शनकी तरह मूल तत्त्व स्वीकार नहीं करता है। वह इन दोनोंके मूलमें एक परब्रह्मनामक तत्त्वको स्वीकार करता है। इस प्रकार वेदान्तदर्शनमें भी परब्रह्मके विपरिणामस्वरूप प्रकृति और पुरुष, जिनको वहाँ पर क्रमसे अविद्या (माया) और जीवात्मा नाम दिये गये हैं, को लेकर जीवात्माओंके स्थूल शरीर तककी परम्पराका नाम ही सृष्टि या संसार माना गया है, क्योंकि सांख्यदर्शनकी तरह वेदान्तदर्शनकी मान्यताके अनुसार भी पूर्वोक्त आपत्तियोंके आधारपर एक परब्रह्म तत्त्वसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वोंकी उत्पत्तिका समर्थन नहीं हो सकता। गीताके निम्नलिखित श्लोकसे भी मेरी इस कल्पनाका समर्थन होता है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥

इस श्लोकमें आत्माका अर्थ परब्रह्म लिया गया है और उससे भिन्न स्वतन्त्र तथा व्यापक आकाश

तत्त्वको दृष्टान्त देकर उसकी निर्लेपताका समर्थन किया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि वेदान्तको परब्रह्मसे आकाशकी उत्पत्ति अभीष्ट नहीं है। प्रत्युत उनकी निगाहमें आकाश एक स्वतन्त्र अनादिनिधन पदार्थ है और आकाशकी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्व भी परब्रह्म है, सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ये तत्त्व भी परब्रह्मसे उत्पन्न नहीं हुए हैं।

यहाँपर एक प्रश्न सिर्फ यह उपस्थित हो सकता है कि जब सांख्य और वेदान्त दोनों दर्शनोंमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु और आकाश तत्त्वोंका एक तो स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है और दूसरे सांख्यकी मान्यतामें प्रकृतिसे तथा वेदान्तकी मान्यतामें परब्रह्मसे उनकी उत्पत्तिका समर्थन भी नहीं होता है, तो ऐसी हालतमें ये दोनों दर्शन अधूरे दर्शन रह जायेंगे।

इसका समाधान यह है कि यदि हम यह बात मान लेते हैं कि यह दोनो दर्शन उपयोगितावादके आधारपर प्रादुर्भूत हुए हैं अर्थात् इन दोनोंमें सिर्फ लोककल्याणोपयोगी तत्त्वोंका ही वर्णन किया गया है तो फिर यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंमें पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वोंकी न तो प्रकृति अथवा परब्रह्मसे उत्पत्ति मानी गई है और न इनका स्वतंत्र अस्तित्वके आधारपर ही वर्णन किया गया है, किन्तु इनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी लोककल्याणके लिए उपयोगी न होनेके कारण इन दोनो दर्शनोंने इन तत्त्वोंके कथनके बारेमें सिर्फ उपेक्षावृत्ति धारण की है।

जैनदर्शन भी यद्यपि दूसरे सभी भारतीय दर्शनोंकी तरह उपयोगितावादके आधारपर उत्पन्न हुआ है। परन्तु जैनदर्शनमें उपयोगितावाद और अस्तित्ववाद दोनो वादोंके आधारपर स्वतंत्र दो प्रकारकी तत्त्व-मान्यतायें पाई जाती हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंकी मान्यता उपयोगितावादके आश्रित है, क्योंकि इस मान्यतामें सिर्फ जीव, जीवका संसार और उसके कारण तथा जीव-मुक्ति और उसके कारणरूप उपयोगी तत्त्वोंको ही स्थान दिया गया है और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन ६ तत्त्वोंकी मान्यता अस्तित्ववादके आश्रित है, क्योंकि इस मान्यतामें लोककल्याणोपयोगिताका ध्यान रखते हुए जगतके सम्पूर्ण पदार्थोंके अस्तित्वपर सामान्यतया विचार किया गया है।

जैनदर्शनमें प्रमाण और नय*

व्याकरणके अनुसार दर्शनशब्द 'दृश्यते=निर्णीयते वस्तुतत्वमनेनेति दर्शनम्' अथवा 'दृश्यते निर्णीयत इदं वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्, इन दोनो व्युत्पत्तियोंके आधारपर दृश् धातुसे निष्पन्न होता है। पहली व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शनशब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परीक्षास्वरूप उस विचारधाराका नाम है जो तत्त्वोंके निर्णयमें प्रयोजक हुआ करती है। दूसरी व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शनशब्दका अर्थ उल्लिखित विचारधाराके द्वारा निर्णीत तत्त्वोंकी स्वीकारता होता है। इस प्रकार दर्शनशब्द दार्शनिक जगत्में इन दोनों प्रकारके अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है अर्थात् भिन्न-भिन्न मतोकी जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यतायें हैं उनको और जिन तार्किक मुद्दोंके आधारपर उन मान्यताओका समर्थन होता है उन तार्किक मुद्दोंको दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

सबसे पहले दर्शनोंको दो भागोंमे विभक्त किया जा सकता है—भारतीय दर्शन और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन। जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षमें हुआ है वे भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षके बाहर पाश्चात्य देशोमे हुआ है वे अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन माने गये हैं। भारतीय दर्शन भी दो भागोंमें विभक्त हो जाते है—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्पराके अन्दर जिनका प्रादुर्भाव हुआ है तथा जो वेदपरम्पराके पोषक दर्शन है वे वैदिक दर्शन माने जाते है और वैदिक परम्परासे भिन्न जिनकी स्वतन्त्र परम्परा है तथा जो वैदिक परम्पराके विरोधी दर्शन है उनका समावेश अवैदिक दर्शनोंमे होता है। इस सामान्य नियमके आधारपर वैदिक दर्शनोमे मुख्यत साख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन आते है और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन अवैदिक दर्शन ठहरते हैं।

वैदिक और अवैदिक दर्शनोंको दार्शनिक मध्यकालीन युगमें क्रमसे आस्तिक और नास्तिक नामोंसे भी पुकारा जाने लगा था, परन्तु मालूम पडता है कि इनका यह नामकरण साम्प्रदायिक व्यामोहके कारण वेद-परम्पराके समर्थन और विरोधके आधारपर प्रशंसा और निन्दाके रूपमे किया गया है। कारण, यदि प्राणियों के जन्मान्तररूप परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिके न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो जैन और बौद्ध दोनो अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनोकी कोटिसे निकलकर आस्तिक दर्शनोकी कोटिमें आ जायेंगे, क्योंकि ये दोनों दर्शन परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी मान्यताको स्वीकार करते है। और यदि जगत्का कर्ता अनादिनिधन ईश्वरको न मानने रूप अर्थमें नास्तिकशब्दका प्रयोग किया जाय तो सांख्य और मीमांसा दर्शनोंको भी आस्तिक दर्शनोकी कोटिसे निकालकर नास्तिक दर्शनोंकी कोटिमें रख देना पडेगा; क्योंकि ये दोनों दर्शन अनादिनिधन ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेसे इन्कार करते हैं। 'नास्तिको वेद-निन्दकः' इत्यादि वाक्य भी हमे यह बतलाते है कि वेदपरम्पराको न माननेवालों या उसका विरोध करने-वालोंके बारेमें ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायोमे अपनी परम्पराके मानने-वालोंको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालोंको नास्तिक कहा गया है। जैनसम्प्रदायमें जैनपरम्पराके माननेवालोको सम्यग्दृष्टि और जैनेतर परम्पराके माननेवालोंको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनोका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंके रूपमें विभाग किया जाता है वह निरर्थक एव अनुचित है।

उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनोमेसे एक-दो दर्शनोंको छोडकर प्राय सभी दर्शनोंका साहित्य काफी विशालताको लिये हुए पाया जाता है। जैनदर्शनका साहित्य भी काफी विशाल और महान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो दर्शनकारोंने समानरूपसे जैनदर्शनके साहित्यकी समृद्धिमे काफी हाथ बटाया है। दिगम्बर

* डॉ० कोठिया द्वारा सम्पादित न्यायदीपिकागत प्राक्कथन, १९४५।

और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें परस्पर जो मतभेद पाया जाता है वह दार्शनिक नहीं, आगमिक है। इसलिये इन दोनोंके दर्शन-साहित्यकी समृद्धिके धारावाहिक प्रयासमें कोई अन्तर नहीं आया है।

दर्शनशास्त्रका मुख्य उद्देश्य वस्तु-स्वरूपव्यवस्थापन ही माना गया है। जैनदर्शनमें वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) निर्णीत किया गया है। इसलिये जैनदर्शनका मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद (अनेकान्तकी मान्यता) है। अनेकान्तका अर्थ है—परस्पर-विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनोंमें वस्तुको सिर्फ सत् या असत्, सिर्फ सामान्य या विशेष, सिर्फ नित्य या अनित्य, सिर्फ एक या अनेक और सिर्फ भिन्न या अभिन्न स्वीकार किया गया है वहाँ जैनदर्शनमें वस्तुको सत् और असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैनदर्शनकी यह सत्-असत्, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्नरूप वस्तुविषयक मान्यता परस्पर-विरोधी दो तत्त्वोंका एकत्र समन्वयको सूचित करती है।

वस्तुकी इस अनेकधर्मात्मकताके निर्णयमें साधक प्रमाण होता है। इसलिये दूसरे दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें भी प्रमाण-मान्यताको स्थान दिया गया है। लेकिन दूसरे दर्शनोंमें जहाँ कारकसाकल्यादिको प्रमाण माना गया है वहाँ जैनदर्शनमें सम्यग्ज्ञान (अपने और अपूर्व अर्थके निर्णायक ज्ञान) को ही प्रमाण माना गया है, क्योंकि ज्ञप्ति-क्रियाके प्रति जो करण हो उसीका जैनदर्शनमें प्रमाणनामसे उल्लेख किया गया है। ज्ञप्तिक्रिया-के प्रति करण उक्त प्रकारका ज्ञान ही हो सकता है, कारकसाकल्यादि नहीं, कारण कि क्रियाके प्रति अत्यन्त अर्थात् अव्यवहितरूपसे साधक कारणको ही व्याकरणशास्त्रमें करणसंज्ञा दी गयी है[1] और अव्यवहितरूपसे ज्ञप्तिक्रियाका साधक उक्त प्रकारका ज्ञान ही है। कारकसाकल्यादि ज्ञप्तिक्रियाके साधक होते हुए भी उसके अव्यवहितरूपसे साधक नहीं हैं, इसलिये उन्हें प्रमाण कहना अनुचित है।

प्रमाण-मान्यताको स्थान देनेवाले दर्शनोंमें कोई दर्शन सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाणको, कोई प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान चार प्रमाणोंको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति पाँच प्रमाणोंको और कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंको मानते हैं। कोई दर्शन एक सम्भव नामके प्रमाणको भी अपनी प्रमाणमान्यतामें स्थान देते हैं। परन्तु जैनदर्शनमें प्रमाणकी इन भिन्न-भिन्न संख्याओंको यथायोग्य निरर्थक, पुनरुक्त और अपूर्ण बतलाते हुए मूलमें प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद प्रमाणके स्वीकार किये गये हैं। प्रत्यक्षके अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य ये दो भेद मानकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका समावेश किया गया है तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों और मनका साहाय्य होनेके कारण स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छह भेद स्वीकार किये गये हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके भेद अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको जैनदर्शनमें देशप्रत्यक्ष संज्ञा दी गई है। कारण कि इन दोनों ज्ञानोंका विषय सीमित माना गया है और केवलज्ञानको सकलप्रत्यक्ष नाम दिया गया है, क्योंकि इसका विषय असीमित माना गया है अर्थात् जगत्के सपूर्ण पदार्थ अपने-अपने त्रिकालवर्ती विवर्तों सहित इसकी विषयकोटिमें एक साथ समा जाते हैं। सर्वज्ञमें केवलज्ञाननामक इसी सकलप्रत्यक्षका सद्भाव स्वीकार किया गया है। अतीन्द्रियप्रत्यक्षको परमार्थप्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षको सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष

---

१. 'साधकतमं करणम् ।' —जैनेन्द्रव्याकरण १।२।११३।

भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि सभी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान यद्यपि आत्मोत्थ हैं क्योंकि ज्ञानको आत्माका स्वभाव या गुण माना गया है। परन्तु अतीन्द्रियप्रत्यक्ष इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही स्वतन्त्ररूपसे आत्मामें उद्भूत हुआ करते हैं, इसलिये इन्हें परमार्थ संज्ञा दी गई है और इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष आत्मोत्थ होते हुए भी उत्पत्तिमें इन्द्रियाधीन है, इसलिये वास्तवमें इन्हें प्रत्यक्ष कहना अनुचित ही है। अतः लोकव्यवहारकी दृष्टिसे ही इनको प्रत्यक्ष कहा जाता है। वास्तवमे तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंको भी परोक्ष ही कहना उचित हैं। फिर जब ये प्रत्यक्ष पराधीन हैं तो इन्हें परोक्ष प्रमाणोंमें ही अन्तर्भूत क्यों नही किया गया है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान हो उस ज्ञानको साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे अन्तर्भूत किया गया है और जिस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान न हो, परम्परया सम्बन्ध कायम होता हो उस ज्ञानको परोक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत किया गया है। उक्त छहों इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षों (साव्यवहारिकप्रत्यक्षों)में प्रत्येककी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार अवस्थायें स्वीकार की गयी है। अवग्रह—ज्ञानकी उस दुर्बल अवस्थाका नाम है जो अनन्तरकालमें निमित्त मिलनेपर विरुद्ध नानाकोटि विषयक संशयका रूप धारण कर लेती है और जिसमें एक अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि भी शामिल रहती है। संशयके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटिविषयक अनिर्णीत भावनारूप ज्ञानका नाम ईहा माना गया है। और ईहाके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि विषयक निर्णीत ज्ञानका नाम अवाय है। यही ज्ञान यदि कालान्तरमें होनेवाली स्मृतिका कारण बन जाता है तो इसे धारणा नाम दे दिया जाता है। जैसे कही जाते हुए हमारा दूर स्थित पुरुषको सामने पाकर उसके बारेमें "यह पुरुष है" इस प्रकारका ज्ञान अवग्रह है। इस ज्ञानकी दुर्बलता इसीसे जानी जा सकती है कि यही ज्ञान अनन्तरकालमें निमित्त मिल जानेपर "वह पुरुष है या ठूँठ" इस प्रकारके संशयका रूप धारण कर लिया करता है। यह संशय अपने अनन्तरकालमे निमित्तविशेषके आधारपर 'मालूम पडता है कि यह पुरुष ही है' अथवा 'उसे पुरुष ही होना चाहिये' इत्यादि प्रकारसे ईहाज्ञानका रूप धारण कर लिया करता है और यह ईहाज्ञान ही अपने अनन्तर समयमे निमित्तविशेषके बलपर 'वह पुरुष ही है' इस प्रकारके अवायज्ञानरूप परिणत हो जाया करता है। यही ज्ञान नष्ट होनेसे पहले कालान्तरमें होनेवाली 'अमुक समयमें अमुक स्थानपर मैंने पुरुषको देखा था' इस प्रकारकी स्मृतिमें कारणभूत जो अपना संस्कार मस्तिष्कपर छोड जाता है उसीका नाम धारणाज्ञान जैनदर्शनमें माना गया है। इस प्रकार एक ही इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष (सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष) भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न निमित्तोंके आधारपर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार रूपोंको धारण कर लिया करता है और ये चार रूप प्रत्येक इन्द्रिय और मनसे होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानमें सम्भव हुआ करते हैं। जैनदर्शनमें प्रत्यक्षप्रमाणका स्पष्टीकरण इसी ढङ्गसे किया गया है।

जैनदर्शनमें परोक्षप्रमाणके पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमेंसे धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञानविशेषका नाम स्मृति है। स्मृति और प्रत्यक्षमूलक वर्तमान और भूत पदार्थोंके एकत्व अथवा सादृश्यको ग्रहण करनेवाला प्रत्यभिज्ञान कहलाता है, प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थोंके अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिका ग्राहक तर्क होता है और तर्कमूलक साधनसे साध्यका ज्ञान अनुमान माना गया है। इसी तरह आगमज्ञान भी अनुमानमूलक ही होता है अर्थात् 'अमुक शब्दका अमुक अर्थ होता है' ऐसा निर्णय हो जानेके बाद ही श्रोता किसी शब्दको सुनकर उसके अर्थका ज्ञान कर सकता है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि साव्यवहारिकप्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है और परोक्षप्रमाण साव्यवहारिकप्रत्यक्षजन्य है। बस, सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष और परोक्षप्रमाणमें इतना ही अन्तर है।

जैनदर्शनमें शब्दजन्य अर्थज्ञानको आगमप्रमाण माननेके साथ-साथ उस शब्दको भी आगमप्रमाणमें

संग्रहीत किया गया है और इस प्रकार जैनदर्शनमें आगमप्रमाणके दो भेद मान लिये गये हैं—एक स्वार्थ-प्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण। पूर्वोक्त सभी प्रमाण ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही है। परन्तु एक आगमप्रमाण ही ऐसा है, जिसे स्वार्थप्रमाण और परार्थप्रमाण उभयरूप स्वीकार किया गया है। शब्दजन्य अर्थज्ञान ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप है। लेकिन शब्दमें चूँकि ज्ञानरूपताका अभाव है इसलिये वह परार्थप्रमाणरूप माना गया है।

यह परार्थप्रमाणरूप शब्द वाक्य और महावाक्यके भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे दो या दोसे अधिक पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं और दो या दोसे अधिक वाक्योंके समूहको महावाक्य कहते हैं, दो या दोसे अधिक महावाक्योंके समूहको भी महावाक्यके ही अन्तर्गत समझना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि परार्थप्रमाण एक सखण्ड वस्तु है और वाक्य तथा महावाक्यरूप परार्थप्रमाणके जो खण्ड हैं उन्हें जैनदर्शनमें नयसंज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार जैनदर्शनमें वस्तुस्वरूपके व्यवस्थापनमें प्रमाणकी तरह नयोंको भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नयोंका लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिये—

"वक्ताके उद्दिष्ट अर्थका पूर्णरूपेण प्रतिपादक वाक्य और महावाक्य प्रमाण कहा जाता है और वक्ताके उद्दिष्ट अर्थके अंशका प्रतिपादक पद, वाक्य और महावाक्यको नयसंज्ञा दी गयी है।"

इस प्रकार ये दोनों परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय वचनरूप है और चूँकि वस्तुनिष्ठ सत्त्व और असत्त्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि परस्पर-विरोधी दो तत्त्व अथवा तद्विशिष्ट वस्तु ही इनका वाच्य है, इसलिए इनके आधारपर जैनदर्शनका सप्तभंगीवाद कायम होता है। अर्थात् उक्त सत्त्व और असत्त्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि युगलधर्मों और एतद्धर्मविशिष्ट वस्तुके प्रतिपादनमें उक्त परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय सात रूप धारण कर लिया करते हैं।

प्रमाणवचनके सात रूप निम्न प्रकार हैं

सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्त्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका पहला रूप है। असत्त्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका दूसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका तीसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुखेन युगपत् (एकसाथ) वस्तुका प्रतिपादन करना असम्भव है, इसलिये अवक्तव्य नामका चौथा रूप प्रमाणवचनका निष्पन्न होता है। उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ सत्त्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका पाँचवाँ रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादन-की असम्भवताके साथ-साथ असत्त्वमुखेन भी वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है, इस तरहसे प्रमाणवचनका छठा रूप बन जाता है। और उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है, इस तरहसे प्रमाणवचनका सातवाँ रूप बन जाता है। जैनदर्शनमें इसको प्रमाणसप्तभंगी नाम दिया गया है।

नयवचनके सात रूप निम्न प्रकार हैं

वस्तुके सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्त्वधर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका पहला रूप है। असत्त्वधर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका दूसरा रूप है। उभयधर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचनका तीसरा रूप है और चूँकि उभयधर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है, इसलिये इस तरहसे अवक्तव्य

नामका चौथा रूप नयवचनका निष्पन्न होता है। नयवचनके पाँचवें, छठे और सातवें रूपोंको प्रमाणवचनके पाँचवें, छठे और सातवे रूपोंके समान समझ लेना चाहिये। जैनदर्शनमे नयवचनके इन सात रूपोको नयसप्तभंगी नाम दिया गया है।

इन दोनो प्रकारकी सप्तभंगियोमे इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि जब सत्वधर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके सत्वधर्मका प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तुकी असत्वधर्मविशिष्टताको अथवा वस्तुके असत्वधर्मको अविवक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्वधर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके असत्वधर्मका प्रतिपादन करते समय वस्तुकी सत्वधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुके सत्वधर्मके बारेमे समझना चाहिये। इस प्रकार धर्मोकी विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गौणता) के स्पष्टीकरणके लिये स्याद्वाद अर्थात् स्यात्की मान्यताको भी जैनदर्शनमें स्थान दिया गया है। स्याद्वादका अर्थ है—किसी भी धर्मके द्वारा वस्तुका अथवा वस्तुके किसी भी धर्मका प्रतिपादन करते समय उसके अनुकूल किसी भी निमित्त, किसी भी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्यको लक्ष्यमे रखना। और इस तरहसे ही वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुमे विरुद्ध धर्मका अस्तित्व अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यदि उक्त प्रकारके स्याद्वादको नही अपनाया जायगा, तो वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टताका अथवा वस्तुमे विरोधी धर्मका अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा और इस तरहसे अनेकान्तवादका भी जीवन समाप्त हो जायगा।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद ये जैनदर्शनके अनूठे सिद्धान्त है। इनमेसे एक प्रमाणवादको छोडकर बाकीके चार सिद्धान्तोको तो जैनदर्शनकी अपनी ही निधि कहा जा सकता है और ये चारों सिद्धान्त जैनदर्शनकी अपूर्वता एवं महत्ताके अतीव परिचायक है। प्रमाणवादको यद्यपि दूसरे दर्शनोमे स्थान प्राप्त है परन्तु जिस व्यवस्थित ढग और पूर्णताके साथ जैनदर्शनमे प्रमाणका विवेचन पाया जाता है वह दूसरे दर्शनोमे नही मिल सकता है। मेरे इस कथनकी स्वाभाविकताको जैनदर्शनके प्रमाणविवेचनके साथ दूसरे दर्शनोके प्रमाणविवेचनका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् सहज ही समझ सकते है।

एक बात जो जैनदर्शनकी यहाँ पर कहनेके लिये रह गई है वह है सर्वज्ञतावादकी, अर्थात् जैनदर्शनमे सर्वज्ञतावादको भी स्थान दिया गया है और इसका कारण यह है कि आगमप्रमाणका भेद जो परार्थप्रमाण अर्थात् वचन है उसकी प्रमाणता बिना सर्वज्ञताके संभव नही है। कारण कि प्रत्येक दर्शनमें आप्तका वचन ही प्रमाण माना गया है तथा आप्त अवंचक पुरुष ही हो सकता है और पूर्ण अवंचकताकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिमें सर्वज्ञताका सद्भाव अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

जैनदर्शनमे इन अनेकान्त, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्यात और सर्वज्ञताकी मान्यताओंको गंभीर और विस्तृत विवेचनके द्वारा एक निष्कर्षपर पहुँचा दिया गया है। न्यायदीपिकामे श्रीमदभिनव धर्मभूषणयतिने इन्ही विषयोंका सरल और संक्षिप्त ढंगसे विवेचन किया है और श्री पं० दरबारीलाल कोठियाने इसे टिप्पणी और हिन्दी अनुवादसे सुसस्कृत बनाकर सर्वसाधारणके लिये उपादेय बना दिया है। प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि प्रकरणो द्वारा इसकी उपादेयता और भी बढ़ गयी है। आपने न्यायदीपिकाके कठिन स्थलोका भी परिश्रमके साथ स्पष्टीकरण किया है।

●

ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार

एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष क्यों है ? इसके समाधानमें जैनागममे जो कुछ कहा गया है उसका सार यह है—"सब जीवोमे पदार्थोंके जाननेकी शक्ति विद्यमान है उसके द्वारा प्रत्येक जीव पदार्थबोध किया करता है। पदार्थबोध मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। मतिज्ञानमे स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंमेसे किसी भी इन्द्रिय अथवा मनकी सहायता अपेक्षित रहा करती है। श्रुतज्ञान सिर्फ मनकी सहायतासे हुआ करता है और अवधि, मन पर्यय तथा केवल ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही हुआ करते है। यथायोग्य इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहते है तथा इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होनेके कारण अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।"

जैनागममें इससे भी आगे इतना कथन और पाया जाता है—"स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारों प्रकारके मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष हैं। अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष है। शेष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों प्रकारके मतिज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण जहाँ परोक्ष हैं वहाँ लोकसंव्यवहारमें प्रत्यक्ष माने जानेके कारण उक्त चारो ज्ञान (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा) प्रत्यक्ष भी है।"

यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारो मतिज्ञानोको लौकिक व्यवहारमे जो प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है उसका कारण क्या है ? इस प्रश्नके समाधानमे मेरा मत यह है कि जैनागममे इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे होनेवाले ज्ञानोको परोक्ष और इन्द्रियादिककी सहायताके बिना ही होनेवाले ज्ञानोंको प्रत्यक्ष कहनेका आशय उन-उन ज्ञानोकी पराधीनता और स्वाधीनता बतलाना मात्र है, इसे स्वरूपकथन नही समझना चाहिये। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षके उक्त लक्षण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे कहे गये है। लेकिन स्वरूपका कथन करनेवाला जो द्रव्यानुयोग है उसकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष वह ज्ञान कहलाता है, जिसमें पदार्थका साक्षात्काररूप बोध हो और परोक्ष वह ज्ञान कहलाता है, जिसमें पदार्थका बोध तो हो, लेकिन वह बोध साक्षात्कार रूप न हो। पदार्थका साक्षात्काररूप बोध वहाँ होता है जहाँ पदार्थ-दर्शनके सद्भावमें पदार्थज्ञान हुआ करता है और पदार्थका असाक्षात्काररूप बोध वहाँ होता है जहाँ पदार्थदर्शनके बिना ही पदार्थका ज्ञान हो जाया करता है। इस प्रकार पदार्थदर्शनके सद्भावमें जो पदार्थबोध हुआ करता है उसे प्रत्यक्ष और पदार्थदर्शनके बिना ही जो पदार्थबोध हो जाया करता है उसे परोक्ष समझना चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्षके इन लक्षणोंके अनुसार पदार्थदर्शनके सद्भावमें होनेके कारण अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान तथा अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब प्रत्यक्ष है और शेष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये सब चूँकि पदार्थदर्शनके बिना ही हो जाया करते हैं, इसलिये परोक्ष है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीवमें पदार्थोंके जाननेकी योग्यताकी तरह पदार्थोंके देखनेकी भी योग्यता विद्यमान हैं, इसलिए जिस प्रकार प्रत्येक जीव जाननेकी योग्यताका सद्भाव रहनेके कारण पदार्थोंको जानता है उसी प्रकार वह देखनेकी योग्यताका सद्भाव रहनेके कारण पदार्थोंको देखता भी है और चूँकि पदार्थका दर्शन पदार्थके प्रत्यक्षमे कारण होता है। अतः जो जीव पदार्थका प्रत्यक्षज्ञान करना चाहता है उसे पदार्थका दर्शन अवश्य होना चाहिए, क्योंकि बिना पदार्थदर्शनके किसी भी पदार्थका प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है।

प्रत्यक्षशब्दका अर्थ "अक्षं = आत्मानं प्रति" इस व्युत्पत्तिके अनुसार पदार्थकी आत्मावलम्बनतापूर्वक होनेवाला पदार्थज्ञान होता है और परोक्षशब्दका अर्थ "अक्षात् = आत्मन. परम्" इस व्युत्पत्तिके अनुसार पदार्थकी आत्मावलम्बनताके बिना ही होनेवाला पदार्थज्ञान होता है तथा यहाँपर जो पदार्थकी आत्मावलम्बनताका कथन किया गया है उसका अर्थ "आत्मप्रदेशोंका हमारे ज्ञानके आधारभूत पदार्थके आकाररूप परिणत हो जाना" होता है बस, इसीको पदार्थका दर्शन या दर्शनोपयोग समझना चाहिए। यह पदार्थदर्शन कहीं-कहीं तो स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंमेंसे किसी भी इन्द्रिय द्वारा अथवा मन द्वारा यथासम्भव यथायोग्यरूपमे हुआ करता है और कहीं-कहीं इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही यथायोग्यरूपमें हुआ करता है। इस तरह जैनागममे पदार्थदर्शनके चार भेद मान लिए गये हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

नेत्र इन्द्रिय द्वारा पदार्थके नियत आकारका नियत आत्मप्रदेशोंमें पहुँच जानेको चक्षुदर्शन, नेत्र इन्द्रियको छोड़कर शेष स्पर्शन, रसना, नासिका और कर्ण इन चारों इन्द्रियोंमेंसे किसी भी इन्द्रिय द्वारा अथवा मन द्वारा अपने-अपने अनुरूप पदार्थके नियत आकारोका नियत आत्म-प्रदेशोंमें पहुँच जानेको अचक्षुदर्शन, इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही रूपवान् (पुद्गल) पदार्थके आकारका नियत आत्मप्रदेशोंमें पहुँच जानेको अवधिदर्शन, तथा इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही विश्वके समस्त पदार्थोंके आकारोंका सर्व आत्मप्रदेशोंमें पहुँचनेको केवलदर्शन समझना चाहिये।

नेत्र इन्द्रियसे होनेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञानोंमें चक्षुदर्शनका सद्भाव कारण होता है, स्पर्शन, रसना, नासिका और कर्ण इन्द्रियोमेंसे किसी भी इन्द्रिय अथवा मनसे होनेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञानोंमे उस-उस इन्द्रिय अथवा मनके द्वारा होनेवाले अचक्षुदर्शनका सद्भाव कारण होता है तथा अवधिज्ञानमें अवधिदर्शनका और केवलज्ञानमे केवलदर्शनका सद्भाव कारण होता है। मनःपर्ययज्ञानमें भी मानसिक अचक्षुदर्शनका सद्भाव कारण होता है।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो सर्वथा प्रत्यक्ष है अर्थात् इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होनेके कारण ये तीनों ज्ञान चूँकि स्वाधीन ज्ञान है अत करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष हैं और चूँकि ये तीनों ज्ञान उक्त प्रकारके पदार्थदर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होते है अत स्वरूपका कथन करनेवाले द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे भी ये प्रत्यक्ष ही हैं। तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारों मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये सब सर्वथा परोक्ष हैं अर्थात् यथासम्भव इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेसे कारण चूँकि ये ज्ञान पराधीन हैं अत. करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे परोक्ष हैं और चूँकि ये ज्ञान उक्त प्रकारके पदार्थदर्शनके बिना ही उत्पन्न हो जाया करते हैं अतः स्वरूपका कथन करनेवाले द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे भी ये परोक्ष ही है। लेकिन अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो मतिज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष और कथंचित् परोक्ष माने गये है अर्थात् ये चारो ज्ञान चूँकि उक्त प्रकारके चक्षुदर्शन अथवा अचक्षुदर्शन रूप पदार्थदर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए स्वरूपका कथन करनेवाले द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे तो ये प्रत्यक्ष हैं और चूँकि ये इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे ही उत्पन्न हुआ करते है अतः करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे ये परोक्ष भी है। इस कथनके साथ जैनागमके पूर्वोक्त इस कथनका भी सामञ्जस्य बैठ जाता है कि अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान सर्वथा परोक्ष हैं तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष और कथंचित् परोक्ष हैं।

शंका—केवलज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जो दर्शनके सद्भावमें हुआ करता है। शेष ज्ञान तो दर्शनके

सद्भावमें न होकर दर्शनपूर्वक ही हुआ करते हैं, इसका अर्थ यह है कि केवलज्ञानको छोड़कर शेष ज्ञानदर्शनके बाद ही हुआ करते हैं, आगममें भी ऐसा ही बतलाया गया है, इसलिये अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान तथा अवधि और मनःपर्ययज्ञान ये सब दर्शनके सद्भावमें होते हैं—ऐसा कहना गलत है ?

उत्तर—केवलज्ञानकी तरह उक्त अवग्रहादि ज्ञान भी दर्शनके सद्भावमें ही हुआ करते है। आगममें जो इनका दर्शनपूर्वक होना लिखा है उसका आशय इतना ही है कि इन ज्ञानोंके होनेमे दर्शन कारण है। जिस प्रकार "सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है" इस आगमवाक्यमें पूर्वशब्दको कारणरूप अर्थका बोधक स्वीकार किया गया है उसी प्रकार "दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है" इस आगमवाक्यमें भी पूर्वशब्दको कारण रूप अर्थका बोधक ही स्वीकार करना उचित है। दूसरी बात यह है कि कार्यकारणभावकी स्वीकृतिके लिए कार्योत्पत्तिके समयमें कारणकी उपस्थिति रहना आवश्यक है, इसलिए जब दर्शन और ज्ञानमें कार्यकारणभाव स्वीकार किया गया है तो दर्शनका ज्ञानोत्पत्तिके समयमें उपस्थित रहना आवश्यक हो जाता है।

शंका—जिस प्रकार किसी भी वस्तुकी किसी एक 'पूर्व' पर्यायके बाद दूसरी कोई उत्तर पर्याय हुआ करती है या एक नक्षत्रके उदयके बाद दूसरे नक्षत्रका उदय हुआ करता है तो जैसा कार्यकारणभाव पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायके साथ या एक नक्षत्रके उदयका दूसरे नक्षत्रके उदयके साथ पाया जाता है वैसा ही कार्यकारणभाव पूर्व और उत्तर कालमें उत्पन्न होनेवाले दर्शन और ज्ञानमें भी समझ लेना चाहिए, इसलिए दर्शन और ज्ञानमे कार्यकारणभाव रहते हुए भी दर्शनका ज्ञानोपत्तिके समयमें उपस्थित रहना आवश्यक नही है ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि दर्शन और ज्ञान ये दोनों एक ही गुणकी पूर्वोत्तरकालवर्ती दो पर्यायें नही हैं अपितु अलग-अलग दो गुणोंकी अलग-अलग पर्यायें है, अन्यथा इनके आवारक दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनों कर्मोंका आत्मामें पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानना असंगत हो जायगा। दूसरी बात यह है कि वस्तुकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें अथवा पूर्व नक्षत्रका उदय उत्तर नक्षत्रके उदयमे कारण नही होता है। केवल पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायमे उत्पत्तिकी अपेक्षा तथा पूर्व नक्षत्र और उत्तर नक्षत्रमें उदयकी अपेक्षा जो क्रमपना पाया जाता है वह क्रमपना यहाँ पर कार्यकारणभावका व्यवहार करने मात्रमें कारण होता है क्योंकि पूर्व नक्षत्रका उदय उत्तर नक्षत्रके उदयमें कारण नहीं होता है, यह बात तो स्पष्ट है ही, परन्तु वस्तुकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें कारण नही होती है, यह बात भी उतनी ही स्पष्ट समझनी चाहिए। इसका आशय यह है कि पूर्वपर्यायके विनाशके बिना उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति संभव नही है, इसलिए पूर्वपर्यायका विनाश ही उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिमें कारण होता है, पूर्वपर्याय नही। यदि कहा जाय कि पूर्वपर्यायका विनाश हो तो उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है इसलिए पूर्वपर्यायके विनाशको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमे कारण कैसे माना जा सकता है ? इसलिए पूर्वपर्यायको ही उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिमे कारण मानना उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि इस तरहसे पूर्वपर्यायके विनाशको ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति स्वीकार कर लेनेके बाद पूर्वपर्यायको अपने विनाशका ही कारण मानना अपने आप अयुक्तिक हो जाता है क्योंकि पूर्वपर्यायका विनाश उसके अपने स्वतंत्र कारणों द्वारा होता है, पूर्वपर्याय उसमें कारण नही है, यही मानना उचित है और चूँकि पूर्वपर्यायका विनाश ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है। अतः जो पूर्वपर्यायके विनाशका कारण है उसीको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमे कारण माना जा सकता है, पूर्व पर्यायको नही। इस कथनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जो लोग पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मानते हैं उनका यह मानना गलत है क्योंकि उत्तरपर्यायकी तरह पूर्वपर्याय भी कार्यमात्र है, उत्तर पर्यायकी वह उपादान नही। इन दोनोंका उपादान वह है जिसकी कि ये पर्यायें हैं। लेकिन इस तरह इन दोनोंकी

उत्पत्ति एक साथ इसलिए नहीं होती है कि दोनों पर्यायोंकी उत्पत्तिमें अलग-अलग निमित्तसामग्री अपेक्षित रहा करती है और यह युक्ति-संगत भी है क्योंकि उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिकी जो निमित्तसामग्री है वह तो पूर्वपर्यायके विनाशमें ही निमित्त हो सकती है, उत्पत्तिमें नही ।

इस कथनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उपादान और निमित्त दोनों तरहके कारणोंका कार्योत्पत्तिके समयमे सद्भाव रहनेसे ही कार्य उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नही, इसलिये जिन (अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, अवधि, मनःपर्यय और केवल) ज्ञानोकी उत्पत्तिमे दर्शन कारण है उनकी उत्पत्तिके समयमें अपने-अपने अनुकूल दर्शनका सद्भाव रहना ही चाहिए ।

शंका—दर्शन और ज्ञानमें कार्यकारणभाव वास्तविक नही है, बात सिर्फ इतनी है कि छद्मस्थोंके दर्शन और ज्ञानकी उत्पत्तिमें जो स्वाभाविक क्रमपना पाया जाता है उसकी अपेक्षासे इन दोनोंमें कार्यकारण-भावका व्यवहार मात्र किया जाता है ?

उत्तर—हम पहले कह आये है कि पदार्थके प्रत्यक्षमें पदार्थका दर्शन कारण होता है, आगममें भी दर्शनको ज्ञानमे कारण स्वीकार किया गया है । इसके विपरीत भी यदि दर्शनको ज्ञानमें कारण नही माना जायगा, तो फिर आत्मामे ज्ञानगुणसे पृथक् दर्शनगुणका अस्तित्व मानना व्यर्थ हो जायगा, ज्ञानगुणकी ही पूर्वपर्यायका नाम दर्शन और उत्तरपर्यायका नाम ज्ञान मान लेना पर्याप्त होगा । लेकिन जब आत्मामें ज्ञान-गुणमे पृथक् दर्शनगुणका अस्तित्व स्वीकार किया गया है और सर्वज्ञमे भी केवलज्ञानके समसमयमे केवल-दर्शनका सद्भाव भी जब कारणरूपसे स्वीकार किया गया है, तो इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि दर्शन और ज्ञानमें कार्यकारणभाव वास्तविक है, उपचारसे नही ।

शंका—''यदि छद्मस्थो (अल्पज्ञो) के दर्शन और ज्ञानका एकसाथ सद्भाव मान लिया जाता है, तो ''छद्मस्थोके एक साथ दो उपयोग नही होते है'' इस आगमवाक्यकी संगति कैसे होगी ?

उत्तर—उपयोग, परिणमन, पर्याय, व्यापार या क्रिया ये सब एकार्थबोधक शब्द है और यह स्वतः-सिद्ध नियम है कि एक गुणके दो परिणमन एक कालमे नही होते हैं, बस, इसी आधारपर आगममें यह बात बतलायी गयी है कि छद्मस्थोंके एक साथ दो उपयोग नही होते है । लेकिन यदि दर्शनगुण और ज्ञानगुण दोनोंका छद्मस्थोंके एकसाथ व्यापार होना अशक्य है तो फिर उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र आदि गुणोका भी एक साथ व्यापार मानना अयुक्त हो जायगा ।

यहाँपर इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार सर्वज्ञकी तरह छद्मस्थोंके नाना गुणोंके व्यापारोका एक कालमें सद्भाव मानना युक्त है उसी प्रकार छद्मस्थोंकी तरह सर्वज्ञके एक गुणके दो व्यापारों का अभाव मानना भी युक्त है । इसलिये सर्वज्ञको जो सम्पूर्ण पदार्थोंका युगपत् ज्ञान होता रहता है वह भी ज्ञानगुणका एक व्यापार रूप ही होता है । अत. उक्त आगमवाक्यको नियामक न मानकर स्वरूपका प्रतिपादक मात्र समझना चाहिए ।

शंका—छद्मस्थोंके इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे दर्शन होता है और इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे ही ज्ञान होता है, इसलिए जब इन्द्रिय अथवा मन दर्शनमें कारण होते हैं तब वे ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते हैं और जब वे ज्ञानमे कारण होते हैं तब दर्शनमें कारण नहीं हो सकते हैं, अत. उनके दर्शन और ज्ञानका एक साथ सद्भाव मानना अयुक्त है ?

उत्तर—एक ही वस्तु एक साथ भिन्न-भिन्न अनेक कार्योंमें निमित्त देखी जाती है, अतः इन्द्रिय अथवा मनका एक साथ दर्शन और ज्ञानके व्यापारमें निमित्त होना असंभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि जब अवधिदर्शन और अवधिज्ञान दोनों ही इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होते हैं तो उनके एकसाथ उत्पन्न होनेमें कौनसी बाधा रह जाती है। तीसरी बात यह है कि निमित्तोंका सद्भाव रहते हुए प्रत्येक गुणका प्रति समय कुछ न कुछ परिणमन अर्थात् व्यापार होना ही चाहिए अन्यथा उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, इसलिए भी छद्मस्थोंके दर्शन और ज्ञानके एक साथ उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं रह जाता है और मुख्य बात तो यह है कि जब दर्शन ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है तथा केवलदर्शन और केवलज्ञान दोनों सर्वज्ञमें एक साथ विद्यमान रहते हैं तो दर्शन और ज्ञान ये दोनों परस्पर विरोधी भी नहीं हैं।

शंका—एक तरफ तो निमित्तोंका सद्भाव रहते हुए दर्शन और ज्ञान आदि गुणोंका प्रतिसमय कुछ न कुछ व्यापार होता ही रहता है, ऐसा मान लिया गया है और दूसरी तरफ यह भी कहा गया है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतज्ञान पदार्थदर्शनके बिना ही उत्पन्न हो जाया करते है अर्थात् जिस कालमें ज्ञानगुणका स्मृत्यादिरूप व्यापार होता है उस कालमें दर्शनगुण व्यापारशून्य हो रहता है, तो इन दोनों परस्परविरोधी कथनोंकी संगति कैसे होगी ?

उत्तर—स्मृति आदि ज्ञान पदार्थदर्शनके बिना ही हो जाया करते हैं, यह तो ठीक है, परन्तु वहाँ दर्शन गुण व्यापारशून्य ही बना रहता है अथवा उन स्मृत्यादि ज्ञानोंमें दर्शनगुणके व्यापारका कोई उपयोग ही नहीं है, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि स्मृतिज्ञानमें धारणा ज्ञानको कारण माना गया है। परन्तु हमे धारणाज्ञान रहते हुए भी पदार्थका सर्वदा स्मरण क्यों नही होता रहता है ? इसका उत्तर यह है कि धारणा जिस कालमें उद्बुद्धताका रूप धारण कर लेती है उस कालमें ही स्मृति होती है, अन्यकालमे नहीं, और धारणाज्ञानकी यह उद्बुद्धता नियत आत्मप्रदेशोंका उस धारणज्ञानरूप परिणमनको छोड़कर कुछ भी नही है, जिसे पहले दर्शनोपयोग कह आये हैं। इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि स्मृति आदि ज्ञान भी दर्शनोपयोग अर्थात् दर्शनगुणके व्यापारके अभावमें उत्पन्न नहीं हो सकते हैं अर्थात् जिस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान तथा अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब दर्शनगुणका व्यापार रहते हुए ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारों मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये सब भी दर्शनगुणका व्यापार रहते हुए ही उत्पन्न होते है। लेकिन अवग्रहादि ज्ञानोंमें आत्माके दर्शनगुणका अर्थाकाररूप व्यापार कारण होनेकी वजहसे जहाँ उन्हें प्रत्यक्ष मान लिया गया है। वहाँ स्मृति आदि ज्ञानोंमें आत्माके दर्शनगुणका अर्थका अभाव रहते हुए धारणा आदि ज्ञानका रूप व्यापार कारण होनेकी वजहसे उन्हें परोक्ष माना गया है। स्मृतिको धारणाज्ञानपूर्वक, प्रत्यभिज्ञानको स्मृति और प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक, तर्कको प्रत्यभिज्ञानपूर्वक, अनुमानको तर्कज्ञानपूर्वक और श्रुतज्ञानको शब्दश्रवण या अंगुल्यादिदर्शन तथा इनमें संकेत ग्रहण रूप मतिज्ञानपूर्वक माननेका अभिप्राय यही है कि जिस कालमें आत्माके दर्शनगुणका उस-उस ज्ञानरूप व्यापार होता है उस कालमें वे-वे ज्ञान उत्पन्न हो जाया करते हैं।

शंका—ईहाज्ञान अवग्रहज्ञानपूर्वक होता है, अवायज्ञान ईहाज्ञानपूर्वक होता है, धारणाज्ञान अवग्रह या अवायपूर्वक होता है और मनःपर्ययज्ञान मानसिक ईहाज्ञानपूर्वक हुआ करता है, इस प्रकार ज्ञानपूर्वक होनेकी वजहसे इन ज्ञानोंको भी परोक्षज्ञान मानना उचित है ?

उत्तर—ईहा आदि ज्ञान अवग्रहादि ज्ञानपूर्वक होते हैं, इसका आशय इतना ही है कि ईहा आदि ज्ञान अवग्रह आदि ज्ञानोंके उत्पन्न होनेके बाद हुआ करते है। परन्तु जिस कालमे ईहा आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं उस कालमें आत्माके दर्शनगुणका अर्थाकाररूप व्यापार ही इनमें कारण होता है, अतः इन सबको प्रत्यक्ष ज्ञानोंकी कोटिमें ग्रहण किया गया है।

शंका—*जब कि प्रत्येक जीवमें दर्शन और ज्ञानगुणका कुछ-न-कुछ विकास सर्वदा पाया जाता है तो* क्या विग्रहगतिमें भी अल्पज्ञ जीवोंके किसी-न-किसी रूपमें पदार्थोंका दर्शन और ज्ञान स्वीकार करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—विग्रहगतिमें अल्पज्ञ जीवोंके इन्द्रियादि निमित्तोंका अभाव होनेके कारण दर्शन और ज्ञान दोनों गुणोंका कुछ भी व्यापार नही होता है, उस समय ये केवल अपने विकसित रूपमें ही अवस्थित रहते है।

शंका—जिस प्रकार अल्पज्ञ जीवोंके विग्रहगतिमें देखने और जानने रूप योग्यताओंका सद्भाव रहते हुए भी पदार्थोंका देखना और जानना नही होता है उसी प्रकार उनके (अल्पज्ञ जीवोंके) देखनेरूप व्यापारके समय जाननेरूप योग्यताका और जाननेरूप व्यापारके समय देखनेरूप योग्यताका व्यापाररहित (लब्धिरूप-से) सद्भाव माननेमे क्या अपत्ति है ?

उत्तर—विग्रहगतिमे इन्द्रियादि निमित्तोंका अभाव पाया जानेके कारण ही अल्पज्ञ जीवोंमें देखने और जाननेकी योग्यताएँ *लब्धिरूपसे* विद्यमान रहती है। लेकिन चूँकि पर्याप्त अवस्थामें इन्द्रियादि निमित्तोंका सद्भाव अल्पज्ञ जीवोके पाया जाता है। अत. उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके सद्भावमे दोनों योग्यताओं-के व्यापारका अर्थात् दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका एक ही साथ सद्भाव मानना अनिवार्य हो जाता है।

जैनदर्शनमें नयवाद

इसमें संदेह नहीं कि विश्वके प्राचीनतम सभी दर्शनकारोंमें जैनदर्शनकार विलक्षण प्रतिभाके धनी रहे हैं। यही कारण है कि जैनदर्शनकारोंने अन्य सभी दर्शनकारोंको अटपटे लगनेवाले अनेकान्तवाद, स्याद्वाद[१], नयवाद और सप्तभंगीवादको अपने अनुभवके आधारपर वस्तुव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये जैनदर्शनमें स्थान दिया है। जैनदर्शनका आलोडन करनेसे यह बात सहज ही जानी जा सकती है कि जबतक उक्त वादोंको स्वीकार नहीं कर लिया जाता तबतक वस्तुव्यवस्था या तो अधूरी रहेगी या फिर गलत होगी।

प्रकृत लेखमें हम नयवादका विवेचन करना चाहते हैं। लेकिन नयोंका आधार जैन आगममें[२] चूंकि प्रमाणको ही बतलाया गया है, अतः यहाँपर सर्वप्रथम प्रमाणका ही संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

प्रमाण-निर्णय

लौकिक तथा दार्शनिक जगत्में वस्तुतत्त्वको समझनेके लिये प्रमाणको स्थान प्राप्त है। जैनदर्शनमें प्रमाणशब्दका जो व्युत्पत्त्यर्थ किया गया है उससे वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थामें प्रमाणके महत्त्वको सहज ही जाना जा सकता है। यथा—

'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्।'

—परीक्षामुखटीका १–१

अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुतत्त्वका संशय[३], विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण होकर निर्णय होता है वह प्रमाण है।

चूँकि उल्लिखितरूपमें वस्तुतत्त्वका निर्णय ज्ञानके द्वारा ही सम्भव है। अतः जैनदर्शनमें मुख्यरूपसे ज्ञानको ही प्रमाण स्वीकार किया गया है। यथा—

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।' —परीक्षामुख १–१

अर्थात्—अपना और अपनेसे भिन्न पूर्वमें अनिर्णीत पदार्थका निर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण है।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ १–२ में ही आगे बतलाया है—

"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।"

अर्थात् चूंकि प्रमाण हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ होता है, अतः ज्ञान ही प्रमाण कहलाने योग्य है।

इसका फलितार्थ यह है कि ज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर सकती है, अतः उपर्युक्त कथनके आधारपर जैनदर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है।

ज्ञान अप्रमाण भी होता है

ऊपर हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें ज्ञानको ही समर्थ बतलाया गया है। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि सभी ज्ञान हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते हैं। अतः

---

१. स्याद्वादका ही अपर नाम अपेक्षावाद है। इसका उपयोग सीमित दायरेमें अर्वाचीन एवं पाश्चात्य दर्शनकारोंने भी किया है।

२. 'नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्।' —सर्वार्थसिद्धि १–६।

३. 'संशय उभयकोटिसंस्पर्शी स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परामर्शः। विपर्ययः पुनरतस्मिंस्तदिति विकल्पः। विशेषानवधारणमनध्यवसायः।' —प्रमेयरत्नमाला ६–२।

जिन ज्ञानोंमें उक्त सामर्थ्य नही पायी जाती है उन ज्ञानोंको अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये। जैनदर्शनमें अप्रमाणका प्रमाणाभासनामसे उल्लेख करते हुए उसके जो भेद गिनाये गये है उनमें ज्ञानविशेषोंका भी समावेश किया गया है। यथा—

'अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादय: प्रमाणाभासा:।' —परीक्षामुख ६–२

अर्थात् जो अपना संवेदन करनेमें असमर्थ हो या जो गृहीत अर्थको ग्रहण करनेवाला हो या जो निराकार दर्शनरूप हो और या जो संशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय स्वरूप हो वे सभी अपने-अपने ढंगसे प्रमाणाभास हैं।

ज्ञानके भेद और उनका प्रमाण तथा अप्रमाणरूपमे विभाजन

तत्त्वार्थसूत्रमे ज्ञानके पाँच भेद गिनाये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान[१]। तथा इन पाँचो ज्ञानोको प्रमाण[२] कहा गया है और आदिके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानोंको प्रमाणके साथ-साथ अप्रमाण[3] भी बतलाया गया है। इस प्रकार पाँच प्रमाणरूप और तीन अप्रमाणरूप कुल मिलाकर ज्ञानके आठ भेद कर दिये गये हैं[४]।

ज्ञानोंको प्रमाणता और अप्रमाणताका कारण

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें मोहकर्मका अभाव होनेपर उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनको ज्ञानकी प्रमाणताका कारण बतलाया है[५] और आचार्य पूज्यपादने[६] "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" (१-३१) सूत्रकी व्याख्या करते हुए ज्ञानकी अप्रमाणताका कारण मोहकर्मके उदयमे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शनको बतलाया है। इस तरह ऐसा समझना चाहिये कि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थितिमे जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान कहलाता है और मोहकर्मके उदयमे उत्पन्न मिथ्यादर्शनकी स्थितिमे जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह अप्रमाण ज्ञान कहलाता है।

इस विषयमे हम इतना और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार उपर्युक्त पाँच सामान्य ज्ञानोमेंसे मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान दोनों मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थितिमे ही हुआ करते है। इतना ही नही, मन:पर्ययज्ञान तो सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जीवमे सकलचारित्रकी उत्पत्ति हो जानेपर तथा केवलज्ञान सकलसंयमसे भी आगे यथाख्यातचारित्रकी उत्पत्ति हो जानेपर ही हुआ करता है। इसलिये मन:पर्यय और केवल ये दोनो ज्ञान सतत प्रमाणरूप ही रहा करते हैं। परन्तु मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जीवमे चूंकि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थिति में भी होते है व मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न मिथ्यादर्शनकी स्थितिमे भी होते है। अत ये तीनों ज्ञान सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें होनेके आधारपर तो प्रमाणरूप व मिथ्यादर्शनकी स्थितिमे होनेके आधारपर अप्रमाणरूप इस तरह दोनो प्रकारके हुआ करते है। इससे यह बात भी फलित होती है कि ज्ञान सामान्यके ऊपर बतलाये गये

---

१. मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम्। –तत्त्वा० १-९।

२. वही, १-१०।

३. वही, १-३१।

४. द्रव्यसंग्रह गा० ५।

५. "मोहतिमरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान:।" –पद्य ४७ का पूर्वार्ध।

६. कुत: पुनरेतेषां विपर्यय:? मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात्।

पाँच भेद ही सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनकी अपेक्षासे क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होकर ज्ञानकी आठ भेदरूपताको प्राप्त हो जाते हैं।

जिस ज्ञानमें मोहकी प्रेरणा कार्यकर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी संपूर्तिके लिये हो उसे तो मिथ्यादर्शन (अविवेक) की स्थितिमें होनेवाला अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये और जिस ज्ञानमें मोह की प्रेरणा कार्य न कर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी संपूर्तिके लिये न हो उसे सम्यग्दर्शन (विवेक) की स्थितिमें उत्पन्न हुआ प्रमाण ज्ञान जानना चाहिये।

यहाँपर अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंकी प्राप्तिमें और अनभिलषित परपदार्थोंके वियोगमें हर्ष करना राग है तथा अनभिलषित परपदार्थोंकी प्राप्तिमें और अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंके वियोगमें विषाद करना द्वेष है एवं परपदार्थोंमें अहंबुद्धि या ममबुद्धि करना मोह है। इसी प्रकार परपदार्थोंमें इष्टबुद्धि या अनिष्टबुद्धि करना मोह है व इस तरह इष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति आकृष्ट होकर उसमें प्रीति करने लग जाना राग है तथा अनिष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति घृणा व ग्लानिरूप अप्रीति करने लग जाना द्वेष है—ऐसा जानना[1] चाहिये।

जैनागममें बतलाया है कि ज्ञानके उल्लिखित पाँच भेदोंमेंसे अन्तके अवधि, मन.पर्यय और केवल ये तीन भेद तो जीवमें पररूप साधनोंकी सहायताके बिना केवल आत्मनिर्भरताके आधारपर ही उत्पन्न होते हैं[2], लेकिन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आत्मबलकी आवश्यकता होनेपर भी दोनोंमेंसे मतिज्ञान तो पररूप स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों तथा मन (हृदय)की यथावश्यक सहायतासे[3] उत्पन्न होता है व श्रुतज्ञान पररूप मन (मस्तिष्क)की[4] सहायतासे उत्पन्न होता है।

इतना बतलानेमें हमारा प्रयोजन यह है कि जब मतिज्ञानका उल्लिखित पाँच इन्द्रियों और मनकी सहायतासे व श्रुतज्ञानका मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेका नियम है और चूंकि पाँचो इन्द्रियो व मनका सदोष अथवा निर्दोष होना भी सम्भव है तो इसके आधारपर जैनदर्शनकी यह भी मान्यता है कि जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन सदोष हालतमें हो उस जीवमें उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन सदोष हालतमें हो उस जीवमें उसकी सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनों ही अप्रमाणरूप होते है। इसी प्रकार जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन निर्दोष हालतमें हों उस जीवमें उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन निर्दोष हालतमें हो उस जीवमें उसकी सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनों ही प्रमाणरूप होते हैं।

कानोंमें बहरापन आ जाना, आँखोंपर पीलिया रोगका प्रभाव हो जाना या मोतियाबिन्दु आदिके कारण दृष्टिका कमजोर हो जाना, नाकमें भी सर्दी-जुकामका हो जाना आदि यथायोग्य निमित्तोंसे इन्द्रियाँ सदोष हो जाती हैं व जीवमें क्रोधादिकषाय उत्पन्न होनेपर मन सदोष हो जाया करता है। इसी तरह मद्य आदि मादक पदार्थोंका सेवन आदि कारणोंसे भी मन सदोष हो जाया करता है।

---

१. 'यः प्रीतिरूपो रागः·········योऽप्रीतिरूपो द्वेषः·········यस्तस्याप्रतिपत्तिरूपो मोहः।' —समयसारटीका, अमृतचन्द्र, गा० ५०-५५।

२. सर्वार्थसिद्धि मे 'प्रत्यक्षमन्यत्।' –१-१२ सूत्रकी व्याख्या।

३. 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।' –तत्त्वार्थसूत्र १-१४।

४. 'श्रुतमनिन्द्रियस्य।' –वही, २-११।

इस तरह उल्लिखित कथनका सार यह है कि सम्यग्दर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होनेका नियम होनेसे मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो सतत प्रमाणरूप ही हुआ करते हैं। अवधिज्ञान यदि सम्यग्दर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ हो तो प्रमाणरूप होता है और यदि मिथ्यादर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ हो तो अप्रमाणरूप होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके सद्भावमें उत्पन्न होनेके कारण क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते हैं तथा निर्दोष और सदोष इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी वे क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते हैं।

वचन भी प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होता है :

जिस प्रकार उल्लिखित प्रकारसे ज्ञान प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है उसी प्रकार वचन भी प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है। वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका आधार यह है कि वह (वचन) प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण[1] होता है। अर्थात् वक्ताके वचनको सुनकर श्रोताको व लेखकके वचनको पढकर पाठकको जो पदार्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। यह श्रुतज्ञान यदि प्रमाणरूप होता है तो इसके निमित्तभूत वचनको भी प्रमाणरूप माना जाता है और वह (श्रुतज्ञान) यदि अप्रमाणरूप होता है तो उसके निमित्तभूत वचनको भी अप्रमाणरूप माना जाता है।

वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका एक अन्य आधार उस (वचन) की उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुरुषकी प्रमाणता और अप्रमाणता भी होती है। अर्थात् वचनकी उत्पत्ति वक्ताके बोलनेरूप या लेखकके लिखनेरूप व्यापारसे होती है इसलिये वक्ता या लेखक यदि प्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमशः बोला गया या लिखा गया वचन भी प्रमाणरूप माना जाता है और वक्ता या लेखक यदि अप्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमशः बोला गया या लिखा गया वचन भी अप्रमाणरूप माना जाता है। यही कारण है कि वचनकी प्रमाणताको सिद्ध करनेके लिए स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें वचनके साथ 'आप्तोपज्ञ'[2] विशेषण लगाया है। आप्तका अर्थ प्रामाणिक व्यक्ति होता है—यह बात स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकमें पाये जानेवाले आप्तके लक्षणसे ही प्रकट होती है। यथा—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अर्थात् जिसके अन्दरसे सर्व प्रकारके दोष निकल गये हों, साथ ही जो सर्वज्ञ और आगमका स्वामी हो वही आप्त कहला सकता है। इन बातोंके अभावमें आप्तता सम्भव नहीं है।

स्वामी समन्तभद्र द्वारा बतलाया गया आप्तका उपर्युक्त लक्षण आप्तसामान्यका न होकर आप्तविशेषका अर्थात् सर्वोत्कृष्ट आप्तका ही लक्षण है। इससे यह बात फलित होती है कि ऐसे पुरुष भी आप्त कहे जाने योग्य हैं जो अल्पज्ञ होकर भी कम-से-कम पूर्वोक्त प्रकारके राग, द्वेष और मोहको नष्ट करके सम्यग्दृष्टि बन गये हों। यही कारण है कि आचार्य अनन्तवीर्यने आप्तका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

"यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्त ।" —प्रमेयरत्नमा० १-९९।

---

१. 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।' —परीक्षामुख ३-९९ सूत्रमें प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आप्तवचनको व 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।'—परीक्षामुख ६-५१ सूत्रमें अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें अनाप्तवचनको कारण माना गया है।

२. आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

अर्थात् जो जिस विषयमें अवञ्चक है यानी धोखा-धडी नहीं करता है वह उस विषयमे आप्त कहलाता है ।

इस तरह जैनदर्शनमें ऐसी ग्रन्थ-रचनाओंको भी प्रमाण माना जाता है जो विद्वान् महर्षियों द्वारा अल्पज्ञ रहते हुए भी परकल्याणभावनासे निरीहवृत्तिपूर्वक की गयी हैं तथा लोकव्यवहारमे उक्त राग-द्वेष और मोहसे अनाक्रान्त साधारण अल्पज्ञानीजनोंमे स्वीकृत आप्तता भी अपना कम महत्त्व नही रखती हैं। अर्थात् जनहितकारी उपदेशदाता या ग्रन्थकर्त्ता महर्षिजन व प्रशस्त लोकव्यवहारमे प्रवृत्त साधारण लौकिकजन अल्पज्ञ रहते हुए भी अपने-अपने दायरेमें आप्त अर्थात् प्रामाणिक माने जाते हैं ।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार और प्रमेयरत्नमालामे आप्तके जो लक्षण बतलाये गये हैं उनसे ठीक विपरीत लक्षण अनाप्त पुरुषका जानना चाहिये। इसीलिये आचार्य माणिक्यनन्दिने आगमाभास (अप्रमाणरूप श्रुतज्ञान) का लक्षण बतलाते हुए 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।' (प० मु० ६-१५) में अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुरुषके साथ 'रागद्वेषमोहाक्रान्त' विशेषण लगाया है ।

इस तरह उपर्युक्त लक्षण वाले आप्तपुरुष द्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको प्रमाणरूप और इससे विपरीत उपर्युक्त लक्षणवाले अनाप्तपुरुष द्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको अप्रमाणरूप जानना चाहिए ।

इस कथनका अभिप्राय यह है कि या तो प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण होनेके आधारपर कारणमें कार्यधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे या फिर वचनकी उत्पत्तिमे निमित्तभूत आप्त-पुरुष और अनाप्तपुरुषका कार्य होनेके आधारपर कार्यमें कारणधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे वचनको यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मानना चाहिये ।

जैनागममें वचनको परार्थश्रुत भी कहा गया है

जैनागममें[1] प्रमाणके दो भेद स्वीकार किये गये है—एक तो स्वार्थप्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण । साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जितना ज्ञानरूप प्रमाण है वह सब स्वार्थप्रमाण कहलाता है और जितना वचनरूप प्रमाण है वह सब परार्थप्रमाण कहलाता है। इस तरह मति, अवधि, मन पर्यय और केवल-रूप जो चार प्रमाण है वे अपनी ज्ञानरूपताके कारण स्वार्थप्रमाण ही है। लेकिन श्रुतप्रमाण चूंकि ज्ञानात्मक और वचनात्मक दोनों ही प्रकारका होता है, अत जितना ज्ञानात्मक श्रुतप्रमाण है वह तो स्वार्थप्रमाण और जितना वचनात्मक श्रुत प्रमाण है वह परार्थप्रमाण है ।

ज्ञानको स्वार्थप्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उस (ज्ञान) का पदार्थके विषयमे अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस (ज्ञान) के आश्रयभूत 'स्व' अर्थात् ज्ञाताको प्राप्त होता है तथा वचनको परार्थप्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उसका (वचनका) पदार्थके विषयमे अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस (वचन) की उत्पत्तिमे निमित्तभूत वक्ता या लेखकसे भिन्न 'पर' अर्थात् श्रोता या पाठकको प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार प्रमाण स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका है उसी प्रकार अप्रमाण भी स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका समझ लेना चाहिये । इनमेंसे स्वार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी ज्ञानरूपताके कारण मिथ्या मतिज्ञान, मिथ्या श्रुतज्ञान और मिथ्या अवधिज्ञान रूपसे तीन प्रकारका तथा परार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी वचनरूपताके कारण अनाप्तवचनके रूपमें एक प्रकारका जानना चाहिये । चूंकि मन पर्ययः और केवल

1. 'प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम् । श्रुतं पुन स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थमिति ।'—सर्वार्थसिद्धि १–६ ।

वे दोनों ज्ञान सर्वदा सम्यक् ही हुआ करते हैं, कभी मिथ्यारूप नहीं होते। अतः इन दोनोंको अप्रमाणताकी कोटिसे बाहर रखा गया है।

प्रमाण और अप्रमाणरूप सभी ज्ञानोंमें पदार्थग्रहणकी व्यवस्था

प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान व अवधिज्ञान एवं प्रमाणरूप मनःपर्ययज्ञान उस-उस ज्ञानावरण-कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको एकदेशरूपमें अखण्ड भावसे ग्रहण करते हैं, प्रमाणरूप केवलज्ञान समस्त ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको युगपत सर्वदेशरूपमें अखण्ड भावसे ग्रहण करता है। लेकिन प्रमाण और अप्रमाण दोनों ही तरहका श्रुतज्ञान श्रुतज्ञाना-वरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होने व उत्पत्तिमे साश वचनका अवलम्बन आवश्यक रहनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थके एक-एक अंशको पृथक्-पृथक् कालमे क्रमशः ग्रहण करता हुआ पदार्थको सखण्डभावसे ही ग्रहण किया करता है।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनः-पर्यय ज्ञानमें अंशमुखेन अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है, प्रमाणरूप केवलज्ञानमें सर्वात्मना युगपत् अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है। परन्तु प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें पदार्थके एक-एक अंशका क्रमशः ग्रहण होता हुआ पदार्थके संपूर्ण अंशोंका ग्रहण सखण्डभावसे होता है क्योंकि प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति तो सांश और क्रमवर्ती प्रमाणरूप आप्तवचनसे तथा अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति सांश और क्रमवर्ती अप्रमाण-रूप अनाप्तवचनसे हुआ करती है। आगे वचनकी सांशताके विषयमें विचार किया जाता है।

वचन सांश होता है

अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे वचन पाँच प्रकारका होता है। वचनके इन पाँचों प्रकारोमेंसे शब्दके अंगभूत निरर्थक अकारादिवर्ण अक्षर कहलाते है, अर्थवान् अकारादि अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोका अर्थवान् समुदाय 'शब्द' कहलाता है, अर्थवान् शब्दरूप प्रकृतिका संस्कृत भाषामें 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययके साथ सयोग होनेपर पदका[1] निर्माण होता है तथा परस्पर सापेक्ष दो आदि पदोंके निरपेक्ष समूहसे 'वाक्य'का[2] एवं परस्परसापेक्ष दो आदि वाक्योंके निरपेक्ष समूहसे 'महावाक्य'का[3] निर्माण होता है। यद्यपि दो आदि महावाक्योंका भी निरपेक्ष समूह हुआ करता है परन्तु महावाक्योंके ऐसे समूहको भी 'महावाक्य' शब्दसे ही व्यवहृत किया जाता है।

---

१. 'सुप्तिङन्तं पदम्'—अष्टाध्यायी, पाणिनि, १–४–१४।

२. 'पदाना परस्परसापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम्।' –अष्टशती, अकलङ्क, अष्टसहस्री पृ० २८५।

३. 'वाक्योच्चयो महावाक्यम्।'—साहित्यदर्पण, परिच्छेद २, श्लोक १।

इस श्लोकके 'वाक्योच्चय' पदका विश्लेषण इसीकी टीकामे 'योग्यताकाक्षासत्तियुक्तः' किया गया है। इस तरह महावाक्यका इस प्रकार लक्षण होता है—

'परस्परसापेक्षाणा वाक्यानां निरपेक्ष समुदायो महावाक्यम्।'

इस लक्षणके आधारपर ही गोम्मटसार जीवकाण्डके श्रुतज्ञानप्रकरणमें गिनाये गये श्रुतके भेदोंमेसे आदिके अक्षर, पद और संघात (वाक्य) से आगे जितने भेद हैं वे सब महावाक्यके ही भेद समझना चाहिए।

नोट–इस टिप्पणीमें 'संघात' शब्दका अर्थ वाक्य हमने आप्तमीमांसाकी कारिका १०३ की अष्टसहस्री-टीकाके आधारपर किया है।

इस कथनसे यह बात निश्चित होती है कि अक्षर शब्दका, शब्द पदका, पद वाक्यका और वाक्य महावाक्यका यथायोग्य अंश होता है। इसी तरह एक आदि महावाक्य भी दो आदि महावाक्योंके समूहरूप महावाक्यके अंश सिद्ध हो जाते हैं। चूंकि वचनके अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनोंमें ही समानरूपसे पाये जाते हैं। अतः प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनों ही समानरूपसे उक्त आधारपर सांश सिद्ध हो जाते हैं।

वचनकी सांशता ही श्रुतज्ञानमें सांशता-सिद्धिका कारण है :

कोई भी ज्ञान, चाहे वह प्रमाणरूप हो अथवा चाहे अप्रमाणरूप हो, असंख्यात प्रदेशी अखण्ड आत्माके अखण्ड ज्ञानगुणकी अखण्ड पर्याय ही हो सकता है। यही कारण है कि प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान तथा अवधिज्ञानको व प्रमाणरूप मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानको निरंश मान लिया गया है। यद्यपि इस प्रकारसे तो प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानको भी निरंश मानना उचित प्रतीत होता है परन्तु प्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान एवं अप्रमाणरूप मतिज्ञान और अवधिज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनों तरहके श्रुतज्ञानमें यह विशेषता पायी जाती है कि इसकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारके सांश वचनके अवलम्बनसे हुआ करती है इसलिये प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनों ही प्रकारके श्रुतज्ञानको सांश मानना ही उचित है।

वचनकी सांशतासे ज्ञानमें सांशता-सिद्धिका प्रकार

(१) वचनमें वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पायी जाती है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक ऐसे पदार्थका प्रतिपादन करनेके लिए वचनका प्रयोग किया करता है।

(२) वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थका क्रमशः श्रोता या पाठकको बोध करानेके लिये ही वचनका प्रयोग किया करता है क्योंकि बोले गये वचनको सुनकर श्रोताको तथा लिखे गये वचनको पढ़कर पाठकको क्रमशः वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका बोध हो जाया करता है।

(३) चूंकि ऊपर बतलाये गये प्रकारसे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात सांश पदार्थ वचनका प्रतिपाद्य होता है और इस प्रकारका वचन-प्रतिपाद्य पदार्थ सांश होता है, यह आगे बतलाया जायगा तथा वचन भी सांश होता है, यह बतला ही चुके हैं। अतः वक्ता या लेखक द्वारा प्रयुक्त सांश वचनसे प्रतिपादित उक्त प्रकारके सांश पदार्थका श्रोता या पाठकको बोध भी सांशरूपमें ही होगा।

इन कारणोंके बलपर वचनकी सांशताकी सिद्धि होना अयुक्त नहीं है।

वचनके प्रयोग और उससे पदार्थ-प्रतिपादनकी व्यवस्था

ऊपर वचनके जो अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे पाँच भेद बतलाये गये हैं उनमेंसे पद, वाक्य और महावाक्यके रूपमें ही वचन प्रयोगार्ह होता है, अक्षर और शब्दके रूपमें नहीं, क्योंकि निरर्थक अक्षर तो हमेशा शब्दके अविभाज्य अंग ही रहा करते हैं, इसलिए उनका प्रयोग स्वतंत्ररूपसे न होकर शब्दके अंगरूपमें ही हुआ करता है तथा अर्थवान् अक्षर और निरर्थक दो आदि अक्षरोंके समुदायरूप शब्द भी संस्कृत भाषामें तो तभी प्रयुक्त होते हैं जबकि वे यथायोग्य 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययसे संयुक्त होकर पदका रूप धारण कर लेते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अक्षर और शब्द कभी प्रयोगार्ह नहीं होते हैं, केवल पद, वाक्य और महावाक्य ही प्रयोगार्ह होते हैं। पद, वाक्य और महावाक्यमेंसे पदको वक्ता या लेखक किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही प्रयुक्त करता है तथा वाक्य अथवा महावाक्यको वक्ता या लेखक कहीं तो यथायोग्य अनुकूल महावाक्यका अवयव मानकर प्रयुक्त करता है और कहीं आवश्यकतानुसार स्वतंत्ररूपमें प्रयुक्त करता है।

वचनसे होनेवाले पदार्थप्रतिपादनकी व्यवस्था यह है कि शब्दके अंगभूत अक्षर तो हमेशा निरर्थक ही रहा करते हैं। स्वतंत्र अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोंके समुदायरूप शब्द यद्यपि अर्थवान् होते हैं परन्तु इनका प्रयोग संस्कृत भाषामें तो यथायोग्य सुबन्त अथवा तिङन्त होकर पदका रूप धारण करलेपर ही संभव है। इसलिये शब्दके अंगभूत निरर्थक अक्षरों, अर्थवान स्वतंत्र अक्षरों एवं दो आदि निरर्थक अक्षरोंके समुदाय-रूप अर्थवान् शब्दोंके विषयमें अर्थप्रतिपादनकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त वचनके जो पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद हैं उनका प्रयोग करके ही वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर सकता है। लेकिन इनमेंसे पद हमेशा वक्ता या लेखकके उक्त प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करनेमें ही समर्थ रहता है, वह कभी भी पदार्थके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं होता। यही कारण है कि वक्ता या लेखक एक तो कभी पदका प्रयोग स्वतंत्ररूपमें करता नहीं है और यदि कदाचित् वह उसका (पदका) प्रयोग स्वतंत्ररूपमें करता भी है तो वहाँपर भी वह उसका वह प्रयोग किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही करता है। इसलिये ऐसे स्थलपर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका बोध करनेके लिये यथायोग्य श्रोता या पाठक द्वारा अन्य अनुकूल पदका आक्षेप नियमसे कर लिया जाता है, क्योंकि पदके स्वतंत्र प्रयोगमें जबतक उसे किसी अनुकूल वाक्यका अवयव नही मान लिया जाता तब तक उससे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका पूर्णरूपसे प्रतिपादन होना तो दूर रहा, उससे उक्त पदार्थके अंशका प्रतिपादन होना भी असंभव बात है।

इस विषयमें उदाहरण यह है कि कोई वक्ता या लेखक कदाचित् सिर्फ अस्तित्वबोधक 'है' इस क्रिया-पदका यदि स्वतंत्र प्रयोग करता है तो जबतक इस क्रियापदके साथ वक्ता या लेखक द्वारा अपने अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये घडा, कपड़ा, आदमी आदि किसी अनुकूल संज्ञापदका प्रयोग नहीं किया जायगा अथवा प्रकरण आदिके आधारपर उक्त प्रकारके संज्ञापदका श्रोता या पाठक द्वारा स्वयं आक्षेप नही कर लिया जायगा तबतक उस श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमें क्या है ? यह प्रश्न चक्कर काटता ही रहेगा। इसी तरह वक्ता या लेखक द्वारा घड़ा, वस्त्र, आदमी आदि किसी भी संज्ञापदका स्वतंत्र प्रयोग किये जानेपर श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमें नियमसे उत्पन्न होनेवाले प्रश्नका समाधान करनेके लिये 'है' इत्यादि क्रियापदके संबन्धमें प्रयोग या आक्षेपकी यही व्यवस्था लागू होती है।

इस उदाहरणसे यह समझा जा सकता है कि अन्य अनुकूल पदनिरपेक्ष स्वतंत्र पदका प्रयोग यदि कदाचित् कर भी दिया जाय तो भी वह पद उस हालतमें न तो वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करता है और न उस प्रकारके पदार्थके यथायोग्य किसी अंशका प्रतिपादन करता है लेकिन उसी पदको जब किसी अनुकूल पद या पदोंके साथ जोड़ दिया जाता है तो वाक्य-का अवयव बन जानेपर वह तब वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ-का प्रतिपादन न करता हुआ भी उस पदार्थके अंशका नियमसे प्रतिपादन करने लग जाता है।

वाक्य और महावाक्य ऐसे वचन है कि जिनसे यथावसर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका अथवा उसके अंशका प्रतिपादन संभव है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यसे अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह उस वाक्य अथवा महावाक्यका स्वतंत्र रूपमें ही प्रयोग करता है और वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यसे उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह वाक्य या महावाक्यका प्रयोग स्वतंत्र रूपमे न करके किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें किया करता है अथवा यो कहिये कि किसी वाक्य अथवा महावाक्यका कहींपर किसी वक्ता या लेखक द्वारा यदि स्वतंत्र प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका ही प्रतिपादन होगा और यदि इसी वाक्य अथवा महावाक्यका वक्ता या लेखक द्वारा किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमे प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका ही प्रतिपादन होगा।

वाक्यका स्वतन्त्र रूपमें प्रयोग करनेके विषयमें उदाहरण यह है कि मान लीजिये—एक व्यक्ति स्वामी है और दूसरा व्यक्ति उसका सेवक है। स्वामी पानी बुलानेरूप पदार्थका मनमे संकल्प करके सेवकको बोलता है—'पानी लाओ ?', सेवक भी इस एक ही वाक्यसे स्वामीके उस मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थको समझकर पानी लानेके लिये चल देता है। इस तरह यहाँपर 'पानी लाओ' यह वाक्य स्वामी-के उल्लिखित पदार्थका ही प्रतिपादन कर रहा है तथा 'पानी' और 'लाओ' ये दोनो पद चूंकि 'पानी लाओ' इस वाक्यके अवयव बने हुए हैं अत. ये दोनो पद स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके एक-एक अंशका प्रति-पादन कर रहे है। यदि उक्त दोनों पदोको उक्त वाक्यसे पृथक् करके स्वतंत्र-स्वतंत्र रूपमे प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमें फिर वे दोनों ही पद न तो स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका प्रतिपादन करेंगे और न उस पदार्थके किसी अंशका ही प्रतिपादन कर सकेंगे।

स्वतन्त्र रूपसे प्रयुक्त महावाक्य अथवा उसके अवयवोंके रूपमे प्रयुक्त वाक्योका उदाहरण यह है कि जब स्वामीका मनोगत अभिप्राय रूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ लोटा ले जाकर पानी लाने रूप हो तो वह अपने इस अभिप्रायरूप पदार्थको सेवकपर प्रकट करनेके लिये 'लोटा ले जाओ और पानी लाओ' इस तरह दो वाक्योंके समूहरूप महावाक्यका प्रयोग करता है।

यहाँ पर यह समझा जा सकता है कि 'लोटा ले जाओ' और 'पानी लाओ' ये दोनों वाक्य मिलकर एक महावाक्यका रूप धारण करके ही स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रति-पादन कर रहे हैं तथा 'लोटा ले जाओ' और 'पानी लाओ' ये दोनों वाक्य जबतक 'लोटा ले जाओ और पानी लाओ' इस महावाक्यके अवयव बने हुए हैं तब तक दोनों ही वाक्य वक्ता या लेखकके उल्लिखित पदार्थके एक एक अंशका प्रतिपादन कर रहे है। यदि इन दोनों वाक्योको इनके समूहरूप उक्त महावाक्यसे पृथक् करके स्वतंत्र-स्वतंत्र रूपमें प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमे ये दोनों ही वाक्य स्वतंत्र रूपसे स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पृथक्-पृथक् दो पदार्थोंका प्रतिपादन करने लगेंगे। उस हालतमें ये दोनों वाक्य न तो स्वामीके उल्लिखित महावाक्यके प्रयोगमें प्रतिज्ञात पदार्थके अंशोंका प्रतिपादन करेंगे और न पदकी तरह पदार्थके प्रतिपादनमें असमर्थ ही रहेंगे।

अनेक महावाक्योंके समूहरूप महावाक्य अथवा ऐसे महावाक्यके अवयवोंके रूपमें प्रयुक्त महावाक्योंका उदाहरण यह है कि आचार्य उमास्वामिने अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ मोक्ष-

मार्ग और उसके विषयभूत सप्ततत्त्वोंका प्रतिपादन करनेके लिये तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थरूप एक महावाक्यकी रचना की है तथा उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशभूत एक विषयका प्रतिपादन करनेके आधारपर उसके दश अध्यायरूप दश अंश बना दिये है। इस तरह दश अध्यायरूप दश महावाक्योंका समुदायरूप तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थ एक महावाक्य के रूपमे आचार्य श्री उमास्वामिके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर रहा है तथा उसके अंशभूत दशों अध्याय उस पदार्थके एक-एक अंशका प्रतिपादन कर रहे है। यदि दूसरा कोई व्यक्ति इन दश अध्यायोमे वर्णित प्रत्येक अध्यायके विषयको स्वतन्त्ररूपसे पृथक्-पृथक् प्रतिज्ञात करके अलग-अलग दश ग्रन्थोंका निर्माण कर देता है तो उस हालतमे स्वतन्त्ररूपमे निर्मित वे दश ग्रन्थ अपने-अपने विषयका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करने लगेगे।

उपर्युक्त कथनसे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि प्रयुक्त होने व पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पद, वाक्य और महावाक्यमें ही पायी जाती है व दूसरी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पद, वाक्य और महावाक्यमेसे पद हमेशा वाक्यका अवयव होकर ही प्रयुक्त होता है और वह हमेशा पदार्थ के अंशका ही प्रतिपादन करता है, शेष वाक्य और महावाक्य दोनो कही तो प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार स्वतन्त्ररूपमे प्रयुक्त होते हैं और कही वे प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार ही किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें भी प्रयुक्त होते है। वाक्य और महावाक्य जहाँ स्वतन्त्ररूपमें प्रयुक्त होते है वहाँ तो वे प्रयोक्ताके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करते है और जहाँ किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमे प्रयुक्त होते है वहाँ वे प्रयोक्ताके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशोका ही प्रतिपादन करते है अथवा यो कहिये कि प्रयोक्ताको जहाँ किसी वाक्य अथवा महावाक्यसे उल्लिखित प्रकारके स्वतन्त्र पदार्थका प्रतिपादन करना होता है वहाँ तो वह उनका प्रयोग स्वतन्त्र रूपमे अलग-अलग ही करता है और जहाँ इनसे उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करना ही प्रयोक्ताका लक्ष्य रहता है वहाँ वह इनका प्रयोग अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें ही करता है।

वचनमे अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यका भेद करके जिस साक्षताका विवेचन किया गया है वह साक्षता जिस प्रकार ऊपर लौकिक वचनोमे दर्शायी गयी है उसी प्रकार वह साक्षता शास्त्रीय वचनोमे भी दर्शायी जा सकती है। जैसे जैनदर्शनमे वस्तुको नित्य और अनित्य उभय धर्मात्मक माना गया है। इसके विपरीत साख्यदर्शनमे उसे नित्यधर्मात्मक व बौद्धदर्शनमें उसे अनित्यधर्मात्मक स्वीकार किया गया है। इस तरह जैनदर्शनमें जहाँ भी 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँपर वह 'वस्तु नित्य है और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है। यही कारण है कि उस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है। इसी प्रकार जैनदर्शनमें जहाँ भी 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँपर वह भी 'वस्तु नित्य है और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है। यही कारण है कि इस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है। इस तरह जैनदर्शनमे पाये जानेवाले इन दोनों प्रयोगोंसे हमेशा यथायोग्य नित्यानित्यात्मक वस्तुकी अंशात्मक नित्यता व अनित्यताका ही प्रतिपादन होता है। इसके विपरीत साख्य दर्शनमें वस्तुको चूंकि सर्वथा नित्य माना गया है और बौद्धदर्शनमें उसे चूंकि सर्वथा अनित्य माना गया है अतः साख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग एक दूसरे वचनका अवयव न होकर दोनो ही स्वतन्त्र प्रयोग सिद्ध होते है। अतः साख्य और बौद्ध दर्शनोंमे पाये जानेवाले उस-उस प्रयोगसे यथायोग्य पदार्थके रूपमे ही नित्यता अथवा अनित्यताका प्रतिपादन होता है, पदार्थके अंशके रूपमें नही।

इस कथनसे एक बात यह भी फलित होती है कि वचनमें अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेदोंके आधारपर जिस सांशताका प्रतिपादन किया गया है वह सांशता प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनोंमें ही समानरूपसे पायी जाती है। जैनदर्शनमें प्रतिपादित वचनकी यह सांशता ही श्रुत-प्रमाणमें नयोत्पत्तिकी जननी है। आगे इसी विषयपर विचार किया जाता है।

नयोंका विकास :

इस लेखके प्रारम्भमें ही हम बतला आये हैं कि नयोंका आधारस्थल प्रमाण होता है। इसके साथ ही जैनागममें स्पष्टरूपसे यह बतलाया गया है कि नय प्रमाणका अंशरूप ही होता है। यथा—

नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, अ० १, सू० ६, वा० २१।

अर्थात् ज्ञानात्मक नय न तो अप्रमाणरूप होता है और न प्रमाणरूप ही होता है किन्तु प्रमाणका एकदेश (अंश) रूप ही होता है।

इससे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि नयव्यवस्था प्रमाणमे ही होती है, अप्रमाणमे नही। और दूसरी यह कि नय हमेशा प्रमाणका अंशरूप ही रहा करता है, वह स्वयं कभी पूर्ण रूप नही होता। अप्रमाणमे नयव्यवस्था नही होती—इसका खुलासा हम आगे करेंगे। अत. इसे छोडकर यहाँपर हम इस बातका स्पष्टीकरण कर देना चाहते है कि नय प्रमाणका अंशरूप ही रहा करता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः। —अ० १, सू० ६, वा० ४।

अर्थात् प्रमाणके विषयभूत 'स्व' और 'पदार्थके एक देश (अंश)' का जिसके द्वारा निर्णय किया जाय वह नय कहलाता है।

इस पद्यमें नयको जो पदार्थके एकदेश (अंश) का ग्राहक प्रतिपादित किया गया है उससे सिद्ध होता है कि नय हमेशा प्रमाणका अंश ही हुआ करता है। सर्वार्थसिद्धिमें आचार्य पूज्यपादने भी लिखा है—

सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन.।

—तत्त्वा० १-६।

अर्थात् पदार्थका पूर्णरूपसे ग्राहक प्रमाण होता है और उसके अंशका ग्राहक नय होता है।

इस तरह नय जब प्रमाणका अंश सिद्ध हो जाता है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध हो जाती है कि नय-व्यवस्था सांश प्रमाणमें ही होती है, निरंश प्रमाणमे नही। इसका कारण भी यह समझना चाहिये कि निरंश ज्ञानमें ज्ञानका अखण्ड भाव रहनेके कारण अंशोंका विभाजन नहीं हो सकता है। इससे प्रमाणके पूर्वोक्त पाँच भेदोंमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि इन ज्ञानोंमें पदार्थग्रहणका अखण्ड भाव ही पाया जाता है और चूँकि श्रुतज्ञानमें पदार्थग्रहणके अंशोंका विभाजन होता है, अतः उसमें नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें उस-उस ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण यद्यपि पदार्थका ज्ञान सर्वात्मना न होकर अंशमुखेन ही होता है लेकिन वह ज्ञान होता अखण्डभावसे ही है। इसी तरह केवलज्ञानमें समस्त ज्ञानावरण-

कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण पदार्थका ग्रहण यद्यपि सर्वात्मना होता है तो भी वह ज्ञान चूँकि युगपत् सम्पूर्ण अंशोंका एक साथ ही हुआ करता है अतः वह भी अंशोंका भेदरहित अखण्डभावसे ही हुआ करता है। इस प्रकार इन चारों ज्ञानोंमें नयव्यवस्थाकी सिद्धि होना असम्भव बात है। लेकिन श्रुतज्ञानमें इन चारों ज्ञानोंकी अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक शास्त्रवचनके अवलम्बनसे उत्पन्न होनेके कारण उसमें (श्रुतज्ञानमें) पदार्थका ज्ञान अखण्डभावसे न होकर पदार्थके एक-एक अंशका क्रमशः ज्ञान होता हुआ सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान हो जाया करता है, इसलिये इस ज्ञानमें पदार्थग्रहणका सखण्ड-भाव रहनेके कारण नयव्यवस्थाकी सिद्धि हो जाती है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (१-३३-६) में जो नयका लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसमें तो स्पष्टरूपसे कहा गया है कि नयव्यवस्था श्रुतज्ञान में ही होती है। यथा—

"नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।"

अर्थात् जिसके द्वारा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणके विषयभूत पदार्थके अंशका ज्ञान किया जाय वह नय कहलाता है।

नयव्यवस्था श्रुतज्ञानमें ही होती है, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञानमें नहीं होती, इसकी पुष्टि इसी ग्रन्थके निम्नलिखित वार्त्तिकोंसे भी होती है—

"मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु॥
निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वविनिश्चयात्।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टतः॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते।
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु।
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत्॥

—त० श्लो० १-६-२४, २५, २६, २७।

इन वार्त्तिकोंका अर्थ यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें नयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि इन ज्ञानोंमें निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है। अर्थात् ये तीनों ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करनेमें असमर्थ रहते हैं। केवलज्ञान यद्यपि अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है लेकिन उसके (केवलज्ञानके) ग्रहणमें स्पष्टता[1] (प्रत्यक्षाकारता) पायी जाती है जब कि नयोंके ग्रहणमें परोक्षाकारता ही रहा करती है। इस प्रकार नयोंका उद्‌भव मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें न होकर श्रुतज्ञानमें ही होता है, क्योंकि वह एक तो अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है। दूसरे उसमें परोक्षाकारता[2] पायी जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये दो बातें अपेक्षित हैं— एक तो प्रमाण-की निःशेषदेशकालार्थविषयिता और और दूसरी परोक्षाकारता। प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिहेतु निःशेष-

१. विशदं प्रत्यक्षम्।' —परीक्षामुख २-३।
२. आद्ये परोक्षम्।' —तत्त्वार्थसू० १-११।

देशकालार्थविषयिताके सद्भावका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिकी जाय उसके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका विषय होना आवश्यक है। इसका निष्कर्ष यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन -पर्ययज्ञानरूप प्रमाणोंमे क्षायोपशमिकज्ञान होनेके कारण चूँकि निःशेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है अतः इनमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिका विरोध किया गया है। इसी प्रकार प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिहेतु परोक्षाकारताका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धि की जाय उस प्रमाणके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान क्रमशः होना आवश्यक है कारण कि पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान प्रमाण द्वारा यदि युगपत् होता है तो उसमें अंशोंका विभाजन होना असम्भव है। इसका निष्कर्ष यह है कि केवलज्ञानमें नि शेष-देशकालार्थविषयिताका सद्भाव रहते हुए भी क्षायिकज्ञान होनेके कारण प्रत्यक्षाकारता आ जानेसे पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान चूँकि युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है। अतः उसमे (केवलज्ञानरूप प्रमाणमे) भी नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है और चूँकि श्रुतज्ञान एक ऐसा प्रमाण है कि जिसमे नि शेषदेशकालार्थ-विषयिता और परोक्षाकारता दोनों ही बातें पायी जाती है अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा एक तो पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान होता है और दूसरे क्षायोपशमिक व वचनावलम्बी ज्ञान होनेके कारण उसमें (श्रुतज्ञानमे) परोक्षा-कारताके आजानेसे पदार्थके उन सम्पूर्ण अशोंका ज्ञान क्रमश. सखण्डभावसे ही हुआ करता है, अत उसमे नय-व्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है। स्वामी समन्तभद्रने श्रुतज्ञानको क्रमशः सर्वतत्त्वप्रकाशक स्वीकार किया है। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ —आप्तमीमांसा, का०, १०५।

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही पदार्थको सर्वात्मना ग्रहण करते हैं लेकिन केवलज्ञान जहाँ पदार्थको साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्षरूपमे युगपत् अखण्डभावसे ग्रहण करता है वहाँ श्रुतज्ञान उसे असाक्षात् अर्थात परोक्षरूपमे क्रमश सखण्डभावसे ही ग्रहण करता है।

तात्पर्य यह है कि पदार्थका जहाँ सम्पूर्णताके साथ ग्रहण होता है वहाँ पदार्थके संपूर्ण अंशोका ग्रहण होना हुआ भी यदि वह ग्रहण प्रत्यक्षरूपमें होता है तो उसमे पदार्थके वे संपूर्ण अंश युगपत् अखण्डभावसे ही गृहीत होते है और यदि वह ग्रहण परोक्षरूपमे होता है तो उसमे पदार्थके वे संपूर्ण अंश क्रमसे एक-एक अशके रूपमे सखण्डभावसे ही गृहीत होते हैं।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोके मध्य इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानमें पदार्थके सम्पूर्ण अंशोका ग्रहण प्रत्यक्षरूपमे होनेके कारण युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है और श्रुतज्ञानमे पदार्थके सम्पूर्ण अंशो-का ग्रहण परोक्षरूपमे होनेके कारण क्रमश. संखण्डभावसे ही हुआ करता है।

स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि—

'तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ —आप्तमीमांसा का० १०१।

अर्थात् हे भगवन् आपके मतमें युगपत् सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् केवलज्ञान और स्याद्वादनयसे संस्कृत क्रमसे उत्पन्न होनेवाला सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान दोनो ही प्रमाणरूप माने गये है।

इससे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें उल्लिखित प्रकारका अन्तर स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता है।

इस तरह आगमप्रमाणोंके आधारपर यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि नयव्यवस्था श्रुत-ज्ञानमें ही होती है।

श्रुतज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका स्पष्टीकरण

ऊपर तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६ के व्याख्यानस्वरूप तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके २४ से २७ संख्या तकके वार्तिकोंमे नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका कथन किया है। परन्तु उसका रूप ऐसा होना चाहिये कि वह श्रुतज्ञानके साथ-साथ केवलज्ञानमें तो पायी जाती हो, किन्तु मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें न पायी जाती हो।

केवलज्ञानमे विद्यमान तत्त्वार्थसूत्रके 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'। (१–२९) सूत्रमें प्रतिपादित निःशेष-देशकालार्थविषयिता ऐसी है कि इसका श्रुतज्ञानमें पाया जाना संभव नही है, कारण कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानकी तरह श्रुतज्ञान भी तो क्षायोपशमिक ज्ञान है और यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके ही 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' (१–२६) सूत्र द्वारा मतिज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमें भी उसका निषेध कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार विश्वमे अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता लिये हुए अनन्त वस्तुएँ विद्यमान है व इनमेसे प्रत्येक वस्तु अपने अन्दर अपने-अपने पृथक् अनन्त धर्मोको समाये हुए है। विश्वकी इस प्रकारकी सभी वस्तुएँ 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' सूत्रके अनुसार अपने-अपने उन अनन्त धर्मोके साथ केवलज्ञानका विषय तो होती हैं परन्तु 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।' सूत्रके अनुसार मतिज्ञान व श्रुतज्ञानका विषय नही होती है।

इससे सिद्ध होता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तुमे जो अनन्तधर्मात्मकता जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत की गयी है उसके आधारपर निष्पन्न ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता श्रुतज्ञानमे स्वीकृत नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी नही है क्योंकि उपर्युक्त कथनके अनुसार श्रुतज्ञानमे उसका अभाव रहता है। इस तरह प्रकृतमें यह प्रश्न होता है कि, उक्त निःशेषदेशकालार्थविषयिताको छोड़कर ऐसी कौनसी ज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिता है जो केवलज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमे पायी जाकर नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी हो?

विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु जैनदर्शनकी मान्यतानुसार जिस प्रकार अनन्तधर्मात्मक है उसी प्रकार वह अनेकान्तात्मक भी है। यहाँपर परस्पर विरोधी दो धर्मोंका एक ही साथ एक वस्तुमें पाया जाना उस वस्तुकी अनेकान्तात्मकता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें जैसे उसके अनन्तधर्म एक साथ रह रहे हैं वैसे ही परस्पर-विरोधी दो धर्म भी रह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुकी अनेकान्तात्मकताके कथनमे जो अनेकान्त शब्द आया है उसमे गर्भित अनेक शब्दका अर्थ जैनदर्शनमें 'दो' लिया गया है। इसका कारण यह है कि परस्पर विरोधिता दो धर्मोंमें ही संभव हो सकती है, तीन, चार आदि संख्यात, असंख्यात व अनन्तधर्मोंमें नही। और इसका भी कारण यह है कि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक ही धर्म हो सकता है, दो, तीन, चार आदि धर्म नही, क्योंकि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक धर्म यदि है तो तीसरा एक धर्म उन दोनोंका प्रतिपक्षी कदापि नही हो सकता है अर्थात् तीसरा एक धर्म यदि प्रथम एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो प्रथम एक धर्मके प्रतिपक्षी दूसरे एक धर्मका वह नियमसे सपक्षी हो जायगा, और यदि वह दूसरे एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो उस हालतमे वह प्रथम एक धर्मका नियमसे सपक्षी हो जायगा। यही नियम चौथे, पाँचवें आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्तधर्मोंके विषयमे भी जान लेना चाहिये। इस अभिप्रायसे ही जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुगत अनन्तधर्मसापेक्ष अनन्त वचनप्रयोगोंके आधारपर सप्त-भंगीके विरुद्ध अनन्तभंगीकी प्रसक्तिको परस्परविरोधी युगलधर्मोके आधारपर अनन्त सप्तभंगीके रूपमें इष्ट मान लिया गया है। यथा—

'नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनन्ता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिनां

भवेयुर्न पुन सप्तैव, वाच्येयत्तात्वाद्वाचकेयत्तायाः । ततो विरुद्धैव सप्तभङ्गीति चेत्, न, विधीय-माननिषिध्यमानधर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात्, 'प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गी वस्तुनि' इति वचनात् । ततो अनन्ताः सप्तभङ्ग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम् ।' —त० श्लोकवा० १-६-५२

अर्थात् शंका पक्ष कहता है कि एक वस्तुमें कथन करने योग्य जब अनन्तधर्म स्वीकार किए गये हैं तो इनका कथन करनेके लिए स्याद्वादियोंके सामने अनन्तसंख्यक वचनमार्गोंकी प्रसक्ति होती है, केवल सात वचनमार्गोंकी नही, क्योंकि जितने वाच्य होते है उतने ही वाचक हो सकते है, हीनाधिक नही, अतः सप्त-भंगीकी मान्यता असंगत है ।

उत्तर पक्ष यह है कि सप्तभंगीकी मान्यता विधीयमान और निषिध्यमान युगलधर्मोके विकल्पोंके आधारपर जैनदर्शनमें स्वीकृत की गयी है, अनन्तधर्मोंके विकल्पोंके आधारपर नहीं, कारण कि 'प्रत्येक पर्यायमें सप्तभंगी सिद्ध होती है' ऐसा आगमका निर्देश है । इस तरह प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्ममें विधीयमान और निषिध्यमान धर्मयुगलकी स्वीकृतिके आधारपर सप्तभंगीको स्थान प्राप्त हो जानेसे अनन्तभंगीके बजाय अनन्त सप्तभंगीकी स्वीकृति हम स्याद्वादियोंके लिये अनिष्ट नही है ।

वस्तुका अनन्तधर्मात्मक होना एक बात है और उसका अनेकान्तात्मक होना दूसरी बात है । इन दोनोंमेंसे जैनेतर दर्शनकारोंके लिये वस्तुको अनन्तधर्मात्मक माननेमें कोई आपत्ति नही हो सकती है क्योंकि पृथ्वीमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चतुष्टयको वे भी एक साथ स्वीकार करते है । परन्तु वे (जैनेतर दर्शन) वस्तुको अनेकान्तात्मक स्वीकार करनेमें हिचकिचाते हैं । इसके विपरीत जैनदर्शनकारोंने वस्तुको अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तात्मक उभयरूप स्वीकार किया है । उपर्युक्त प्रकारके अनेकान्तकी स्वीकृतिके आधारपर ही जैनदर्शनको अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है । और उसकी अस्वीकृतिके आधारपर ही जैनेतर दर्शनोंको एकान्तवादी दर्शन कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि परस्पर-अविरोधी अनन्तधर्मोंकी सत्ता एक साथ ही वस्तुमें जैन और जैनेतर दोनों दर्शनोमे स्वीकार की गयी है । परन्तु परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सत्ता एक साथ एक ही वस्तुमें जैनदर्शन तो स्वीकार करता है किन्तु जैनेतर दर्शन नही स्वीकार करते हैं । जैनेतर दर्शनोंमेंसे कोई दर्शन परस्पर विरोधी दो धर्मोंमें यदि एक धर्मको स्वीकार करता है तो द्वितीय धर्मका वह निषेधक हो जाता है और कोई जैनेतर दर्शन यदि द्वितीय धर्मको स्वीकार करता तो प्रथम धर्मका वह निषेधक हो जाता है । जैसे सांख्य दर्शन बतलाता है कि 'वस्तु नित्य है' और बौद्धदर्शन बतलाता है कि 'वस्तु अनित्य है ।' परन्तु जैनदर्शन प्रतिपादन करता है कि 'वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है ।'

अनेकान्तके अंगभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलके प्रत्येक वस्तुमे अनन्त विकल्प समाये हुए हैं । उनमेंसे अनेकान्तका स्वरूप प्रदर्शित करनेके लिए आचार्य श्री अमृतचन्द्रने समयसारके स्याद्वादाधिकार प्रकरणमें कतिपय परस्पर-विरोधी धर्मयुगलोंकी गणना भी की है । यथा—

'यदेव तत् तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्य-मित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः ।'

अर्थात् जो ही वह है वही वह नहीं है, जो ही एक है वही एक नहीं है अर्थात् अनेक है, जो ही सत् है वही सत् नहीं है अर्थात् असत् है और जो ही नित्य है वही नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है—इस प्रकार एक वस्तुके वस्तुत्व (स्वरूप) की निष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयका प्रकाशन करना ही अनेकान्त है ।

इसका आशय यह है कि विश्वकी अनन्तानन्त वस्तुओंमेंसे प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता), गुणरूपता (स्वभाववत्ता) और पर्यायरूपता (परिणमनवत्ता) को लिये हुए ही

अस्तित्वको प्राप्त हो रही है। आचार्य श्री कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी गाथा-संख्या १ के द्वारा यही बात बतलायी है। यथा—

'अत्थो खलु दव्वमयो दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया—'

अर्थात् अर्थ यानी पदार्थ (वस्तु) द्रव्यरूपताको लिए हुए है, द्रव्य गुणात्मक होता है और द्रव्य तथा गुण दोनोंमें पर्यायरूपता भी पायी जाती है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति (प्रदेशरचना) उपलब्ध होती है, यही उसकी द्रव्यरूपता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपताके आधारपर अपनी पृथक्-पृथक् प्रकृति (स्वभावशक्ति) हुआ करती है—यही उसकी गुणरूपता है और इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारको द्रव्यरूपता और गुणरूपताके अनुरूप अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विकृति अर्थात् परिणति भी देखी जाती है। यह उसकी पर्यायरूपता है। प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त आकृति-रूप द्रव्यरूपता और प्रकृतिरूप गुणरूपता दोनो ही शाश्वत (स्थायी) हैं तथा विकृतिरूप पर्यायरूपता समय, आवली, मुहूर्त्त, घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके रूपमें विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) है। जैनदर्शनमें इन्हीं तीन बातोंके आधारपर प्रत्येक वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली[1] माना गया है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायोंके रूपमें उत्पाद तथा व्यय एवं द्रव्यत्व तथा गुणत्वके रूपमें ध्रौव्यका सद्भाव जैनदर्शनद्वारा स्वीकार किया गया है।

प्रत्येक वस्तुकी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् एक वस्तुकी जो आकृति, प्रकृति और विकृति है वह कदापि दूसरी वस्तुकी नही हो सकती है। अत. इस स्थितिके आधारपर ही जैनदर्शनमें यह सिद्धान्त मान्य किया गया है कि 'जो ही वह है वही वह नहीं है।' इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि एक वस्तु कभी दूसरी वस्तु नहीं बन सकती[2] है। यानी जीव पुद्गल आदि अन्य वस्तु नहीं बन सकता है, वह हमेशा जीव ही रहता है और यहाँतक कि एक जीव कभी दूसरे जीवरूप भी परिणत नही हो सकता है। इस सिद्धान्तके अनुसार ही विश्वमें विद्यमान वस्तुओंकी नियत[3] परिमाणमें अनन्तानन्त संख्या निश्चित की गयी है।

ऊपर किये गये कथनके आधारपर प्रत्येक वस्तुके निम्न प्रकारसे तीन विकल्प-युगलोंके रूपमें अंश-भेद निर्धारित होते है—(१) एक द्रव्य उसके गुणोंके रूपमें, (२) द्रव्य और उसकी पर्यायोके रूपमें और (३) गुण और उसकी पर्यायोंके रूपमें। इन सभी विकल्प-युगलोंपर जब ध्यान दिया जाता है तो समझमें आ जाता है

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।'—तत्त्वार्थसूत्र ५-३०।

२. णवि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो विहु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥६६॥
समयसारकी इस गाथाको आदि देकर ७७, ७८ और ७९ संख्यांक गाथाओंमें आचार्य श्री कुन्दकुन्दने जो भी विवेचन किया है वह 'जो ही वह है वही वह नही है' इस सिद्धान्तके आधारपर ही किया है।

३. ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीय-द्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुंबिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पर-रूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः।' आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा समयसार गाथा २ पर किया गया यह व्याख्यान इसी मान्यतापर आधारित है।

कि प्रत्येक द्रव्यमें अनेक गुण विद्यमान रहते है तथा प्रत्येक द्रव्य व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणकी क्रमवर्ती अनेक पर्यायें हुआ करती है। इस आधारपर ही जैनदर्शनमे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है।'

प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (अवस्था) के आधार ही हुआ करता है। इनमेंसे द्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने जो और जितने प्रदेश है वह उन्हीं और उतने प्रदेशोके रूपमे सत् है, उन प्रदेशोंसे भिन्न अन्य प्रदेशोंके रूपमें वह सत् नहीं है अर्थात् असत् है। क्षेत्रके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु आकाशके जिन और जितने प्रदेशोंपर स्थित है वह आकाशके उन और उतने ही प्रदेशोपर सत् है, उन प्रदेशोंसे भिन्न आकाशके अन्य प्रदेशोपर वह सत् नही है अर्थात् असत् है। कालद्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार है कि जिन और जितने कालाणुओंसे वस्तु संबद्ध है वह उन और उतने कालाणुओंपर सत् है, उन कालाणुओंसे भिन्न अन्य कालाणुओंपर सत् नहीं है अर्थात् असत् है। व्यवहारकालके आधारपर भी जिस समय वस्तु विद्यमान है वह उस समय सत् है, अन्य कालमें वह असत् है। इसी तरह भावके आधारपर भी वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि कोई भी वस्तु अपनी जिस अवस्थामें विद्यमान है वह उसी अवस्थामें सत् है, उससे भिन्न अन्य अवस्थामें वह सत् नही है अर्थात् असत् है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने अनेकान्तका लक्षण बतलाते हुए उल्लिखित विकल्पोके साथ एक चौथा विकल्प यह भी बतलाया है कि जो ही नित्य है वही नित्य नही है अर्थात् अनित्य है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रत्येक वस्तु पूर्वोक्त प्रकारसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है क्योकि वह द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको धारण किये हुये है। वस्तुका जहाँ तक द्रव्यरूपता और गुणरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक तो वह ध्रौव्यरूप है और जहाँ तक उसका पर्यायरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक वह उत्पाद और व्ययरूप है। इनमेसे ध्रौव्य वस्तुकी नित्यताका चिह्न है और उत्पाद तथा व्यय उसकी अनित्यताके चिह्न है।

जिस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रने वस्तुतत्त्वको अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए उस अनेकान्तके तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य ये चार विकल्प-युगल बतलाते हैं उसी प्रकार उन्होने समयसारकी गाथा १४२ की टीकामें आत्म-तत्त्वका अवलम्बन लेकर बद्ध-अबद्ध, मोही-अमोही, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विविध प्रकारके और भी विकल्प-युगलोंका प्रतिपादन किया है। इस तरह हम देखते है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकारसे परस्परविरोधी दो धर्मोंका आश्रय सिद्ध होती हुई अनेकान्तात्मक सिद्ध होती है। इसका केवलज्ञानद्वारा सर्वात्मना ग्रहण युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है। अत इस अपेक्षासे केवलज्ञानमें नि.शेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है। व श्रुतज्ञानद्वारा परस्पर-विरोधी उक्त दोनों अंशोंमेंसे एक-एक अंशका क्रमसे ग्रहण होता हुआ सर्वात्मना ग्रहण सखण्ड भावसे हुआ करता है। अत. श्रुतज्ञानमे भी नि:शेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है। लेकिन मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानके द्वारा इस अनेकान्तात्मक वस्तुका न तो युगपत् अखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है और न क्रमश: सखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है। प्रत्युत अंशमुखेन सामान्यतया वस्तुका ही ग्रहण होता है। अत: इन तीनों ज्ञानोमे उक्त प्रकारकी नि:शेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव सिद्ध हो जाता है।

वस्तुकी परस्पर-विरोधी धर्मद्वयात्मकतारूप अनेकान्तात्मकता उस (वस्तु) की पूर्णता है। उस वस्तुका इस तरहकी पूर्णताके साथ ग्रहण होना प्रमाणरूप है तथा अंशरूपसे ग्रहण होना नयरूप है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानमें वस्तुका ग्रहण यद्यपि अंशरूपसे ही होता है परन्तु वह ग्रहण अंशरूपमे विभाजित

नही हो पाता है क्योंकि उस ग्रहणमें अंशमुखेन वस्तुका ही ग्रहण होता है, वस्तुके अंशका नहीं। जैसे चक्षु-रिन्द्रिय द्वारा रूपमुखसे रूपवान् वस्तुका ही ग्रहण होता है, वस्तुके एक अंशके रूपमें रूपका ग्रहण नही होता यही कारण है कि अंशमुखेन वस्तुका ग्रहण होता हुआ भी वस्तुके अंशका अंशरूपसे ग्रहण न होनेसे मतिज्ञान निरंश प्रमाण ही मानने योग्य है। यही बात क्षायोपशमिकज्ञानरूप अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। इस तरह ये तीनो ज्ञान कभी नयरूपताको प्राप्त नही होते हैं। केवलज्ञानमें वस्तुका ग्रहण सर्वात्मना होता है, इसलिये उसकी प्रमाणरूपता निर्विवाद है। लेकिन उसमें वस्तुके सम्पूर्ण अंश युगपत् गृहीत होनेके कारण पृथक्-पृथक् रूपमे गृहीत नही होते, इसलिये उसमे भी नयरूपताका अभाव सिद्ध हो जाता है। श्रुतज्ञानमें प्रमाणरूपता इसलिये सिद्ध होती है कि उसमें उल्लिखित अनेकान्तरूप पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है लेकिन चूँकि श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारसे साश वचनके आधारपर हुआ करती है। अत: जिस वचनसे अंशी (पूर्ण) रूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे तो प्रमाणरूप साश वचन जानना चाहिये और जिस वचनसे अंशरूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे नयरूप अंशात्मक वचन जानना चाहिये। तथा इस तरहके प्रमाणरूप और नयरूप वचनोंके आधारपर उत्पन्न होनेवाले श्रुतरूप ज्ञानको भी क्रमश प्रमाणरूप और नयरूप जानना चाहिये।

अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें नयव्यवस्थाका निषेध क्यों ?

पूर्वमे यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि जिस प्रकार सांश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे साशता सिद्ध होती है उसी प्रकार साश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण अप्रमाण-रूप श्रुतज्ञानमे भी साशता सिद्ध होती है। इसलिये जिस प्रकार प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे भी नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होनेका प्रसंग उपस्थित होता है, लेकिन आगमप्रमाणके आधारपर पूर्वमें यह बतलाया जा चुका है कि अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नयव्यवस्था नही होती है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि साशवचनके आधारपर उत्पन्न होनेकी समानता रहते हुए भी अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे ऐसी विशेषता पायी जाती है जो उसमे नय-व्यवस्थाका कारण बन जाती है और चूँकि वह विशेषता अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नही पायी जाती है, अत उसमे नयव्यवस्थाका निषेध सगत हो जाता है।

वह विशेषता यह है कि पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक ही सिद्ध होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमे विद्यमान उसके अपने अनन्तधर्मोमेसे प्रत्येक धर्म उस वस्तुमे अपने विरोधी धर्मके साथ ही रह रहा है। जैसे घटरूप वस्तुमे जिस प्रकार घटत्वधर्मका सद्भाव पाया जाता है उसी प्रकार उसमे घटत्वधर्मके विरोधी पटत्व आदि धर्मोका अभाव भी पाया जाता है। यही कारण है कि हमे घटरूप वस्तुमे जिस प्रकार घटरूपताका ज्ञान होता है उसी प्रकार उसमें पटादिरूपताके अभावका ज्ञान होना भी स्वाभाविक है। अब जैसा घटरूप वस्तुमें घटरूपताके सद्भाव और पटादिरूपताके अभावका ज्ञान हमें होता है वैसा ज्ञान उस घटरूप वस्तुमें हम यदि दूसरे व्यक्तिको कराना चाहें तो इसके लिए हमे तदनुकूल वचनको या तो मुखसे उच्चरित करना होगा या फिर उसे हस्तसे लिपिबद्ध करना होगा, तब कही जाकर दूसरा व्यक्ति उच्चरित वचनको तो सुनकर व लिपिबद्ध वचनको पढ़कर ही घटरूप वस्तुके विषयमे हमारा पूर्ण अभिप्राय जान सकेगा। चूंकि यह बात निर्विवाद है कि प्रत्येक वचन शब्दकोष, शब्दव्युत्पत्ति अथवा शब्दपरिभाषा आदिका अवलम्बन लेकर प्रतिनियत अर्थका ही प्रतिपादक होता है। इसलिये जब हम 'यह घट है' यह वाक्य बोलते हैं तो इससे लक्षित वस्तुमें घटरूपताका प्रतिपादन तो हो जाता है परन्तु इससे उस वस्तुमे पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन कदापि नही हो पाता है। अत लक्षित वस्तुमे घटरूपताके सद्भावके साथ पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन

करनेके लिये 'यह घट है' इस वाक्यके साथ 'पटादि नहीं है' इस वाक्यका भी प्रयोग करना होगा, तब जाकर ही वचनके श्रोता या पाठकको वह लक्षित वस्तु घटरूपताको लिए हुए है व पटादिरूपताको लिये हुए नहीं है— ऐसा पूर्णता लिये हुए वस्तुका बोध होगा। इस तरह 'यह घट है' यह वाक्य और 'पटादि नही है' यह वाक्य दोनों ही 'यह घट है पटादि नही है' इस महावाक्यके अवयव हो जानेपर वस्तुका सही रूपमे प्रतिपादन करते हुए श्रोता या पाठकको उस वस्तुतत्त्वका सही रूपमें बोध करा सकते हैं।

यहाँ पर समझनेकी बात यह है कि 'यह घट है पटादि नही है' यह महावाक्य वस्तुत्वका पूर्णरूपसे प्रतिपादक होने व श्रोता या पाठकको उस वस्तुतत्त्वका पूर्णताके साथ ज्ञान करानेमे समर्थ होनेके कारण प्रमाणवाक्य है तथा इस महावाक्यके अवयभूत 'यह घट है' और 'पटादि नही है' ये दोनों वाक्य नयवाक्य है व इन दोनो वाक्योंके समूहरूप 'यह घट है पटादि नही है' इस महावाक्यके जरिये श्रोता या पाठकको होनेवाला वस्तुतत्त्वका पूर्णता लिये हुए ज्ञान प्रमाणज्ञान है व इस महावाक्यके अवयभूत 'यह घट है' और 'पटादि नही है' इन दोनो वाक्योंसे श्रोता या पाठकको होनेवाला वस्तुतत्त्वके एक-एक अंशका ज्ञान नयज्ञान है। यही बात 'वस्तु नित्य है और नित्य नही है अर्थात् अनित्य है' इस महावाक्य तथा इसके अवयवभूत 'वस्तु नित्य है' और वस्तु नित्य नही है अर्थात् अनित्य है' इन वाक्योके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

अब देखना यह है कि अप्रमाणज्ञानमे नयव्यवस्था क्यो नही होती ? तो इसपर ध्यान देनेसे मालूम पड़ता है कि जितनी भी एकान्तवादकी मान्यताये हैं उनमें जिस एक धर्मको जिस वस्तुमे स्वीकार किया गया है उस वस्तुमे उस धर्मके साथ उस धर्मके विरोधी धर्मको जैसा जैनदर्शनमे स्वीकार किया गया है वैसा उन मान्यताओमे स्वीकार नही किया गया है। जैसे जैनदर्शन कहता है कि जब वस्तुमे पूर्वोक्त प्रकारसे आकृति, प्रकृति और विकृतिके रूपमें क्रमशः द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता पायी जाती है तो फिर यह मानना भी आवश्यक हो जाता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता और गुणरूपता तो शाश्वत होनेसे नित्य है तथा उसकी पर्यायरूपता अशाश्वत होनेसे अनित्य है। लेकिन वस्तुतत्त्वकी यह स्थिति सही होते हुए भी जो दर्शन वस्तुको नित्य मानता है वह उसे अनित्य माननेके लिये तैयार नही है और जो दर्शन वस्तुको अनित्य मानता है वह उसे नित्य माननेके लिये तैयार नही है इसलिये ये दोनों ही एकान्तवादी दर्शन अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार 'वस्तु नित्य है' या 'वस्तु अनित्य है' इन दो वाक्योंमेंसे एक ही वाक्यसे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर देना चाहते हैं। लेकिन वास्तवमे बात यह है कि जैसा नित्यरूप या अनित्यरूप वस्तुको वे मानते है वैसा उस वस्तुका पूर्णरूप न होकर अंशमात्र सिद्ध होता है। अतः 'वस्तु नित्य है' और 'वस्तु अनित्य है' ये दोनों वाक्य पृथक्-पृथक् रहकर चूंकि वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर नही सकते है, इसलिये तो इन्हे प्रमाणवाक्य नही कहा जा सकता है और वे एकान्तवादी दर्शन इन वाक्योंको वस्तुके अंशके प्रतिपादक माननेको तैयार नही हैं। इसलिये इन्हें नयवाक्य भी नही कहा जा सकता है। इस तरह ये दोनों ही वाक्य प्रमाण-वाक्य तथा नय-वाक्यकी कोटिसे निकल कर अप्रमाण या प्रमाणाभासकी कोटिमें ही गर्भित होते है। इन्हें नयाभास इसलिये नही कहा जा सकता है कि एक नयके विषयको दूसरे नयके विषयरूपमें स्वीकार करना या कथन करना ही नयाभासका लक्षण है जो यहाँ पर घटित नही होता है।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तु नित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है और 'वस्तु अनित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है। अब यदि कोई व्यक्ति वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपताको अनित्य तथा पर्यायरूपताको नित्य मानने या कहने लग जाय तो उस हालतमें ऐसी मान्यता या ऐसा कथन ही नयाभास माना जायगा।

इस प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य नयवाक्य है क्योंकि इससे वस्तुके नित्यतारूप अंशका प्रतिपादन होता है तथा सांख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य प्रमाणाभास है या अप्रमाण है क्योंकि इस वाक्यसे सांख्य वस्तुके नित्यतारूप अंशका प्रतिपादन करना नहीं चाहता है और चूंकि वह नित्यतारूप अंशसे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करना चाहता है, जैसा प्रतिपादन होना असंभव है, क्योंकि वस्तु मात्र नित्यरूप ही नहीं है बल्कि नित्य होनेके साथ-साथ वह अनित्य भी है। इसी प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह वाक्य और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है।' यह वाक्य इन दोनोंके विषयमें क्रमशः नयरूपता और अप्रमाणरूपताकी ऐसी ही व्यवस्था समझ लेना चाहिये।

उपसंहार

इस संपूर्ण विवेचनका सार यह है कि विश्वकी संपूर्ण अनन्तानन्त वस्तुओंमेंसे प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने इन अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्मके साथ ही प्रत्येक वस्तुमें रह रहा है। इसलिये प्रत्येक वस्तुको जैनदर्शनमें अनेकान्तात्मक माना गया है। इस अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करना वचनका कार्य है। वचन भी यदि वस्तुके परस्परविरोधी दोनों धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है तो उसे प्रमाणरूप कहा जायगा और यदि वह परस्परविरोधी दोनों धर्मोंमेंसे एक-एक धर्मका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है तो वह नयरूप माना जायगा। इसके विपरीत उक्त प्रकारके अनेकान्तात्मकरूपसे प्रसिद्ध वस्तुके किसी एक धर्मके रूपमें एकान्तात्मक मानकर उसे जिस वचन द्वारा प्रतिपादित किया जायगा वह वचन अप्रमाणरूप माना जायगा, क्योंकि वस्तुका जैसा अनेकान्तात्मक स्वरूप है वैसा उस वचनसे प्रतिपादित नहीं होगा और जैसा एकान्तात्मक स्वरूप वस्तुका नहीं है वैसा उससे प्रतिपादित होगा। जिस वचनसे वस्तुका जो धर्म प्रतिपादित होना चाहिये, यदि उससे विपरीत धर्मका जहाँ प्रतिपादन किया जायगा वहाँ वह वचन नयाभासरूप माना जायगा। इसी तरह वचनसे उक्त प्रकारका जैसा प्रतिपादन वक्ता या लेखक द्वारा किया जायगा वैसा ही उस वचनसे श्रोता या पाठकको वस्तुके विषयमें बोध होगा। इस प्रकार वह बोध भी यथायोग्य प्रमाणरूप, नयरूप, अप्रमाणरूप या नयाभासरूप ही माना जायगा।

इस लेखमे हमने उत्पत्ति और विकासके आधारपर जैनदर्शनके नयवादको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। जैनागममें नयोंका विस्तार करते हुए द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा निश्चयनय और व्यवहारनय इस प्रकार दो तरहसे नय-भेदोंका विवेचन पाया जाता है। इनमेंसे नयोंके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद वस्तुतत्त्वकी स्वरूपव्यवस्थाके आधारपर तथा निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद आध्यात्मिक दृष्टिकोणके आधारपर जैनागम द्वारा मान्य किये गये हैं। इनके अलावा जैनागममें और भी अर्थनय तथा शब्दनयके रूपमे नयोंका विवेचन पाया जाता है तथा अर्थनयके नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र व शब्दनयके शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत भेद भी जैनागममे देखनेको मिलते हैं। एवं सभी प्रकारके नयोके उपभेद भी वहाँपर देखनेको मिलते हैं। इन सबका विस्तारसे विवेचन करनेकी वर्त्तमानमें अतीव आवश्यकता हो गयी है। कारण कि इस समय जैनसमाजमे जो तात्त्विक विवाद खड़े हो रहे हैं उनका कारण नयोंकी स्थितिको ठीक तरह नही समझ पाना ही है। लेकिन चूंकि लेख काफी विस्तृत हो गया है अतः स्वतन्त्र लेख द्वारा ही इन सबका विवेचन करना उचित होगा।

●

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

कोई भी धर्मप्रवर्तक अपने शासनको स्थायी और व्यापक रूप देनेके लिये मनुष्य-समाजके सामने दो बातोंको पेश करता है—एक तो धर्मका उद्देश्य-रूप और दूसरा उसका विधेय-रूप। दूसरे शब्दोंमें धर्मके उद्देश्य-रूपको साध्य, कार्य या सिद्धान्त कह सकते है और उसके विधेय-रूपको साधन, कारण या आचरण कह सकते है। वीरशासनके पारिभाषिक शब्दोंमें धर्मके इन दोनों रूपोंको क्रमसे निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म कहा गया है। प्राणिमात्रके लिये आत्मकल्याणमे यही निश्चय-धर्म उद्दिष्ट वस्तु है और व्यवहारधर्म है इस निश्चय-धर्म-की प्राप्तिके लिये उसका कर्त्तव्यमार्ग।

इन दोनों बातोंको जो धर्मप्रवर्तक जितना सरल, स्पष्ट और व्यवस्थित रीतिसे रखनेका प्रयत्न करता है उसका शासन संसारमें सबसे अधिक महत्त्वशाली समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, वह सबसे अधिक प्राणियोंको हितकर हो सकता है। इसलिये प्रत्येक धर्मप्रवर्तकका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तकी ओर दौडता है। वीरभगवान्‌का ध्यान भी इस ओर गया और उन्होने दार्शनिक तत्त्वोको व्यवस्थित रूपसे उनकी तथ्यपूर्ण स्थिति तक पहुँचानेके लिये दर्शनशास्त्रके आधारस्तम्भ रूप अनेकान्तवाद और स्याद्वाद इन दो तत्त्वोका आविर्भाव किया।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद ये दोनों दर्शनशास्त्रके लिये महान् गढ़ हैं। जैनदर्शन इन्हीकी सीमामे विचरता हुआ संसारके समस्त दर्शनोंके लिये आज तक अजेय बना हुआ है। दूसरे दर्शन जैनदर्शनको जीतने-का प्रयास करते तो है परंतु इन दुर्गोंके देखने मात्रसे उनको निःशक्त होकर बैठ जाना पडता है—किसीके भी पास इनके तोड़नेके साधन मौजूद नही है।

जहाँ अनेकान्तवाद और स्याद्वादका इतना महत्त्व बढा हुआ है वहाँ यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि साधारणजनकी तो बात ही क्या? अजैन विद्वानोके साथ-साथ प्रायः जैन विद्वान् भी इनका विश्लेषण करनेमें असमर्थ है।

अनेकान्त और स्यात् ये दोनों शब्द एकार्थक है या भिन्नार्थक? अनेकान्तवाद और स्याद्वादका स्वतन्त्र स्वरूप क्या है? अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनोंका प्रयोगस्थल एक है या स्वतन्त्र? आदि समस्याएँ आज हमारे सामने उपस्थित हैं।

यद्यपि इन समस्याओंका हमारी व दर्शनशास्त्रकी उन्नति या अवनतिसे प्रत्यक्षरूपमें कोई सम्बन्ध नही है परन्तु अप्रत्यक्षरूपमे ये हानिकर अवश्य हैं। क्योंकि जिस प्रकार एक ग्रामीण कवि छंद, अलंकार, रस, रीति आदिका शास्त्रीय परिज्ञान न करके भी छंद, अलंकार आदिसे सुसज्जित अपनी भावपूर्ण कवितासे जगतको प्रभावित करनेमे समर्थ होता है उसी प्रकार सर्वसाधारण लोग अनेकान्तवाद और स्याद्वादके शास्त्रीय परि-ज्ञानसे शून्य होनेपर भी परस्परविरोधी जीवनसबन्धी समस्याओंका इन्ही दोनो तत्त्वोंके बलपर अविरोध रूपसे समन्वय करते हुए अपने जीवन-संबन्धी व्यवहारोंको यद्यपि व्यवस्थित बना लेते है परन्तु फिर भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके जीवनसंबन्धी व्यवहारोंमें परस्पर विरोधीपन होनेके कारण जो लड़ाई-झगडे पैदा होते हैं वे सब अनेकान्तवाद और स्याद्वादके रूपको न समझनेके ही परिणाम है। इसी तरह अजैन दार्शनिक विद्वान् भी अनेकान्तवाद और स्याद्वादको दर्शनशास्त्रके अंग न मानकरके भी अपने सिद्धान्तोंमें उपस्थित हुई परस्पर विरोधी समस्याओंको इन्हीके बलपर हल करते हुए यद्यपि दार्शनिक तत्त्वोंकी व्यवस्था करनेमें समर्थ होते हुए नजर आ रहे हैं, तो भी भिन्न-भिन्न दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंमे परस्पर विरोधीपन होनेके कारण उनके द्वारा

अपने सिद्धान्तोंको सत्य और महत्त्वशाली तथा दूसरेके सिद्धान्तको असत्य और महत्त्वरहित सिद्ध करनेकी जो असफल चेष्टा की जाती है वह भी अनेकान्तवाद और स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेका ही फल है।

सारांश यह कि लोकमें एक दूसरेके प्रति जो विरोधी भावनाएँ तथा धर्मोंमें जो साम्प्रदायिकता आज दिखाई दे रही है उसका कारण अनेकान्तवाद और स्याद्वादको न समझना ही कहा जा सकता है।

जैनी लोग यद्यपि अनेकान्तवादी और स्याद्वादी कहे जाते हैं और वे खुद भी अपनेको ऐसा कहते हैं, फिर भी उनके मौजूदा प्रचलित धर्ममें जो साम्प्रदायिकता और उनके हृदयोंमें दूसरोंके प्रति जो विरोधी भावनाएँ पाई जाती हैं उसके दो कारण है—एक तो यह कि उनमें भी अपने धर्मको सर्वथा सत्य और महत्त्वशील तथा दूसरे धर्मोंको सर्वथा असत्य और महत्त्वरहित समझनेकी अहंकारवृति पैदा हो जानेसे उन्होंने अनेकान्तवाद और स्याद्वादके क्षेत्रको बिलकुल संकुचित बना डाला है, और दूसरे यह कि अनेकान्तवाद और स्याद्वादकी व्यावहारिक उपयोगिताको वे भी भूले हुए हैं।

अनेकान्त और स्यात्‌का अर्थभेद

बहुतसे विद्वान् इन दोनों शब्दोंका एक अर्थ स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अनेकान्तरूप-पदार्थ ही स्यात् शब्दका वाच्य है और इसीलिये वे अनेकान्त और स्याद्वादमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध स्थापित करते है—उनके मतसे अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद उसका वाचक है। परन्तु "वाक्येष्वनेकान्तद्योती" इत्यादि कारिकामे पड़े हुए "द्योती" शब्दके द्वारा स्वामी समन्तभद्र स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक है, वाचक नही।

यद्यपि कुछ शास्त्रकारोंने भी कही-कहीं स्यात् शब्दको अनेकान्त अर्थका बोधक स्वीकार किया है, परन्तु वह अर्थ व्यवहारोपयोगी नही मालूम पड़ता है—केवल स्यात् शब्दका अनेकान्तरूप रूढ़ अर्थ मानकरके इन दोनों शब्दोंकी समानार्थकता सिद्ध की गई है। यद्यपि रूढ़िसे शब्दोके अनेक अर्थ हुआ करते हैं और वे असंगत भी नही कहे जाते है फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि स्यात् शब्दका अनेकान्तरूप अर्थ प्रसिद्धार्थ नही है। जिस शब्दसे जिस अर्थका सीधे तौरपर जल्दीसे बोध हो सके वह उस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ माना जाता है और वही प्रायः व्यवहारोपयोगी हुआ करता है; जैसे 'गो' शब्द पशु, भूमि, वाणी आदि अनेक अर्थोंमें रूढ़ है परन्तु उसका प्रसिद्ध अर्थ पशु ही है, इसलिये वही व्यवहारोपयोगी माना जाता है। और तो क्या? हिन्दीमें गौ या गाय शब्द जो कि गो शब्दके अपभ्रंश है केवल स्त्री गो में ही व्यवहृत होते हैं, पुरुष गो अर्थात् बैल रूप अर्थमें नही, इसका तात्पर्य यह नही कि वे बैल रूप अर्थके वाचक ही नही हैं किन्तु बैल रूप अर्थ उनका प्रसिद्ध अर्थ नही, ऐसा ही समझना चाहिये। स्यात् शब्द उच्चारणके साथ-साथ कथंचित् अर्थकी ओर संकेत करता है अनेकान्तरूप अर्थकी ओर नही, इसलिये कथंचित् शब्दका अर्थ ही स्यात् शब्दका अर्थ अथवा प्रसिद्ध अर्थ समझना चाहिये।

अनेकान्तवाद और स्याद्वादका स्वरूप

अनेकान्तवाद शब्दके तीन शब्दांश हैं—अनेक, अन्त और वाद। इसलिये अनेक—नाना, अन्त—वस्तु-धर्मोंकी, वाद—मान्यताका नाम 'अनेकान्तवाद' है। एक वस्तुमे नानाधर्मों (स्वभावों) को प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते हैं, जिससे अनेकान्तवादकी कोई विशेषता नहीं रह जाती है और इसलिये उन धर्मोका क्वचित् विरोधीपन भी अनायास सिद्ध हो जाता है, तब एक वस्तुमें परस्पर विरोधी और अविरोधी नाना धर्मोंकी मान्यताका नाम अनेकान्तवाद समझना चाहिये। यही अनेकान्तवादका अविकलस्वरूप कहा जा सकता है।

स्याद्वाद शब्दके दो शब्दांश हैं—स्यात् और वाद। ऊपर लिखे अनुसार स्यात् और कथंचित् ये दोनों शब्द एक अर्थके बोधक हैं—कथंचित् शब्दका अर्थ है "किसी प्रकार"। यही अर्थ स्यात् शब्दका समझना चाहिये। वाद शब्दका अर्थ है मान्यता। "किसी प्रकारसे अर्थात् एकदृष्टिसे—एक अपेक्षासे या एक अभिप्रायसे", इस प्रकारकी मान्यताका नाम स्याद्वाद है। तात्पर्य यह कि विरोधी और अविरोधी नानाधर्मवाली वस्तुमें अमुक धर्म अमुक दृष्टिसे या अमुक अपेक्षा या अमुक अभिप्रायसे है तथा व्यवहारमें "अमुक कथन, अमुक विचार, या अमुक कार्य, अमुक दृष्टि, अ मुक अपेक्षा, या अमुक अभिप्रायको लिये हुए है"। इस प्रकार वस्तुके किसी भी धर्म तथा व्यवहारकी सामंजस्यताकी सिद्धिके लिये उसके दृष्टिकोण या अपेक्षाका ध्यान रखना ही स्याद्वादका स्वरूप माना जा सकता है।

अनेकान्त और स्याद्वादके प्रयोगका स्थलभेद

(१) इन दोनोंके उल्लिखित स्वरूपपर ध्यान देनेसे मालूम पड़ता है कि जहाँ अनेकान्तवाद हमारी बुद्धिको वस्तुके समस्त धर्मोंकी ओर समानरूपसे खींचता है वहाँ स्याद्वाद वस्तुके एक धर्मका ही प्रधानरूपसे बोध करानेमें समर्थ है।

(२) अनेकान्तवाद एक वस्तुमें परस्पर विरोधी और अविरोधी धर्मोंका विधाता है—वह वस्तुको नाना धर्मात्मक बतलाकर ही चरितार्थ हो जाता है। स्याद्वाद उस वस्तुको उन नाना धर्मोंके दृष्टिभेदोंको बतलाकर हमारे व्यवहारमें आने योग्य बना देता है—अर्थात् वह नानाधर्मात्मक वस्तु हमारे लिये किस हालतमें किस तरह उपयोगी हो सकती है, यह बात स्याद्वाद बतलाता है। थोड़ेसे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि अनेकान्तवादका फल विधानात्मक है और स्याद्वादका फल उपयोगात्मक है।

(३) यह भी कहा जा सकता है कि अनेकान्तवादका फल स्याद्वाद है—अनेकान्तवादकी मान्यताने ही स्याद्वादकी मान्यताको जन्म दिया है, क्योंकि जहाँ नानाधर्मोंका विधान नहीं है वहाँ दृष्टिभेदकी कल्पना हो ही कैसे सकती है?

उल्लिखित तीन कारणोंसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तवाद और स्याद्वादका प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थलोंमें होना चाहिये। इस तरह यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद ये दोनों एक नहीं हैं; परन्तु परस्पर सापेक्ष अवश्य हैं। यदि अनेकान्तवादकी मान्यताके बिना स्याद्वादकी मान्यताके बिना स्याद्वादकी मान्यताकी कोई आवश्यकता नहीं है तो स्याद्वादकी मान्यताके बिना अनेकान्तवादकी मान्यता भी निरर्थक ही नहीं बल्कि असंगत ही सिद्ध होगी। हम वस्तुको नानाधर्मात्मक मान करके भी जबतक उन नानाधर्मोंका दृष्टिभेद नहीं समझेंगे तबतक उन धर्मोंकी मान्यता अनुपयोगी तो होगी ही, साथ ही वह मान्यता युक्ति-संगत भी नहीं कही जा सकेगी।

जैसे लंघन रोगीके लिये उपयोगी भी है और अनुपयोगी भी, यह तो हुआ लंघनके विषयमें अनेकान्तवाद। लेकिन किस रोगीके लिये वह उपयोगी है और किस रोगीके लिये वह अनुपयोगी है, इस दृष्टिभेदको बतलाने वाला यदि स्याद्वाद न माना गया तो यह मान्यता न केवल व्यर्थ ही होगी, बल्कि पित्तज्वरवाला रोगी लंघनकी सामान्यतौरपर उपयोगिता समझकर यदि लंघन करने लगेगा तो उसे उस लंघनके द्वारा हानि ही उठानी पड़ेगी। इसलिये अनेकान्तवादके द्वारा रोगीके सम्बन्धमें लंघनकी उपयोगिता और अनुपयोगिता रूप दो धर्मोंको मान करके भी वह लंघन अमुक रोगीके लिये उपयोगी और अमुक रोगीके लिये अनुपयोगी है, इस दृष्टि-भेदको बतलाने वाला स्याद्वाद मानना ही पड़ेगा।

एक बात और है, अनेकान्तवाद वक्तासे अधिक संबन्ध रखता है; क्योंकि वक्ताकी दृष्टि ही विधा-

नात्मक रहती है। इसी प्रकार स्याद्वाद श्रोतासे अधिक सम्बन्ध रखता है; क्योंकि उसकी दृष्टि हमेशा उपयोगात्मक रहा करती है। वक्ता अनेकान्तवादके द्वारा नानाधर्मविशिष्ट वस्तुका दिग्दर्शन कराता है और श्रोता स्याद्वादके जरियेसे उस वस्तुके केवल अपने लिये उपयोगी अंशको ग्रहण करता है।

इस कथनसे यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि वक्ता 'स्यात्' की मान्यताको और श्रोता 'अनेकान्त' की मान्यताको ध्यानमें नहीं रखता है। यदि वक्ता 'स्यात्'की मान्यताको ध्यानमें नहीं रखेगा तो वह एक वस्तुमें परस्पर विरोधी धर्मोंका समन्वय न कर सकनेके कारण उन विरोधी धर्मोंका उस वस्तुमें विधान ही कैसे करेगा ? ऐसा करते समय विरोधरूपी सिपाही चोरकी तरह उसका पीछा करनेको हमेशा तैयार रहेगा। इसी तरह यदि श्रोता 'अनेकान्त'की मान्यताको ध्यानमें नहीं रखेगा तो वह दृष्टिभेद किस विषयमें करेगा ? क्योंकि दृष्टिभेदका विषय अनेकान्त अर्थात् वस्तुके नानाधर्म ही तो हैं।

इसलिये ऊपरके कथनसे केवल इतना तात्पर्य लेना चाहिये कि वक्ताके लिये विधान प्रधान है—वह स्यात्की मान्यतापूर्वक अनेकान्तकी मान्यताको अपनाता है और श्रोताके लिये उपयोग प्रधान है—वह अनेकान्तकी मान्यतापूर्वक स्यात्की मान्यताको अपनाता है।

मान लिया जाय कि एक मनुष्य है, अनेकान्तवादके जरिये हम इस नतीजेपर पहुँचे कि वह मनुष्य वस्तुत्वके नाते नानाधर्मात्मक है—वह पिता है, पुत्र है, मामा है, भाई है आदि आदि बहुत कुछ है। हमने वक्ताकी हैसियतसे उसके इन सम्पूर्ण धर्मोंका निरूपण किया। स्याद्वादसे यह बात तय हुई कि वह पिता है स्यात्—किसी प्रकारसे—दृष्टिविशेषसे-अर्थात् अपने पुत्रकी अपेक्षा; वह पुत्र है, स्यात्—किसी प्रकार अर्थात् अपने पिताकी अपेक्षा; वह मामा है स्यात्—किसी प्रकार अर्थात् अपने भानजेकी अपेक्षा, वह भाई है स्यात्—किसी प्रकार—अर्थात् अपने भाईकी अपेक्षा।

अब यदि श्रोता लोगोंका उस मनुष्यसे इन दृष्टियोंमेंसे किसी भी दृष्टिसे सम्बन्ध है तो वे अपनी-अपनी दृष्टिसे अपने लिये उपयोगी धर्मको ग्रहण करते जावेंगे। पुत्र उसको पिता कहेगा, पिता उसको पुत्र कहेगा, भानजा उसको मामा कहेगा और भाई उसको भाई कहेगा; लेकिन अनेकान्तवादको ध्यानमें रखते हुए वे एक दूसरेके व्यवहारको असंगत नहीं ठहरावेंगे। अस्तु।

इस प्रकार अनेकान्तवाद और स्याद्वादके विश्लेषणका यह यथाशक्ति प्रयत्न है। आशा है इससे पाठकजन इन दोनोके स्वरूपको समझनेमें सफल होनेके साथ साथ वीर-भगवान्के शासनकी गम्भीरताका सहज हीमें अनुभव करेंगे और इन दोनो तत्त्वोंके द्वारा सांप्रदायिकताके परदेको हटाकर विशुद्ध धर्मकी आराधना करते हुए अनेकान्तवाद और स्याद्वादके व्यावहारिक रूपको अपने जीवनमें उतारकर वीर-भगवान्के शासनकी अद्वितीय लोकोपकारिताको सिद्ध करनेमें समर्थ होंगे।

●

स्याद्वाद दर्शन और उसके उपयोगका अभाव

स्याद्वादका अर्थ

'स्याद्वाद' इस शब्दके अन्तर्गत दो शब्द है—स्यात् और वाद। स्यात्का अर्थ अपेक्षासहित (दृष्टि-कोणसहित) तथा वाद शब्दका अर्थ सिद्धान्त या मत होता है। इस प्रकार स्याद्वादका अर्थ सापेक्ष सिद्धान्त समझना चाहिये।

स्याद्वादकी परिभाषा

अपने व दूसरे के विचारो, वचनो व कार्योंमे अपेक्षा या दृष्टिकोणका ध्यान रखना ही स्याद्वादकी परिभाषा है।

स्याद्वादकी आवश्यकता

मनुष्यके जितने विचार, वचन व कार्य है उनका कोई-न-कोई दृष्टिकोण अवश्य होना चाहिये; उसीके आधार पर उनकी उपयोगिता या अनुपयोगिता समझी जा सकती हैं। हम अपने विचारों वचनो व कार्योको दृष्टिकोणके अनुकूल बनायेंगे, तो वे लाभप्रद होगे, दृष्टिकोणके प्रतिकूल बनायेंगे या उनका कोई दृष्टिकोण नहीं रखेंगे तो वे लाभप्रद तो होंगे ही नहीं, बल्कि कभी-कभी हानिप्रद हो सकते है। इसी प्रकार दूसरोके विचारों, वचनों व कार्योंको उनके दृष्टिकोणको ध्यानमे रखकर देखेंगे तो हम उनकी सत्यता (उपादेयता) या असत्यता (अनुपादेयता) का ज्ञान कर सकेंगे। यदि दूसरेके विचारो, वचनो व कार्योंको उनके प्रतिकूल दृष्टि-कोणसे देखेंगे या बिना दृष्टिकोणके देखेंगे तो हम उनकी सत्यता या असत्यताका ज्ञान नही कर सकेंगे। इस-लिये हमको स्याद्वाद या सापेक्ष सिद्धान्तके अपनानेकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि जीवनकी स्थिरता के लिये भोजनकी।

स्याद्वादका विकास

यों तो वस्तुएँ तथा उनके विचारक अनादि है तो स्याद्वाद भी अनादि ही कहा जायगा, लेकिन आव-श्यकताके आधारपर ही किसी भी वस्तुका विचार किया जाता है।

इसी स्याद्वादको ही लें—विचार करनेपर मालूम पडता है कि जितना भी लोकव्यवहार है उसका आधार स्याद्वाद ही है, पर जनसाधारण तो स्याद्वादका नाम तक नही जानते, और ऐसे मनुष्योकी भी कमी नही है, जो स्याद्वादको जान करके भी अपनाना नही चाहते, इतनेपर भी उनका व्यवहार अव्यवस्थित या बन्द नहीं हो जाता। इसका आशय यही है कि जब जिस वस्तुकी आवश्यकता बढ जाती है उसके जाने बिना हमारा कार्य नही चलता है, तब उसके जाननेकी लोगोंके हृदयमें भावना पैदा होती है और तभीसे उसका विकास माना जाता है। स्याद्वादके विकासका विचार इसी आधारपर किया जाता है।

प्राय सभी मतोंके अनुसार पौराणिक दृष्टिसे सृष्टिके आदि[1] भागमे जीवन सुख और शान्तिके साम्राज्यसे परिपूर्ण था। शनैः शनैः सुख और शान्तिमे विकृति पैदा हुई अर्थात् लोगोके हृदयोंमें अनुचित

---

१. प्राय. सभी मत सृष्टिका उत्पाद और विनाश मानते है, जैनमत ऐसा नही मानता—उसके अनुसार जगत् अनादिनिधन है, पर उसमें सुख और शान्तिकी वृद्धि और हानि रूपसे परिवर्तन माना गया है। इसलिये जैनमतानुसार जिस समय सुख और शान्तिमे हानिका रूप नहो दिखाई दिया था उसको सृष्टिका आदि भाग समझना चाहिये।

पापवासनाओंका अंकुर जन्मा. वहींसे धर्मतत्व प्रकाशमें आया। तात्पर्य यह कि अनुचित पापवासनाओंसे लोगों-की अनुचित पापोंमें प्रवृत्ति होने लगी, उसको हटानेके लिये तात्कालिक महापुरुषोंने पापप्रवृत्तिके त्यागरूप व्यवस्था बनाई, उसीको धर्मका रूप दिया गया।

सुख और शान्तिके सहायक नियम या धार्मिक नियम वैसे-वैसे ही बढ़ते गये, जैसे-जैसे उनके प्रतिबन्धक निमित्तोंका प्रादुर्भाव होता गया। इसके अतिरिक्त विविध लोगोंकी विवेकबुद्धिने भी काम किया, जिससे देश-कालके अनुसार नानाप्रकारके धार्मिक नियम बने, और उनकी उपादेयताके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका महत्त्व दर्शाया गया। तात्पर्य यह कि धीरे-धीरे धर्मोंमें विविधता पैदा हुई। इस धर्मविविधताके कारण भिन्न-भिन्न समष्टियोंकी रचना हुई। उन समष्टियोंमें कालक्रमसे अपनेको सत्यमार्गानुगामी और दूसरोंको असत्य-मार्गानुगामी ठहरानेकी कुत्सित ऐकान्तिक भावनायें जागृत हुईं। यहींसे दर्शनशास्त्रका कलेवर पुष्ट हुआ, जिससे बल पर लोगोंने स्वपक्षपुष्टि और परपक्ष-खण्डनमें कालयापन करना प्रारम्भ किया, जिससे विरोध-रूपी अन्धकारसे लोक व्याप्त हो गया। उसका अन्त करनेके लिये स्याद्वादरूपी सूर्यका उदय हुआ।

स्याद्वादकी जैनधर्माङ्गता

स्याद्वादतत्त्वका विकास उन महापुरुषोंकी तर्कणाशक्तिका फल है, जिन्होंने समय और परिस्थितिके अनुसार निर्मित धार्मिक नियमोंके परस्पर समन्वय करनेकी कोशिश की थी, तथा इसमें उनको आश्चर्यजनक सफलता भी मिली थी। पर लोकहितभावनामें स्वार्थभावनाका समावेश हो जानेसे उसकी धारा एक देशमें ही रह गई। वे महापुरुष जैन थे, इसलिये कालान्तरमें स्याद्वाद जैनधर्मका मूल बन गया, दूसरोंको स्याद्वादके नामसे घृणा हो गई।

जैनाचारमें स्याद्वाद

इसके विषयमें अमृतचन्द्र सूरिने हिंसाके विषयमें स्याद्वादका जो भावपूर्ण चित्रण किया है वही पर्याप्त होगा। वे कहते हैं—

"कोई मनुष्य हिंसा नहीं करके अर्थात् प्राणियोंको नहीं मार करके भी हिंसाके फलको पाता है, जबकि दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसाके फलको नहीं पाता है। एक मनुष्यको अल्प हिंसा महान् फल देती है जबकि दूसरे मनुष्यको अधिक हिंसा भी अल्प फल देती है। समान हिंसा करनेवाले दो पुरुषोंमेंसे एक को वह हिंसा तीव्र फल देती है और दूसरेको वही हिंसा मंद फल देती है। किसीको हिंसा करनेके पहले ही हिंसाका फल मिल जाता है और किसीको हिंसा करनेके बाद हिंसाका फल मिलता है। किसीने हिंसा करना प्रारम्भ किया, लेकिन बादमें बन्द कर दिया तो भी हिंसा करनेके भाव हो जानेसे हिंसाका फल मिलता है। किसी समय हिंसा एक करता है, उसका फल अनेक भोगते हैं। किसी समय हिंसक अनेक होते हैं और फल एकको भोगना पड़ता है। किसीकी हिंसा हिंसाका अल्पफल देती है किसीकी वही हिंसा अहिंसाका अधिक फल देती है। किसीकी अहिंसा हिंसाका फल देती है, किसीकी हिंसा अहिंसाके फलको देती है।

इस प्रकार विविध प्रकारके भङ्गोंसे दुस्तर हिंसा आदिके स्वरूपको समझानेके लिये स्याद्वादतत्त्वके वेत्ता ही समर्थ होते हैं।"[1]

राजनैतिक दण्डव्यवस्था भी इसी आधारपर बनी हुई है, जिससे हिंसा आदिके विषयमें स्याद्वादका स्वरूप अच्छी तरह समझमें आ सकता है।

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ५१ से ५८ तक।

जैन संस्कृतिमें स्याद्वादका व्यावहारिक उपयोग उसकी सफलता

समय-समयपर जै. संस्कृतिमे बहुतसे परिवर्तन हुए होंगे। परन्तु भगवान् महावोरसे लेकर आज तक जितने परिवर्तन हुए वे ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं।

जैनियोंके बाह्याचार पर भगवान् महावीरके बादसे विक्रमकी १५वी, १६वीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर अधिक प्रभाव पड़ता गया। इसका कारण यह है कि यद्यपि भगवान महावीर और महात्मा बुद्धने वैदिक क्रियाकाण्डका अन्त कर दिया गया था, पर इस तरहकी भावनाएँ कुछ लोगोंके हृदयमें बनी रही थीं, जिनके आधारपर ब्राह्मण संस्कृतिका उत्थान हुआ। इधर जैनधर्म और बौद्धधर्मकी बागडोरें ढीली पड़ी, जिससे ब्राह्मण संस्कृतिको बढ़नेका अच्छा मौका मिला और उसका धीरे-धीरे व्यापक रूप बन गया। यही कारण है कि जैनधर्म उससे अछूता न रह सका।

मेरा तो विश्वास है और सिद्ध भी किया जा सकता है कि बौद्धधर्मके तत्कालीन महापुरुषोंने बौद्ध-धर्मके बाह्यरूपमें रंचमात्र परिवर्तन नही किया, इसीसे वह भारतसे लुप्त हो गया। किन्तु जैनी स्याद्वादके महत्त्वको समझते थे, उनको देश-कालकी परिस्थितिका अच्छा अनुभव था, इसलिए उन्होंने समयानुसार जैन-धर्मकी सत्ता कायम रखनेके लिये ब्राह्मण संस्कृतिको अपनाया।

उस समय ब्राह्मण संस्कृतिका इतना अधिक प्रभाव था कि सभी लोगोंका झुकाव उस तरफ हो गया था। इसलिये जैनाचार्योंको लिखना पड़ा कि "जिस लोकाचारसे सम्यक्त्वकी हानि या व्रत दूषित नही होते हैं वह लोकाचार जैनधर्म बाह्य नही कहा जा सकता।" इस प्रकार उस समय जो जैनधर्मसे विमुख हो रहे थे उनकी स्थिरता करते हुए जैनाचार्योंने जैनधर्मकी सत्ता कायम रखी थी जिसका फल यह है कि आज भी भारतवर्षमें जैनी लोग विद्यमान हैं, अन्यथा बौद्धोंकी तरह जैनी भी आज दूसरे धर्मका बखतर पहिने दिखाई देते।

आधुनिक भूलें

ऊपरके कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व पुरुषोंने वस्तुव्यवस्थामें अपना सिद्धान्त व अपना आचार व्यवहार स्याद्वादकी सहायतासे निश्चित किया था।

तात्पर्य यह कि किसी भी सिद्धान्तका साधक तर्क है—स्याद्वाद सहायक और विश्वास उसका आधार है। इन तीनोंका आश्रय लेकरके जिन लोगोंने वस्तुव्यवस्थाके सिद्धान्त स्थिर किये थे या जो आज करते हैं उनका ऐसा करना असंगत नही कहा जायगा। बल्कि जिसका हृदय तर्क, स्याद्वाद और विश्वाससे व्याप्त होगा उसके द्वारा की गई वस्तुव्यवस्था आदरणीय समझी जायगी। जैन सिद्धान्तकी सत्यता या उपादेयता इसलिये नही है कि वह सर्वज्ञभाषित है, किन्तु इसलिये है कि उसका मूल तर्क, स्याद्वाद और विश्वास है। सर्वज्ञ तो सिद्धान्तकी अविरोधतासे सिद्ध किया जाता है। हेतुका साध्य उसी हेतुका हेतु नही माना जाता।

इसलिये जो लोग पूर्व पुरुषोंके किसी भी सिद्धान्तको तर्क, स्याद्वाद और विश्वासके बिना मिथ्या सिद्ध करनेकी कोशिश करते हैं वे स्वयं भूल करते हैं और जो किसी सिद्धान्तकी तर्क, स्याद्वाद और विश्वासके आधार पर परीक्षा करना पाप समझते हैं वे भी भूल करते हैं। दोनों ही स्याद्वाद के रहस्यसे अनभिज्ञ हैं।

इसी प्रकार जो आचरण या व्यवहार आज संक्लेश-वर्धक, लोकानुपयोगी, लोकनिन्दनीय हों वे भले ही किसी समय शान्तिवर्धक, लोकोपयोगी व लोकप्रशंसित रहे हों, आज उनको मिथ्या या अनुपादेय समझा

जायगा। इससे विपरीत जो आचार या व्यवहार आज शान्तिवर्धक, लोकोपयोगी व लोकप्रशंसित हों वे भले ही किसी समय संक्लेशवर्धक, लोकानुपयोगी व लोकनिन्दनीय रहे हों, आज उनको सत्य या उपादेय ही समझा जायगा। इसलिये जो लोग परिस्थितिका अध्ययन किये बिना ब्राह्मण संस्कृतिके अपनानेमें तात्कालीन जैनाचार्यों की भूल बतलाते है वे स्वयं भूल करते है। और जो आज की परिस्थितिका अध्ययन किये बिना उस जमाने-की संस्कृतिको आजकी संस्कृति बनाना चाहते हैं वे भी भूल करते है—दोनों ही स्याद्वादके रहस्यसे अनभिज्ञ है। इतना ही नही, स्याद्वादके रहस्यको हम लोग इतना भूल गये कि "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की लोकोक्ति जैनियोंके अन्दर ही अन्दर चरितार्थ हो रही है। प्रत्येक जैनी इच्छानुकूल अपनी समझके अनुसार अपने आचार व व्यवहारको ही धर्म समझने लगा है। उसके सामने दूसरोंके उपदेशोंका कुछ महत्त्व नही, जबतक कि वे उसकी इच्छाके अनुकूल न हों।

स्याद्वादके उपयोगकी कमीका फल

जहाँ जैनधर्ममें स्याद्वादका अधिक-से-अधिक उपयोग किया गया है वहीं उसके उपयोगमें कमी भी रह गई है। स्याद्वादका उद्देश्य संपूर्ण धर्मोंका समन्वय करके मनुष्यसमाजमें शान्ति स्थापित करना था, लेकिन दूसरी धार्मिक समष्टियाँ स्वार्थवासनाकी पूर्तिके लिये स्वधर्मप्रेमी होती हुई भी परमधर्मासहिष्णु व हटग्राही बन गई थी, इसलिये उस उद्देश्यकी पूर्तिमे तो स्याद्वादी असफल ही रहे। इसके अतिरिक्त जैनियोंमें भी स्वार्थवासना आने लगी थी, जिससे जैनी भी स्वधर्मप्रियताके साथ-साथ परधर्मासहिष्णुता व हटग्राहिताके शिकार हो गये, जिसमे धीरे-धीरे स्याद्वादी जैनी भी सम्प्रदायवादी बने। स्याद्वादका महत्त्व एक साम्प्रदायिक पुष्टिसे अधिक न रह सका। दूसरोंकी दृष्टिमे जैनधर्म एक सम्प्रदाय समझा जाने लगा। इधर जैनियोंने भी पक्षपुष्टिमे अपनी शक्तिका उपयोग करना प्रारम्भ किया, जिससे जैनाचार्य जैसा कि ऊपर स्याद्वादका उपयोग बतला आये है उनके अनुसार सम्प्रदाय रूपसे ही जैनधर्मको कायम रख सके। उसका परिणाम यह हुआ कि आज जब साम्प्रदायिकता मनुष्य-समाजका रक्त-शोषण कर रही है उसमे जैनी भी कम भाग नही ले रहे हैं। तात्पर्य यह है कि स्याद्वादी होकरके जैनियोंने स्याद्वादका क्रियात्मक उपयोग करना नहीं सीखा, जिससे स्याद्वादके द्वारा मनुष्य-समाजका जो कुछ हित हो सकता था वह न तो हुआ और न हो रहा है।

हमारा कर्तव्य

इस भयानक किन्तु विचारशील युगमें हमारा कर्तव्य है कि अपने जीवनको लोकोपयोगी बनावें। यदि हम अपने जीवनको लोकोपयोगी नही बना सकते तो विश्वास रखना चाहिये कि हम परलोकके लिये भी कुछ नही कर रहे है। स्याद्वादसिद्धान्तके अधिकारी रहने मात्रसे हम स्याद्वादका असर दूसरों पर नहीं डाल सकते। कार्योंका ही दूसरोंपर असर हुआ करता है। हम अपने लोकोपयोगी कर्तव्यको स्याद्वादके द्वारा निर्धारित कर उसीके लिये जीवन समर्पित कर दें; उसके द्वारा हमारे जीवनको शान्ति ही न होगी बल्कि ऊपरसे धर्म-धर्म चिल्लानेकी भारतकी कुप्रवृत्ति नष्ट होगी एवं जैनधर्मकी लोकोपयोगिता मनुष्य-समाजमें क्रियात्मक चमत्कार दिखला देगी।

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका विश्लेषण

विश्व की रचना

जैनदर्शनमें विश्वकी रचना जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे छह प्रकारके पदार्थोंके आधारपर स्वीकृत की गयी है। इनमेसे जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है, पुद्गलोंकी संख्या भी अनन्तानन्त है, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है तथा काल असंख्यात हैं।

प्रत्येक पदार्थका स्वभाव

धर्म, अधर्म, आकाश और सभी कालोमे अपनी-अपनी स्वत सिद्ध स्वभावभूत भाववतीशक्ति विद्यमान है व सभी जीवो और पुद्गलोंमें अपनी-अपनी स्वत.सिद्ध स्वभावभूत भाववतीशक्तिके साथ-साथ अपनी-अपनी स्वत:सिद्ध स्वभावभूत क्रियावतीशक्ति भी विद्यमान है। क्रियावतीशक्तिकी विद्यमानताके कारण ही जीव और पुद्गल दोनों प्रकारके पदार्थ सक्रिय कहलाते है और क्रियावतीशक्तिकी अविद्यमानताके कारण ही धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके पदार्थ निष्क्रिय कहलाते है।[1]

प्रत्येक पदार्थका कार्य

प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी भाववती शक्तिके आधारपर सतत अपना-अपना कार्य कर रहा है। अर्थात् आकाश अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर स्व और अन्य सभी पदार्थोंको सतत अपने पेटमे समाये हुए है, सभी काल अपनी-अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर स्व और अन्य सभी पदार्थोंको सतत एक क्षणवर्ती तथा अनेक क्षणवर्ती पर्यायोंके रूपमे विभाजित कर रहे हैं। धर्म अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर जीवों और पुद्गलोंकी यथावसर होनेवाली हलन-चलनरूप क्रियामें सतत सहायक होता रहता है और अधर्म अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर जीवों और पुद्गलोंकी उक्त क्रियाके यथावसर होनेवाले स्थगनमे सतत सहायक होता रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव अपनी-अपनी यथायोग्य रूपमे विकसित भाववतीशक्तिके आधारपर स्व और अन्य सभी पदार्थोंका सतत यथायोग्य रूपमे सामान्य अवलोकन (दर्शन) पूर्वक विशेष अवलोकन (ज्ञान) करता रहता है और इसी प्रकार प्रत्येक पुद्गल अपनी-अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर सतत रससे रसान्तररूप, गन्धसे गन्धान्तररूप, स्पर्शसे स्पर्शान्तररूप और वर्णसे वर्णान्तररूप परिणमन किया करता है। इसके अतिरिक्त जीव और पुद्गल अपनी-अपनी क्रियावतीशक्तिके आधारपर यथावसर क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप क्रिया सतत करते रहते है और अपनी इसी क्रियावतीशक्तिके आधारपर संसारी जीव यथावसर पौद्गलिक कर्मों तथा नोकर्मोंके साथ व पुद्गल यथावसर संसारी जीवों और अन्य पुद्गलोंके साथ सतत मिलते व बिछुडते रहते हैं। मुक्त जीवोका जो ऊर्ध्वगमन होता है वह भी उनको अपनी इसी क्रियावतीशक्तिके आधारपर होता है।[2] किन्तु वे जो लोकके अग्रभागमें स्थित होकर रह जाते है उसका कारण आगे धर्मास्तिकायका अभाव है।[3]

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक २५, २६, २७।

२. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। —तत्त्वार्थसूत्र १०-५।

३. प्रश्न—"आह यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते ? (सर्वार्थसिद्धि), समाधान—धर्मास्तिकायाभावात्। —तत्त्वार्थसूत्र। "जीवाण पौग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी। धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति। —नियमसार, १८३।

जीवकी भाववती शक्तिमें विशेषता

प्रत्येक जीवकी भाववतीशक्ति अनादिकालसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तराय नामके पौद्गलिक कर्मोंसे प्रभावित होकर रहती आयी है, परन्तु अनादिकालसे ही प्रत्येक जीवमें उक्त तीनों कर्मोंका नियमसे यथायोग्यरूपमें क्षयोपशम रहनेके कारण वह भाववती शक्ति भी यथायोग्यरूपमें विकासको प्राप्त होकर रहती आयी है। प्रत्येक जीवकी भाववतीशक्तिका यह विकास ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके आधारपर ज्ञानशक्तिके रूपमें दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमके आधारपर दर्शनशक्तिके रूपमें और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमके आधारपर वीर्यशक्तिके रूपमें रहता आया है।

यहाँ इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि जिन जीवोंमें समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंका पूर्ण क्षय हो चुका है उनमें उनकी उस भाववतीशक्तिका ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और वीर्यशक्तिके रूपमें पूर्ण विकास हो चुका है व जिन जीवोंमें उक्त समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंका आगे जब पूर्ण क्षय हो जायगा तब उनमें भी उनकी उस भाववतीशक्तिका ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और वीर्यशक्तिके रूपमे पूर्ण विकास हो जायगा।

यद्यपि जीवकी भाववतीशक्तिपर दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मोंका भी अनादिकालसे प्रभाव पड रहा है और अनादिकालसे इन कर्मोंका भी क्षयोपशम रहनेके कारण प्रत्येक जीवमे उस भाववतीशक्तिका दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति और उपभोगशक्तिके रूपमें यथायोग्य विकास भी अनादिकालसे रहता आया है, परन्तु इन दानादि चारों शक्तियोंका सम्बन्ध जीवकी क्रियावतीशक्तिके साथ होनेके कारण यहाँ इनको उपेक्षित किया जा रहा है।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका स्वरूप

जीवकी विकासको प्राप्त ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और वीर्यशक्ति—इन तीनों शक्तियोंमेंसे ज्ञानशक्तिका कार्य जीवको स्व और अन्यपदार्थोंका विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान करानेका है, दर्शनशक्तिका कार्य जीवको स्व और अन्यपदार्थोंका सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन करानेका है और वीर्यशक्तिका कार्य उक्त ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्तिके कार्यमे जीवको यथायोग्यरूपमें सक्षम बनानेका है। इस तरह जीवकी विकसित ज्ञानशक्तिका जो स्व और अन्य पदार्थोंका विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान होने रूप कार्य है उसका नाम ज्ञानोपयोग है और उसकी विकसित दर्शनशक्तिका जो स्व और अन्यपदार्थोंका सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन होनेरूप कार्य है उसका नाम दर्शनोपयोग है।

विशेष अवलोकन और सामान्य अवलोकनका अर्थ

यहाँपर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके स्वरूप-निर्देशनमें जो यह बतलाया गया है कि जीवकी विकसित ज्ञानशक्तिका स्व और अन्यपदार्थोंका विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान होने रूप कार्य तो ज्ञानोपयोग है व उसकी विकसित दर्शनशक्तिका स्व और अन्यपदार्थोंका सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन होने रूप कार्य दर्शनोपयोग है। इसमे विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञानका अर्थ जीव द्वारा दीपककी तरह स्व और अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित किया जाना है और सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शनका अर्थ जीवमें दर्पणकी तरह स्व और अन्यपदार्थोंका प्रतिबिम्बित होना है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि जिस प्रकार दीपकका स्वभाव स्व और अन्यपदार्थोंको प्रतिभासित करनेका है उसी प्रकार जीवका स्वभाव भी स्व और अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित करनेका है तथा जिस प्रकार दर्पणका स्वभाव स्व और अन्यपदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करनेका है उसी प्रकार जीवका स्वभाव भी स्व और अन्यपदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करनेका है।

यहाँ पर प्रतिबिम्बित शब्दका अर्थ स्वकी अपेक्षा दर्पण अथवा जीवकी तदात्मक स्थितिके रूपमें और अन्यपदार्थोंकी अपेक्षा दर्पण अथवा जीवकी उन अन्यपदार्थोंके निमित्तसे होनेवाली तदनुरूप परिणतिके रूपमें लेना चाहिये।

जीवके स्वभावको समझनेके लिये यहाँ पर जो दीपक और दर्पण दोनोंको उदाहरणके रूपमे प्रस्तुत किया गया है, इसका कारण यह है कि यद्यपि दीपकका स्वभाव अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करनेका है, परन्तु उन अन्य पदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करनेका स्वभाव नही है। इसी तरह यद्यपि दर्पणका स्वभाव अन्य पदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करनेका है, परन्तु उन अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करनेका उसका स्वभाव नही है जब कि जीवमे दीपक और दर्पणकी अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि उसका स्वभाव दीपककी तरह अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित अर्थात् ज्ञान करनेका भी है और दर्पणकी तरह अन्य पदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करनेका भी है। आगममे भी इसीलिये जीवके स्वभावको समझनेके लिये दीपक और दर्पण दोनोको उदाहरणके रूपमे प्रस्तुत किया गया है।[1]

दीपक और जीव द्वारा अन्य पदार्थोंके प्रतिभासित होनेका आधार

देखनेमे आता है कि दीपक अन्य पदार्थोंके साथ जब तक अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर लेता है तब तक वह उनको प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करनेमे असमर्थ ही रहा करता है। इसी प्रकार जीवके सम्बन्धमे भी यह स्वीकार करना आवश्यक है कि वह भी जब तक अन्य पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर लेगा तब तक वह उनको प्रतिभासित अर्थात् ज्ञात करनेमें असमर्थ ही रहेगा। परन्तु यह निर्विवाद बात है कि जिस प्रकार दीपक अन्य पदार्थोंके पास पहुँच कर उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है उस प्रकार जीव अन्य पदार्थोंके पास पहुँच कर उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर पाता है। अत जैनदर्शनमें यह स्वीकार किया गया है कि जीवमें दर्पणकी तरह जब अन्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है तभी वह उनको दीपककी तरह प्रतिभासित अर्थात् ज्ञात करता है।

इस विवेचनके आधारपर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके सम्बन्धमे मैं यह कहना चाहता हूँ कि जीवमें दर्पणकी तरह पदार्थका प्रतिबिम्बित हो जाना ही दर्शनोपयोग है और इस प्रकारके दर्शनोपयोगपूर्वक जीवको दीपककी तरह पदार्थका प्रतिभासित अर्थात् ज्ञान हो जाना ही ज्ञानोपयोग है। दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोगमें कारण होता है—यह बात आचार्य नेमिचन्द्रने द्रव्यसंग्रहमे "दंसणपुव्वं णाणं" गाथांश द्वारा स्पष्ट कर दी है।

उपर्युक्त कथनका समर्थन

उपर्युक्त कथनके समर्थनमे यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शनमे वर्णित दर्शनोपयोग और बौद्धदर्शन में वर्णित प्रत्यक्षमें समानता पायी जाती है। इतना अवश्य है कि बौद्धदर्शनमें जहाँ उसके द्वारा माने गये प्रत्यक्षको प्रमाण माना गया है वहां जैनदर्शनमे उसके द्वारा माने गये दर्शनोपयोगको प्रमाणता और अप्रमाणताके दायरेसे परे रखा गया है। इसका कारण यह है कि जैनदर्शनमें स्वपरव्यवसायीको प्रमाण माना गया है और जो स्वव्यवसायी होते हुए भी परव्यवसायी नही होता उसे अप्रमाण माना गया है। ये दोनों प्रकार

१. जीवके स्वभावको समझनेके लिये परीक्षामुखमे "प्रदीपवत् ॥१-१२॥" सूत्र द्वारा दीपकको व पुरुषार्थसिद्धयुपायमें "तज्जयति परं ज्योति" इत्यादि पद्य द्वारा तथा रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें "नमः श्रीवर्द्धमानाय" इत्यादि पद्य द्वारा दर्पणको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया गया है।

की अवस्थायें ज्ञानोपयोगकी ही हुआ करती है, अत ज्ञानोपयोग तो प्रमाण तथा अप्रमाण दोनों रूप होता है, किन्तु दर्शनोपयोगमें स्व और पर दोनो प्रकारकी व्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव जैनदर्शनमे स्वीकार किया गया है। अत उसे न तो प्रमाणरूप ही कह सकते है ओर न अप्रमाणरूप ही कह सकते है। इतना अवश्य है कि ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिमें अनिवार्य कारणताके आधारपर दर्शनोपयोगकी सत्ता और उपयोगिताको अवश्य ही जैनदर्शनमे स्वीकृत किया गया है।

दर्शनोपयोगकी यह स्थिति, जीवमे पदार्थके प्रतिबिम्बित रूपको दर्शनोपयोग माननेसे ही बन सकती है। अत. जीवमें पदार्थके प्रतिबिम्बित होनेको ही दर्शनोपयोग स्वीकृत करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जब सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ ज्ञेय पदार्थका जीवके अन्दर प्रतिबिम्बित होना स्वीकृत किया जाता है तभी उसकी स्थिति जैनदर्शनके अनुसार प्रमाणता और अप्रमाणतासे परे सिद्ध हो सकती है व बौद्धदर्शनके अनुसार सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसायरूप दोषोंसे रहित हो सकती है।

इसका कारण यह है कि जैनदर्शनमें एक तो स्वपरव्यवसायात्मकताको प्रमाणताका और स्वव्यवसायात्मकताके रहते हुए भी परव्यवसायात्मकताके अभावको अप्रमाणताका चिन्ह मानकर दर्शनोपयोगमें स्वव्यवसायात्मकता और परव्यवसायात्मकता दोनोका अभाव स्वीकार किया गया है। दूसरे, जीवमे पदार्थका प्रतिबिम्ब पडे बिना ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिकी असंभावनाको स्वीकार किया गया है, तीसरे दर्शनोपयोगका ऐसा कोई अर्थ नही स्वीकृत किया गया है जो दर्शनोपयोगके उपर्युक्त स्वरूपके विरुद्ध हो और चौथे यह बात भी है कि ज्ञानोपयोग जैसा विद्यमान और अविद्यमान दोनों तरहके पदार्थोके विषयमे होता है वैसा दर्शनोपयोग विद्यमान और अविद्यमान दोनो प्रकारके पदार्थोंके विषयमें न होकर केवल विद्यमान पदार्थोंके विषयमे ही होता है, इस बातको भी जैनदर्शनमें स्वीकार किया गया है। इतना ही नही, इसी आधारपर बौद्धदर्शनमे प्रत्यक्षकी स्थिति संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप दोषोसे रहित स्वीकृत की गयी है। इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जैनदर्शनके दर्शनोपयोग और बौद्धदर्शनके प्रत्यक्षका अर्थ जीवमें पदार्थका प्रतिबिम्बित होना ही है और इसके आधारपर जीवको जो पदार्थका प्रतिभास होता है वही ज्ञानोपयोग है।

यहा इतनी बात और समझ लेना चाहिये कि यत सर्वज्ञके दर्शनावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे उसमें संपूर्ण पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायोंके साथ प्रतिक्षण स्वभावत प्रतिबिम्बित होते रहते है अत उसको ज्ञानावरणकर्मके सर्वथा क्षय हो जानेके आधारपर वे सम्पूर्ण पदार्थ अपनी उन त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंके साथ प्रतिक्षण स्वभावत प्रतिभासित होते रहते है और यत अल्पज्ञमे ऐसे पदार्थोंका प्रतिबिम्बित होना निमित्ताधीन है अर्थात् प्रतिनियत पदार्थका प्रतिनियत इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत आत्मप्रदेशोमें जब प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उस-उस इन्द्रिय द्वारा उस-उस पदार्थका ज्ञान जीवको हुआ करता है। जैनदर्शनमें उस-उस इन्द्रिय द्वारा आत्मप्रदेशोमे पडनेवाले पदार्थप्रतिबिम्बको तो उस-उस इन्द्रियके दर्शन नामसे पुकारा गया है और इसके आधारपर होनेवाले पदार्थज्ञानको उस-उस इन्द्रियके मतिज्ञान नामसे पुकारा गया है। अर्थात् जैनदर्शनमें चक्षुसे आत्मामे पडनेवाले पदार्थप्रतिबिम्बको चक्षुर्दर्शन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, कर्ण और मनसे आत्मामे पडनेवाले पदार्थ प्रतिबिम्बको अचक्षुर्दर्शन कहा गया है तथा उस-उस दर्शनके आधारपर उस-उस इन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञानको देखने, छूने, चखने, सूघने, सुनने और अनुभव करनेके रूपमें उस-उस इन्द्रियका मतिज्ञान कहा गया है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञानमें पदार्थदर्शन

साक्षात् कारण होता है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानरूप मतिज्ञानमे तथा श्रुतज्ञानमें पदार्थदर्शन परंपरया कारण होता है। इसका आधार यह है कि दर्शन और अवग्रह, ईहा, अवाय अथवा धारणारूप मतिज्ञानोंके मध्य कोई व्यवधान नही है जबकि दर्शन और स्मृतिके मध्य धारणाज्ञानका, दर्शन और प्रत्यभिज्ञानके मध्य स्मृतिका, दर्शन और तर्कके मध्य प्रत्यभिज्ञानका, दर्शन और अनुमानके मध्य तर्कका और दर्शन और श्रुतज्ञानके मध्य अनुमानज्ञानका व्यवधान रहा करता है। यहां श्रुतसे शब्दजन्य श्रुत लिया गया है—ऐसा जानना चाहिये।

जिन जीवोंको अवधिज्ञान होता है उनके उसकी उत्पत्तिमे भी दर्शन कारण होता है, जिसे अवधिदर्शन कहते हैं और केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें जो दर्शन कारण होता है उसे केवलदर्शन कहा जाता है। यद्यपि मन.-पर्ययज्ञान भी दर्शनपूर्वक ही होता है परन्तु उस दर्शनको कौनसा दर्शन कहा जाय ? इसका उल्लेख मुझे आगममें देखनेको नहीं मिला है। फिर भी मेरा अभिमत है कि मन पर्ययज्ञान मन स्थित आत्मप्रदेशोंमे मनः-पर्ययज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होता है और वह ईहाज्ञानके पश्चात् होता है अत हो सकता है कि उस दर्शनको मानस दर्शनके रूपमे अचक्षुदर्शनमें अन्तर्भूतकर दिया गया हो, विद्वान पाठकोंको इसपर विचार करना चाहिये।

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके विविध नाम और उनका आधार

(१) यतः दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्मामें पदार्थोका प्रतिविम्बित होना ही है अतएव उसे सामान्य अवलोकन या सामान्यग्रहण नामोंसे पुकारा जाता है और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको पदार्थोंका प्रतिभासित होना ही है अत उसे विशेष अवलोकन या विशेषग्रहण नामोसे पुकारा जाता है। यहाँपर वस्तुके सामान्य अंशका प्रतिभास होना दर्शन और विशेष अंशका प्रतिभास होना ज्ञान है—ऐसा अर्थ सामान्य अवलोकन या सामान्य ग्रहणका और विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहणका नही करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकारके दर्शन या दर्शनोपयोगमें पदार्थका अवलम्बन होनेसे वह पदार्थावलोकन या पदार्थ ग्रहणरूप तो है फिर भी वह द्रष्टाको अपना संवेदन करानेमें असमर्थ है और जो अपना संवेदन नहीं करा सकता है वह परका संवेदन कैसे करा सकता है ? अत दर्शन या दर्शनोपयोगको सामान्य अवलोकन या सामान्य ग्रहण नामोंसे पुकारा जाता है। चूंकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमे स्वपरसंवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमें परसंवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अत. उन्हें विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण नामोंसे पुकारा जाता है।

(२) दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ जब आत्मामे पदार्थका प्रतिविम्बित होना ही है तभी उसे आगममें निराकार शब्दसे पुकारा गया है और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ जब आत्माको पदार्थका प्रतिभासित होना ही है तभी उसे साकार शब्दसे पुकारा जाता है।

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकारके दर्शन या दर्शनोपयोगमें पदार्थका अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनों ही प्रकारके आकारोंका अभाव पाया जाता है अतः उसे निराकार शब्दसे पुकारते हैं। चूंकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमे स्वपरसंवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानमे पर-संवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अतः उन्हें साकार शब्दसे पुकारते हैं।

(३) दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ जब आत्मामें पदार्थका प्रतिबिम्बित होना ही है तभी उसे आगममें

निर्विकल्पक शब्दसे पुकारते हैं और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ जब आत्माको पदार्थका प्रतिभासित होना ही है तभी उसे सविकल्पक शब्दसे पुकारते हैं।

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकारके दर्शन या दर्शनोपयोगमें पदार्थका अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनों ही प्रकारके विकल्पोंका अभाव पाया जाता है अत उसे निर्विकल्पक शब्दसे पुकारते हैं। चूंकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमें स्वपरसंवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमे परसंवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अतः उन्हें सविकल्पक शब्दसे पुकारते हैं। अर्थात् विद्यमान घड़ेको विषय करनेवाले प्रमाणज्ञानमें "मैं घड़ेको जानता हूँ" ऐसा विकल्प और "यह घड़ा है" ऐसा विकल्प ज्ञाताको होता है तथा अप्रमाणज्ञानमें भी सीपमें "यह सीप है या चाँदी है" या "यह चांदी है" अथवा "यह कुछ है" ऐसा विकल्प ज्ञाताको होता है। परन्तु उक्त प्रकारके दर्शनमे उक्त प्रकार या अन्य प्रकारका कोई विकल्प संभव नही है।

(४) इसी प्रकार दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ जब आत्मामे पदार्थका प्रतिबिम्बित होना ही है तभी उसे अव्यवसायात्मक शब्दसे पुकारा गया है और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ जब आत्माको पदार्थका प्रतिभासित हो जाना है तभी उसे व्यवसायात्मक शब्दसे पुकारा जाता है।

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त दर्शन या दर्शनोपयोगमें पदार्थका अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनो ही प्रकारकी व्यवसायात्मकताका अभाव पाया जाता है अत उसे अव्यवसायात्मक शब्दसे पुकारते हैं। चूंकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान अथवा ज्ञानोपयोगमें स्वपरसंवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमें परसंवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अत उन्हें व्यवसायात्मक शब्दसे पुकारा जाता है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि आगममें अप्रमाणज्ञानको जो अव्यवसायी कहा गया है वह इसलिये कहा गया है कि विपर्ययज्ञानमे जिस पदार्थका दर्शन होता है उससे भिन्न पदार्थका ही सादृश्यवशात् बोध होता है, संशयज्ञानमे जिस पदार्थका दर्शन होता है उसका तथा उसके साथ ही उससे भिन्न पदार्थका भी सादृश्यवशात् धुलमिल बोध होता है और अनध्यवसायज्ञानमे तो पदार्थका दर्शन होते हुए भी अनिर्णीत बोध होना स्पष्ट है।

दर्शनोपयोगकी उपयोगात्मकता

आगममें दर्शन या दर्शनोपयोग और ज्ञान या ज्ञानोपयोग दोनोको ही उपयोगात्मक माना गया है। इनमेंसे ज्ञान या ज्ञानोपयोगको पूर्वोक्त प्रकार विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण रूप होनेसे तथा साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक होनेसे उपयोगात्मक मानना तो निर्विवाद है, परन्तु दर्शन या दर्शनोपयोगको सामान्य अवलोकन या सामान्यग्रहणरूप होनेसे तथा निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक होनेसे उपयोगात्मक मानना अयुक्त जान पडता है। फिर भी उसे इसलिये उपयोगात्मक माना गया है कि एक इन्द्रियसे पदार्थका प्रतिबिम्ब आत्मामे पड़नेके अवसरपर अन्य इन्द्रियोंसे भी पदार्थका प्रतिबिम्ब आत्मामें पड़ता है और इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रियसे एक साथ नाना पदार्थोंका प्रतिबिम्ब भी आत्मामे एक साथ पडता है। इस तरह आत्मा नाना इन्द्रियोंसे नानापदार्थोंका प्रतिबिम्बि एक साथ पडने पर भी अथवा एक ही इन्द्रियसे नाना पदार्थों का प्रतिबिम्ब एक साथ पडनेपर भी उस समय उसी इन्द्रियसे और उसी पदार्थके आत्मामे पडनेवाले प्रतिबिम्बको दर्शन या दर्शनोपयोग कहना चाहिये, जो अपने प्रभावको अधिकताके कारण उस समय होनेवाले पदार्थज्ञानमें कारण होता है, क्योंकि नाना इन्द्रियोंसे नाना पदार्थोंके तथा एक ही इन्द्रियसे नाना पदार्थोंके

प्रतिबिम्ब आत्मामें एक साथ पड़नेपर भी अल्पज्ञ जीवोंको उस अवसरपर एक ही इन्द्रियसे एक ही पदार्थका बोध हुआ करता है। इस प्रकार आगममें पदार्थप्रतिबिम्बसामान्यको दर्शन या दर्शनोपयोग न मानकर पदार्थप्रतिबिम्बविशेषको ही दर्शन या दर्शनोपयोग स्वीकार किया गया है।

दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोगसे पृथक् है

यद्यपि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों ही उपयोगात्मक है फिर दर्शनोपयोगको ज्ञानोपयोगसे पृथक् ही जैनदर्शनमें स्थान दिया गया है। इसका एक कारण तो यह है कि जहा ज्ञानोपयोगको विशेष अवलोकन या विशेषग्रहणरूप तथा साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है वहां दर्शनोपयोगको सामान्य-अवलोकन या सामान्यग्रहणरूप तथा निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है। दूसरा कारण यह है कि पूर्वोक्त प्रकार दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिमे कारण होता है। तीसरा कारण यह है कि दर्शनोपयोग विद्यमान पदार्थका ही हुआ करता है जबकि ज्ञानोपयोग विद्यमान और सादृश्य-वशात् कदाचित् अविद्यमान पदार्थका भी हुआ करता है। चौथा कारण यह है कि दर्शन पदार्थप्रतिबिम्बरूप होता है जबकि ज्ञान पदार्थप्रतिभासरूप होता है। और पाचवा कारण यह है कि आगममे जीवकी भाववती-शक्तिके विकासके रूपमे दर्शन और ज्ञान दो पृथक् पृथक् शक्तिया स्वीकार की गयी है तथा इनको ढकने-वाले दर्शनावरण और ज्ञानावरण दो पृथक् पृथक् कर्म भी वहा स्वीकार किये गये हैं जिनके क्षयोपशम या क्षय से इनका पृथक् पृथक् विकास होता है। इन्ही विकसित दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्तिके पृथक् पृथक् सामान्य अवलोकन और विशेष अवलोकन करने रूप व्यापारोको ही क्रमश. दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग समझना चाहिये।

दोनों उपयोगोके क्रम और यौगपद्यपर विचार

यद्यपि आत्मामे पदार्थके प्रतिबिम्बित होनेका नाम दर्शनोपयोग है और वह तबतक विद्यमान रहता है जबतक जीवको पदार्थज्ञान होता रहता है, परन्तु दर्शनोपयोगकी पूर्वोक्त उपयोगात्मकताको लेकर यदि विचार किया जाय तो यही तत्त्व निष्पन्न होता है कि छद्मस्थ जीवोको दर्शनोपयोगके अनन्तर ही ज्ञानोपयोग होता है व सर्वज्ञको दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों साथ-साथ ही हुआ करते है। जैसा कि द्रव्यसंग्रहकी निम्नलिखित गाथासे स्पष्ट है—

"दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाण ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥"

अर्थ—छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवोंको दर्शनोपयोगपूर्वक अर्थात् दर्शनोपयोगके अनन्तर पश्चात् ज्ञानोपयोग हुआ करता है क्योंकि उनके ये दोनों उपयोग एकसाथ नही हुआ करते है लेकिन सर्वज्ञके ये दोनो उपयोग एक ही साथ हुआ करते हैं।

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगकी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) और सर्वज्ञकी अपेक्षासे क्रम और यौगपद्य रूप उपर्युक्त व्यवस्थाको स्वीकृत करनेका आधार यह है कि सर्वज्ञके ज्ञानमे सपूर्ण पदार्थ कालके प्रत्येक क्षणसे विभाजित अपनी-अपनी समस्त त्रैकालिक पर्यायोके साथ सतत् प्रतिभासित होते रहते है अर्थात् कालका ऐसा एक क्षण भी नही है जिसमे सम्पूर्ण पदार्थोंका अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी समस्त त्रैकालिक पर्यायोंके साथ प्रतिभास न होता हो, क्योंकि उसका (सर्वज्ञका) ज्ञान भी पूर्वोक्त प्रकारके दर्शनका अवलम्बन लेकर ही उत्पन्न हुआ करता है। यतः उसके दर्शन और ज्ञानमे सहभावीपना निश्चित हो जाता है। यत अल्पज्ञका ज्ञान विषयीकृत पदार्थकी क्षणवर्ती पर्यायको पकड़नेमे असमर्थ रहता है क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्यायोकी स्थूलरूपताको हो सतत एक पर्यायके रूपमें ग्रहण करता है अत उसके ज्ञानमें क्षणिक विभाजन नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञका

ज्ञान समयके भेदसे परिवर्तित होनेपर भी विषयके भेदसे कभी परिवर्तित नहीं होता है, क्योंकि उसका ज्ञान प्रथम क्षणमें पदार्थोंको जिस रूपमें जानता है उसी रूपमें द्वितीयादि क्षणोंमें भी जानता है। परन्तु अल्पज्ञका ज्ञान विषयभेदके आधारपर सतत परिवर्तित होता रहता है। अर्थात् अल्पज्ञको कभी किसी इन्द्रियद्वारा किसी रूपमें पदार्थज्ञान होता है और कभी किसी इन्द्रियद्वारा किसी रूपमे पदार्थज्ञान होता है। इसी प्रकार एक ही इन्द्रियसे कभी किसी रूपमें पदार्थज्ञान होता है और कभी किसी रूपमे पदार्थज्ञान होता है। पदार्थज्ञानकी यह स्थिति अल्पज्ञके दर्शनोपयोगमें परिवर्तन माननेके लिये बाध्य कर देती है। तीसरी बात, जैसी कि पूर्वमें स्पष्टकी गयी है, यह है कि आत्मामे पड़ने वाले पदार्थ प्रतिबिम्बसामान्यका नाम दर्शनोपयोग नहीं है किन्तु आत्मामें पड़ने वाले पदार्थप्रतिबिम्बविशेषका नाम ही दर्शनोपयोग है अर्थात् ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिके कारणभूत आत्मामें पड़नेवाले पदार्थप्रतिबिम्बका नाम ही दर्शनोपयोग है। इस प्रकार इन आधारोंसे अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे दोनोंकी उपयोगात्मकता और कार्यकारणभावके आधारपर दोनोंमें क्रम सिद्ध हो जाता है। अर्थात् विशेषग्रहणके अवसरपर सामान्यग्रहणकी स्थिति उपयोगात्मकताके आधारपर क्षीण हो जाती है और कार्यकारणभावके आधारपर जैसे कषायका पूर्णरूपेण उपशम अथवा क्षय दशवें गुणस्थानके अन्त समयमें मानकर उसके अनन्तर समयमे उपशान्तमोह नामक एकादश गुणस्थानकी अथवा क्षीणमोह नामक द्वादश गुणस्थानकी व्यवस्थाको आगममे स्वीकार किया गया है वैसे ही अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके क्रमको स्वीकार करना चाहिये तथा जैसे कषायके उपशम व क्षयके साथ आत्माकी उपशान्तमोहरूप अवस्थाके व क्षीणमोहरूप अवस्थाके सद्भावकी अपेक्षा क्षणभेद नही है वैसा ही क्षणभेद सद्भावकी अपेक्षा अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे नही है। अर्थात् ज्ञानोपयोगके साथ दर्शनोपयोगका यदि सद्भाव न स्वीकार किया जाय तो ज्ञानोपयोगका आधार समाप्त हो जानेसे ज्ञानोपयोगका ही अभाव हो जायगा।

दर्शनोपयोगका महत्त्व

यद्यपि पूर्वके विवेचनसे ज्ञानोपयोगके समान दर्शनोपयोगका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। फिर भी यहाँ अनेक प्रकारसे दर्शनोपयोगका महत्त्व स्पष्ट किया जा रहा है।

ज्ञान या ज्ञानोपयोगके अवस्थाओंके भेदके आधारपर आगममे पूर्वोक्त प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलके भेदसे बारह भेद बतलाये गये हैं और इन सबको प्रत्यक्ष और परोक्षके नामसे दो वर्गोंमे गर्भित कर दिया गया है।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष क्यों है? इस प्रश्नके समाधान स्वरूप आगममें जो कुछ प्रतिपादित है उसका सार यह है कि सब जीवोंमें पदार्थोंके जाननेकी जो शक्ति विद्यमान है उसके आधारपर ही प्रत्येक जीव पदार्थोंका बोध किया करता है, जिस बोधका फल प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा उपेक्षाके रूपमें जीवको प्राप्त होता है। पदार्थोंका बोध सामान्यतया मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। मतिज्ञानमें स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियो अथवा मनकी सहायता अपेक्षित रहा करती है। श्रुतज्ञान केवल मनकी सहायतासे ही उत्पन्न हुआ करता है तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताकी अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न हुआ करते हैं।

ज्ञानके उपर्युक्त बारह भेदोंमें अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन सबको मतिज्ञानमें अन्तर्भूत कर दिया गया है तथा शेष श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चार स्वतंत्र ज्ञान हैं। इनमेंसे अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क,

अनुमान और श्रुत ये पाँच ज्ञान सर्वथा परोक्ष हैं तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार ज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष हैं और कथंचित् परोक्ष हैं।

अब यहाँ ये प्रश्न उपस्थित होते हैं कि मतिज्ञानके भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान तथा श्रुतज्ञान ये सब सर्वथा परोक्ष क्यों हैं ? तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष क्यों हैं ? व इसी प्रकार मतिज्ञानके ही भेद अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष और कथंचित् परोक्ष क्यों हैं ?

इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि आगममें प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्दोंके दो-दो अर्थ स्वीकार किये गये हैं। अर्थात् एक प्रत्यक्ष तो वह ज्ञान है जो इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताकी अपेक्षा किये बिना ही होता है और दूसरा प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध होता है। इसी प्रकार एक परोक्ष तो वह ज्ञान है जो इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे होता है और दूसरा परोक्ष वह ज्ञान है जिसमें पदार्थका अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध होता है।

प्रत्यक्ष और परोक्षके उक्त लक्षणोंमेंसे पहला-पहला लक्षण तो करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक पद्धतिके आधारपर निश्चित किया गया है और दूसरा-दूसरा लक्षण द्रव्यानुयोगकी तत्त्वप्रतिपादक पद्धतिके आधारपर निश्चित किया गया है। पहला-पहला लक्षण तो ज्ञानोंकी स्वाधीनता व पराधीनता बतलाता है और दूसरा-दूसरा लक्षण ज्ञानोंके तथ्यात्मक स्वरूपका प्रतिपादन करता है।

इस विवेचनके आधारपर मैं यह कहना चाहता हूँ कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुत ये सभी ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके आधारपर पराधीन होनेके कारण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिकदृष्टिसे भी परोक्ष हैं व इनमें पदार्थका अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध होनेके कारण द्रव्यानुयोगकी तथ्यात्मकस्वरूप-प्रतिपादनदृष्टिसे भी परोक्ष हैं, अत सर्वथा परोक्ष है। इसी तरह अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होनेके आधारपर स्वाधीन होनेके कारण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिकदृष्टिसे भी प्रत्यक्ष है व इनमे पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध होनेके कारण द्रव्यानुयोगकी तथ्यात्मकस्वरूप-प्रतिपादनदृष्टिसे भी प्रत्यक्ष है, अत सर्वथा प्रत्यक्ष हैं। लेकिन अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके आधारपर पराधीन होनेके कारण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे जहाँ परोक्ष हैं वहाँ इनमें पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध होनेके कारण द्रव्यानुयोगकी तथ्यात्मकस्वरूप-प्रतिपादनदृष्टि से प्रत्यक्ष है, अत कथंचित् परोक्ष और कथंचित् प्रत्यक्ष हैं।

यहाँपर यदि यह प्रश्न किया जाय कि पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध क्या है ? और पदार्थ का अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध क्या है ? तो इसका समाधान यह है कि जिस बोधमे पदार्थदर्शन साक्षात् कारण होता है वह बोध पदार्थका स्पष्ट बोध होनेके आधारपर विशद (साक्षात्कार) रूप बोध कहलाता है और जिस बोधमे पदार्थदर्शन साक्षात् कारण न होकर परंपरया कारण होता है वह बोध पदार्थका अस्पष्ट बोध होनेके आधारपर अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध कहलाता है और यह बात पूर्वमे बतलायी जा चुकी है कि पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध ही प्रत्यक्ष है और पदार्थका अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध ही परोक्ष है। यत अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञानोंमें व अवधि, मन.पर्यय और केवलरूप ज्ञानोंमें पदार्थदर्शन साक्षात् कारण होता है, इसलिये इस दृष्टिसे ये सब ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाते हैं और यत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमानरूप मतिज्ञानोंमें व श्रुतज्ञानमें पदार्थदर्शन साक्षात् कारण नही होकर

परंपरया कारण होता है क्योंकि दर्शन और इन ज्ञानोंके मध्य अन्य ज्ञानोंका व्यवधान रहा करता है जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि दर्शन और स्मृतिके मध्य धारणाज्ञानका व्यवधान होता है क्योंकि स्मृति-ज्ञान धारणाज्ञानपूर्वक होता है, दर्शन और प्रत्यभिज्ञानके मध्य धारणाज्ञानके अनन्तर पश्चात् होनेवाले स्मृतिज्ञानका व्यवधान रहा करता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान स्मृतिज्ञान पूर्वक होता है, दर्शन और तर्क ज्ञानके मध्य स्मृतिज्ञानके अनन्तर पश्चात् होने वाले प्रत्यभिज्ञानका व्यवधान रहता है क्योंकि तर्कज्ञान प्रत्यभिज्ञान पूर्वक होता है, दर्शन और अनुमान ज्ञानके मध्य प्रत्यभिज्ञानके अनन्तर पश्चात् होने वाले तर्क ज्ञानका व्यवधान रहता है क्योंकि अनुमानज्ञान तर्कज्ञान पूर्वक होता है और दर्शन और श्रुतज्ञानके मध्य तर्क ज्ञानके अनन्तर पश्चात् होनेवाले अनुमान ज्ञानका व्यवधान रहता है क्योंकि श्रुतज्ञान अनुमान पूर्वक होता है, इसलिये ये स्मृति आदि ज्ञान इस दृष्टिसे परोक्ष कहलाते हैं।

इस विवेचनसे यह बात बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि एक तो पदार्थदर्शन पदार्थज्ञानमें अनि-वार्य कारण होता है और दूसरे पदार्थदर्शनको साक्षात् कारणता पदार्थ ज्ञानकी प्रत्यक्षताका और पदार्थदर्शनकी असाक्षात् कारणता अर्थात् परंपरया कारणता पदार्थ ज्ञानकी परोक्षताका आधार है, इसलिये दर्शनोपयोगका महत्त्व प्रस्थापित हो जाता है और तब इस प्रश्नका भी समाधान हो जाता है। कि एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा ज्ञान परोक्ष क्यों है ?

अब यहाँ पर एक बात और विचारणीय रह जाती है कि जिस प्रकार दर्शन और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान और श्रुतनामके ज्ञानोके मध्य पूर्वोक्त प्रकार यथासम्भव धारणा आदि ज्ञानोंका व्यवधान रहता है उसी प्रकार जब ईहाज्ञान अवग्रहपूर्वक होता है, अवायज्ञान ईहाज्ञानपूर्वक होता है और धारणाज्ञान अवाय-ज्ञानपूर्वक होता है, तथा इसी प्रकार मन पर्ययज्ञान भी ईहाज्ञानपूर्वक ही होता है तो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाज्ञानोमें तथा मन पर्ययज्ञानमें भी दर्शनके साथ यथासम्भव अन्य ज्ञानोंका व्यवधान सिद्ध हो जाने से इन्हें प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ईहाज्ञानमें अवग्रहज्ञानकी कारणता, अवायज्ञानमे ईहाज्ञानकी कार-णता, धारणाज्ञानमे अवायज्ञानकी कारणता और मन पर्ययज्ञानमे भी ईहाज्ञानकी कारणता विद्यमान है अर्थात् ये सब ज्ञान इनके पश्चात् ही होते है फिर भी पूर्वोक्त दर्शन इन ज्ञानोंमें साक्षात् ही कारण होता है अर्थात् दर्शन और इन ज्ञानोंके मध्य वे अवग्रह आदि ज्ञान व्यवधानकारक नही होते हैं इसलिये इन ज्ञानोंमे दर्शन-की साक्षात् कारणताकी सिद्धिमे कोई बाधा नही उत्पन्न होती है। अतः इन ज्ञानोंकी प्रत्यक्षतामे भी इस दृष्टिसे कोई बाधा नही उत्पन्न होती है।

यहाँ प्रसंगवश मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि कही-कही (अभ्यस्तदशामें) अवग्रहज्ञान अवायात्मक रूपमे ही उत्पन्न होता है और कही-कही (अनभ्यस्त दशामे) अवग्रहज्ञानके पश्चात् संशय उत्पन्न होने पर ईहाज्ञान उत्पन्न होता है और तब वह अवग्रहज्ञान अवायज्ञानका रूप धारण करता है।

●

जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान

बौद्धदर्शनमें वर्णित प्रत्यक्ष और जैनदर्शनमे वर्णित दर्शनोपयोग दोनोके स्वरूपमें करीब-करीब साम्य पाया जाता है। लेकिन बौद्धदर्शनमे जहाँ उसके माने हुए प्रत्यक्षको प्रमाण मान लिया गया है वहाँ जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगको प्रमाणता और अप्रमाणताके दायरेसे परे रखा गया है, क्योंकि जैनदर्शनमे स्वपरव्यवसायीको प्रमाण माना गया है और जो व्यवसायी होते हुए भी परव्यवसायी नही है उसे अप्रमाण माना गया है। ये दोनों प्रकारकी अवस्थाएँ ज्ञानोपयोगकी ही हुआ करती हैं, अत. ज्ञानोपयोग तो प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है लेकिन दर्शनोपयोगमें स्वपरव्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव पाया जाता है, अत. उसे न तो प्रमाण कह सकते हैं और न अप्रमाण ही कह सकते है। फिर भी ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिमे अनिवार्य कारण होनेकी वजहसे दर्शनोपयोगका महत्त्व जैनदर्शनमें कम नही आँका गया है।

विश्वको जैनदर्शनमे छह प्रकारके द्रव्योमे विभक्त कर दिया गया है—(१) अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्तावाले अनन्त जीव द्रव्य, (२) अणु और स्कन्ध (पिंड) दो भेदरूप अनन्त पुद्गलद्रव्य, (३) एक धर्मद्रव्य, (४) एक अधर्मद्रव्य, (५) अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्तावाले असंख्यात कालद्रव्य और (६) एक आकाशद्रव्य। इन सब द्रव्योंको समुदायरूपसे विश्व नामसे पुकारा जाता है क्योंकि इनके अतिरिक्त विश्वमे कुछ शेष नही रह जाता है और विश्वको जगत् इसलिये कहते है क्योंकि ये सब अपने-अपने स्वरूपको न छोडते हुए परिणमनशील है। ये सब द्रव्य प्रतिसमय अपने-अपने नियत स्वभावके अनुरूप कार्य करते रहते है—आकाशद्रव्य समस्त द्रव्योंको सतत अपने अन्दर समाये हुए हैं, सभी कालद्रव्य समस्त द्रव्योको प्रतिक्षण उनकी अपनी संभाव्य पर्यायोंके रूपमें पलटाते रहते है, धर्मद्रव्य सभी जीव और पुद्गल द्रव्योको हलन-चलनरूप क्रिया करते समय उस क्रियामें सतत सहायक होता रहता है, अधर्मद्रव्य उन सभी जीव और पुद्गल द्रव्योको उक्त हलन-चलनरूप क्रियाको बन्द करते समय उसमे सतत सहायक होता रहता है, सभी पुद्गल द्रव्य अशुद्ध जीवद्रव्योंके साथ और परस्पर एक दूसरे पुद्गलद्रव्योंके साथ सतत मिलते और बिछुडते रहते है तथा सभी जीवद्रव्य सम्पूर्ण द्रव्योंको अपनी-अपनी योग्यताके विकासके अनुसार सर्वदा देखते और जानते रहते है। जीवोकी इस देखनेरूप प्रवृत्तिको ही जैनागममे दर्शनोपयोग और जाननेरूप प्रवृत्तिको ज्ञानोपयोग कहा गया है। इन दोनों उपयोगोंमें अविनाभावरूप संबन्ध पाया जाता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थके ज्ञानमे उस पदार्थका दर्शन कारण हुआ करता है। इसलिये प्रत्येक जीवमें ज्ञानोपयोगके साथ दर्शनोपयोगकी सत्ता जैनदर्शनमे स्वीकार की गयी है। परन्तु साथ ही आगमग्रन्थोमे यह बात भी बतलायी गयी है कि सर्वज्ञजीवके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनो एक साथ होते रहते है और अल्पज्ञजीवके दर्शनोपयोगके अनन्तर ज्ञानोपयोग हुआ करता है अर्थात् उसके दर्शनोपयोगकी दशामें ज्ञानोपयोग उत्पन्न नही होता है और ज्ञानोपयोगकी दशामे दर्शनोपयोग समाप्त हो जाता है।

बहुत कुछ सोचनेके बाद मै इस निष्कर्षपर पहुँचा कि सर्वज्ञकी तरह अल्पज्ञोंके भी दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनोंकी एक ही साथ उत्पत्ति और अवस्थिति होनी चाहिये, अन्यथा दोनोंमे कार्यकारणभावकी व्यवस्था नही बन सकती है क्योकि कारणके सद्भावमे ही कार्य हुआ करता है कारणके अभावमे नही, इसलिये "अल्पज्ञजीवके दर्शनके अनन्तर ज्ञान होता है" यह कल्पना अर्वाचीन जान पड़ती है, जैनदर्शनकी यह मौलिक बात नही है। यदि कहा जाय कि "द्रव्यकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायमे कारण हुआ करती है और दर्शनोपयोग अल्पज्ञजीवकी पूर्वपर्याय ज्ञानोपयोग उसकी उत्तरपर्याय ही तो है, अत. उक्त कार्यकारणभावमें कोई विरोध नही है", तो ऐसा माननेपर यह आपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि सर्वज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें

भी क्रमसे पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायका रूप स्वीकार करना चाहिये। यदि सर्वज्ञकी सर्वज्ञताकी समाप्तिके भयसे उसके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे क्रमसे पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायका रूप नही स्वीकार करके, दोनोंकी एक ही साथ उत्पत्ति और अवस्थिति स्वीकार कर ली जाती है तो दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे क्रमसे पूर्वपर्यायता और उत्तरपर्यायताका अभाव निश्चित हो जानेकी वजहसे अल्पज्ञके दर्शनोपयोगको उसकी पूर्वपर्याय और ज्ञानोपयोगको उसकी उत्तरपर्याय कैसे कहा जा सकता है?

वास्तवमे जीवकी देखने और जानने रूप दो पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं। यही सबब है कि दोनों शक्तियोंको ढकनेवाले दर्शनावरण और ज्ञानावरण दो पृथक्-पृथक् कर्मजैन कर्मसिद्धान्तमें स्वीकार किये गये हैं। इन्ही दोनों शक्तियोंके पृथक्-पृथक् विकास ही दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके नामसे पुकारे जाते हैं, इसलिये दर्शनोपयोगको जीवकी पूर्वपर्याय और ज्ञानोपयोगको उसकी उत्तरपर्याय मानना अयुक्त है। यदि ये दोनों एक ही शक्तिके दो विकास होते, तो इन्हे अवश्य ही पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायके रूपमे स्वीकार किया जा सकता था परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे न तो ये एक ही शक्तिके दो विकास सिद्ध होते हैं और न इन्हे एक ही शक्तिके दो विकासके रूपमे स्वीकार ही किया गया है इसलिये जब दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे कार्य-कारणभाव मान्य है तो सर्वज्ञकी तरह अल्पज्ञोमे भी इनका एक ही साथ सद्भाव रहना उपयुक्त है?

शका—सर्वज्ञके दर्शन और ज्ञान सर्वथा निरावरण हो जानेकी वजहसे अपने आपमे परिपूर्ण और परावलंबनसे रहित है अत. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनोंके एक साथ होने या रहनेमे कोई बाधा नही आती है। परन्तु अल्पज्ञके दर्शन और ज्ञान जब अपने आपमे पूर्णतारहित एवं यथायोग्य समान परावलम्बी पाये जाते है तो उनका एक साथ पैदा होना या रहना कैसे संभव हो सकता है? अत. सर्वज्ञके एक साथ दोनो उपयोगोका सद्भाव मानना और अल्पज्ञके दोनोंका एक साथ अभाव स्वीकार करना अयुक्त नही है?

समाधान—यदि जीवमे दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता है तो अल्पज्ञता उसमे बाधक नही हो सकती है और यदि जीवमे दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता नही है तो सर्वज्ञता उसमे साधक नहीं हो सकती है। जैसे एक ही दर्शनशक्ति या ज्ञानशक्तिके विकास स्वरूप दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता जीवमें नही है तो इस प्रकारके दो उपयोग एक साथ सर्वज्ञमे भी संभव नही हो सकते है। इसका मतलब यह हुआ कि सर्वज्ञके भी प्रतिक्षण जो सपूर्ण पदार्थोंका दर्शन और ज्ञान होता रहता है वह दर्शन और ज्ञान अनन्त पदार्थोंका होते हुए भी पृथक्-पृथक् अनन्त उपयोग रूप नही होता, अपितु अनन्त पदार्थोंको विषय करनेवाला एक ही दर्शनरूप उपयोग और एक ही ज्ञानरूप उपयोग होता है। इसी प्रकार जीवकी एक ही श्रद्धाशक्ति, एक ही चारित्रशक्ति, एक ही सुखशक्ति, एक ही वीर्यशक्ति आदि अनन्त शक्तियोका पृथक्-पृथक् दो तरहका विकास सर्वज्ञके भी एक साथ संभव नही है। परन्तु जीवमे अनन्त प्रकारकी उक्त जितनी शक्तियां पायी जाती हैं वे सब अपने-अपने पृथक्-पृथक् एक-एक विकसित रूपमे सर्वज्ञ और अल्पज्ञ सब अवस्थाओमे एक साथ पायी जाती है और पायी जाना उचित भी है क्योंकि जो भी शक्ति अपने किसी एक विकसित रूपके साथ एक अवस्थामें नहीं पायी जायगी, तो उस शक्तिका जीवकी सब अवस्थाओमें अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा। इसलिये सर्वज्ञकी तरह अल्पज्ञ जीवमें जब ज्ञानशक्तिके किसी-न-किसी विकसित रूपके साथ श्रद्धाशक्ति, चारित्रशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति आदि अनन्त शक्तियोका अपना अपना कोई-न-कोई विकसित रूप सर्वदा विद्यमान रहता ही है, तो इन सबके साथ दर्शनशक्तिका भी कोई-न-कोई विकसित रूप उसमे अवश्य ही सर्वदा विद्यमान रहना चाहिये। जीवकी प्रत्येक शक्तिका इस प्रकार अपने अपने किसी-न-किसी विकसित रूपमे रहने का नाम ही उपयोग है। यहांपर यह बात भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार सर्वज्ञके केवलज्ञान-में केवलदर्शन कारण हुआ करता है उसी प्रकार अल्पज्ञके अवधिज्ञानमें अवधिदर्शनको तथा उस उस इन्द्रियसे

होनेवाले मतिज्ञानमें उस उस इन्द्रियमे होनेवाले दर्शनको ही कारण माना गया है। यदि भिन्न समयका दर्शन भिन्न समयके ज्ञानमें कारण माना जाता है तो "अमुक प्रकारके ज्ञानमे अमुक प्रकारका दर्शन ही कारण होता है" इस प्रकारका प्रतिनियत कार्यकारणभाव अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें नही बन सकता है, क्योंकि फिर तो अवधिदर्शनके बाद भी मतिज्ञान हो जाना चाहिए और चक्षुदर्शन तथा अचक्षुदर्शनके बाद भी अवधिज्ञान हो जाना चाहिए। लेकिन जब ऐसा अप्रतिनियत कार्यकारणभाव न तो संभव है और न माना ही गया है तो इसका आशय यही है कि अल्पज्ञजीवके भी दर्शनके सद्भावमे ही ज्ञान हुआ करता है, दर्शनके अनन्तर उसके अभावमें नहीं।

शंका—दर्शनोपयोगको आगममे सामान्यग्रहण, निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक तथा ज्ञानोपयोगको विशेषग्रहण, साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है, अतः परस्पर विरोधपना होनेकी वजहसे दर्शन और ज्ञानका एक कालमे सद्भाव मानना अयुक्त है?

समाधान—उक्त प्रकारका विरोधीपना जब सर्वज्ञके दर्शन और ज्ञानके अन्दर भी विद्यमान है और फिर भी उसके दर्शन और ज्ञान साथ-साथ एक ही कालमें उत्पन्न होते और अवस्थित रहते है तो इसका आशय यही है कि दर्शन और ज्ञानका उक्त प्रकारका विरोधीपना उनके एक कालमे एकसाथ उत्पन्न होने या रहनेमें बाधक नही होता है। यदि कहा जाय कि वास्तवमें सर्वज्ञके सर्वदा सिर्फ ज्ञानोपयोग ही रहता है—उसके दर्शनका अद्भाव तो केवल उपचार मात्र है तो इस तरहसे फिर जीवमे ज्ञानशक्तिसे पृथक् दर्शननामकी एक शक्ति और उसके आवारक स्वतंत्र दर्शनावरणकर्मको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसलिये दर्शनोपयोगके सामान्यग्रहण आदि और ज्ञानोपयोगके विशेषग्रहण आदि संकेतोका ठीक-ठीक अर्थ न समझ सकनेके कारण ही यह भ्रम पैदा हो गया है कि दर्शन और ज्ञान परस्पर विरोधी है। अत इस भ्रमका निराकरण करनेके लिये यहाँपर उक्त संकेतोंके अर्थपर तथा दर्शनके स्वरूपपर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है—

वर्तमानमें दर्शनके निम्नलिखित अर्थ प्रचलित है—

१ वस्तुविशेषका बोधरहित "है" इत्याकारक मानका नाम दर्शन है।

२. पहले पदार्थसे उपयोग हटनेके बाद जबतक दूसरे पदार्थसे उपयोग नही जुड जाता, इस अन्तराल में जो केवल आत्मबोध हुआ करता है उसको दर्शन समझना चाहिये।

३. उक्त प्रकारके अन्तरालमे चैतन्यकी जो अनुपयुक्त अवस्था रहती है उसका नाम दर्शन है।

दर्शनके उक्त प्रचलित अर्थोंमेसे पहले और दूसरे प्रकारके अर्थ इसलिये गलत है कि उक्त अर्थोके स्वीकार करनेसे दर्शन भी ज्ञानकी तरह सविकल्पक, साकार और व्यवसायात्मक हो जायगा। तीसरा अर्थ इसलिये गलत है कि ऐसा कोई क्षण नही, जिसमें चैतन्य अनुपयुक्त अवस्थामें रहता हो। साथ ही अनुपयुक्त चैतन्यको दर्शनोपयोग माननेसे दर्शनकी उपयोगात्मकता समाप्त हो जायगी। तीसरे अनुपयुक्त चैतन्यको दर्शन और उपयुक्त चैतन्यको ज्ञान स्वीकार कर लेनेसे दर्शनावरणकर्मका पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना असंगत हो जायगा।

मेरे मतसे दर्शनका अर्थ है आत्मप्रदेशोंमें ज्ञेय पदार्थके आकारका आ जाना। इस प्रकार जिस कालमें जिस ज्ञेय पदार्थका आकार आमोद आत्मप्रदेशोंमें आता है उस कालमें उस पदार्थका ही बोध हुआ करता है, सर्वज्ञके दर्शनावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेके सबबसे समस्त आत्मप्रदेशोंमें संपूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण स्वभावतः प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। अतः सर्वज्ञको प्रतिक्षण संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता रहता है। लेकिन अल्पज्ञके आत्म-प्रदेशोंमे ज्ञेय पदार्थका प्रतिबिम्बित होना निमित्ताधीन है अर्थात् प्रतिनियत पदार्थोंका प्रतिनियत इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत आत्मप्रदेशोमें जब-जब आकार आता है तब-तब उस-उस इंद्रिय द्वारा उन-उन पदार्थोका मतिज्ञान हुआ

करता है और तब दर्शनको भी उस-उस इन्द्रियका दर्शन कहा जाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है, अतः उसके लिये दर्शनके सद्भावकी आवश्यकता नहीं रहती है। अवधिज्ञानमे दर्शनकी आवश्यकता रहती है अर्थात् प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंमें प्रतिनियत पदार्थोंका बिना इन्द्रियोकी सहायताके जो प्रतिबिम्ब आता है उसके सद्भावमे अवधिज्ञान हुआ करता है ऐसे प्रतिबिम्बको अवधिदर्शन कहते हैं। मनःपर्ययज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक हुआ करता है, अतः ईहामतिज्ञानमे जिस दर्शनकी अपेक्षा रहती है वही दर्शन मनःपर्ययज्ञानके समय विद्यमान रहता है।

इस विवेचनका निष्कर्ष यह है कि—

१. एक पदार्थ या नाना अथवा संपूर्ण पदार्थोंका आत्मप्रदेशोंमे इन्द्रिय आदि निमित्तसापेक्ष अथवा निमित्तकी अपेक्षारहित प्रतिबिम्बित होना ही दर्शन कहलाता है।

२. इस प्रकारके दर्शनके सद्भावमे ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दोनों तरहके जीवोंको पदार्थज्ञान हुआ करता है अन्यथा नही।

३. प्रतिनियत दर्शन ही प्रतिनियत पदार्थज्ञानमें कारण हुआ करता है। उक्त दर्शन सामान्यग्रहणरूप है क्योंकि उसमे ज्ञानकी तरह प्रमाणता और अप्रमाणताका विशेष (भेद) नही पाया जाता है और इसका कारण हम पहले बतला आये है कि दर्शनमे स्वपरव्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव पाया जाता है जबकि स्वपर-व्यवसायात्मकता प्रमाणताका तथा स्वव्यवसायात्मकताके रहते हुए परव्यवसायात्मकताका अभाव अप्रमाणताका चिह्न माना जाता है। तात्पर्य यह है कि उक्त दर्शनमें पदार्थका अवलम्बन होनेकी वजहसे वह पदार्थग्रहणरूप तो होता है फिर भी वह द्रष्टाको अपना संवेदन करानेमें असमर्थ रहता है और जो अपना संवेदन नही करा सकता है वह परका संवेदन कैसे करा सकता है? इसलिये दर्शनको "सामान्यग्रहण" शब्दसे पुकारना उपयुक्त ही है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या चाहे अप्रमाण हो—उसमे स्वसंवेदकता तो हर हालतमे रहती ही है अतः उसे (ज्ञानको) "विशेषग्रहण" शब्दसे पुकारा जाता है। उक्त दर्शनको निराकार भी कहते हैं क्योंकि उसमे पूर्वोक्त प्रकारसे स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनोका अभाव होनेके कारण न तो प्रमाणताका आकार पाया जाता है और न अप्रमाणताका ही आकार पाया जाता है। इसी प्रकार उक्त दर्शनको अव्यवसायात्मक भी कहते है क्योंकि हम बतला चुके है कि उसमे स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनोका अभाव रहता है जबकि प्रमाण-ज्ञानमे स्वसंवेदकता और परसंवेदकता दोनोका सद्भाव और अप्रमाणज्ञानमे परसंवेदकताका अभाव रहते हुए भी कम-से-कम स्वसंवेदकताका सद्भाव पाया जाता है। इस प्रकार जो अव्यवसायात्मक होता है वह सविकल्पक नही हो सकता है इसलिये दर्शनको "निर्विकल्पक" शब्दसे भी पुकारा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घडेको विषय करनेवाले प्रमाणज्ञानमें "मैं घडेको जानता हूँ" ऐसा विकल्प और उक्त ज्ञानके विषयभूत घडेमे "यह घडा है" ऐसा विकल्प ज्ञाताको होता है तथा अप्रमाणज्ञानके भेद संशय, विपरीत और अनध्य-वसाय इन तीनोंमे क्रमसे "सीप है या चाँदी" या सीपमे "यह चाँदी है" अथवा 'कुछ है" इस प्रकार वस्तुकी अनिर्णीत अवस्थाका रूप ज्ञानविकल्प और विषयविकल्प ज्ञाताको होते रहते हैं उस प्रकार घडा आदि पदार्थोंके उक्त प्रकारके दर्शनमे "मैं घडेका दर्शन कर रहा हूँ" या "यह घड़ा है" आदि विकल्पोंका होना संभव नही है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारसे दर्शनमे स्वव्यवसायात्मकता और परव्यवसायात्मकता दोनोंका अभाव विद्यमान रहता है। अतः दर्शनको निर्विकल्पक कहा गया है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञानमे सामान्य और विशेष, निराकार और साकार, अव्यवसायात्मक और व्यवसायात्मक तथा निर्विकल्पक और सविकल्पकका भेद रहते हुए भी इन दोनोका एक कालमे एक साथ सद्भाव पाया जाना असंभव नही ठहरता है।

आशा है दर्शनोपयोगके बारेमे मैंने यहाँपर जो विचार उपस्थित किये है उनपर विद्वज्जनोका अवश्य ही ध्यान जायगा। ●

जैनदर्शनमें वस्तुका स्वरूप : एक दार्शनिक विश्लेषण

जैनदर्शनमें वस्तुको अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तात्मक उभयरूप माना गया है। एक ही वस्तुमें एक ही साथ अनन्तधर्मोंका पाया जाना वस्तुको अनन्तधर्मात्मकता है और अनन्तधर्मात्मक उसी वस्तुमें परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंका पाया जाना वस्तुकी अनेकान्तात्मकता है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि विश्वकी सभी वस्तुयें अपने अन्दर अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनन्तधर्मोंकी एक ही साथ सत्ता रख रही है व प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने उन अनन्तधर्मोंमेसे प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्मके साथ ही वहाँ पर रह रहा है।

अनेकान्तशब्दका ऊपर जो "वस्तुमे परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंका पाया जाना" अर्थ किया गया है उसमें अनेकशब्दका तात्पर्य दो संख्यासे है। इस तरह अनेकान्त शब्दका वास्तविक अर्थ "वस्तुमे परस्पर विरोधी दो धर्मोंका एक ही साथ पाया जाना" होता है। यह अर्थ वास्तविक इसलिये है कि परस्पर विरोधिता दो धर्मोंमें ही संभव है, तीन, चार आदि संख्यात, असख्यात व अनन्त धर्म मिलकर कभी परस्पर विरोधी नही होते है, कारण कि एक धर्मका विरोधी यदि दूसरा एक धर्म है तो शेष सभी धर्म परस्पर विरोधी उन दो धर्मोंमेसे किसी एक धर्मके नियमसे अविरोधी हो जावेगे।

उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि वस्तुका अनन्तधर्मात्मक होना एक बात है और उसका (वस्तुका) अनेकान्तात्मक होना दूसरी बात है। यही कारण है कि जैनेतर सभी दर्शनकारोके लिये वस्तुको अनन्तधर्मात्मक माननेमें कोई आपत्ति नही है क्योंकि पृथ्वीमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप धर्मचतुष्टयकी एक ही साथ सत्ताको वे भी स्वीकार करते है। परन्तु वे (जैनेतर दर्शनकार) वस्तुको अनेकान्तात्मक माननेमे हिचकिचाते है। जैन और जैनेतर दर्शनकारोके मध्य मुख्यतया अन्तर यही है कि जहाँ उक्त प्रकारके अनेकान्तकी मान्यताके आधारपर जैनदर्शन अनेकान्तवादी कहलाता है वहाँ जैनेतर सभी दर्शन उसका विरोध करनेके कारण एकान्तवादी कहलाते है।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि परस्पर अविरोधी अनन्त धर्मोंकी एक ही साथ एक ही वस्तुमें सत्ता जैन और जैनेतर सभी दर्शनोमे मान्य कर ली गयी है। परन्तु परस्परविरोधी दो धर्मोंकी एक ही साथ एक ही वस्तुमे सत्ता जिस प्रकार जैन दर्शनमे मान्य की गयी है उस प्रकार जैनेतर दर्शन उसे मान्य करनेके लिये तैयार नहीं है। यह बात दूसरी है कि परस्परविरोधी दो धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मको कोई एक दर्शन स्वीकार करता है और उसमे अन्य दूसरे धर्मको दूसरा दर्शन स्वीकार करता है लेकिन दोनो ही दर्शन अपनेको मान्य धर्मके विरोधी धर्मको अस्वीकृत कर देते है। जैसे सांख्यदर्शन वस्तुमें नित्यताधर्मको स्वीकार करता है लेकिन अनित्यताधर्मका वह निषेध करता है। इसी प्रकार बौद्धदर्शन वस्तुमे अनित्यताधर्मको स्वीकार करता है लेकिन नित्यताधर्मका वह निषेध करता है। जबकि जैनदर्शन वस्तुमें नित्यता और अनित्यता दोनों ही धर्मोंको स्वीकार करता है।

वस्तुके अनन्त धर्मात्मक होने व उसमे (वस्तुमे) उन अनन्त धर्मोंमेसे प्रत्येक धर्मके अपने विरोधी धर्मके साथ ही रहनेके कारण प्रत्येक वस्तुमे परस्परविरोधी धर्मयुगलके अनन्त विकल्प हो जाते है। यही कारण है कि जैन दर्शनमे प्रत्येक वस्तुगत अनन्त धर्म सापेक्ष परस्परविरोधी धर्मयुगलके अनन्तविकल्पोंके आधार पर अनन्तसप्तभंगियोकी स्थितिको स्वीकार कर लिया गया है। यथा—

"नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनन्ता एव वचन-मार्गाः स्याद्वादिनां भवेयुर्न पुन सप्तैव, वाच्येयत्तात्वाद्वाचकेयत्तायाः। ततो विरुद्धैव सप्तभंगीति चेन्न,

विधीयमाननिषिध्यमानधर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात् । "प्रतिपर्यायं सप्तभंगी वस्तुनि" इति वचनात् । तथानन्ताः सप्तभंग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम् ।" (श्लोकवा०, सूत्र ६, वा० ५२ के आगे सप्तभंगी प्रकरण)

इस उद्धरणका भाव यह है कि जैनदर्शनमें वस्तुगत परस्परविरोधी धर्मद्वयके आधारपर सप्तभंगी को मान्यता दी गयी है। इसपर कोई यह आपत्ति करता है कि एक वस्तुमे कथन करने योग्य जब अनन्त धर्म विद्यमान हैं तो इन सब धर्मोंका कथन करनेके लिये स्याद्वादियों (जैनों) के सामने अनन्तसंख्याक वचन-मार्गोंकी प्रसक्ति होती है, केवल सात ही वचनमार्गोंकी नहीं, क्योंकि जितने वाच्य हो सकते हैं उतने ही वाचक होने चाहिये, अतः सप्तभंगीकी मान्यता असंगत है।

इस आपत्तिका उक्त उद्धरणमें जो कुछ समाधानके रूपमे लिखा गया है उसका भाव यह है कि सप्तभंगीकी मान्यता विधीयमान और निषिध्यमान धर्मद्वयके विकल्पोंके आधारपर ही जैनदर्शनमें स्वीकृत की गयी है इसलिए एक ही वस्तुमें विद्यमान अनन्तधर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्मको लेकर विधीयमान और निषिध्यमान धर्मद्वयके विकल्पोंके आधारपर जैन दर्शनमें सप्तभंगीको स्थान प्राप्त हो जानेसे अनन्तभंगीके बजाय अनन्त-सप्तभंगीकी स्वीकृति स्याद्वादियों (जैनों) के लिए अनिष्ट नहीं है।

इस प्रकार वस्तुगत अनन्तधर्मसापेक्ष परस्परविरोधी धर्मद्वयके प्रत्येक वस्तुमे निष्पन्न अनन्तविकल्पों-मेंसे आचार्य श्रीअमृतचन्द्रने समयसारके स्याद्वादाधिकार प्रकरणमें अनेकान्तका स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कतिपय विरोधी धर्मद्वयविकल्पोंकी निम्न प्रकार गणना की है—

"यदेव तत् तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्य-मित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।"

अर्थ—जो ही वह है वही वह नही है, जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है, जो ही सत् है वही सत् नही है अर्थात् असत् है, जो ही नित्य है वही नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है इस प्रकार एक ही वस्तुके वस्तुत्व (स्वरूप) को निष्पादक परस्पर विरोधी शक्तिद्वयका प्रकाशन करना अनेकान्त कहलाता है।

अनेकान्तके इसमें चार विकल्प बतलाये है। इन चारों विकल्पोंमेंसे "जो ही वह है वही वह नहीं है" इस विकल्पका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति प्रकृति और विकृतिके आधारपर हो विश्वमे अपना अस्तित्व जमाये हुए है। आकृतिसे वस्तुकी द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता) का ग्रहण होता है, प्रकृतिसे उसकी गुणरूपता (स्वभावशक्ति) का ग्रहण होता है और विकृतिसे उसमें होनेवाली परिणति (पर्याय) का ग्रहण होता है। जैसाकि आचार्यश्री कुन्दकुन्दने प्रवचनसार ग्रन्थके ज्ञेयाधिकारकी गाथा १ में दर्शाया है। यथा—

अत्थो खलु दव्वमयो दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमयाः॥

अर्थ—अर्थ अर्थात् पदार्थ यानी वस्तु द्रव्यरूप है अर्थात् किसी-न-किसी आकृतिको धारण किए हुए है, द्रव्यमें अपनी गुणरूपता (स्वभावशक्ति) पायी जाती है तथा द्रव्य और गुण दोनों ही परिणमन अर्थात् पर्यायरूपताको धारण किए हुए है। लोकमें जितना भी परसमय पाया जाता है वह सब पर्यायोमे ही रमकर मूढताको प्राप्त हो रहा है।

प्रत्येक वस्तुकी आकृति अर्थात् द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता), प्रकृति अर्थात् स्वभावशक्तिरूप गुणरूपता और विकृति अर्थात् परिणति क्रियारूप पर्यायरूपता प्रतिनियत है अर्थात् एक वस्तुकी जो आकृति, प्रकृति और विकृति है वह त्रिकालमें कभी भी दूसरी वस्तुकी न तो हुई है और न हो सकती है। अतः इस स्थितिके

आधारपर ही जैनदर्शनमें यह सिद्धान्त मान्य किया गया है कि जो ही वस्तु वह है वही वस्तु वह नहीं है।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि विश्वमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामसे छह प्रकारकी वस्तुएँ विद्यमान हैं। इनमे जीव नामकी वस्तुएँ अनन्तानन्त हैं, पुद्गल नामकी वस्तुएँ भी अनन्तानन्त हैं। धर्म, अधर्म और आकाश नामकी वस्तुएँ एक, एक हैं तथा काल नामकी वस्तुएँ असंख्यात हैं। ये सब वस्तुएँ अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण करके ही लोकमें रह रही हैं। जीव नामक वस्तु कभी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालकी आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नही करती है। पुद्गल नामकी वस्तु कभी जीव, धर्म, अधर्म आकाश और कालकी आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नही करती है। और यही बात धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामकी वस्तुओंमे भी समझना चाहिए। इतना ही नहीं, एक जीवनामक वस्तु कभी दूसरी जीवनामक वस्तुकी आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नहीं करती है व एक पुदगलनामक वस्तु भी कभी दूसरी पुदगलनामक वस्तुको आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नहीं करती है। यहाँ तक कि जीव और पुद्गलका तथा दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त पुद्गलोंका परस्पर मेल (मिश्रण) होनेपर भी ये कभी एकत्वको प्राप्त नही होते है। यह बात दूसरी है कि उक्त वस्तुओंके परस्पर संयोग अथवा मिश्रणसे एक दूसरेमें परिणमन अवश्य हुआ[1] करते हैं। लेकिन वे भी परिणमन उनके अपने-अपने रूप ही हुआ करते हैं। कभी एक-दूसरे रूप नही होते "जो ही वह है वही वह नही है" इस सिद्धान्तकी मान्यताका ही यह परिणाम है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारग्रन्थके कर्तृ-कर्माधिकार प्रकरणमें निम्नलिखित गाथाओं द्वारा आत्मा और पुद्गलमें पररूप परिणतियोंका निषेध किया है—

"णवि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥
णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविह ॥७७॥
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंत ॥७८॥
णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥"

इन गाथाओंका भाव यह है कि आत्मा पुद्गल कर्मको, अपने परिणामको और पुद्गल कर्मके फलको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायरूपसे न परिणमन करता है, न उन्हे स्वीकार करता है और न उनमें उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीवपरिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नही जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्याय रूपसे न परिणमन करता है, न उन्हें स्वीकार करता है और उनमे उत्पन्न होता है।

इसी तरह "जो ही वह है वही वह नहीं है" इस सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर ही आचार्य श्री कुन्दकुन्दने समयसारके कर्तृ-कर्माधिकार प्रकरणकी निम्नलिखित गाथाका प्रणयन किया है—

"जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि ण संकमदि दव्वे।" (गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)

इसकी टीका आचार्य श्री अमृतचन्द्रने निम्न प्रकारकी है—

'इह किल यो यावान् कश्चित् वस्तु विशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चि-दात्मनि-अचिदात्मनि वा

---

1. समयसार, गाथा ८०।

द्रव्ये, गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्त· स खलु-अचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुनः द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वा संक्रामेत् ।"

गाथा और टीकाका भाव यह है कि कोई भी वस्तु सर्वदा अपनी ही द्रव्यरूपता और अपनी ही गुणरूपतामें वर्तमान रहती है, त्रिकालमें कभी भी दूसरी वस्तुकी द्रव्यरूपता व गुणरूपतामें संक्रमण नही करती है।

इसी प्रकार उक्त सिद्धान्तके आधारपर ही आचार्य श्री अमृतचन्द्रके निम्नलिखित कथनकी संगति बैठती है—

> "तत्र सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुंबिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्त· पररूपेणापरिणमनादनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्त" (समयसार गाथा ३ की आत्मख्यातिटीका)।

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्यमय संपूर्ण लकमें जितने परिमाणमें जो कुछ पदार्थ है वे सभी अपने-अपने धर्म समूहका चुम्बन करते हुए भी एक दूसरे पदार्थका चुम्बन नही कर रहे हैं, यद्यपि सभी पदार्थ एक दूसरे पदार्थसे अत्यन्त संयुक्त हो रहे है तो भी वे कभी अपने स्वरूपसे च्युत नही होते—इस तरह पररूपसे परिणत न होनेके कारण उनकी नियत परिमाणरूप अनन्तता कभी नष्ट नही हो सकती है इसलिए जैसे टाकीसे ही उत्कीर्ण किये गये हों ऐसे ही अपनी-अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हुए नियत अनन्त संख्याके रूपमे ही वे सब रह रहे है।

इस तरह कहना चाहिए कि "विश्वके जितने परिमाणमें अनन्तसंख्याके पदार्थ हैं वे उतने परिमाणमें ही अनादिसे अनन्तकाल तक रहनेवाले है उनकी उस सख्यामे कभी भी घटा बढ़ी नही होती है" इस मान्यताकी पुष्टि "जो ही वह है वही वह नही है" इस अनेकान्तकी स्वीकृतिके आधारपर ही हो सकती है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने दूसरे प्रकारका अनेकान्त यह बतलाया है कि "जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है"। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि वस्तुकी द्रव्यात्मकता, गुणात्मकता और पर्यायात्मकताके आधारपर "अत्थो खलु दव्वमयो" इत्यादि गाथाके अनुसार प्रत्येक वस्तुके अलग-अलग प्रकार से दो दो अंश निर्धारित होते है। उनमे एक प्रकारसे दो अंश है—द्रव्यांश और गुणांश, दूसरे प्रकारसे दो अंश हैं—द्रव्यांश और पर्यायांश तथा तीसरे प्रकारसे दो अंश हैं—गुणांश और पर्यायांश।

प्रत्येक वस्तुका द्रव्यांश एक ही रहा करता है लेकिन इसमें गुणांश नाना रहा करते हैं। जैसे आत्मा एक वस्तु है। परन्तु उसमे ज्ञानदर्शन आदि नाना गुणोंका सद्भाव है। इसी तरह पुद्गल एक वस्तु है। परन्तु उसमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि नाना गुणोंका सद्भाव है। इसी प्रकार दूसरे प्रकारसे यों कहा जा सकता है कि वस्तुका द्रव्यांश हमेशा एक ही रहा करता है परन्तु उसमे बदलाहट होती रहती है जिससे पर्यायांश अनेक हो जाते है। जैसे आत्मा यद्यपि नियत असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है परन्तु छोटे-बडे शरीरके अनुसार उसकी छोटी बडी आकृति होती रहती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान उसके अपने-अपने नाना गुणोंमेसे प्रत्येक गुण भी अपनेमें परिवर्तन करता रहता है। जैसे आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला नियत है परन्तु उसका वह ज्ञानरूप स्वभाव यथायोग्य मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवलके भेदसे पाँचरूपसे परिणमन कर सकता है। इसी तरह मति आदि ज्ञान भी यथायोग्य इन्द्रियादिक साधन व विषयभूत पदार्थकी विविधताके आधारपर परिणमन करते रहते हैं। इस प्रकार आत्माका एक ज्ञानरूप स्वभाव भी उपर्युक्त

प्रकारसे नाना पर्यायोंमें बदलता रहता है। इस प्रकार वस्तुके द्रव्यांशकी एकता और उसके गुणांशकी अनेकताके आधार पर, वस्तुके द्रव्यांशकी एकता और उसके पर्यायांशकी अनेकताके आधार पर तथा वस्तुके गुणांशकी एकता और उसके पर्यायांशकी अनेकताके आधारपर जैनदर्शनमे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जो ही एक है वही एक नहीं हैं अर्थात् अनेक है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्रने तीसरे प्रकारका अनेकान्त यह बतलाया है कि "जो ही सत् है वही सत् नहीं है अर्थात् असत् है"। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधार पर हुआ करता है। इनमेंसे द्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि यद्यपि घटरूपसे परिणत पुद्गलद्रव्य पटरूपसे परिणत होनेकी योग्यता रखते हैं, परन्तु जिस समय जो पुद्गलद्रव्य घटरूपसे परिणत हो रहे हैं उस समय वे पटरूपसे परिणत नही हो रहे है इसलिये जिस समय जिस वस्तुमे घटरूपताका सद्भाव है उस समय उस वस्तुमें पटरूपताका अभाव है। इस तरह घटरूपसे परिणत वस्तु घटरूपसे ही सत् है पटरूपसे वह सत् नही है अर्थात् असत् है। क्षेत्रके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु जिस समय आकाशके जिन और जितने प्रदेशोंपर अवस्थित है वह वस्तु उस समय आकाशके उन और उतने प्रदेशों पर ही सत् कही जा सकती है उन और उतने प्रदेशोसे अतिरिक्त अन्य सभी आकाशप्रदेशोंपर वह वस्तु उस समय असत् ही कही जायगी। कालके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु स्वभावसे त्रैकालिक सत्स्वरूप है परन्तु जो वस्तु जिस समय जिन कालद्रव्योंसे संयुक्त है उस समय वह वस्तु उन कालाणुओंकी अपेक्षा ही वर्तमान रूपमे सत् है शेष अन्य सभी कालाणुओंकी अपेक्षा उस समय वह वर्तमान रूपमें सत् नही है अर्थात् असत् है। भावके आधारपर सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु जिस समय अपनी जिस अवस्था (पर्याय) को धारण किये हुए है उस समय वह वस्तु उस अवस्था (पर्याय) की अपेक्षा सत् है शेष अन्य सम्भव सभी पर्यायोकी अपेक्षा वह सत् नही अर्थात् असत् है। इन सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारपर जो प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय होता है वह व्यवहारकालको समय, आवली, मुहूर्त, घडी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदिके रूपमे विभक्त करके उनके आधार पर ही होता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने चौथे प्रकारका जो अनेकान्त बतलाया है वह यह है कि "जो ही नित्य है वही नित्य नही है अर्थात् अनित्य है"। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तु अपनी आकृति अर्थात् द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता) और प्रकृति अर्थात् गुणरूपता (स्वभावशक्ति) की अपेक्षा शाश्वत बनी हुई है तथा विकृति अर्थात् पर्यायरूपता (परिणति—क्रिया) की अपेक्षा व्यवहारकालके भेद— समय, आवली, मुहूर्त, घडी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदिके रूपमे विभक्त होकर अशाश्वत बनी हुई है। यही कारण है कि जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुको द्रव्यरूपता और गुणरूपताके आधारपर ध्रौव्यस्वभाववाली तथा पर्यायरूपताके आधारपर उत्पाद और व्यय स्वभाववाली माना गया है। इनमेसे ध्रौव्यस्वभाव वस्तुकी नित्यताका चिह्न है और उत्पाद और व्ययरूप स्वभाव उसकी अनित्यताका चिह्न है।

जिस प्रकार आचार्य श्री अमृतचन्द्रने वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए परस्परविरोधी धर्मद्वयके आधारपर अनेकान्तके तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य ये चार विकल्प बतलाये हैं उसी प्रकार उन्होंने समयसारकी गाथा १४२ की टीका करते हुए आत्माका अवलम्बन लेकर परस्परविरोधी धर्मद्वयके आधारपर बद्ध-अबद्ध, मोही-अमोही, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विविध प्रकारके और भी विकल्प बतला दिये हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक सिद्ध होती है और वह अनन्त-धर्मात्मक वस्तु परस्परविरोधी धर्मद्वयके अनन्त विकल्पोंके आधारपर विविध प्रकारसे अनेकान्तात्मक सिद्ध होती है।

मैंने इस लेखमें वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता और अनेकात्मकतापर यथाशक्ति प्रकाश डाला है। आशा है इससे सर्वसाधारणको जैन तत्वज्ञानको समझनेकी दिशा प्राप्त होगी। वास्तवमें आज जैन तत्त्वज्ञानका प्रत्येक अंग विवादग्रस्त बन गया है। इसमें मैं सारा दोष विद्वानोंका मानता हूँ। हमेशा विद्वान ही तत्त्व-ज्ञानके संरक्षक रहे हैं। आज भी विद्वानोंको ऐसा ही प्रयास करना चाहिए। यद्यपि आजका प्रत्येक विद्वान कहता है कि मेरा प्रयास तत्त्वसंरक्षणके लिये ही है। परन्तु यह प्रयास कैसा, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द, समन्त-भद्र, उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि महर्षियोंके वचनोंमें भी परस्पर विरोध दीखने लग जाय। प्रत्येक विद्वानको इस प्रश्न पर गहराईके साथ ही दृष्टिपात करना चाहिये।

जैनदर्शनमें सप्ततत्त्व और षट्द्रव्य

प्रास्ताविक ·

अखण्ड मानव-समष्टिको अनेक वर्गोंमें विभक्त कर देनेवाले जितने पंथभेद लोकमें पाये जाते हैं उन सबको यद्यपि 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है, परन्तु उन्हें 'धर्म' नाम देना अनुचित मालूम देता है, क्योंकि धर्म एक ही सकता है, दो नहीं, दो-से अधिक भी नहीं, धर्म धर्ममें यदि भेद दिखाई देता है तो उन्हें धर्म समझना ही भूल है।

अपने अन्त.करणमें क्रोध, दुष्टविचार, अहंकार, छल-कपटपूर्ण भावना, दीनता और लोभवृत्तिको स्थान न देना एवं सरलता, नम्रता और आत्मगौरवके साथ-साथ प्राणिमात्रके प्रति प्रेम, दया तथा सहानुभूति आदि सद्भावनाओंको जाग्रत करना ही धर्मका अन्तरंग स्वरूप माना जा सकता है और मानवताके धरातलपर स्वकीय वाचनिक एवं कायिक प्रवृत्तियोंमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह वृत्तिका यथायोग्य संवर्धन करते हुए समता और परोपकारकी ओर अग्रसर होना धर्मका बाह्य स्वरूप मानना चाहिये।

पन्थ-भेदपर अवलंबित मानवसमष्टिके सभी वर्गोंको धर्मकी यह परिभाषा मान्य होगी, इसलिये सभी वर्गोंकी परस्पर भिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओं—जिन्हें लोकमें 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है—के बीच दिखाई देनेवाले भेदको महत्त्व देना अनुचित जान पड़ता है।

मेरी मान्यता यह है कि मानव समष्टिके हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि वर्गोंमें एक दूसरे वर्गसे विलक्षण जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यतायें पाई जाती हैं उन मान्यताओं को 'धर्म' न मानकर धर्म-प्राप्तिकी साधनस्वरूप 'संस्कृति' मानना ही उचित है। प्रत्येक मानव, यदि उसका लक्ष्य धर्म-प्राप्तिकी ओर है तो लोकमें पाई जानेवाली उक्त सभी संस्कृतियोंमेंसे किसी भी संस्कृतिको अपनाकर उल्लिखित अविवादी धर्मको प्राप्त कर सकता है। संस्कृतिको ही धर्म मान लेनेकी भ्रान्तिपूर्ण प्रचलित परिपाटी-से हिन्दू, जैन आदि सभी वर्गोंका उक्त वास्तविक धर्मकी ओर झुकाव ही नहीं रह गया है। इसीलिये इन वर्गोंमें विविध प्रकारके अनर्थंकर विकारों, पाखण्डों एवं रूढ़ियोंको अधिक प्रश्रय मिला हुआ है और इस सबका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ उक्त वास्तविक धर्म मनुष्यके जीवनसे सर्वथा अलग होकर एक लोकोत्तर वस्तु मात्र रह गया है वहाँ मानवतासे विहीन तथा अन्याय और अत्याचारसे परिपूर्ण उच्छृंखल जीवनप्रवृत्तियोंके सद्भावमें भी संस्कृतिका छद्मवेष धारण करने मात्रसे प्रत्येक मानव अपनेको और अपने वर्गको कट्टर धर्मात्मा समझ रहा है। इतना ही नहीं, अपनी संस्कृतिसे भिन्न दूसरी सभी संस्कृतियोंको अधर्म मानकर उनमेंसे किसी भी संस्कृतिके माननेवाले व्यक्ति तथा वर्गको धर्मके उल्लिखित चिह्न मौजूद रहनेपर भी वह अधर्मात्मा ही मानना चाहता है और मानता है और एक ही संस्कृतिका उपासक वह व्यक्ति भी उसकी दृष्टिमें धर्मात्मा ही है जो उस संस्कृतिके नियमोंकी ढोंगपूर्वक ही सही, आवृत्ति करना जरूरी नहीं समझता है, भले ही वह अपने जीवनको धर्ममय बनानेका सच्चा प्रयत्न कर रहा हो। इस तरह आज प्रत्येक वर्ग और वर्गके प्रत्येक मानवमें मानवताको कलंकित करनेवाले परस्पर विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहके दर्दनाक चित्र दिखाई दे रहे हैं।

यदि प्रत्येक मानव और प्रत्येक वर्ग धर्मकी उल्लिखित परिभाषाको ध्यानमें रखते हुए उसे संस्कृतिका साध्य और संस्कृतिको उसका साधन मान लें तो उन्हें यह बात सरलताके साथ समझमें आजायगी कि वही संस्कृति सच्ची और उपादेय हो सकती है तथा उस संस्कृतिको ही लोकमें जीवित रहनेका अधिकार प्राप्त हो सकता है जो मानव जगत्को धर्मकी ओर अग्रसर करा सके और ऐसा होनेपर प्रत्येक मानव तथा प्रत्येक वर्ग

अपने जीवनको धर्ममय बनानेके लिये अपनी संस्कृतिको विकारो, पाखण्डों और रूढियोंसे परिष्कृत बनाते हुए अधिक-से-अधिक धर्मके अनुकूल बनानेके प्रयत्नमें लग जायेंगे तथा उनमेसे अहंकार, पक्षपात और हठके साथ-साथ परस्परके विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहका खात्मा होकर सम्पूर्ण मानव-समष्टिमे विविध संस्कृतियोके सद्भावमें भी एकता और प्रेमका रस प्रवाहित होने लगेगा।

मेरा इतना लिखनेका प्रयोजन यह है कि जिसे लोकमे 'जैन धर्म, नामसे पुकारा जाता है उसमें दूसरी दूसरी जगह पाये जानेवाले विशुद्ध धार्मिक अंशको छोडकर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओंके रूपमें जितना जैनत्वका अंश पाया जाता है उसे 'जैन संस्कृति' नाम देना ही उचित है, इसलिये लेखके शीर्षकमें मैंने 'जैनधर्म'के स्थानपर 'जैनसंस्कृति' शब्दका प्रयोग उचित समझा है और लेखके अन्दर भी यथास्थान धर्मके स्थानपर संस्कृति शब्दका ही प्रयोग किया जायगा।

विषयप्रवेश

किसी भी संस्कृतिके हमे दो पहलू देखनेको मिलते हैं—एक संस्कृतिका आचार-संबन्धी पहलू और दूसरा उसका सिद्धान्त-सम्बन्धी पहलू।

जिसमें निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्राणियोंके कर्त्तव्यमार्गका विधान पाया जाता है वह संस्कृतिका आचारसम्बन्धी पहलू है। जैनसंस्कृतिमें इसका व्यवस्थापक चरणानुयोग माना गया है और आधुनिक भाषा-प्रयोगकी शैलीमें इसे हम 'कर्त्तव्यवाद' कह सकते हैं।

संस्कृतिके सिद्धान्त-सम्बन्धी पहलूमें उसके (संस्कृतिके) तत्त्वज्ञान (पदार्थव्यवस्था) का समावेश होता है। जैनसंस्कृतिमें इसके दो विभाग कर दिये है—एक सप्ततत्त्वमान्यता और दूसरी षड्द्रव्यमान्यता। सप्ततत्त्वमान्यतामे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात पदार्थोंका और षड्द्रव्य-मान्यतामें जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह पदार्थोंका समावेश किया गया है। जैन-संस्कृतिमे पहली मान्यताका व्यवस्थापक करणानुयोग और दूसरी मान्यताका व्यवस्थापक द्रव्यानुयोगको माना गया है। आधुनिक भाषाप्रयोगकी शैलीमें करणानुयोगको उपयोगितावाद और द्रव्यानुयोगको अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) कहना उचित जान पडता है। यद्यपि जैन संस्कृतिके शास्त्रीय व्यवहारमें करणानुयोगको आध्यात्मिक पद्धति और द्रव्यानुयोगको दार्शनिक पद्धति इस प्रकार दोनोंको अलग-अलग पद्धतिके रूपमे विभक्त किया गया है। परन्तु मैं उपयोगितावाद और अस्तित्ववाद दोनोको दार्शनिक पद्धतिसे बाह्य नही करना चाहता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि भारतवर्षके सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक आदि सभी वैदिक तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि सभी अवैदिक दर्शनोका मूलत विकास उपयोगितावादके आधारपर ही हुआ है, इसलिये मेरी मान्यताके अनुसार करणानुयोगको भी दार्शनिक पद्धतिसे बाह्य नही किया जा सकता है।

जगत् क्या और कैसा है ? जगत्मे कितने पदार्थोंका अस्तित्व है ? उन पदार्थोंके कैसे-कैसे विपरिणाम होते हैं ? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर प्रमाणो द्वारा पदार्थोंके अस्तित्व और नास्तित्वके विषयमे विचार करना अथवा पदार्थोंके अस्तित्व या नास्तित्वको स्वीकार करना अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) और जगत्‌के प्राणी दु:खी क्यों है ? वे सुखी कैसे हो सकते है ? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर पदार्थोंकी लोककल्याणोपयोगिताके आधारपर प्रमाणसिद्ध अथवा प्रमाणों द्वारा असिद्ध भी पदार्थोंको पदार्थ व्यवस्थामे स्थान देना उपयोगितावाद समझना चाहिये। सक्षेपमे पदार्थोंके अस्तित्वके बारेमे विचार करना अस्तित्ववाद और पदार्थोंकी उपयोगिताके बारेमे विचार करना उपयोगितावाद कहा जा सकता है। अस्तित्ववादके आधारपर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमें पहुँचते हैं जिनका अस्तित्व मात्र प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता हो, भले ही वे पदार्थ लोककल्याणके लिये

उपयोगी सिद्ध हो अथवा उनका लोककल्याणोपयोगितासे थोड़ा भी सम्बन्ध न हो और उपयोगितावादके आधार पर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमें स्थान पाते हैं, जो लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध होते हों, भले ही उनका अस्तित्व प्रमाणो द्वारा सिद्ध हो सकता हो अथवा उनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध न भी हो।

दर्शनोमें आध्यात्मिकता और आधिभौतिकताका भेद दिखलानेके लिये उक्त उपयोगितावादको ही आध्यात्मिकवाद और उक्त अस्तित्ववादको ही आधिभौतिकवाद कहना चाहिये, क्योंकि आत्मकल्याणको ध्यानमें रखकर पदार्थ-प्रतिपादन करनेका नाम आध्यात्मिकवाद और आत्मकल्याणकी ओर लक्ष्य न देते हुए भूत अर्थात् पदार्थोंके अस्तित्वमात्रको स्वीकार करनेका नाम आधिभौतिकवाद मान लेना मुझे अधिक संगत प्रतीत होता है। जिन विद्वानोका यह मत है कि समस्त चेतन-अचेतन जगतकी सृष्टि अथवा विकास आत्मा-से मानना आध्यात्मिकवाद और उपर्युक्त जगतकी सृष्टि अथवा विकास अचेतन अर्थात् जड पदार्थसे मानना आधिभौतिकवाद है उन विद्वानोंके साथ मेरा स्पष्ट मतभेद है। इस मतभेदसे भी मेरा तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकवाद और आधिभौतिकवादके उनको मान्य अर्थके अनुसार उन्होने जो वेदान्तदर्शनको आध्यात्मिक दर्शन और चार्वाकदर्शनको आधिभौतिक दर्शन मान लिया है वह ठीक नही है। मेरा यह स्पष्ट मत है और जिसे मैं पहिले लिख चुका हूँ कि सांख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय और वैशेषिक ये सभी वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये सभी अवैदिक दर्शन पूर्वोक्त उपयोगितावादके अधारपर ही प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये ये सभी दर्शन आध्यात्मिकवादके ही अन्तर्गत माने जाने चाहिये। उक्त दर्शनोंमेसे किसी भी दर्शनका अनुयायी अपने दर्शनके बारेमे यह आक्षेप सहन करने को तैयार नही हो सकता है कि उसके दर्शनका विकास लोककल्याणके लिये नही हुआ है और इसका भी सबब यह है कि भारतवर्ष सर्वदा धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिये समस्त भारतीय दर्शनोंका मूल आधार उपयोगितावाद मानना ही संगत है। इसका विशेष स्पष्टी-करण नीचे किया जा रहा है—

'लोककल्याण' शब्दमें पठित लोकशब्द 'जगत्‌का प्राणिसमूह' अर्थमे व्यवहृत होता हुआ देखा जाता है, इसलिये यहाँपर लोककल्याणशब्दसे 'जगत्‌के प्राणिसमूहका कल्याण' अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कोई-कोई दर्शन प्राणियोके दृश्य और अदृश्य दो भेद स्वीकार करते है और किन्ही-किन्ही दर्शनोमे सिर्फ दृश्य प्राणियोके अस्तित्वको ही स्वीकार किया गया है। दृश्य प्राणी भी दो तरह के पाये जाते है—एक प्रकारके दृश्य प्राणी वे है जिनका जीवन प्रायः समष्टि-प्रधान रहता है। मनुष्य इन्ही समष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणियोमे गिना गया है क्योकि मनुष्योंके सभी जीवन-व्यवहार प्राय. एक-दूसरे मनुष्यकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायता-पर ही निर्भर है, मनुष्योके अतिरिक्त शेष सभी दृश्य प्राणी पशु-पक्षी, सर्प-बिच्छू, कीट-पतंग वगैरह व्यष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणी कहे जा सकते है क्योंकि इनके जीवन-व्यवहारोमे मनुष्यो जैसी परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताकी आवश्यकता प्रायः देखनेमे नहीं आती है। इस व्यष्टिप्रधान जीवनकी समानताके कारण ही इन पशु-पक्षी आदि प्राणियोको जैनदर्शनमे 'तिर्यंग्' नामसे पुकारा जाता है. कारण कि 'तिर्यंग्' शब्दका समानता अर्थमें भी प्रयोग देखा जाता है। सभी भारतीय दर्शनकारोने अपने-अपने दर्शनके विकासमे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार यथायोग्य जगत्‌के इन दृश्य और अदृश्य प्राणियोंके कल्याणका ध्यान अवश्य रखा है। चार्वाकदर्शनको छोडकर उल्लिखित सभी भारतीयदर्शनोंमे प्राणियोंके जन्मान्तररूप परलोकका समर्थन किया गया है। इसलिये इन दर्शनोके आविष्कर्ताओंकी लोककल्याणभावनाके प्रति तो संदेह करनेकी गुजाइश ही नही है लेकिन उपलब्ध साहित्यसे जो थोड़ा बहुत चार्वाकदर्शनका हमें दिग्दर्शन होता है उससे उसके (चार्वाकदर्शनके) आविष्कर्ताकी भी लोककल्याणभावनाका पता हमे सहज में ही लग जाता है।

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था ।।"

इस पद्यमें हमें चार्वाकदर्शनकी आत्माका स्पष्ट आभास मिल जाता है। इस पद्यका आशय यह है कि "धर्म मनुष्यके कर्त्तव्यमार्गका नाम है और वह जब लोककल्याणके लिये है तो उसे अखण्ड एकरूप होना चाहिये, नानारूप नही, लेकिन धर्मतत्त्वकी प्रतिपादक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ नाना और परस्परविरोधी अर्थको कहने वाली देखी जाती हैं। हमारे धर्मप्रवर्तक महात्माओंने भी धर्मतत्त्वका प्रतिपादन एकरूपसे न करके भिन्न-भिन्न रूपसे किया है। इसलिये इनके (धर्मप्रवर्तक महात्माओंके) वचनोंको भी सर्वसम्मत प्रमाण मानना असंभव है। ऐसी हालतमे धर्मतत्त्व साधारण मनुष्योंके लिये गूढ पहेली बन गया है अर्थात् धर्मतत्त्वको समझनेमें हमारे लिये श्रुति, स्मृति या कोई भी धर्मप्रवर्तक सहायक नही हो सकता है। इसलिये धर्मतत्त्वकी पहेलीमे न उलझ करके हमे अपने कर्त्तव्यमार्गका निर्णय महापुरुषोंके कर्त्तव्यमार्गके आधारपर ही करते रहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि महापुरुषोंका प्रत्येक कर्त्तव्य स्वपरकल्याणके लिये ही होता है। इसलिये हमारा जो कर्त्तव्य स्वपरकल्याणविरोधी न हो उसे ही अविवादरूपसे हमको धर्म समझ लेना चाहिये।"

मालूम पडता है कि चार्वाक दर्शनके आविष्कर्ताका अन्तःकरण अवश्य ही धर्मके बारेमे पैदा हुए लोककल्याणके लिये खतरनाक मतभेदोंसे ऊब चुका था। इसलिये उसने लोकके समक्ष इस बातको रखनेका प्रयत्न किया था कि जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी चर्चा—जो कि विवादके कारण जनहितकी घातक हो रही है—को छोडकर हमे केवल ऐसा मार्ग चुन लेना चाहिये जो जनहितका साधक हो सकता है और ऐसे कर्त्तव्यमार्गमे किसीको भी विवाद करनेकी कम गुजाइश रह सकती है।

"यावज्जीवं सुखी जावेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत ।।"

यह जो चार्वाक दर्शनकी मान्यता बतलाई जाती है वह कुछ भ्रममूलक जान पडती है अर्थात् यह उन लोगोंका चार्वाकदर्शनके बारेमे आक्षेप है जो सांप्रदायिक विद्वेषके कारण चार्वाकदर्शनको सहन नही कर सकते थे।

समस्त दर्शनोमे बीजरूपसे इस उपयोगितावादको स्वीकार लेने पर ये सभी दर्शन जो एक-दूसरेके अत्यन्त विरोधी मालूम पड रहे है, ऐसा न होकर अत्यन्त निकटतम मित्रोके समान दिखने लगेंगे अर्थात् उक्त प्रकारसे चार्वाक दर्शनमें छिपे हुए उपयोगितावादके रहस्यको समझ लेनेपर कौन कह सकता है कि उसका (चार्वाकदर्शनका) परलोकादिके बारेमे दूसरे दर्शनोंके साथ जो मतभेद है वह खतरनाक है क्योकि जहाँ दूसरे दर्शन परलोकादिको आधार मानकर हमे मनुष्योचित कर्त्तव्यमार्ग पर चलनेकी प्रेरणा करते है वहाँ चार्वाक दर्शन सिर्फ वर्तमान जीवनको सुखी बनानेके उद्देश्यसे ही हमे मानवोचित कर्त्तव्यमार्गपर चलनेकी प्रेरणा करता है। चार्वाकदर्शनकी इस मान्यताका दूसरे दर्शनोंकी मान्यताके साथ समानतामे हेतु यह है कि परलोकादिके अस्तित्वको स्वीकार करनेके बाद भी सभी दर्शनकारोंको इस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आना पडता है कि "मनुष्य अपने वर्तमान जीवनमें अच्छे कृत्य करके ही परलोकमे सुखी हो सकता है या स्वर्ग पा सकता है।" इसलिये चार्वाक मतका अनुयायी यदि अपने वर्तमान जीवनमे अच्छे कृत्य करता है तो परलोक या स्वर्गके अस्तित्वको न मानने मात्रसे उसे परलोकमे सुख या स्वर्ग पानेसे कौन रोक सकता है ? अन्यथा इसी तरह नरकका अस्तित्व न माननेके सबब पाप करनेपर भी उसका नरकमें जाना कैसे संभव हो सकेगा ? तात्पर्य यह है कि एक प्राणी नरकके अस्तित्वको न मानते हुए भी बुरे कृत्य करके यदि नरक जा सकता है तो दूसरा प्राणी स्वर्गके अस्तित्वको न मानते हुए अच्छे कृत्य करके स्वर्ग भी जा सकता है। परलोक तथा

स्वर्गादिके अस्तित्वको न मानने वाला व्यक्ति अच्छे कृत्य कर ही नहीं सकता है, यह बात कोई भी विवेकी व्यक्ति माननेको तैयार न होगा, कारणकि हम पहले बतला आये हैं कि मनुष्यका जीवन परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताके आधारपर ही सुखी हो सकता है। यदि एक मनुष्यको अपना जीवन सुखी बनानेके लिये सम्पूर्ण साधन उपलब्ध हैं और दूसरा उसका पड़ौसी मनुष्य चार दिनसे भूखा पडा हुआ है तो ऐसी हालतमे या तो पहिले व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिके बारेमें सहायताके रूपमें अपना कोई न कोई कर्त्तव्य निश्चित करना होगा, अन्यथा नियमसे दूसरा व्यक्ति पहिले व्यक्तिके सुखी जीवनको ठेस पहुँचानेका निमित्त बन जायेगा। तात्पर्य यह है कि हमें परलोककी मान्यतासे अच्छे कृत्य करनेकी जितनी प्रेरणा मिल सकती है उससे भी कहीं अधिक प्रेरणा वर्तमान जीवनको सुखी बनानेकी आकांक्षासे मिलती है, चार्वाकदर्शनका अभिप्राय इतना ही है।

बौद्धोंके क्षणिकवाद और ईश्वरकर्तृत्ववादियोंके ईश्वरकर्तृत्ववादमें भी यही उपयोगितावादका रहस्य छिपा हुआ है। बौद्धदर्शनमें एक वाक्य पाया जाता है—"वस्तुनि क्षणिकत्वपरिकल्पना आत्मबुद्धिनिरासार्थम्" अर्थात् पदार्थोंमें जगत्के प्राणियोंके अनुचित राग, द्वेष और मोहको रोकनेके लिये ही बौद्धोंने पदार्थोंकी अस्थिरताका सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसी प्रकार जगत्का कर्ता अनादि-निधन एक ईश्वरको मान लेनेसे संसारके बहुजन समाजको अपने जीवनके सुधारमे काफी प्रेरणा मिल सकती है। तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति पदार्थोंकी क्षणभंगुरता स्वीकार करके उनसे विरक्त होकर यदि आत्मकल्याणकी खोज कर सकता है और दूसरा व्यक्ति ईश्वरको कर्ता-धर्ता मान करके उसके भयसे यदि अनर्थोंसे बच सकता है तो इस तरह उन दोनों व्यक्तियोंके लिये क्षणिकत्ववाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद दोनोंकी उपयोगिता स्वय सिद्ध हो जाती है। इसलिये इन दोनो मान्यताओंके औचित्यके बारेमे "पदार्थ क्षणिक हो सकता है या नही ? जगत्का कर्ता ईश्वर है या नहीं ?" इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर विचार न करके "क्षणिकत्ववाद अथवा ईश्वरकर्तृत्व-वाद लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते है या नही ?" इत्यादि प्रश्नोके आधारपर ही विचार करना चाहिये।

सांख्य और वेदान्तदर्शनोंकी पदार्थमान्यतामे उपयोगितावादकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है, इसका स्पष्टीकरण 'षड्द्रव्यमान्यताके' प्रकरणमे किया जायगा।

मीमांसादर्शनका भी आधार मनुष्योको स्वर्ग प्राप्तिके उद्देश्यसे यागादि कार्योंमे प्रवृत्त कराने रूप उप-योगितावाद ही है तथा जैनदर्शनमे तो उपयोगितावादके आधारपर सप्ततत्त्वमान्यता और अस्तित्ववादके आधारपर षड्द्रव्यमान्यता इस प्रकार पदार्थव्यवस्थाको ही अलग-अलग दो भागोमे विभक्त कर दिया गया है।

इस तरहमे समस्त भारतीयदर्शनोमे मूलरूपसे उपयोगितावादके विद्यमान रहते हुए भी अफसोस है कि धीरे-धीरे सभी दर्शन उपयोगितावादके मूलभूत आधारसे निकल कर अस्तित्ववादके उदरमे समा गये अर्थात् प्रत्येक दर्शनमे अपनी व दूसरे दर्शनकी प्रत्येक मान्यताके विषयमें अमुक मान्यता लोककल्याणके लिये उपयोगी है या नही ?' इस दृष्टिसे विचार न होकर 'अमुक मान्यता संभव हो सकती है या नहीं ?' इस दृष्टिसे विचार होने लग गया और इसका यह परिणाम हुआ कि सभी दर्शनकारोंने अपने-अपने दर्शनोके भीतर उपयोगिता और अनुपयोगिताकी ओर ध्यान न देते हुए अपनी मान्यताको संभव और सत्य तथा दूसरे दर्शनकारोंकी मान्यताको असंभव और असत्य सिद्ध करनेका दुराग्रहपूर्ण एवं परस्पर कलह पैदा करने वाला ही प्रयास किया है।

३. आत्मतत्त्व

ऊपर बतलाये गये दर्शनोंमें परलोक, स्वर्ग, नरक और मुक्तिकी मान्यताके विषयमें जो मतभेद पाया जाता है उसके आधारपर उन दर्शनोंमे लोककल्याणकी सीमा भी यथासंभव भिन्न-भिन्न प्रकारसे निश्चित की गयी है। चार्वाकदर्शनमे प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमें सुखप्राप्तिका स्थान स्वर्ग, पापका फल परलोकमे दु:खप्राप्तिका स्थान नरक और प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दु:खकी परम्परारूप संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप नि:श्रेयसका स्थान मुक्ति इन तत्त्वोंकी मान्यता नहीं है इसलिये वहाँपर लोक-कल्याणकी सीमा प्राणियोंके और विशेषकर मानवसमाजके वर्तमान जीवनकी सुख-शान्तिको लक्ष्य करके ही निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणको ध्यानमे रखकरके ही वहाँ पदार्थोंकी व्यवस्थाको स्थान दिया गया है। मीमांसादर्शनमें यद्यपि प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दु:खकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप नि:श्रेयस और उसका स्थान मुक्ति इन तत्त्वोंकी मान्यता नहीं है। वहाँपर स्वर्गसुखको ही नि:श्रेयस पदका और स्वर्गको ही मुक्तिपदका वाच्य स्वीकार किया गया है, फिर भी प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमे सुखप्राप्तिका स्थान स्वर्ग और पापका फल परलोकमें दु:खप्राप्तिका स्थान नरक इन तत्त्वोंको वहाँ अवश्य स्वीकार किया गया है। इसलिये वहाँपर लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके वर्तमान (ऐहिक) जीवनके साथ-साथ परलोकको सुखशान्तिको ध्यानमें रखकर निर्धारित की गई है और इसी लोककल्याणको ध्यानमे रखकरके ही वहाँ पदार्थ-व्यवस्थाको स्थान दिया गया है। चार्वाक और मीमांसा दर्शनोंके अतिरिक्त शेष उल्लिखित वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनोंमें उक्त प्रकारके परलोक, स्वर्ग और नरककी मान्यताके साथ-साथ प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दु:खकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप नि:श्रेयस और नि:श्रेयसका स्थान मुक्तिकी मान्यताको भी स्थान प्राप्त है। इसलिये इन दर्शनोंमें लोककल्याणकी सीमा प्राणियोके ऐहिक और पारलौकिक सुख-शान्तिके साथ-साथ उक्त नि:श्रेयस और मुक्तिको भी ध्यानमें रखते हुए निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणके आधारपर ही इन दर्शनोंमे पदार्थव्यवस्थाको स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक दर्शनको छोडकर परलोकको माननेवाले मीमासादर्शनमे और परलोकके साथ-साथ मुक्तिको भी माननेवाले सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध दर्शनोंमें जगत्‌के प्रत्येक प्राणीके शरीरमे स्वतंत्र और शरीरके साथ घुल-मिल करके रहनेवाला एक चित्‌शक्तिविशिष्ट तत्त्व स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है और न ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष ही वर्तमानमे मौजूद है जिसको इसका प्रत्यक्ष हो रहा हो। परन्तु इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्राणीमें दूसरे प्राणियोंकी प्रेरणाके बिना ही जगत्‌के पदार्थोंके प्रति राग, द्वेष या मोह करना अथवा विरक्ति अर्थात् समताभाव रखना, तथा हर्ष करना, विषाद करना दूसरे प्राणियोंका अपकार करना, पश्चात्ताप करना, परोपकार करना, हंसना, रोना, सोचना, समझना, सुनना, देखना, सूँघना, खाना, पीना, बोलना, बैठना, चलना, काम करना, थक जाना, विश्रान्ति लेना, पुन: काममें जुट जाना, सोना, जागना और पैदा होकर छोटे-से बड़ा होना इत्यादि यथासंभव जो विशिष्ट व्यापार पाये जाते हैं वे सब व्यापार प्राणिवर्गको लकड़ी, मिट्टी, पत्थर, मकान, कपड़ा, बर्तन, कुर्सी, टेबुल, सोना चाँदी, लोहा, पीतल, घंटी, घडी, ग्रामोफोन, रेडियो, सिनेमाके चित्र, मोटर, रेलगाडी, टैंक, हवाई जहाज और उद्जनबम आदि व्यापारशून्य तथा प्राणियोंकी प्रेरणा पाकर व्यापार करनेवाले पदार्थोंसे पृथक कर देते हैं और इन व्यापारोंके आधारपर ही उक्त दर्शनोंमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक प्राणीके शरीरमें शरीरसे पृथक् एक-एक ऐसा तत्त्व भी विद्यमान है, जिसकी प्रेरणासे ही प्रत्येक प्राणीमें उल्लिखित विशिष्ट व्यापार हुआ करते हैं। इस तत्त्वको सभी दर्शन, चित्-

शक्तिविशिष्ट स्वीकार करते हैं तथा अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार सभी दर्शन इसको पुरुष, आत्मा, जीव, जीवात्मा, ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य अलग नामोंसे उल्लेख करते हैं।

प्रत्येक प्राणीके शरीरमें एक-एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वके अस्तित्वकी समान स्वीकृति रहते हुए भी उक्त दर्शनोंमेंसे कोई-कोई दर्शन तो इन सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंको परस्पर मूलतः ही पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं और कोई-कोई ईश्वर या परब्रह्मके एक-एक अंशके रूपमें इन्हें पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। अर्थात् कोई-कोई दर्शन उक्त चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करते हैं और कोई दर्शन उनकी नित्य और व्यापक ईश्वर या परब्रह्मसे उत्पत्ति स्वीकार करके एक-एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वको उक्त ईश्वर या परब्रह्मका एक-एक अंश मानते हैं, उन्हें मूलतः पृथक्-पृथक् नहीं मानते हैं। सांख्य, मीमांसा आदि कुछ दर्शनोंके साथ-साथ जैनदर्शन भी संपूर्ण चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करके उन्हें परस्पर भी पृथक्-पृथक् ही मानता है।

उक्त प्रकारसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध ये सभी दर्शन प्राणियोंको समय-समयपर होनेवाले सुख तथा दुःखका भोक्ता उन प्राणियोंके अपने-अपने शरीरमें रहनेवाले चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वको ही स्वीकार करते हैं सभी दर्शनोंकी इस समान मूलमान्यताके आधारपर उनमें (सभी दर्शनोंमें) समानरूपसे निम्नलिखित चार सिद्धान्त स्थिर हो जाते हैं—

(१) प्रत्येक प्राणीके अपने-अपने शरीरमें मौजूद तथा भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें पुरुष, आत्मा, जीव, जीवात्मा, ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारे जानेवाले प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वका अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध होनेका कोई-न-कोई कारण अवश्य है।

(२) जब कि प्राणियोंके उल्लिखित विशिष्ट व्यापारोंके प्रादुर्भाव और सर्वथा विच्छेदके आधारपर प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ प्राप्त हुई बद्धताका जन्म और मरणके रूपमें आदि तथा अन्त देखा जाता है तो मानना पड़ता है कि ये सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व सीमित काल तक ही अपने-अपने वर्तमान शरीरमें आबद्ध रहते हैं। ऐसी हालतमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पहले ये चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व किस रूपमें विद्यमान रहे होंगे? यदि कहा जाय कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पहले वे सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व शरीरके बन्धनसे रहित बिल्कुल स्वतंत्र थे, तो प्रश्न उठता है कि इन्हें अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेका कारण अकस्मात् कैसे प्राप्त हो गया? इस प्रश्नका उचित समाधान न मिल सकनेके कारण चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले उक्त सभी दर्शनोंमें यह बात स्वीकार की गयी है कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पूर्व भी ये सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व किसी दूसरे अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे और उससे भी पूर्व किसी दूसरे-दूसरे अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे। इस प्रकार सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी शरीरबद्धताकी वह पूर्वपरंपरा इनकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा अनादिकाल तक और ईश्वर या परमब्रह्मसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा ईश्वर या परमब्रह्मसे जबसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है तब तक माननी पड़ती है।

(३) चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी शरीरबद्धताका कारण उनका स्वभाव है—यह मानना असंगत है, कारण कि एक तो स्वभाव परतन्त्रताका कारण ही नहीं हो सकता है। दूसरे, स्वभावसे प्राप्त हुई परतन्त्रताकी हालतमें उन्हें दुःखानुभवन नहीं होना चाहिये, लेकिन दुःखानुभवन होता है। इसलिये सभी चित्शक्तिविशि-

तत्त्वोंकी शरीरबद्धताका कारण स्वभावसे भिन्न किसी दूसरी चीजको ही मानना युक्तियुक्त जान पड़ता है और इसीलिये सांख्यदर्शनमे त्रिगुणात्मक (सत्वरजस्तमोगुणात्मक) अचित् प्रकृतिको, वेदान्तदर्शनमे असत् कही जानेवाली अविद्याको, मीमांसादर्शनमे चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंमे विद्यमान अशुद्धि (दोष) को, ईश्वरकर्तृत्ववादी योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोमें इच्छा, ज्ञान और कृति शक्तित्रयविशिष्ट ईश्वरको, जैनदर्शनमे अचित् कर्म (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि द्रव्योंका सजातीय पौद्गलिक वस्तुविशेष) को और बौद्धदर्शनमें विपरीताभिनिवेशस्वरूप अविद्याको उसका कारण स्वीकार किया गया है। इनमेसे योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोमें माना गया ईश्वर उनकी मान्यताके अनुसार चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोके साथ असंबद्ध रहते हुए भी उनके मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्योके आधारपर सुख तथा दुःखके भोगमे सहायक शरीरके साथ उन्हे आबद्ध करता रहता है। शेष सांख्य आदि दर्शनोंमें चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धतामे माने गये प्रकृति आदि कारण उन चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके साथ किसी-न-किसी रूपमें सबद्ध रहते हुए ही उनके मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्योके आधारपर सुख तथा दुःखके भोगमे सहायक शरीरके साथ उन्हें आबद्ध करते रहते है। इसी प्रकार चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धताकी जिस पूर्वपरम्पराका उल्लेख पहले किया जा चुका है उसकी सगतिके लिये योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमे ईश्वरको शाश्वत (अनादि और अनिधन) मान लिया गया है तथा एक जैनदर्शनको छोड़कर शेष सांख्य आदि सभी दर्शनोंमे चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंके साथ प्रकृति आदिके सम्बन्धको यथायोग्य अनादि अथवा ईश्वर या परमब्रह्मसे उनकी (चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी) उत्पत्ति होनेके समयसे स्वीकार किया गया है। जैनदर्शनमे चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंको शरीरबद्धतामे कारणभूत धर्मके सम्बन्धको तो सादि स्वीकार किया गया है परन्तु उनकी उस शरीरबद्धताकी पूर्वोक्त अविच्छिन्न परम्पराकी सगतिके लिये वहापर (जैनदर्शनमे) शरीरसम्बन्धकी अविच्छिन्न अनादि परम्पराकी तरह उसमें कारणभूत कर्मसम्बन्धकी भी अविच्छिन्न अनादि परम्पराको स्वीकार किया गया है और इसका आशय यह है कि यदि चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीरबद्धतामे कारणभूत उक्त कर्मसम्बन्धको अनादि माना जायगा तो उस कर्मसम्बन्धको कारण रहित स्वाभाविक ही मानना होगा, लेकिन ऐसा मानना इसलिये असंगत है कि इस तरहसे प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखको परंपरास्वरूप संसारका सर्वथा विच्छेदके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा, जो कि सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध इन दर्शनों मेंसे किसी भी दर्शनको अभीष्ट नही है। मीमांसादर्शनमे जो प्राणियोके जन्म-मरण अथवा सुख-दुखकी परंपरारूप ससारका सर्वथा विच्छेद नही स्वीकार किया गया है उसका सबब यही है कि वह चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोमे विद्यमान अशुद्धिके सम्बन्धको अनादि होनेके सबब कारणरहित स्वाभाविक स्वीकार करता है। परन्तु जो दर्शन प्राणियोके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परम्परास्वरूप ससारका सर्वथा विच्छेद स्वीकार करते हैं उन्हें चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धतामें कारणरूपसे स्वीकृत पदार्थके सम्बन्धको कारणसहित—अस्वाभाविक ही मानना होगा और ऐसा तभी माना जा सकता है जबकि उस सम्बन्धको सादि माना जायगा। यही सबब है कि जैनदर्शनमे मान्य प्राणियोके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परम्परास्वरूप ससारके सर्वथा विच्छेदको सगतिके लिये वहापर (जैनदर्शनमे) शरीरसम्बन्धमे कारणभूत कर्मके सम्बन्धको तो सादि माना गया है और शरीरसम्बन्धकी पूर्वोक्त अनादि परम्पराको संगतिके लिये उस कर्मसम्बन्धकी भी अविच्छिन्न परम्पराको अनादि स्वीकार किया गया है। इसकी व्यवस्था जैनदर्शनमे निम्न प्रकार बतलायी गयी है—

जैनदर्शनमे कार्माणवर्गणा नामका चित्शक्तिसे रहित तथा रूप, रस गध और स्पर्श गुणोसे युक्त होनेके कारण पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्वोंका सजातीय एक पौद्गलिक तत्त्व स्वीकार किया गया है। यह तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म है और पृथ्वी आदि तत्त्वोकी ही तरह नाना परमाणुपुजोमे विभक्त होकर समस्त-

लोकाकाशमें सर्वदा अवस्थित रहता है। प्राणियोंकी मन, वचन और शरीरके जरिये पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें जो प्रवृत्ति देखी जाती है उस प्रवृत्तिसे उस कार्माणवर्गणाके यथायोग्य बहुतसे परमाणुओंके पुंज-के-पुंज उन प्राणियोंके शरीरमें रहने वाले चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके साथ चिपट जाते हैं अर्थात् अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला पानीके बीचमें पड जानेसे जिस प्रकार चारों ओरसे पानीको खींचता है उसी प्रकार अपने मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्यों द्वारा गरम हुआ (प्रभावित) उक्त चित्शक्तिविशिष्टतत्त्व समस्त लोकमें व्याप्त कार्माणवर्गणाके बीचमें पडजानेके कारण चारों ओरसे उस कार्माणवर्गणाके यथायोग्य परमाणु-पुंजोंको खींच लेता है और इस तरहसे कार्माणवर्गणाके जितने परमाणुपुंज जबतक चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंके साथ चिपटे रहते हैं तबतक उन्हें जैनदर्शनमें 'कर्म' नामसे पुकारा जाता है तथा इस कर्मसे प्रभावित होकरके ही प्रत्येक प्राणी अपने मन, वचन और शरीर द्वारा पुण्य एवं पापरूप कृत्य किया करता है अर्थात् प्राणियोंकी उक्त पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति करानेवाले ये कर्म ही हैं। प्राणियोंकी पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति करा देनेके बाद इन कर्मोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है और ये उस हालतमें चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंसे पृथक् होकर अपना वही पुराना कार्माणवर्गणाका रूप अथवा पृथ्वी आदि स्वरूप दूसरा और कोई पौद्गलिक रूप धारण कर लेते हैं।

यहापर यह खासतौरसे ध्यानमें रखने लायक बात है कि इन कर्मोंके प्रभावसे प्राणियोंकी जो उक्त पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति हुआ करती है उस प्रवृत्तिसे उन प्राणियोंके अपने-अपने शरीरमें रहनेवाले चित्शक्तिविशिष्टतत्त्व कार्माणवर्गणाके दूसरे यथायोग्य परमाणुपुंजोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और इस तरहसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी पूर्वोक्त शरीरसम्बन्धपरम्पराकी तरह उसमे कारणभूत कर्मसम्बन्धकी परम्परा भी अनादिकालसे अविच्छिन्नरूपमे चली आ रही है। अर्थात् जिस प्रकार वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष की उत्पत्ति होते हुए भी उनकी यह परम्परा अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपमें चली आ रही है उसी प्रकार कर्मसम्बन्धसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंका शरीरके साथ सम्बन्ध होता है। इस सम्बद्धशरीरकी सहायतासे प्राणी पुण्य एवं पापरूप कार्य किया करते हैं। उन कार्योंसे उनके साथ पुनः कर्मोंका बन्ध हो जाता है और कर्मोंका यह बन्धन उन्हें दूसरे शरीरके साथ सम्बद्ध करा देता है। इस तरहसे यह कर्मसम्बन्धपरम्परा भी अनादिकाल से अविच्छिन्न रूपमे चलती रहती है।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरके साथ चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके आबद्ध होनेका कारण सांख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय, वैशेषिक जैन और बौद्ध इन सभी दर्शनोंमें स्वरूप तथा कारणताके प्रकारकी अपेक्षा यद्यपि यथायोग्य भिन्न-भिन्न बतलाया गया है तथापि इस बातमे ये सभी दर्शन एकमत हैं कि शरीरके साथ चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके आबद्ध होनेका कारण अतिरिक्त पदार्थ है।

(४) उल्लिखित तीन सिद्धान्तोके साथ-साथ एक चौथा जो सिद्धान्त इन दर्शनोंमें स्थिर होता है वह यह है कि जब चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंका शरीरके साथ सबद्ध होना उनसे अतिरिक्त कारणके अधीन है तो इस शरीरसंबंधपरंपराका उक्त कारणके साथ-साथ मूलतः विच्छेद भी किया जा सकता है। परन्तु इस चौथे सिद्धान्तको मीमासादर्शनमें नहीं स्वीकार किया गया है क्योंकि पहले बतलाया जा चुका है कि मीमांसादर्शनमें शरीरसम्बन्धमें कारणभूत अशुद्धिके सम्बन्धको अनादि होनेके सबब अकारण स्वीकार किया गया है। इसलिये उसकी मान्यताके अनुसार इस सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होना असंभव है।

इन सिद्धान्तोंके फलित अर्थके रूपमें निम्नलिखित पाँच तत्त्व कायम किये जा सकते है—(१) नाना चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व, (२) इनका शरीरसम्बन्धपरंपरा अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसार, (३) संसारका कारण, (४) संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूपमुक्ति और (५) मुक्तिका कारण।

चार्वाक दर्शनमें इन पाँचों तत्त्वोंको स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि ये पाँचों तत्त्व परलोक तथा मुक्तिकी मान्यतासे ही सम्बन्ध रखते हैं। मीमांसादर्शनमें इनमेंसे आदिके तीन तत्त्व स्वीकृत किये गये हैं, क्योंकि आदिके तीन तत्त्व परलोककी मान्यतासे सम्बन्ध रखते हैं और मीमांसादर्शनमें परलोककी मान्यताको स्थान प्राप्त है। परन्तु वहाँ पर (मीमांसादर्शनमें) भी मुक्तिकी मान्यताको स्थान प्राप्त न होनेके कारण अन्तके दो तत्त्वोंको नहीं स्वीकार किया गया है। शेष सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय और वैशेषिक तथा जैन और बौद्धदर्शनमें इन पाँचों तत्त्वोंको स्वीकार गया गया है, क्योंकि इन दर्शनोंमें परलोक और मुक्ति दोनोंकी मान्यताको स्थान प्राप्त है।

जैन संस्कृतिकी जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप सप्ततत्त्ववाली जिस पदार्थमान्यताका उल्लेख लेखमें किया गया है उसमें उक्त दर्शनोंको स्वीकृत इन पाँचों तत्त्वोंका ही समावेश किया गया है अर्थात् सप्ततत्त्वोंमें स्वीकृत प्रथम जीवतत्त्वसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वका अर्थ लिया गया है, द्वितीय अजीवतत्त्वसे उक्त कार्माणवर्गणाका अर्थ स्वीकार करते हुए इन दोनों अर्थात् चित्शक्तिविशिष्ट-तत्त्व स्वरूप जीवतत्त्व और कार्माणवर्गणास्वरूप अजीवतत्त्वकी सम्बन्धपरम्परारूप मूल संसारका चौथे बन्ध-तत्त्वमें समाविष्ट करके चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वके शरीरसम्बन्धपरंपरारूप अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसारको इसीका विस्तार स्वीकार किया गया है। तीसरे आस्रवतत्त्वसे उक्त जीव और अजीव दोनों तत्त्वोंकी सम्बन्ध-परंपरारूप मूल संसारमें कारणभूत प्राणियोंके मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कार्योंका बोध होता है।

तत्त्वव्यवस्थामें बन्ध तत्त्वको चौथा और आस्रवतत्त्वको तीसरा स्थान देनेका मतलब यह है कि बन्ध-रूप संसारका कारण आस्रव है इसलिये कारणरूप आस्रवका उल्लेख कार्यरूप बन्धके पहले करना ही चाहिये और चूंकि इस तत्त्वव्यवस्थाका लक्ष्य प्राणियोंका कल्याण ही माना गया है तथा प्राणियोंकी हीन और उत्तम अवस्थाओंका ही इस तत्त्वव्यवस्थासे हमें बोध होता है। इसलिये तत्त्वव्यवस्थाका प्रधान आधार होनेके कारण इस तत्त्वव्यवस्थामें जीवतत्त्वको पहला स्थान दिया गया है। जीवतत्त्वके बाद दूसरा स्थान अजीवतत्त्वको देनेका सबब यह है कि जीवतत्त्वके साथ इसके (अजीवतत्त्वके) संयोग और वियोग तथा संयोग और वियोगके कारणोंको ही शेष पाँच तत्त्वोंमें संगृहीत किया गया है।

सातवें मोक्षतत्त्वसे कर्मसम्बन्धपरंपरासे लेकर शरीरसम्बन्धपरंपरा अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद अर्थ लिया गया है और चूंकि प्राणियोंकी यह अन्तिम प्राप्य और अविनाशी अवस्था है इसलिये इसको तत्त्वव्यवस्थामें अन्तिम सातवाँ स्थान दिया गया है।

पाँचवें संवरतत्त्वका अर्थ संसारके कारणभूत आस्रवका रोकना और छठे निर्जरातत्त्वका अर्थ सबद्ध कर्मों अर्थात् संसारको समूल नष्ट करनेका प्रयत्न करना स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब पूर्वोक्त संसारके आत्यन्तिक विनाशका नाम मुक्ति है तो इस प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्तिके लिए हमें संसारके कारणोंका नाश करके संसारके नाश करनेका प्रयत्न करना होगा, संवर और निर्जरा इन दोनों तत्त्वोंकी मान्यताका प्रयोजन यही है और चूंकि इन दोनों तत्त्वोंको सातवें मोक्षतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण माना गया है, इसलिये तत्त्वव्यवस्थामें मोक्षतत्त्वके पहले ही इन दोनों तत्त्वोंको स्थान दिया गया है। संवरको पाँचवाँ और निर्जराको छठा स्थान देनेका मतलब यह है कि जिस प्रकार पानीसे भरी हुई नावको डूबनेसे बचानेके लिये नावका बुद्धिमान मालिक पहले तो पानी आनेमें कारणभूत नावके छिद्रको बंद करता है और तब बादमें भरे हुए पानीको नावसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार मुक्तिके इच्छुक प्राणीको पहले तो

कर्मबन्धमें कारणभूत आस्रवको रोकना चाहिये जिससे कि कर्मबन्धकी आगामी परंपरा रुक जाय और तब बादमें बद्ध कर्मोंको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

यहाँपर इतना और समझ लेना चाहिए कि पूर्ण संवर होजानेके बाद ही निर्जराका प्रारम्भ नही माना गया है बल्कि जितने अंशोंमें संवर होता जाता है उतने अंशोमे निर्जराका प्रारम्भ भी होता जाता है । इस तरह पानी आनेके छिद्रको बंद करने और भरे हुए पानीको धीरे-धीरे बाहर निकालनेसे जिस प्रकार नाव पानी रहित हो जाती है उसी प्रकार कर्मबन्धके कारणोको नष्ट करने और बद्ध कर्मोंका धीरे-धीरे विनाश करनेसे अन्तमें जीव भी संसार (जन्म-मरण अथवा सुख-दु खकी परंपरा) से सर्वथा निर्लिप्त हो जाता है ।

सांख्य आदि दर्शनोंको यद्यपि पूर्वोक्त पाचो तत्त्व मान्य है । परन्तु उनकी पदार्थव्यवस्थामे जैनदर्शनके साथ परस्पर जो मतभेद पाया जाता है उसका कारण उनका भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण ही है । तात्पर्य यह है कि सारभूत-मुख्य-मूलभूत या प्रयोजनभूत पदार्थोंको तत्त्वनामसे पुकारा जाता है । यही सबब है कि जैन दर्शनके दृष्टिकोणके मुताबिक जगत्में नाना तरहके दूसरे-दूसरे पदार्थोंका अस्तित्व रहते हुए भी तत्त्व शब्दके इसी अभिप्रायको ध्यानमे रखकर प्राणियोंके आत्यन्तिक सुख (मुक्ति) की प्राप्तिमे जिनका समझ लेना प्रयोजन-भूत मान लिया गया है उन पूर्वोक्त चित्शक्तिविशिष्टतत्त्व स्वरूप जीव, कार्माणवर्गणास्वरूप अजीव तथा इन दोनोंके संयोगरूप बन्ध और वियोगरूप मुक्ति एवं संयोगके कारणभूत आस्रव और वियोगके कारणस्वरूप संवर और निर्जराको ही सप्ततत्त्वमयपदार्थव्यवस्थामे स्थान दिया गया है ।

साख्य दर्शनके दृष्टिकोणके अनुसार मुक्तिप्राप्तिके लिये चित्शक्तिविशिष्टतत्वस्वरूप पुरुष तथा इनकी शरीरसम्बन्धपरंपरारूप संसारकी मूलकारण स्वरूप प्रकृति और इन दोनोके संयोगसे होनेवाले बुद्धि आदि पंच-महाभूत पर्यन्त प्रकृतिविकारोको समझ लेना ही जरूरी या पर्याप्त मान लिया गया है । इसलिये साख्यदर्शनमे नानाचित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व, इनका शरीरसम्बन्धपरंपरा अथवा सुख-दुःखपरपरारूप संसारका कारण, संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन पाँचो तत्त्वोंकी मान्यता रहते हुए भी उसको (साख्यदर्शनको) पदार्थव्यवस्थामे सिर्फ पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि तेईस प्रकृतिविकारोको ही स्थान दिया गया है ।

जैनदर्शनकी सप्ततत्त्वस्वरूप पदार्थव्यवस्थाके साथ यदि साख्यदर्शनकी पच्चीस तत्त्वस्वरूप पदार्थ-व्यवस्थाका स्थूल रूपसे समन्वय किया जाय तो कहा जा सकता है कि जैनदर्शनके जीवतत्वके स्थानपर साख्य-दर्शनमे पुरुषतत्वको और जैनदर्शनके अजीवतत्त्व (कार्माणवर्गणा) के स्थानपर साख्यदर्शनमे प्रकृतितत्वको स्थान दिया गया है तथा जैनदर्शनके बन्धतत्वका यदि विस्तार किया जाय तो साख्यदर्शनकी बुद्धि आदि तेईस तत्वोंकी मान्यताका उसके साथ समन्वय किया जा सकता है । इतना समन्वय करनेके बाद इन दोनों दर्शनोंकी मान्यताओंमे सिर्फ इतना भेद रह जाता है कि जहाँ साख्यदर्शनमें बुद्धि आदि सभी तत्वोको पुरुषसंयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है वहाँ जैनदर्शनमे कुछको तो प्रकृतिसयुक्त पुरुषका विकार और कुछको पुरुषसंयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है । तात्पर्य यह है कि सांख्यदर्शनके पच्चीस तत्वोंको जैनदर्शनके जीव, अजीव और बन्ध इन तीन तत्त्वोमे संग्रहीत किया जा सकता है । इस प्रकार साख्यदर्शनमें पच्चीस तत्वोंके रूपमे नानाचित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व और इनका शरीरसम्बन्धपरम्परा अथवा सुख-दुःख परम्परारूप संसार ये दो तत्व तो कंठोक्त स्वीकार किये गये है । शेष संसारका कारण, ससारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तीन तत्वोंकी मान्यता रहते हुए भी इन्हे पदार्थमान्यतामे स्थान नही दिया गया है ।

योगदर्शनमें नाना चित्‌शक्तिविशिष्टतत्व, उनका संसार, संसारका कारण, मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तत्वोंकी मान्यता रहते हुए भी उसकी पदार्थव्यवस्था करीब-करीब सांख्यदर्शन जैसी ही है। विशेषता इतनी है कि योगदर्शनमें पुरुष और प्रकृतिके संयोग तथा प्रकृतिकी बुद्धि आदि तेईस तत्वरूप होने वाली परिणतिमें सहायक एक शाश्वत ईश्वरतत्वको भी स्वीकार किया गया है और मुक्तिके साधनोंका विस्तृत विवेचन भी योगदर्शनमें किया गया है।

सांख्यदर्शनकी पदार्थव्यवस्था योगदर्शनकी तरह वेदान्तदर्शनको भी मान्य है। लेकिन वेदान्तदर्शनमें उक्त पदार्थव्यवस्थाके मूलमें नित्य, व्यापक और एक परब्रह्म नामक तत्वको स्वीकार किया गया है तथा संसारको इसी परब्रह्मका विस्तार स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वेदान्तदर्शनमें यद्यपि एक परब्रह्मको ही तत्वरूपसे स्वीकार किया है परन्तु वहाँपर (वेदान्तदर्शनमें) भी प्रत्येक प्राणीके शरीरमें पृथक्-पृथक् रहने वाले चित्‌शक्तिविशिष्टतत्वोंको उस परब्रह्मके अंशोंके रूपमें स्वीकार करके उनका असत् स्वरूप अविद्याके साथ संयोग, इस संयोगके आधारपर उन चित्‌शक्तिविशिष्टतत्वोंका सुख-दुःख तथा शरीर-संबन्धकी परम्परारूप संसार, इस संसारसे छुटकारा स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण ये सब बातें स्वीकार की गयी हैं। वेदान्तदर्शनमें परब्रह्मको सत् और संसारको असत् माननेकी जो दृष्टि है उसका सामञ्जस्य जैनदर्शनकी करणानुयोगदृष्टि (उपयोगितावाद) से होता है क्योंकि जैनदर्शनमें भी संसार अथवा शरीरादि जिन पदार्थोंको द्रव्यानुयोग (वास्तविकतावाद) की दृष्टिसे सत् स्वीकार किया गया है उन्हीको करणानुयोगकी दृष्टिसे असत् स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमें भी करणानुयोगकी दृष्टिसे एक चित्‌शक्तिविशिष्ट आत्मतत्वको ही शाश्वत् होनेके कारण सत् स्वीकार किया गया है और शेष संसारके सभी तत्वोंको अशाश्वत, आत्मकल्याणमें अनुपयोगी अथवा बाधक होनेके कारण असत् (मिथ्या) स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार चित्‌शक्तिविशिष्ट तत्व, उनका पूर्वोक्त संसार और संसारका कारण इन तीन तत्वोंको स्वीकार करने वाले मीमांसादर्शनमें तथा इनके साथ-साथ मुक्ति और मुक्तिके कारण इन दो तत्वोंको मिलाकर पाँच तत्वोंको स्वीकार करने वाले न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनोंमें भी इनका जैनदर्शनकी तरह जो तत्वरूप से व्यवस्थित विवेचन नहीं किया गया है वह इन दर्शनोंके भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणका ही परिणाम है।

इस संपूर्ण कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनदर्शनकी सप्ततत्वमय पदार्थव्यवस्था यद्यपि उक्त सभी दर्शनोंको स्वीकार्य है परन्तु जहाँ जैनदर्शनमें उपयोगितावादके आधारपर उसका सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढंगसे विवेचन किया गया है वहाँ दूसरे दर्शनोंमें उसका विवेचन सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढंगसे नहीं किया गया है।

●

अर्थमें भूल और उसका समाधान

यों तो शब्दोंके अर्थमे कभी-कभी भूल हो जाया करती है और बादमें वह ठीक भी हो जाती है। लेकिन कोई-कोई भूल ऐसी हो जाती है जो कि परम्परामें पहुँच जाती है। फिर उसके विषयमें यह ध्यान भी नहीं होता कि भूल है या नहीं। ऐसे ही कुछ स्थलोंको यहाँपर रखता हूँ आशा है विद्वान पाठक अवश्य विचार करेंगे।

१. न्यायदीपिका

"असाधारणधर्मवचनं लक्षणमिति केचित्, तदनुपपन्नं लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसंगात् ।"

यह तो मुझे स्मरण नहीं कि गुरुमुखसे इसका क्या अर्थ मैंने सुना था, किन्तु उस समय मुझे इस ग्रंथकी ग़टा निवासी पं० खूबचन्द्र जी कृत हिन्दी-टीका देखनेका मौका मिला था, उसमे इन पंक्तियोका जो अर्थ किया गया है वह मुझे असंगत जान पड़ा। मालूम होता है इस हिन्दी-टीकाके सहारेपर ही कम-से-कम विद्यार्थी-समाजमें तो यह अर्थ अवश्य ही माना जाता है।

हमारी जैन परीक्षाओंमें भी यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है और बहुधा विद्यार्थी भी इसी ढगसे समाधान करते होंगे। अच्छा होता, यदि विद्वान परीक्षक इस अर्थके विषयमें कुछ संकेत करते, लेकिन इसपर आज तक किसीका भी ध्यान नही गया। अस्तु, उल्लिखित टीकामें इस प्रकार अर्थ किया गया है—

"कई मतवाले सर्वथा असाधारण धर्मको लक्षण कहते है, परन्तु यह उनका कहना ठीक नही है क्योंकि ···· लक्ष्य और लक्षण दोनो एक ही अधिकरणमें रहते है ऐसा नियम है। यदि ऐसा न मानोगे तो घटका लक्षण पट भी मानना पड़ेगा, परन्तु प्रवादीके माने हुए लक्षणके अनुसार लक्ष्य तथा लक्षण (का) रहना एक ही अधिकरणमें नही बन सकता, क्योंकि उसके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमे रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोंमें रहता है। जैसे पृथिवीका लक्षण गंध है वह गंध पृथिवीमे रहता है और पृथिवी अपने अवयवोंमें रहती है इसलिये इस लक्षणमे असंभव दोष आता है।"

१ यहाँपर टीकाकारने लक्ष्य और लक्षणके विषयमें एक अधिकरणका नियम मानकर उस नियमके अभावमें जो जो यह आपत्ति दी है कि घटका लक्षण पट भी मानना पड़ेगा, वह ठीक नही, कारण कि दूध और जल ये दोनों पदार्थ एक पात्रमे रखे जा सकते हैं तो उस अवस्थामे दूध और जलमे परस्परके लक्ष्य लक्षणभावकी आपत्ति एक अधिकरणके माननेपर भी बनी रहती है। रस और रूप तो सर्वदा एक ही अधिकरणमें रहते है, इसलिये इनमें तो यह आपत्ति स्पष्ट ही है।

२. स्वयं न्यायदीपिकाकारने भी लक्ष्य और लक्षणका एक अधिकरण स्वीकार नही किया है, अग्निका लक्षण उष्णपना और देवदत्तका लक्षण दण्ड इन दोनों लक्षणोंमें लक्ष्य और लक्षणका एक आधार कोई भी विद्वान स्वीकार नही करेगा।

३. आगे चलकर जो यह लिखा है कि "नैयायिकके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमें रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोंमें रहता है", यह लिखना भी ठीक नहीं, कारण एक तो लक्ष्य और लक्षणकी एकाधिकरणता लक्ष्य-लक्षणभावकी नियामक नहीं, जबकि लक्ष्य सर्वदा लक्षणका आधार ही रहता है। दूसरी बात यह है कि नैयायिकके मतानुसार गुणका लक्षण तो गुणमें रहता है और गुण द्रव्यमें रहता है न कि अपने अवयवोंमें,

तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि नैयायिकके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमें रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोंमें रहता है। यद्यपि द्रव्यकी अपेक्षासे यह कथन सम्मत कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ पर लक्ष्य-लक्षणभावका सामान्य कथन होनेके कारण ऐसा लिखना समालोच्य अवश्य है।

अब मैं पाठकोंके सामने उस अर्थको रखता हूँ जो संगत मालूम होता है। वचनका अर्थ वाक्य या शब्द होता है। लक्षणके कथनमें दो वाक्य होते हैं—१. लक्ष्यवाक्य, २. लक्षणवाक्य। नैयायिक असाधारण-धर्मवचनको लक्षण मानता है, इसलिये उसके अनुसार जब लक्षण धर्मवचन हुआ तो लक्ष्यको धर्मिवचन मानना होगा, कारण किसी पदार्थका असाधारणधर्म जब उस पदार्थका लक्षण माना जाता है तो लक्ष्यपदार्थ धर्मिरूप ही सिद्ध होता है।

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, गंधवती[1] पृथ्वी" इनमें सम्यग्ज्ञानत्व प्रमाणका और गंधवत्व या गंध पृथिवीका लक्षण है इसलिये 'सम्यग्ज्ञानं' और 'गंधवती' ये दोनों वचन लक्षणवचन है और 'प्रमाणं' तथा 'पृथिवी' ये दोनों लक्ष्यवचन हैं। यहाँपर सम्यग्ज्ञानपदवाच्य जो वस्तु है वही प्रमाणपदवाच्य है तथा गंधवतीपदवाच्य जो वस्तु है वही पृथिवीपदवाच्य है। इस प्रकार लक्ष्यवचन और लक्षणवचनका सामानाधिकरण्य मानना पड़ता है, कारण बिना सामानाधिकरण्यके समानविभक्तिक प्रयोग नही हो सकते।

[2]भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवाले शब्दोंकी एक अर्थमें वृत्तिको सामानाधिकरण्य कहते हैं। यहाँ पर वृत्तिका अर्थ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध शब्द और अर्थका वाच्य-वाचकभावरूप माना गया है। "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं" इसमे 'सम्यग्ज्ञानं' इस लक्षणवचनका प्रवृत्तिनिमित्त सम्यग्ज्ञानत्व है, 'प्रमाणं' इस लक्ष्यवचनका प्रवृत्तिनिमित्त प्रमाणत्व है। इस तरह भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवाले ये दोनों शब्द एक ही अर्थके बोधक है अर्थात् सम्यग्ज्ञान-शब्दसे जिस अर्थका बोध होता है वही अर्थ प्रमाणशब्दसे जाना जाता है, कारण कि जो वस्तु सम्यग्ज्ञान है वही तो प्रमाण है। इसी प्रकार गन्धवत्वप्रवृत्तिनिमित्तवाले गन्धवतीशब्दसे जिस अर्थका बोध होता है वही अर्थ पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तवाले पृथिवीशब्दसे जाना जाता है, कारण जो पदार्थ गन्धवान् है वही तो पृथिवी है। इस तरह लक्ष्यवचन और लक्षणवचन एक ही अर्थके प्रतिपादक होनेसे वे समानाधिकरण सिद्ध होते हैं। नैयायिकके मतानुसार लक्ष्यवचन धर्मिवचनरूप और लक्षणवचन धर्मवचन रूप ही सिद्ध होते हैं। लेकिन धर्मिवचन और धर्मवचन कभी भी एक अर्थके प्रतिपादक नहीं होते हैं—धर्मवचन धर्मका ही प्रतिपादन करता है और धर्मिवचन धर्मीका ही प्रतिपादन करता है, इसलिये इन दोनोंमें एकार्थप्रतिपादनरूप सामाना-धिकरण्यका अभाव प्राप्त होता है, वह उचित नही कहा जा सकता है, कारण कि लक्ष्यवचन और लक्षण-वचनमे सामानाधिकरण्य "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं, गन्धवती पृथ्वी" इत्यादि स्थलोंमे माना गया है, इसलिये नैयायिकके द्वारा माना हुआ लक्षणका लक्षण ठीक नही है। उसमें असम्भव दोष आता है।

२. आप्तपरीक्षा

"स्यान्मतं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवद्रव्याणि। द्रव्यपदस्यार्थ इति (चेत्), कथमेको द्रव्यपदार्थः ? सामान्यसंज्ञाभिधानादिति चेन्न सामान्यसंज्ञाया सामान्यवद्विषयत्वात्। तदर्थस्य सामान्य-पदार्थत्वे ततो विशेष्यप्रवृत्तिप्रसंगात्; द्रव्यपदार्थस्यैकस्यासिद्धेश्च" (पृष्ठ ४, पुराना संस्करण)।

१. नैयायिक मतानुसार।

२. भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।

—सिद्धान्तकौमुदी व्याकरण, न्या० न० बोधनी टीका।

बहुधा विद्यालयोंमें इस स्थलपर "सामान्यवद्विषयत्वात्" के स्थानमें 'सामान्यविषयत्वात्' ऐसा पाठ सुधार दिया जाता है तथा अभी इस ग्रन्थका नवीन संस्करण कठनेराजीने निकाला है। उसमें तो "वत्" शब्दको बिलकुल निकाल दिया गया है। मेरी समझसे संशोधकोंका कर्तव्य होना चाहिये कि वे जिस पाठको अशुद्ध समझें उसका पाठान्तर कर दें, यह रीति बहुत ही आदरणीय मानी जा सकती है क्योंकि कहीं-कहींपर शुद्ध पाठको अशुद्ध समझ कर निकाल देनेमें शुद्ध पाठकी खोजके लिये बहुत कठिनाई उठाना पड़ती है।

ऊपर लिखा पाठ ही शुद्ध है। अभी तक जो हमारे विद्वान "वत्" शब्दको निकालकर अर्थ करते आ रहे हैं वह अशुद्ध है। इसका विचार करनेके लिये इस स्थलका अर्थ यहाँ लिखा जाता है।

यहाँपर वादी वैशेषिक द्रव्यपदार्थको एक सिद्ध करना चाहता है। लेकिन वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नवको द्रव्यपदका अर्थ स्वीकार करता है, इसलिये उससे प्रश्न किया गया है कि जब तुम द्रव्यपदके नव (नौ) अर्थ मानते हो तो एक द्रव्यपदार्थ कैसे सिद्ध होगा? इसके उत्तरमें वह कहता है कि 'द्रव्य' यह पद नौकी सामान्यसंज्ञा है। वह समझता है कि सामान्यसंज्ञाका वाच्य सामान्य ही हो सकता है, इसलिये द्रव्यपदका सामान्यरूप एक अर्थ सिद्ध होनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती है। इसपर ग्रन्थकारने निम्न प्रकार बाधायें उपस्थित की हैं—

(१) सामान्यसंज्ञाका सामान्य विषय (वाच्य) नहीं होकर सामान्यवान् विषय होता है क्योंकि जिस शब्दके श्रवणसे जिस पदार्थमें लोगोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है उस शब्दका वही अर्थ माना जाता है। "द्रव्यमानय", "द्रव्यं पश्य" इत्यादि वाक्योंसे पृथिवी, जल आदि विशेषमें ही आनयन व देखनेरूप मनुष्योंकी प्रवृत्ति देखी जाती है, द्रव्यत्वसामान्यमें नहीं, इसलिये द्रव्यपदके द्रव्यत्वसामान्यवान् पृथिवी, जल आदि विशेष नौ पदार्थ ही अर्थ सिद्ध होंगे, एक सामान्यपदार्थ नहीं।

(२) यदि द्रव्यपदका द्रव्यत्वसामान्य ही अर्थ माना जाय तो द्रव्यपदके श्रवणसे पृथिवी, जल आदि विशेषमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति नहीं होना चाहिये, लेकिन होती है, इसलिये द्रव्यपदका द्रव्यत्वसामान्य अर्थ युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है।

(३) किसी तरहसे द्रव्यत्वसामान्य अर्थ मान भी लिया जाय, तो भी द्रव्यपदार्थ एक सिद्ध न होगा। इसका कारण ग्रन्थमें इस स्थलके आगे स्पष्ट किया गया है, यहाँपर उपयोगी न होनेसे नहीं लिखा है।

मुझे आशा है कि अब अवश्य ही इन स्थलोंके अर्थमें सुधार किया जायगा और यदि मेरे लिखनेमें कोई त्रुटि होगी तो विद्वान पाठक मुझे अवश्य ही सूचित करेंगे।

इस लेखपर स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी जैन न्यायतीर्थ न्यायाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशीने अपना अभिप्राय निम्न रूपमें प्रकट किया था।

जैन मित्र(४ मई १९३३) में भाई बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका "अर्थमें भूल" शीर्षक लेख देखा। मैं पंडितजीकी इस उपयोगी चर्चाका अभिनन्दन करता हूँ। पं० खूबचन्द्रजी कृत न्यायदीपिकाकी हिन्दी टीका तथा पं० जीके अर्थका मिलान किया। इस विषयमें मेरे विचार निम्न प्रकार हैं—

न्यायदीपिकाकारने लक्षणके दो भेद किये हैं—(१) आत्मभूत, (२) अनात्मभूत। अनात्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य होना जरूरी नहीं, क्योंकि वह लक्षण वस्तुस्वरूपमें मिला हुआ नहीं होता, भिन्न पदार्थ ही

इसमें लक्षक होता है। 'दण्डः पुरुषस्य' इस लक्षणमे यदि एकाधारवृत्तित्वलक्षण सामानाधिकरण्य नही है तो एकार्थप्रतिपादकत्वलक्षण सामानाधिकरण्य भी नही है। जिस तरह 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाण', इस लक्षणमें भी जो सम्यग्ज्ञानपदवाच्य है वही तो प्रमाणपदवाच्य है या जो प्रमाणपदवाच्य है वही तो सम्यग्ज्ञानपद वाच्य है ऐसा एकार्थप्रतिपादकत्वेन सामानाधिकरण्य होता है वैसा 'दण्डःपुरुषस्य' यहाँपर ''जो पुरुषपद-वाच्य है वही दण्डवत्वपदवाच्य है या जो दण्डवत्वपदवाच्य है वही पुरुषपदवाच्य'' ऐसा नियम नही है, क्योंकि दण्डवत्वाभावमे भी पुरुष और पुरुषाभावमे भी दण्डवत्व हो सकता है। परन्तु आत्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य होना अत्यावश्यक है। वह सामानाधिकरण्य यदि एकार्थप्रतिपादकत्वेन हो सकता है तो एकाधारवृत्तित्वेन होनेमें कोई बाधा नही है क्योकि आत्मभूतलक्षण वस्तुस्वरूपात्मक होता है। स्वरूपसे कथंचित्तादात्म्य रखनेवाली वस्तुओंमे भिन्नाधिकरणता संभव ही नही है अन्यथा स्वरूप-स्वरूपवद्भाव ही न हो सकेगा।

यह आपत्ति भी ठीक नही है कि दूध और जलमें एक भाजनवृत्तित्वेन सामानाधिकरण्य एवं रूप और रसमे अभिन्नद्रव्याधारतया सामानाधिकरण्य जब है तो लक्ष्यलक्षणभाव होना चाहिये, क्योकि लक्ष्यलक्षण-भाव व्याप्य है सामानाधिकरण्य व्यापक; इसलिये जहाँ-जहाँ लक्ष्यलक्षणभाव (आत्मभूतीय) होगा वहाँ-वहाँपर सामानाधिकरण्य अवश्य होगा, किन्तु सामानाधिकरण्य होनेपर लक्ष्यलक्षणभाव होना जरूरी नही है।

'अग्नेरौष्ण्य' यहाँपर एकाधिकरण है क्योंकि जो औष्ण्यका आधार है वही तो अग्निका है कथं-चित्तादात्म्य होनेसे भिन्नाधिकरणता कदापि सम्भव नही', अन्यथा गुणगुणिभावका लोप हो जायगा। नैया-यिकके यहाँ द्रव्य, गुण, कर्म आदि स्वतंत्र पदार्थ है। इनमे समवायसम्बन्ध होता है कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध उसने माना नही है। इसलिये उसके यहाँ द्रव्यका लक्षण द्रव्यमे रहेगा तो द्रव्य अपने अवयवोंमे, इस तरह भिन्नाधिकरणता, गुणका लक्षण गुणमें, गुण द्रव्यमें इस तरह भिन्नाधिकरणता, कर्मका लक्षण कर्ममें, कर्म द्रव्यमें इस तरह भिन्नाधिकरणता सर्वत्र बनी रहती है, इसलिये असम्भवदोष बाधितलक्ष्यवृत्ति होनेसे आ जाता है।

न्यायदीपिकाकारने आत्मभूतलक्षणको जो पृथक् किया है उसका अन्तरंगकारण सामानाधिकरण्यकी आवश्यकता ही है। आशा है कि इस ग्रन्थको लगाते समय इन बातोका ध्यान अवश्य रखा जायगा।

जैनमित्र, ता० ८ जून सन् १९३३, अंक ३२ वर्ष ३४ मे प्रकाशित।

इसका उत्तर हमने निम्नलिखित दिया।

बन्धुवर प० महेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ न्यायाध्यापक स्या० महाविद्यालय काशीने मेरे द्वारा किये गये न्यायदीपिकाके अर्थमें मतभेद दिखलाते हुए कुछ विचार प्रकट किये हैं।

पं० जीका आशय है कि ''आत्मभूतलक्षणमे सामानाधिकरण होना आवश्यक है वह एकार्थप्रति-पादकत्वरूप या एकाधारवृत्तित्वरूप हो सकता है। अनात्मभूतलक्षणमे सामानाधिकरण्य आवश्यक नही, चाहे वह एकार्थप्रतिपादकत्वरूप हो या एकाधारवृत्तित्वरूप हो।''

यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य शब्दवृत्ति है, इसलिये वह लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमें रहेगा, एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य अर्थवृत्ति है, इसलिये वह लक्ष्य-वस्तु और लक्षणवस्तुमें पाया जायगा।

मेरा खयाल है कि आत्मभूतलक्षणमे भी अनात्मभूतलक्षणकी तरह लक्ष्य और लक्षण वस्तुओंमें एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यका सद्भाव अथवा उसका ज्ञान लक्ष्यलक्षणभावका प्रयोजक नही, यदि माना जाय तो नैयायिकको कभी भी गन्धवतीशब्दसे पृथ्वीका भान नही होना चाहिये, क्योंकि गंध और पृथ्वीका एक आधार नही होनेसे लक्ष्यलक्षणभाव नही बन सकता है। और तो क्या जैनी भी यदि नैयायिकके ग्रन्थोंमें गन्धवती शब्दको देखते है तो उसका अर्थ पृथ्वी ही करते हैं क्योंकि वे समझते है कि नैयायिकने गन्धको पृथ्वीका लक्षण स्वीकार किया है उसके यहाँ पृथ्वीका बोधक गन्धवतीशब्द लाक्षणिक है, सांकेतिक नही। इसलिये हम यह कैसे कह सकते हैं कि नैयायिकके यहाँ लक्ष्य और लक्षण वस्तुओंमे भिन्नाधिकरणता रहनेसे असाधारणधर्म रूप लक्षणमे असम्भव दोष आता है जबकि उसके मतानुसार हम गन्धको पृथ्वीका लक्षण स्वीकार कर लेते है। 'गंध पृथ्वीका लक्षण' हम (जैनी) इसलिये नही करते कि इसमे असंभव दोष आता है किन्तु इसलिये नही करते है कि गन्ध पृथ्वीका असाधारण धर्म नही है, कारण कि (जैन मान्यतानुसार) जलादिकमें भी गंध पाया जाता है। लक्षण पदार्थका ज्ञापक माना गया है। नैयायिककी मान्यतानुसार गन्ध पृथ्वीका ज्ञापक सिद्ध होता ही है; भले हो उनमें एकाधिकरण्य न हो। इसलिये इस ढंगसे असम्भव दोष बतलाना संगत नही कहा जा सकता है। जो लक्षण लक्ष्यमें न पाया जाय, उसको असंभवित कहते है, नैयायिक असाधारणधर्मको लक्षण मानता है तथा उसके यहाँ गन्ध पृथ्वीका असाधारण धर्म है अर्थात् गन्ध पृथ्वीरूप लक्ष्यमे रहता है तो यह लक्षण बाधितलक्ष्यवृत्ति कैसे हो सकता है? 'गन्धवज्जलं' यह लक्षण उसके मतसे असंभवित है क्योंकि वह बाधितलक्ष्यवृत्ति है।

जैनियोंने लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत दो भेद स्वीकार किये है। नैयायिक इन भेदोको नही मानता, तब यदि वह 'गन्धवती पृथ्वी' इस लक्षणको 'दण्डी पुरुष' की तरह अनात्मभूत स्वीकार कर ले तो फिर उसके यहाँ इस लक्षणमे असभव दोष कैसे आ सकता है? इतने पर भी यदि एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यके अभावसे यहाँपर असभव दोष माना जाय तो 'दण्डी पुरुष' इस अनात्मभूतलक्षणमें वह दोष क्यों नही होगा? यह बात विचारने योग्य है। दूध और जल तथा रूप और रसमें जब एकाधारवृत्तित्व है तो वहाँ पर लक्ष्य-लक्षण भावकी आपत्ति बिल्कुल स्पष्ट है। यद्यपि सामानाधिकरण्यको व्यापक और लक्ष्यलक्षणभावको व्याप्य मान लेनेसे यह आपत्ति नहीं रहती, किन्तु विचारना यह है कि ऐसा व्याप्य-व्यापकभाव संगत है या नही?

अनात्मभूतलक्षणमें एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यका अभाव रहनेपर भी लक्ष्य-लक्षणभाव स्वीकार किया गया है, इसलिये लक्ष्य-लक्षणभाव सामानाधिकरण्यका व्याप्य नहीं हो सकता है। आत्मभूतीय लक्ष्य-लक्षणभाव उक्त सामानाधिकरण्यका व्याप्य है अनात्मभूतीय नही, इस तरहके भेदका कोई नियामक नहीं, जबकि दोनो जगह समानरूपसे लक्ष्य-लक्षणभाव पाया जाता है। आत्मभूतीय लक्ष्य-लक्षणभाव भी सामानाधिकरण्यका व्याप्य सिद्ध नही होता है, कारण कि जैसा एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकारण्य रूप और रस तथा दूध और जलमें पाया जाता है वैसा अग्नि और उष्णतामे नहीं पाया जाता, इस प्रकार जब अग्नि और उष्णतामें सामानाधिकरण्याभाव ही सिद्ध होता है तो लक्ष्य-लक्षणभाव सामानाधिकरण्यका व्याप्य कैसे हो सकता है?

रूप और रस तथा दूध और जलमे सामानाधिकरण्य रहते हुए भी लक्ष्य-लक्षणभाव आप स्वीकार नही करते है। इससे सुतरा सिद्ध होता है कि लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य नहीं, बल्कि दूसरा ही कोई कारण है जिससे पदार्थोंमें लक्ष्य-लक्षणभावकी कल्पना की जाती है। इसलिये आत्मभूतलक्षण-

में लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक लक्ष्य और लक्षणवस्तुओंका एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यको मानना ठीक नहीं है। आत्मभूतलक्षणमें उक्त सामानाधिकरण्यको लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक माननेमें एक दोष यह भी है कि जब अनात्मभूतलक्षणमें भी लक्ष्यलक्षणभाव रहता है तो वहाँपर भी उसका प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य भी रहना चाहिये, अन्यथा अनात्मभूतलक्षणमें लक्ष्य-लक्षणभावका अभाव मानना पड़ेगा।

यदि कहा जाय कि उक्त सामानाधिकरण्य लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक नहीं, किन्तु लक्षण ही आत्मभूतताका प्रयोजक है तो प्रथम तो लक्ष्य-लक्षणभावमें इसके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है, दूसरे लक्षणकी आत्मभूतताका भी प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य नहीं है, कारण अग्निका लक्षण उष्णता है उष्णताका आधार अग्नि है, यह तो ठीक है किन्तु अग्निको स्वका भी आधार मान करके सामानाधिकरण्यकी कल्पना युक्ति और अनुभवसे विरुद्ध जान पड़ती है। तीसरे, ऐसा सामानाधिकरण्य तो अनात्मभूतलक्षणमें भी रह सकता है क्योंकि जिस पुरुषके हस्तमें जो दण्ड रहता है वही दण्ड लक्षक होता है और वह भी उसी पुरुष का, वह दण्ड दूसरे पुरुषका लक्षक नहीं, तथा दूसरा दण्ड उस पुरुषका लक्षक नहीं, ऐसी हालतमें उस दण्डका आधार वह पुरुष है—जिस तरह कि उष्णताका आधार अग्नि होता है तथा उस पुरुषको स्वका आधार मान लेना चाहिये, जिस तरह कि अग्निको स्वका आधार मान लिया गया है, इस तरहसे लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत दो भेद असंगत ठहरते हैं। इसलिये एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य लक्षणकी आत्मभूतताका भी प्रयोजक सिद्ध नहीं होता है। लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत भेदोंका प्रयोजक अपृथक्पना और पृथक्पना है। उष्णताको अग्निसे कभी भी पृथक् नहीं कर सकते, जबकि दण्ड और पुरुष दोनों पदार्थ पृथक् सिद्ध है।

जैनियोंने स्वरूप-स्वरूपवान तथा गुण-गुणीमे तादात्म्यसम्बन्ध माना है। तादात्म्यका अर्थ भेद और अभेद है, स्वरूपस्वरूपवद्भाव, गुणगुणिभाव भेदका नियामक है, कारण स्वरूप और स्वरूपवानमें तथा गुण और गुणीमे भेद माननेसे ही स्वरूपस्वरूपवद्भाव और गुणगुणिभावकी कल्पना हो सकती है, अभेद माननेसे अग्नि स्वरूपवान या गुणी है और उष्णता उसका स्वरूप या गुण है ऐसा भान या कथन नहीं हो सकता है। अभेद मानते इसलिये हैं कि उष्णता अग्निका ही स्वरूप है अन्यका नहीं। उष्णताको छोडकर अग्निकी स्वतंत्र सत्ता निर्धारित नहीं कर सकते, यही तादात्म्यसम्बन्धका अभिप्राय है। उष्णताका आधार अग्नि है या उष्णता अग्निका लक्षण है, यह कथन भी भेददृष्टिसे हो हो सकता है, अभेदकी अपेक्षासे आधाराधेयभाव या लक्ष्य-लक्षणभावकी कल्पना कदापि संभव नहीं। तादात्म्य रखनेवाली वस्तुओंमें भिन्नाधिकरणता भले ही आप न माने, लेकिन उनमें एकाधिकरणता संभव नहीं, अथवा एकाधिकरणता स्वरूपस्वरूपवद्भाव, गुणगुणिभाव; आधाराधेयभाव, लक्ष्यलक्षणभाव आदिकी नियामक नहीं, यह बात स्पष्ट हो चुकी है।

अब हमको थोडा न्यायदीपिकाके शब्दोंपर भी ध्यान देना चाहिये। न्यायदीपिकाकारने लक्ष्यधर्मिवचन और लक्षणधर्मवचनमें सामानाधिकरण्यके अभावका प्रसंग बतलाया है, न कि लक्ष्यवस्तु और लक्षणवस्तुमें। इसलिये वह भी सामानाधिकरण्य एकार्थप्रतिपादकत्वरूप ही हो सकता है और वह आत्मभूत एवं अनात्मभूत दोनों तरहके लक्षणवाक्योंके लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमें समानरूपसे पाया जाता है। जिस प्रकार 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' यहांपर सम्यग्ज्ञानत्व प्रमाणका लक्षण है, इसलिये 'सम्यग्ज्ञानं' यह पद लक्षणवचन है और प्रमाण लक्ष्य है, इसलिये 'प्रमाणं' यह पद लक्ष्यवचन है। ये दोनों वचन एकार्थके प्रतिपादक हैं क्योंकि सम्यग्ज्ञानवस्तुको छोड़कर प्रमाण कोई दूसरी वस्तु नहीं। इसी प्रकार 'दण्डी पुरुषः' यहांपर दण्डित्व (दण्ड)

पुरुषका लक्षण है इसलिये 'दण्डी' यह पद लक्षणवचन है और पुरुष लक्ष्य है इसलिये 'पुरुषः' यहाँपर लक्ष्य-वचन है। ये दोनों वचन भी एकार्थके प्रतिपादक है क्योंकि दण्डीशब्दसे दण्डविशिष्टका बोध होता है। दण्ड-विशिष्ट यहापर पुरुषपदार्थ है वही पुरुषपदार्थ पुरुषपदका भी अर्थ होता है। इस तरह अनात्मभूतलक्षणमें भी लक्ष्यवचन और लक्षणवचनका एकार्थप्रतिपादकत्वरूप समानाधिकरण्य रहता ही है। जहा यह नहीं हो, वह लक्षण दूषित कहा जाता है। जैसे 'विषाणी पुरुष' यहापर 'विषाणी' इस लक्षणवचनका विषाणविशिष्ट अर्थ होता है लेकिन पुरुषपदार्थ विषाणविशिष्ट नही होता, इसलिये विषाणी और पुरुष' इन दोनों वचनोंमें एकार्थ-प्रतिपादकत्वका अभाव होनेसे यह लक्षण असंभवित कहा जाता है।

जैनमित्र, २४ अगस्त १९३३, अंक ४३ वर्ष २४

साहित्य और इतिहास

साहित्य और इतिहास

●

वीराष्टकम्
[समस्या–कान्ताकटाक्षाक्षतः (क्षताः)]

यः कल्याणकरो मतस्त्रिजगतो लोकश्च यं सेवते ।
येनाकारि मनोभवो गतमदो यस्मै भवः क्रुध्यति ॥
यस्मान्मोहमहाभटोऽपि विगतो यस्य प्रिया मुक्तिरमा ।
यस्मिन्स्नेहगतः स नो भवति कः कान्ताकटाक्षाऽक्षतः ॥ १ ॥

यस्याघृष्यमतं मतं जनहितं सद्धर्मषाणोपलम् ।
नम्रीभूतसुरेन्द्रवृन्दमुकुटे पादच्छलात्सङ्गतम् ॥
भव्यैरप्यनुगीयमानयशसा व्याक्रान्तलोकत्रयं ।
यस्माद्योऽस्ति नयार्पणां[1] दधदनेकान्ताऽकटाऽऽक्षाक्षतः ॥ २ ॥

यस्य प्रेङ्खदखर्वकांतिमणिभि प्रोद्योतितामातता–
मास्थानावनिमागतैर्दिविरतैः प्रक्रान्ततूर्यत्रिकाम् ॥
तामालोक्य भवाङ्गभोगनिरता मिथ्यादृशोऽप्यादृताः ।
सम्यक्त्वं विभवं भवन्ति [2]कुनयैकान्ताऽऽकटाक्षाऽक्षता ॥ ३ ॥

ये प्राक् त्रासमुपागता मतिहता वाण्याः कृपाण्या परेऽ-
नीतिज्ञानलवोद्धता गतपथास्तत्त्वार्थके[3] सङ्गरे ॥
निक्षिप्ता सुनयप्रमाणभुवि ते चेतश्चमत्कारिणो ।
येन ज्ञानसमाहिता खलु कृताः कान्ताकटाक्षाऽक्षताः ॥ ४ ॥

यस्य प्रार्चनभक्तिचञ्चितमना भेकोऽपि तत्कोपिना ।
देवेन प्रहतोऽप्यभूदमरभूकान्ताकटाक्षाऽऽक्षताः[4] ॥
तत् किं यस्य पदार्चने कृतधियः सामोदभावेन हि ।
जायन्ते भवयोषितां शिवरमाकान्ताः कटाक्षाऽक्षता ॥ ५ ॥

यस्याद्य[5] भ्रमरावलीव कमले[6] भव्यावलीमन्दिरे ।
सम्फुल्लत्कमलावलीं परिकनद्दीपावलीं विन्दती ॥

---

१. नयार्पणा नयविवक्षां दधत् दधानो योऽनेकान्त एकत्र वर्तमानसत्त्वासत्त्वादिरूपस्तस्य, अकटं-कटति गच्छति नश्यतीति यावत्, कटम् (पचाद्यच्प्रत्यय) विनशनशीलं, न कटमकटमविनाशि तच्च तद् आक्षम्, अक्ष आत्मा, स्वाभाव्येन तत्संबंधि-आक्षं ज्ञानम्, अकटाक्षं केवलज्ञानं, तेन अक्षतो व्याप्त इत्यर्थः ।

२. कुत्सिता नयाः कुनयास्तद्विषयभूतस्तद्रूपो वा य एकांतस्तस्य, आकटाक्षाः–ईषत्कटाक्षाः (आङ्ईषदर्थे) तैरपि, अक्षताः अविद्धाः भवन्तीत्यन्वयः ।

३. तत्त्वं स्वसिद्धान्तः शत्रुपक्षे–स्वाभिलाषारूपमर्थः प्रयोजनं यस्य स तस्मिन्, संगरे प्रतिज्ञावाक्ये । अत्रेदं तात्पर्यम् प्रतिज्ञावाक्यमुपन्यस्यन्तः एव परे त्रासमुपागता, न तु तैः हेत्वाद्युपन्यस्तम्, पक्षे–सङ्गरे युद्धे ।

४. अमरभूः स्वर्गः, तस्याः कान्ता अमराङ्गना, तासां कटाक्षैः आक्षतः–आ समन्तात् क्षतः ।

५. अद्य श्रीवीरभगवतो निर्वाणदिवसे । ६. जलविशिष्टसरोवरे ।

५–१

चेतस्यामसुदावलीति तु वरं चित्रं विचित्रं न्विद[1]-
मेका[2] कामवशाऽपरा[3] भवति नो कान्ताकटाक्षाक्षता:[4] ॥ ६ ॥

वीरः सोऽस्तु मम प्रसन्नमतये तं सङ्गतोऽहं तत. ।
सूक्तं तेन हितं मतं जगदतो वीराय तस्मै नमः ॥
अन्यो नास्ति ततः प्रियङ्कर इतस्तस्य स्मृतिर्मे हृदि ।
वीरे तत्र रतो भवान्ययमहं कान्ताकटाक्षाऽक्षत ॥ ७ ॥

वं-शौन्नत्यकरोऽप्यसौ नरपतेः सिद्धार्थकस्यात्मभू ।
शी-लेनाधिकृताहितोऽपि तपसास्त्रेण प्रकृत्[5] कर्मणाम् ॥
ध-न्यानामिति विस्मयं विदधती पूर्वं तु पश्चात् प्रभो-
र-स्येयं कृतिरातनोतु[6] कमनक्‌काऽन्ताऽकटाक्षाऽक्षत. ॥८॥

●

---

१. न्विति नन्वर्थे ।

२. भ्रमरावली ।

३. भव्यावली ।

४. कान्तानां कटाक्षै आक्षता—इतिच्छेदस्तस्य आ—ईषदपि क्षता विद्धा नो भवतीत्यर्थ इति चित्रम्, भ्रमरावलीभव्यावलीयुगलस्य प्रदर्शितसादृश्येऽपि विरुद्धकरणमिति चित्रत्वं स्पष्टमेव । किञ्च कान्तानां कटाक्षै अक्षता—इतिच्छेदः तस्य न क्षतेति अक्षता—अविद्धा नो भवतीत्यर्थः, इति विचित्रं विगतचित्रमित्यर्थं. । भ्रमरावलीभव्यावलीद्वयस्य यत्पूर्वं सादृश्यं प्रदर्शितं तदधुनापि वर्तते एवेति चित्रत्वाभाव । परमेतस्मिन्नर्थे भव्यावल्यपि, वीरभगवतो जिनालयं संप्राप्तापि, भगवतो निर्वाणमहोत्सव विदधानापि, तत्रामोदं दधानापि कान्ताकटाक्षैरक्षता न भवतीतिविशेषण चित्रतेति ।

५. प्रकर्षेण कृन्तति छिनत्तीति प्रकृत् ।

६. नश्यतीति नक्, न नक् अनक्, अविनाशि, अनन्तमिति यावत्, तच्च तत्कं सुखं, तद् अन्तः स्वभावो यस्येति अनक्‌कान्तः अत्र अनन्तसुखसाहचर्याद् अनन्तज्ञानादिकमपि संग्रहीतं भवतीति अनन्तचतुष्टयस्वरूप इति तात्पर्यम्, स चासौ अश्च विष्णुर्व्यापक इत्यर्थ. । भगवतो वीरस्य सकलपदार्थविषयज्ञानवित्वात् व्यापकत्वमक्षतम् इति अनक्‌कान्ताः भगवान् वीर एव तस्य कटाक्षाः तेभ्यो जातं यद् आक्ष ज्ञानं तस्मादिति (तसिल् प्रत्यय.) तस्माद्धेतोः अस्य प्रभोरियमस्य श्लोकस्य पूर्वार्धे दर्शिता कृतिः कं—सुखमातनोतु विस्तारयतु, धन्यानामिति पूर्वेण सम्बन्धः । पूर्वं विस्मयकरी पश्चात्तु भगवत्प्रसादात् ज्ञानलाभात् सुखकरी भवतु कृतिरियं भगवतः इति भावः । एवं वंशीधरस्येयं वीरस्तुतिरूपकृति. भगवतः प्रसादजन्यज्ञानलाभात् सुखकरी भवतु धन्यानामित्यपि बोध्यमिति ।

समयसारकी रचनामें आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि

समयसारका आलोडन करनेसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि उसकी रचना आचार्य कुन्दकुन्दने इस दृष्टिसे की है कि सम्पूर्ण मानवसमष्टि इसे पढ़कर इसके अभिप्रायको समझें और उस अभिप्रायके अनुसार अपनी जीवनप्रवृत्तियोंको नैतिक रूप देनेका दृढ़ संकल्प करें, जिससे वे जीवनके अन्ततक सुखपूर्वक जिन्दा रह सकें।

इस प्रकार अपनी जीवनप्रवृत्तियोंको नैतिक रूप देनेवाली मानवसमष्टिमेंसे जो मानव जितने परिणाममें अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक स्वावलम्बनताका अपनेमें विकास कर ले, उतना वह आध्यात्मिक (आत्म-स्वातन्त्र्यके) मार्गका पथिक बन सकता है।

जीवके भेद

जैनशासनमें जीवोंके संसारी और मुक्त दो भेद बतलाये गये है। (देखो, त. सू., अ. २ का "संसारिणो मुक्ताश्च" सू० १०)।

इस सूत्रसे यह भी ज्ञात होता है कि संसारकी समाप्तिका नाम ही मुक्ति है और जो जीव संसारसे मुक्त हो जाते है, वे ही सिद्ध कहलाते है। जैनशासनके अनुसार कोई भी जीव अनादिसिद्ध नही है। जैसा कि इतर दार्शनिकोंने माना है।

संसारी जीवोंके भेद

जैनशासनके अनुसार संसारी जीव भी भव्य और अभव्य दो प्रकारके है। उनमेंसे भव्य जीव वे हैं जिनमें ससारसे मुक्त होनेकी स्वभावसिद्ध योग्यता विद्यमान हो और अभव्य जीव वे हैं, जिनमे उस स्वभावसिद्ध योग्यताका सर्वथा अभाव हो।

भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीव अनादिकालसे पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होनेके कारण उन कर्मोंके प्रभावसे अनादिकालसे ही यथायोग्य नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियोंमें परिभ्रमण करते आये हैं और अपनी स्वावलम्बनशक्तिको भूलकर यथासंभव मानसिक, वाचनिक और कायिक परावलम्बनताकी स्थितिमें रहते आये हैं, तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके प्रभावमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें रहते हुए सतत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक अनैतिक (मिथ्या) आचरण करते आये हैं। ऐसे जीवोको समयसार गाथा १२ से लेकर गाथा २३ तक अपनेसे भिन्न पदार्थोंमे अहंबुद्धि और ममबुद्धि होनेके कारण अप्रतिबुद्ध प्रतिपादित किया गया है। तथा ये जीव अप्रतिबुद्ध क्यों है, इस बातको समयसार गाथा २४ और २५ मे आगम और तर्कके आधारपर सिद्ध किया गया है।

यद्यपि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन सभी गतियोंके जीव इस प्रकारसे अप्रतिबुद्ध हो रहे हैं, और सभी गतियोंके बहुतसे जीव इस अप्रतिबुद्धताको समाप्त कर प्रतिबुद्ध भी हो सकते हैं, परन्तु जीवोंकी मुक्तिकी प्राप्ति मनुष्यगतिसे ही हो सकती है। इसलिए समयसारमें जो विवेचन किया गया है वह मानवसमष्टिको लक्ष्यमें रखकर ही किया गया है।

जैनशासनके अनुसार भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीव मुक्तिके मार्गमें प्रवेश कर सकते हैं, क्योंकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यताकी पहिचान कर सकते है और न अभव्य जीव अपनी अभव्यताकी पहिचान कर सकते है इसलिए भव्य जीवोंके समान अभव्य जीव भी अपनेको भव्य समझकर मुक्तिके मार्गमें

प्रवृत्त होते हैं। समयसार गाथा १७५ में बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी भव्य जीवके समान मोक्षके मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) में आस्था रखता है, उसको समझता है, उसमें रुचि रखता है और उसमें प्रवृत्त भी होता है। इतनी बात अवश्य है कि उसका वह धर्माचरण मुक्तिका कारण न होकर यथायोग्य सांसारिक सुखकी वृद्धिका ही कारण होता है।

तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके प्रभावमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे रहते हुए भी यथायोग्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पंचम गुणस्थानवर्ती और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवोंके समान धर्माचरण करते हैं। और इस प्रकार धर्माचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवोंके समान अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि देशना और प्रायोग्य लब्धियोंका विकास कर लेते हैं जिनके प्रभावसे वे नवम ग्रैवेयिक तक स्वर्गमें भी उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वे भव्य जीवोंके समान आत्मविशुद्धिको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप नहीं बना सकते हैं, क्योंकि जैनशासनमे बतलाया गया है कि उसी जीवकी आत्मविशुद्धि सम्यग्दर्शनरूप होती है जिसने दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम किया हो। इसी प्रकार आत्माकी विशुद्धि देशव्रतरूप उसी जीवकी होती है जिसने उक्त दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन और अनन्तानुबन्धी कषायकी चार इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके साथ अप्रत्याख्यानावरण कषायकी चार प्रकृतियों-का क्षयोपशम किया हो, तथा आत्माकी विशुद्धि सर्वव्रतरूप उसी जीवकी होती है, जिसने उक्त दर्शनमोहनीय कर्मकी तीन, अनन्तानुबन्धी कषायकी चार इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्या-ख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम किया हो।

इसका भाव यह है कि मिथ्यात्वगुणस्थानमे मोहनीयकर्मकी उक्त प्रकृतियोंका यथासम्भव उपशम, क्षय व क्षयोपशम उसी जीवमें होता है, जो भव्य हो। तथा, उस जीवमे वह उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तभी होता है, जब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धिको प्राप्त करता है अर्थात् क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंको प्राप्त होकर मोहनीयकर्मकी उक्त प्रकृतियोंका यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसे करणलब्धिकी प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसारमे प्रतिपादित भेदविज्ञानको प्राप्त कर लेता है। वह उक्त भेदविज्ञानको तब प्राप्त होता है जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को प्राप्त कर लेता है। वह इन चार लब्धियोंको तब प्राप्त करता है, जब वह नैतिक आचरणके रूपमें अथवा नैतिक आचरणके साथ देशव्रतके रूपमें अथवा नैतिक आचरणके साथ सर्वव्रतके रूपमें मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक आगममे वर्णित व्यवहारधर्मको अंगीकार करता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अभव्य जीव भी उक्त प्रकारके व्यवहारधर्मको अंगीकार करके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन लब्धियोंको प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह अपनी अभव्यताके कारण उक्त भेदविज्ञानको प्राप्त नहीं होता है। समयसार गाथा १७५ का यही अभिप्राय है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि उन भव्य और अभव्य जीवोंको उक्त चार लब्धियोंकी प्राप्ति नहीं होती है जो उक्त प्रकारके व्यवहारधर्मोको अंगीकार तो करते हैं, परन्तु मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक नहीं अंगीकार करते हैं।

इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती भव्य जीवको ही उपर्युक्त क्रमसे भेद-विज्ञानकी प्राप्ति होती है, अभव्य जीवोंको नहीं।

समयसारकी बेजोड़ व्याख्या करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्रके कलश पद्य १२८, १२९, १३०, १३१ और १३२ से यही निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारकी रचनामें मुमुक्षु जीवके लिए मुक्तिकी प्राप्तिमें भेदविज्ञानको प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ उन कलशपद्योंको उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षय. कर्ममोक्ष. ॥१२८॥

अर्थ—जो जीव निजमहिमामें रत है अर्थात् उस महिमाके जानकार हैं उन जीवोंको भेदविज्ञानके आधारपर नियमसे शुद्ध अर्थात् स्वतन्त्र स्वरूपका उपलम्भ (ज्ञान) होता है। ऐसे जीवोंके अन्य द्रव्योंसे सर्वथा दूर हो जानेपर अर्थात् पर-पदार्थोंमें अहम्बुद्धि और ममबुद्धिकी समाप्ति हो जानेपर कर्मोंका स्थायी क्षय हो जाता है।

संपद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
म भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं ॥ १२९ ॥

अर्थ—शुद्ध आत्मतत्वका ज्ञान हो जानेपर साक्षात् संवरका संपादन होता है। वह शुद्ध आत्मतत्वका ज्ञान भेदविज्ञानके आधारपर होता है, इसलिए जीवोंको भेदविज्ञानकी प्राप्तिका अभ्यास करना चाहिये।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अर्थ—उस भेद विज्ञानका अच्छिन्न धारासे तबतक अभ्यास करना चाहिये, जबतक वह जीवपरसे च्युत होकर अर्थात् परमें अहंकार और ममकार समाप्त करके ज्ञानमें प्रतिष्ठित होता है।

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ—जो कोई जीव सिद्ध हुए है, वे भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई जीव बद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध है।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभात्,
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणा संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदित शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

अर्थ—जीवको भेदविज्ञानकी प्राप्ति होनेपर शुद्धतत्त्वका उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है और इस प्रकार रागसमूहका विनाश हो जानेसे कर्मोंका संवर होनेपर तोषको प्राप्त उत्कृष्ट अमलप्रकाशवाला निर्दोष, अद्वितीय ज्ञान नियमसे उदित होकर शाश्वत प्रकाशमान होता हैं।

समयसारकी रचनामें जो क्रम पाया जाता है उससे भी यही भाव प्रकट होता है। जो निम्न-प्रकार है—

प्रथम गाथामें आचार्य कुन्दकुन्दने जो सिद्धोंको नमस्कार किया है इससे मुमुक्षु जीवके अपने लक्ष्यका निर्धारण होता है। दूसरी गाथामें यह बतलाया है कि जो जीव अभेददृष्टिसे अपने अखण्ड स्वभावभूत ज्ञानमें और भेददृष्टिसे दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें सतत स्थिर रहें, उन्हें स्वसमय कहा जाता है। तथा जो जीव पुद्गलकर्मप्रदेशोंमें स्थित अर्थात् पुद्गलकर्मोंसे बद्ध होनेके कारण परपदार्थोंमें अहंबुद्धि और ममबुद्धि

करते हैं, वे परसमय कहलाते हैं। तीसरी गाथामें यह शंका उठाई गई है कि लोकमें जितने पदार्थ हैं वे सब अपने अखण्ड एक स्वभावमें रहकर ही सुन्दरताको प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जीवके विषयमें बन्धकी कथा विसंवादपूर्ण हो जाती है। चतुर्थ गाथामें इस शंकाका इसप्रकार समाधान किया गया है कि सम्पूर्ण जीवोंको काम, भोग और बन्धकी कथा सुननेमें आई है, देखनेमें आई है और अनुभूत भी है कि परन्तु उसके अखण्ड एक स्वरूपका ज्ञान होना उसे सुलभ नहीं है। इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्दने पाँचवी गाथामें आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको समयसारमें स्पष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की है। तथा छठी गाथामें आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको स्पष्ट कर दिया गया है। इसके पश्चात् गाथा १३में आचार्यश्रीने आध्यात्मिक मार्गमें उपयोगी जीव, अजीव, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षको जैसे हैं उसी रूपमें जिस जीवने जाना है, उसे सम्यग्दृष्टि बतलाया है। इससे निर्णीत होता है कि उक्त पदार्थोंको उनके पृथक्-पृथक् स्वरूपके आधारपर जान लेना ही भेदविज्ञान है। इसके आगे आचार्य कुन्दकुन्दने इसी जीवाधिकारमें जीवके स्वरूपका, अजीवाधिकारमें अजीवके स्वरूपका, कर्तृकर्माधिकारमें जीव और अजीवके विषयमें कर्ता और कर्मको व्यवस्थाके निषेधका, पुण्यपापाधिकारमें पुण्य और पापका, आस्रवाधिकारमें आस्रवका, संवराधिकारमें संवरका, निर्जराधिकारमें निर्जराका, बन्धाधिकारमें बन्धका और मोक्षाधिकारमें मोक्षका जो पृथक् पृथक् स्वरूपविवेचन किया है, वह भेदविज्ञानका पोषण करनेके लिए किया है। और अन्तमें सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमें आत्माके स्वतंत्र स्वरूपका विवेचन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारकी रचनामें मुमुक्षु जीवोंको प्रथमतः भेदविज्ञानी बननेका ही उपदेश मुख्यतासे दिया है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि भव्य और अभव्यके भेदसे मिथ्यादृष्टि संसारीजीवोंके जो दो प्रकार आगममें निश्चित किये गये हैं वे दोनों ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय और संज्ञीपञ्चेन्द्रियके भेदसे छह प्रकारके हैं। इनमेंसे एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय तकके जीवोंमें केवल कर्मफलचेतना पायी जाती है; अर्थात् ये सब जीव कर्मफलका मात्र सुख-दुःख रूप अनुभव ही कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव हैं वे सतत अपने अभिलषितकी सम्पन्नताके लिए संकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं और उनका वह पुरुषार्थ असीमित भोग और संग्रहका होता है। तथा, उनकी प्राप्तिके लिए वे हिंसा, असत्य भाषण और चोरीका भी पुरुषार्थ करते हैं और ऐसे पुरुषार्थमें उन्हें हमेशा हर्ष होता है, विषाद कभी नहीं होता। यही कारण है कि उनका ऐसा पुरुषार्थ अनैतिक आचरणके रूपमें संकल्पी पाप माना गया है। इस संकल्पी पापका सद्भाव उन जीवोंमें जबतक रहता है, तबतक वे मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हैं। तथा इनमेंसे जो जीव उक्त संकल्पी पापोंका सर्वथा त्याग कर अशक्ति या आवश्यकताके आधारपर जिन पापोंमें प्रवृत्त होते हैं उनके वे पाप अशक्तिवश और आवश्यकतावश होनेके कारण आरम्भी पाप कहलाते हैं। इस प्रकार आरम्भी पापोंमें प्रवृत्त वे भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव अविरत कहे जाते हैं। और जो भव्य और अभव्य उस अविरतिका एक देश त्याग कर देते हैं वे देशविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं; तथा जो भव्य और अभव्य उक्त आरम्भी पापोंका यथायोग्य सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देते हैं वे सर्वविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। ये भव्य और अभव्य दोनों जीव ही उक्त प्रकार अविरत, देशविरत और सर्वविरत होकर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोंको भी प्राप्त कर लेते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अभव्य जीव उक्त लब्धियोंको प्राप्त करके भी अपनी अभव्यताके कारण भेदविज्ञानी नहीं बन सकते हैं। भव्य जीव ही अपनी भव्यताके आधारपर भेदविज्ञानी बन सकते हैं। ●

तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व

महत्त्व और उसका कारण

इसमें संदेह नही, कि तत्त्वार्थसूत्रके महत्त्वको श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंने समानरूपसे स्वीकार किया है। यही सबब है कि दोनों सम्प्रदायोंके विद्वान आचार्योंने इसपर टीकायें लिखकर अपनेको सौभाग्यशाली माना है। सर्वसाधारणके मनपर भी तत्त्वार्थसूत्रके महत्त्वकी अमिट छाप जमी हुई है।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते मति। फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

इस पद्यने सर्वसाधारणकी दृष्टिमें इसका महत्त्व बढ़ानेमें मदद दी है। यही कारण है कि कम से-कम दिगम्बर समाजकी अपढ महिलायें भी दूसरोंके द्वारा सूत्रपाठ सुनकर अपनेको धन्य समझने लगती है। दिगम्बर समाजमे यह प्रथा प्रचलित है कि पर्यूषणपर्वके दिनोंमे तत्त्वार्थसूत्रकी खासतौरसे सामूहिक पूजा की जाती है और स्त्री एवं पुरुष दोनों वर्ग बडी भक्तिपूर्वक इसका पाठ किया या सुना करते है। नित्यपूजामें भी तत्त्वार्थसूत्रके नामसे पूजा करनेवाले लोग प्रतिदिन अर्घ चढ़ाया करते हैं और वर्तमानमें जबसे दिगम्बर समाजमें विद्वान दृष्टिगोचर होने लगे, तबसे पर्यूषणपर्वमे इसके अर्थका प्रवचन भी होने लगा है। अर्थ-प्रवचनके लिए तो विविध स्थानोकी दि० जैन जनता पर्यूषणपर्वमे बाहरसे भी विद्वानोंको बुलानेका प्रबन्ध किया करती है। तत्त्वार्थसूत्रकी महत्ताके कारण ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंके बीच कर्तृविषयक मतभेद पैदा हुआ जान पड़ता है।

यहाँपर प्रश्न यह पैदा होता है कि तत्त्वार्थसूत्रका इतना महत्त्व क्यो है? मेरे विचारसे इसका सीधा एवं सही उत्तर यही है कि इस सूत्रग्रन्थके अन्दर समूची जैन संस्कृतिका अत्यन्त कुशलताके साथ समावेश कर दिया गया है।

संस्कृति-निर्माणका उद्देश्य

संस्कृति-निर्माणका उद्देश्य लोक-जीवनको सुखी बनाना तो सभी संस्कृति-निर्माताओंने माना है। कारण कि उद्देश्यके बिना किसी भी संस्कृतिके निर्माणका कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता है। परन्तु बहुत-सी संस्कृतियाँ इससे भी आगे अपना कुछ उद्देश्य रखती हैं और उनका वह उद्देश्य आत्मकल्याणका लाभ माना गया है। जैन संस्कृति ऐसी संस्कृतियोंमेसे एक है। तात्पर्य यह है कि जैन संस्कृतिका निर्माण लोकजीवनको सुखी बनानेके साथ-साथ आत्मकल्याणकी प्राप्ति (मुक्ति) को ध्यानमें रख करके ही किया गया है।

संस्कृतियोंके आध्यात्मिक और भौतिक पहलुओंके प्रकार

विश्वकी सभी संस्कृतियोंको आध्यात्मिक संस्कृतियाँ माननेमे किसीको भी विवाद नहीं होना चाहिए; क्योंकि आखिर प्रत्येक संस्कृतिका उद्देश्य लोकजीवनमें सुखव्यवस्थापन तो है ही, भले ही कोई संस्कृति आत्मतत्त्वको स्वीकार करती हो या नही करती हो। जैसे चार्वाकको संस्कृतिमें आत्मतत्त्वको नहीं स्वीकार किया गया है फिर भी लोकजीवनको सुखी बनानेके लिए "महाजनो येन गत स पन्था" इस वाक्यके द्वारा उसने लोकके लिये सुखकी साधनाभूत एक जीवन-व्यवस्थाका निर्देश तो किया ही है। सुखका व्यवस्थापन और दुःखका विमोचन ही संस्कृतिको आध्यात्मिक माननेके लिये आधार है। यहाँतक कि जितना भी भौतिक विकास है उसके अन्दर भी विकासकर्त्ताका उद्देश्य लोकजीवनको लाभ पहुँचाना ही रहता है अथवा रहना चाहिये। अतः समस्त भौतिक विकास भी आध्यात्मिकताके दायरेसे पृथक् नहीं है। लेकिन ऐसी स्थितिमें आध्यात्मिकता और

भौतिकताके भेदको समझनेका एक ही आधार हो सकता है कि जिस कार्यके अन्दर आत्माके लौकिक लाभकी दृष्टि अपनायी जाती है वह कार्य आध्यात्मिक और जिस कार्यमें इस तरहके लाभकी दृष्टि नहीं अपनायी जाती है, या जो कार्य निरुद्दिष्ट किया जाता है वह भौतिक माना जायगा।

यद्यपि यह सम्भव है कि आत्मा या लोकके लाभकी दृष्टि रहते हुए भी कर्तामें ज्ञानकी कमीके कारण उसके द्वारा किया गया कार्य उन्हें अलाभकर भी हो सकता है परन्तु इस तरहसे उसकी लाभसम्बन्धी दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं होनेके कारण उसके उस कार्यकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण बनी रहती है। अतः आत्मतत्त्वको नहीं स्वीकार करनेवाली चार्वाक जैसी संस्कृतियोंकी आध्यात्मिक संस्कृतियाँ मानना अयुक्त नहीं है।

यह कथन तो मैंने एक दृष्टिसे किया है। इस विषयमें दूसरी दृष्टि यह है कि कुछ लोग आध्यात्मिकता और भौतिकता इन दोनोंके अन्तरका इस तरह प्रतिपादन करते हैं कि जो संस्कृति आत्मतत्त्वको स्वीकार करके उसके कल्याणका मार्ग बतलाती है वह आध्यात्मिक संस्कृति है और जिस संस्कृतिमें आत्मतत्त्वको ही नहीं स्वीकार किया गया है वह भौतिक संस्कृति है। इस तरह आत्मतत्त्वको मानकर उसके कल्याणका मार्ग बतलाने वाली जितनी संस्कृतियां है वे सब आध्यात्मिक और आत्मतत्त्वको नहीं माननेवाली जितनी संस्कृतियाँ है वे सब भौतिक संस्कृतियाँ ठहरती है। इस विचारधारासे भी मेरा कोई मतभेद नहीं है, कारण कि यह कथन केवल दृष्टिभेदका ही सूचक है—आध्यात्मिकता और भौतिकताके मूल आधारमें इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

आध्यात्मिकता और भौतिकताके अन्तरको बतलानेवाला एक तीसरा विकल्प इस प्रकार है—एक ही संस्कृतिके आध्यात्मिक और भौतिक दोनों पहलू हो सकते हैं। संस्कृतिका आध्यात्मिक पहलू वह है जो आत्मा या लोकके लाभालाभसे सम्बन्ध रखता है और भौतिक पहलू वह है जिसमें आत्मा या लोकके लाभालाभका कुछ भी ध्यान नही रखकर केवल वस्तुस्थितिपर ही ध्यान रखा जाता है। इस विकल्पमें जहाँतक वस्तुस्थिति-का ताल्लुक है उसमें विज्ञानका सहारा तो अपेक्षणीय है ही, परन्तु विज्ञान केवल वस्तुस्थितिपर तो प्रकाश डालता है, उसका आत्मा या लोकके लाभालाभसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान केवल वस्तुके स्वरूप और विकासपर ही नजर रखता है, भले ही उससे आत्माको या लोकको लाभ पहुँचे या हानि पहुँचे। लेकिन आत्मकल्याण या लोककल्याणकी दृष्टिसे किया गया प्रतिपादन या कार्य वास्तविक ही होगा, यह नियम नहीं है वह कदाचित् अवास्तविक भी हो सकता है, कारण कि अवास्तविक प्रतिपादन भी कदाचित् किसी किसीके लिये लाभकर भी हो सकता है। जैसे सिनेमाओंके चित्रण, उपन्यास या गल्प वगैरह अवास्त-विक होते हुए भी लोगोंकी चित्तवृत्तिपर असर तो डालते ही हैं। तात्पर्य यह है कि चित्रण आदि वास्तविक न होते हुए यदि उनसे अच्छा शिक्षण प्राप्त किया जा सकता है तो फिर उनकी अवास्तविकताका कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। जैन संस्कृतिके स्तुतिग्रन्थोंमें जो कहीं कहीं ईश्वरकर्तृत्वकी झलक दिखाई देती हैं वह इसी दृष्टिका परिणाम है जबकि विज्ञानकी कसौटीपर खरा न उतर सकनेके कारण ईश्वरकर्तृत्ववादका जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें जोरदार खण्डन मिलता है और इसी दृष्टिसे ही जैन संस्कृतिमें अज्ञानी और अल्पज्ञानी रहते हुए भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी माना गया है; जबकि वास्तविकताके नाते जीव बारहवें गुणस्थानतक अज्ञानी या अल्प-ज्ञानी बना रहता है।

इस विकल्पके आधारपर जैन संस्कृतिको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक।

जैन संस्कृतिके उक्त प्रकारसे आध्यात्मिक और भौतिक ये दो भाग तो हैं ही, परन्तु सभी संस्कृतियोंके समान इसका एक तीसरा भाग आचार या कर्त्तव्यसम्बन्धी भी है। इस तरह समूची जैन संस्कृतिको यदि विभक्त

करना चाहें तो वह उक्त तीन भागोंमें विभक्त की जा सकती है। इनमेंसे आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादक करणानुयोग, भौतिक विषयका प्रतिपादक द्रव्यानुयोग और आचार या कर्त्तव्य विषयका प्रतिपादक चरणानुयोग इस तरह तीनों भागोंका अलग-अलग प्रतिपादन करनेवाले तीन अनुयोगोंमें जैन आगमको भी विभक्त कर दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र मुख्यत आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है, कारण कि इसमें जो कुछ लिखा गया है वह सब आत्मकल्याणकी दृष्टिसे ही लिखा गया है अथवा वही लिखा गया है जो आत्मकल्याणकी दृष्टिसे प्रयोजन भूत है, फिर भी यदि विभाजित करना चाहें तो कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थके पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, छठे, आठवें और दशवें अध्यायोंमें मुख्यत. आध्यात्मिक दृष्टि ही अपनायी गयी है, इसी तरह पाँचवे अध्यायमे भौतिक दृष्टिका उपयोग किया गया है और सातवे तथा नवम अध्यायोमे विशेषकर आचार या कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे ही लिखा गया है या उसमें आध्यात्मिक विषयका ही प्रतिपादन किया गया है यह निष्कर्ष इस ग्रन्थकी लेखनपद्धतिसे जाना जा सकता है। इस ग्रन्थका 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' यह पहला सूत्र है, इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग बतलाया गया है। तदनन्तर 'तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्र द्वारा तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यक्दर्शनका स्वरूप बतलाते हुए 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्' इस सूत्रद्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूपसे उन तत्त्वार्थोंकी सात संख्या निर्धारित कर दी गयी है और द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-अध्यायोमें जीवतत्त्वका, पञ्चम अध्यायमें अजीवतत्त्वका, छठे और सातवें अध्यायोंमें आस्रव तत्त्वका, आठवें अध्यायमे बन्धतत्त्वका, नवम अध्यायमे संवर और निर्जरा इन दोनों तत्त्वोंका और दशवें अध्यायमे मोक्षतत्त्वका इस तरह क्रमश. विवेचन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है।

जैन आगममें वस्तुविवेचनके प्रकार

जैन आगममें वस्तुतत्त्वका विवेचन हमें दो प्रकारसे देखनेको मिलता है—कहीं तो द्रव्योंके रूपमे और कही तत्त्वोके रूपमें। वस्तु-तत्त्व-विवेचनके इन दो प्रकारोका आशय यह है कि जब हम भौतिक दृष्टिसे अर्थात् सिर्फ वस्तुस्थितिके रूपमे वस्तुतत्त्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उस समय वस्तुतत्त्व जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्यों[1]के रूपमे हमारी जानकारीमें आयेगा और जब हम आध्यात्मिक दृष्टिसे अर्थात् आत्मकल्याणकी भावनासे वस्तुतत्त्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उस समय वस्तुतत्त्व जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंके[2] रूपमे हमारी जानकारीमे आयगा। अर्थात् जब हम 'विश्व क्या है ?' इस प्रश्नका समाधान करना चाहेंगे तो उस समय हम इस निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्योंका समुदाय ही विश्व है और जब हम अपने कल्याण अर्थात् मुक्तिकी ओर अग्रसर होना चाहेंगे तो उस समय हमारे सामने ये सात प्रश्न खड़े हो जावेंगे—(१) मैं कौन हूँ ?, (२) क्या मैं बद्ध हूँ ?, (३) यदि बद्ध हूँ तो किससे बद्ध हूँ ?, (४) किन कारणोंसे मैं उससे बद्ध हो रहा हूँ ?, (५) बन्धके वे कारण कैसे दूर किये जा सकते है ? (६) वर्तमान बन्धनको कैसे दूर किया जा सकता है ? और (७) मुक्ति क्या है ? और तब इन प्रश्नोंके समाधानके रूपमें जीव, जिससे जीव, बंधा हुआ है ऐसा कर्म-नोकर्मरूप पुद्‌गल, जीवका उक्त दोनों प्रकारके पुद्‌गलके साथ संयोगरूप बन्ध,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ५-१, २, ३, ३९।

२ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। —तत्त्वार्थसूत्र, १-४।

इस बन्धके कारणीभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आस्रव, इन मिथ्यात्व आदिकी समाप्तिरूप संवर, तपश्चरणादिके द्वारा वर्तमान बन्धनको ढीला करनेरूप निर्जरा और उक्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेरूप मुक्ति ये सात तत्त्व हमारे निष्कर्षमें आवेंगे।

भौतिक दृष्टिसे वस्तुतत्त्व द्रव्यरूपमें ग्रहीत होता है और आध्यात्मिक दृष्टिसे वह तत्त्वरूपमें ग्रहीत होता है। इसका कारण यह है कि भौतिक दृष्टि वस्तुके अस्तित्व, स्वरूप और भेद-प्रभेदके कथनसे सम्बन्ध रखती है और आध्यात्मिक दृष्टि आत्माके पतन और उसके कारणोंका प्रतिपादन करते हुए उसके उत्थान और उत्थानके कारणोंका ही प्रतिपादन करती है। तात्पर्य यह है कि जब हम अवस्तुके अस्तित्वकी ओर दृष्टि डालते हैं तो उसका वह अस्तित्व किसी-न-किसी आकृतिके रूपमें ही हमें देखनेको मिलता है। जैन संस्कृतिमें वस्तुकी यह आकृति ही द्रव्यपद वाच्य है। इस तरहसे विश्वमें जितनी अलग-अलग आकृतियाँ हैं उतने ही द्रव्य समझना चाहिये। जैन संस्कृतिके अनुसार विश्वमें अनन्तानन्त आकृतियाँ विद्यमान हैं अतः द्रव्य भी अनन्तानन्त ही सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु इन सभी द्रव्योंको अपनी-अपनी प्रकृतियों अर्थात् गुणों और परिणमनों अर्थात् पर्यायोंकी समानता और विषमताके आधारपर छह वर्गोंमें संकलित कर दिया गया है अर्थात् चेतनागुण-विशिष्ट अनन्तानन्त आकृतियोंको जीवनामक वर्गमें, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणविशिष्ट अणु और स्कन्धके भेदरूप अनन्तानन्त आकृतियोंको पुद्गल-नामक वर्गमें, वर्तनालक्षण विशिष्ट असंख्यात आकृतियोंको काल-नामक वर्गमें, जीवों ओर पुद्गलोंकी क्रियामें सहायक होनेवाली एक आकृतिको धर्मनामक वर्गमें, उन्हीं जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक होने वाली एक आकृतिको अधर्म-नामक वर्गमें तथा समस्त द्रव्योंके अवगाहनमें सहायक होने वाली एक आकृतिको आकाश-नामक वर्गमें संकलित किया गया है। यही कारण है कि द्रव्योंकी संख्या जैन संस्कृतिमें छह ही निर्धारित कर दी गई है।

इसी प्रकार आत्मकल्याणके लिये हमें उन्हीं बातोंकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है जो कि इसमें प्रयोजनभूत हो सकती हैं। जैन संस्कृतिमें इसी प्रयोजनभूत बातको तत्त्व नामसे पुकारा गया है, ये तत्त्व भी पूर्वोक्त प्रकारसे सात ही होते हैं।

इस कथनसे एक निष्कर्ष यह भी निकल आता है कि जो लोग आत्मतत्त्वके विवेचनको अध्यात्मवाद और आत्मासे भिन्न दूसरे अन्य तत्त्वोंके विवेचनको भौतिकवाद मान लेते हैं उनकी यह मान्यता गलत है क्योंकि उक्त प्रकारसे, जहाँपर आत्माके केवल अस्तित्व, स्वरूप या भेद-प्रभेदोंका ही विवेचन किया जाता है वहाँपर उसे भी भौतिकवादमें ही गर्भित करना चाहिये और जहाँपर अनात्मतत्त्वोंका भी विवेचन आत्मकल्याणकी दृष्टिसे किया जाता है वहाँपर उसे भी अध्यात्मवादकी कोटिमें ही समझना चाहिये। यह बात तो हम पहले ही लिख आये हैं कि जैन संस्कृतिमें अध्यात्मवादको करणानुयोग और भौतिकवादको द्रव्यानुयोग नामोंसे पुकारा गया है।

इस प्रकार समूचा तत्त्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे लिखा जानेके कारण आध्यात्मिक या करणानुयोगका ग्रन्थ होते हुए भी उसके भिन्न-भिन्न अध्याय या प्रकरण भौतिक अर्थात् द्रव्यानुयोग और चारित्रिक अर्थात् चरणानुयोगकी छाप अपने ऊपर लगाये हुए है, जैसे पाँचवें अध्यायपर द्रव्यानुयोगकी और सातवें तथा नवम अध्यायोंपर चरणानुयोगकी छाप लगी हुई है।

तत्त्वार्थसूत्रके प्रतिपाद्य विषय

तत्त्वार्थसूत्रमें जिन महत्त्वपूर्ण विषयोंपर प्रकाश डाला गया है वे निम्नलिखित हो सकते हैं—

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा इनकी मोक्षमार्गता, तत्त्वोंका स्वरूप, वे

जीवादि सात ही क्यों ? प्रमाण और नय तथा इनके भेद, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, जीवकी स्वाधीन और पराधीन अवस्थायें, विश्वके समस्त पदार्थोंका छह द्रव्योंमे समावेश, द्रव्योंकी संख्या छह ही क्यों ? प्रत्येक द्रव्यका वैज्ञानिक स्वरूप, धर्म और अधर्म द्रव्योंकी मान्यता, धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य एक-एक क्यों ? तथा लोकाशके बराबर इनका विस्तार क्यों ? आकाशद्रव्यका एकत्व और व्यापकत्व, कालद्रव्यकी अणुरूपता और नानारूपता, जीवकी पराधीन और स्वाधीन अवस्थाओंके कारण, कर्म और नोकर्म, मोक्ष आदि।'

इन सब विषयोंपर यदि इस लेखमे प्रकाश डाला जाय तो यह लेख एक महान् ग्रन्थका आकार धारण कर लेगा और तब वह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रके महत्त्वका प्रतिपादक न होकर जैन संस्कृतिके ही महत्त्वका प्रतिपादक हो जायगा, इसलिए तत्त्वार्थसूत्रमे निर्दिष्ट उक्त विषयो तथा साधारण दूसरे विषयोंपर इस लेखमे प्रकाश न डालते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस सूत्रग्रन्थमे सम्पूर्ण जैन संस्कृतिको सूत्रोंके रूपमें बहुत ही व्यवस्थित ढगसे गूँथ दिया गया है। सूत्रग्रन्थ लिखनेका काम बडा ही कठिन है, क्योंकि उसमे एक तो संक्षेपसे सभी विषयोंका व्यवस्थित ढगसे समावेश हो जाना चाहिए। दूसरे उसमे पुनरुक्तिका छोटे-से-छोटा दोष नहीं होना चाहिये। ग्रन्थकार तत्त्वार्थसूत्रको इसी ढंगसे लिखनेमे सफल हुए हैं, यह बात निर्विवाद कही जा सकती है।

उपसंहार

बडे-बडे विद्वानोंके सामने विश्व स्वयं एक पहेली बन कर खडा हुआ है। संसारकी दुःखपूर्ण अजीब-अजीब घटनाओंसे उद्विग्न आत्मोन्निनीषु लोगोंके सामने आत्मकल्याणकी भी एक समस्या है। इसके अतिरिक्त मानवमात्रकी जीवन-समस्या तो, जिसका हल होना पहले और अत्यन्त आवश्यक है, बडा विकराल रूप धारण किये हुए है। इन सब समस्याओंको सुलझानेमे जैन संस्कृति पूर्णरूपसे सक्षम है। तत्त्वार्थसूत्र—जैसे महान ग्रन्थोंका योग सौभाग्यसे हमे मिला हुआ है और इन ग्रन्थोका पठन-पाठन भी हम लोग सतत किया करते है। परन्तु हमारी ज्ञानवृद्धि और हमारा जीवनविकास नही हो रहा है, यह बात हमारे लिये गम्भीरता-पूर्वक सोचनेकी है। यदि हमारे विद्वानोका ध्यान इस ओर जावे तो इन सब समस्याओंका हल हो जाना असम्भव बात नही है।

जैन व्याकरणकी विशेषताएँ

संसारमें यदि भाषातत्त्व नहीं होता तो सर्व सचेतन जगत् पाषाणकी तरह मूक ही रहता, इसमें कोई सन्देह नही। यों तो भाषातत्त्व पशु, पक्षी आदिको भी उपयोगी है, किन्तु मनुष्यका तो एक-एक क्षण भी भाषातत्त्वके विना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। भाषाके जरिये ही हम अपने अभिप्रायको दूसरोंके प्रति प्रकट कर सकते हैं। हमारा जितना लोकव्यवहार है वह भाषातत्त्वके ऊपर ही निर्भर है। यहाँ तक कि भाषा-विज्ञान भी मुक्ति-प्राप्तिमें एक कारण है।

संसारमें नाना भाषाएँ प्रचलित है। प्रत्येक भाषाका गौरव और लोकमान्यता उस भाषाके शब्दोंकी प्रचुरता एव मधुरताके साथ-साथ प्रत्येक शब्दके अर्थप्राचुर्यसे हो हो सकते है। यदि हम बिना व्याकरणके उल्लिखित कारणोंकी पुष्टिके लिये शब्दकल्पना और अर्थकल्पना करने बैठें, तो शायद जीवनकी परिसमाप्ति होने पर भी उसे पूर्ण नही कर सकते तथा शब्दप्रयोगकी व्यवस्था बनाना असम्भव हो जाय, इसलिये भाषाके गौरव और लोकमान्यताके लिये भाषासम्बन्धी नियमका जानना आवश्यक होता है और इस नियमका नाम ही व्याकरण है। (वि + संस्कारविशेषेण) संस्कारविशेषसे (आ = समन्तात्) संपूर्ण (शब्दान्) शब्दोको जो, (करोति = निष्पादयति) उत्पन्न करता है वह व्याकरण है। अथवा (वि = संस्कारविशेषेण) संस्कारविशेषसे (आ = समन्तात्) सपूर्ण (शब्दा) शब्द (क्रियन्ते = निष्पाद्यन्ते) उत्पन्न किये जाते है (येन) जिससे, वह व्याकरण है। इन दोनो व्युत्पत्तियोंसे भी उल्लिखित भाव स्पष्ट झलकता है। व्याकरणसे भिन्न-भिन्न अर्थोंमे शब्दनिष्पत्ति की जाती है, इसलिये अर्थप्राचुर्यमे भी व्याकरण ही कारण है। 'अर्थभेदात् ध्रुव. शब्दभेद., सर्वे शब्दा. सर्वार्थवाचका." इत्यादि नियम भी व्याकरणको ही अर्थप्राचुर्यमे कारण बतला रहे है। इसलिये व्याकरण ही भाषातत्त्वमे प्रवेश करनेका मुख (द्वार) है। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादिका यदि मुख नही होता, तो उनका जिन्दा रहना दु शक्य तो क्या असम्भव ही था। ठीक यही हालत उस भाषाकी भी है, जिसकी कि अपनी व्याकरण नही है।

भावकी स्थिति उस भाषाके प्रचुर साहित्य पर है। साहित्यका निर्माता कवि होता है और कवि नानार्थसे मीठे-मीठे शब्दोकी चाह रखता है। जहा उसको ऐसे शब्द नही मिलते है वहाँ वह अपने साहित्यको रमणीय एवं हृदयवेधी नही बना सकता है और ऐसी हालतमे उसके उस साहित्यको साधारण लोग भी पसन्द नही करते है। इसका परिणाम यह होता है कि वह भाषा, जिसमे साहित्यकी रमणीयता और हृदयवेधिता नही रहती है, अन्तको प्राप्त हो जाती है।

संस्कृत व्याकरण और उसका वैशिष्ट्य

संस्कृत भाषाका प्रचार संसारके कोने-कोनेमे (चाहे वह किसी रूपमें क्यो न हो) आज भी विद्यमान है। इसका कारण यह है कि उसका साहित्य विस्तृत तो है ही, साथमे ग्राह्य भी अधिक है। इसका भी कारण संस्कृत भाषाका व्याकरण ही है। संस्कृत व्याकरणकी यह खूबी है कि एक ही शब्दसे शब्दान्तरके योगसे नाना शब्द बन जाते है। हार, विहार, आहार, संहार, प्रहार, निहार इत्यादि अनेक शब्दोकी सृष्टि "हृ" शब्दसे ही हुई है। इस खूबीको अन्य किसी भाषाका व्याकरण आज तक नही प्राप्त कर सका, इसलिये उन भाषाओकी संकीर्ण भूमिपर किसी साहित्यनिर्माता कविका अन्तःकरण स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकता है। यद्यपि इंग्लिश आदि भाषाओमे साहित्यकी अधिकता है, फिर भी शब्दोंकी अधिक पुनरुक्ति कवियोंके लिये अवश्य करनी पडती है तथा शब्दकल्पना भी उनको बहुत करनी पडी है।

आज संस्कृतभाषारूपी सूर्य, जो अपना प्रकाश नही फैला रहा है, उसका कारण उसके व्याकरण,

साहित्य और ग्राह्यताकी कमी नही है, किन्तु उसके साहित्यके अन्तस्तत्त्व तक पहुँचनेके लिये हम असमर्थ हो गये हैं तथा राजाश्रय छूट गया है इत्यादि हैं। भाषा स्वभावसे परिवर्तनशील होती है। राजाश्रयके बिना उसकी व्यावहारिक उपयुक्तता कम हो जाती है, अत. वह हमारे लौकिक कार्योंमें विशेष सहायक नहीं बन सकती है। यदि संस्कृतभाषा राजभाषा होती और उसके आश्रयसे ही लोग (जबकि हम लोगोने नौकरी पेशा की ही अपना जीवनोपाय बना लिया है) लौकिक आवश्यक कार्योंका सम्पादन करते होते, तो मालूम पड़ता कि उस भाषाके अन्दर प्रवेश होनेसे हमारा जीवन कितनी धार्मिकताके साथ व्यतीत हो सकता था, तथा हमारे संस्कारोंमें कितनी आर्यताकी संस्कृतिका विकास होता, जिसके कि ह्रासले आज हम गुलाम हो रहे हैं।

संस्कृतव्याकरणमे जैन व्याकरण और उसका महत्त्व तथा ग्राह्यता

भारतमें जितने दर्शनोंका आविष्कार हुआ है, उन्होंने सस्कृत भाषाको जरूर अपनाया है। इसका कारण उसकी व्यापकता और अर्थपूर्ण भाव द्योतकता है। यह मानी हुई बात है कि जो जिस विषयका पूरा विद्वान् है, वह उस विषयको दूसरोके सामने स्वतंत्र ढगसे पेश करता है, तथा जो जिस मतको अपना हितकर समझता है और उसके पोषक जितने विषय उसे आवश्यक प्रतीत होते हैं, उनमे दूसरे मतोंकी अपेक्षा रखना वह पसन्द नही करता, क्योकि वह समझता है कि इस थोडी-सी परतन्त्रतासे हमारी सस्कृतिमें दुर्बलता आती है, अत उसके अंग उपायभूत साहित्यका भी निर्माण वह स्वयं करता है और इस गौरवान्वित महत्त्वाकांक्षासे साहित्यका कलेवर परिपुष्ट होता है।

यद्यपि व्याकरण शब्दार्थज्ञानके लिये है, उससे किसी मतविशेषकी पुष्टि नही होती, भले ही उसका निर्माता किसी मतविशेषसे सम्बन्ध रखता हो, फिर भी अपना स्वतन्त्र व्याकरण नही होनेसे कोई भी मताव-लम्बी अपने लिये व अपने सिद्धान्तके लिये प्रभावित नही कर सकता है। इसके ऊपर पराधीनता, अर्वाचीनता आदि दोषोंका (चाहे वह मत स्वतत्र व प्राचीन क्यों न हो) आरोप लगाया जाता है। इसी कारणसे संस्कृत-भाषासम्बन्धी नाना व्याकरणोका आविष्कार हुआ है। उनमे प्रसिद्ध व्याकरणो और उनके निर्माताओका निर्देश निम्न प्रकार पाया जाता है—

ऐन्द्रं, चान्द्रं, काशकत्स्नं, कौमारं, शाकटायनम्।
सारस्वत, चापिशलं, शाकलं पाणिनीयकम् ।। १ ।।
इन्द्रश्चन्द्र. काशकत्स्ना पिशली शाकटायनः
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका. ।। २ ।।

पहले पद्यमे नव व्याकरणोंके नाम हैं। उनमें शाकटायनव्याकरण शाकटायननामके जैनाचार्यकृत है। दूसरे पद्यमे आठ वैय्याकरणोके नाम है, जिनमें शाकटायन और जैनेन्द्र ये दो जैन वैय्याकरण हैं। इन सब व्याकरणों व वैय्याकरणोंमें कौन किससे प्राचीन है, इसका निर्णय पद्यके निर्देशक्रमसे निश्चित नही कर सकते हैं, क्योंकि पहले पद्यमे आपिशल व्याकरणका शाकटायन व्याकरणके पश्चात् निर्देश किया है और दूसरे पद्यमे उनके निर्माताओका पूर्व निर्देशसे विपरीत निर्देश किया है। इनकी प्राचीनताका विशेष निर्णय तो इस समय इतिहासवेत्ताओं पर ही छोडता हू क्योकि मेरी गति इतिहासविषयक नही है। किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि पाणिनीय व्याकरणसे शाकटायन व्याकरण पूर्वका होना चाहिये, क्योकि पाणिनिने अपने व्या-करणमे "त्रिप्रभृतिपु शाकटायनस्य" इस सूत्रके द्वारा शाकटायनका निर्देश किया है। आपिशल, काशकृत्स्न, शाकल आदि व्याकरणकर्ताओका भी निर्देश पाणिनिने अपने ग्रंथोंमें किया है। इसलिये ये व्याकरण भी पाणिनि व्याकरणसे प्राचीन है।

पाणिनि नन्दराज्यके समयमे हुए है। इससे भी प्राचीन समयमे उल्लिखित वैय्याकरणोंकी उपस्थिति थी। कई लोग शाकटायन नामके जैन-अजैन दो विद्वानको स्वीकार करते है। इससे उनका प्रयोजन यह है कि जैन शाकटायनाचार्य पाणिनिसे अर्वाचीन है और पाणिनिने अपने व्याकरणमें जिनका निर्देश किया है, वे अजैन थे और पाणिनिके पूर्वमे विद्यमान थे। वे इसमे यह कारण उपस्थित करते है कि शाकटायनका, जिनका कि पाणिनिने निर्देश किया है, वेदादि ग्रन्थोसे भी बहुत कुछ सम्बन्ध है। किन्तु यह कारण इतना पुष्कल नही है कि उनके प्रयोजनको सिद्ध कर सके, क्योकि मैंने पहले लिखा है कि व्याकरण शब्दार्थ-ज्ञानका ही प्रयोजक है। वैय्याकरण व्याकरण लिखते समय किसी सिद्धान्तविशेषसे कोई प्रयोजन नही रखता है। वह तो शब्दसिद्धि ही अपने ग्रन्थ निर्माणका ध्येय समझता है। यदि ऐसा नही होता, तो काशिकाकार, जोकि जैन थे, पाणिनीय व्याकरणके ऊपर काशिकावृत्ति नामक टीका नही लिखते। और सिद्धान्तकौमुदीके पहले अजैन लोग भी जो उसका रुचिपूर्वक अध्ययन, अध्यापन करते थे वह भी अनुचित ठहरता। कादम्बरी ग्रन्थके ऊपर जैन टीकाकारने जो टीका लिखी है वह भी इसी सिद्धान्तको स्वीकार करनेमे सहायक है कि जो विषय किसी भी सिद्धान्तका विरोधी नही होकर समान रूपसे सबके उपयोगी है, वे सबको ग्राह्य है। कोई-कोई विरोधी ग्रन्थोंकी टीकाये भी आचार्योंने की है। लेकिन अवश्य है कि उसका उद्देश्य केवल उनके सिद्धान्तको विस्तारसे समझ उनकी असत्यता प्रकट करना ही है। यह भावना दार्शनिक ग्रन्थोंमें ही सम्भव है क्योंकि विरोधकी सत्ता सिद्धान्तके विषयमे ही पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जबतक अकाट्य प्रबल प्रमाण नहीं मिल जाता तबतक जैन शाकटायनाचार्यके अतिरिक्त एक अजैन शाकटायनाचार्यकी सत्ता स्वीकार करना विद्वानोंको रुचिकर प्रतीत नही होता। इस समय इस लेखको समयाभावसे संक्षेपमे लिख रहा हूँ अत- सम्पूर्ण बातोपर विशेष प्रकाश नही डाल सका हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि जैन व्याकरणका संस्कृत-संसारमे प्रचुर प्रचार हो और यह तभी हो सकता है जब विद्वान् लोग व्याकरणके उद्देश्यको सामने रख कर उसकी महत्ताका प्रचार करें। इसके लिये भी मैं भविष्यमे यथासम्भव प्रयत्न करूँगा। इस समय तो इस लेखको संक्षेप पूर्वक लिखनेका ही प्रयोजन है।

जैनेन्द्र व्याकरण तो उनके नामसे ही जैनाचार्य कृत सिद्ध होता है। जैनेन्द्र व्याकरणके नामसे दो रूपक हमारे सामने उपस्थित है। एक तो वह, जिसकी टीका जैनेन्द्रमहावृत्ति है और दूसरा वह, जिसकी कि टीका शब्दार्णवचन्द्रिका है। इन दोनों रूपकोंके कर्ता स्वतंत्र है या एक दूसरेका रूपान्तर है, इसमे विद्वानोंका मत-भेद है। किन्हीका कहना है कि जिसकी टीका जैनेन्द्रमहावृत्ति है वह जैनेन्द्र व्याकरण है और उसके कर्ता देवनन्दि अपरनाम सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपादाचार्य है। और जिसकी टीका शब्दार्णवचन्द्रिका है उस व्याकरणका नाम शब्दार्णव है और उस टीकाका नाम चन्द्रिका ही है, क्योंकि "शब्दार्णवचन्द्रिका" शब्दका शब्दार्णवव्याकरणकी चन्द्रिकानामक टीका अर्थ होता है। किन्हीका कहना है। एक, दूसरेका रूपान्तर है कि इन दोनोंके कर्ता स्वतंत्र ही नही हैं। शब्दार्णवचन्द्रिका यह नाम टीकाका ही है। जैसे पाणिनीय व्याकरणकी टीका सिद्धान्तकौमुदी। अर्थात् जिस प्रकार सिद्धान्तकौमुदीशब्दका अर्थ सिद्धान्त नामक व्याकरणकी कौमुदी नामक टीका नही होता है उसी प्रकार शब्दार्णवव्याकरणकी टीका चन्द्रिका यह अर्थ शब्दार्णवचन्द्रिका शब्दका नहीं होना चाहिये। तथा इन दोनोंमें सूत्रसादृश्य भी बाधक है। यदि ये स्वतन्त्र व्याकरण होते, तो अन्य व्याकरणोंकी तरह इन दोनोमे भी इतना सूत्रसादृश्य नहीं होता। परन्तु इन दोनोंमे एक कोई मत तभी मान्य हो सकता है, जबकि एक मत अपनेमे संभव विरोधका निराकरण करते हुए अपनी सिद्धिमें प्रबल प्रमाण रखता हो। मैं इस समय दोनोंके विषयमें तटस्थरूप हूँ क्योंकि इस समय मेरे पास पर्याप्त सामग्री नहीं, जिसके आधारपर कुछ लिख सकूं, फिर भी इसके निर्णयके लिये सचिन्त अवश्य हूँ।

यद्यपि और भी वैय्याकरणोंका उल्लेख जैनेन्द्रव्याकरणमें पाया जाता है। जैसे "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य, राद्भूतबलेः, वेत्तेः सिद्धसेनस्य" इत्यादि। तथापि उनके निर्मित व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इसीलिये सम्भवतः उनका निर्देश प्रसिद्ध वैय्याकरणोंमे नहीं किया गया है। अथवा जबतक पद्योंका निर्माण हुआ है उसके बाद साम्प्रदयिकताके विषने प्रवेश करके इनकी कीर्तिको छुपानेका प्रयत्न किया हो। अस्तु, कुछ भी हो, जैनेन्द्र-व्याकरणमें इनका निर्देश पाया जाता है। इससे सम्भव है कि जैन साहित्यके अन्य आचार्योंने भी इस विषयमें कलम उठायी थी तथा वाङ्मयकी पवित्र सेवा करके जगतका कल्याण किया था। इस कथनसे मालूम पड़ता है कि जैन संसारमें बड़े-बड़े महत्त्वशाली वैय्याकरण हुए हैं। कोई यह कहनेका दावा नही कर सकता कि जैनियोंमें व्याकरणसूत्रकार नही हुए हैं, प्रत्युत हम यह कहनेमें समर्थ हैं कि जितने व्याकरणसूत्रकार जैनियोंमें हुए हैं उतने शायद ही किसी संप्रदायमें हुए हों। इनमें उपलब्ध व्याकरणोंकी टीकायें-प्रतिटीकायें उपलब्ध हैं, जिनको प्रकाशमे लानेकी बहुत आवश्यकता है। हाँ, इतना विस्ताररूप, जितना कि पाणिनीय व्याकरणकी टीका-प्रतिटीकाओंका है जैन व्याकरणोंकी टीका-प्रतिटीकाओंका नही है। तथा पाणिनीय व्याकरणका इतना फैलाव इसीलिए हुआ कि उसका वैदिक विद्वानोंने अत्यन्त श्रम करके प्रचार किया है। किन्तु जैनियोंने इस विषयपर बहुत दिनोंसे ध्यान देना छोड़ दिया है।

किसी भी व्याकरणका महत्त्व लघुतामे है। वह लघुता कई तरहसे हो सकती है। जैसे प्रक्रियाकृत लघुता, प्रतिपत्तिकृत लघुता, संज्ञाकृत लघुता आदि। जैन व्याकरणमें इन सब प्रकारकी लघुताओंका पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

पाणिनीय व्याकरणमे जहाँ ङीप, ङीष, ङीन प्रत्ययोंका विधान स्वरादिभेदके लिये स्वीकार किया है वहाँ जैनेन्द्र व्याकरणमें ङी प्रत्ययसे ही कार्य निकाल लिया है। यह प्रक्रियाकृत लघुता है। इसी तरह सर्वत्र प्रक्रियाकृत लघुता पायी जाती है।

पाणिनिने "अर्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः" इस न्यायको स्वीकार करके भी जब संज्ञाओंके विषयमे लघुताका अभाव देखा, तब संज्ञाविधिमे इस न्यायकी प्रवृत्तिका निषेध भी किया। लेकिन जैन व्याकरणमे संज्ञाकी लघुताको स्वीकार कर न्यायकी प्रवृत्तिको अक्षुण्ण रखा है। जैसे सवर्णसंज्ञाके स्थानमें स्वसंज्ञा, प्रतिपादिक संज्ञाके स्थानमें मृत संज्ञा, समास संज्ञाके स्थानमें सखंज्ञा इत्यादि सभी संज्ञाओंको लघु बनाया है जो ग्रन्थोंको देखनेसे स्पष्ट मालूम पड सकता है।

जहाँ प्रक्रियाकृत और संज्ञाकृत लघुता है वहाँ पर प्रतिपत्तिकृत लघुता है ही, क्योंकि उक्त दोनों लघुताओंके रहनेसे पदार्थज्ञानमे सरलता पड जाती है।

पाणिनिने इत्संज्ञा विधानमे कई नियम बताये हैं किन्तु जैनेन्द्र व्याकरणमें "अप्रयोगीत" इस नियमको स्वीकार करके अन्य नियमोंकी आवश्यकता नही समझी गयी है। इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी लघुतायें व्याकरणकी महत्ताको प्रकट करती है। यहाँपर संक्षेपमें दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

कातंत्रव्याकरणमे तो इतनी प्रतिपत्तिकृत लघुता मानी हुई है कि बंगाल प्रान्तमें उसीका प्रचार है और उसकी परीक्षा कलकत्ता संस्कृत कालेजमे होती है, जोकि कलाप व्याकरणके नामसे प्रसिद्ध है। यह उसकी महत्ताका द्योतक है।

मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार कातंत्रव्याकरणका किसी जमानेमें प्रचार हुआ है उसी प्रकार अन्य जैन व्याकरणोंका भी प्रचार हो सकता है। लेकिन हम स्वयं उसकी महत्ताको नही समझे हैं। कातंत्रका भी

प्रचार जैनियोंने नहीं किया, दूसरोंने स्वयं ही उसकी महत्तासे उसे ग्राह्य समझकर उसको अपनाया है। इसमे भी हमें इतनेसे ही सन्तोष करना पड़ता है कि उसका प्रचार है। पढ़ने-पढ़ाने वाले यह नही समझते कि इस व्याकरणके मूलकर्ता जैन थे। परन्तु यह बात सब व्याकरणोंके लिये लागू नहीं हो सकती है, क्योंकि जो स्वयं अपनी वस्तुको पसन्द नहीं करता है उसको दूसरा कैसे पसन्द कर सकता है। हमारा कर्तव्य होना चाहिये कि उसकी महत्ताको समझें और उसकी उपादेयताका विचार कर उसीका अध्ययन-अध्यापन करें।

पाणिनिकी अष्टाध्यायीसे जो काम नही निकलता, वह जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीसे अनायास सिद्ध हो जाता है। पाणिनिकी कमीको वार्तिककारने पूरी की और वार्तिककार भी जिन शब्दोको सिद्ध करना भूल गये उनकी सिद्धि भाष्यकारने भाष्यवार्तिक बनाकर की है। लेकिन ऐसा कोई शब्द नही है, जो सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतंजलिने सिद्ध किया हो और जैनेन्द्र पंचाध्यायीसे सिद्ध न होता हो। यह भी जैनेन्द्र व्याकरणकी महत्ताका प्रयोजक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जैन व्याकरणोको महत्त्वशाली बनानेमे आचार्योंने पूरा-पूरा प्रयास किया है।

भाषाके प्रचारसे अपनी संस्कृतिका प्रचार होता है। परकी संस्कृतिसे बचाव होता है। यह तत्त्व सर्वमान्य है और यही कारण है कि मुसलमान और यूरोपियन शासकोंने अपनी-अपनी भाषाओको राजाश्रय दिया है। यदि ऐसा नही किया होता तो इनके साम्राज्यका वा जातीय महत्त्वका प्रचार ही नही हो पाता। यह तत्त्व आज ही नही, प्राचीन कालसे संस्कृतिकी रक्षाके लिये अत्यन्त उपयोगी माना गया है। हमारे आचार्यों-ने भी इसका उपयोग किया है, अत हमारे यहाँ जितने आचार्य हुए है वे दार्शनिक हो या कवि सभीने आवश्यकता पडनेपर जैन व्याकरणको ही अपनाया है। मुझे तो विश्वास है कि उन्होने जैन व्याकरणके द्वारा ही संस्कृत भाषाका ज्ञान किया होगा। क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें जगह-जगह जैन व्याकरणका उल्लेख किया है। अकलक देव, प्रभाचन्द्राचार्य, विद्यानन्द स्वामी प्रभृति कम विद्वान नही थे, जिन्होने जैन व्याकरण-का पूरा-पूरा गौरव रखा। बात तो यह है कि उन्होंने उसके गौरव और ग्राह्यताको समझ लिया था। पं० आशाधरजी, कवि अर्हद्दासजी आदि, जो कि पूर्वाचार्योंकी अपेक्षासे बहुत अर्वाचीन है, जैन व्याकरणके सहारेपर ही उच्च विद्वान हुए, जिनकी मान्यता और जिनके ग्रन्थोंकी मान्यताको आज हम बड़े गौरव और उत्साहके साथ उल्लिखित करते है। अब हम समझ सकते है कि कितनी उपादेयता जैन व्याकरणमे भरी हुई है।

हमारे पूज्य आचार्योंने व्याकरण इसलिये नही बनाया था कि हम लोग उसको अवहेलना करना भूल जावेंगे, किन्तु उसका ध्येय, भाषा और भावका, जो बोध्य-बोधक सम्बन्ध है और वैय्याकरण भी अपने ही धर्म सम्बन्धी उदाहरणोसे व्याकरणके नियमोका विकास करता हुआ जो श्रद्धाका भाव पुष्टि करता है उसके प्रचारका था। जैसे आप जब अन्य काव्य पढते है उससे उसके कर्ता कविके विचारोंका आपपर असर पडता है वैसे ही आप अन्य व्याकरण पढते हैं उस समय भी अन्यके विचारोंका अनायास ग्रहण होता है। उदाहरणके लिये पाणिनीय व्याकरणमे 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः।' जैनेन्द्र व्याकरणमे 'सांसारिकसुख-दु खतः उत्तमे मोक्षसुखे धरतीति धर्मः' आदि-आदि उदाहरणोंमें कितना धार्मिक भाव भरा हुआ है, जिसका कि असर कोमल हृदय विद्यार्थीके अन्तःकरणपर पड़े बिना नही रह सकता है। यदि सब विषयके ग्रन्थ अपने होते तो अपनी संस्कृतिका भी अच्छा प्रचार हो सकता है। तथा विपुल साहित्यरूप कार्य देखकर अपनी समाज विद्वान कहला कर आदर्श समाजकी पदवीको प्राप्त हो सकती है। अन्यथा जिस प्रकार खजाना और सेनाका परस्पर अविनाभाव है। खजानेके रहनेपर ही सेनाका जीवननिर्वाह तथा सेनाके रहनेपर ही खजानेकी रक्षा हो सकती है उसी प्रकार जैनधर्ममें स्वसमय और परसमयका भी अविनाभाव है। जितने भी सिद्धान्तग्रन्थ हैं और

जिनका सम्बन्ध आध्यात्मिकतासे है वे स्वसमयमें अन्तर्भूत होते हैं तथा जितने न्याय, व्याकरण, साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ हैं वे परसमय कहलाते हैं।

न्याय, व्याकरण, साहित्यरूप परसमयके ग्रन्थोंके बिना सिद्धान्तग्रंथो (स्वसमय) का स्वरूप व्यवस्थित नहीं हो सकता, न उनसे आत्मार्थी पुरुष कुछ लाभ भी ले सकता है एवं बिना स्वसमयके न्यायादि परसमयका भी कुछ उपयोग नही हो सकता। अतः ऐसी हालतमें समाज जो दोनोको अनुपादेय समझ रहा है उससे समाजका और उसके स्वसमय-परसमयरूप साहित्यका नाश हो रहा है। इसलिये इनकी रक्षा करनेका हमारे समाजका परम कर्त्तव्य है। अत इनके उद्धारके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

षट्खण्डागमके 'संजद' पदपर विमर्श

[यह लेख साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओंके ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे आज भी महत्त्वपूर्ण है ।]

अर्सेसे प्रोफेसर हीरालालजी जैनके "क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके शासनोंमें कोई मौलिक भेद है ?" शीर्षक वक्तव्यपर उनके और दिगम्बर जैन समाजके बीच विवाद चल रहा है । दिगम्बर समाजने प्रोफेसर साहबके वक्तव्यको दिगम्बर मान्यताओंके मूलपर एक आघात समझा है । उसकी धारणा है कि यदि इस वक्तव्यका निराकरण न करके इसके प्रति उपेक्षा धारण कर ली जाय, तो भविष्यमें दिगम्बर मान्यताओंके प्रति जनसाधारणका अविश्वास हो सकता है ।

किसी भी संस्कृतिकी उपासक समष्टि उस संस्कृतिको जहाँ अपने कल्याणका साधन समझती है वहाँ उसकी सन्तान और दूसरे-दूसरे लोग भी उस संस्कृतिसे अपना कल्याण कर सकें, यह भावना भी उसमें स्वाभाविक तौरपर विद्यमान रहती है । यही एक आधार है कि प्रत्येक समष्टिके ऊपर अपनी-अपनी संस्कृतिके संरक्षण और प्रसारका भार बना हुआ है । इस दृष्टिसे प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध दिगम्बर समाजका आवाज उठाना जहाँ न्याय-संगत माना जा सकता है वहाँ यह मानना भी न्याय्य है कि प्रोफेसर साहबने अपनी बुद्धिपर भरोसा करके दिगम्बर आगमग्रन्थोंका एक निष्कर्ष निकालने और उस निष्कर्षको समाजके सामने रखनेका जो प्रयत्न किया है वह उनके भी स्वतंत्र अधिकारकी बात है । फिर जिस विषयको एक निष्कर्षके रूपमें प्रोफेसर साहबने समाजके सामने उपस्थित किया है वह विषय संदिग्धरूपसे न मालूम कितने आगमके अभ्यासी व्यक्तियोंके हृदयमें विद्यमान होगा । इसलिये प्रोफेसर साहबके इस प्रयत्नसे वक्तव्य-संग्रहीत विषयोंको आगमग्रन्थोंके निर्विवाद अर्थों द्वारा एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा देनेका योग्य अवसर ही समझना चाहिये था । परन्तु हम देखते हैं कि प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियों तथा दिगम्बर समाजके विचारोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले विषयके अधिकारीवर्गके बीच लम्बे अर्सेसे चल रहे वाद-विवादके बाद भी उभयपक्षके बहुत कुछ अनुचित प्रयत्नों द्वारा परस्पर कटुता बढ़नेके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं हुआ है । और यही कारण है कि इस तथ्यहीन वाद-विवादसे ऊबकर 'जैनमित्र' के सम्पादक महोदयको बाध्य होकर यह लिखना पड़ा है कि इस विवादसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी लेखको 'जैनमित्र' में स्थान नहीं दिया जायगा ।

तात्पर्य यह है कि कोई भी विषय जब पक्ष और विपक्षके झमेलेमें पड जाता है तो वहाँ विचारकी दृष्टि जाती रहती है और मान-अपमानका प्रश्न खडा हो जाता है, इसलिये उभय पक्षकी ओरसे प्रधानतया अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखने तथा दूसरे पक्षका प्रभाव नष्ट करनेका ही प्रयत्न होने लगता है । दूसरे-दूसरे बाह्य कारणोंके साथ यह एक अतरंग कारण है कि इस विषयमें हम अभी तक मौन रहते आये हैं । लेकिन आज हम जो अपने विचारोंको नहीं दबा सक रहे हैं उसका कारण यह है कि हमारे सामने एक तो श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका वह लेख है जो उन्होंने श्री प्रेमीजीके "अन्यायका प्रमाण मिल गया" शीर्षक लेखके ऊपर जैनमित्रमें लिखा है और दूसरे दिगम्बर जैन समाज बम्बईकी ओरसे प्रकाशित दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पणके वे दोनों भाग हैं जिनमें भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा श्री प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्य तथा दूसरे वक्तव्योंके विरोधमें लिखे गये लेखोंका संग्रह है ।

श्री प्रेमीजीने अपने उक्त लेखमें यह लिखा था कि सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें प्रोफेसर साहबने लेखकोंकी गलतीसे 'संयत' पद छूट जानेकी जो कल्पना की है वह सही है और वह पद मूडबिद्रीकी प्रतिमें मौजूद है । इसपर श्री मुख्तारसाहबने अपने लेखमें कई आनुषंगिक शंकायें उपस्थित की हैं और उनके निराकरण

करनेके लिये प्रेरणा करते हुए कुछ उपाय भी सुझाये है। और हमें विश्वास है कि श्री मुख्तार साहब भी स्वप्नमें यह नहीं सोच सकते हैं कि प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियों द्वारा मूडबिद्रीकी प्रतिमें संयत-पद जोड़नेका अनुचित प्रयत्न किया गया होगा, परन्तु संदेह पैदा होनेके कारणभूत जिन दलीलोंका श्री मुख्तार साहबने अपने लेखमें संकेत किया है वे इतनी स्वाभाविक है कि उनकी उपेक्षा नही की जा सकती है। हम आशा करते हैं कि संबंधित महानुभावोंका ध्यान श्री मुख्तार साहबके लेख पर पहुँचा होगा और उन्होंने संदेह निवारण करनेके लिये प्रयत्न चालू कर दिया होगा।

हम मानते हैं कि उक्त संदेह श्री प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियोंकी नीयत पर भयंकर हमला है परन्तु जब मनुष्य किसी भी वाद-विवादके दलदलमें फँस जानेपर अपनी प्रामाणिकताको सुरक्षित रखनेके महत्त्वको भूल कर स्वार्थ और अभिमानकी पुष्टिके लिये उदारता और सहिष्णुताके मार्गको छोड देता है तो उसकी नीयत पर ऐसे भयंकर हमलोंका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। और हमें कहना पड रहा है कि साधारण समाजने प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध अपनी जो भावना प्रदर्शित की है वह तो किसी रूपमें उचित मानी जा सकती है परन्तु समाजके विचारोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले विषयके विद्वानोंने तथा श्री प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियोंने निश्चित ही अपनी जवाबदारी यथोचित रीतिसे नहीं निबाही है।

जब श्री प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध दिगम्बर समाजमें आवाज उठी तो उन्होंने यह कह-कर उस आवाजको दबानेकी कोशिश की, कि उन्होंने वह वक्तव्य जिज्ञासुभावसे प्रेरित होकर प्रकट किया है, उनकी मंशा दिगम्बर मान्यताओं पर चोट करनेकी नही है। प्रोफेसर साहबकी मंशा भले ही दिगम्बर मान्यताओं पर चोट करनेकी न हो, परन्तु उनका वक्तव्य दिगम्बर मान्यताओंका स्पष्ट खण्डन है, इस बातसे इन्कार नही किया जा सकता है। हमें प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यमे ऐसा एक भी वाक्य नहीं मिल रहा है जो उनके जिज्ञासुभावको प्रदर्शित कर रहा हो। इसलिये वक्तव्य प्रकट करनेके बाद दिगम्बर समाजको सान्त्वना देनेके लिये प्रोफेसर साहब द्वारा लुभावने शब्दोका प्रयोग हमारी समझके अनुसार निरर्थक ही नही बल्कि अनुचित जान पडता है।

इसी प्रकार कहना होगा कि श्री प्रेमीजीके लेखका "अन्यायका प्रमाण मिल गया" यह शीर्षक उनके स्वगत अभिमान और विरोधी पक्षके प्रति रोष एवं तिरस्कारका ही सूचक है। हमारा यह भी खयाल है कि प्रोफेसर साहब व पं० फूलचन्द्रजीके बीच चल रही उक्त वक्तव्यसे संबद्ध तत्त्वचर्चाका बीच में ही पं० फूलचन्द्रजीसे बिना पूछे ही स्वतंत्र पुस्तकके रूपमें प्रकाशित कर देना श्री प्रेमीजी जैसे गण्यमान्य व्यक्तिके लिये शोभास्पद बात नही है।

हमें अच्छी तरह याद है कि गतवर्ष कलकत्तामे वीर-शासन महोत्सवके अवसरपर प्रोफेसर साहब-के उक्त वक्तव्यपर उभय पक्षकी ओरसे जिस तत्त्वचर्चाका आयोजन किया गया था वह तत्त्वचर्चा उस आयोजनके लिये निर्णीत सभापतिके संचालनकी ढिलाईके कारण अनावश्यक और अनुचित शास्त्रार्थका रूप धारण कर गयी थी और उपस्थित समाजको अपनी ओर आकर्षित करना तथा अपने विपक्षका किसी तरह मुख बन्द करना ही उसका प्रधान लक्ष्य हो गया था। हम मानते हैं कि इसमें अधिक अपराधी वक्तव्यके विरुद्ध बोलनेवाली पार्टीको ही ठहराया जा सकता है।

हमें पं० हीरालालजीके "प्रोफेसर साहबके वक्तव्य पर मेरा स्पष्टीकरण" शीर्षक वक्तव्यको देखकर महान आश्चर्य हुआ कि ग्रन्थके सम्पादक होते हुए भी सूत्रमें 'संयत' पद जोड़नेकी अपनी जवाबदारीसे हटनेके लिये उन्होंने अनुचित, असोचनीय और असफल प्रयत्नको अपनाया है। तथा यह देख कर तो और भी

आश्चर्य हुआ कि बम्बईकी दिगम्बर समाजने इस सारहीन वक्तव्यका प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरुद्ध प्रकाशित पुस्तकमें उपयोग करना उचित समझा है। क्या पं० हीरालालजीने ग्रन्थ प्रकाशित हो जानेके बाद उस टिप्पणीको नहीं देखा होगा? और जिस वाक्यांशका उनकी दृष्टिसे भ्रामक अर्थ छपा है उसके बारे में क्या वे फुटनोट द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकते थे? यदि उन्हें ऐसा नहीं करने दिया गया हो, तो वे समाचारपत्रों द्वारा अपनी सम्मति उसी समय समाज पर प्रकट नहीं कर सकते थे? उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसका अर्थ यह करना अनुचित नहीं माना जायगा कि पं० हीरालाल जी "जैसी चले बयार पीठ पुनि तैसी दीजै" की नीतिका अनुसरण करना जानते हैं। इसी तरह बम्बईकी दिगम्बर जैन समाजको भी कहा जा सकता है कि उसने श्री पं० हीरालालजीके उक्त स्पष्टीकरणको प्रोफेसर साहबके विरुद्ध हथियार बनाकर 'अर्थी दोषं न पश्यति' की नीतिको चरितार्थ किया है।

उभय पक्षकी ऐसी बहुत-सी मिसालें यहाँ पर उद्धृत की जा सकती हैं, जिन्होंने विषयको निष्कर्ष पर पहुँचानेकी अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचाई है। विचार-विनिमयसे उभय पक्षको जितना एक-दूसरेके निकट आना चाहिए था उक्त दूषित नीतिका अनुसरण करनेके कारण वे उतनी ही दूरी पर चले गये हैं। और यह सभीके लिये अत्यन्त खेदकी बात होना चाहिये, कारण कि ऐसी प्रवृत्तियोंसे उभय पक्षका गौरव नष्ट होता है और सर्वसाधारणके अहितकी सम्भावना रहती है। इसीलिये हमने यहाँपर संक्षेपमें उभय पक्षकी दूषित मनो-वृत्तिकी परिचायक कुछ प्रवृत्तियोंका संकेत किया है, ताकि उभय पक्ष अज्ञान, प्रमाद अथवा और किसी हेतुसे की गयी अपनी दूषित प्रवृत्तियोंकी ओर दृष्टिपात कर सके तथा अपनी बौद्धिक शक्तिका उपयोग धर्म, संस्कृति और समाजके हितसाधनमें कर सके। हम आशा करते हैं कि जब तक प्रोफेसर साहबके वक्तव्यमें निर्दिष्ट विवाद-ग्रस्त विषय एक निष्कर्ष पर न पहुँचा दिये जायें, तब तक उभय पक्षकी चर्चा व्यक्तिको छोड़कर विषय तक ही सीमित रहेगी।

बम्बईकी दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरुद्ध यद्यपि हमारे सामने मौजूदा दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। परन्तु इतने मात्रसे दिगम्बर समाजका उद्देश्य सफल नहीं हो सका है और हमारी धारणा है कि इस प्रकारके प्रयत्नों द्वारा कभी भी उद्देश्यमें सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती है। हमारी राय है कि उद्देश्यकी सफलताके लिये उभय पक्षकी ओरसे सिलसिलेवार उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप चलनेवाली एक लेखमालाकी ही स्वतन्त्र व्यवस्था होना चाहिये। हमारी हार्दिक इच्छा है कि इस प्रकारकी व्यवस्था करनेका भार विद्वत् परिषदको अपने ऊपर ले लेना चाहिये, साथ ही उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रोफ़ेसर साहबके साथ इस विषयके निर्णयमें भाग लेनेके लिये दिगम्बर समाजकी ओरसे कुछ विद्वानोंकी एक उपसमिति कायम करें और कोई भी विद्वान प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरोधमें जो कुछ लिखे, वह इस उपसमितिकी देखरेखमें ही प्रकाशित हो, क्योंकि प्रायः सभी विद्वानोंमें किसी-न-किसी उद्देश्यको लेकर कुछ-न-कुछ लिखने-की आकांक्षा पैदा होना स्वाभाविक बात है और यदि एक ही पक्षका समर्थन करनेवाले दो विद्वान एक ही विषयमें अज्ञान अथवा प्रमादकी वजहसे भिन्न-भिन्न विचार प्रगट कर जाते हैं तो विषयका निर्णय करना बहुत ही जटिल हो जाता है। हम देखते हैं कि पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार और पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई (जिन्हें स्वयं अपनी विद्वत्तापर पूर्ण विश्वास है और समाज भी योग्य विद्वानोंमें जिनकी गणना करती है) अपने लेखोंमें षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रकी धवला-टीकाके कुछ अंशोंका परस्पर भिन्न अनुवाद कर गये हैं और प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरोधमें बम्बई दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे प्रकाशित दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पणके दोनों भागोंका सम्पादन करते समय भी इसकी ओर लक्ष्य नहीं

रखा गया है। आज यदि इसका स्पष्टीकरण किया जाता है तो बहुत कुछ सम्भव है कि ये दोनों विद्वान भी अपनी-अपनी जिदपर अड सकते हैं। इसलिये विषयके निर्णयके लिये सीधा और उपयुक्त मार्ग यही है कि विद्वत् परिषद् कुछ चुने हुए विद्वानोंकी एक उपसमिति कायम करे। हम आशा करते है विद्वत् परिषद्का ध्यान हमारे इस सुझावकी ओर अवश्य जायगा।

पं० मक्खनलालजी व पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके ऊपर निर्दिष्ट अनुवाद-भेदका स्पष्टीकरण तथा उक्त सूत्रमें 'संयत' पदकी आवश्यकता और अनावश्यकतापर विचार किया जायेगा।

पहले किये गये संकेतके अनुसार यहाँपर हम शीर्षकके अन्तर्गत निर्दिष्ट सूत्रकी धवलाटीकाके पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार और पं० रामप्रसादजी शास्त्री द्वारा किये गये परस्पर-भिन्न हिन्दी अनुवादोंपर विचार करते हुए सूत्रमे 'संयत' पदकी आवश्यकता और अनावश्यकतापर यहाँ अपना विचार प्रकट करेंगे।

धवलाटीकाका वह मूल अंश, जिसके हिन्दी अनुवादमें उक्त उभय विद्वानोका मतभेद बतलाया गया है, मुद्रित प्रतिमें निम्न प्रकार पाया जाता है—

> "हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते ? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान-गुणास्थिताना संयमानुपपत्ते.।"

इसका हिन्दी अनुवाद मुद्रित प्रतिमे निम्न प्रकार पाया जाता है—

शंका—हुण्डावसर्पिणी काल संबन्धी स्त्रियोंमे सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नही उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नही, क्योंकि उनमे सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान—इसी आगम प्रमाणसे जाना जाता है।

शंका—तो इसी आगमप्रमाणसे द्रव्यस्त्रियोका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नही, क्योंकि वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नही हो सकती है।

प० मक्खनलालजीने धवलाटीकाके उक्त अंशका हिन्दी अनुवाद करते हुए मुद्रित प्रतिके इस अनुवादको पूर्णत. सही माना है, परन्तु पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने वाक्यविन्यासकी गलतीके आधारपर इस अनुवादको गलत माना है और अपना भिन्न ही अभिप्राय प्रकट किया है। उनकी दृष्टिके अनुसार इस अंशकी स्थिति निम्न प्रकार है—

> "हुण्डावसर्पिण्या स्त्रीषु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पद्यन्त इति चेत् नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते ? अस्मादेवार्षात्, अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां न निर्वृतिः। सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान-गुणस्थितानां संयमानुपपत्ते।"

मुद्रित प्रतिके उक्त अंशसे इसमें एक तो वाक्यविन्यासकी विशेषता है और दूसरे 'द्रव्यस्त्रीणा निर्वृतिः'-के स्थानपर 'द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' ऐसा पाठभेद स्वीकार किया गया है तथा इसका जो हिन्दी अनुवाद पं० रामप्रसादजीको मान्य है उसको निम्न प्रकारसे प्रकट किया गया है—

शंका—हुण्डावसर्पिणीकालदोषके प्रभावसे स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्या नही उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं उत्पन्न होते हैं।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान—इसी (९३वें) ऋषिप्रणीत आगमसूत्रसे जाना जाता है और इसी (९३वें) ऋषिप्रणीत आगमसूत्रसे यह भी जाना जाता है कि द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष नहीं होता है।

शंका—द्रव्यस्त्रियोंको मोक्ष तो सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होनेसे वे संयतासंयत गुणस्थानमें स्थित रहती हैं, इसलिये उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

पाठक देखेंगे, कि दोनों प्रकारका हिन्दी अनुवाद उत्तरोत्तर तीन शंका-समाधानोंमें विभक्त है। इनमें-से पं० रामप्रसादजी शास्त्री द्वारा धवलाटीकाकी मुद्रित वाक्ययोजनाको बदल कर किये गये अनुवादके पहले शंकासमाधानरूप भागसे हम भी सहमत हैं क्योंकि हुण्डावसर्पिणीकालदोषके प्रभावसे परंपराविरुद्ध कार्य तो हो सकते हैं परन्तु उनसे करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीत सिद्धान्तोंका अपलाप नहीं हो सकता है, कारण संपूर्ण काल, संपूर्ण क्षेत्र, सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण अवस्थाओंको ध्यानमें रखकर करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीत सिद्धान्तोंपर कालविशेष, क्षेत्रविशेष, द्रव्यविशेष और अवस्थाविशेषका प्रभाव नहीं पड सकता है। इसलिये जब करणानुयोगका यह नियम है कि कोई प्राणी सम्यग्दर्शनकी हालतमें मर कर स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता है तो हुण्डावसर्पिणीकालका दोष इसका अपवाद नहीं हो सकता है। इस प्रकार पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके साथ-साथ हमारी भी यह मान्यता है कि मुद्रित प्रतिमें धवलाटीकाके इस अंशकी वाक्ययोजना निश्चित करने और उसका हिन्दी अनुवाद करनेमें गलती कर दी गई है और पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार भी अपने अनुवादमें उस गल्तीको दुहरा गये। परन्तु आगे पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने मुद्रित प्रतिमें स्वीकृत धवला टीकाके 'द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति' इस वाक्यांशके स्थानपर 'न' पद जोडकर 'द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' इस वाक्यांशको स्वीकार करके वाक्ययोजना बदलने और उस बदली हुई वाक्ययोजनाके आधारपर हिन्दी अनुवाद करनेका जो प्रयास किया है उसमे एक तो अनुवाद करते समय अधिक खींचातानी करनी पडी है, दूसरे उनके अभिप्रायकी पुष्टिके लिये इसे हम उनका द्राविडीय प्राणायामका अनुसरण कह सकते हैं और तीसरे उनका यह प्रयास निरर्थक भी है।

इनमेंसे अनुवाद करते समयकी खींचातानी तो यहाँपर स्पष्ट ही है क्योंकि धवलाटीकाके इस अंशका जो अभिप्राय अनुवादद्वारा पं० रामप्रसादजी शास्त्री निकालना चाहते हैं उसके अनुकूल वाक्यरचनाका धवलाटीकामें अभाव है। यदि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' इस वाक्यको सिद्धान्तपरक मानकर सिर्फ 'सिद्धयेत्' इस क्रियारूप वाक्यको ही आक्षेपपरक माना जाय तो वाक्यरचनामें अधूरेपनका अनुभव होने लगता है जो कि अनुचित है।

द्राविडीय प्राणायामका अनुसरण हम इसलिये कहना चाहते हैं कि पं० रामप्रसादजी शास्त्री 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां न निर्वृति' इस वाक्यसे उक्त ९३वें सूत्रमे 'संयत' पदके अभावके आधारपर दिगंबर संप्रदायको मान्य 'द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्तिका अभाव' प्रस्थापित करना चाहते हैं और 'सिद्धयेत्' इस वाक्यसे क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणाके आधारपर दिगम्बर संप्रदायकी उक्त मान्यतापर आक्षेप उपस्थित करना चाहते हैं, जिसका समाधान 'सवासत्वात्—' आदि पंक्ति द्वारा किया गया है। लेकिन इस विषयमे हमारा कहना यह है कि यदि पं० रामप्रसादजी शास्त्रीको यह अर्थ अभीष्ट है तो इसके लिये 'द्रव्यस्त्रीणा निर्वृतिः'के स्थानपर 'द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति.' इस पाठको मान कर एक ही वाक्यमें दो वाक्योंकी कल्पना करनेके कष्टसाध्य प्रयत्नके करनेकी उन्हें क्या जरूरत है ? क्योंकि 'अस्मादेवार्षाद्' इस वाक्यांशको सूत्रपरक न मानकर यदि सूत्रोंके समूहरूप ग्रन्थपरक मान लिया जाय और इसका अर्थ इसी

ऋषिप्रणीत ९३वें सूत्रसे' इस प्रकार न करके 'इसी ऋषिप्रणीत आगमग्रन्थसे अर्थात् क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणा द्वारा' इस प्रकार मान लिया जाय, तो उसके लिये अभीष्ट 'संयत-पदका अभाव' भी सूत्रमें बना रहता है और 'न' पद जोड कर एक वाक्यमें दो वाक्योंकी कल्पना भी उन्हें नहीं करनी पडती है। केवल 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृति' सिद्धयेत्' इस सपूर्ण वाक्यको आक्षेपपरक एक वाक्य मान करके पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके अभिप्रायानुसार 'इसी आगमग्रन्थसे अर्थात् क्षेत्रानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणा द्वारा द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्तिका प्रसङ्ग हो सकता है'। इस प्रकारके प्रकरणगत अर्थकी संगति बैठ जाती है। परन्तु पं० रामप्रसादजी शास्त्रीकी 'अस्मादेवार्षाद्' इस वाक्यको सूत्रोंके समूहरूप ग्रन्थपरक न मान कर केवल सूत्रपरक मानते हुए उसका 'इसी ९३वें सूत्ररूप आगम-प्रमाणसे' ऐसा अर्थ करना [जो कि हमारी रायमें भी ठीक अर्थ है] इसलिये अभीष्ट है कि वे इसी आधारपर इस ९३वें सूत्रमें विवादग्रस्त 'संयत' पदका अभाव सिद्ध करना चाहते हैं। लेकिन हमारी रायसे वे इसमें भी सफल नहीं हो सकते हैं।

पं० रामप्रसादजी शास्त्रीका खयाल है कि क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदिकी मनुष्यप्ररूपणाओंमें केवल मनुष्यणी शब्द पाया जाता है इसलिये उन सूत्रोंमे इसका अर्थ भावस्त्री करना चाहिये और सत्प्ररूपणा के ९३ वें सूत्रमें मनुष्यणी शब्दका अर्थ द्रव्यस्त्री करना चाहिए, परन्तु उनका यह ख्याल गलत है क्योंकि सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि सभी प्ररूपणाओंमें 'मनुष्यणी' शब्दका अर्थ समानरूपसे पर्याप्तनामक कर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव' ही मुक्ति-पात्र तथा आगमसम्मत है और मनुष्यणी संज्ञावाले इस जीवके ही ९२ वे और ९३ वें सूत्रों द्वारा यदि वह निर्वृत्यपर्याप्तक हालतमें है तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थानोंकी और यदि वह निर्वृत्यपर्याप्तक हालतको पारकर गया हो तो उसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ आदि सभी गुणस्थानोंकी संभावना बतलाई गई है। सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें 'मनुष्यणी' शब्दसे यदि सिर्फ द्रव्यस्त्रीको ही ग्रहण किया जाता है तो जो जीव दिगम्बर मान्यताके अनुसार द्रव्यसे पुरुष और भावसे स्त्री है उसका ग्रहण उक्त सूत्रमे पठित मनुष्यणी शब्दसे न हो सकनेके कारण उसकी निर्वृत्यपर्याप्तक हालतमें चतुर्थ गुणस्थानके प्रसंगको टालनेके लिये आगमका कौनसा आधार होगा, कारण कि दिगम्बर मान्यताके अनुसार कर्मसिद्धांतके आधारपर स्त्रीवेदोदयविशिष्ट पुरुषके भी निर्वृत्य-पर्याप्तक हालतमें चतुर्थ गुणस्थान नही स्वीकार किया जाता है। इसलिये आगमग्रंथोंमे जहा भी मनुष्यणीशब्द-का उल्लेख पाया आया है वहांपर उसका अर्थ 'पर्याप्तनामकर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव ही करना चाहिये। ऐसा अर्थ करनेमें सिर्फ एक यह शंका अवश्य उत्पन्न होती है कि स्त्री-वेदोदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाले जीवके अधिक-से-अधिक नौ (९) गुणस्थान तक हो सकते हैं। इसलिये इस जीवके १४ गुणस्थानोंका कथन करना असंगत और आगमविरुद्ध है। लेकिन इसका समाधान उक्त ९३वें सूत्रकी धवला टीकामें कर दिया गया है कि यहांपर मनुष्यगतिनामकर्मका उदय प्रधान है और स्त्रीवेद-नोकषायका उदय इसका विशेषण है। इसलिये विशेषणके नष्ट हो जानेपर भी विशेष्यका सद्भाव बना रहनेके कारण ही मनुष्यणीके १४ गुणस्थानोंकी सम्भावना बतलायी गयी है।

इस प्रकार जब उक्त ९३वें सूत्रमें 'मनुष्यणी' शब्दसे स्त्रीवेदोदयविशिष्ट द्रव्यपुरुषका ग्रहण भी अभीष्ट है तो क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणावाले सूत्रोंके साथ सामञ्जस्य बिठलाने-के लिये इस सूत्रमें भी संयतपदका सद्भाव अनिवार्य रूपसे स्वीकार करना पड़ता है और तब पं० राम-प्रसादजी शास्त्रीने उक्त ९३वें सूत्रमे संयतपदका अभाव सिद्ध करनेके लिये जिन दलीलोंका उपयोग किया है वे सब निःसार हो जाती है।

अपने लेखके परिशिष्टमें पं० रामप्रसादजी शास्त्री एक और गलती कर गये हैं। उन्होंने अपनी ऊपर बतलायी हुई कल्पनाको गौण करके यहाँपर एक दूसरी ही कल्पनाको जन्म दिया है। वे कहते हैं कि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेदिति चेन्न' इस पंक्तिमें द्वितकारवाले 'निर्वृत्ति' शब्दका अर्थ मुक्ति नहीं है बल्कि निष्पत्ति है। हम नहीं समझते कि 'निर्गता नष्टा वृत्तिर्वर्तनं संसारभ्रमणमित्यर्थः' इस व्युत्पत्ति के आधारपर द्वितकारवाले निर्वृत्ति शब्दका अर्थ 'मुक्ति' करनेमें उन्हें क्या आपत्ति है और फिर श्रीवीरसेन स्वामीने द्वितकारवाले 'निर्वृत्ति' शब्दका पाठ न करके एक तकारवाले 'निर्वृति' शब्दका पाठ किया हो, इस सम्भावनाको कैसे टाला जा सकता है ? यद्यपि वाक्यविन्यासको तोड़-मरोड़ करके पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने इस बातकी कोशिश की है कि श्री वीरसेन स्वामीको यहाँपर द्वितकारवाले 'निर्वृत्ति' शब्दका पाठ ही अभीष्ट है, परन्तु हम कहेंगे कि पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने इस प्रयत्नमें विशुद्ध वैयाकरणत्वका ही आश्रयण किया है क्योंकि उनकी अपने ढंगसे वाक्योंकी तोड़मरोड़ करनेकी कोशिशके बाद भी वे अपने उद्देश्यके नजदीक नहीं पहुँच सकते हैं अर्थात् पहले कहा जा चुका है कि मनुष्यणी शब्दका अर्थ पर्याप्तनामकर्म और स्त्रीवेदनोकषायके उदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव ही आगमग्रन्थोंमें लिया गया है और वह द्रव्यसे स्त्रीकी तरहसे द्रव्यसे पुरुष भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यणी' शब्दका अर्थ स्त्रीवेदनोकषायके उदयसहित द्रव्यस्त्रीकी तरह स्त्रीवेदनोकषायके उदयसहित द्रव्यपुरुष भी होता है और यही अर्थ समानरूपसे सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओंमें 'मनुष्यणी' शब्दका है ऐसा समझना चाहिये। इस तथ्यको समझनेके लिये सम्बद्ध सूत्रों तथा उनकी धवला टीकाका गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करनेकी जरूरत है। सम्बद्ध सूत्रों और उनकी धवला टीका गम्भीरतापूर्वक चिन्तन न करनेका ही यह परिणाम है कि पं० रामप्रसादजी शास्त्री और भी बहुत-सी आलोचनाके योग्य बातें अपने लेखमें लिख गये हैं, जिनपर विचार करना यहाँ पर हम अनावश्यक समझते हैं।

बहुत विचार करनेके बाद हमने श्री पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके उनके अपने लेखमें गलत और कष्टसाध्य प्रयत्न करनेका एक ही निष्कर्ष निकाला है और वह यह है कि वे इस बातसे बहुत ही भयभीत हो गये हैं कि यदि सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें 'संयत' पदका समावेश हो गया तो दिगम्बर सम्प्रदायकी नींव ही चौपट हो जायगी। परन्तु उन्हें विश्वास होना चाहिये कि ९३वें सूत्रमें संयतपदका समावेश हो जानेपर भी न केवल स्त्रीमुक्तिका निषेधविषयक दिगम्बर मान्यताको आंच आनेकी सम्भावना नहीं है अपितु षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्रकरणगत सूत्रोंमें परस्पर सामञ्जस्य भी हो जाता है।

हमारे इस कथनका मतलब यह है कि मूडबिद्रीकी प्राचीनतम प्रतिमें भी संयत पद मौजूद हो, या न हो, परन्तु सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें उसकी (संयतपदकी) अनिवार्य आवश्यकता है, हर हालतमें वह अभीष्ट है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें परस्पर जो मतभेद है वह पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थान न मानने अथवा माननेका नहीं है क्योंकि पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोंकी मान्यता उक्त दोनों सम्प्रदायोंमेंसे किसी एक सम्प्रदायकी मान्यता नहीं है बल्कि जैनधर्मकी ही मूल मान्यता है और इस मान्यताको उभय सम्प्रदायोंने समान रूपसे अपनी-अपनी मान्यतामें स्थान दिया है। इन दोनों सम्प्रदायोंमें जो मतभेद है वह इस बातका है कि जैनधर्ममें पर्याप्त मनुष्यणीके जो चौदह गुणस्थान स्वीकार किये गये हैं वे जहाँ दिगम्बर सम्प्रदायोंमें पर्याप्त मनुष्यणीशब्दसे व्यवहृत स्त्रीवेदनोकषायके उदयवाले द्रव्यसे पुरुषके ही संभव माने गये हैं वहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें पर्याप्तमनुष्यणीशब्दसे व्यवहृत स्त्रीवेदनोकषायके उदयवाले द्रव्यसे स्त्रीके भी संभव माने गये हैं और इस मतभेदका मूल कारण यही जान पड़ता है कि दिगम्बर संप्रदायमें वस्त्रग्रहणको संयमका

घातक स्वीकार किया गया है जबकि श्वेताम्बर संप्रदायमे उसे (वस्त्रग्रहणको) संयमका घातक स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिये द्रव्यस्त्रीके चौदह गुणस्थान हो सकते हैं या नही ? इस प्रश्नका निर्णय इस प्रश्नके निर्णयपर अवलंबित है कि वस्त्रग्रहणके साथ संयमका सद्भाव रह सकता है या नही ?

जो विद्वान् वेदवैषम्यके आधारपर द्रव्यस्त्रीके संयम तथा मुक्तिकी निषेधविषयक दिगम्बर-मान्यता का समर्थन करना चाहते हैं वे भी हमारी रायसे इस तरहसे दिगम्बर संप्रदायमें मान्य 'द्रव्यस्त्रीके संयम तथा मुक्तिके अभाव' का समर्थन नहीं कर सकते हैं, कारण कि द्रव्यस्त्रीके संयम तथा मुक्तिका निषेध विषयक मान्यताके सद्भावमे दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार वेदवैषम्यके आधारपर जैनधर्मकी 'पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोंकी प्राप्ति विषयक मूल्यमान्यता'का समन्वय तो किया जा सकता है परन्तु इसके (वेदवैषम्यके) आधारपर यह तो किसी हालतमें नही कहा जा सकता है कि द्रव्यस्त्रीके आदिके पाँच गुणस्थानोंको छोडकर ऊपरके प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थान नही हो सकते हैं।

इसी प्रकार प्रोफेसर हीरालालजीके बारेमें भी हम यह निवेदन कर देना उचित समझते है कि भले ही षट्खण्डागमग्रन्थमें द्रव्यस्त्रीके लिये आदिके पाँच गुणस्थान तक प्राप्त कर सकनेका स्पष्ट उल्लेख न हो, परन्तु वहाँपर ऐसा उल्लेख भी तो स्पष्ट नही है कि द्रव्यस्त्रीके भी चौदह गुणस्थान हो सकते है, इसलिये षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रकी धवलाटीका कितनी ही अर्वाचीन क्यो न हो, उसे षट्खण्डागमके आशयके विपरीत आशयको प्रकट करनेवाली तो किसी भी हालतमे नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार षट्खण्डागमग्रन्थमे बतलायी गयी मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोकी प्राप्तिका अर्थ वेदवैषम्यकी असंभवताके आधारपर 'द्रव्यस्त्रीके चौदह गुणस्थानोंकी प्राप्ति' आगमकी मान्यता न होकर प्रोफ़ेसर सा० की ही मान्यता कही जा सकती है क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें जब वेदवैषम्य स्वीकर किया गया है तो इसपर (वेदवैषम्यकी असंभवतापर) आगमकी छाप किसी भी हालतमे नही लगाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि 'वेदवैषम्य संभव है या नही ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जैसे कि 'शरीरसे भिन्न जीव नामका कोई स्वतंत्र पदार्थ है या नही ?' 'जीवकी मुक्ति होती है या नही ?' 'स्वर्ग, नरक आदि वास्तविक हैं या काल्पनिक ?' आदि प्रश्न है क्योंकि इन प्रश्नोंके समान ही यह प्रश्न भी आगमको संदिग्ध कोटिमे रख देनेके बाद ही उठ सकता है। इसलिये इस प्रश्नके बारेमे विचार करना मानों वेदवैषम्यको मानने वाला आगम प्रमाण है या अप्रमाण ? इस प्रश्नके बारेमे ही विचार करना है। यद्यपि इस प्रश्नपर विचार करनेको हम बुरा नहीं समझते हैं परन्तु इस लेखके लिखते समय हमारे भतीजे श्री पं० बालचन्द्रजी शास्त्री सह-सम्पादक धवलाके द्वारा हमें जो सिद्धान्त-समीक्षा भाग १-२ प्राप्त हुए है उनमेंसे पहले भागके ऊपर दृष्टि डालनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे है कि वेदवैषम्य सम्भव है या नहीं ? इस प्रश्नके विचारके झमेलेमे पडकर 'द्रव्यस्त्रीको मुक्ति हो सकती है या नही ?' यह प्रश्न सर्वसाधारणके लिये और भी जटिल बन गया है।

हम पहले कह आये है कि द्रव्यस्त्रीके छठा आदि गुणस्थान हो सकते हैं या नही ? इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये संयमके लिये वस्त्रत्याग आवश्यक है या नही ? इस प्रश्नका समाधान हो जाना ही साधारण जनताके लिये सीधा और सरल उपाय है। यद्यपि विद्वानोने इस प्रश्नपर भी बहुत कुछ विचार किया है और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारसका 'भगवान महावीरका अचेलक धर्म' शीर्षक ट्रैक्ट इस विषयका काफ़ी महत्त्वपूर्ण ट्रैक्ट माना जाता है। परन्तु अभी तक इस विषयका उभय-पक्षसम्मत कोई निर्णय सामने नहीं है। इस विषयमें हमारे विचार निम्न प्रकार है—

शरीरके सद्भावकी तरह वस्त्रके सद्भावमें भी संयम रह तो सकता है परन्तु वस्त्रग्रहण उसका विरोधी अवश्य है, कारण कि ग्रहणका अर्थ स्वीकृति है और जहाँ वस्त्रकी स्वीकृति मौजूद है वहाँ वस्त्रसम्बन्धी

असंयम मानना ही चाहिये। इस वस्त्रसम्बन्धी असंयमके लिये शेष संयमकी पूर्णता रहते हुए श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यताको ध्यानमें रखते हुए हम छठे गुणस्थानका जघन्य रूप कह सकते हैं और दिगम्बर मान्यताको ध्यानमे रखते हुए पंचम गुणस्थानका उत्कृष्ट रूप कह सकते हैं। इन दोनों मान्यताओंमें वास्तविक अन्तर कुछ भी नही रह जाता है। केवल पाँचवें गुणस्थानकी अन्तभूत और छठे गुणस्थानकी आदिभूत मर्यादा बाँधनेका बाह्य अन्तर दोनों सम्प्रदायोंके बीच रह जाता है।

वस्त्रको संयमका विरोधी न मानकर वस्त्रग्रहणको ही संयमका विरोधी माननेका हमारा मतलब यह है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भी चेलोपसृष्ट मुनिके संयमका अभाव नहीं स्वीकार किया गया है। तथा मिथ्यात्व-व्रतरहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनके साथ-साथ देशव्रतकी अवस्थाओंमें संयमकी ओर अभिमुख होनेवाले व्यक्तिके जहाँ प्रथम ही सातवें गुणस्थानकी प्राप्ति बतलाई गयी है वहाँ वस्त्रत्यागकी अनिवार्यता नहीं मानी गयी है। इसका मतलब यह है कि सातवें गुणस्थानकी प्राप्ति सवस्त्र हालतमें दिगम्बर मान्यताके अनुसार भी असंभव नहीं है, तो फिर सवस्त्र हालतमें छठे गुणस्थानकी प्राप्तिका निषेध दिगम्बर सम्प्रदाय क्यों करता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि चौदह गुणस्थानोंमेंसे दूसरे, तीसरे और सातवेंसे लेकर बारहवें तक तथा चौदहवे इन गुणस्थानोंका जितना वर्णन किया गया है वह भावाधारपर किया गया है और पहला, चौथा, छठा तथा तेरहवाँ इन गुणस्थानोंका कथन व्यवहाराश्रित है, क्योंकि इन गुणस्थानोंका कथन व्यक्तिके अन्तरंग भावोंका कार्यस्वरूप बाह्य प्रवृत्तिके आधारपर किया गया है, इसलिये दिगम्बर सम्प्रदायकी यह मान्यता युक्तियुक्त है। वस्त्रकी स्वीकृति रहते हुए भावापेक्षासे भी सकलसंयम नही रह सकता है। परन्तु जहाँ वस्त्रकी स्वीकृति रहते हुए भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय सकलसंयमकी प्राप्तिको स्वीकार करता है वहाँ दिगम्बर सम्प्रदायकी भी यह मान्यता है कि वस्त्रके सद्भावमें भावापेक्षया भी सकलसंयम नही रह सकता है। तात्पर्य यह है कि सवस्त्र हालतमें व्यवहाराश्रित षष्ठ गुणस्थानकी सम्भावनाको तो किसी तरह टाला जा सकता है परन्तु सप्तम आदि गुणस्थानोंकी सम्भावना अनिवार्य रूपसे जैसीकी तैसी बनी रहती है और इसका अर्थ यह है कि द्रव्यस्त्रीके लिये भी उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी आदि चढनेका कोई विरोध नही होना चाहिये, परन्तु 'कर्मभूमिज स्त्रियोंके अन्तके तीन ही संहनन हो सकते हैं' यह आगम इसमें बाधक हो सकता है, इसलिये इस आगमकी प्रमाणताके लिए आज वैज्ञानिक शोधकी आवश्यकता है।

केवली-कवलाहारके बारेमें विचार करनेका अर्थ है जैन धर्ममें मानी हुई सर्वज्ञकी परिभाषाके बारेमें विचार, कारण कि ये दोनो (कवलाहार और जैन धर्मोक्त सर्वज्ञता) परस्पर-विरोधी ही माने जा सकते हैं, इसलिये जो विद्वान् तत्त्वनिर्णयकी दृष्टिसे इस विषयमें प्रविष्ट हो उन्हें इस मूल बातको पहले ध्यानमें रख लेना चाहिये। हमने इस विषयमें अभी तक जितना विचार किया है उसमें यह निर्णय नही कर पाये हैं कि केवलीके कवलाहार माना जाय या जैन धर्मोक्त सर्वज्ञता।

अन्तमे हमारा निवेदन यह है कि इन विषयों पर या इसी तरहके और भी विषयों पर जितना भी विचार किया जाय वह सब तत्त्वनिर्णायक द्रव्यानुयोगकी दृष्टि है। इससे सर्व साधारणको लाभ और अलाभका सीधा सम्बन्ध नही है। सर्व साधारणके लाभ और अलाभका सम्बन्ध तो आध्यात्मिक करणानुयोगकी दृष्टिसे ही है। इसलिये न तो स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-संयम और केवलि-कवलाहारके सिद्ध हो जानेपर समाजका उद्धार हो जायगा और न इसके निषिद्ध कर दिये जाने पर ही समाज उद्धार पा जायगा। अतएव विद्वानोंका एक ओर तो यह कर्त्तव्य है कि ऐसे विशुद्ध तार्किक मामलोंमें समाजको घसीटनेका प्रयत्न न करते हुए उसके उद्धारका मार्ग खोजनेका प्रयत्न करें और दूसरी ओर स्वपक्षहट और विचारोंकी खींचातानी न करते हुए तत्त्व-निर्णायक (वैज्ञानिक) दृष्टिसे गूढ़ तत्त्वोंकी शोध भी करें। ●

सांस्कृतिक सुरक्षाकी उपादेयता[1]

देव-आगम-गुरु वन्दना पुरःसर

भो विद्वद्‌वृन्द ! और समादरणीय उपस्थित जन-समूह !

आज मुझे इस बातका अत्यन्त संकोच हो रहा है कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाका मुझे अध्यक्ष बना दिया गया है। मेरे इस संकोचका कारण यह है कि एक तो शास्त्र-मर्मज्ञ, कार्यकुशल और समाजमें ख्याति प्राप्त बड़े-बड़े विद्वान विद्वत्परिषद्में सम्मिलित हैं, दूसरे इसके सामने आज जो समस्यायें हल करनेके लिये उपस्थित हैं उन्हें देखते हुए जब मैं गहराईके साथ सोचता हूँ तो ऐसा लगता है कि इन समस्याओंको हल करनेकी अल्पतम क्षमता भी मेरे अन्दर नहीं है। लेकिन आपकी आज्ञाको शिरोधार्य कर मैं उन समस्याओंको आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। उन पर हमें व आपको गम्भीरताके साथ मंथन करना है।

प्रथम समस्या : सांस्कृतिकताकी रक्षा करें

विश्वके प्रांगणमें आप देखनेका प्रयत्न करेंगे तो वहाँ प्रत्येक स्थल पर आपको किसी-न-किसी संस्कृतिके दर्शन अवश्य होंगे। हमारा भारतवर्ष तो अत्यन्त प्राचीनतम कालसे ही विविध संस्कृतियोंकी जन्म-भूमि रहा है और आज भी यहाँपर अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं।

आप जब उनपर दृष्टिपात करेंगे तो आपको उनके दो पहलू देखनेको मिलेंगे। एक पहलू तो उस संस्कृतिके विशिष्ट तत्त्वज्ञानका होगा और दूसरा पहलू मानवप्राणियोंके जीवन-निर्माणके लिये उनके द्वारा निश्चित की गई आचारपद्धतिका होगा।

सम्पूर्ण मानव-समष्टिमें सांस्कृतिक आधारको लेकर जितने समाज पाये जाते हैं उन सब समाजोंमेंसे जिस समाजका ढाँचा जिस संस्कृतिके आधारपर निर्मित हुआ है उस समाजके प्रत्येक व्यक्तिका स्वाभाविकरूप से यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके प्रति दृढ़तम आस्था रखे तथा उसमें उपदिष्ट आचारपद्धतिके आधारपर यथाशक्ति अपनी जीवन-प्रवृत्तियोंके निर्माण करनेका प्रयत्न करे। यह तभी हो सकता है जब व्यक्तिको उस संस्कृतिके तत्त्वज्ञानका और आचार-पद्धतिका उपयोगी ज्ञान हो।

सर्वसाधारणके लिये तत्त्वज्ञानका और आचार-पद्धतिका उपदेष्टा उस संस्कृतिके रहस्योंका ज्ञाता और व्याख्याता विद्वान ही होता है। अतः कोई भी व्यक्ति अपनी संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके प्रति अन्तःकरणमें समापन्न आस्थासे चलायमान न हो जावे तथा उसमें उपदिष्ट आचार-पद्धतिकी उपेक्षा करके अपने जीवनको उच्छृंखल न बना ले, इसका उत्तरदायित्व उस-उस संस्कृतिके मर्मको जाननेवाले विद्वानोंपर ही स्वाभाविकरूपसे आकर पड़ता है, यह बात हम सभी विद्वानोंको अच्छी तरह समझ लेना है।

जैनसंस्कृतिका मूलभूत उद्देश्य जड़ पदार्थोंके साथ बद्ध रहनेके कारण परतंत्र हुये संसारी आत्माको उन जड़ पदार्थोंसे मुक्त यानी स्वतंत्र बनानेका है, लेकिन किसी भी संसारी प्राणीको जबतक आत्मस्वातंत्र्य प्राप्तिके साधन प्राप्त न हो जावें, तथा साधनोंके प्राप्त हो जानेपर भी वह प्राणी जबतक अपनी जीवनप्रवृत्तियों-को आत्म-स्वातंत्र्य प्राप्तिकी दिशामें मोड़ न दे दे, तबतक उसे अपना लक्ष्य जीवनको सही ढंगसे सुख-पूर्वक व्यतीत करनेका बनाना चाहिये।

---

१. सन् १९६५ में सिवनी (म० प्र०) में आयोजित भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्‌के दशम अधिवेशनके अध्यक्ष पदसे दिया गया अभिभाषण।

जीवनको सुखपूर्वक व्यतीत करनेका सही ढंग क्या हो सकता है ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको जब तक अन्य मनुष्यका आवश्यक सहयोग प्राप्त नही होगा तबतक उसे अपने जीवनका संचालन करना दुःसाध्य ही रहेगा। यह बात प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह समझता है कि उसके जीवनकी जितनी आवश्यकतायें है या हो सकती हैं, उनकी पूर्तिमें उसे अन्य मनुष्योंका सहयोग अनिवार्यरूपसे अपेक्षित होता है। ग्राहकको अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए दुकानदार चाहिये और दुकानदारको अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ग्राहक चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी व्यवस्था हमे मानवजीवनकी पर-सहयोग-निर्भरताकी सूचना दे रही है। जैन-संस्कृतिमे तो प्रत्येक प्राणीके जीवन-यापनके लिये पंचेन्द्रिय मनुष्यसे लेकर एकेन्द्रिय प्राणि तकके सहयोगकी भूमिका प्रतिपादित की गई है। आचार्य उमास्वातिका "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" सूत्रवाक्य हमारे समक्ष इसी रहस्यका उद्घाटन कर रहा है।

एक मानवके जीवनमें दूसरे मानवके सहयोगकी अपेक्षा होना ऐसा कारण है, जिसके आधारपर लोकमें मानव-जीवनको सुखी और सुन्दरतम बनानेके लिये कौटुम्बीय, नागरीय और राष्ट्रीय संगठनोंको स्थान प्राप्त हो गया है और आज तो उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्रत्येक समझदार व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्रोके एक संगठनको भी महत्त्व देने लगा है। संयुक्त राष्ट्र महासंघका निर्माण इसीका परिणाम है। आज प्रत्येक समझदार व्यक्ति यह भी सोचता है कि उपर्युक्त सभी संगठन बदस्तूर बने रहें, इसलिये उसे हमेशा इस बातकी चिन्ता बनी रहती है कि किसी भी संगठनमे किसी भी प्रकार कहीसे दरार न पड जावे।

किसी भी संगठनमे दरार व्यक्तियोंके, कुटुम्बोंके, नगरोके और राष्ट्रोंके पारस्परिक संघर्षोसे पडती है और ये संघर्ष तब पैदा होते हैं जब एकके स्वार्थ दूसरेसे टकरा जाते है। स्वार्थोंकी इस टकराहटमे एक व्यक्ति, एक कुटुम्ब, एक नगर और एक राष्ट्र; दूसरे व्यक्ति, दूसरे कुटुम्ब, दूसरे नगर और दूसरे राष्ट्रपर आई हुई विपत्तिके मेटनेमे समर्थ होते हुए भी उदासीनतापूर्वक उसकी तरफसे मुख मोड लेता है। इतना ही नही, बल्कि इससे भी आगे स्वार्थोंकी इस टकराहटमे व्यक्ति व्यक्तिके साथ, कुटुम्ब कुटुम्बके साथ, नगर नगरके साथ और राष्ट्र राष्ट्रके साथ सहिष्णुतारहित, अपमानपूर्ण और अविश्वसनीय व्यवहारतक करनेपर उतारू हो जाता है। इस तरह एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिके साथ, एक कुटुम्बका दूसरे कुटुम्बके साथ, एक नगरका दूसरे नगरके साथ और एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रके साथ संघर्ष होने लगता है।

इस संघर्षको समाप्त करने तथा उक्त संगठनोंको सुदृढ बनानेके लिये जैन संस्कृतिमें यह उपदेश मिलता है कि जो व्यक्ति या जो कुटुम्ब, अथवा जो नगर या जो राष्ट्र, सुखी रहकर जिन्दा रहना चाहता है उसे "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्" अर्थात् "जो प्रवृत्ति अपने लिये प्रतिकूल हो उसका आचरण दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिये" इस सिद्धान्तके अनुसार दूसरे व्यक्तियों, दूसरे कुटुम्बों, दूसरे नगरो और दूसरे राष्ट्रोंके साथ असहिष्णुता समाप्त कर सहिष्णुताका बर्ताव करना चाहिये, यानी कि क्षमाधर्म अपनाना चाहिये। उनके जीवनको अपने जीवनसे हीन न समझकर उनके जीवन-अधिकारोंकी अपने साथ समानता स्वीकार करना चाहिये यानी मार्दवधर्म अपनाना चाहिये। उनके साथ स्वप्नमें भी अविश्वसनीय वर्ताव एवं धोखा-धडी करनेकी कल्पना न करते हुए सतत प्रामाणिक व्यवहार ही करना चाहिये यानी आर्जवधर्म अपनाना चाहिये और उनके ऊपर आयी हुई विपत्तियोंकी उपेक्षा न करते हुए उन्हें आवश्यकतानुसार यथा-शक्ति नि:स्वार्थ सहायता भी देना चाहिये यानी सत्यधर्मको भी स्वीकार करना चाहिये। ये चारों ही धर्म जैन संस्कृति में अहिंसाकी प्रकृतिके रूपमें स्वीकार किये गये हैं।

आप तत्त्वदृष्टिसे विचार करें तो मालूम होगा कि आज प्रत्येक व्यक्तिने, प्रत्येक कुटुम्बने, प्रत्येक नगरने और प्रत्येक राष्ट्रने उक्त प्रकारके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्यरूप अहिंसा धर्मको अपनी नासमझीके कारण अपने जीवनसे उपेक्षित कर रखा है, सर्वत्र इनके विरुद्ध असहिष्णुता, असमानता, अप्रामाणिकता और असहयोगरूप विविध प्रकारकी दूषित प्रवृत्तियोके रूपमे हिंसाका ही प्रसार किया है। स्वयं जैन समाज हो अपनी संस्कृतिके आधारभूत उक्त उपदेशोको भूल चुका है। इतना ही नही जैन संस्कृतिके रहस्यके ज्ञाता और प्रवक्ता हम जैसे विद्वानोंकी जीवन-प्रवृत्तियोंमे भी उक्त प्रकारकी हिंसाका रूप ही देखनेमे आ रहा है तथा अहिंसाधर्मके उल्लिखित रूपोंका दर्शन दुर्लभ हो रहा है। कहना चाहिये कि जैन संस्कृतिका प्रकाश तो अब लुप्त ही हो चुका है, केवल नाममात्र ही जैन सस्कृतिका शेष रह गया है।

सर्वत्र जैन और जैनेतर सभी वर्गोके लोगोंकी जीवन-प्रवृत्तिया जो इतनी कलुषित हो रही हैं उसका कारण यह है कि प्राय सभी लोग भोग और संग्रह इन दो पापोके वशीभूत हो रहे हैं। यदि आप गहराईके साथ सोचनेका प्रयत्न करेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि इनकी पूर्तिके लिये ही लोग हिंसामे प्रवृत्त होते हैं, चोरी करते हैं तथा विविध प्रकारके असत्याचरण भी करते हैं। यह आश्चर्यजनक बात है कि भोग और संग्रहकी वशीभूतताके कारण लोगोंका विवेक भी समाप्त हो गया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि पाप होते हुए भी उन्होने पुण्यका ठाठ मान लिया है, भले ही उस भोग और संग्रहके लिये उन्हें हिंसाका मार्ग अपनाना पडा हो, चोरी करनी पडी हो या असत्याचरण करना पडा हो। जैन संस्कृतिमें भोग और संग्रहको ही मुख्य पाप बतलाया गया है "लोभ पापका बाप बखाना" का पाठ जैनके बच्चेको भी भली भाँति याद है।

यद्यपि यहांपर प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि भोजन, वस्त्र और आवास आदिका उपयोग मानव-जीवनके लिये अत्यन्त उपयोगी है तथा इन भोजनादिकी प्राप्तिके लिये धनादि वस्तुओंका संग्रह भी मानव-जीवनके लिये उपयोगी है। अत भोग तथा संग्रहको पाप मानना कैसे उचित कहा जा सकता है ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि जहाँतक और जिस प्रकारसे भोजनादि हमारे जीवनके लिये उपयोगी सिद्ध होते है वहातक उनको उपभोग करनेका हमे अधिकार है और वहाँतक उनका उपभोग हमारे लिये पाप भी नही है। इसी प्रकार जीवनोपयोगी भोजनादि सामग्रीकी प्राप्तिके लिये यदि हम धनादिका संग्रह करते है तो वहाँ तक हमें धनादिकके संग्रह करनेका अधिकार है और वहाँतक यह भी पाप नही है, परन्तु हम भोजनादिकका उपभोग तथा धनादिकका सग्रह जीवनके लिये उपयोगी समझकर करते कहाँ हैं ? हम तो अपने इस अधिकारके बाहर भोजनादिके उपभोग और धनादिके संग्रहकी बात सोचने लगे हैं। जैसे यदि भोजनका उपभोग हम अपनी भूख मिटानेके लिये करते हैं और वस्त्रका उपभोग शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिये करते है तो ऐसा करना हमारा अधिकार है और यह पाप नही है, लेकिन यदि हमारा मन भोजनके स्वादमे रम जाय या वस्त्रकी किनार, डिजायन, रंग अथवा पोतपर हमारा मन ललचा जाय तो हमारा भोजन या वस्त्रका वह उपभोग पापमे गर्भित हो जायगा। इसी प्रकार धनके संग्रहमें जीवनकी आवश्यकताओकी पूर्ति तक ही यदि हमारा लक्ष्य सीमित रहता है तो ऐसा धन सग्रह करना हमारा अधिकार है, पाप नही है। लेकिन यदि अमीर बननेके लिये हम धन संग्रह करनेका प्रयत्न करने लगते हैं तो हमारा वह धन संग्रह पापमे गर्भित हो जायेगा।

जैन संस्कृतिके इस सूक्ष्मतम तत्त्वज्ञानको समझकर हम विद्वानोंको अपने जीवनमे उतारना तथा पथभ्रष्ट जैन समाजको सही मार्गपर लाकर पतनोन्मुख जैनसंस्कृतिका संरक्षण करना है और मानवमात्रको इस तत्त्वज्ञानकी शिक्षा देकर संपूर्ण विश्वमे जैनसंस्कृतिका प्रसार भी करना है। इसलिये इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कोई योजनाबद्ध प्रचारात्मक ढंग हमें निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैनसंस्कृतिके संरक्षण और विस्तारके लिये

और विश्वमें शान्ति तथा सुखका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये हमारा यह सबसे बडा कार्यक्रम होगा।

द्वितीय समस्या तत्त्वचर्चा द्वारा गुत्थियां सुलझायें

दि० जैनसमाजमे जैनसंस्कृतिके अध्येता, अध्यापयिता और व्याख्याता विद्वान विद्यमान हैं। परन्तु प्राय: देखनेमें आ रहा है कि संस्कृतिके तत्त्वज्ञान और आचार संबन्धी बडी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी ऐसी बहुतसी गुत्थियाँ हैं जो विद्वानोके पारस्परिक विवादका स्थल बनी हुई है। इनके अतिरिक्त सैकडों ही नही, हजारों सांस्कृतिक गुत्थिया आगमग्रन्थोंमे ऐसी विद्यमान है जिनके ऊपर अभी विद्वानोका लक्ष्य ही नही पहुँच पाया है। लेकिन उनका सुलझ जाना सास्कृतिक दृष्टिसे और मानवकल्याणकी दृष्टिसे बडा उपयोगी हो सकता है।

यदि विद्वानोंको समझमे यह बात आ जाय कि सांस्कृतिक गुत्थियोंको सुलझाना हमारा परम कर्त्तव्य है और यह भी समझमें आ जाय कि सब विद्वान एक स्थानपर एक साथ बैठकर सद्भावनापूर्ण विचार-विमर्श द्वारा ही सरलतापूर्वक इस कार्यको सम्पन्न कर सकते है तो फिर मेरा सुझाव है कि हम अपने कार्यक्रमकी एक ऐसी स्थायी योजना बनावें, जिसके आधारपर वर्षमे कम-से-कम एक बार प्राय सभी विद्वान एक स्थलपर बैठें तथा संस्कृतिके गूढतम रहस्योंकी खोज करे और विवादग्रस्त विषयोंको भी सुलझानेका प्रयत्न करे। गत वर्ष सास्कृतिक रहस्योंकी खोजके लिये जयपुर-खानियामें विद्वानो द्वारा की गयी सद्भावनापूर्ण तत्त्वचर्चाने यह सिद्ध कर दिया है कि परस्पर-विरुद्ध विचारधारा वाले विद्वान भी एक स्थानपर एक साथ बैठकर सद्भावनापूर्ण ढंगसे तात्त्विक गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न कर सकते हैं। वास्तवमे जयपुर-खनियामे जो तत्त्वचर्चा हुई उसका ढङ्ग आदर्शात्मक रहा और उससे जो सामग्री प्रकाशमे आनेवाली है वह जैन-संस्कृतिके लिये ऐतिहासिक महत्त्वकी होगी। इसलिये तत्त्वचर्चाओंकी इस परम्पराको इसी ढङ्गसे आगे चालू रखनेका हमें ध्यान रखना ही चाहिये।

उल्लिखित प्रकारकी तत्त्वचर्चाओंका महत्त्व इसलिये और है कि पुरातन सास्कृतिक विद्वान हमारे बीचमेसे धीरे-धीरे कालकवलित होते जा रहे हैं और आगे सास्कृतिक विद्वान तैयार होनेके आसार ही दृष्टिगोचर नही हो रहे हैं। ऐसी हालतमें यदि मौजूदा विद्वान अपने बीच उत्पन्न संस्कृति-सम्बन्धी विवाद नही सुलझा सके, तो जैन समाजकी भावी पीढ़ीके समक्ष हम अपराधी सिद्ध होंगे तथा जैन संस्कृतिके बहुतसे मानवकल्याणकारी गूढतम रहस्य हमेशाके लिये गुप्त ही बने रहेंगे।

जैन संस्कृतिका तत्त्वज्ञान तथा आचार-पद्धति सर्वज्ञताके आधारपर स्थापित होनेके कारण विज्ञान-समर्थित है। षद्द्रव्यो और सप्ततत्त्वोंकी अपने-अपने ढङ्गमे व्यवस्था, आत्मामे संसार और मुक्तिकी व्यवस्था, संसारके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग तथा मुक्तिके कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, उन्नति और अवनतिकी सूचक गुणस्थानव्यवस्था, कर्मसिद्धान्त, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, प्रमाण और नयकी व्यवस्था, निश्चय और व्यवहार नयोंका विश्लेषण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय, नैगम आदि नयोंकी स्थापनाका आधार तथा इनमें अर्थनय और शब्द नयोकी कल्पना आदि-आदि जैन संस्कृतिका तत्त्वज्ञानसे सम्बन्ध-विवेचन वैज्ञानिक और दूसरी सस्कृतियोकी तुलनामे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार जैन संस्कृतिकी आचार-पद्धतिकी व्यवस्थाएं भी समझदार लोगोंके गले उतरने वाली है। हाथसे कूटे गये और मिलोसे साफ किये गये चावलमे, हाथ-चक्कीसे और मशीन-चक्कीसे पीसे गये आटेमे पोषक तत्त्वोंकी हीनाधिकताके कारण उपादेयता और अनुपादेयताका प्रचार महात्मा गाधीने भी किया था। इसी प्रकार रात्रिभोजन-त्याग तथा पानी छानकर पीनेकी व्यवस्था, आटे आदिका कालिक मर्यादाके भीतर ही उपयोग करनेका उपदेश आदि जितना भी आचार-पद्धतिसे सम्बन्ध रखने वाला जैन संस्कृतिका विषय है वह भी

मानवजीवनके लिये कितना हितकर है, इसे आज प्रत्येक व्यक्ति सरलतासे समझ सकता है। हमे इन सब-बातोंको प्रकाशमें और प्रचारमें लाना है, इसलिये इसे भी हमें अपने कार्यक्रमका अंग बनाना चाहिये।

उल्लिखित सम्पूर्ण कार्योको सम्पन्न करनेके लिये एक उपाय यह भी हो सकता है कि विद्वत्परिषद्का अपना एक सास्कृतिक पत्र हो, जिसके माध्यमसे विद्वान जैनसंस्कृतिके गूढतम रहस्योको प्रकाशमें लायें, परस्परके तात्त्विक विवादोको सुलझाएँ और आचार-पद्धतिकी वैज्ञानिक ढङ्गसे जनताके लिये उपयोगिता समझाएँ। अभी जैन समाजमें जितने पत्र निकलते है उनकी पद्धति प्राय स्वार्थपूर्ण और संघर्षात्मक है। मैं नहीं समझता हूँ कि उनके द्वारा जनताका या संकृतिका कुछ भला हो रहा है, वे तो केवल व्यक्तिगत कषाय-पुष्टिके ही साधन हो रहे हैं, इसलिये हमे यह भी ध्यान रखना होगा कि विद्वत्परिषद्का पत्र मौजूदा पत्रोमे दिखाई देनेवाली बुराइयोंसे परे हो।

तृतीय समस्या : विद्वानोका सगठन और उनकी कठिनाइयाँ

कलकत्तेमे वीरशासन महोत्सवके अवसरपर जब विद्वत्परिषद्की स्थापना हुई थी उस समय वहाँ नरम और गरम, सुधारक और स्थितिपालक आदि परस्परविरोधी विचारधाराओं वाले बहुतसे सास्कृतिक विद्वान उपस्थित थे। उक्त अवसरपर अकस्मात् एक ऐसी घटना घट गयी थी, जिससे प्रभावित होकर उपस्थित सभी सास्कृतिक विद्वानोंने अपना संगठन बनानेका दृढ संकल्प किया था और उसी संकल्पके बलपर उन्होंने अपनी पारस्परिक विचार-भिन्नताको गौण करके तत्काल इस विद्वत्परिषद्की स्थापना कर डाली थी। यह विद्वत्परिषद् आज भी उसी आधारपर चल रही है यानी इसमे आज भी पारस्परिक विचारभेद रखने वाले विद्वान सम्मिलित हैं, उन्हें इससे ममता है और इसके कार्योंमें बराबर हाथ बटा रहे हैं।

इतना होते हुए भी जब तक हम सब मिलकर सामूहिक ढङ्गसे सर्व-साधारण विद्वानोंकी कठिनाइयों-पर गौर नही करेंगे तब तक हमारा यह संगठन सुदृढ नही रह सकता है। विद्वत्परिषद्की स्थापनाके अवसर-पर मुख्यरूपसे इस बातपर बल दिया गया था कि विद्वानोंकी कठिनाइयोको समझा जाय और उनके निराकरण करनेके सुन्दरतम उपाय भी खोज निकाले जावें।

यद्यपि विद्वत्परिषद्ने इस ओर ध्यान अवश्य दिया है परन्तु अभी तक इसमें वह पूर्णरूपसे सफल नहीं हो पायी है। विद्वानोके सामने विद्वत्परिषद्की स्थापनाके समय जिस रूपमे कठिनाइयाँ विद्यमान थी, इस समय उनका रूप कई गुणा अधिक हो गया है, इसलिये हमे विद्वानोंकी कठिनाइयोंके निराकरण करनेकी और पुनः ध्यान देना है, अत. इसके लिये कैसी योजना उचित हो सकती है, इसपर विचार करें।

चतुर्थ समस्या : विद्वत्परिषद् और शास्त्रीपरिषद्का एकीकरण

दिगम्बर जैन समाजमे सास्कृतिक विद्वान तो हैं, परन्तु उनकी संख्या विशेष अधिक नही कही जा सकती है फिर भी विद्वानोके नामपर विद्वत्परिषद् और शास्त्रिपरिषद् दो संस्थाये वर्तमानमे कार्य कर रही है। मेरा अपना ख्याल है कि यदि दोनो संस्थाओका एकीकरण हो जाय तो मिली हुई कार्यशक्तिसे कार्य भी अधिक और उत्तम हो सकता है। एक बात और है कि अलगावसे पारस्परिक संघर्षको भी प्रोत्साहन मिलता है। यदि मेरा इन दोनोंके एकीकरणका सुझाव आपको मान्य हो, तो एकीकरणकी क्या भूमिका हो सकती है ? इसपर भी आपको विचार करना चाहिये।

पंचम समस्या . सांस्कृतिक ज्ञानकी सुरक्षा

अभी भी दिगम्बर जैन समाजके अन्दर संस्कृतिका अध्ययन कराने और सास्कृतिक विद्वान तैयार

करनेके लिये बड़े-बड़े विद्यालय मौजूद हैं, समाजका आर्थिक सहयोग भी उन्हें मिल रहा है, बहुतसे विश्व-विद्यालयोंकी परीक्षाओंमें जैन संस्कृतिका कोर्स रख दिया गया है और पठन-पाठनके लिये अध्यापकोंकी नियुक्तियाँ भी कर दी गयी हैं। परन्तु शिक्षण लेने वालोंकी अत्यधिक कमी दृष्टिगोचर हो रही है। इसका मूल कारण यह है कि सभी प्रकारकी शिक्षाका उद्देश्य आज नौकरी करना हो गया है और नौकरीमें भी अधिक-से-अधिक अर्थलाभकी दृष्टि बन चुकी है, जिसकी पूर्तिकी आशा सांस्कृतिक शिक्षासे कभी नहीं की जा सकती है। इस तरह सांस्कृतिक शिक्षण लेनेवालोंकी कमी हो जानेके कारण भविष्यमें सांस्कृतिक ज्ञानके लुप्त हो जानेकी आशंका होने लगी है।

यद्यपि यह प्रसन्नताकी बात है कि हमारे विद्यालयोंने भविष्यमें सांस्कृतिक ज्ञानकी सुरक्षाकी दृष्टिसे अपनी शिक्षणपद्धतिमें कुछ सुधार किये हैं तथा उनका लाभ इन विद्यालयोंमें पढ़ने वालोंको मिला भी है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि ऐसे विद्वान सामाजिक क्षेत्रसे बाहर अच्छे क्षेत्रोंमे कार्य कर रहे हैं। परन्तु साथमें इसका यह भी परिणाम हुआ है कि ऐसे बहुतसे विद्वानोंका सामाजिक और सांस्कृतिक कार्योंसे प्राय: सम्पर्क समाप्त हो चुका है। विद्वत्परिषद्का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे विद्वानोंसे सम्पर्क स्थापित करे और उनके अन्दर सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्योंके प्रति रुचि जागृत करे। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक ज्ञानकी भावी सुरक्षाकी दृष्टिसे कुछ ठोस उपाय भी आपको सोचना है।

इस विषयमें मेरा सुझाव है कि त्यागमार्गकी ओर बढ़ने वाले व्यक्तियोंमेंसे बुद्धिमान् व्यक्तियोंको चुनकर उनमें सांस्कृतिक तत्त्वज्ञानके अध्ययनकी रुचि जागृत की जावे तथा उनको विद्यालयोंमें छात्रके रूपमें रहनेकी उचित सुविधा दिलायी जावे। यदि इस परम्पराके चलानेमें विद्वत्परिषद् सफल हो जाती है तो सांस्कृतिक ज्ञानकी भावी सुरक्षाका प्रश्न सुदूर भविष्य तकके लिये हल हो सकता है।

एक जिस बातके ऊपर विद्वत्परिषद्का ध्यान जाना जरूरी है वह यह है कि सांस्कृतिक अध्ययन-अध्यापनकी जो पद्धति अभी चल रही है उससे छात्रोंको ग्रंथोंका अभ्यास तो हो जाता है परन्तु विषयके समझनेमें वे अन्त तक कमजोर रहा करते हैं। पढ़नेमें भी उन्हें अधिक श्रम करना पड़ता है अत: सांस्कृतिक पठन-पाठनके विषयमें वैज्ञानिक पद्धति निकालनेकी योजना बनानेकी ओर भी हमारा लक्ष्य जाना चाहिये। इससे पढ़ने वाले छात्रोंको विषय सरलताके साथ समझमें आने लगेगा। साथ ही उनके श्रममें भी कमी आ जायगी। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि अभी जो सांस्कृतिक अध्ययन करने वाले छात्र अरुचि-पूर्वक सांस्कृतिक अध्ययन करते हैं यह बात न रहकर वे रुचिपूर्वक अध्ययन करने लगेंगे।

एक बात यह भी प्रसन्नता की है कि हमारे सांस्कृतिक विद्वान जैन संस्कृतिके साहित्यके विषयमें ऐति-हासिक दृष्टिसे बहुत कुछ सोचने और लिखने लगे हैं। इसका प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ है कि जैनेतर विद्वानोंकी रुचि जैन संस्कृतिके साहित्यका अध्ययन करनेकी ओर उत्पन्न हुई है, जैन संस्कृतिके प्रसारकी दृष्टिसे यह उत्तम बात है। इसके साथ ही हमें अपने प्राचीनतम साहित्यके आधारपर लोकभाषा हिन्दी आदि भाषाओंमें भी सांस्कृतिक मौलिक साहित्यका निर्माण करना चाहिये। हमारे पुरातन महर्षियोंने जैन संस्कृतिके साहित्य-निर्माणमें जिस प्रकार तत्कालीन लोकभाषाओंका समादर किया था, ठीक उसी प्रकार आज हमें भी करना चाहिये। यद्यपि हमारे बहुतसे विद्वानोंने पुरातन साहित्यका हिन्दी आदि भाषाओंमें अनुवाद किया है और कर रहे हैं परन्तु इतनेसे ही हमें संतोष नहीं कर लेना चाहिये।

मैंने जिन बातोंका ऊपर संकेत किया है वे सब बातें विद्वत्परिषद्के उद्देश्यसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं और इसके कर्त्तव्यक्षेत्रमें आती हैं। इनके अतिरिक्त आपके मस्तिष्कमें भी बहुत-सी बातें होंगी उन्हें आप भी

यहाँपर रखेंगे। मैं चाहता हूँ कि इन सब बातोंपर यहाँ गम्भीर मंथन किया जाय और उनके विषयमें यथाशक्ति कार्यक्रम निर्धारित किया जाय। कार्यक्रम भले ही छोटा हो परन्तु ठोस होना चाहिये।

उपसंहार

विद्वत्परिषद्का यह अधिवेशन सिवनी जैसी सांस्कृतिक नगरीमें हो रहा है। यह नगरी जैन समाजकी दृष्टिसे काफी महत्त्वपूर्ण रही है और आज भी इसका वही महत्त्व है। यहाँ जैन संस्कृतिके अच्छे ज्ञाता और अनुभवी व्यक्ति रहे हैं और आज भी हैं। यहाँके बडे-बडे गगनचुम्बी जैन मंदिर मध्यप्रदेशके ख्यातिप्राप्त मन्दिरोंमें हैं। इस समय मंगलमय पंचकल्याणकजिनबिम्ब प्रतिष्ठा भी यहाँपर हो रही है। सभी तरहकी सुन्दर और आरामदेह व्यवस्था यहाँकी समाजने बाहरसे आये हुए जनसमूहके लिये की है और स्वागत समितिने हमारा स्वागत और आतिथ्य करनेमें कोई कमी नही रहने दी है।

इसके पूर्व विद्वत्परिषद्के जितने अधिवेशन हुए है उन सबमें प्रातःस्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजको प्रत्यक्ष या परोक्ष छत्र-छाया हमें प्राप्त होती रही है। परन्तु दु:ख है कि यह दशम अधिवेशन उनकी छत्रछायाके बिना सम्पन्न हो रहा है। पूज्य वर्णीजीके हृदयमें प्रत्येक विद्वान्के अभ्युत्थानकी उदात्त भावना थी। उन्होंने जैन समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिमे जो कार्य किया है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके द्वारा प्रचारित जिनवाणीके अध्ययन-अध्यापनको हमे निरन्तर जारी रखना है। अच्छा हो कि उनकी स्मृतिमें जगह-जगह 'वर्णी स्वाध्याय-शालाएँ' स्थापित की जावें और उनके माध्यमसे हमारे विद्वान् समाजमें सम्यग्ज्ञानका प्रचार करें।

अपना भाषण समाप्त करते हुए विद्वत्परिषदके माननीय सदस्यो, सिवनीकी जैन समाज और सभी उपस्थित जनसमुदायसे प्रार्थना है कि अज्ञान और कार्यशक्तिकी अल्पताके कारण जो त्रुटियो रही हों, आप सब उनपर ध्यान न देंगे।

जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान[1]

तीन भुवनमें सार वीतरागविज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार नमहुँ त्रियोग सम्हारिके ॥

गत वर्ष विद्वत्परिषद्का साधारण अधिवेशन मध्यप्रदेशकी सिवनी नगरीमें त्रैलोक्याधिपति श्री १००८ जिनेन्द्रदेवके पञ्चकल्याणक महोत्सवके अवसरपर इसी फरवरी मासमें हुआ था। उसके एक वर्ष पश्चात् यहाँ-पर उसका यह नैमित्तिक अधिवेशन हो रहा है।

सिवनीमे हुए साधारण अधिवेशनके अवसरपर मैंने अपने अध्यक्षीय भाषणमें विद्वत्परिषद्के उद्देश्योंके अनुकूल कुछ अवश्य विचारणीय समस्यायें प्रस्तुत की थी। प्रसन्नता की बात है कि उनको लक्ष्यमे रखकर उस अधिवेशनमें माननीय सदस्यों द्वारा कुछ निर्णय भी लिये गये थे। उन निर्णयोके आधारपर विद्वत्परिषद्ने गत एक वर्षमें क्या प्रगति की है ? इसकी जानकारी विद्वत्परिषद्के सुयोग्य मंत्री जी आपको देंगे।

सर्वप्रथम यह निवेदन करना चाहता हूँ कि एक वर्षके अनन्तर हमे पुन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन जैन संस्कृतिकी प्राचीनतम और गौरवपूर्ण पवित्र तीर्थभूमि इस श्रावस्ती नगरीमें हो रहे पञ्चकल्याणक महो-त्सवके अवसरपर नैमित्तिकरूपसे करनेका उत्तम योग प्राप्त हुआ है। भावना है कि हमारी श्रमशक्तिका अधिक-से-अधिक उपयोग विद्वत्परिषद्की गतिशीलताको जीवित रखकर उसको सुदृढ बनाने और उसके उद्देश्यो-की पूर्ति करनेमे हो सके।

विद्वत्परिषद्का वर्तमानमें जो कार्यक्रम चालू है उसके विषयमें विद्वत्परिषद्के सिवनी अधिवेशन द्वारा निर्णीत किये गये महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव आधार हैं। उन प्रस्तावोंको आपके समक्ष दुहरा देना उचित समझता हूँ व आशा करता हूँ कि आप उन्हें सावधानीसे श्रवण करेंगे तथा उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

"विद्वत्परिषद्का यह अधिवेशन अनुभव करता है कि जैनतत्त्वज्ञान और संस्कृतिको आधुनिक ढंगसे प्रकट करनेके लिये आवश्यक है कि विद्वत्परिषद् ऐसी गोष्ठियोंका अधिवेशनपर आयोजन करें, जिनमे जैन विषयोंपर शोधपूर्ण एवं परिचयात्मक निबन्ध पढे जायें और उन निबन्धोंको एक स्मारिकाके रूपमे प्रकट किया जाय।" (प्रस्ताव ६)

"दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् यह प्रस्ताव पास करती है कि जो अंग्रेजीके विद्वान होनेके साथ ही संस्कृत एवं धर्मके ज्ञाता विद्वान् हैं उनसे सम्पर्क बनाया जाय और उनसे अनुरोध किया जाय कि वे विद्वत्परिषद्से सम्बन्धित होकर सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रमें कार्य करें, ताकि जैन संस्कृति अक्षुण्य बनी रहे।" (प्रस्ताव ७)

"विद्वत्परिषद्के द्वारा प्रयास किया जावे कि रेडियोपर प्रसारित करने योग्य प्राचीन पद तथा अन्य सामयिक भाषण आदि अच्छी और उपयुक्त सामग्री उपलब्ध की जासके तथा प्रचारमंत्रालयको इस दिशामे प्रेरित भी किया जावे।" (प्रस्ताव ९)

"समाजमें विद्वानोंकी परम्पराको अक्षुण्ण रखनेके लिये विद्वत्परिषद् प्रस्ताव करती है कि गृहविरत त्यागियोंके हृदयमे भी ज्ञानवृद्धिकी भावनाको जाग्रत करके किसी विद्यालयमें उनके शिक्षणकी व्यवस्था की जावे व विद्यालय इसके लिये त्यागियोंके उपयुक्त सब व्यवस्थाका उत्तरदायित्व लेकर ज्ञानप्राप्तिका सुअवसर प्रदान करें।" (प्रस्ताव १०)

---

१. श्रावस्तीमे १९६६ में आयोजित वि० प० के नैमि० अधिवेशनपर अध्यक्षपदसे दिया गया भाषण।

"जैन साहित्यके विविध अंगोंपर राष्ट्रभाषा हिन्दीमे रचित गद्य और पद्यकी मौलिक रचनाओंको प्रतिवर्ष पुरस्कृत करनेकी योजना कार्यान्वित करके विद्वत्परिषद्के द्वारा ऐसे साहित्यसृजनको विशिष्ट प्रेरणा और गति दी जावे।" (प्रस्ताव ११)

"विद्वत्परिषद्के प्रत्येक अधिवेशनमे समाजके योग्यतम विद्वानोको सार्वजनिक रूपसे सम्मानित किया जावे। यह सम्मान संबन्धित विद्वान्की समाजसेवा, साहित्यसेवा तथा अन्य धर्महितकारी गतिविधियोके आधारपर प्राप्त साधनोंके अनुसार परिचय-ग्रन्थ, अभिनन्दन-ग्रन्थ अथवा प्रशस्तिपत्रके द्वारा किया जावे।" (प्रस्ताव १२)

ये छहों निर्णय यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र वैशिष्ट्यको रखते हुए अलग-अलग ढंगके हैं। लेकिन इन सभीमे विद्वत्परिषद्का एक ही ध्येय गर्भित है और वह है जैन संस्कृतिका संरक्षण, विकास तथा प्रसार।

जैन संस्कृतिके सरक्षण, विकास और प्रसारकी आवश्यकतापर मैंने सिवनी अधिवेशनके अवसरपर पठित अपने भाषणमे विस्तारसे चर्चा की थी। उसमें मैंने बतलाया था कि विश्वकी सम्पूर्ण मानवसमष्टिके जीवनपर यदि दृष्टि डाली जाय तो यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि प्रत्येक मानव-हृदयमे अनधिकारपूर्ण और न करने योग्य असीमित भोग व संग्रहकी आकाक्षायें उद्दीप्त हो रही हैं तथा इनकी पूर्तिके लिये ही सम्पूर्ण विश्व अहिंसाके मार्गसे विमुख होकर परस्परके संघर्षमे रत हो रहा है। यद्यपि इस तरहकी आकाक्षायें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्वके लिये अहितकर है, तो भी इनके उन्मादमे मानवमात्रका विवेक समाप्त हो चुका है और इस तरह सम्पूर्ण मानवसमष्टिका जीवन त्रस्त है व प्रत्येक मानवहृदयमे अशान्ति तथा आकुलतायें बढती ही चली जा रही हैं। जैन संस्कृतिके पुरस्कर्ता महर्षियोने इन सब प्रकारकी बुराईयोको मानवसमष्टिसे हटानेके लिये अपने अनुभवके बलपर कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त मानवजीवनके सचालनके लिये स्थिर किये थे, जिनके प्रति हमारी उपेक्षाबुद्धि हो जानेके कारण यह समस्त पृथ्वीतल नरकका महाविकराल-रूप धारण किये हुए दृष्टिगोचर हो रहा है। लेकिन यदि अब भी उन सिद्धान्तोको समझकर हम अपने जीवन-में उन्हे ढाल लें तो यही पृथ्वीतल स्वर्गका सौन्दर्यपूर्ण अनुपम रूप भी धारण कर सकता है।

विचारकी बात है कि जब भरतक्षेत्रके इस आर्यखण्डमे भोगभूमिका वर्तमान था, तो उस समय सम्पूर्ण मानवसमष्टि सुख और शान्तिपूर्वक रहती थी। इसका कारण यह था कि उस समय प्रत्येक मानव अपना जीवन आकाक्षाओंके आधारपर संचालित न करके आवश्यकताओके आधारपर ही सचालित करता था। आवश्यकतायें भी प्रत्येक मानवके जीवनकी कम हुआ करती थी, इसलिये एक तो उसका उपभोग्य पदार्थोका उपभोग कम हुआ करता था। दूसरे, उसके हृदयमें उपभोग्य पदार्थोंके प्रति आकर्षणका अभाव होनेसे वह उनके संग्रहसे भी सदा दूर रहा करता था। इस प्रकार उस समय सभी मानव परस्पर घुलमिलकर समानरूपसे ही रहा करते थे, उनमे परस्पर कभी भी संघर्षका अवसर नही आ पाता था।

आज हालत बिलकुल विपरीत है। प्रत्येक व्यक्तिने अपनी आवश्यकतायें अप्राकृतिक ढंगसे अधिकाधिकरूपमें बढा रखी है और वह बढ़ती ही चली जा रही है। इसके अलावा सभी प्रकारकी उपयोगी वस्तुओके अमर्यादित संग्रहकी ओर भी प्रत्येक व्यक्ति झुका चला जा रहा है। इस तरह सम्पूर्ण मानव-समष्टि-का जीवन परस्परकी विषमताओंसे भरा हुआ है। ऐसी हालतमे संघर्ष होना अनिवार्य ही समझना चाहिये।

जैन संस्कृतिके तत्त्वज्ञानमे ऐसे सभी सघर्षोंको समाप्त करनेकी क्षमता पायी जाती है, कारण कि वह मानवमात्रको न्यायोचित मार्गपर चलनेकी शिक्षा देता है। इतना ही नही, वह उसे ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों

व शरीरादि नोकर्मोंके साथ अपृथक्भावको प्राप्त आत्माको इनसे पृथक् करके स्वतन्त्र बनानेके मार्गपर भी चलनेकी शिक्षा देता है। इस तरह जाना जा सकता है कि जैन संस्कृतिका सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान दो भागोंमें विभक्त है। उनमेंसे एक भाग तो प्राणियोंके जीवनको सुखी बनाने समर्थ लौकिक तत्त्वज्ञानका है जिसे जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थों में—

"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव! ॥"

के रूपमे प्रतिपादित किया गया है और दूसरा भाग आत्माको स्वतन्त्र बनानेमे समर्थ आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानका है, जिसे आगमग्रन्थोंमे 'अहमिक्को खलु सुद्धो' इत्यादि वचनों द्वारा आत्मतत्त्वकी पहिचान करके उसे प्राप्त करनेके मार्गके रूपमें प्रतिपादित किया गया है।

जैन संस्कृतिके लौकिक तत्त्वज्ञानका मूल आधार उल्लिखित पद्य द्वारा निर्दिष्ट "जियो और जीने दो" का सिद्धान्त है। अत. जैन संस्कृतिके पुरस्कर्ता तीर्थंकरो, विकासकर्ता गणधरदेवों और प्रसारकर्ता आचार्योंने उद्घोषणा की है कि भो! मानव प्राणियो! यदि तुम अपना जीवन सुख और शान्तिपूर्वक व्यतीत करना चाहते हो तो जैन संस्कृतिके "जियो और जीने दो" इस सिद्धान्तको हृदयंगम करो, क्योंकि इसमें मनके संकल्पोंको पवित्र तथा वाणीको अमृतमयी बनानेकी क्षमता विद्यमान है व इसके प्रभावसे प्राणियोंकी जीवन-प्रवृत्तियाँ भी एक-दूसरे प्राणियोंके जीवनकी अप्रतिघाती बन जाती हैं। यही कारण है कि भगवज्जिनेन्द्रके पुजारीको अपने जीवनमें "जियो और जीने दो"का सिद्धान्त अपनानेके लिये प्रतिदिन पूजाकी समाप्तिपर यह उद्घोष करनेका जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थोमे उपदेश दिया गया है कि—

"क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल:
काले काले च सम्यग् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥"

इसके अर्थको प्रकट करनेवाला सर्वसाधारणको समझमे आने योग्य हिन्दी पद्य निम्न प्रकार है—

"होवे सारी प्रजाको सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा
होवे वर्षा समय पै, तिलभर न रहै व्याधियोंका अंदेशा।
होवे चोरी न जारी, सुसमय वर्तै, हो न दुष्काल भारी
सारे ही देश धारैं जिनवरवृषको, जो सदा सौख्यकारी ॥"

इससे यह बात अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है कि प्रत्येक मानवको अपने जीवनमे सुख और शान्ति लानेके लिये सम्पूर्ण मानव-समष्टिके जीवनमें सुख और शान्ति लानेका ध्यान रखना परमावश्यक है।

जैन संस्कृतिके आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानकी विशेषता यह है कि इसे पाकर यह तुच्छ मानव देहधारी प्राणी अपनी जन्म और मरणकी प्रक्रियाको समाप्त करके हमेशाके लिये अजर-अमर बनकर नित्य और निरामय स्वातंत्र्य-सुखका उपभोक्ता हो जाता है। इस तत्त्वज्ञानके आधारपर मानव-जीवनके विकासके अनुसार आत्मविकासकी प्रक्रियाका विवेचन जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थोंमें निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—

जब कोई बिरला मनुष्य "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसारी लौकिक धर्ममार्गपर चलकर उपलब्ध किये गये जीवनसम्बन्धी (लौकिक) सुखकी पराधीनता और विनशनशीलताको समझकर उसके प्रति

अपने अन्तःकरणमें विरक्तिभाव जागृत कर लेता है तथा "नित्य और निरामय सुख आत्माके स्वतन्त्र हो जाने-पर ही प्राप्त हो सकता है" ऐसा जानकर वह मुमुक्षु बन जाता है तो उसके उस विरक्तिभावसे भरे हुए अन्तःकरणसे यह आवाज अनायास ही निकलने लगती है कि—

"मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी—
तन, बिन बसन, असन बिन, बनमें निवसौं, नासादृष्टि धरी"

अर्थात् वह विचारने लगता है कि मुझे कब उस दिनका शुभ अवसर प्राप्त हो, जिस दिन मैं नग्न दिगम्बर-मुद्राको धारण करके वनको अपना निवास स्थल बना लूँ ? और अपनी इस भावनाको सुदृढ करता हुआ वह आगे चलकर जब वास्तवमे वनवासी हो जाता है तब उसके परिणामोंकी वृत्ति भी—

"अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच, निन्दन-थुतिकरन,
अर्घावतारण-असिप्रहारणमें सदा समता धरन ।"

—के रूपमें चमक उठती है । इतना ही नही, वह इतने मात्रसे संन्तुष्ट न होकर आगे अपनी प्रवृत्तियोंकी बहिर्मुखताको समाप्त करके उन्हें अन्तर्मुखी बनाकर मन, वचन और काय सम्बन्धी योगोंकी निश्चलता प्राप्त करता हुआ आत्माका इस तरह ध्याता बन जाता है कि मृग भी उसे पाषाण समझकर निर्भयताके साथ उसके पास आकर अपनी खाज खुजलाने लग जाता है और अन्तमे उसकी यहाँ तक स्थिति बन जाती है कि उसे इतना भी पता नही रह जाता है कि कौन तो ध्याता है ? किसका ध्यान किया जा रहा है ? और वह ध्यानक्रिया भी कैसी हो रही है ? अर्थात् उस समय वह केवल शुद्धोपयोगरूप ऐसा निश्चलदशाको प्राप्त हो जाता है, जिसके होनेपर वह यथायोग्य क्रमसे कर्मों तथा नोकर्मोंके साथ विद्यमान आत्माकी परतन्त्रताको समूल नष्ट करके अन्तमे अपना चरमलक्ष्यभूत परमपद अर्थात् आत्मस्वातंत्र्यस्वरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है ।

लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकारके तत्त्वज्ञानोमेसे लौकिकतत्त्वज्ञान तो जैन संस्कृतिको बाह्य आत्मा है क्योकि इससे हमे अपने जीवनको सुखी बनानेका मार्ग प्राप्त होता है और आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान उसकी (जैन संस्कृतिकी) अन्तरंग आत्मा है क्योकि इससे हमें आत्माको स्वतन्त्र बनानेका मार्ग प्राप्त होता है । यद्यपि प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह आत्माको स्वतन्त्र बनानेके मार्गकी प्राप्तिको अपने जीवन-का मुख्य लक्ष्य निर्धारित करे तथा मुमुक्षु बनकर वह अपने शरीरको अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी बनानेका प्राकृतिक ढंगसे प्रयास करे और इस तरह उसका शरीर जितना-जितना स्वावलम्बी बनता जाय उतना-उतना ही वह अणुव्रतो व इससे भी आगे महाव्रतोके रूपमें क्रमशः शरीरसंरक्षणके लिये तब तक आवश्यक पर-वस्तुओंका अवलम्ब छोडता चला जाय, परन्तु अन्तःकरणमें मोक्षप्राप्तिकी भावनाका जागरण न होनेसे जो अभी तक मुमुक्षु नही बन सके अथवा मोक्षप्राप्तिकी भावनाका अन्तःकरणमे जागरण हो जानेपर भी जो अपने शरीरको स्वावलंबी बनानेमे असमर्थ हैं उन्हे भी "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण मानवसमष्टिके संरक्षणकी चिन्ता रखते हुए उसके साथ घुलमिलकर समानरूपमे रहनेका अपना जीवनमार्ग निश्चित करना परमावश्यक है क्योकि इसके बिना न तो उनका जीवन उदात्त और सुख-शान्तिमय हो सकता है और न वे अपने जीवनको आध्यात्मिकताकी ओर मोड़ सकते है । जिन महापुरुषोंने पूर्वमें जब भी आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर चलनेकी ओर कदम बढाया है तो उन्होंने अपने जीवनमार्गको "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसार परिष्कृत करनेका सर्व प्रथम प्रयत्न किया है ।

मैंने इस भाषणके प्रारम्भमे श्रद्धेय पं० दौलतरामजी कृत छहढालाके जिस मंगलमय पद्यके द्वारा

मङ्गलाचरण किया है उससे मेरे उल्लिखित कथनका ही समर्थन होता है। उस पद्यमे वीतराग-विज्ञानताको तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ प्ररूपित करते हुए उसके समर्थनके लिये जो 'शिवस्वरूप' और 'शिवकार' ये दो पद निक्षिप्त किये गये है उनमेसे 'शिवस्वरूप' पदसे तो वीतरागविज्ञानताको स्वय आनन्दस्वरूप बतला दिया गया है और 'शिवकार' पदसे उस वीतराग-विज्ञानताको आनन्दका कारण भी प्ररूपित कर दिया गया है। जहाँ वीतरागविज्ञानताको आनन्दस्वरूप कहा गया है वहाँ तो उसका आशय मानवजीवनके आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष-से लिया गया है और उस वीतरागविज्ञानताको जहाँ आनन्दका कारण स्वीकार किया गया है वहाँ उसका आशय मूलत अन्त करणमे उद्भूत विवेक या सम्यग्दर्शनके साथ यथायोग्यरूपमें पाये जानेवाले उस ज्ञानसे लिया गया है जिसे "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तकी आधारभूमि कहा जा सकता है। अब इससे मेरे उल्लिखित कथनका समर्थन किस प्रकार होता है, इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

वीतराग शब्दमे जो रागशब्द गर्भित है वह द्वेषका भी उपलक्षण है। इस प्रकार जो ज्ञान राग अथवा द्वेषसे प्रभावित न हो उस ज्ञानको ही जैन संस्कृतिमें 'वीतरागविज्ञान' शब्दसे पुकारा गया है। जीवमे राग और द्वेष दोनोंकी उत्पत्ति दो प्रकारसे हुआ करती है। उन दोनो प्रकारोमेसे एक प्रकार तो दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवमें ही उत्पन्न होनेवाला मोहपरिणाम यानी जीवका परपदार्थोंमे अहंभाव या ममभाव है और दूसरा अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्धकोंके उदयसे जीवमें ही उत्पन्न होनेवाली जीवनसम्बन्धी भोग, उपभोग आदि परपदार्थोंकी अधीनता यानी परवशता या मजबूरी है। यद्यपि राग और द्वेष दोनों चारित्र-मोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले आत्मपरिणाम है। परन्तु ये दोनो ही परिणाम जीवमे या तो उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होते है या फिर जीवकी जीवनसम्बन्धी भोगादिपरवशता रूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होते हैं।

मनमें उत्पन्न होनेवाली अनधिकारपूर्ण और अकरणीय आकाक्षाओंकी पूर्तिके कारणोके प्रति होनेवाले प्रीतिरूप आत्मपरिणामका नाम मोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होने वाला रागभाव है और उक्त प्रकारकी उन आकाक्षाओंकी पूर्तिमे बाधा पहुँचाने वाले कारणोंके प्रति होनेवाले अप्रीति व आत्मपरिणामका ही नाम उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव है। इसी प्रकार जीवके भोग और उपभोग आदि परवस्तुओंकी अधीनताको प्राप्त जीवनकी जो भी आवश्यकतायें हों उनकी पूर्तिके कारणोका उपयोग करने रूप आत्मपरिणामका नाम अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्द्धकोंके उदयसे उत्पन्न परवशतारूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला रागभाव है और उक्त प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें बाधा पहुँचानेवाले कारणोका प्रतिरोध करने रूप आत्मपरिणामका नाम उक्त परवशतारूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला द्वेष भाव है।

दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले उक्त मोहकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष और अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाली उक्त परवशताकी प्रेरणासे उत्पन्न होने-वाले राग और द्वेषके अन्तरको सरलतासे समझनेके लिये उदाहरणके रूपमें यह बात कही जा सकती है कि अभी कुछ मास पूर्व जो पाकिस्तान और भारतके मध्य भयंकर युद्ध हुआ था उसमे पाकिस्तानके राष्ट्रपतिकी इच्छा भारतको पददलित करनेकी थी इसलिये उनका वह युद्ध करने रूप परिणाम मोहकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव था और चूँकि जब पाकिस्तानका भारतपर आक्रमण हो गया तो भारतको भी परवश युद्ध-में कूदना पड़ा। इसलिये भारतके तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्रीका परवशताकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव था। उन दोनोंके द्वेषभावमे अन्तर विद्यमान रहनेके कारण ही विवेकशील देशोंने

पाकिस्तानके पक्षको अन्यायका और भारतके पक्षको न्यायका पक्ष माना है।

मोहके कारण उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष प्राणियोंके जीवनको अशान्त और संघर्षमय बनाते हैं जबकि परवशता (पराधीनता) के कारण उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष प्राणियोंके जीवनकी सुखशान्तिमें बाधक न होकर केवल आध्यात्मिक जीवनके विकासमें बाधक होते हैं। इसको जैनागमके आधारपर यों कहा जा सकता है कि मोहके कारण होनेवाले राग और द्वेष अनन्तानुबन्धी कषायरूप होते है, इसलिये वे जीवोंको विवेकी या सम्यग्दृष्टि बननेसे रोकते हैं अर्थात् इससे उनका (जीवोंका) जीवन अशांत और संघर्षमय बना रहता है। इसी तरह परवशता (पराधीनता) के कारण उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायरूप होते हैं। इसलिये वे जीवोंको चारित्रकी ओर बढनेसे रोकते हैं अर्थात् इसके कारण वे अपना जीवन भोजन, वस्त्र, आवास आदिके बिना सुरक्षित रखनेमें असमर्थ रहा करते हैं।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जिस जीवके मोहका अभाव हो जानेसे उसके कारण उत्पन्न होने- वाले अनन्तानुबन्धी कषायरूप राग और द्वेष समाप्त हो जाते हैं उस जीवमें वीतरागविज्ञानताका प्रारम्भिक रूप आ जाता है और फिर इसके पश्चात् एक ओर तो धीरे-धीरे अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्द्धकोंके उदयका अभाव होते हुए वह पूर्णतया नष्ट हो जावे तथा दूसरी ओर उत्तरोत्तर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायके क्रमसे राग और द्वेष भी धीरे-धीरे घटते हुए अन्तमें पूर्णतया नष्ट हो जावे व इसके अलावा ज्ञान भी इसके बाधक समस्त ज्ञानावरण कर्मका अभाव हो जानेसे पूर्णतया प्रकट हो जावे, तो ऐसी स्थिति जब बन जाती है तब उस जीवमें वीतरागविज्ञानता अपने चरमउत्कर्ष पर पहुँच जाती है।

वीतरागविज्ञानताका उक्त प्रारम्भिकरूप प्रकट हो जानेसे जब जीव विवेकी या सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब अशान्ति व संघर्षका बीज समाप्त हो जानेके कारण उसकी भावनामें, उसकी वाणीमें और उसके प्रत्येक कार्यमे "जियो और जीने दो" के सिद्धान्तकी झलक दिखाई देने लगती है। लौकिक धर्म इसीका नाम है। यही जीव जब आगे चलकर अप्रत्याख्यानावरण कषायकी किंचित् हानि हो जानेपर मोक्षप्राप्तिके प्रति उत्सु- कतारूप दर्शनप्रतिमाका धारी हो जाता है तब वह सर्वप्रथम "मुमुक्षु" संज्ञाको प्राप्त होता है और वह जीव वहींसे आध्यात्मिक धर्मके मार्गमे प्रवेश करता है। यहाँसे लेकर जिस जीवमें अध्यात्मिक धर्मका मार्ग जैसा- जैसा विकसित होता जाता है उसके लौकिक धर्मके मार्गका दायरा वैसा-वैसा ही सकुचित होता जाता है। अर्थात् इसके लिये उक्त क्रमसे जीवनसंरक्षणका प्रश्न गौण व आत्मविकासका प्रश्न मुख्य हो जाता है। इस तरह उस हालतमें जो कुछ वह सोचता है और जो कुछ वह करता है उसका मेल वह मुख्यतया अपने आत्म- विकासके साथ ही बिठलाने लगता है।

इस विषयको इस तरह भी स्पष्ट किया जा सकता है कि लौकिक धर्म प्रवृत्ति-परक धर्म है और आध्यात्मिक धर्म निवृत्तिपरक धर्म है। जिस व्यक्तिके सामने केवल जीवनके संरक्षणका प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण है उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रवृत्तिपरक लौकिकधर्मके मार्गपर चले। अर्थात् वह अपनी प्रवृत्ति ऐसा निर्णय करके करे कि वह प्रवृत्ति किस दृष्टिसे और कहाँ तक न्यायोचित है तथा स्वके लिये व समाज, राष्ट्र एवं विश्वके लिये किसी भी प्रकार विघातक नही है। परन्तु लौकिक धर्मके मार्गपर चलनेवाले व्यक्तिके लिये स्व, तथा समाज एवं राष्ट्रकी रक्षाके निमित्त यदि कदाचित् आवश्यक हो जावे, तो न्यायोचित् तरीकेसे शस्त्रका उपयोग करना भी जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानके अनुसार अहिंसाकी परिधिमें आता है। इसलिये भारत पर पाकिस्तान द्वारा आक्रमण किये जानेपर भारतको अपनी रक्षाके लिये जो युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा उससे भारतको किसी भी प्रकार हिंसक नही माना जा सकता है और न इससे उसकी (भारतकी) अहिंसक नीतिमें कोई अन्तर ही उत्पन्न होता है।

उक्त लौकिक धर्मके मार्ग पर चलनेके लिये मनुष्यको मनोबलकी बड़ी आवश्यकता है। जिस व्यक्ति-में मनोबलका अभाव है उसका मन कभी उसके नियंत्रणमें रहनेवाला नहीं है और अनियन्त्रित मनवाला व्यक्ति हमेशा लोकमें अन्याय और अत्याचार रूप अनुचित तथा जीवन-संरक्षणके लिये अनुपयोगी व अनावश्यक प्रवृत्तियाँ किया करता है जिससे उसके जीवनमें सुख और शांति सही अर्थोंमें कभी आ ही नहीं सकती है। ऐसे व्यक्तिको जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानके अनुसार मिथ्यादृष्टि या अधर्मात्मा कहा जाता है। जो व्यक्ति अपनेको मनोबलका धनी बना लेता है उसका मन उसके नियंत्रणमें हो जाता है तब वह व्यक्ति उक्त प्रकार-की अनुचित, अनुपयोगी और अनावश्यक प्रवृत्तियोंको समाप्त कर केवल उचित उपयोगी और आवश्यक प्रवृ-त्तियों तक ही अपना प्रयास सीमित कर लेता है। व्यक्तिके इस प्रकारके प्रयाससे लोकमें संघर्ष समाप्त होकर शांति स्थापित हो सकती है तथा व्यक्तिके जीवनमें सुख और शान्ति आ सकती है। जो व्यक्ति जब उचित, उपयोगी और आवश्यक प्रवृत्तियों तक ही अपना व्यापार सीमित कर लेता है तब जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्व-ज्ञानके अनुसार उसे सम्यग्दृष्टि या लौकिक दृष्टिसे धर्मात्मा कहा जा सकता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति जब अपने जीवन-संरक्षणके प्रश्नको गौणकर आत्मस्वातंत्र्यके प्रश्नको प्रमुख बना लेता है तब उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह यथाशक्ति निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर चले। आध्यात्मिक मार्गपर चलनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको मनोबलके साथ-साथ जीवनकी भोगादि वस्तुओंकी परा-धीनताको समाप्त करनेवाले शारीरिक बल और आत्मबलकी भी आवश्यकता है। जैनागममें वर्णित बाह्यतप-शारीरिकबलकी वृद्धिके और अन्तरंग तप आत्मबलकी वृद्धिके कारण हैं। जिस व्यक्तिके अन्दर ये दोनों ही बल जितनी वृद्धिको प्राप्त होते जावेंगे उस व्यक्तिके सामने जीवनसंरक्षणका प्रश्न उतना ही गौण होता जायगा। इस तरह वह व्यक्ति धीरे-धीरे प्रवृत्ति कर लौकिकधर्मके मार्गसे ऊपर उठता हुआ क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत आदिके रूपमें निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर अग्रसर होता जायगा और इसके एक सीमा तक पहुँच जानेपर वह इतना आध्यात्मिक दृष्टिसे धर्मात्मा बन जाता है कि वह अपने जीवनसंरक्षणके लिये शस्त्रादिकका उपयोग करना तो दूरकी बात है, अपितु इससे भी आगे वह ऐसी प्रवृत्तियोंका भी त्यागी बन जायगा, जिन प्रवृत्तियोंका साक्षात् या परंपरया आत्मविकाससे सम्बन्ध न हो अथवा जिनका त्याग करना उसे थोड़ा भी सम्भव हो। ऐसा व्यक्ति अपने आत्मविकासके लिये निःस्पृहतापूर्वक जीवनको तुच्छ समझकर अवसर आनेपर निर्द्वंद्वतापूर्वक मृत्युको भी वरण कर लेगा। जैन संस्कृतिमें प्रवृत्तिपरक लौकिक धर्म और निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मध्य यही अन्तर प्रतिपादित किया गया है।

इस तरह जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानको जो विवेचना यहाँ पर की गई है उससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने जीवनकी सुरक्षाके लिए अनुचित, अनुपयोगी और अनावश्यक भोग तथा संग्रहरूप प्रवृत्तियों (जिन्हें अधर्मके नामसे पुकारा गया है) का सर्वथा त्यागकर उचित, उपयोगी और आव-श्यक भोग तथा संग्रहरूप प्रवृत्तियों (जिन्हें लौकिक धर्मके नामसे पुकारा गया है) को स्वीकार करना ही उत्तम मार्ग है और जिनके अन्तःकरणमें आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त करनेकी उत्कट भावना जाग्रत हो चुकी है अर्थात् जो मुमुक्षु बन चुके हैं उन्हें लौकिक धर्मके नामसे पुकारी जानेवाली प्रवृत्तियोंको भी त्यागकर निवृत्तिरूप आध्या-त्मिक धर्मको अपनाना ही उत्तम मार्ग है।

जैन संस्कृतिके इस धार्मिक तत्त्वज्ञानके संरक्षण, विकास और प्रसारके लिए ही विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनमें उपर्युक्त छह प्रस्ताव पारित किये थे। इसलिये उन्हें क्रियात्मकरूप देनेके लिये हमें अपनी पूरी शक्ति लगानेकी आवश्यकता है। उनमेंसे प्रस्ताव संख्या ६ व ७ को क्रियात्मकरूप दिया जा चुका है जिससे अनुमान होता है कि इनकी सफलता असंदिग्ध है।

प्रस्ताव संख्या ९ को कार्यान्वित करनेके लिये जो उपसमिति सिवनी अधिवेशनमें बनायी गयी थी उसने, मुझे जहाँ तक मालूम है, अभी तक अपना कार्य प्रारम्भ नहीं किया है। मेरा उस उपसमितिके संयोजक श्री नीरज जैन सतनासे अनुरोध है कि वे इस प्रस्तावको क्रियात्मक रूप देनेके लिये उचित कार्यवाही करें।

प्रस्ताव संख्या १० इस दृष्टिसे पारित किया था कि समाजमें सांस्कृतिक विद्वानोंकी संख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है और नवीन विद्वान तैयार नहीं हो रहे हैं, इसलिये दि० जैन संस्कृतिके संरक्षणकी जटिल समस्या सामने उपस्थित है। इसको हल करनेका यह उपाय उत्तम था कि गृहविरत त्यागीजन संस्कृतिके संरक्षणकी चिन्ता करने लगें व इस तरह वे अपने जीवनका अमूल्य समय संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके अध्ययनमें लगायें। परन्तु ऐसे गृहविरत त्यागियोंका मिलना दुर्लभ हो रहा है, जिनकी अभिरुचि संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके अध्ययन की हो। अभी तीन-चार माह पूर्व श्रीमहावीरजीमें व्रती-विद्यालयकी स्थापना हुई थी, लेकिन जनवरी-के अन्तिम सप्ताहमें श्री महावीरजी जानेपर देखा तो उस व्रती-विद्यालयमें व्रतियोंका अभाव-सा देखनेको मिला। दो-चार व्रती हैं भी, तो एक तो उनमें अध्ययनकी रुचि नहीं देखी गयी। दूसरे, वे वहाँ पर स्थिर होकर अध्ययन करेंगे—यह कहना कठिन है। इन्दौरका उदासीनाश्रम तो लम्बे समयसे स्थापित है, परन्तु वहाँसे एक भी उदासीन संस्कृतिका सर्वांगीण विद्वान बनकर बाहर आया है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसी तरह और कई व्रती-विद्यालयोंकी स्थापना तथा समाप्तिके उदाहरण दिये जा सकते हैं।

गृहविरत त्यागियोंकी अध्ययनकी ओर रुचि क्यों नहीं? इसका एक ही कारण है कि वे अपना लक्ष्य अध्ययन करनेका नहीं बनाते हैं। पुरातन कालमें हमारे महर्षियोंका लक्ष्य संस्कृतका अध्ययन-अध्यापन रहता था, इसलिये उनकी बदौलत ही आज हमें संस्कृतके महान् ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं। यदि अभी भी हमारे महर्षियोंका लक्ष्य संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् बननेकी ओर हो जाय, तो संस्कृतके संरक्षणकी समस्या हल होनेमें देर न लगे, परन्तु इसके लिये हमारे महर्षियोंमें एक तो अनुशासनकी भावना हो। दूसरे, ऐसे व्यक्तियोंको ही गृहविरत त्यागी, ब्रह्मचारी या मुनि बननेकी छूट होना चाहिये, जिनका लक्ष्य संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् बनना हो।

प्रस्ताव संख्या ११ को सफल बनानेके लिये समाजके लब्धप्रतिष्ठ श्रीमान् साहु शान्तिप्रसादजी ने १०००) वार्षिक विद्वत्परिषद्को देनेकी स्वीकारता दी है। इसके लिये विद्वत्परिषद् उनका प्रसन्नतापूर्वक आभार मानती है और विद्वानोंसे आशा करती है कि वे इससे समुचित लाभ लेकर संस्कृतिके संरक्षणमें अपना योगदान करेंगे।

विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनमें ही संख्या ५ का एक प्रस्ताव स्व० पं० गुरु गोपालदासजी बरैयाकी सौवीं जयन्ती उच्चस्तरपर मनानेके सम्बन्धमें पारित किया था। प्रसन्नताकी बात है कि इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिये बनायी गयी उपसमिति तत्परताके साथ कार्य कर रही है। इसके लिये यह उपसमिति और इसके संयोजक डॉ० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य आरा अधिक-अधिक धन्यवादके पात्र हैं। समाज व विद्वानोंने भी इस कार्यमें काफी दिलचस्पी दिखाकर आर्थिक सहयोग प्रदान किया है तथा इनसे आगे भी अत्यधिक आर्थिक सहयोग मिलनेकी आशा है। प्रत्येक विद्वानको भी अपना कर्तव्य समझकर इसमें आर्थिक सहयोग देना चाहिये।

विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनके प्रस्ताव संख्या ८ द्वारा लेखक व वक्ता विद्वानोंसे अनुरोध किया था कि वे लेखों और प्रवचनोंमें शिष्टसम्मत शैलीका पालन करें और व्यक्तिगत आक्षेपसे बचें। गत जनवरी मासके अन्तिम सप्ताहमें श्रीमहावीरजी तीर्थक्षेत्रपर भी उक्त विषयके सम्बन्धमें विद्वानों और श्रीमानोंका

एक सम्मेलन हुआ था। उसमें प्रभावक ढङ्गसे हुए निर्णयसे आशा बँधती है कि उससे लाभ होगा। वे महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं। जिन्होंने श्रीमहावीरजीके सम्मेलनका आयोजन किया और उसे सफल बनाया।

इन्दौरमें तेरहपंथ और बीसपंथका संघर्ष सुननेमे आया है तथा कतिपय स्थानोंपर सोनगढ़से नियंत्रित मुमुक्षुमण्डलों और पुरातन समाजके बीच भी संघर्ष सुननेमे आये हैं। यह बड़े दुःखकी बात है। ऐसी घटनाओंसे समाज कलंकित होती है। मैं समझता हूँ कि धर्मके संरक्षण अथवा प्रचारके लिये कषायपूर्ण संघर्ष होना धर्मके ही महत्त्वको कम करते हैं। इसलिये परस्पर-विरोधी आस्था रखनेवाले व्यक्तियोंको केवल धर्माराधनपर ही दृष्टि रखना चाहिये, उनका कल्याण उसीमें है।

इस प्रसंगमें एक बातमें यह कहना चाहता हूँ कि समाजमें विद्यमान सहनशीलताके अभावसे ही प्राय ऐसे या अन्य प्रकारके सामाजिक संघर्ष हुआ करते हैं। इसलिये हमारी सामाजिक संस्थाओंको अपनी स्थिति इतनी सुदृढ बनानी चाहिये, ताकि वे सहनशीलताको अपना सकें व समाजको संगठित कर सकें।

श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थक्षेत्रके विषयमें बिहार सरकार और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाजके मध्य जो इकरार हुआ है उससे दिगम्बर समाजके अधिकारोंका हनन होता है। अतः इस इकरारको समाप्त करवानेका जो प्रयत्न अ० भा० तीर्थक्षेत्र कमेटी द्वारा किया जा रहा है वह स्तुत्य है। इसमे सन्देह नहीं कि उक्त कमेटीने गतवर्ष समाजमें श्रीसम्मेदशिखरजी तीर्थक्षेत्रकी रक्षा करनेके लिये जो चेतना जाग्रत की, उसके कारण वह अत्यन्त प्रशंसाकी पात्र है। परन्तु अब वह क्या कर रही है, इसकी जानकारी समाचारपत्रों द्वारा होते रहना चाहिए।

हम मानते है कि तीर्थक्षेत्र कमेटीके सामने कार्यको तत्परतापूर्वक सम्पन्न करनेमें कुछ कठिनाईयाँ सम्भव हैं और हम उसके पदाधिकारियोंको यह विश्वास दिला देना चाहते है कि समाजको कमेटीके ऊपर पूर्ण विश्वास है, फिर भी उससे हमारा अनुरोध है कि समाजमें क्षेत्रके विषयमें जो चिन्ता और बेचैनी हो रही है उसको ध्यानमें रखते हुए वह यथासम्भव अधिक-से-अधिक तत्परतापूर्वक समस्याको सन्तोषप्रद ढंगसे शासनसे शीघ्र हल करवानेका प्रयत्न करे।

'सरिता' पत्रमें जैनसंस्कृतिके विरुद्ध "कितना महँगा धर्म" शीर्षकसे प्रकाशित लेखसे जैन समाजका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। लेखका लेखक और पत्रका सम्पादक दोनों यदि यह समझते हों कि उन्होंने उत्तम-कार्य किया है तो यह उनकी आत्मवञ्चना ही सिद्ध होगी। इसका जैसा प्रतिरोध जैन समाजकी तरफसे किया गया है या किया जा रहा है वह तो ठीक है परन्तु जैन समाज और उसकी साधुसंस्थाको संस्कृतिके वैज्ञानिक और आध्यात्मिक महत्त्व व उसकी उपयोगिताकी लोकको जानकारी देनेके लिये संस्कृतिके अनुकूल कुछ विधायक कार्यक्रम भी अपनाना चाहिये।

वाराणसीमें विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी बैठकके अवसरपर ऐसी चर्चा उठी थी कि विद्वत्परिषद्के उद्देश्य और कार्यक्रमके साथ भारतीय जैन साहित्यसंसद्के उद्देश्य और कार्यक्रमका सुमेल बैठता है, अतः क्यों न उसे विद्वत्परिषद्के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाय? इस चर्चाको यदि सार्थकरूप दिया जा सके तो मेरे ख्यालसे सांस्कृतिक लाभकी दृष्टिसे यह अत्यधिक उत्तम बात होगी।

मैं पुनः विद्वत्परिषद् और शास्त्रिपरिषद्के एकीकरणकी बातको दुहराता हूँ और कहना चाहता हूँ कि इसके लिये यदि विद्वत्परिषद्को पहल भी करना पड़े तो करना चाहिये। श्रीमहावीरजीमें हुए सम्मेलनसे निर्मित वातावरण इस एकीकरणके लिए सहायक हो सकता है। इसके अलावा मेरा दृष्टिकोण अब भी यह बना हुआ है कि विद्वत्परिषद्का एक सांस्कृतिक पत्र अवश्य होना चाहिए।

अब मैं ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयपर प्रकाश डालना चाहता हूँ जिसके सम्बन्धमें समस्त जैन समाजको रुचि और उत्साह प्रसन्नतापूर्वक दिखलाना चाहिए। वह है इस श्रावस्ती तीर्थक्षेत्रका विकासकार्य। श्रावस्ती भारतवर्षकी एक प्राचीनतम सांस्कृतिक एवं प्रसिद्ध नगरी रही है। सांस्कृतिक दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व रहा है। यही कारण है कि इसको भारतवर्षकी सभी संस्कृतियोंके प्रवर्तकोंने अपने-अपने समयमें अपनाया है। जैन समाजसे तो इसका सम्बन्ध अतिप्राचीनतम कालसे है। जैन संस्कृतिके मुख्य प्रवर्तक २४ तीर्थंकरोंमेंसे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव और द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथके अनन्तर जो तृतीय तीर्थंकर श्री संभवनाथ हुए हैं उनके गर्भ, जन्म, तप और केवल ये चारों कल्याणक इसी श्रावस्ती नगरीमें ही हुए हैं और तभीसे वह नगरी अपने वैभवपूर्ण सौंदर्यके कारण इतिहासप्रसिद्ध है। साथ ही ऐतिहासिक कालके पूर्व भी यह महती वैभवशालिनी रही है—इसकी जानकारी हमें पुराणग्रन्थोंमें प्रचुरताके साथ पायी जाने वाली विवेचनासे प्राप्त होती है। "जगत्की प्रत्येक दृश्यमान वस्तु अस्थिर और अनित्य है" इसका अपवाद यह नगरी भी नहीं बन सकी और इसलिये आज यह इस भग्नकायाके रूपमें दृष्टिगोचर हो रही है। बहराइचकी दि० जैन समाज और श्री श्रावस्ती दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटीको हम इसलिये साधुवाद देना चाहते हैं कि इन्होंने उसे सम्पूर्ण जैन समाजके दृष्टिपथ पर लानेके लिये यह पञ्चकल्याणक महोत्सव कराया है। श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् यहाँ अधिवेशन करके अपनेको कृतार्थ समझती है। मुझे आशा है कि भारतवर्षकी सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज—

"शानदार था भूत, भविष्यत् भी महान् है।
अगर सम्हालो आज उसे, जो वर्तमान है॥"

—इस पद्यकी भावनाके अनुसार इस क्षेत्रके सांस्कृतिक उत्थानमें अपना पूर्ण योगदान करेगी तथा उपस्थित जन समुदायके इस क्षेत्रके विकासमें यथाशक्ति आर्थिक योगदान किये बिना यहाँसे नहीं लौटेगा।

सन् १९६६ का वर्ष प्रारम्भ राष्ट्रकी दृष्टिसे बड़ा दुखदायी सिद्ध हुआ है। राष्ट्रके प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्रीका अकल्पित वियोग एक ऐसी घटना है जिससे संसार स्तब्ध रह गया है। भारत और पाकिस्तानके मध्य १८ वर्षसे चले आ रहे झगडेका ताशकन्द (रूस) में सुखद अन्त श्री शास्त्रीजीके द्वारा होना और फिर करीब ८–९ घन्टेके अनन्तर ही वहींपर उनका स्वर्गवास हो जाना इत्यादि बातें हृदयविदारक हैं। श्री नेहरूजीके स्वर्गवासके अनन्तर ये भारतके प्रधानमंत्री बने। परन्तु यह भारतका दुर्भाग्य था कि इन्हें अपने डेढ़ वर्षके कार्यकालमें विरासतमें प्राप्त और कुछ नवीन जटिल संघर्षोंसे ही जूझना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि संघर्षोंके साथ जूझना शास्त्रीजीका अजेय वीर योद्धा जैसा युद्ध था। उन्होंने अपने कार्यकलापके डेढ़ वर्षके अल्पसमयमें ही भारतका मस्तक विश्वमें ऊँचा कर दिया और स्वय विश्वके श्रद्धाभाजन बन गये।

सन् ९६६ का प्रारम्भ हमे सामाजिक दृष्टिसे भी दु खदायी सिद्ध हुआ है। श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी कलकत्ताका वियोग सास्कृतिक और सामाजिक दोनों दृष्टियोंसे जैन समाजके लिये हानिकारक है। जैन-साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वका जितना कार्य आपने किया है वह सब स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाने लायक है। कितना दुर्बल शरीर और कितना अटूट श्रम उनका था, किन्तु कभी उनका उत्साह भंग नहीं हुआ। ऐसे महान् व्यक्तिके प्रति हमारे श्रद्धा-सुमन अर्पित हैं।

मेरा भाषण विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष पदका भाषण है। अत. इसमें सास्कृतिक तत्त्वज्ञानकी पुट रहना स्वाभाविक था। मैंने इसे बहुत कुछ सरल और स्वाभाविक बनानेका प्रयत्न किया है।

अन्तमें स्वागत समिति द्वारा किये गये आतिथ्यके लिये अपनी ओरसे और विद्वत्परिषद्की ओरसे आप सबका आभार प्रकट करता हुआ अपना भाषण समाप्त करता हूँ। ●

युगधर्म बननेका अधिकारी कौन ?

अर्वाचीन युगके इस द्वितीय महायुद्धमे मानव-जगत काफी उत्पीडित हुआ है। बमों, उड़नबमों और अणुबमोंके द्वारा निरीह और निरपराध जनतासे आबाद अनेक शहर बर्बाद कर दिये गये हैं, बहुतसे छोटे-छोटे देश परस्परके शत्रु बड़े देशोंके बीचमें पड जानेके कारण चक्कीके दो पाटोंके बीचमें पड़े हुए अनाजके दानोंकी तरह पिस गये है, युद्धरत देशोंके लाखों मनुष्य युद्धके मैदानमें मारे गये है और भारत जैसे कृषिप्रधान देशमें भारत सरकारकी गैर जवाबदारीपूर्ण अव्यवस्थाके कारण अर्ध कोटिके करीब मनुष्य अकालके उदरमें समा गये है।

यद्यपि आज युद्ध समाप्त हो गया है, परन्तु उसकी छाया आज भी मौजूद है। विजित राष्ट्र विजेता राष्ट्रोंका बदला लेनेकी भावनाके शिकार हो रहे है, उन्हें (विजित राष्ट्रोको) कुचल दिया गया है, परतन्त्र बना लिया गया है और अभी भी दमनकी चक्कीमे पीसा जा रहा है। युद्धापराधियोंकी सूचीमें आये हुए या तो स्वयं आत्मघात कर रहे है या फिर उन्हें कानूनी न्यायके आधारपर गोलीसे उडाया जा रहा है। बहुतसे देशोंमें शासनकी बागडोर सम्हालने वाली पार्टी अपने ही देशवासियोंको न्यायका ढोंग रच-रच कर खत्म कर रही है और बड़े-बड़े राष्ट्रोंके साम्राज्यवादके शिकार हुए देश युद्धकालमें किये गये वायदोंके आधारपर स्वतन्त्र होनेके लिये छटपटा रहे है, उनका हर तरहसे दमन किया जा रहा है।

इस युद्धमें जिन लोगोंके कुटुम्बीजनोंका विनाश हो गया है और जिन्हें जबर्दस्त आर्थिक क्षति उठानी पड़ी है उन लोगोको तो इसकी याद करके जिंदगी भर रोना ही है। परन्तु युद्धकी समाप्तिसे संपूर्ण मानवजातिमे वही पुराना शातिका जीवन प्राप्त करनेकी जो आशा उदित हो गयी थी उसकी पूर्तिके आसार नजर नही आ रहे हैं। युद्धके दरम्यान जिन कानूनी कठिनाइयोका उसे सामना करना पड़ रहा था वे कठिनाइयाँ आज भी मौजूद हैं, मँहगाई, चोर बाजार और घूंसखोरीसे छोटेसे लेकर बडे तक हजारों, लाखों और करोडो तककी दौलत कमाने वाले लोग, जिनके सौभाग्यसे ही मानो युद्धकी भट्टी धधक उठी थी, आनन्दविभोर होते हुए आज भी अपनी आदतोंसे बाज नही आये है। इसके अतिरिक्त बेकारीकी समस्या भी प्रत्येक देशमे धीरे-धीरे घर करती जा रही है।

इन सब बातोंके परिणाम-स्वरूप दुनियाके इस छोरसे उस छोर तक मानवजातिकी एक ही चाह है और एक ही आवाज है कि ऐसे उपाय किये जाने चाहिये कि भविष्यमे कभी भी युद्धका मौका आनेकी सम्भावना जाती रहे। परन्तु दुनियाँकी बडी-बडी ताकतोंकी साम्राज्य-लिप्सा, विजित राष्ट्रोका दमन और आपसमें बर्ती जानेवाली दाव-पेंचकी अविश्वासपूर्ण नीतिको देखते हुए यह कहना कठिन है कि निकटभविष्यमे ही युद्धका मौका नहीं आ सकता है।

वास्तवमें सम्पूर्ण मानव जाति अब इस किस्मके अमानवीय युद्धोंमें यदि नहीं फँसना चाहती है तो इसे युद्धको प्रोत्साहन देनेवाली स्वार्थपूर्ण दूषित मनोवृत्तियो और प्रवृत्तियोंको छोड़कर धार्मिकताकी ओर कदम बढ़ानेका प्रयत्न करना होगा। विजित राष्ट्र विजेता राष्ट्रों द्वारा बलपूर्वक दबा लिये जाँय, इसकी अपेक्षा विजित राष्ट्रोंके प्रति सहृदयता और प्रेमका व्यवहार करनेकी जरूरत है ताकि विजेता राष्ट्र सम्पूर्ण मानवजातिके प्रति सहृदयता और प्रेमका व्यवहार करना सीख जायँ, शक्तिसे युद्धको दबाया तो जा सकता है परन्तु उसके बीजोको समूल नष्ट नही किया जा सकता है। पहला महायुद्ध शक्तिसे ही तो दबाया गया था। जिससे अल्पकालमे ही हमें उससे भी भयंकर दूसरा युद्ध देखना पडा है। धार्मिकताके आधारपर कायम की गयी शान्ति

ही स्थायित्वको प्राप्त हो सकती है। परन्तु धर्म क्या ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। विश्वके रंग-मंचपर धर्मके नामपर हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, सिख, मुस्लिम और ईसाई आदि बहुतसे धर्म अपने-अपने भेदों और प्रभेदों सहित देखनेमें आ रहे हैं। क्या इन सभीको धर्म मान लिया जाय या इनमेंसे किसी एकको धर्म नामसे पुकारा जा सकता है ? अथवा इनमेंसे कोई भी धर्म, धर्म नामका अधिकारी नहीं हो सकता है ?

धर्मतत्त्वके सही अर्थको समझनेकी इसलिये जरूरत है कि उल्लिखित तथा कथित धर्मोंके जरिये संपूर्ण मानवजाति अनेक अनिष्टकर वर्गोंमे विभक्त हो गयी है और मानवजातिके ये वर्ग अपने-अपने तथाकथित धर्मको दूसरे तथा कथित धर्मोंकी अपेक्षा न केवल अधिक महत्त्व ही देना चाहते हैं बल्कि अपने तथाकथित धर्मको ही धर्म और दूसरे तथाकथित धर्मोंको अधर्म कहनेमें भी इन्हे संकोच नहीं होता है। और आश्चर्य यह है कि इन तथाकथित धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्मको मानने वाले इन अनेक वर्गोंने धार्मिकताको एक निश्चित दायरेमें बाँध रखा है। हिन्दू धर्मको मानने वाला हिन्दूवर्ग यज्ञ, हवन आदि वैदिक क्रियाकाण्ड और गंगा आदि नदियोंमें स्नान आदिको ही धर्म मानता है, साधुओंका जटा बढाना, पंचाग्नि तप करना और भंग, गाँजा आदि मादक वस्तुओंका सेवन करना आदिको भी वह धर्ममें शुमार करता है। जैनधर्मको माननेवाला जैन वर्ग जैन-धर्मके प्रसारक तीर्थंकरोंकी पूजा वंदना और ध्यान करना पुराणोका ही स्वाध्याय करना और उनमे उपदिष्ट व्रत आदिका अनुष्ठान करना आदिको ही धर्म मानता है। बौद्ध, सिख और पारसी आदि धर्मोंको माननेवाले बौद्ध, सिख और पारसी आदि वर्ग अपने-अपने नियत क्रियाकाण्डोंको ही धर्म समझते हैं, मुस्लिम धर्मका उपासक मुसलमानवर्ग मसजिदमे आकर नमाज पढना आदिको धर्म मानता है और दूसरे धर्म वालोंको काफिर समझकर तकलीफ देना आदि बातोंको भी धर्मकी कोटिमें शुमार करनेका साहस करता है तथा ईसाई धर्मका धारक ईसाई भाई गिरजामे जाना और अपने धर्म गुरु (पादरी)का उपदेश सुनना आदि बातोंकी ही धर्म मानता है। उक्त प्रत्येक वर्ग अपनी-अपनी उक्त धार्मिकतामें कभी भी अपूर्णता, सदोषता और निरर्थकताका अनुभव नही करता है। इस प्रकार उक्त प्रत्येक वर्ग जहाँ अपने तथाकथित धर्मको धर्म और उसको माननेवाली मानवसमष्टिको धर्मात्मा मानता है वहाँ वह अपने इस कथित धर्मको राष्ट्र-धर्म और यहाँ तक कि विश्व धर्म कहनेका दुःसाहस भी करता है।

जहाँ तक मै सोच सका हूँ उससे इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि उक्त तथाकथित धर्मोंमे कोई भी धर्म, धर्म नही है क्योंकि धर्म एक ही हो सकता है, दो नही, और अधिक भी नही। धर्मका प्रतिपक्षी यदि कोई हो सकता है तो वह अधर्म ही होगा, धर्म-धर्ममें प्रतिपक्षिता कभी भी सम्भव नहीं मानी जा सकती है। दुनियाँके किसी भी छोरपर जाया-जाय, धर्मके प्रचार और रंग-रूपमें कोई भी भेद नजर नही आयेगा और यदि भेद नजर आता है तो उसे धर्म समझना ही भूल है। इस प्रकार धर्म जिस तरह सार्वत्रिक है उसी तरह वह शाश्वत भी है, उसकी युगधर्मता अपरिवर्तनीय है, वह हमेशा युगधर्मके रूपमें एक-सा प्रकाशमान होता रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपने सीमित बुद्धिबलसे धर्म और अधर्मका विश्लेषण सहजमें ही कर सकता है। इसके लिये बड़े-बड़े ग्रन्थोंको टटोलने व परिश्रमके साथ उनका अध्ययन और मनन करनेकी जरूरत नहीं है और न बड़े-बड़े विद्वानोंकी शरण लेना भी इसके लिये आवश्यक है।

अपने अन्तःकरणमें क्रोध, दुष्ट विचार, अहंकार, छल-कपटपूर्ण भावना, दीनता और लोभवृत्तिको स्थान न देना तथा सरलता, नम्रता और आत्म गौरवके साथ-साथ प्राणिमात्रके प्रति प्रेम, दया और सहानु-भूति आदि सद्भावनाओंको जाग्रत करना धर्म है और अपनी वाचनिक और कायिक बाह्य प्रवृत्तियोंमे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहवृत्तिको मानवताके धरातलपर यथायोग्य स्थान देते हुए समता और परोपकारको स्थान देना भी धर्म है।

इस धर्मको न तो क्षेत्रीय और कालिक किसी भी मर्यादामें बाँधा जा सकता है और न ऊपर बतलायी गयी हिन्दू, जैन बौद्ध, सिक्ख, पारसी, मुसलमान और ईसाई आदि किसी खास समष्टिसे ही इसका ताल्लुक है। यह धर्म हिंदू आदि किसी भी समष्टिके किसी भी व्यक्तिका धर्म हो सकता है। इस धर्मकी प्राप्तिमें ब्राह्मण और भंगी, पुरुष और स्त्री विद्वान और मूर्ख, अमीर और गरीबका भेद कहींपर भी कभी भी बाधक नहीं हो सकता है और इसकी उपयोगिता कहीं भी, कभी भी, कैसी भी हालत क्यों न हो, मानवसमाजके लिये बनी हुई है।

हम देखते हैं कि उल्लिखित तथाकथित धर्मोंके आधारपर अपनेको धार्मिक समझनेवाली किसी भी समष्टिमें सामूहिकरूपसे यह धर्म नहीं पाया जाता है। प्रत्येक समाजमें स्वार्थका पोषण सर्वोपरि है और इसके लिये छल-कपट, बेईमानी, असत्यताका व्यवहार और भाई-भाई तथा पिता-पुत्रके लड़ाई-झगड़े तो जीवनके अनिवार्य अंग बन गये हैं। इन सबके विद्यमान रहते हुए भी मनुष्य केवल मनुष्य बना रहता है बल्कि वह धर्मात्मा भी बना रहता है। और तो क्या, चोरबाजार और घूँसखोरी जैसे राक्षसी कृत्य करनेवाले तथा उचित-अनुचित तरीकों द्वारा निर्दयतापूर्वक व्यापकरूपसे मानवसमष्टिका संहार करनेवाले युद्धोंके प्रवर्तक और संचालक लोग भी अपनेको धर्मात्मा ही मानते हैं। हम पूछते हैं कि इस विश्वयुद्धको क्या एक ही धर्मके माननेवालोंके बीचका युद्ध नहीं कहा जा सकता है और आज कौनसी तथाकथित धार्मिक समाज गर्वके साथ इस बातका दावा कर सकती है कि उसके अन्दर चोरबाजार और घूँसखोरी जैसे राक्षसी कृत्य करनेवाले व्यक्ति अधिकाधिकरूपमें मौजूद नहीं हैं ?

तात्पर्य यह है कि धार्मिकताके आधारपर निर्मित हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख, पारसी, मुसलमान और ईसाई आदि सभी समष्टियोंमें जब न केवल अधर्म ही बल्कि मनुष्यताका भी अभाव मौजूद है तो उन्हें धार्मिक समष्टि और उनकी उस धार्मिकताको धर्म नामसे कैसे पुकारा जा सकता है ? लेकिन इस सिलसिलेमें यहाँपर एक और प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब उल्लिखित तथाकथित धर्म धर्म नहीं हैं तो क्या वे सब अधर्म हैं ? और यदि वे सब अधर्म है तो उन्हें कैसे नष्ट किया जा सकता है ?

इस विषयमें मेरी मान्यता है कि उल्लिखित तथाकथित धर्म यदि धर्म नहीं है तो वे सर्वथा अधर्म भी नहीं हैं। परन्तु इस सबके परिष्कृत रूपोंको धर्म-प्राप्तिके उपायोंके रूपमें स्वीकार किया जाना चाहिये और इसके परिष्कृतरूपोंको मैं हिन्दू संस्कृति, जैन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, सिक्ख संस्कृति, पारसी संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति और ईसाई संस्कृति आदि नाम देना उपयुक्त समझता हूँ।

प्रत्येक संस्कृतिको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक तत्त्वज्ञान और दूसरा आचार। इन दोनों विभागोंसे सजी हुई संस्कृतिको मैं धर्म न मानकर उल्लिखित धर्मकी प्राप्तिका साधन मानता हूँ। मेरा तो यह निश्चित विचार है कि संस्कृतिको धर्मका साधन न मानकर उसे ही धर्म मान लेनेसे प्रत्येक संस्कृतिके अन्दर ढोंग, कई किस्मके अनर्थकारी विकार और रूढ़िवादको प्रश्रय मिला है तथा मनुष्यमें अहंकार, पक्षपात, हट और परस्पर विद्वेष तथा घृणाको अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिला है। अपने धर्मको और अपनेको सच्चा और ईमानदार तथा दूसरोंके धर्मोंको और दूसरोंको मिथ्या और बेईमान समझनेकी जो प्रवृत्ति मानव-प्रकृतिमें पायी जाती है उसका आधार भी धर्मकी साधनभूत संस्कृतिको ही धर्म मान लेनेकी हमारी मान्यता है। यदि हम इस मान्यताको छोड़ दें और संस्कृतिको धर्मप्राप्तिका साधन समझकर उसके जरिये अपने जीवनको धार्मिक जीवन बनानेका प्रयत्न करने लग जायें, तो निश्चित ही वर्तमान प्रत्येक संस्कृतिके अन्दरसे ढोंग, अनर्थकारी विकार और रूढ़िवादका खात्मा हो जायगा तथा किसी भी संस्कृतिको अपनानेवाला मनुष्य

अहंकार, पक्षपात, हठ और परस्पर-विद्वेष तथा घृणाका विकार न हो सकेगा। प्रत्येक मनुष्यके अन्दरसे अपने धर्मको और अपनेको सच्चा और ईमानदार तथा दूसरोंके धर्मोको और दूसरोंको मिथ्या और बेईमान समझनेकी प्रवृत्ति उठ जायगी।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने ऐहिक जीवनमें भी सुखसे ही रहना चाहता है। मनुष्य चूंकि सामाजिक प्राणी है अर्थात् उसका जीवन पशुओं जैसा आत्मनिर्भर न होकर, प्रायः सामाजिक सहयोगपर ही निर्भर है। इसलिये संबद्ध मानवसमष्टिका ऐहिक जीवन जबतक सुखी नहीं हो जाता है तबतक संबद्ध मानव-व्यक्तिका भी ऐहिक जीवन सुखी नहीं हो सकता है। संबद्ध मानवसमष्टिका ऐहिक जीवन सुखपूर्ण बने, इसके लिये मानवव्यक्तिके जीवनमें ऊपर बतलाई गयी अतरंग और बाह्य धार्मिकताको लानेकी जरूरत है।

मानवजीवनमें उक्त धार्मिकताको लानेके लिये ही भिन्न-भिन्न महापुरुषोंने अपने-अपने समयमें ऊपर बतलायी गयी हिन्दू, जैन आदि भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंको जन्म दिया है अर्थात् वर्तमानमें हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिख, पारसी, मुस्लिम और ईसाई आदि जितनी संस्कृतियाँ पायी जाती हैं इन सबका उद्देश्य उन-उन संस्कृतियोंके उपासक मनुष्योंको पूर्वोक्त प्रकारसे धार्मिक बनाना ही है। लेकिन संस्कृतिको ही धर्म मान लेनेसे जब केवल भिन्न-भिन्न संस्कृतिकी उपासना मात्रसे मनुष्य धर्मात्मा माना जा सकता है तो उसे अपने जीवनमें उक्त धार्मिकताके लानेकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी है। इसीका यह परिणाम है कि एक ओर तो प्रत्येक संस्कृति ढोंग, कई किस्मके अनर्थकारी विकार और रूढ़िवादसे परिपूर्ण होते हुए भी इन विकारोंको नष्ट करनेकी ओर उसके उपासकोंका यथायोग्य ध्यान नहीं जा रहा है और दूसरी ओर अपनेको धर्मात्मा तथा सच्ची और सर्वहितकारी संस्कृतिकी उपासक समष्टिका अंग मानते हुए भी उनमें (प्रत्येक संस्कृतिके उपासक व्यक्तियोंमें) मानवताको कुचलने वाली स्वार्थपूर्ण असीमित दुराकांक्षाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ बे-रोक-टोक बढ़ती ही जा रही हैं। इसलिये आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि प्रत्येक संस्कृतिकी उपासक समष्टि और उस समष्टिका अंगभूत प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी संस्कृतिको धर्म न मानकर धर्मका साधन समझने लग जाय। इसका यह परिणाम होगा कि प्रत्येक संस्कृतिके उपासक समाज और इसका अंगभूत व्यक्ति अपनेको धर्मात्मा और अपनी संस्कृतिको सच्ची और उपयोगी सिद्ध करनेके लिये अपने जीवनमें पूर्वोक्त प्रकारकी धार्मिकताको लानेका ही प्रयत्न करने लगेगा और जिस समाजका लक्ष्य इस ओर न होगा उसकी संस्कृति निश्चित ही केवल इतिहासके पत्रोंमें रह जायगी।

मेरी मान्यताके अनुसार वर्तमान सभी संस्कृतियाँ मानवसमाजके लिये उपयोगी हैं। परन्तु जैन संस्कृतिको मैं उपयोगी होनेके साथ-साथ अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक भी मानता हूँ। उसका तत्त्वज्ञान और उसका आचार अधिक-से-अधिक वास्तविकताको लिये हुए है।

इसलिये दूसरी संस्कृतियोंकी अपेक्षा जैन संस्कृति अधिक स्थायी और अधिक व्यापक बनायी जा सकती है। यदि इस विश्वयुद्धके दौरानमें जैन समाज अपनी मनोवृत्तिका संतुलन बनाये रखता और दूसरे समाजोंके साथ व्यापारमें चोरबाजारको स्थान नहीं देता तो जैन संस्कृति निश्चित ही अपने लायक स्थानपर खड़ी दिखाई देती। यह जैन संस्कृतिका उत्थान चाहने वालोंके लिये असीम दुःखका विषय है और सम्पूर्ण जैन समाजके लिये लज्जाका विषय है कि व्यापारी जैन समाजने जैन संस्कृतिको आज इस रूपमें कलंकित किया है। क्या यह आशा करना उचित न होगा कि जैन संस्कृतिको युगका धर्म (संस्कृति) बनानेके लिये जैन समाज ही पहले अपनेको युगका समाज बनायेगा।

●

ऋषभदेवसे वर्तमान तक जैनधर्मकी स्थिति

प्रायः धर्मकी सभी मान्यताओंमें अमर्यादित कालको मर्यादित अनन्तकल्पोंके रूपमें विभक्त किया गया है, लेकिन किन्हीं-किन्ही मान्यताओंमें जहां इस दृश्यमान् जगत्की अस्तित्वस्वरूप और अभावस्वरूप प्रलय-को आधार मानकर एक कल्पकी सीमा निर्धारित की गई है, वहां जैन मान्यतामें प्राणियोंके दुःखके साधनोंकी क्रमिक हानि होते-होते सुखके साधनोंकी क्रमिक वृद्धिस्वरूप उत्सर्पण और प्राणियोंके सुखके साधनोंकी क्रमिक हानि होते-होते दुःखके साधनोंकी क्रमिक वृद्धिस्वरूप अवसर्पणको आधार मानकर एक कल्पकी सीमा निर्धारित की गई है।

तात्पर्य यह कि धर्मकी किन्ही-किन्ही जैनेतर मान्यताओंके अनुसार उनके माने हुए कारणों द्वारा पहले तो यह जगत् उत्पन्न होता है और पश्चात् यह विनष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके अनन्तर जबतक जगत्का सद्भाव बना रहता है उतने कालका नाम सृष्टिकाल और विनष्ट हो जानेपर जबतक उसका अभाव रहता है उतने कालका नाम प्रलयकाल माना गया है। इस तरहसे एक सृष्टिकाल और उसके अनन्तर होनेवाले एक प्रलयकालको मिलाकर इन मान्यताओंके अनुसार एक कल्पकाल हो जाता है। जैन मान्यतामे इन मान्यताओंको तरह जगत्का उत्पाद और विनाश नही स्वीकार किया गया है। जैन मान्यतामें जगत् तो अनादि और अनिधन है, परन्तु रात्रिके बारह बजेसे अन्धकारका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दिनके बारह बजे तक प्रकाशकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिके समान जैन मान्यतामे जितना[1] काल जगत्के प्राणियोके दुःखके साधनोंका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते सुखके साधनोंकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिस्वरूप उत्सर्पणका बतलाया गया है उतने कालका नाम उत्सर्पिणीकाल और दिनके बारह बजेसे प्रकाशका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते रात्रिके बारह बजे तक अन्धकारकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिके समान वहांपर (जैन मान्यतामें) जितनाकाल[2] जगत्के प्राणियोंके सुखके साधनोंका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दुःखके साधनोंकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिस्वरूप अवसर्पणका बतलाया गया है उतने कालका नाम अवसर्पिणीकाल स्वीकार किया गया है। एक उत्सर्पिणीकाल और उसके अनन्तर होनेवाले एक अवसर्पिणीकालको मिलाकर जैन मान्यताका एक कल्पकाल हो जाता है।[3] चूंकि उक्त दूसरी मान्यताओंमे सृष्टिकाल और प्रलयकालकी परम्पराको पूर्वोक्त सृष्टिके बाद प्रलय और प्रलयके बाद सृष्टिके रूपमे तथा जैनमान्यतामें उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकालकी परम्पराको पूर्वोक्त उत्सर्पणके बाद अवसर्पण और अवसर्पणके बाद उत्सर्पणके रूपमें अनादि अनन्त स्वीकार किया गया है, इसलिए उभय मान्यताओंमे (जैन और जैनेतर मान्यताओंमें) कल्पोंकी अनन्तता समानरूपसे मान ली गई है।

जैन मान्यतामे प्रत्येक कल्पके उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी कालको उत्सर्पण और अवसर्पणके खंड करके निम्नलिखित छह-छह विभागोमे विभक्त कर दिया गया है—(१) दुःषम[4]–दुःषमा (अत्यन्त दुःखमय

---

१. यह काल जैन ग्रन्थोंके आधारपर दश कोटी-कोटी सागरोपमसमयप्रमाण है। कोटी (करोड़)को कोटी (करोड)से गुणा कर देनेपर कोटी-कोटीका प्रमाण निकलता है और सागरोपम जैनमान्यताके अनुसार असंख्यात वर्षप्रमाण कालविशेषकी संज्ञा है।

२. यह काल भी जैन ग्रन्थोंमें दश कोटी-कोटी सागरोपमसमयप्रमाण ही बतलाया गया है।

३. आदिपुराण पर्व ३, श्लोक १४-१५।

४, इक्कीस हजार वर्षप्रमाण।

काल), (२) दुःषमा[1] (साधारण दुःखमय काल), ३—दुःषम-सुषमा[2] (दुःख प्रधान सुखमय काल), ४—सुषम-दुःषमा[3] (सुखप्रधान दुःखमय काल), ५—सुषमा[4] (साधारण सुखमय काल) और ६—सुषम-सुषमा[5] (अत्यन्त सुखमय काल)। ये छह[6] विभाग उत्सर्पिणी कालके तथा इनके ठीक विपरीत क्रमको लेकर अर्थात् १—सुषम-सुषमा[7] (अत्यन्त सुखमय लाल), २—सुषमा[8] (साधारण सुखमय काल), ३—सुषम-दु.षमा[9] (सुखप्रधान दु.ख-मय काल), ४—दुषमा-सुषमा[10] (दुःखप्रधान सुखमय काल), ५—दुःषमा[11] (साधारण दु.खमय काल) और ६—दु.षम-दु.षमा[12] (अत्यन्त दुःखमय काल) ये छह[13] विभाग अवसर्पिणी कालके स्वीकार किये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्यकी गतिके दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिणकी ओर होनेवाले परिवर्तनके आधारपर स्वीकृत वर्षके उत्तरायण और दक्षिणायन विभाग गतिक्रमके अनुसार तीन-तीन ऋतुओंमें विभक्त होकर सतत चालू रहते हैं उसी प्रकार एक दूसरेसे बिलकुल उलटे पूर्वोक्त उत्सर्पण और अपसर्पणके आधारपर स्वीकृत कल्पके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी विभाग भी उत्सर्पणक्रम और अवसर्पणक्रमके अनुसार पूर्वोक्त छह-छह विभागोंमें विभक्त होकर अविच्छिन्न रूपसे सतत चालू रहते हैं।[14] अथवा रात्रिके बारह बजे से दिनके बारह बजेतक अन्धकारकी क्रमसे हानि होते-होते क्रमसे होनेवाली प्रकाशकी वृद्धिके आधार पर और दिनके बारह बजेसे रात्रिके बारह बजेतक प्रकाशकी क्रमसे हानि होते-होते क्रमसे होनेवाली अन्धकारकी वृद्धिके आधारपर जिस प्रकार चार-चार प्रहरोंकी व्यवस्था पाई जाती है उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी कालमें भी पूर्वोक्त छह-छह विभागोंकी व्यवस्था जैन मान्यतामें स्वीकृत की गई है।

जैनमान्यताके अनुसार प्रत्येक उत्सर्पिणी कालके तीसरे[15] और प्रत्येक अवसर्पिणी कालके चौथे दु षमा-सुषमा नामक विभागमें धर्मको प्रकाशमें लानेवाले एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा इस प्रकार क्रमसे नियमपूर्वक चौबीस तीर्थंकर (धर्मप्रवर्तक महापुरुष) उत्पन्न होते रहते हैं। इस समय जैनमान्यताके अनुसार

१. वही।
२. ब्यालीस हजार वर्ष कम एककोटीकोटी, सागरोपमसमयप्रमाण।
३. दोकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
४. तीनकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
५. चारकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
६. अवसर्पिणी कालके समाप्त हो जानेपर जब उत्सर्पिणी कालका प्रारम्भ होता है उस समयका यह वर्णन है—
—तिलोयपण्णत्ती, चौथा महा अधिकार, गाथा १५५५, १५५६।
७. चारकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
८. तीनकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
९. दोकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
१०. ब्यालीस हजार वर्ष कम एककोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
११. इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।
१२. इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।
१३. आदिपुराण पर्व ३, श्लोक १७, १८।
१४. आदिपुराण पर्व ३, श्लोक २०, २१।
१५. उत्सर्पिणी कालके तीसरे दुःषमसुषमा कालका वर्णन करते हुए यह कथन है—
—तिलोयपण्णत्ती, चौथा महाधिकार, गाथा १५७८।

कल्पका दूसरा विभाग अवसर्पिणीकाल चालू है और उसके (अवसर्पिणी कालके) पाँचवें दुःषमा नामक विभाग-मेंसे हम गुजर रहे हैं ।[1] आजसे करीब ढाई हजार (२५००) वर्ष पहले इस अवसर्पिणीकालका दुःषमा-सुषमा नामक चतुर्थ विभाग समाप्त हुआ है। उस समय धर्मको प्रकाशमें लानेवाले और इस अवसर्पिणीकालके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर इस धरातलपर मौजूद थे तथा उनके भी पहले पूर्वपरम्परामें तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तक तेईस तीर्थंकर धर्मका प्रकाश कर चुके थे।

तात्पर्य यह है कि जैन मान्यतामें उत्सर्पिणीकालके चौथे, पाँचवें और छठे तथा अवसर्पिणीकालके पहले, दूसरे और तीसरे विभागोंके समुदायको भोगयुग एवं अवसर्पिणीकालके चौथे, पाँचवें और छठवें तथा उत्सर्पिणीकालके पहले, दूसरे और तीसरे विभागोंके समुदायको कर्मयुग बतलाया गया है।[2] भोगयुगका मतलब यह है कि इस युगमें मनुष्य अपने जीवनका संचालन करनेके लिए साधन-सामग्रीके संचय और संरक्षणकी ओर ध्यान देना अनावश्यक ही नहीं, व्यर्थ और यहाँतक कि मानवसमष्टिके जीवन-निर्वाहके लिए अत्यन्त घातक समझता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनका संचालन निश्चिन्तता और संतोषपूर्वक सर्वत्र बिखरे हुए प्राकृतिक साधनों द्वारा बिना किसी भेद-भावके समान रूपसे किया करता है। उस समय मानव-जीवनके किसी भी क्षेत्रमें आजकल जैसी विषमता नहीं रहती है। उस कालमे कोई मनुष्य न तो अमीर और न गरीब ही रहता है और न ऊँच-नीचका भेद ही उस समयके मनुष्योंमे पाया जाता है। आहार-विहार तथा रहन-सहनकी समानताके कारण उस कालके मनुष्योंमें न तो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप मानसिक दुर्बलताएँ ही पाई जाती हैं और न हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार तथा पदार्थोंका संचय रूप परिग्रहमें ही उनकी प्रवृत्ति होती है। लेकिन उत्सर्पिणी कालमें जीवन-संचालनकी साधनसामग्रीमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते-होते उसके पराकाष्ठापर पहुँच जानेके बाद जब इस अवसर्पिणीकालमे उसका ह्रास होने लगा और वह ह्रास जब इस सीमा तक पहुँच गया कि मनुष्योंको अपने जीवन-संचालनमें कमीका अनुभव होने लगा तो सबसे पहिले मनुष्योंमें साधन-सामग्रीके संग्रह करनेका लोभ पैदा हुआ तथा उसका संवरण न कर सकनेके कारण धीरे-धीरे माया, मान और क्रोधरूप दुर्बलताएँ भी उनके अन्तःकरणमे उदित हुईं और इनके परिणामस्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार और परिग्रह इन पाँच पापोंकी ओर यथासंभव उनका झुकाव होने लगा। अर्थात् सबसे पहले जीवन-संचालनकी साधनसामग्रीके संचय करनेमें जब किन्हीं-किन्हीं मनुष्योंकी प्रवृत्ति देखनेमें आई[3] तो उस समयके विशेषविचारक व्यक्तियोंने इसे मानव-समष्टिके जीवन-संचालनके लिए जबरदस्त खतरा समझा। इसलिए इसके दूर करने लिए उन्होंने जनमतकी सम्मतिपूर्वक उन लोगोंके विरुद्ध 'हा[4]' नामक दण्ड कायम किया। अर्थात् उस समय जो लोग जीवन-संचालनकी साधन-सामग्रीके संचय करनेमें प्रवृत्त होते थे उन्हें इस दण्डविधानके अनुसार ''हमें खेद है कि तुमने मानव-समष्टिके हितके विरुद्ध यह अनुचित कार्य किया है।''—इस प्रकार दंडित किया जाने लगा और उस समयका मानव-हृदय बहुत ही सरल होनेके कारण उसपर इस दंड-

१. भगवान ऋषभदेवसे लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर इस अवसर्पिणीकालके चौथे दुःषम-सुषमा कालमें ही हुए हैं।

२. भोगयुग और कर्मयुगका विस्तृत वर्णन आदिपुराणके तीसरे पर्वमें तथा तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ महाधिकार में किया गया है।

३. तिलोयपण्णत्ती, चौथा महाधिकार, गाथा ४५१।

४. वही, गाथा ४५२।

विधानका यद्यपि बहुत अंशोंमें असर भी हुआ। लेकिन धीरे-धीरे ऐसे अपराधी लोगोंकी संख्या बढ़ती ही गई। साथ ही उनमें कुछ धृष्टता भी आने लगी। तब इस दंडविधानको निरुपयोगी समझकर इससे कुछ कठोर "मा[1]" नामक दंडविधान तैयार किया गया। अर्थात् खेद प्रकाश करने मात्रसे जब लोगोंने अधिक सं[illegible] साधन-सामग्रीका संचय करना नहीं छोड़ा, तो उन्हें इस अनुचित प्रवृत्तिसे शक्तिपूर्वक रोका जाने लगा। [illegible] जब इस दंडविधानसे भी ऐसे अपराधी लोगोंको बाढ़ न घटी तो फिर 'धिक्[2]' नामका बहुत ही कठोर दंड-विधान लागू कर दिया गया। अर्थात् ऐसे लोगोको उस समयकी सामाजिक श्रेणीसे बहिष्कृत किया जाने लगा, लेकिन यह दंडविधान भी जब असफल होने लगा, साथ ही इसके द्वारा ऊँच और नीचके भेदकी कल्पना भी लोगोंके हृदयमें उदित हो गई तो इस विषम परिस्थितिमें राजा नाभिके पुत्र भगवान् ऋषभदेव इस पृथ्वीतल-पर अवतीर्ण हुए। इन्होंने बहुत ही गम्भीर चिन्तनके बाद एक ओर तो कर्मयुगका प्रारम्भ[3] किया अर्थात् तत्कालीन मानव-समाजमें वर्णव्यवस्था कायम करके परस्पर सहयोगकी भावना भरते हुए उसको जीवन-संचालन-के लिए यथायोग्य असि[4], मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य आदि कार्योंके करने की प्रेरणा की तथा दूसरी ओर लोगोंकी अनुचित प्रवृत्तिको रोकनेके लिए धार्मिक दंडविधान चालू किया। अर्थात् मनुष्योको स्वयं ही अपनी—क्रोध, मान, माया और लोभरूप-मानसिक दुर्बलताओंको नष्ट करने तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह स्वरूप प्रवृत्तिको अधिक-से-अधिक कम करनेका उपदेश दिया। जैन-मान्यताके अनुसार धर्मोत्पत्ति का आदि समय यही है।

धर्मोत्पत्तिके बारेमें जैन-मान्यताके अनुसार किये गये इस विवेचनसे इस निष्कर्षपर पहुँचा जा सकता है कि मानव-समाजमे व्यवस्था कायम करनेके लिए यद्यपि सर्वप्रथम पहले प्रजातंत्रके रूपमे और बादमें राजतंत्रके रूपमें शासनतंत्र ही प्रकाशमें आया था। परन्तु इसमे अधूरेपनका अनुभव करके भगवान ऋषभदेवने इसके साथ धर्मतंत्रको भी जोड़ दिया था। इस तरह शासनतंत्र और धर्मतंत्र ये दोनों तबसे एक दूसरेका बल पाकर फूलते-फलते हुए आज तक जीवित हैं।

यद्यपि भगवान ऋषभदेवने तत्कालीन मानव-समाजके सम्मुख धर्मके ऐहिक और आध्यात्मिक दो पहलू उपस्थित किये थे और दूसरे (आध्यात्मिक) पहलूको पहले से ही स्वयं अपना कर[5] जनताके सामने महान् आदर्श उपस्थित किया था—आज भी हमें भारतवर्षमें साधुवर्गके रूपमे धर्मके इस आध्यात्मिक पहलू-की झांकी देखनेको मिलती है। परन्तु आज मानव-जीवन जब धर्मके ऐहिक पहलूसे ही शून्य है तो वहाँपर उसके आध्यात्मिक पहलूका अंकुरित होना असम्भव ही है। यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मग्रंथोमें आजके समयमें मुक्ति प्राप्तिकी असंभवताको स्वीकार किया गया है। इसलिए इस लेखमे हम धर्मके ऐहिक पहलूपर ही विचार करेंगे।

धर्मके आध्यात्मिक पहलूका उद्देश्य जहाँ जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्ति पाकर अविनाशी अनन्तसुख

---

१. ति० प०, गाथा ४७४।
२. आदिपुराण, पर्व ३, श्लोक २१४, २१५।
३. वही, पर्व १६, श्लोक १८३।
४. (क) वही, पर्व १६, श्लोक १७९, १८०।
(ख) प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।।—स्वयंभूस्तोत्र।
५. विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ।।—स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ३, ४।

प्राप्त करना है वहाँ उसके (धर्मके) ऐहिक पहलूका उद्देश्य अपने वर्तमान जीवनको सुखी बनाते हुए आध्यात्मिक पहलूकी ओर अग्रसर होना है। यह तभी हो सकता है जब कि मानव-समाजमें सुख और शान्तिका साम्राज्य हो। कारण कि मनुष्य स्वभावसे समष्टिगत प्राणी है। इसलिए उसका जीवन मानव-समाजके साथ गुंथा हुआ है। अर्थात् व्यक्ति तभी सुखी हो सकता है जबकि उसका कुटुम्ब सुखी हो, कुटुम्ब भी तब सुखी हो सकेगा जबकि उसके मुहल्लेमें अमन-चैन हो। इसी क्रमसे आगे भी मुहल्लेका अमन-चैन ग्रामके अमन-चैनपर, ग्रामका अमन-चैन प्रान्तके अमन-चैनपर और प्रान्तका अमन-चैन देशके अमन-चैनपर ही निर्भर है तथा आज तो प्रत्येक देशके ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो चुके हैं कि एक देशका अमन-चैन दूसरे देशके अमन-चैनपर निर्भर हो गया है। यही कारण है कि आज दुनियाके विशेषज्ञ विश्व-संघकी स्थापनाकी बात करने लगे हैं, लेकिन विश्वसंघ तभी स्थापित एवं सार्थक हो सकता है जबकि मानव अपनी क्रोध, मान, माया और लोभरूप मानसिक दुर्बलताओंको नष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझ ले। साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहताको अपने जीवनमें समाविष्ट कर ले। इसके बिना न तो विश्वसंघकी स्थापना हो सकती है और न दुनियामें सुखशान्तिका साम्राज्य ही कायम हो सकता है। महात्मा गाँधीजीने विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिए इसी बातको आज विश्वके सामने रखा है, परन्तु यह विश्वका दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य अभी इस ओर नही है।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेवने जिस धर्मको आत्मकल्याण और विश्वमें व्यवस्था कायम करनेके लिए चुना था, वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंसे शून्य मानसिक पवित्रता तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता विशिष्ट बाह्यप्रवृत्ति स्वरूप है। हम देखते है कि आज भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है और भविष्यमें तो मानव-समष्टिमें मानवताके विकासका यही एक अद्वितीय चिह्न माना जायगा। भगवान ऋषभदेवसे लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरोंने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित इसी धर्मका प्रकाश एवं समुत्थान किया है। इनके अतिरिक्त आगे या पीछे जिन महापुरुषोंने धर्मके बारेमें कुछ शोध की है वह भी इससे परे नहीं हैं। अर्थात् न केवल भारतवर्षके, अपितु विश्वके किसी भी महापुरुष द्वारा जब कभी धर्मकी आवाज बुलन्द की गई, उस धर्मकी परिभाषा भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्मकी परिभाषासे भिन्न नही है। इसका कारण यह है कि एक ही देशमें रहनेवाली भिन्न-भिन्न मानवसमष्टियोंकी तो बात ही क्या, दुनियाके किसी भी कोनेमें रहने वाले मनुष्योंकी जीवनसम्बन्धी आवश्यकताओंमें जब भेद नहीं किया जा सकता है तो उनके धर्ममें भेद करना मानवसमष्टिके साथ घोर अन्याय करना है। इसलिए धर्मके जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, क्रिश्चियन इत्यादि जो भेद किये जाते है, ये सब किसी हालतमें धर्मके भेद नही माने जा सकते हैं। धर्मरूप वस्तु तो इन सबके अन्दर एक रूप ही मिलेगी और हमें इनके अन्दर जो कुछ भेद दिखलाई देता है वह भेद या तो धर्मका प्रतिपादन करने या उसके प्राप्त करनेके तरीकोंका है या फिर वह अधर्म ही कहा जायगा।

इस तरह अपने जीवनको सुख-शान्तिमय बनानेके उद्देश्यसे मानव-समष्टिमें सुख-शान्तिका वातावरण लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यको जिस प्रकार अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक दुर्बलताओंको कम करना तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रहस्वरूप प्रवृत्तिको रोकना आवश्यक है उसी प्रकार परस्पर सौहार्द्र, सहानुभूति और सहायता आदि बातें भी आवश्यक हैं। इसलिए इन सब बातोंका समावेश भी धर्मके ही अन्दर किया गया है। इसके अतिरिक्त अपने जीवनको सुखी बनानेमें शारीरिक स्वास्थ्यको भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य-सम्पादनके लिए जो नियम-उपनियम उपयोगी सिद्ध होते

है उन्हें भी जैन-मान्यताके अनुसार धर्मकी कोटिमें रखा गया है। जैसे पानी छानकर पीना, रात्रिमें भोजन नहीं करना, मद्य, मांस और मधुका सेवन नही करना, असावधानीसे तैयार किया हुआ भोजन नही करना, भोजनमें ताजा और ससत्त्व आटा, चावल, साग-फल आदिका उपयोग करना, उपवास या एकाशन करना, उत्तम संयम करना आदि इन सब प्रवृत्तियोंको धर्मरूप ही मान लिया गया है तथा ऐसी प्रवृत्तियोंको अधर्म या पाप मान लिया गया हैं, जिनके द्वारा साक्षात् या परंपरासे हमारे शारीरिक स्वास्थ्यको हानि पहुँचनेकी सम्भावना हो या जो हमारे जीवनको लोकनिंद्य और कष्टमय बना रही हों। जुआ खेलना, शिकार खेलना और वेश्यागमन आदि प्रवृत्तियाँ इस अधर्मकी ही कोटिमें आ जाती है। जैन मान्यताके अनुसार अभक्ष्यभक्षण-को भी अधर्म कहा गया है और अभक्ष्यकी परिभाषामें उन चीजोंको सम्मिलित किया गया है, जिनके खानेसे हमें कोई लाभ न हो अथवा जिनके तैयार करनेमें या खानेमें हिंसाका प्राधान्य हो अथवा जो प्रकृतिविरुद्ध हों या लौकिक दृष्टिसे अनुपसेव्य हों। जैन मान्यताके अनुसार अधिक खाना भी अधर्म है और अनिच्छापूर्वक कम खाना भी अधर्म है। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवनकी प्रत्येक प्रवृत्तिको जैन-मान्यतामें धर्म और अधर्म-की कसौटीपर कस दिया गया है। आज भले ही पचड़ा कहकर इन सब बातोंके महत्त्वको कम करनेकी कोशिश की जाय, परन्तु इन सब बातोंकी उपयोगिता स्पष्ट है। पूज्य गाँधीजीका भोजनमें हाथ-चक्कीसे पिसे हुए ताजे आटेका और हाथसे कूटे गये चावलका उपयोग करनेपर जोर देना तथा प्रत्येक व्यक्तिको अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आवश्यकता, सादगी, स्वच्छता, सच्चाई आदि बातोंपर ध्यान रखनेका उपदेश देना इन बातोंकी उपयोगिताका ही दिग्दर्शन है।

इस प्रकार जैन समाज जहाँ इस बातपर गर्व कर सकती है कि उसकी मान्यतामें मानव-जीवनको छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक प्रवृत्तिको धर्म और अधर्मकी मर्यादामें बाँधकर विश्वको सुपथपर चलनेके लिए सुगमता पैदा की गई है, वहाँ उसके लिए यह बड़े सन्तापकी बात है कि इन सब बातोंका जैन समाजके जीवनमें प्रायः अभाव-सा हो गया है और दिन-प्रतिदिन होता जा रहा है तथा जैन समाजकी क्रोधादि कषायरूप परिणति और हिंसादि पापमय प्रवृत्ति आज शायद ही दूसरे समाजोंकी अपेक्षा कम हो। जो कुछ भी धार्मिक प्रवृत्ति आज जैन समाजमें मौजूद है वह इतनी अव्यवस्थित एवं अज्ञानमूलक हो गई है कि उस प्रवृत्तिको धर्मका रूप देनेमें संकोच होता है।

जैन समाजमें पूर्वोक्त धर्मको अपने जीवनमें न उतारनेकी यह एक बुराई तो वर्तमान है ही, इसके अतिरिक्त दूसरी बुराई जो जैन समाजमें पाई जाती है, वह है खाने-पीने इत्यादिके छुआ-छूतके भेद की। जैन समाजमें वह व्यक्ति अपनेको सबसे अधिक धार्मिक समझता है, जो खाने-पीने आदिमें अधिक-से-अधिक छुआ-छूतका विचार रखता हो। परन्तु भगवान ऋषभदेवने द्वारा स्थापित और शेष तीर्थंकरों द्वारा पुनरुज्जीवित धर्ममें इस प्रकारके छुआछूतको कतई स्थान प्राप्त नही है। कारण कि धर्म मानव-मानवमें भेद करना नहीं सिखलाता है और यदि किसी धर्मसे ऐसी शिक्षा मिलती हो तो उसके बराबर अधर्म दुनियामें दूसरा कोई नही हो सकता। हम गर्वपूर्वक कह सकते है कि जैन तीर्थंकरो द्वारा प्रोक्त धर्म न केवल राष्ट्रधर्म ही हो सकता है, अपितु वह विश्वधर्म कहलानेके योग्य है। परन्तु छुआछूतके इस संकुचित दायरेमें पड़कर वह एक व्यक्तिका भी धर्म कहलाने योग्य नही रह गया है, क्योंकि यह भेद न केवल राष्ट्रीयताका ही विरोधी है, बल्कि मानवताका भी विरोधी है और जहाँ मानवताको स्थान नही, वहाँ धर्मको स्थान मिलना असम्भव ही है।

यद्यपि ये सब दोष जैन समाजके समान अन्य धार्मिक समष्टियोंमें भी पाये जाते है, परन्तु प्रस्तुत

संस्कृति और समाज

संस्कृति और समाज

संस्कृति और समाज

हुये उद्देश्यकी सिद्धिमें जब बाह्य सामग्रीका कोई उपयोग नहीं, तब भगवदाराधनमें बाह्य सामग्रीका समावेश क्यों किया गया है ? इस आक्षेपका यथोचित समाधान न मिलनेके कारण जैनियोंमें द्रव्यपूजाके बजाय मूर्ति-मान्यताके विरोधी पंथ बन गये हैं ।

तात्पर्य यह कि मूर्तिकी मान्यताको अनिवार्य रूपसे प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें स्थान है । यह निश्चित है कि मूर्तिमान्यताके विरोधी स्वयं मूर्तिकी मान्यताको छोड नहीं सकते, बल्कि आवश्यकतानुसार उसका उपयोग ही करते रहते हैं । मूर्ति मुख्य वस्तुका प्रतिनिधि होती है, जो हमको मुख्य वस्तुके किसी निश्चित उद्दिष्ट स्वरूप तक पहुँचानेमें समर्थ है । किसी वस्तुका प्रतिनिधि आवश्यकता व उद्देश्यके अनुकूल सचेतन व अचेतन दोनों पदार्थ हो सकते हैं । एक वस्तुके समझनेमें जो दृष्टान्त वगैरहका उपयोग किया जाता है उससे मूर्ति मान्यताका अकाट्य समर्थन होता है । परन्तु द्रव्यपूजाके विषयमें कई तरहके आक्षेप उठाये जा सकते हैं, जिनका समाधान हो जानेपर ही द्रव्यपूजा उपयोगी मानी जा सकती है । नीचे सम्भवित आक्षेपोंके समाधान करनेका ही प्रयत्न किया जाता है ।

आक्षेप १—जबकि भगवानमें इच्छाका सर्वथा अभाव है तो उनके उद्देश्यसे मूर्तिके समक्ष मंत्रोच्चारण-पूर्वक नाना उत्तमोत्तम पदार्थ रख देनेपर भी वे उनकी तृप्तिके कारण नहीं हो सकते, मूर्ति तो स्वयं अचेतन पदार्थ है, इसलिये उनके उद्देश्यमें इन पदार्थोंके अर्पण करनेकी भावना ही पूजकके हृदयमें पैदा नहीं हो सकती और न वह इस अभिप्रायसे ऐसा करता ही है । इसलिये भगवानकी पूजा अष्टद्रव्यसे (द्रव्यपूजा) नहीं करनी चाहिए ।

इस आक्षेपका समाधान कई प्रकारसे किया जाता है । परन्तु वे प्रकार सन्तोषजनक नहीं कहे जा सकते । जैसे—

समा० १—जिनेन्द्र भगवान तृषा आदि दोषोंके विजयी हैं । इसलिये वे हमारे तृषा आदि दोषोंके नष्ट करनेमें सहायक हों, इस उद्देश्यसे पूजक उनकी मूर्तिके समक्ष अष्टद्रव्य अर्पण करता है ।

आलोचना—यह तो माना जा सकता है कि जिनेन्द्र भगवान तृषा आदि दोषोंके विजयी है, परन्तु उनको अष्टद्रव्य चढ़ा देने मात्रसे हमारे दोष भी नष्ट हो जायेंगे, यह बात तर्क और अनुभवकी कसौटीपर नहीं टिक सकती ।

समाधान २—जिनेन्द्र भगवानको अष्टद्रव्य इसलिए चढ़ाये जाते हैं कि इसके द्वारा पूजकमें बाह्य वस्तुओंसे रागपरिणति घटकर त्यागबुद्धि पैदा हो जाती है जो कि तृषा आदि दोषोंके नाश करनेका प्रधान कारण है ।

आलोचना—यह समाधान भी ठीक नहीं, कारण कि शास्त्रोंका स्वाध्याय विद्वानोंके उपदेश व जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका स्मरण आदि ही बाह्य वस्तुमें हमारी रागपरिणति घटाने व त्यागबुद्धि पैदा करनेके यथोचित कारण हो सकते हैं ।

समाधान ३—दानकी परिपाटी चलानेके लिए यह एक निमित्त है ।

आलोचना—ऐसे निरर्थक दान (जिनका कि कोई उपयोग नहीं) की कोई सराहना नहीं करेगा । वास्तविक दान बाह्य वस्तुओंसे अपनी ममत्वबुद्धिको नष्ट करना हो सकता है । यह तो हम करते नहीं । और न इस तरहसे यह नष्ट की भी जा सकती है । यह तो शास्त्रस्वाध्याय, उपदेश व जिनेन्द्र भगवानके गुण-स्मरण आदिसे ही होगी, ऐसा पहले बतलाया जा चुका है । व्यावहारिक दान दूसरे प्राणियोंकी आवश्यकताओं-

हमारी द्रव्य-पूजाका रहस्य

पूजाका अर्थ भक्ति, सत्कार या सम्मान होता है और वह छोटों द्वारा बड़ों (पूज्यों) के प्रति प्रकट किया जाता है। इसका मूल कारण पूजकको अपनी लघुता और पूज्यकी महत्ताको स्वीकार करना है तथा उद्देश्य अपनी लघुताको नष्ट कर पूज्य जैसी महत्ताकी प्राप्तिमे प्रयत्न करना है। इसके प्रकट करनेके साधन मन, वचन और काय तो हैं ही, परन्तु कही-कहीं बाह्य सामग्री भी इसमें साधनभूत हो जाया करती हैं। जहाँ पर मन, वचन और कायके साथ-साथ बाह्य सामग्री इसमें साधनभूत हो, उसका नाम द्रव्यपूजा है तथा जहाँ केवल मन, वचन और कायसे ही भक्ति-प्रदर्शन किया जाय उसे भावपूजा समझना चाहिए। वैसे जो मनके द्वारा भक्तिप्रदर्शन भावपूजा तथा वचन और कायके द्वारा भक्तिप्रदर्शन द्रव्यपूजा कही जा सकती है, परन्तु यहाँपर इस प्रकारकी द्रव्यपूजा और भावपूजाकी विवक्षा नही है। शास्त्रोंमें जो द्रव्यपूजा और भावपूजा-का उल्लेख आता है वह क्रमसे बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा और अनपेक्षामें ही आता है।

उल्लिखित द्रव्यपूजाका लोकव्यवहारमें समावेश तो परंपरागत कहा जा सकता है। अपनेसे बड़े पुरुषो-को उनकी प्रसन्नताके लिये उत्तमोत्तम सामग्री भेंट करना शिष्टाचारमे शामिल है। भगवदाराधनमे भी कबसे इसका उपयोग हुआ, इसकी गवेषणा यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिसे की जा सकती है। लेकिन यहाँपर इसकी आवश्यकता नही है, यहाँ तो सिर्फ इस बातको प्रकट करना है कि हमारे यहाँ ईश्वरोपासनामे द्रव्यपूजाका जो प्रकार है वह किस अर्थको लिये हुए है। यद्यपि मेरे विचारोंके अनुसार शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख तो जहाँ तक है, नही मिलता है। परन्तु पूजापाठोंके अवतरण, अभिषेक व जयमाला आदि भागोंमें, मेरे इन विचारोंका आभास जरूर है। और फिर यह तो ध्यानमें रखना ही चाहिये कि जो विचार युक्ति और अनुभव विरुद्ध नही, वे शास्त्रबाह्य नही कहे जा सकते। इसी विचारसे मैं अपने विचारोंको प्रकट करनेके लिये बाध्य हुआ हूँ।

शास्त्रोंमें द्रव्यपूजाका अष्टद्रव्यसे करनेका विधान पाया जाता है और हमारा श्रद्धालु समाज बिना किसी तर्क-वितर्कके निःसंकोच अर्हन्त, सिद्ध, गुरु, शास्त्र, धर्म, व्रत, रत्नत्रय, तीर्थस्थान आदिकी पूजा करते समय निश्चित अष्टद्रव्योंको उपयोगमे लाता है। समाजके उदार हृदयमे यह विचार ही पैदा नही होता कि ये वस्तुयें जिसके लिये अर्पण की जा रही है वह जड है या चेतन है अथवा आत्माकी अवस्थाविशेष है। अरहंत, सिद्ध, शास्त्र, धर्म, व्रत, रत्नत्रय व तीर्थस्थानोको जलादि अष्टद्रव्यका अर्पण करना बुद्धिगम्य कहा जा सकता है या नही ? परन्तु तर्कशील लोगोंने इसके ऊपर हमेशासे आक्षेप उठाये है और वे आज भी उठाते चले जा रहे हैं। उन आक्षेपोंका यथोचित समाधान न होनेके कारण ही एक संप्रदायमें मूर्तिमान्यताके विरोधी दलोंका आविष्कार हुआ है। जैनियोंके श्वेताम्बर सम्प्रदायमे ढूंढिया पंथ और दिगम्बर सम्प्रदायमे तारण पंथ इन आक्षेपोंके समाधान न होनेके ही फल हैं। केवल जैनियोंमे ही नही, जैनेतरोंमे भी इस प्रकारके पथ कायम हुए हैं, परन्तु यह संभव है कि जैनेतरोंमें विरोधके कारण जैनियोंसे भिन्न है।

कुछ भी हो, परन्तु जैन सिद्धान्त इस बातको नही मानता कि जो द्रव्य भगवानके लिये अर्पण किया जाता है वह उनकी तृप्तिका कारण होता है, कारण कि उनमे इच्छाका सर्वथा अभाव है। इसलिये कोई भी बाह्य वस्तु उनकी तृप्तिका कारण नही हो सकती, उनकी तृप्ति तो स्वाभाविक ही है। इसलिये अपने विचारों व आचरणोंको पवित्र व उन्नत बनानेके लिये भगवानके गुणोंका स्मरण (भावपूजा) ही पर्याप्त है। भगवान-के गुणस्मरणमें मूर्ति सहायक है, मूर्तिको देखकर गुणस्मरणमे हृदयका झुकाव सरलतासे हो जाता है। इसलिये भगवानके गुणोंका स्मरण करते समय मूर्तिका अवलम्बन युक्ति और अनुभव विरुद्ध नही, परन्तु ऊपर बतलाये

की यथाशक्ति पूर्ति करना कहा जाता है। जिनेन्द्र भगवान कृतकृत्य है उनको कोई ऐसी आवश्यकता नहीं, जिसकी पूर्ति हमारे अष्टद्रव्यके अर्पण करनेसे होती हो, इसलिए ऐसा दान निरर्थक ही माना जायगा।

समाधान ४—भगवानके गुण स्मरणमें बाह्य सामग्रीसे सहायता मिलती है, इसलिये पूजक भगवानको अष्टद्रव्य अर्पण करता है।

आलोचना—गुणस्मरणका अवलम्बन मूर्ति तो है ही तथा स्तोत्रपाठ वगैरहसे गुण-स्मरण किया जाता ही है, बाह्य सामग्रीकी उपादेयता इसमें कुछ भी नहीं है। बल्कि जब पूजक भगवानके लिये अष्टद्रव्य अर्पण करता है तो द्रव्यपूजा यह उनकी वीतरागताको नष्ट कर उनको सरागी सिद्ध करनेकी ही कोशिश है।

समाधान ५—पूजक भक्तिके आवेशमे यह सब किया करता है, इसका ध्यान इसकी हेयोपादेयता तक पहुँचता ही नहीं और न भक्तिमें यह आवश्यक ही है, इसलिये द्रव्यपूजाके विषयमे किसी तरहके आक्षेपोंका उठाना ही व्यर्थ है।

आलोचना—भक्तिमे विवेक जाग्रत रहता है, विवेकशून्य भक्ति हो ही नही सकती। जहाँ विवेक नहीं है उसको भक्ति न कहकर मोह ही कहा जायगा, इसलिये यह समाधान भी उचित नही माना जा सकता है।

इसके पहले कि इस आक्षेपका समाधान किया जाय, दूसरे आक्षेपोपर भी दृष्टि डाल लेना आवश्यक है—

आक्षेप २—प्रतिमामे जब भगवानकी स्थापना की जा चुकी है और वह पूजकके सामने है तो फिर अवतरण, स्थापन और सन्निधिकरणकी क्या आवश्यकता रह जाती है ?

समाधान—जिनकी प्रतिमा पूजकके सामने है उनकी पूजा करते समय अवतरण, स्थापन और सन्निधिकरण नही करना चाहिये, लेकिन जिनकी पूजा उनकी प्रतिमाके अभावमे भी यदि पूजक करना चाहता है तो उनकी अतदाकारस्थापना पुष्पोंमे कर लेना आवश्यक है, इसलिये अवतरण स्थापना और सन्निधिकरणकी क्रिया करनेका विधान बतलाया गया है।

आलोचना—एक तो यह कि किन्ही भी भगवानकी पूजा करते समय—चाहे उनकी प्रतिमा सामने हो, या न हो—समान रूपसे अवतरण आदि तीनो क्रियायें की जाती है, इसलिये बिना प्रबल आधारके यह मानना अनुचित है कि जिनकी प्रतिमा न हो, उनकी पूजा करते समय ही पुष्पोमे अतदाकारस्थापनाके लिए अवतरण आदि क्रियायें करनी चाहिये।

दूसरे यह कि जब पूजक भावोंकी स्थिरताके लिए केवल भगवानकी पुष्पोमे अतदाकारस्थापना करता है, तो इतना अभिप्राय स्थापन और सन्निधिकरणमेंसे किसी एक क्रियासे ही सिद्ध हो सकता है। इन दोनोंमेंसे कोई एक तथा अवतरणकी क्रिया निरर्थक ही मानी जायगी। इस समाधानको माननेसे स्थापन और सन्निधिकरण दोनोंका एक स्थानमे प्रयोग लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे भी अनुचित मालूम पडता है। लोकव्यवहारमें जहाँ समानताका व्यवहार है वहाँ तो पहले "आइये बैठिये" कहकर, "यहाँ पासमे बैठिये" ऐसा कहा जा सकता है परन्तु अपनेसे बडोंके प्रति ऐसा व्यवहार कभी नही किया जायगा।

बहुतसे लोग "मम सन्निहितो भव" इस वाक्यका अर्थ करते हैं "हे भगवान मेरे हृदयमें विराजो"। लेकिन यह अर्थ भी ठीक मालूम नही पडता है, कारण कि एक तो इधर हम पुष्पोंमें भगवानका आरोप कर रहे हैं और उधर उनको हृदयमे स्थान दे रहे है ये दोनो बाते विरोधी है। दूसरे पूजक हृदयमे स्थापित

भगवानको लक्ष्य करके द्रव्य नहीं चढ़ाता, उसका लक्ष्य तो उस समय प्रतिमाकी ओर ही रहता है। इसलिये दूसरे आक्षेपका भी समाधान ठीक-ठीक नहीं होता है।

आक्षेप ३—भगवान क्या हमारे बुलानेसे आते हैं और हमारे विसर्जन करनेपर चले जाते हैं ? यदि हाँ, तो जैन सिद्धान्तसे इसमे जो विरोध आता है उसका क्या परिहार होगा ? यदि नहीं, तो फिर अवतरण व विसर्जन करनेका क्या अभिप्राय है ?

आक्षेप ४—आजकल जो प्रतिमायें पायी जाती हैं उनको यदि हम अरहन्त व सिद्ध अवस्थाकी मानते हैं तो इन अवस्थाओंमें अभिषेक करना क्या अनुचित नही माना जायगा ? यह आक्षेप अभी थोड़े दिन पहले किसी महाशयने जैनमित्रमें भी प्रकट किया है।

ये चारो आक्षेप बडे महत्त्वके हैं, इसलिये यदि इनका समाधान ठीक तरहसे नहीं हो सकता है, तो निश्चित समझना चाहिये कि हमारी द्रव्यपूजा तर्क एवं अनुभवसे गम्य न होनेके कारण उपादेय नही हो सकती है। परन्तु उद्देश्यकी सफलताके लिये रत्नत्रयवाद, पदार्थोंकी व्यवस्थाके लिए निक्षेपवाद तथा उनके ठीक-ठीक ज्ञानके लिए प्रमाणवाद और नयवाद तथा अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद आदिका तर्क और अनुभवपूर्ण व्यवस्थापक जैनधर्म इस विषयमें अधूरा ही रहेगा, यह एक आश्चर्यकी बात होगी। इसलिये मेरे विचारसे जैन सिद्धान्तानुसार द्रव्यपूजाका रहस्य होना चाहिये, वह नीचे लिखा जाता है।

द्रव्यपूजा निम्नलिखित सात अंगोंमें समाप्त होती है—१ अवतरण, २ स्थापन, ३ सन्निधिकरण, ४ अभिषेक, ५ अष्टक, ६ जयमाला और ७ विसर्जन। शान्तिपाठ व स्तुतिपाठ जयमालाके बाद उसीका एक अंग समझना चाहिये। यद्यपि अभिषेककी क्रिया हमारे यहाँ अवतरणके पहलेकी जाती है। परन्तु यह विधान शास्त्रोक्त नही। शास्त्रोंमें सन्निधिकरणके बाद ही चौथे नंबर पर अभिषेककी क्रियाका विधान मिलता है। द्रव्यपूजाके ये सातों अंग हमको तीर्थंकरके गर्भसे लेकर मुक्ति पर्यन्त माहात्म्यके दिग्दर्शन कराने, धार्मिक व्यवस्था कायम रखने व अपना कल्याणमार्ग निश्चित करनेके लिये हैं—ऐसा समझना चाहिये।

यह निश्चित बात है कि ससारमें जिसका व्यक्तित्व मान्य होता है वही व्यक्ति लोकोपकार करनेमें समर्थ होता है, उसीका प्रभाव लोगोंके हृदयको परिवर्तित कर सकता है, अतएव तीर्थंकरके गर्भमें आनेके पहलेसे उनके विषयमे असाधारण घटनाओंका उल्लेख शास्त्रोंमें पाया जाता है। १५ मास असंख्य रत्नोंकी वृष्टि, जन्म समय पर १००८ बडे-बडे कलशों द्वारा अभिषेक आदि क्रियायें उनके आश्चर्यकारी प्रभावकी द्योतक नहीं तो और क्या हैं ? वर्तमानमे हमलोग भी उनके व्यक्तित्वको समझनेके लिये तथा आचार्यों द्वारा शास्त्रोंमें गूँथे हुए उनके उपदिष्ट कल्याणमार्गपर विश्वास करने व उसपर चलनेके लिए और "परंपरामे भी लोग कल्याणमार्गसे विमुख न हो जावे" इसलिए भी साक्षात् तीर्थंकरके अभावमें उनकी मूर्ति द्वारा उनके जीवनकी असाधारण घटनाओं व वास्तविकताओंका चित्रण करनेका प्रयत्न करें, यही द्रव्यपूजाके विधानका अभिप्राय है। हमारा यह प्रयत्न नित्य और नैमित्तिक दो तरहसे हुआ करता है। नैमित्तिक प्रयत्नमें तीर्थंकरके पंचकल्याणकोंका बड़े समारोहके साथ विस्तारपूर्वक चित्रण किया जाता है तथा प्रतिदिनका हमारा यह प्रयत्न संक्षेपसे आवश्यक क्रियाओंमें ही समाप्त हो जाता है।

१—हमारी द्रव्यपूजा नित्य प्रयत्नमें शामिल है। इसमें सबसे पहले अवतरणकी क्रिया की जाती है। इस समय पूजक यह समझकर कि तीर्थंकरपर्यायको धारण करनेके सन्मुख विशिष्ट पुण्याधिकारी देव स्वर्गसे अवरोहण करनेवाला है, प्रतिमामें तीर्थंकरके प्राग्रूपका दर्शन करता हुआ अपरिमित हर्षसे 'अत्र अवतर-अवतर' कहता हुआ पुष्प वर्षा करके अवतरण महोत्सव मनावे।

२—दूसरी क्रिया स्थापनकी है। इस समय पूजक यह समझकर कि तीर्थंकर माताके गर्भमें आ रहे हैं। प्रतिमामें गर्भप्रवेशोन्मुख तीर्थंकरके रूपको देखता हुआ बड़े आनन्दके साथ "अत्र तिष्ठ-तिष्ठ" कहता हुआ पुष्पवर्षा करके गर्भस्थिति-महोत्सव मनावे।

३—तीसरी क्रिया सन्निधिकरणकी है। जिस प्रकार तीर्थंकरका जन्म हो जानेपर अभिषेकके लिए सुमेरु पर्वतपर ले जानेके उद्देश्यसे इन्द्र उनको अपनी गोदमें लेता है उसी प्रकार इस क्रियाके करते समय पूजक यह समझकर कि "तीर्थंकरका जन्म हो गया है" प्रतिमामें जन्मके समयके तीर्थंकरकी कल्पना करता हुआ उनके जन्म-अभिषेककी क्रिया सम्पन्न करनेके लिये "मम सन्निहितो भव-भव" कहकर पुष्पवर्षा करते हुए प्रतिमाको यथास्थानसे उठाकर अपनी गोदीमें लेता हुआ बड़े उत्साहके साथ सन्निधिकरण-महोत्सव मनावे।

इसके अनन्तर वह कल्पित सुमेरु पर्वतकी कल्पित पाडुक शिलापर इस प्रतिमाको स्थापन करे।

४—चौथी क्रिया अभिषेककी है। इस समय पूजक घंटा, वादित्र आदिके शब्दोंके बीच मंगलपाठका उच्चारण करता हुआ बड़े समारोहके साथ प्रतिमाका अभिषेक करके तीर्थंकरके जन्माभिषेककी क्रिया सम्पन्न करें।

यह चारों क्रियायें तीर्थंकरके असाधारण महत्त्वको प्रकट करनेवाली है। इनके द्वारा पूजकके हृदयमें तीर्थंकरके असाधारण व्यक्तित्वकी गहरी छाप लगती है। इसलिये इनका समावेश द्रव्यपूजामे किया गया है। इसके बाद तीर्थंकरके गार्हस्थ्य जीवनमे भी कुछ उपयोगी घटनायें घटती है। परन्तु असाधारण व नियमित न होनेके कारण उनका समावेश द्रव्यपूजामे नही किया गया है।

५—यह क्रिया अष्टद्रव्यके अर्पण करनेकी है। पूजकका कर्त्तव्य है कि वह इस समय प्रतिमामें तीर्थंकरको निर्ग्रंथ-मुनि-अवस्थाकी कल्पना करके आहारदानकी प्रक्रिया सम्पन्न करनेके लिए सामग्री चढावें। तीर्थङ्करकी निर्ग्रंथ-मुनि-अवस्थामें इसी तरहकी पूजा उपादेय कही जा सकती है। इसलिए बाह्यसामग्री चढानेका उपदेश शास्त्रोंमें पाया जाता है। इस क्रियाके द्वारा पूजकके हृदयमे पात्रोंके लिए देनेकी भावना पैदा हो। इस उद्देश्यसे ही इस क्रियाका विधान किया गया है।

किसी समय हम लोगोमे यह रिवाज चालू था कि जो भोजन अपने घर पर अपने निमित्तसे तैयार किया जाता था उसीका एक भाग भगवानकी पूजाके काममे लाया जाता था, जिसका उद्देश्य यह था कि हम लोगोंका आहार-पान शुद्ध रहे, परन्तु जबसे हम लोगोमे आहारपानकी शुद्धताके विषयमे शिथिलाचारी हुई, तभी से वह प्रथा बन्द कर दी गई है। और मेरा जहाँ तक खयाल है कि कही-कही अब भी यह प्रथा जारी है।

६—छठी क्रिया जयमालाकी है। जयमालाका अर्थ गुणानुवाद होता है। गुणानुवाद तभी किया जा सकता है जबकि विकास हो जावे। केवलज्ञानके हो जानेपर तीर्थंकरके गुणोंका परिपूर्ण विकास हो जाता है। इसलिए जयमाला पढ़ने समय पूजक प्रतिमामे केवलज्ञानी-सयोगी-अर्हन्त तीर्थंकरकी कल्पना करके उनके गुणोंका अनुवाद करे। यही उस समयकी पूजा है। तीर्थकरके सर्वज्ञपने, वीतरागपने और हितोपदेशपनेका भाव पूजकको होवे, यह उद्देश्य इस क्रियाके विधानका समझना चाहिए। यही कारण है कि जयमालाके बाद शान्तिपाठके द्वारा जगतके कल्याणकी प्रार्थना करते हुए पूजकको तदनन्तर प्रार्थना पाठके द्वारा आत्मकल्याणकी भावना भगवानको प्रतिमाके सामने प्रकट करनेका विधान पूजाविधिमें पाया जाता है। जयमाला पढनेके बाद अर्घ चढानेकी जो प्रवृत्ति अपने यहाँ पायी जाती है वह ठीक नही, क्योंकि अरन्त अवस्थामे तीर्थंकर कृतकृत्य सर्वाभिलाषाओंसे रहित होनेके कारण हमारे द्वारा अर्पित किसी भी वस्तुको ग्रहण नही करते हैं। अतएव केवल

गुणानुवाद करके ही पूजकको यह क्रिया समाप्त करना चाहिए। इसके बाद वह जगतके कल्याणकी भावनासे शान्तिपाठ व इसके बाद आत्मकल्याणकी भावनासे स्तुतिपाठ पढ़े। ये दोनों बातें तीर्थंकरकी अर्हन्त अवस्थामें ही सम्भव हो सकती हैं, कारण कि तीर्थंकरका हितोपदेशीपना इसी अवस्थामें पाया जाता है।

७—सातवीं क्रिया विसर्जनकी है। इस समय पूजक यह समझ कर कि भगवानकी मुक्ति हो रही है, अपरिमित हर्षसे पुष्पवर्षा करता हुआ विसर्जनकी क्रियाको समाप्त करे। जयमाला पढ़ते हुए भी यदि पुष्प-वर्षा की जाय तो अनुचित नहीं, क्योंकि उससे हर्षातिरेकका बोध होता है, परन्तु अर्घ चढ़ाना तो पूर्वोक्त रीतिसे अनुचित ही है।

यह हमारी द्रव्यपूजाकी विधिका अभिप्राय है। और पूजकको प्रतिदिन इसी अभिप्रायसे द्रव्यपूजामें भाग लेना चाहिये। ऐसी प्रक्रिया तर्क और अनुभव विरुद्ध नहीं कही जा सकती है। तथा जो चार आक्षेप पहले बतला आये हैं उनका समाधान भी इसके जरिये हो जाता है कारण कि प्रतिमा तीर्थंकरकी किसी अवस्था विशेषकी नहीं है वह तो सामान्यतौरपर तीर्थंकरकी प्रतिमा है, उसका अवलम्बन लेकर हमलोग अपने लिए उपयोगी तीर्थंकरकी स्वर्गावतरणसे लेकर मुक्तिपर्यन्तकी जीवनीका चित्रण किया करते हैं। यदि हम अव-तरण करते हैं तो तीर्थंकरके स्वर्गसे चय कर गर्भमें आते समय, यदि अभिषेक करते हैं तो तीर्थङ्करके जन्मके समय, यदि सामग्री चढाते है तो तीर्थङ्करकी साधु अवस्थामें, जिस तरह अवतरण द्वारा मुक्त तीर्थङ्करको हम बुलाते नहीं, उसी प्रकार विसर्जनके द्वारा भेजते भी नहीं, केवल विसर्जनके द्वारा मोक्ष कल्याणकका उत्सव मनाया करते है। इस तरह पूर्वोक्त आक्षेपोंके होनेकी सम्भावना भी हमारी द्रव्यपूजाको प्रक्रियामें नहीं रह जाती है।

ऐसा मान लेनेपर हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि सिद्धोंकी पूजा उनकी प्रतिमाका अवलम्बन लेकर केवल उनके स्वरूपका अनुवाद व चिन्तवनमात्रसे करे, तीर्थङ्करके समान अवतरणसे लेकर विसर्जन पर्यन्त-की क्रियाओंका समारोह न करें क्योंकि यह यह प्रक्रिया तो सिर्फ तीर्थङ्करको पूजामें ही सम्भव है। हमारे शास्त्र एक दूसरे प्रकारसे भी उस अभिप्रायकी पुष्टि करते है—

प्रतिमा जितनी बनाई जाती हैं वे सब तीर्थंकरोंकी बनायी जाती है और प्रतिष्ठा करते समय तीर्थंकर-के ही पाँच कल्याणकोंका समारोह किया जाता है, क्योंकि तीथकर ही मोक्षमार्गके प्रवर्तक है और उन्हीके जीवनमें वह असाधारणता (जिसका कि समारोह हम किया करते है) पायी जाती है। सामान्यकेवलियोंकी इस तरहसे प्रतिमाये प्रतिष्ठित नहीं की जाती, क्योंकि वे मोक्षमार्गके प्रवर्तक नहीं माने जाते और न उनका जीवन ही इतना असाधारण रहता है। केवल उन्होंने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति कर ली है। उनकी त्याग-वृत्तिका ध्येय भी उनके जीवनमें आत्मकल्याण रहा है, इसके लिये उनकी पूजा केवल सिद्ध-अवस्थाको लक्ष्य करके की जाती है। यही कारण है कि सिद्ध-प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा पंचकल्याणकरूपसे न करके केवल मोक्ष-कल्याणक रूपसे की जाती है। अरहन्त और सिद्धको छोड़कर अन्य किसीकी प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करनेका रिवाज हमारे यहाँ नहीं है। इसका कारण यह है कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये तीनों सामान्य तौरसे मुनि ही है। मुनियोंका अस्तित्व शास्त्रोंमें पंचमकालके अन्त तक बतलाया है, इसलिये हमारे कल्याणमार्गका उपदेश, जो साक्षात्‌रूपसे विद्यमान है, उसकी मूर्तिकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? क्योंकि मूर्ति-प्रतिष्ठाका उद्देश्य तो अपने कल्याणमार्गकी प्राप्ति ही है। पूजा करते समय पूजकका कर्त्तव्य यह अवश्य है कि वह जिन तीर्थङ्करकी प्रतिमा अपने समक्ष हो उनकी द्रव्यपूजा ऊपर कहे अभिप्रायको लेकर करे, जिनकी प्रतिमा न हो, उनकी पूजा यदि वह करना चाहता है तो उनकी कल्पना दूसरे तीर्थंकरकी

प्रतिमामें करके उनकी द्रव्यपूजा करे, क्योंकि जब हमारी पूजा ही कल्पनामय है तो दूसरे तीर्थङ्करकी प्रतिमामें दूसरे तीर्थङ्करकी कल्पना अपने भावोंकी विशुद्धिके लिये अनुचित नहीं कही जा सकती।

तथा जिस प्रकार सिद्धोंकी पूजा उनके स्वरूपका अनुवाद व चिंतनमात्र ही युक्ति-अनुभवगम्य कही जा सकती है उसी प्रकार शास्त्रकी पूजा केवल उसकी वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश रूप स्वाध्याय करना ही है। तीर्थक्षेत्रोंकी पूजा उनका अवलंबन लेकर भगवानके गुणोंकी भावना भानना, रत्नत्रयकी पूजा उनकी प्राप्तिका प्रयत्न करना, धर्म व व्रतोंकी पूजा उनका यथाशक्ति पालन करना समझना चाहिये। तीर्थंकरोंके समान उनकी अवतरणसे लेकर विसर्जन पर्यन्त सात प्रकारसे द्रव्यपूजा करना तो केवल हमारी तर्क और अनुभवकी शून्यताका द्योतक है। मुझे विश्वास है कि समाज इस तरहसे पूजाके रहस्यको समझ कर इसमें सुधार करनेका प्रयत्न करेगा।

साधुत्वमें नग्नताका महत्व

पृष्ठभूमि :

एक लेख "दिगम्बर जैन साधुओंका नग्नत्व" शीर्षकसे जैन जगत (वर्धा, फरवरी १९५५का अंक) में प्रकाशित हुआ है। लेख मूलतः गुजराती भाषाका था और "प्रबुद्ध जीवन" दमे० गुजराती पत्रमें प्रकाशित हुआ था। लेखके लेखक "प्रबुद्ध जीवन"के सम्पादक श्रीपरमानन्द कुंवरजी कापडिया हैं तथा जैनजगतवाला लेख उसी लेखका श्रीभंवरलाल सिंघी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है।

जैन जगतके संपादक भाई जमनालाल जैनने लेखकका जो परिचय सम्पादकीय नोटमें दिया है उसे ठीक मानते हुए भी हम इतना कहना चाहेंगे कि लेखकने दिगम्बर जैन साधुओंके नग्नत्वपर विचार करनेके प्रसंगसे साधुत्वमेंसे नग्नताकी प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका जो प्रयत्न किया है उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

इस विषयमे पहली बात तो यह है कि लेखकने अपने लेखमें मानवीय विकासक्रमका जो खाका खींचा है उसे बुद्धिका निष्कर्ष तो माना जा सकता है, परन्तु उसकी वास्तविकता निर्विवाद नही कही जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि सभ्यताके विषयमें जो कुछ लेखमें लिखा गया है उसमें लेखकने केवल भौतिकवादका ही सहारा लिया है, जबकि साधुत्वकी आधारशिला विशुद्ध अध्यात्मवाद है। अत भौतिकवादकी सभ्यताके साथ अध्यात्मवादमें समर्थित नग्नताका यदि मेल न हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

तीसरी बात यह है कि बदलती हुई शारीरिक परिस्थितियाँ हमे नग्नतासे विमुख तो कर सकती है, परन्तु सिर्फ इसी आधार पर हमारा साधुत्वमेंसे नग्नताके स्थानको समाप्त करनेका प्रयत्न सही नही हो सकता है।

साधुत्वका उद्देश्य

प्राय सभी संस्कृतियोंमें मानववर्गको दो भागोंमें बांटा गया है—एक तो जन-साधारणका वर्ग गृहस्थवर्ग और दूसरा साधुवर्ग। जहाँ जनसाधारणका उद्देश्य केवल सुखपूर्वक जीवनयापन करनेका होता है वहाँ साधुका उद्देश्य या तो जनसाधारणको जीवन के कर्त्तव्यमार्गका उपदेश देनेका होता है अथवा बहुतसे मनुष्य मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गका अवलंबन लिया करते है। जैन संस्कृतिमे मुख्यत. मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गके अवलंबनकी बात कही गयी है।

"जीवका शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाना" मुक्ति कहलाती है परन्तु यह दिगम्बर जैन संस्कृतिके अभिप्रायानुसार उसी मनुष्यको प्राप्त होती है जिस मनुष्यमें अपने वर्तमान जीवनकी सुरक्षाका आधारभूत शरीरकी स्थिरताके लिये भोजन, वस्त्र, औषधि आदि साधनोंकी अवाश्यकता शेष नही रह जाती है और ऐसे मनुष्यको साधुओंका चरमभेद स्नातक (निष्णात्) या जीवन्मुक्त नामसे पुकारा जाता है।

साधुत्वमे नग्नताको प्रश्रय क्यों ?

सामान्यरूपसे जैन संस्कृतिकी मान्यता यह है कि प्रत्येक शरीरमें उस शरीरसे अतिरिक्त जीवका अस्तित्व रहता है। परन्तु वह शरीरके साथ इतना घुला-मिला है कि शरीरके रूपमें ही उसका अस्तित्व समझमें आता है और जीवके अन्दर जो ज्ञान करनेकी शक्ति मानी गयी है वह भी शरीरका अंगभूत इन्द्रियों-

के सहयोगके बिना पंगु बनी रहती है, इतना ही नही, जीव शरीरके इतना अधीन हो रहा है कि उसके जीवनकी स्थिरता शरीरकी स्वास्थ्यमय स्थिरता पर ही अवलंबित रहती है। जीवकी शरीरावलंबनताका यह भी एक विचित्र फिर भी तथ्यपूर्ण अनुभव है कि जब शरीरमे शिथिलता आदि किसी किस्मके विकार पैदा हो जाते हैं तो जीवको क्लेशका अनुभव होने लगता है और जब उन विकारोंको नष्ट करनेके लिये अनुकूल भोजन आदिका सहारा ले लिया जाता है तो उनका नाश हो जानेपर जीवको सुखानुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि भोजनादि पदार्थ शरीरपर ही अपना प्रभाव डालते हैं परन्तु शरीरके साथ अनन्यमयी पराधीनताके कारण सुखका अनुभोक्ता जीव होता है।

दिगम्बर जैन संस्कृतिकी यह मान्यता है कि जीव जिस शरीरके साथ अनन्यमय हो रहा है उसकी स्वास्थ्यमय स्थिरताके लिये जबतक भोजन, वस्त्र, औषधि आदिकी आवश्यकता बनी रहती है तबतक उस जीवका मुक्त होना असभव है और यही एक कारण है कि दिगम्बर जैन संस्कृति द्वारा साधुत्वमे नग्नताको प्रश्रय दिया गया है। दूसरी बात यह है कि यदि हम इस बातको ठीक तरहसे समझ लें कि साधुत्वकी भूमिका मानव जीवनमे किस प्रकार तैयार होती है ? तो सम्भवतः साधुत्वमे नग्नताके प्रति हमारा आकर्षण बढ़ जायगा।

साधुत्वकी भूमिका

जीव केवल शरीरके ही अधीन है, सो बात नही है; प्रत्युत वह मनके भी अधीन हो रहा है और इस मनकी अधीनताने जीवको इस तरह दबाया है कि न तो वह अपने हितकी बात सोच सकता है और न शारीरिक स्वास्थ्यकी बात सोचनेकी ही उसमे क्षमता रह जाती है। वह तो केवल अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये अपने हित और शारीरिक स्वास्थ्यके प्रतिकूल ही आचरण किया करता है।

यदि हम अपनी स्थितिका थोडासा भी अध्ययन करनेका प्रयत्न करें तो मालूम होगा कि यद्यपि भोजन आदि पदार्थोंकी मनके लिये कुछ भी उपयोगिता नही है, वे केवल शरीरके लिये ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। फिर भी मनके वशीभूत होकर हम ऐसा भोजन करनेसे नहीं चूकते है जो हमारी शारीरिक प्रकृतिके बिल्कुल प्रतिकूल पडता है और जब इसके परिणामस्वरूप हमे कष्ट होने लगता है तो उसका समस्त दोष हम भगवान या भाग्यके ऊपर थोपनेकी चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार वस्त्र या दूसरी उपभोगकी वस्तुओंके विषयमें हम जितनी मानसिक अनुकूलताकी बात सोचते है उतनी शारीरिक स्वास्थ्यकी अनुकूलताकी बात नही सोचते। यहाँ तक कि एक तरफ तो शारीरिक स्वास्थ्य बिगडता चला जाता है और दूसरी तरफ मनकी प्रेरणासे हम उन्ही साधनोंको जुटाते चले जाते है जो साधन हमारे शारीरिक स्वास्थ्यको बिगाडनेवाले होते हैं। इतना ही नही, उन साधनोंके जुटानेमे विविध प्रकारकी परेशानीका अनुभव करते हुए भी हम परेशान नहीं होते बल्कि उन साधनोंके जुट जाने पर हम आनन्दका ही अनुभव करते है।

मनकी आधीनतामें हम केवल अपना या शरीरका ही अहित नही करते हैं, बल्कि इस मनकी अधीनताके कारण हमारा इतना पतन हो रहा है कि बिना प्रयोजन हम दूसरोका भी अहित करनेसे नहीं चूकते है और इसमे भी आनन्दका रस लेते हैं।

दिगम्बर जैन संस्कृतिका मुक्ति प्राप्तिके विषयमे यह उपदेश है कि मनुष्यको इसके लिए सबसे पहले अपनी उक्त मानसिक पराधीनताको नष्ट करना चाहिए और तब इसके बाद उसे साधुत्व ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि आजकल प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें उक्त मानसिक पराधीनताके रहते हुए ही प्राय. साधुत्व ग्रहण करने की होड़ लगी हुई है, परन्तु नियम यह है कि जो साधुत्व मानसिक पराधीनतासे छुटकारा पानेके

बाद ग्रहण किया जाता है वही सार्थक हो सकता है और उसीसे ही मुक्ति प्राप्त होनेकी आशा की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि उक्त मानसिक पराधीनताकी समाप्ति ही साधुत्व ग्रहण करनेके लिए मनुष्यकी भूमिका काम देती है। इसको (मानसिक पराधीनताकी समाप्तिको) जैन संस्कृतिमें सम्यग्दर्शन नामसे पुकारा गया है और क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम ये छह धर्म उस सम्यग्दर्शनके अंग माने गए हैं।

मानव-जीवनमें सम्यग्दर्शनका उद्भव

प्रत्येक जीवके जीवनकी सुरक्षा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्रमे प्रतिपादित दूसरे जीवोंके सहयोग पर निर्भर है। परन्तु मानव जीवनमें तो इसकी वास्तविकता स्पष्ट रूपमे दिखाई देती है। इसीलिए ही मनुष्यको सामाजिक प्राणी स्वीकार किया गया है, जिसका अर्थ यह होता है कि सामान्यतया मनुष्य कौटुम्बिक सहवास आदि मानव समाजके विविध संगठनोंके दायरेमें रहकर ही अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकता है। इसलिए कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, देश और विश्वके रूपमें मानव संगठनके छोटे-बडे जितने रूप हो सकते है उन सबको सगठित रखनेका प्रयत्न प्रत्येक मनुष्यको सतत करते रहना चाहिए। इसके लिये प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें "आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"का सिद्धान्त अपनानेकी अनिवार्य आवश्यकता है, जिसका अर्थ यह है कि "जैसा व्यवहार दूसरोंसे हम अपने प्रति नही चाहते हैं वैसा व्यवहार हम दूसरोंके साथ भी न करें और जैसा व्यवहार दूसरोंसे हम अपने प्रति चाहते हैं वैसा व्यवहार हम दूसरोंके साथ भी करें।"

अभी तो प्रत्येक मनुष्यकी यह हालत है कि वह प्राय: दूसरोंको निरपेक्ष सहयोग देनेके लिए तो तैयार ही नहीं होता है। परन्तु अपनी प्रयोजन सिद्धिके लिए प्रत्येक मनुष्य न केवल दूसरोसे सहयोग लेनेके लिए सदा तैयार रहता है। बल्कि दूसरोंको कष्ट पहुँचाने, उनके साथ विषमताका व्यवहार करने और उन्हें धोखेमे डालनेसे भी वह नही चूकता है। इतना ही नही, प्रत्येक मनुष्यका यह स्वभाव बना हुआ है कि अपना कोई प्रयोजन न रहते हुए भी दूसरोंके प्रति उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार करनेमे उसे आनन्द आता है।

जैन संस्कृतिका उपदेश यह है कि 'अपना प्रयोजन रहते न रहते कभी किसीके साथ उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार मत करो। इतना ही नहीं, दूसरोंको यथा-अवसर निरपेक्ष सहायता पहुँचानेको सदा तैयार रहो' ऐसा करनेसे एक तो मानव संगठन स्थायी होगा दूसरे प्रत्येक मनुष्यको उस मानसिक पराधीनतासे छुटकारा मिल जायेगा, जिसके रहते हुए वह अपनेको सभ्य नागरिक तो दूर मनुष्य कहलाने तकका अधिकारी नहीं हो सकता है।

अपना प्रयोजन रहते न रहते दूसरोंको कष्ट नही पहुँचाना, इसे ही क्षमाधर्म, कभी भी दूसरोंके साथ विषमताका व्यवहार नही करना व इसे ही मार्दव धर्म; कभी भी दूसरोंको धोखेमे नही डालना, इसे ही आर्जव धर्म; और यथा-अवसर दूसरोंको निरपेक्ष सहायता पहुँचाना, इसे ही सत्यधर्म समझना चाहिए। इन चारों धर्मोंको जीवनमें उतार लेनेपर मनुष्यको मनुष्य, नागरिक या सभ्य कहना उपयुक्त हो सकता है।

यह भी देखते हैं कि बहुत मनुष्य उक्त प्रकारसे सभ्य होते हुए भी लोभके इतने वशीभूत रहा करते हैं कि उन्हें सम्पत्तिके संग्रहमें जितना आनन्द आता है उतना आनन्द उसके भोगनेमें नहीं आता। इसलिए अपनी शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें वे बडी कंजूसीसे काम लिया करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य बिगड जाता है। इसी तरह दूसरे बहुतसे मनुष्योंकी प्रकृति इतनी लोलुप रहा करती है

कि वे संपत्तिका उपभोग आवश्यकतासे अधिक करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होते। इसलिए ऐसे मनुष्य भी अपना स्वास्थ्य बिगाड कर बैठ जाते हैं।

जैन संस्कृति बतलाती है कि भोजन आदि सामग्री शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए बड़ी उपयोगी है इसलिए इसमें कंजूसीसे काम नहीं लेना चाहिए। लेकिन अच्छी बातोंका अतिक्रमण भी बहुत बुरा होता है, अतः भोजनादि सामग्रीके उपभोगमे लोलुपता भी नही दिखलाना चाहिये, क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्यरक्षाके लिए भोजनादि जितने जरूरी हैं उतना ही जरूरी उनका शारीरिक प्रकृतिके अनुकूल होना और निश्चित सीमातक भोगना भी है। इसलिए शरीरके लिए जहां तक इनकी आवश्यकता हो, वहां तक इनके उपभोगमें कंजूसी नहीं करना चाहिए और इनका उपभोग आवश्यकतासे अधिक भी नहीं करना चाहिए।

आवश्यकता रहते हुए भोजनादि सामग्रीके उपभोगमें कंजूसी नही करना, इसे ही शौचधर्म और अनर्गल तरीकेसे उसका उपभोग नही करना इसे ही संयमधर्म समझना चाहिए।

इस प्रकार मानव जीवनमें उक्त क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्यधर्मोंके साथ शौच और संयम-धर्मोंका भी समावेश हो जानेपर सम्पूर्ण मानसिक पराधीनतासे मनुष्यको छुटकारा मिल जाता है और तब उस मनुष्य-को विवेकी या सम्यग्दृष्टि नामसे पुकारा जाने लगता है क्योंकि तब उस मनुष्यके जीवनमे न केवल "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"का सिद्धान्त समा जाता है, बल्कि वह मनुष्य इस तथ्यको भी हृदयंगम कर लेता है कि भोजनादिकका उपयोग क्यों करना चाहिये और किस ढंगसे करना चाहिये ?

सम्यग्दृष्टि मनुष्यकी साधुत्वकी ओर प्रगति

इस प्रकार मानसिक पराधीनताके समाप्त हो जानेपर मनुष्यके अन्तःकरणमें जो विवेक या सम्यग्दर्शन-का जागरण होता है उसकी वजहसे, वह पहले जो भोजनादिकका उपभोग मनकी प्रेरणासे किया करता था, अबसे आगे उनका उपभोग वह शरीरकी आवश्यकताओंको ध्यानमे रखते हुए ही करने लगता है।

इस तरह साधुत्वकी भूमिका तैयार हो जानेपर वह मनुष्य अपना भावी कर्त्तव्य-मार्ग इस प्रकार निश्चित करता है कि जिससे वह शारीरिक पराधीनतासे भी छुटकारा पा सके।

वह सोचता है कि 'मेरा जीवन तो शरीराश्रित है ही, लेकिन शरीरकी स्थिरताके लिये भी मुझे भोजन, वस्त्र, आवास और कौटुम्बिक सहवासका सहारा लेना पड़ता है, इस तरह मैं मानव सगठनके विशाल चक्करमे फँसा हुआ हूँ।'

इस डोरीको समाप्त करनेका एक ही युक्ति संगत उपाय जैन संस्कृतिमे प्रतिपादित किया गया है कि शरीरको अधिक-से-अधिक आत्म निर्भर बनाया जावे। इसके लिए (जैन संस्कृति) हमे दो प्रकारके निर्देश देती है—एक तो आत्मचिंतन द्वारा अपनी (आत्माकी) उस स्वावलम्बन शक्तिको जाग्रत करने की, जिसे अन्तराय-कर्मने दबोचकर हमारे जीवनको भोजनादिकके अधीन बना रखा है और दूसरा व्रतादिकके द्वारा शरीरको सबल बनाते हुए भोजनादिककी आवश्यकताओंको कम करनेका। इस प्रयत्नसे जैसे-जैसे शरीरके लिये भोजना-दिककी आवश्यकतायें कम होती जायँगी (याने शरीर जितना-जितना आत्म-निर्भर होता जायगा) वैसे-वैसे ही हम अपने भोजनमें सुधार और वस्त्र, आवास तथा कौटुम्बिक सहवासमे कमी करते जावेंगे जिससे हमें मानव संगठनके चक्करसे निकलकर (याने समष्टि गत जीवनको समाप्त कर) वैयक्तिक जीवन बितानेकी क्षमता प्राप्त हो जायगी।

आत्माकी स्वावलंबन शक्तिको जाग्रत करने और शरीर सम्बन्धी भोजनादिककी आवश्यकताओंकी

कम करनेके प्रयत्नोंको जैन संस्कृतिमें क्रमशः अन्तरंग और बाह्य दो प्रकारका तपधर्म तथा भोजनादिकमें सुधार और कमी करनेको त्यागधर्म कहा गया है।

साधु मार्गमें प्रवेश

जीवनमें तप और त्याग इन दोनों धर्मोंकी प्रगति करते हुए विवेक या सम्यग्दर्शन सम्पन्न मनुष्य जब जन साधारणके वर्गसे बाहर रहकर जीवन बितानेमें पूर्ण सक्षमता प्राप्त कर लेता है और शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये उसकी वस्त्र ग्रहणकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है तब वह नग्न दिगम्बर होकर दिगम्बर जैन संस्कृतिके अनुसार साधुमार्गमें प्रवेश करता है। नग्न दिगम्बर बनकर जीवन बितानेको दिगम्बर जैन संस्कृतिमें आकिंचन्य धर्म कहा गया है। आकिंचन्य शब्दका अर्थ है, पासमें कुछ नहीं रह जाना, अर्थात् अब तक मनुष्यने जो शरीर रक्षाके लिये वस्त्र, आवास, कुटुम्ब और जन साधारणसे सम्बन्ध जोड़ रखा था, वह सब उसने समाप्त कर दिया है केवल शरीरकी स्थिरताके लिये भोजनसे ही उसका सम्बन्ध रह गया है और भोजन ग्रहण करनेकी प्रक्रियामें भी उसने इस किस्मसे सुधार कर लिया है कि उसे पराश्रयताका लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता है। इतनेपर भी कदाचित् पराश्रयताका अनुभव होनेकी सम्भावना हो जाय तो पराश्रयता स्वीकार करनेकी अपेक्षा सन्यस्त होकर (समाधिमरण धारण करके) जीवन समाप्त करनेके लिये सदा तैयार रहता है। भोजनसे उसका सम्बन्ध भी तब तक रहता है जब तक कि शरीर रक्षाके लिये उसकी आवश्यकता बनी रहती है, इसलिये जब शरीर पूर्णरूपसे आत्म निर्भर हो जाता है तब उसका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और फिर शरीरकी यह आत्मनिर्भरता तब तक बनी रहती है जब तक कि जीवका उस शरीरसे सम्बन्धविच्छेद नहीं हो जाता है। शरीरका पूर्ण रूपसे आत्म निर्भर हो जानेसे मनुष्यका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जानेको आकिंचन्य धर्मकी पूर्णता कहते हैं और इस तरह आकिंचन्यधर्मकी पूर्णता हो जानेपर उसे साधु वर्गका चरमभेद स्नातक नामसे पुकारने लगते हैं। जैन संस्कृतिमें यही जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाता है। यह जीवन्मुक्त परमात्मा आयुकी समाप्ति हो जानेपर शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जानेके कारण जो अपने आपमें स्थिर हो जाता है यही ब्रह्मचर्य धर्म है और यही मुक्ति है। इस ब्रह्मचर्य धर्म अथवा मुक्तिकी प्राप्तिमें ही मनुष्यका साधुमार्गके अवलम्बनका प्रयास सफल हो जाता है।

यहाँपर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि दि० जैन संस्कृतिमें साधुओंको जन-साधारणके वर्गसे अलग परस्पर समूह बनाकर अथवा एकाकी वास करनेका निर्देश किया गया है। अत जब उन्हें भोजन-ग्रहण करनेकी आवश्यकता महसूस हो, तभी और सिर्फ भोजनके लिये ही जनसाधारणके सम्पर्कमें आना चाहिये। वैसे जनसाधारण चाहें, तो उनके पास पहुँच कर उनसे उपदेश ग्रहण कर सकते हैं।

अन्तिम निष्कर्ष

इस लेखमें साधुत्वके विषयमें लिखा गया है वह यद्यपि दि० जैन संस्कृतिके दृष्टिकोणके आधारपर ही लिखा गया है परन्तु यह समझना भूल होगी कि साधुत्वके विषयमें इससे भिन्न दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है कारण कि साधुत्व ग्रहण करते समय मनुष्यके सामने निर्विवाद रूपसे आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिको उत्तरोत्तर बढ़ाना और शरीरमें अधिकसे-अधिक आत्मनिर्भरता लाना ही एक मात्र लक्ष्य रहना उचित है। अतः किसी भी सम्प्रदायका साधु क्यों न हो, उसे अपने जीवनमें दिगम्बर जैनसंस्कृति द्वारा समर्थित दृष्टिकोण ही अपनाना होगा अन्यथा साधुत्व ग्रहण करनेका उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

वर्तमानमें सभी सम्प्रदायोंके साधु-जिनमें दि० जैन सम्प्रदायके साधु भी सम्मिलित हैं, साधुत्वके स्वरूप, उद्देश्य और उत्पत्तिक्रमकी नासमझीके कारण बिल्कुल पथभ्रष्ट हो रहे हैं। इसलिए केवल सम्प्रदाय विशेषके

साधुओंकी आलोचना करना यद्यपि अनुचित ही माना जायगा फिर भी जिस सम्प्रदायके साधुओंकी आलोचना की जाती है उस सम्प्रदायके लोगोंको इससे रुष्ट भी नहीं होना चाहिये कारण कि आखिर वे साधु किसी-न-किसी रूपमें पथभ्रष्ट तो रहते ही हैं अत: रुष्ट होनेकी अपेक्षा दोषोंको निकालनेका ही उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अच्छा होता, यदि भाई परमानन्द कुँवरजी कापड़िया साधुत्वमेंसे नग्नताकी प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका प्रयत्न न करके केवल दि० जैन साधुओंके अवगुणोंकी इस तरह आलोचना करते, जिससे उनका मार्ग-दर्शन होता।

प्रश्न—जिस प्रकार पीछी, कमण्डलु और पुस्तक पासमें रखनेपर भी दि० जैन साधु अकिंचन (निर्ग्रन्थ) बना रहता है उसी प्रकार वस्त्र रखनेपर भी उसके अकिंचन बने रहनेमें आपत्ति क्यों होना चाहिये ?

उत्तर—दि० जैन साधु कमण्डलु तो जीवनका अनिवार्य कार्य मलशुद्धिके लिए रखता है, पीछी स्थान शोधनके काममें आती है और पुस्तक ज्ञानवृद्धिका कारण है अत अकिंचन साधुको इनके पासमें रखनेकी छूट दि० जैन संस्कृतिमें दी गयी है परन्तु इन वस्तुओंको पासमें रखते हुए वह इनके सम्बन्धमें परिग्रही ही है, अपरिग्रही नहीं। इसी प्रकार जो साधु शरीर रक्षाके लिए अथवा सभ्य कहलानेके लिए वस्त्र धारण करता है तो उसे कम-से-कम उस वस्त्रका परिग्रही मानना अनिवार्य होगा।

तात्पर्य यह है कि जो साधु वस्त्र रखते हुए भी अपनेको साधुमार्गी मानते हैं या लोक उन्हें साधुमार्गी कहता है तो यह विषय दि० जैन संस्कृतिके दृष्टिकोणके अनुसार विवादका नहीं है क्योंकि दि० जैन संस्कृतिमें साधुत्वके विषयमें जो नग्नतापर जोर दिया गया है उसका अभिप्राय तो सिर्फ इतना ही है कि सवस्त्र साधुमें नग्न साधुकी अपेक्षा आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके विकास और शरीरकी आत्मनिर्भरताकी उतनी कमी रहना स्वाभाविक है जिस कमीके कारण उसे वस्त्र ग्रहण करना पड़ रहा है। इस प्रकार वस्त्र त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए वस्त्रका धारण करना निन्दनीय नहीं माना जा सकता है प्रत्युत वस्त्र-त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए भी नग्नताका धारण करना निन्दनीय ही माना जायेगा क्योंकि इस तरहके प्रयत्नसे साधुत्वमें उत्कर्ष होनेकी अपेक्षा अपकर्ष ही हो सकता है यही कारण है कि दिगम्बर जैनसंस्कृतिमें नग्नताको किसी एक हदतक साधुत्वका परिणाम ही माना गया है साधुत्वमें नग्नताको कारण नहीं माना गया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये कि साधुत्व ग्रहण करनेकी योग्यता रखनेवाले, पहले तीसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थानवर्ती मनुष्योंमें जब साधुत्वका उदय होता है तो उस हालतमें उनके पहले सातवाँ गुणस्थान ही होता है छठा गुणस्थान तो, इसके बादमें ही हुआ करता है इसका आशय यही है कि जब मनुष्यकी मानसिक परिणतिमें साधुत्व समाविष्ट हो जाता है तभी बाह्यरूपमें भी साधुत्वको अपनाते हुए वह नग्नताकी ओर उन्मुख होता है।

तात्पर्य यह है कि सप्तम गुणस्थानका आधार साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति है और षष्ठ गुणस्थानका आधार साधुत्वकी बहिर्मुख प्रवृत्ति है। साधुत्वकी ओर अभिमुख होनेवाले मनुष्यकी साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति पहले हो जाया करती है, इसके बाद ही जब वह मनुष्य बहि:प्रवृत्तिकी ओर झुकता है तब वस्त्रोंका त्याग करता है अत: यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साधुत्वका कार्य नग्नता है नग्नताका कार्य साधुत्व नहीं। यद्यपि नग्नता अंतरंग साधुत्वके बिना भी देखनेमें आती है परन्तु जहाँ अन्तरंग साधुत्वकी प्रेरणासे बाह्य वेशमें नग्नता को अपनाया जाता है वही सच्चा साधुत्व है।

प्रश्न—जब ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्यके सातवाँ गुणस्थान प्रारम्भमें सवस्त्र हालत

में ही हो जाया करता है और इसके बाद छठे गुणस्थानमें आनेपर वह वस्त्रको अलग करता है। तो इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सातवें गुणस्थानकी तरह आठवां आदि गुणस्थानोंका सम्बन्ध भी मनुष्यकी अन्तरंग प्रवृत्तिसे होनेके कारण सवस्त्र मुक्तिके समर्थनमें कोई बाधा नहीं रह जाती है और इस तरह दि० जैनसंस्कृतिका स्त्रीमुक्ति निषेध भी असंगत हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि सभी गुणस्थानोंका सम्बन्ध जीवकी अन्तरंग प्रवृत्तिसे ही है, परन्तु कुछ गुणस्थान ऐसे हैं जो अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ बाह्यवेशके आधारपर व्यवहारमें आने योग्य हैं। ऐसे गुणस्थान पहला, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ; छठा और तेरहवाँ ये सब हैं। शेष गुणस्थान याने दूसरा, सातवाँ, आठवाँ, नववाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ और चौदहवाँ ये सब केवल अन्तरंग प्रवृत्तिपर ही आधारित हैं। इसलिए जो मनुष्य सवस्त्र होते हुए भी केवल अपनी अन्तःप्रवृत्तिकी ओर जिस समय उन्मुख हो जाया करते हैं उन मनुष्योंके उस समयमें वस्त्रका विकल्प समाप्त हो जानेके कारण सातवेंसे बारहवें तकके गुणस्थान मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। दि० जैन संस्कृतिमें भी चेलोपसृष्ट साधुओंका कथन तो आता ही है। परन्तु दि० जैनसंस्कृतिकी मान्यतानुसार मनुष्यके छठा गुणस्थान इसलिये सम्भव नहीं है कि वह गुणस्थान ऊपर कहे अनुसार साधुत्वकी अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ उसके बाह्य वेशपर आधारित है, अतः जबतक वस्त्रका त्याग बाह्यरूपमें नहीं हो जाता है तबतक दि० जैनसंस्कृतिके अनुसार वह साधु नहीं कहा जा सकता है। इसी आधारपर सवस्त्र होनेके कारण द्रव्यस्त्रीके छठे गुणस्थानकी सम्भावना तो समाप्त हो जाती है। परन्तु पुरुषकी तरह उसके भी सातवाँ आदि गुणस्थान हो सकते हैं या मुक्ति हो सकती है इसका निर्णय इस आधारपर ही किया जा सकता है कि उसके संहनन कौन-सा पाया जाता है। मुक्तिके विषयमें जैन संस्कृतिकी यही मान्यता है कि वह वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले मनुष्यको ही प्राप्त होती है और यह संहनन द्रव्यस्त्रीके सम्भव नहीं है। अतः उसके मुक्तिका निषेध दि० जैनसंस्कृतिमें किया गया है। मनुष्यके तेरहवें गुणस्थानमें वस्त्रकी सत्ताको स्वीकार करना तो सर्वथा अयुक्त है क्योंकि एक तो तेरहवाँ गुणस्थान षष्ठगुणस्थानके समान अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ-साथ बाह्य प्रवृत्तिपर अवलम्बित है, दूसरे वहाँपर आत्माकी स्वालम्बन शक्ति और शरीरकी आत्मनिर्भरताकी पूर्णता हो जाती है, इसलिए वहाँ वस्त्रस्वीकृतिकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। दि० जैनसंस्कृतिमें द्रव्यस्त्रीको मुक्ति न माननेका यह भी एक कारण है।

जिन लोगोंका यह ख्याल है कि साधुके भोजन ग्रहण और वस्त्र ग्रहण दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है उनसे हमारा इतना कहना ही पर्याप्त है कि जीवनके लिए या शरीर रक्षाके लिए जितना अनिवार्य भोजन है उतना अनिवार्य वस्त्र नहीं है, जितना अनिवार्य वस्त्र है उतना अनिवार्य आवास नहीं है और जितना अनिवार्य आवास है उतना अनिवार्य कौटुम्बिक सहवास नहीं है।

अन्तमें स्थूल रूपसे साधुका लक्षण यही हो सकता है कि जो मनुष्य मनपर पूर्ण विजय पा लेनेके अनन्तर यथाशक्ति शारीरिक आवश्यकताओंको कम करते हुए भोजन आदिकी पराधीनताको घटाता हुआ चला जाता है वही साधु कहलाता है।

●

जनदृष्टिसे मनुष्योंमें उच्च-नीच व्यवस्थाका आधार

जैन संस्कृतिमें समस्त संसारी अर्थात् नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव—इन चारों ही गतियोंमें विद्यमान सभी जीवोंको यथायोग्य उच्च और नीच दो भागोंमें विभक्त करते हुए यह बतलाया गया है कि जो जीव उच्च होते हैं उनके उच्चगोत्र कर्मका और जो जीव नीच होते हैं उनके नीचगोत्र कर्मका उदय विद्यमान रहा करता है।

यद्यपि जैन संस्कृतिके माननेवालोंके लिये यह व्यवस्था विवाद या शंकाका विषय नहीं होना चाहिए। परन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक संसारी जीवमें उच्चता अथवा नीचताकी व्यवस्था करनेवाले साधनोंका जब-तक हमें परिज्ञान नहीं हो जाता, तबतक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक जीव तो उच्च है और अमुक जीव नीच है?

यदि कोई कहे कि एक जीवको उच्चगोत्रकर्मके उदयके आधारपर उच्च और दूसरे जीवको नीच-गोत्रकर्मके उदयके आधारपर नीच कहनेमें क्या आपत्ति है? तो इसपर हमारा कहना यह है कि अपनी वर्त-मान अल्पज्ञताकी हालतमें हम लोगोंके लिये जीवोंमें यथायोग्यरूपसे विद्यमान उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्मके उदयका परिज्ञान न हो सकनेके कारण एक जीवको उच्चगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर उच्च और दूसरे जीवको नीचगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर नीच कहना शक्य नहीं है।

माना कि जैन संस्कृतिके आगम-ग्रन्थोंके कथनानुसार नरकगति और तिर्यग्गतिमें रहनेवाले संपूर्ण जीवोंमें केवल नीचगोत्रकर्मका तथा देवगतिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोंमें केवल उच्चगोत्रकर्मका ही सर्वदा उदय विद्य-मान रहा करता है। इसलिए यद्यपि संपूर्ण नारकियों और संपूर्ण तिर्यंचोंमें नीचगोत्रकर्मके उदयके आधारपर केवल नीचताका तथा सम्पूर्ण देवोंमें उच्चगोत्रकर्मके उदयके आधारपर केवल उच्चताका व्यवहार करना हम लोगोंके लिये अशक्य नहीं है। परन्तु उन्हीं जैन आगमग्रन्थोंमें जब संपूर्ण मनुष्योंमेंसे किन्हीं मनुष्योंके तो उच्च-गोत्रकर्मका और किन्हीं मनुष्योंके नीचगोत्रकर्म का उदय होना बतलाया है तो जबतक संपूर्ण मनुष्योंमें पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूपसे विद्यमान उक्त उच्च तथा नीच दोनों ही प्रकारके गोत्रकर्मोंके उदयका परिज्ञान नहीं हो जाता तबतक हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक मनुष्योंमें चूँकि उच्चगोत्र-कर्मका उदय विद्यमान है इसलिए उन्हें तो उच्च कहना चाहिए और अमुक मनुष्योंमें चूँकि नीचगोत्र-कर्मका उदय विद्यमान है इसलिए उसे नीच कहना चाहिए? इसके अतिरिक्त मनुष्योंमें जब गोत्र-परिवर्तनकी बात भी उन्हीं आगम-ग्रन्थोंमें स्वीकार की गयी है तो जबतक उनमें (मनुष्योंमें) यथासमय रहनेवाले उच्चगोत्र-कर्म तथा नीचगोत्र-कर्मके उदयका परिज्ञान हमें नहीं हो जाता, तबतक यह भी एक समस्या है कि एक ही मनुष्य को कब तो हमें उच्च-गोत्र-कर्मके उदयके आधारपर उच्च कहना चाहिए और उसी मनुष्यको कब हमें नीचगोत्र-कर्मके उदयके आधार पर नीच कहना चाहिए? एक बात और है। जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार सातों नरकोंके सम्पूर्ण नारकियोंमें परस्पर तथा एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तककी सम्पूर्ण तिर्यग्-जातियों और इनकी उपजातियोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण तिर्यंचोंमें परस्पर उच्चता और नीचताका कुछ न कुछ भेद पाया जानेपर भी यदि सभी नारकी, नरकगति सामान्यकी अपेक्षा और सभी तिर्यंच, तिर्यग्गति सामान्यकी अपेक्षा नीच गोत्र-कर्मके उदयके आधारपर नीच माने जा सकते हैं तो, और इसी प्रकार भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक नामकी सम्पूर्ण देव जातियों और इनकी उपजातियोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण देवोंमें परस्पर उच्चता और नीचताका कुछ न कुछ भेद पाया जानेपर भी यदि सभी देव देवगति सामान्यकी अपेक्षा उच्चगोत्र कर्मके उदयके आधार पर

उच्च माने जा सकते हैं तो, फिर मनुष्यगतिमें रहनेवाले सम्पूर्ण मनुष्योंमें भी मनुष्य-गति सम्बन्धी विविध प्रकारकी समानता रहते हुए अन्य ज्ञात साधनोंके अभावमें केवल अज्ञात उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर पृथक्-पृथक् क्रमशः उच्चता और नीचताका व्यवहार कैसे किया जा सकता है ?

ये सब समस्याएँ हैं जिनका जबतक यथोचित समाधान प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक जैन संस्कृतिके अनुयायी होने पर भी हम लोगोंके मस्तिष्कमें मनुष्योंको लेकर उच्चता और नीचता सम्बन्धी संदेह पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है।

षट्खण्डागमके सूत्र १३५ का आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी द्वारा किया गया जो व्याख्यान धवलाशास्त्रकी पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ पर पाया जाता है, उसे देखनेसे मालूम पडता है कि मनुष्योंकी उच्चता और नीचताके विषयमें आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीके समयमें भी विवाद था, इतना ही नहीं आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीके उस व्याख्यानसे तो यहाँ तक भी मालूम पडता है कि उनके समयके कोई-कोई विचारक विद्वान् मनुष्य-गतिमें माने गये उच्च और नीच उभयगोत्र कर्मोंके उदयके सम्बन्धमें निर्णयात्मक समाधान न मिल सकनेके कारण उच्च और नीच दोनों भेदविशिष्ट व समूचे गोत्र-कर्मके अभाव तकको माननेके लिये उद्यत हो रहे थे, आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीका वह व्याख्यान निम्न प्रकार है :

"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः ? न तावद् राज्यादिलक्षणायां सम्पदि, तस्याः सद्वेद्यत समुत्पत्तेः नापि पंचमहाव्रतग्रहणयोग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहणं प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्योदयाभावप्रसंगात्, न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः ज्ञानावरणक्षयोपशसहाय सम्यग्दर्शनतस्तदुत्पत्तेः। तिर्यग्नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयः स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात्, नादेयत्वे, यशसि, सौभाग्ये वा व्यापारः, तेषां नामतः समुत्पत्तेः, नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात्, विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्, न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः, म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्, नाणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्त्वप्रसंगात्, नाभेयस्य नीचगोत्रतापत्तेश्च, ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, तत एव न तस्य कर्मत्वमपि, तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्, ततो गोत्रकर्माभाव इति।"

इस व्याख्यानमें प्रथम ही यह प्रश्न उठाया गया है कि जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मका क्या कार्य होता है ? इसके आगे उच्चगोत्र-कर्मके कार्य पर प्रकाश डालनेवाली तत्कालीन प्रचलित मान्यताओंका निर्देश करते हुए उनका खण्डन किया गया है और इस तरह उक्त प्रश्नका उचित समाधान न मिल सकनेके कारण अन्तमें निष्कर्षके रूपमें गोत्र-कर्मके अभावको प्रस्थापित किया गया है, व्याख्यानका हिन्दी विवरण निम्न प्रकार है।

शंका—जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मका किस रूपमें व्यापार हुआ करता है ? अर्थात् जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मका कार्य क्या है ?

१. समाधान—जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मका कार्य उनको राज्यादि सम्पत्तिकी प्राप्ति होना है।

खण्डन—यह समाधान गलत है क्योंकि जीवोंको राज्यादि सम्पत्तिकी प्राप्ति उच्चगोत्र-कर्मके उदयसे न होकर सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही हुआ करती है।

२. समाधान—जीवोंमें पंच महाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यताका प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।

खण्डन—यदि जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मके उदयसे पंचमहाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यताका प्रादुर्भाव होता है तो ऐसी हालतमें देवोंमें और अभव्य जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मके उदयका अभाव स्वीकार करना होगा, जबकि उन दोनों प्रकारके जीवोंमे, जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार, उच्चगोत्र-कर्मके उदयका तो सद्भाव और पंचमहाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यताका अभाव दोनों ही एक साथ पाये जाते हैं।

३. समाधान—जीवोंमें सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति उच्चगोत्र-कर्मके उदयसे हुआ करती है।

खण्डन—यह समाधान भी सही नहीं है क्योंकि जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार जीवोंमें सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति उच्चगोत्र-कर्मका कार्य न होकर ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी सहायतासे सापेक्ष सम्यग्दर्शनका ही कार्य है, दूसरी बात यह है कि जीवोंमें सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिको यदि उच्चगोत्र-कर्मका कार्य माना जायगा तो फिर तिर्यंचो और नारकियोंमें भी उच्चगोत्रकर्मके उदयका सद्भाव माननेके लिये हमें बाध्य होना पड़ेगा, जो कि अयुक्त होगा, क्योंकि जैनशास्त्रोंकी मान्यताके अनुसार जिन तिर्यंचो और जिन नारकियोंमे सम्यग्ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है उनमे उच्चगोत्र कर्मके उदयका अभाव ही रहा करता है।

४.समाधान—जीवोंमे आदेयता, यश और सुभगताका प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।

खण्डन—यह समाधान भी इसीलिए गलत है कि जीवोंमे आदेयता, यश और सुभगताका प्रादुर्भाव उच्चगोत्र-कर्मके उदयका कार्य न होकर क्रमश आदेय, यशःकीर्ति और सुभग संज्ञा वाले नामकर्मोंका ही कार्य है।

५. समाधान—जीवोंका इक्ष्वाकुकुल आदि क्षत्रियकुलोंमें जन्म लेना उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।[1]

खण्डन—यह समाधान भी उल्लिखित प्रश्नका उत्तर नही हो सकता है क्योंकि इक्ष्वाकुकुल आदि जितने क्षत्रियकुलोको लोकमे मान्यता प्राप्त है वे सब काल्पनिक होनेसे एक तो असद्रूप ही है, दूसरे यदि इन्हें वस्तुत सद्रूप ही माना जाय तो भी यह नही समझना चाहिए कि उच्चगोत्र-कर्मका उदय केवल इक्ष्वाकुकुल आदि क्षत्रियकुलोंमें ही पाया जाता है; कारण कि जैन सिद्धान्तकी मान्यताके अनुसार उक्त क्षत्रियकुलोंके अतिरिक्त वैश्यकुलों और ब्राह्मणकुलोंमे भी तथा सभी तरहके कुलोंसे बन्धनसे मुक्त हुए साधुओंमें भी उच्चगोत्र-कर्मका उदय पाया जाता है।[2]

६ समाधान—सम्पन्न (धनाढ्य) लोगोमे जीवोकी उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।

खण्डन—यह समाधान भी सही नही है क्योंकि सम्पन्न (धनाढ्य) लोगोमे जीवोकी उत्पत्तिको यदि उच्चगोत्र-कर्मका कार्य माना जायगा तो ऐसी हालतमे म्लेच्छराजसे उत्पन्न हुए बालकमे भी हमे उच्चगोत्र-कर्मके उदयका सद्भाव स्वीकार करना होगा, कारण कि म्लेच्छराजकी सम्पन्नता तो राजकुलका व्यक्ति होनेके नाते निर्विवाद है, परन्तु समस्या यह है कि जैन-सिद्धान्तमे म्लेच्छजातिके सभी लोगोके नियमसे नीचगोत्र-कर्मका ही उदय माना गया है।

---

१ 'नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ'का हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ मे 'इक्ष्वाकुकुल आदिकी उत्पत्तिमें इसका व्यापार नही होता' किया गया है जो गलत है, इसका सही अर्थ 'इक्ष्वाकुकुल आदि क्षत्रियकुलोमें जीवोंकी उत्पत्ति होना इसका व्यापार नहीं है' होना चाहिए।

२. यहाँ पर षट्खण्डागम पुस्तक १३ मे 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि' वाक्यका हिन्दी अर्थ 'वैश्य और ब्राह्मण साधुओंमें' किया गया है जो गलत है, इसका सही अर्थ 'वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुओंमें' होना चाहिए।

७. समाधान—अणुव्रतोंको धारण करनेवाले व्यक्तियोंसे जीवोंकी उत्पत्ति होना उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।

खण्डन—यह समाधान भी निर्दोष नहीं है क्योंकि अणुव्रतोंको धारण करनेवाले व्यक्तिसे जीवकी उत्पत्तिको यदि उच्चगोत्र-कर्मका कार्य माना जायगा तो ऐसी हालतमें देवोंमें पुन. उच्चगोत्र-कर्मके उदयका अभाव प्रसक्त हो जायगा, जो कि अयुक्त होगा। देवोंमें एक ओर तो उच्चगोत्र-कर्मका उदय जैनधर्ममें स्वीकार किया गया है तथा दूसरी ओर देवगतिमें अणुव्रतोंके धारण करनेकी असंभवताके साथ-साथ मात्र उपपादशय्यापर ही देवोंकी उत्पत्ति स्वीकार की गई है। जीवोंकी अणुव्रतियोंसे उत्पत्ति होना उच्चगोत्रकर्मका कार्य माननेपर दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि इस तरहसे तो नाभिराजके पुत्र भगवान् ऋषभदेवको भी नीचगोत्री स्वीकार करना होगा क्योंकि नाभिराजके समयमें अणुव्रत आदि धार्मिक प्रवृत्तियोंका मार्ग खुला हुआ नहीं होनेसे जैन-संस्कृतिमें उन्हें अणुव्रती नहीं माना गया है।

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्मके कार्यपर प्रकाश डालने वाले उल्लिखित सातो समाधानोंमेंसे जब कोई भी समाधान निर्दोष नहीं है तो इनके आधारपर उच्चगोत्र-कर्मको सफल नहीं कहा जा सकता है और इस तरह निष्फल हो जानेपर उच्चगोत्र-कर्मको कर्मोंके वर्गमें स्थान देना ही अयुक्त हो जाता है जिससे इसका (उच्चगोत्र-कर्मका) अभाव सिद्ध हो जाता है तथा उच्चगोत्र-कर्मके अभावमें फिर नीचगोत्र-कर्मका भी अभाव निश्चित हो जाता है, कारण कि उच्च और नीच दोनो ही गोत्र-कर्म परस्पर एक-दूसरेसे सापेक्ष होकर ही अपनी सत्ता कायम रक्खे हुए हैं। इस प्रकार अंतिम निष्कर्षके रूपमे सम्पूर्ण गोत्र-कर्मका अभाव सिद्ध होता है।

उक्त व्याख्यानपर बारीकीसे ध्यान देनेपर इतनी बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीके समयके विद्वान् एक तरफ तो जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य नारकियों और तिर्यंचोंमे नीचता-की व्यवस्थाको तथा देवोंमें उच्चताकी व्यवस्थाको निर्विवाद ही मानते थे लेकिन दूसरी तरफ मनुष्योंमे जैन-शास्त्रों द्वारा स्वीकृत उच्चता तथा नीचता सम्बन्धी उभयरूप व्यवस्थाको वे शंकास्पद स्वीकार करते थे। नारकियों और तिर्यंचोंमे नीचताकी व्यवस्थाको और देवोंमे उच्चताकी व्यवस्थाको निर्विवाद माननेका कारण यह जान पड़ता है कि सभी नारकियो और सभी तिर्यंचोंमें सर्वथा नीचगोत्र-कर्मका तथा सभी देवोंमें सर्वदा उच्चगोत्र-कर्मका उदय ही जैन आगमों द्वारा प्रतिपादित किया गया है और मनुष्योमे उच्चता तथा नीचता उभयरूप व्यवस्थाको शंकास्पद माननेका कारण यह जान पड़ता है कि चूंकि मनुष्योंमे नीचगोत्र-कर्म तथा उच्चगोत्र-कर्मका उदय छद्मस्थों (अल्पज्ञों) के लिये अज्ञात ही रहा करता है। अत उनमें नीचगोत्र-कर्मके आधारपर नीचताका और उच्चगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर उच्चताका व्यवहार करना हम लोगोंके लिये शक्य नहीं रह जाता है।

यद्यपि धवलाशास्त्रकी पुस्तक १५ के पृष्ठ १५२ पर तिर्यंचोंमें भी उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणाका कथन किया गया है इसलिए मनुष्योंकी तरह तिर्यंचोंमें भी उच्चता तथा नीचताकी दोनो व्यवस्थायें शंकास्पद हो जाती हैं परन्तु वहीपर यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि तिर्यंचोंमें उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणाका सद्भाव माननेका आधार केवल उनके (तिर्यंचोंके) द्वारा संयमासंयमका परिपालन करना ही है। वह कथन निम्न प्रकार है :

'तिरिक्खेसु णीचागोदस्स चेव उदीरणा होदि त्ति सव्वत्थ परूविदं, एत्थ पुण उच्चागोदस्स वि उदीरणा परूविदा। तेणं पुण पुव्वावरविरोहो त्ति भणिदे, ण, तिरिक्खेसु संजमासंजमपरि-

पालयंतेसु उच्चागोत्तुवलंभावो, उच्चागोदे देससयलसंजमणिबंधणे संते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासंकणिज्जं, तत्थवि उच्चागोदजणिदसंजमजोगत्तावेक्खाए उच्चागोदत्तं पडि विरोहाभावादो'।

यह व्याख्यान शंका और समाधानके रूपमें है। इसमें निर्दिष्ट जो शंका है वह इसलिए उत्पन्न हुई है कि इस प्रकरणमें इस व्याख्यानके पूर्व ही तिर्यग्गतिमें भी उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणाका प्रतिपादन किया गया है।[1] व्याख्यानका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

शंका—तिर्यंचोंमें नीचगोत्रकर्मकी उदीरणा होती है यह तो आगममें सर्वत्र प्रतिपादित की गई है, लेकिन इस प्रकारमें उनके उच्चगोत्रकर्मकी उदीरणाका भी प्रतिपादन किया गया है इसलिए आगममें पूर्वापर विरोध उपस्थित होता है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि संयमासंयमका पालन करनेवाले तिर्यंचोंमें ही उच्चगोत्रकी उपलब्धि होती है।

शंका—यदि जीवोमे देशसंयम और सकलसंयमके आधारपर उच्चगोत्रका सद्भाव माना जाय तो इस तरह मिथ्यादृष्टियोंमें उच्चगोत्रका अभाव मानना होगा जबकि जैनसिद्धान्तकी मान्यताके अनुसार उनमें उच्च-गोत्रका भी सद्भाव पाया जाता है।

समाधान—यह शंका ठीक नही, क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंमें देशसंयम और सकलसंयमकी योग्यताका पाया जाना तो सम्भव है ही इसीलिए उनकी उच्चगोत्रताके प्रति आगमका विरोध नही रह जाता है।

यद्यपि धवलाके उक्त शंका-समाधानसे तिर्यग्गतिमें उच्चगोत्रकी उदीरणा सम्बन्धी प्रश्न तो समाप्त हो जाता है परन्तु इससे एक तो देशसंयम और सकलसंयमको उच्चगोत्रकर्मके उदयके सद्भावमें कारण माननेसे पंचम गुणस्थानमे जैनदर्शनके कर्म-सिद्धान्तके अनुसार प्रतिपादित नीचगोत्र कर्मके उदयका सद्भाव मानना असंगत होगा और दूसरे मनुष्यगतिकी तरह तिर्यंगतिमें भी देशसंयम धारण करनेकी योग्यताका परिज्ञान अल्पज्ञों के लिये असम्भव रहनेके कारण उच्चगोत्रकर्म और नीचगोत्र-कर्मके उदयकी व्यवस्था करना मनुष्यगतिकी तरह जटिल ही होगा।

उक्त दोनों ही प्रश्न इतने महत्त्वके हैं कि जबतक इनका समाधान नही होता तबतक तिर्यग्गतिमें भी उच्चगोत्र और नीचगोत्रकी व्यवस्था सम्बन्धी समस्याका हल होना असंभव ही प्रतीत होता है। विद्वानोंको इनपर अपना दृष्टिकोण प्रकट करना चाहिए। हमारा दृष्टिकोण निम्न प्रकार है—

प्रथम प्रश्नके विषयमें हम ऐसा सोचते हैं कि आगम द्वारा तिर्यग्गतिमें उच्चगोत्रकर्मकी उदीरणाका जो प्रतिपादन किया गया है उसे एक अपवाद-सिद्धान्त स्वीकार कर, यही मानना चाहिए कि ऐसा कोई तिर्यंच—जो देशसंयम धारण करनेकी किसी विशेष योग्यतासे प्रभावित हो—उसीके उक्त आगमके आधारपर उच्चगोत्र-कर्मका उदय रह सकता है। इस तरह सामान्यरूपसे देशसंयमको धारण करनेवाला तिर्यंच नीचगोत्री ही हुआ करता है।

दूसरे प्रश्नके विषयमे हमारा यह कहना है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगतिके जीवोको जीवन-वृत्तियोंमें समानरूपसे प्राकृतिकताको स्थान प्राप्त है, इसलिए तिर्यञ्चोंमें उच्चता और नीचताजन्य भेदका सद्भाव रहते हुए भी जीवनवृत्तियोकी उस प्राकृतिकताके कारण नारकियों और देवोके समान ही सभी तिर्यंचों

---

१. तिरिक्खगईए········उच्चागोदस्स जहण्णट्ठिदिउदीरणा संखेज्जगुणा, जट्ठिदि० विसेसाहिया।
—धवला, पुस्तक १५, पृष्ठ १५२।

में परस्पर जीवनवृत्तिजन्य ऐसी विषमताका पाया जाना सम्भव नहीं है जिसके आधारपर उनमें यथायोग्य दोनों गोत्रोंके उदयकी व्यवस्था स्वीकार करनेसे व्यावहारिक गड़बड़ी पैदा होनेकी सम्भावना हो। केवल मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है जहाँ जीवनवृत्तिके लिये अनिवार्य सामाजिक व्यवस्थाकी स्वीकृतिके आधारपर गोत्रकर्मके उच्च तथा नीचरूप उदयभेदका व्यावहारिक उपयोग होता है। तात्पर्य यह है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगतिके जीवोंकी जीवनवृत्तियोंमें प्राकृतिकताको जैसा स्थान प्राप्त है वैसा स्थान मनुष्योंकी जीवनवृत्तियोंमें प्राकृतिकताको प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि मनुष्यको सामान्यरूपसे कौटुम्बिक संगठन, ग्राम्य संगठन, राष्ट्रीय संगठन और यहाँतक कि मानव संगठन आदिके रूपमें सामाजिक व्यवस्थाओंके अधीन रहकर ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी जीवनवृत्तिका संचालन करना पड़ता है। परन्तु यह सब तिर्यंचोंके लिये आवश्यक नहीं है।

यद्यपि हम मानते हैं कि भोगभूमिगत मनुष्योंकी जीवनवृत्तियोंमें प्राकृतिकताके ही दर्शन होते हैं और यही कारण है कि उन मनुष्योंमें सामाजिक व्यवस्थाओंका सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसके अलावा, उनमें केवल उच्चगोत्रकर्मका ही उदय सर्वदा विद्यमान रहता है। इसलिए उनके जीवनमें व्यावहारिक विषमता-को स्थान प्राप्त नहीं होता है लेकिन कर्मभूमिगत मनुष्योंकी जीवनवृत्तियोंमें जो अप्राकृतिकता स्वभावतः पायी जाती है उसके कारण उनको अपनी जीवनवृत्तिकी सम्पन्नताके लिये उक्त सामाजिक व्यवस्थाओंकी अधीनतामें पुरुषार्थका उपयोग करना पड़ता है और ऐसा देखा जाता है कि उनके द्वारा अपनी जीवनवृत्तिके संचालनके लिये अपनाये गये भिन्न-भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंमें उच्चता और नीचताका वैषम्य स्वभावतः हो जाता है जिसके कारण उनकी जीवनवृत्तियाँ भी उच्च और नीचके भेदसे दो वर्गोंमें विभाजित हो जाती हैं। यद्यपि कर्मभूमि-गत मनुष्योंमें जीवनवृत्तियोंकी बहुत-सी विविधतायें पायी जाती हैं और जीवनवृत्तियोंकी इन्हीं विविधताओंके आधारपर ही उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी तथा इन्हीं वर्णोंके अन्तर्गत जीवन-वृत्तियोंके आधारपर ही यथायोग्य लुहार, चमार आदि विविध जातियोंकी स्थापनाको जैनसंस्कृतिमें स्वीकार किया गया है। परन्तु जीवनवृत्तियोंके आधारपर स्थापित सभी वर्णों और उनके अन्तर्गत पायी जानेवाली उक्त प्रकारकी सभी जातियोंको भी जीवनवृत्तियोंमें पायी जानेवाली उच्चता और नीचताके अनुसार ही उच्च और नीच दो वर्गोंमें संग्रहीत कर दिया गया है। इस प्रकार उच्च और नीच दोनों प्रकारकी जीवनवृत्तियोंको ही क्रमशः उच्चगोत्र कर्म और नीचगोत्र कर्मके उदयका जैन संस्कृतिमें मापदण्ड स्वीकार किया गया है।

जीवोंमें उच्चगोत्र कर्मका किस रूपमें व्यापार होता है? अथवा जीवोंमें उच्चगोत्र कर्मका क्या कार्य होता है? इस प्रश्नका जो समाधान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने स्वयं किया है और जिसे उन्होंने स्वयं ही निर्दोष माना है उसमें मनुष्योंकी इसी पुरुषार्थप्रधान जीवनवृत्तिको आधार प्ररूपित किया है। आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीका वह समाधानरूप व्याख्यान निम्न प्रकार है।

> 'न, जिनवचनस्यासत्यत्वविरोधात्। तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते। न च केवल-ज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते, येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्व-मुच्येत्। न च निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसंबन्धानां आर्यप्रत्यया-भिधानव्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चगोत्रम्, तत्रोत्पत्तिहेतुः कर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। न चात्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति, विरोधात्, तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्। एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः।"

पहले जो समूचे गोत्रकर्मके अभावकी आशंका इस लेखमें उद्धृत धवलाशास्त्रकी पुस्तक १३ के पृष्ठ २८८ के व्याख्यानमें प्रकट कर आये हैं, उसीका समाधान करते हुए आगे वहीं पर ऊपर लिखा व्याख्यान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने किया है। उसका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

"गोत्रकर्मके अभावकी आशंका करना ठीक नहीं है क्योंकि जिनेन्द्र भगवानने स्वयं ही गोत्रकर्मके अस्तित्वका प्रतिपादन किया है और यह बात निश्चित है कि जिनेन्द्र भगवान्के वचन कभी असत्य नहीं होते हैं, असत्यताका जिनेन्द्र भगवान्के वचनके साथ विरोध है अर्थात् वचन एक ओर तो जिनेन्द्र भगवान्के हों और दूसरी ओर वे असत्य भी हों—यह बात कभी संभव नहीं है, ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि जिन भगवान्के वचनोंको असत्य माननेका कोई कारण ही दृष्टिगोचर नहीं होता है।

जिन भगवान्ने यद्यपि गोत्रकर्मके सद्भावका प्रतिपादन किया है किन्तु हमे उसकी (गोत्रकर्मकी) उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए जिनवचनको असत्य माना जा सकता है, पर ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञानके विषयभूत सम्पूर्ण पदार्थोंमें हम अल्पज्ञोंके ज्ञानकी प्रवृत्ति ही नहीं होती।

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्मको निष्फल मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जो पुरुष स्वयं तो दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले हैं ही तथा इस प्रकारके साधु आचारवाले पुरुषोके साथ जिनका सम्बन्ध स्थापित हो चुका है उनमें 'आर्य' इस प्रकारके प्रत्यय और 'आर्य' इस प्रकारके शब्द-व्यवहारकी प्रवृत्तिके भी जो निमित्त हैं, उन पुरुषोके संतान[1] अर्थात् कुलकी जैन संस्कृतिमे उच्चगोत्र संज्ञा स्वीकार की गयी है[2] तथा ऐसे कुलोंमे जीवके उत्पन्न होनेके कारणभूत कर्मको भी जैन संस्कृतिमें उच्चगोत्र-कर्मके नामसे पुकारा गया है।

इस समाधानमे पूर्व प्रदर्शित दोषोंमेसे कोई भी दोष सम्भव नहीं है क्योंकि इसके साथ उन सभी दोषों का विरोध है। इसी उच्चगोत्रकर्मके ठीक विपरीत ही नीचगोत्रकर्म है। इस प्रकार गोत्रकर्मकी उच्च और नीच ऐसी दो ही प्रकृतियाँ है।

आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने जीवोमे उच्चगोत्र-कर्मका किस रूपमे व्यापार होता है, इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये जो ढग अपनाया है उसका आशय उन सभी दोषोंका परिहार करना है, जिनका निर्देश ऊपर उद्धृत पूर्व पक्षके व्याख्यानमे आचार्य महाराजने स्वयं किया है। वे इस समाधानमें यही बतलाते हैं कि दीक्षाके योग्य साधु-आचारवाले पुरुषोका कुल ही उच्चगोत्र या उच्चकुल कहलाता है और ऐसे गोत्र या कुल-मे जीवकी उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्रकर्मका कार्य है। इस प्रकार मनुष्य-गतिमें दीक्षाके योग्य साधु-आचारके आधारपर ही जैन संस्कृति द्वारा उच्चगोत्र या उच्चकुलकी स्थापना की गयी है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यगतिमें तो जिन कुलोंका दीक्षाके योग्य साधु आचार न हो वे कुल नीच-गोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य हैं, 'गोत्र' शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ गोत्र शब्दके निम्नलिखित विग्रहके आधार पर होना है—

"गूयते-शब्द्यते अर्थात् जीवस्य उच्चता वा नीचता वा लोके व्यवह्रियते अनेन इति गोत्रम्"

इसका अर्थ यह है कि जिसके आधारपर जीवोंका उच्चता अथवा नीचताका लोकमे व्यवहार किया जाय वह गोत्र कहलाता है। इस प्रकार जैन संस्कृतिके अनुसार मनुष्योकी उच्च और नीच जीवनवृत्तियोंके आधारपर निश्चय किये गए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तथा लुहार, चमार आदि जातियाँ ये सब गोत्र, कुल आदि नामोंसे पुकारने योग्य है। इन सभी गोत्रो या कुलोंमेसे जिन कुलोंमे पायी जाने वाली मनुष्योंकी जीवनवृत्तिको लोकमें उच्च माना जाए वे उच्चगोत्र या उच्च कुल तथा जिन कुलोमे पायी जाने वाली मनुष्योंकी जीवनवृत्तिको लोकमे नीच माना जाए वे नीचगोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य है, इस

१. संततिर्गोत्र जननकुलान्यभिजनान्वयौ। वंशोऽन्वाय. संतान।—अमरकोष, ब्रह्म वर्ग।

२. 'दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां' आदि वाक्यका जो हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ मे किया गया है, वह गलत है, हमने जो यहाँ अर्थ किया है उसे सही समझना चाहिए।

तरह उच्चगोत्र या कुलमें जन्म लेने वाले मनुष्योंको उच्च तथा नीच गोत्र या कुलमें जन्म लेने वाले मनुष्योंको नीच कहना चाहिए। आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीके उल्लिखित व्याख्यानसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि उच्चगोत्रमे पैदा होनेवाले मनुष्योंके नियमसे उच्चगोत्र-कर्मका तथा नीचगोत्रमें पैदा होनेवाले मनुष्योंके नियमसे नीचगोत्र-कर्मका ही उदय विद्यमान रहा करता है अर्थात् बिना उच्चगोत्र-कर्मके उदयके कोई भी जीव उच्च कुलमे और बिना नीचगोत्र-कर्मके उदयके कोई भी जीव नीच कुलमे उत्पन्न नही हो सकता है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमे उसके आठवें अध्यायके 'उच्चैर्नीचैश्च' (सूत्र १२) सूत्रकी टीका करते हुए आचार्य श्रीपूज्यपादने भी यही प्रतिपादन किया है कि—

"यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्।
यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्।"

अर्थात् जिस गोत्र-कर्मके उदयसे जीवोंका लोकपूजित (उच्च) कुलोंमें जन्म होता है उस गोत्रकर्मका नाम उच्चगोत्र कर्म है और जिस गोत्रकर्मके उदयसे जीवोका लोकगर्हित (नीच) कुलोंमे जन्म होता है उस गोत्र कर्मका नाम नीचगोत्र कर्म है।

जैन संस्कृतिके आचारशास्त्र (चरणानुयोग) और करणानुयोगसे यह सिद्ध होता है कि सभी देव उच्चगोत्री और सभी नारकी और सभी तिर्यञ्च नीचगोत्री ही होते हैं, परन्तु ऊपर जो उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणा करने वाले तिर्यंचोंका कथन किया गया है उन्हें इस नियमका अपवाद समझना चाहिए, मनुष्योंमें भी केवल आर्यखण्डमे बसने वाले कर्मभूमिज मनुष्य ही ऐसे हैं जिनमे उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री दोनो प्रकारके वर्गोंका सद्भाव पाया जाता है अर्थात् उक्त कर्म-भूमिज मनुष्योंमेंसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों और इन वर्णोंके अन्तर्गत जातियोके सभी मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं, इनसे अतिरिक्त जितने शूद्र वर्ण और इस वर्णके अन्तर्गत जातियोंके मनुष्य पाये जाते हैं वे सब तथा चातुर्वर्ण्य व्यवस्थासे बाह्य जो शक, यवन, पुलिन्दादिक हैं, वे सब नीचगोत्री ही माने गये हैं। आर्यखण्डमे बसनेवाले इन कर्मभूमिज मनुष्योको छोडकर शेष जितने भी मनुष्य लोकमें बतलाये गये हैं उनमेंसे भोगभूमिके सभी मनुष्य उच्चगोत्री तथा पाँचों म्लेच्छखण्डोंमे बसने वाले मनुष्य और अन्तर्द्वीपज मनुष्य नीचगोत्री ही हुआ करते हैं, आर्यखण्डमे बसने वाले शक, यवन, पुलिन्दादिकको तथा पाँचो म्लेच्छखण्डोमे और अन्तर्द्वीपोमे बसने वाले मनुष्योको जैन संस्कृतिमे म्लेच्छ संज्ञा दी गयी है और यह बतलाया गया है कि ऐसे म्लेच्छोंको भी उच्चगोत्री समझना चाहिए, जिनका दीक्षाके योग्य साधु आचारवालोंके साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो और इस तरह जिनमें 'आर्य' ऐसा प्रत्यय तथा 'आर्य' ऐसा शब्द व्यवहार भी होने लगा हो। इससे जैन संस्कृतिमे मान्य गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्तकी पुष्टि होती है, गोत्रपरिवर्तनके सिद्धान्तको पुष्ट करने वाले बहुतसे लौकिक उदाहरण आज भी प्राप्त है। जैसे—यह इतिहासप्रसिद्ध है कि जो अग्रवाल आदि जातियाँ पहले किसी समयमे क्षत्रिय वर्णमें थीं वे आज पूर्णत वैश्य वर्णमे समा चुकी है, जैनपुराणोंमे अनुलोम और प्रतिलोम विवाहोका उल्लेख है, वे उल्लेख स्त्रियोंके गोत्र-परिवर्तनकी सूचना देते है। आज भी देखा जाता है कि विवाहके अनन्तर कन्या पितृपक्ष-के गोत्रकी न रहकर पतिपक्षके गोत्रकी हो जाता है। इस संपूर्ण कथनका अभिप्राय यह है कि यदि परिवर्तित गोत्र उच्च होता है तो नीचगोत्रमें उत्पन्न हुई कन्या उच्चगोत्रकी बन जाती है और यदि परिवर्तित गोत्र नीच होता है तो उच्चगोत्रमे उत्पन्न हुई नारी भी नीचगोत्रकी बन जाती है और परिवर्तित गोत्रके अनुसार ही नारीके यथायोग्य नीचगोत्र कर्मका उदय न रहकर उच्चगोत्र कर्मका उदय तथा उच्चगोत्रका उदय समाप्त होकर नीचगोत्र कर्मका उदय आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्यमे जीवनवृत्तिका परिवर्तन न होनेपर

की गोत्र परिवर्तन हो जाता है। जैसा कि अग्रवाल आदि जातियोका उदाहरण ऊपर दिया गया है।

पहले कहा जा चुका है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने 'उच्चगोत्र-कर्मका जीवोंमें किस रूपमें व्यापार होता है' इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये जो ढंग बनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषोंका परिहार करना है जिनका निर्देश पूर्व पक्षके व्याख्यानमें किया है। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने उच्चगोत्रका निर्धारण करके उसमें जीवोंकी उत्पत्तिके कारणभूत कर्मको उच्चगोत्र-कर्म नाम दिया है। उन्होंने बतलाया है कि दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले पुरुषोंका कुल ही उच्चगोत्र कहलाता है और ऐसे कुलमें जीवकी उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है। इसमें पूर्वोक्त दोषोंका अभाव स्पष्ट है क्योंकि इससे जैन संस्कृति द्वारा देवोंमें स्वीकृत उच्चगोत्र-कर्मके उदयका और नारकियों तथा तिर्यंचोंमें स्वीकृत नीचगोत्र-कर्मके उदयका व्याघात नहीं होता है, क्योंकि इसमें उच्चगोत्रका जो लक्षण बतलाया गया है वह मात्र मनुष्यगतिसे ही सम्बन्ध रखता है और इसका भी कारण यह है कि उच्चगोत्र-कर्मके कार्यका यदि विवाद है तो वह केवल मनुष्यगतिमें ही सम्भव है, दूसरी गतियोंमें याने देव, नरक और तिर्यंच इनकी गतियोंमें, कहाँ किस गोत्र-कर्मका, किस आधारसे उदय पाया जाता है, यह बात निर्विवाद है। इस समाधानसे अभव्य मनुष्योंके भी उच्चगोत्र-कर्मके उदयका अभाव प्रसक्त नहीं होता है क्योंकि अभव्योंको उच्च माने जानेवाले कुलोंमें जन्म लेनेका प्रतिबन्ध इससे नहीं होता है। म्लेच्छखण्डोंमें बसनेवाले मनुष्योंके नीचगोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि इस समाधानसे होती है क्योंकि म्लेच्छखण्डोंमें जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार धर्म-कर्मकी प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव विद्यमान रहनेके कारण दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले उच्चकुलोंका सद्‌भाव नहीं पाया जाता है। इसी आधारपर अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज म्लेच्छके भी केवल नीचगोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि होती है। आर्यखण्डके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञावाले कुलोंमें जन्म लेनेवाले मनुष्योंके इस समाधानसे केवल उच्चगोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि होती है क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञावाले सभी कुल दीक्षा योग्य साधु आचारवाले उच्चकुल ही माने गये हैं। साधुवर्गमें उच्चगोत्र-कर्मके उदयका व्याघात भी इस समाधानसे नहीं होता है क्योंकि जहाँ दीक्षायोग्य साधु आचारवाले कुलों तकको उच्चता प्राप्त है वहाँ जब मनुष्य, कुलव्यवस्थासे भी ऊपर उठकर अपना जीवन आदर्शमय बना लेता है तो उसमें केवल उच्चगोत्र-कर्मके उदयका रहना ही स्वाभाविक है, शूद्रोमें इस समाधानसे नीचगोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि होती है क्योंकि उनके कौलिक आचारको जैन संस्कृतिमें दीक्षायोग्य साधु आचार नहीं माना गया है। यही कारण है कि पूर्वमें उद्धृत धवलाशास्त्रकी पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ के 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्' वाक्यमें वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुओंके साथ शूद्रोंका उल्लेख आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने नहीं किया है। यदि आचार्यश्रीको शूद्रोंके भी वैश्य, ब्राह्मण और साधु पुरुषोंकी तरह उच्चगोत्रके उदयका सद्‌भाव स्वीकार होता तो शूद्रशब्दका भी उल्लेख उक्त वाक्यमें करनेसे वे नहीं चूक सकते थे। उक्त वाक्यमें क्षत्रियशब्दका उल्लेख न करनेका कारण यह है कि उक्त वाक्य उन लोगोंकी मान्यताके खण्डनमें प्रयुक्त किया गया है जो लोग उच्चगोत्र-कर्मका उदय केवल क्षत्रिय कुलोंमें मानना चाहते थे।

यदि कोई यहाँ यह शंका उपस्थित करे कि भोगभूमिके मनुष्योंमें भी तो जैन संस्कृति द्वारा केवल उच्चगोत्र-कर्मका ही उदय स्वीकार किया गया है लेकिन उपर्युक्त उच्चगोत्रका लक्षण तो उनमें घटित नहीं होता है, क्योंकि भोगभूमिमें साधुमार्गका अभाव ही पाया जाता है, अतः वहाँके मनुष्य-कुलोंको दीक्षा-योग्य साधु-आचारवाले कुल कैसे माना जा सकता है? तो इस शंकाका समाधान यह है कि भोगभूमिके मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं, यह बात हम पहले ही बतला आये हैं, जैन-संस्कृतिकी भी यही मान्यता है। इसलिये

वहाँ मनुष्योंकी उच्चता और नीचताका विवाद नहीं होनेके कारण केवल कर्मभूमिके मनुष्योंको लक्ष्यमें रखकर ही उच्चगोत्रका उपर्युक्त लक्षण निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार षट्खण्डागमकी धवला टीकाके आधारपर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थोंके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्चगोत्री मनुष्यके उच्चगोत्र-कर्मका और नीचगोत्री मनुष्योंके नीचगोत्र-कर्मका ही उदय रहा करता है लेकिन जो उच्चगोत्री मनुष्य कदाचित् नीचगोत्री हो जाता है अथवा जो नीच-गोत्री मनुष्य कदाचित् उच्चगोत्री हो जाता है, उसके यथायोग्य पूर्वगोत्र-कर्मका उदय समाप्त होकर दूसरे गोत्रकर्मका उदय हो जाया करता है।

षट्खण्डागमकी धवलाटीकाके आधारपर दूसरा सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले जो कुल होते हैं याने जिन कुलोंका निर्माण दीक्षाके योग्य साधु-आचारके आधारपर हुआ हो वे कुल ही उच्चकुल या उच्चगोत्र कहलाते है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कौलिक आचारके आधारपर ही एक मनुष्य उच्चगोत्री और दूसरा मनुष्य नीचगोत्री समझा जाना चाहिए, गोम्मटसार कर्मकाण्डमें तो स्पष्ट-रूपसे उच्चाचरणके आधारपर एक मनुष्यको उच्चगोत्री और नीचाचरणके आधारपर दूसरे मनुष्यको नीचगोत्री प्रतिपादित किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्डका वह कथन निम्न प्रकार है।

'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ १३॥

जीवका संतानक्रमसे अर्थात् कुलपरम्परासे आया हुआ जो आचरण है उसी नामका गोत्र समझना चाहिए, वह आचरण यदि उच्च हो तो गोत्रको भी उच्च ही समझना चाहिए, और यदि वह आचरण नीच हो तो गोत्रको भी नीच ही समझना चाहिए।

गोम्मटसार कर्मकाण्डकी उल्लिखित गाथाका अभिप्राय यही है कि उच्च और नीच दोनों ही कुलोंका निर्माण कुलगत उच्च और नीच आचरणके आधारपर ही हुआ करता है। यह कुलगत आचरण उस कुलकी निश्चित जीवनवृत्तिके अलावा और क्या हो सकता है? इसलिये कुलाचरणसे तात्पर्य उस-उस कुलकी निर्धारित जीवनवृत्तिका ही लेना चाहिये, कारण कि धर्माचरण और अधर्माचरणको इसलिए उच्च और नीच गोत्रोंका नियामक नहीं माना जा सकता है कि धर्माचरण करता हुआ भी जीव जैन-संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार नीचगोत्री हो सकता है। इस प्रकार कर्मभूमिके मनुष्योंमें ब्राह्मणवृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्तिको जैन-संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार उच्चगोत्रकी नियामक और शौद्रवृत्ति तथा म्लेच्छवृत्तिको नीचगोत्रकी नियामक समझना चाहिए।

एक बात और है कि वृत्तियोंके सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन भेद मानकर ब्राह्मणवृत्तिको सात्त्विक, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्तिको राजस तथा शौद्रवृत्ति और म्लेच्छवृत्तिको तामस कहना भी अयुक्त नहीं है। जिस वृत्तिमें उदात्त गुणकी प्रधानता हो वह सात्त्विकवृत्ति, जिस वृत्तिमें शौर्यगुण अथवा प्रामाणिक व्यवहार-की प्रधानता हो वह राजसवृत्ति और जिस वृत्तिमें हीनभाव अर्थात् दीनता या क्रूरताकी प्रधानता हो वह तामसवृत्ति जानना चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मणवृत्तिमें सात्त्विकता, क्षात्रवृत्तिमें शौर्य, वैश्यवृत्तिमें प्रामाणिकता, शौद्रवृत्तिमें दीनता और म्लेच्छवृत्तिमें क्रूरताका ही प्रधानतया समावेश पाया जाता है। इन तीन प्रकारकी वृत्तियोंमेंसे सात्त्विक वृत्ति और राजसवृत्ति दोनों ही उच्चताकी तथा तामसवृत्ति नीचताकी निशानी समझना चाहिए।

इस लेखमें हमने मनुष्योंकी उच्चता और नीचताके विषयमें जो विचार प्रकट किये हैं उनका आधार यद्यपि आगम है फिर भी यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि सहसा समझमें आना कठिन है। अतः विद्वानोंसे हमारा अनुरोध है कि वे भी इस विषयका चिन्तन करें और अपनी विचारधाराके निष्कर्षको व्यक्त करें।

यद्यपि इस विषय पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी विचार किया जाना था, परन्तु लेखका कलेवर इतना बढ़ चुका है कि प्रस्तुत लेखमें मैंने जो कुछ लिखा है उसमें भी संकोचकी नीतिसे काम लेना पड़ा है। अतः अतिरिक्त विषय कभी प्रसंगानुसार ही लिखनेका प्रयत्न करूँगा।

भगवान महावीरका समाजदर्शन

इसमें संदेह नहीं, कि वर्तमान युगमें जहाँ एक ओर मनुष्यकी आध्यात्मिक विचारधारा समाप्त हुई है वहाँ दूसरी ओर विज्ञानकी भौतिक चकाचौंधमें विलासता जीवनकी आवश्यकताओंका रूप धारण करके मनुष्यके सरपर नाचने लगी है। आज मनुष्यके लिये इतना ही बस नहीं है, कि पेट भरनेके लिए उसे खाना मिल जाय और तन ढकनेके लिये वस्त्र, किन्तु मनुष्यकी आवश्यकताओंके बढ़ जानेसे धोबीके रहनेकी झोपड़ी आज 'वाशिंग शाप' बनी हुई है, नाईकी बाल बनानेकी मामूली पेटीने 'हेयर कटिंग सैलून'का रूप धारण कर लिया है, दर्जी केवल दर्जी न रहकर 'टेलर मास्टर' कहे जाने लगे हैं और बजाज होटल तथा सिनेमा घर भी मनुष्यकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेवाले ही माने जाने लगे हैं। आज साधारण-से-साधारण व्यक्तिके व्यक्तिके घर जाया जाय, तो वहाँ भी कम-से-कम बाल बनानेके लिए एक रेजर, नहानेके लिए बढ़िया साबुन, बाल सवारनेके लिये सुगन्धित तेलकी शीशी, कंघा और दर्पण, चाय पीनेके लिये कप-रकाबी और बाजारमें घूमते समय हाथमें लेनेके लिए अच्छी लम्बी-चौड़ी बेटरी आदि चीजें अवश्य ही देखनेको मिलेंगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें सुन्दर विलास-भवन, बिजलीकी रोशनी, बिजलीके पंखे, हारमोनियम, ग्रामोफोन, रेडियो, टीवी, रेफ्रिजरेटर, मोटर आदि विलासकी सैंकड़ो चीजें पानेकी कल्पनायें निर्बाध गतिसे अपना स्थान बनाती जा रही हैं।

मनुष्यकी उक्त आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए अटूट पैसेकी आवश्यकता है। जिस मनुष्यके पास जितना अधिक पैसा होगा वह मनुष्य विलासकी उतनी ही अधिक सामग्री आवश्यकताके नामपर संग्रहीत कर सकता है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्यकी दृष्टि न्याय और अन्यायका भेदरहित छल-बल आदि साधनों द्वारा पैसा संग्रह करनेकी ओर ही झुकी हुई है। भिखारी, मजदूर, किसान, जमीदार, साहूकार, मुनीम, क्लर्क, आफीसर, व्यापारी, राजा, पुजारी, शिक्षक, धर्मोपदेशक, धर्मपालक और साधु-सन्त आदि किसीको भी आज इस दृष्टिका अपवाद नहीं माना जा सकता।

गत द्वितीय महायुद्धने तो प्रत्येक मनुष्यकी उक्त दृष्टिको और भी कठोर बना दिया है, जिसके परिणामस्वरूप आज मानवसमष्टि बिलकुल अस्त-व्यस्त हो चुकी है और कोई भी व्यक्ति अपनेको सुखी अनुभव नहीं कर रहा है। पैसा संग्रह करनेकी भावनाने ही मानवसमाजमें जबर्दस्त आर्थिक विषमता उत्पन्न कर दी है, क्योंकि पैसा कमानेके बड़े-बड़े साधन पैसेके बलपर ही खड़े किये जा सकते हैं; इसलिए सम्पत्तिके उत्पादनमें पैसेको ही महत्त्वपूर्ण साधन मान लिया गया है और परिश्रमका इस विषयमें कुछ भी मूल्य नहीं रह गया है। यही कारण है कि जिन लोगोंके पास पैसा है उन लोगोंने पैसा कमानेके बड़े-बड़े साधन खड़े कर लिये हैं और उन साधनोंके जरिये वे विश्वकी समस्त सम्पत्तिको केवल अपने पास ही संग्रहीत कर लेनेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। इस प्रकार एक ओर जहाँ पैसे वालोंके खजाने दिन-प्रतिदिन बिना परिश्रमके भरते चले जा रहे हैं वहाँ दूसरी ओर उनके इस कार्यमें अपने खून और पसीनाको एक कर देनेवाले मजदूर पेट भरनेको भोजन और तन ढकनेको वस्त्र तक पानेके लिये तरसा करते हैं।

मानवसमष्टिको भस्मसात् कर देनेवाली वर्तमान विषम परिस्थितिसे आजके विचारशील लोगोंके मस्तिष्कमें विचारोंकी क्रांति उत्पन्न कर दी है और उस परिस्थितिका खात्मा करनेके लिये साम्यवादी और समाजवादी आदि भिन्न-भिन्न दल कायम हो चुके हैं और होते जा रहे हैं। ये सभी दल अपने-अपने दृष्टिकोणके आधारपर मानवसमष्टिकी वर्तमान विषम परिस्थितिका शीघ्र ही अन्त कर देना चाहते हैं। उक्त दलोंके दरम्यान नीति-सम्बन्धी मतभेद कितने ही क्यों न हो, फिर भी जहाँतक मानवसमष्टिकी वर्तमान आर्थिक विषमताका सवाल

है वहाँतक इन दलोंकी विचारधारामें प्रायः कुछ भी भेद नहो है। रूसकी साम्यवादो सरकारकी नीतिमें मूलतः आर्थिक समानताको स्थान प्राप्त ही है परन्तु भिन्न-भिन्न देशोंकी समाजवादी सरकारें भी आर्थिक विषमताको दूर करनेकी दृष्टिसे ही उद्योग-धन्धोंका राष्ट्रीयकरण करनेकी ओर अग्रसर होती जा रही है।

यद्यपि वर्तमान विकासके युगमें मानवसमष्टिसे आर्थिक विषमताको नष्ट कर देना असम्भव नही है, परन्तु इतना निश्चित है कि केवल शासनतन्त्रकी कानूनी व्यवस्थाके आधारपर ही इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। इसको नष्ट करनेके लिये कानूनी व्यवस्थाके साथ-साथ प्रत्येक मानवको अपने कर्त्तव्यको समझनेकी भी अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना शासनतन्त्रकी विशुद्ध कानूनी व्यवस्था बिल्कुल बेकार है। साम्यवादी रूसको पहले निश्चित किये गये अपने दृष्टिकोणमें अब इसलिये कुछ परिवर्तन करना पड़ा है और यही कारण है कि कानूनी विश्वके सभी देशोंमें प्रजातन्त्र अथवा राजतन्त्रके रूपमें स्थापित शासनतन्त्रके साथ-साथ धर्मतन्त्र की भी स्थापना की गयी है। भारतवर्षमें तो सामाजिक सुव्यवस्थामें शासनतन्त्रकी अपेक्षा धर्मसंघको ही अग्रिम स्थान मिला हुआ है। विश्वबन्धु महात्मा गाधीने विशुद्ध राजनीतिको नगण्य और तुच्छ मानते हुए विश्वके सामने और विशेषकर भारतवर्षके सामने धर्मतन्त्रकी महत्ताके इस आदर्शको पुन स्थापित कर दिया है। तात्पर्य यह है कि साम्यवादी अथवा समाजवादी सरकारो द्वारा उद्योगधन्धोंका राष्ट्रीयकरण कर देनेके बाद भी मानवसमष्टिसे आर्थिक विषमताको दूर करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ-न-कुछ जवाबदारी अवश्य ही शेष रह जाती है, जिसे व्यक्ति मानवसमष्टिके प्रति निश्चित किये गये अपने कर्त्तव्यज्ञान द्वारा ही पूरा कर सकता है और उसको इस प्रकारका कर्त्तव्यपना धर्मतन्त्रके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

भगवान महावीरने धर्मतन्त्रकी महत्ताके इस तथ्यको भली प्रकार समझ लिया था, इसीलिये उन्होने अपने युगकी सामाजिक दुर्व्यवस्थाको ठीक करनेके लिये अर्थात् मानवसमष्टिसे शोषक और शोष्यके भेदको नष्ट करनेके लिये धर्मतन्त्रके आधारपर प्रत्येक मानवको अपरिग्रहवादके अपनानेका उपदेश दिया था। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मार्थी लोकोत्तर महापुरुष साधु-सन्त वगैरह आत्मकल्याणके उद्देश्यसे आध्यात्मिकताके उच्चतम शिखरपर पहुँचते हुए जहाँ परिग्रहका सर्वथा त्याग कर दिया करते थे वहा समाजके बीचमे रहनेवाले गार्हस्थ्यमार्गके पथिक जन-साधारणके लिये उक्त अपरिग्रहवाद' के आधारपर 'अ—ईषत्—(अल्प), अर्थात् आवश्यकतानुसार परिग्रह रखनेकी छूट भी प्रदान की गयी थी और इसको भगवान महावीरकी धार्मिक परिभाषामे "परिग्रहपरिमाणव्रत" नाम दिया गया था।

तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीरका युग इस समय जैसा भौतिक विज्ञानका युग नही था, उस युगमें कोई भी उद्योगधन्धा कल-कारखानोंसे सम्बद्ध नहीं था, प्रत्येक उद्योग और प्रत्येक धन्धा केवल मनुष्यके हस्तकौशलमें ही सीमित था। इसलिये एक तो इस प्रकारकी आर्थिक विषमता—"एक ओर तो करोड़ोंकी सम्पत्ति तिजोरियोंके अन्दर बन्द रहे और दूसरी ओर भूखे तथा नंगे नरकगाल आम रास्तोंपर मारे-मारे फिरें; एक ओर पूंजीपति लोग हजारों मजदूरोंको अपना आर्थिक गुलाम बनाकर बिना परिश्रमके ही लाखों रुपया कमायें और दूसरी ओर मजदूर कड़ी-से-कड़ी-मेहनत करनेके बाद भी पौष्टिक भोजन, अच्छे वस्त्र और बच्चों की शिक्षाके साधन भी न जुटा पायें" उस समय न थी। दूसरे, उक्त परिग्रहपरिमाणव्रतके जरिये भगवान महावीरने प्रत्येक मानवको अपने पुरुषार्थसे पैदा किये गये द्रव्यका भी समष्टिके हितमे उपयोग करना सिखलाया था। भगवान महावीरने अहिंसावादके जरिये "दूसरोंको जीने दो" के प्रचारके साथ-साथ "अपरिग्रहवादके जरिये दूसरोंको जीवित रखनेका प्रयत्न भी करो" का भी प्रचार किया था।

भगवान महावीर चूंकि परलोकको मानते थे इसलिये उन्होने मानव समष्टिको अपरिग्रहवादकी ओर

झुकानेके लिए इस बातका दृढ़ताके साथ प्रचार किया था कि पुनर्भवमें मनुष्य योनि उसी व्यक्तिको मिल सकती है जो परिग्रहपरिमाणव्रती होकर अर्थात् आवश्यकताके अनुसार परिग्रह स्वीकार करके ही अपने जीवनका-र्योंका संचालन किया करता है और जो इस प्रकारकी आवश्यकतासे अधिक परिग्रह रखनेका प्रयत्न करता है उसको पुनर्भवमें निश्चित ही नरकयोनिके कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसका मतलब यह है कि आवश्यकता-से अधिक परिग्रह रखनेका अर्थ दूसरेके हकका अपहरण करना ही तो है और जो इस तरहसे दूसरेके हकका अपहरण करता है उसे प्रकृति इस प्रकारका दण्ड देती है कि पुनर्भवमें उसे जीवन-कार्योंके संचालनकी सामग्री अप्राप्य ही रहा करती है। यहाँपर यह बात अवश्य ही ध्यानमें रखना चाहिए कि यद्यपि प्रत्येक मनुष्यकी जीवनसम्बन्धी खाने-पीने पहिनने-ओढ़ने और निवास वगैरहकी आवश्यकतायें समान हैं फिर भी कोई व्यक्ति तो सिर्फ अपने जीवनकी जवाबदारी वहन करता है, कोई व्यक्ति छोटे या बड़े एक कुटुम्बके जीवनकी जवाब-दारी वहन करता है और कोई व्यक्ति इससे भी आगे बहुतसे कुटुम्बोंकी जवाबदारी वहन करता है। इसलिए इस आधारपर भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी आवश्यकतायें भी तरतमरूपसे भिन्न-भिन्न ही रहा करती हैं। और इस आधारपर परिग्रहका परिमाण भी किया गया है।

जैन मन्दिर और हरिजन

जैन संस्कृतिके आधारपर होनेवाली समाजरचनामें मानव-मानवके बीच छुआछूतको स्थान मिलना असम्भव है। यद्यपि कुछेक जैन ग्रन्थोंमें छुआछूतका उल्लेख है और जैन समाजमें उसका प्रचलन भी एक अर्से से चला आ रहा है। परन्तु यह निश्चित बात है कि जैन संस्कृतिके ऊपर वैदिक संस्कृतिका प्रभाव पड़ जानेके कारण ही यह सब कुछ हुआ है। इसलिए पहली बात तो यह है कि यदि भारतवर्षसे छुआछूतको समाप्त किया जाता है तो जैनोंको तो प्रसन्न ही होना चाहिये। दूसरी बात यह है कि जैन मन्दिरोंमें हरिजनोंके प्रवेश करने-का विरोध करनेसे पहले हमें यह सोच लेना चाहिए कि समग्र भारतवर्षसे यदि छुआछूतको समाप्त कर दिया जाता है तो जैनोंमें इसका प्रचलन बना रहना असम्भव है।

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिलका केवल इतना ही आशय है कि जो स्थान सर्वसाधारणके उपयोगके लिए खुला हुआ है उस स्थानमें आनेसे हरिजनोंको सिर्फ इसलिए नहीं रोका जा सकता है कि वे अछूत हैं। अत जैनोंको इससे डरनेकी बिलकुल आवश्यकता नही है कि हरिजन जैसी चाहे वैसी हालतमें जैन मन्दिरमें प्रवेश करेंगे और वहाँपर मनचाहा काम करेंगे; क्योंकि कानून वैदिक मन्दिरोंके समान जैन मन्दिरोंकी सुरक्षा और सुव्यवस्थाका भी ध्यान रखा जायगा।

जैनोंमें हरिजन-मन्दिर प्रवेश बिलके बारेमें एक भ्रम यह भी फैला हुआ है कि इस बिलसे हरिजनोंको वे अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो कि सिर्फ एक जैनीको ही प्राप्त हो सकते हैं। मैं कहता हूँ कि जैनोंको यह भ्रम भी अपने दिलसे निकाल देना चाहिये, क्योंकि बिलके जरिये अजैन ब्राह्मणको भी वे अधिकार प्राप्त नही हो सकते जो सामान्यतः एक जैनीको प्राप्त हैं।

उपर्युक्त कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन मन्दिरोंके बारेमें हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल निम्नलिखित रूपसे लागू होता है—

(१) प्रत्येक जैनी, चाहे वह हरिजन ही क्यों न हो, उन सब अधिकारोंके साथ जैन मन्दिरमें प्रवेश पानेका अधिकारी है, जो सामान्यत. जैन होनेके नाते स्वभावत उसे प्राप्त हो जाते हैं।

(२) जबकि अजैन ब्राह्मण आदि जैन मन्दिरमें प्रवेश कर सकते हैं तो जिस तरहसे और जहाँतक वे मन्दिरके अन्दर प्रवेश करते है उस तरहसे और वहाँतक अछूत होनेके कारण अजैन हरिजनोंको प्रवेश करनेसे नहीं रोका जा सकता।

(३) जैन संस्कृतिकी धार्मिक मर्यादा, मन्दिरकी पवित्रता और मन्दिरके अन्दर शान्ति कायम रखनेके उद्देश्यसे मन्दिरकी व्यवस्थापक कमेटी मन्दिर-प्रवेशके विषयमें सामान्य रूपसे ऐसे नियमोंका निर्माण कर सकती है, जो अछूतताको प्रोत्साहन देनेवाले न हों।

जो लोग मन्दिरोंके बारेमें हरिजन-मन्दिर-प्रवेश-बिल लागू होनेका विरोध करते हैं उनकी मुख्य दलीलें निम्न प्रकार हैं—

(१) जैन हिन्दू नही है, इसलिए यह बिल जैन मन्दिरपर लागू नहीं होना चाहिये।
(२) ऐसा एक भी हरिजन नही है, जो जैनधर्मका माननेवाला हो।
(३) धर्मके क्षेत्रमें शासनको हस्तक्षेप करनेका अधिकार प्राप्त नही हो सकता है।

पहली दलीलके बारेमें यही कहूँगा कि जैन हिन्दू रहे हैं और रहेंगे। जैनियोंका हित इसीमे है कि वे एक स्वरसे अपने आपको हिन्दू घोषित करें। जैनियोका यह भय बिलकुल निराधार है कि हिन्दू शब्द वैदिक संस्कृतिपरक होनेके कारण जैन संस्कृति केवल वैदिक संस्कृतिकी शाखा मात्र रह जाती है। वास्तवमे "हिन्दू शब्द वैदिक संस्कृतिपरक है" यह बात असत्य है।

अब तक वैदिकों और जैनोंके परस्पर जो सामाजिक सम्बन्ध बने चले आ रहे हैं उन्हें और अधिक सुदृढ़ करनेकी आवश्यकता है और ऐसा होनेपर भी यह तो सर्वथा असंभव है कि ईश्वरकर्तृत्ववाद तथा वर्णाश्रमव्यवस्थाको लेकर परस्पर पूर्व और पश्चिम जैसा मौलिक भेद रखनेवाली वैदिक और जैन संस्कृतियोंमेसे एक संस्कृतिको दूसरी संस्कृतिकी शाखामात्र मान लिया जायगा। भारतीय राज्यके असाम्प्रदायिक राज्य घोषित हो जानेपर ऐसा होना और भी असंभव है।

दूसरी दलीलका बहुत कुछ उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। विशेष यह कि "एक भी हरिजन जैनधर्मका माननेवाला नही है" यह जैन समाजके लिये शोभाकी चीज नही है। इससे तो जैन समाजकी कट्टर अनुदारता ही प्रकट होती है और इसीका यह परिणाम है कि जैनोंकी संख्या अंगुलियोंपर गिनने लायक रह गई है। दूसरी बात यह है कि यदि कदाचित् कोई हरिजन जैनधर्ममे आज दीक्षित होनेको तैयार हो तो जैन लोग अपनी मर्जीसे उसे मंदिरके अन्दर आने देने व पूजा करनेकी इजाजत देनेको कहाँ तैयार हैं ? जिससे इस दलीलके आधारपर जैन मन्दिरोंको हरिजनमंदिरप्रवेश बिलसे अलग कराकर हरिजनोंको जैन मंदिरमें न आने देनेकी अपनी चतुराईको जैन समाज सफल बना सके। हरिजन जैनमंदिरमे प्रवेश न करें, यदि हमारी ऐसी इच्छा है, तो इसका एक ही उपाय हो सकता है कि अजैन मात्रको जैन-मंदिरमे न आने दिया जाय, परन्तु जैन समाजका एक भी व्यक्ति यहाँ तक कि जैन मन्दिरमे हरिजनोंके प्रवेशका विरोधी भी इतना मूर्ख नही हो सकता है जो यह कहनेको तैयार हो कि जैन मन्दिरमे कोई भी अजैन प्रवेश पानेका अधिकारी नही है। इसलिए जैन समाजको चाहिए कि बिलकी मन्शाके मुताबिक वह अजैन हरिजनोंको भी दूसरे अजैनोंकी तरह जैन मन्दिरमे उदारतापूर्वक आनेकी इजाजत दे दे।

तीसरी दलीलके बारेमें मैं इतना ही कहूँगा कि यदि जनता स्वयं अपने अन्दरसे राष्ट्रीयताके घातक तत्त्वोंको निकाल दे तो निश्चय ही शासनको इसके लिए कानून बनानेकी आवश्यकता नही है। परन्तु दुर्भाग्यसे जनतामे अभी इतनी जागृति ही कहाँ पैदा हुई है ? इसलिए छोटी-छोटी बातोंके लिये भी कानून बनानेमे बड़ी मजबूतीके साथ सरकारको अपनी अमूल्य शक्ति खर्च करनी पड रही है। रही धार्मिक बातोंमें शासनके हस्तक्षेपकी बात, सो इसके बारेमें यही कहा जा सकता है कि जो तत्त्व राष्ट्रीयताका घातक है वह धर्मक्षेत्रकी मर्यादामे कभी भी नही आ सकता है।

कुछ लोग बिना सोचे समझे यह कहा करते हैं कि जैन भाइयोंने देशको स्वतंत्र करानेमे कांग्रेसको अपने त्याग और बलिदान द्वारा जो सहयोग दिया है उसका पुरस्कार जैनियोंको उनके धार्मिक अधिकारोंका अपहरण करके दिया जा रहा है। मैं ऐसे लोगोंसे पूछता हूँ कि यदि जैन भाई देशकी स्वतंत्रताके लिए कांग्रेसके साथ लड़ाईमे सम्मिलित न होते तो क्या देशद्रोहका काम उन्हें शोभा दे सकता था ? और जैनोंके योग न देनेसे क्या देशको स्वतन्त्रता मिलना कठिन हो जाता ? इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर 'हाँ' मे देना जैन समाजके किसी भी व्यक्तिके लिए कठिन ही नहीं, असंभव है। मैं तो यह कहता हूँ कि उक्त प्रकारके शासनके बारेमें आक्षेप करना समस्त जैन समाजको कलंकित करनेके सिवाय और कुछ नही है।

आशा है जैन बन्धु इसपर विचार कर समुचित मार्ग अपनायेंगे।

[२]

अब तक कांग्रेसका और हिन्दू महासभाका भी यही दृष्टिकोण रहा है कि जैन हिन्दुओंसे पृथक् नहीं हैं, इसलिए मध्यप्रान्तीय सरकारने प्रान्तीय असेम्बलीमें जब हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल विचारार्थ उपस्थित किया था तब उस बिलमें निर्दिष्ट 'हिन्दू' शब्दकी व्याख्यामें जैनियोंका भी समावेश था, जिससे जैन मन्दिर भी उक्त बिलके दायरेमें आते थे, लेकिन जैन समाजको यह सह्य नहीं था, इसलिए उसकी ओरसे उक्त बिलमें निर्दिष्ट 'हिन्दू' शब्दकी व्याख्यामेंसे जैन शब्दके निकलवानेके लिये काफी प्रयत्न किया गया था। यद्यपि जैन समाजके इस रवैयेका उस समय 'सन्मार्ग प्रचारिणी समिति'की ओरसे मैंने विरोध किया था। परन्तु जैन समाज-को उसके अपने प्रयत्नमें सफलता मिली और हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिलके दायरेमें जैन मन्दिरोंको मध्यप्रांतीय सरकारने पृथक् कर दिया। हो सकता है कि जैन समाजको अपनी इस तात्कालिक सफलतापर गर्व हो, परन्तु मुझे आज भी मध्यप्रान्तीय सरकारके दृष्टिकोणमें यकायक परिवर्तनपर आश्चर्य और जैन समाजकी राजनीतिक अदूरदर्शिता और सांस्कृतिक अज्ञानतापर दुःख हो रहा है।

जैन समाजकी आम धारणा यह है कि हिन्दू संस्कृतिका अर्थ वैदिक संस्कृति होता है और चूंकि जैन संस्कृति अपनी अनूठी मौलिक विशेषताओंके कारण वैदिक संस्कृतिसे बिलकुल निराला स्थान रखती है। इसलिए उसकी (जैनसमाजकी) रायमें उसकी इच्छाके अनुसार सरकारको जैनियोंका हिन्दुओंसे पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। जबसे हमारे देशमे राष्ट्रीय सरकारकी स्थापना हुई है तभीसे जैन समाजके नेता और समा-चारपत्र इस बातका अविराम प्रयत्न करते आ रहे हैं कि जैन हिन्दुओंसे पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है।

जैन समाजके सामने सबसे पहले विचारणीय बात यह है कि जैन संस्कृतिके अनुसार मानवजातिमे अछूत या हरिजन नामका पृथक् वर्ग कायम हो नहीं किया जा सकता है। जैनग्रन्थोंमें जो शूद्रोंके एक वर्गको अछूत बतलाया गया है वह जैन संस्कृतिके लिये वैदिक संस्कृतिकी ही देन समझना चाहिये। जिस प्रकार परिस्थितिवश किसी समय वैदिक संस्कृतिमे जैन संस्कृतिके सिद्धात प्रविष्ट कर लिये गये थे उसी प्रकार जैन संस्कृतिमे भी परिस्थितिवश एक समय वैदिक संस्कृतिके कतिपय सिद्धान्त प्रविष्ट कर लिए गये थे, उन सिद्धातोंमें शूद्रोके एक वर्गको अछूत मानना भी शामिल है। इसलिये हरिजनोंका मंदिर-प्रवेश स्वीकार कर लेनेसे वैदिक संस्कृतिका तो ह्रास कहा जा सकता है परन्तु इससे जैन संस्कृतिका तो कलंक ही दूर होता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि मानवसमष्टिमें छूत और अछूतका भेद भारतवर्षके लिये अभिशाप ही सिद्ध हुआ है। इसलिये सरकार इस भेदको शीघ्र ही समाप्त कर देना चाहती है। ऐसी हालतमें जैन समाज अपने वर्तमान रवैयेपर कायम रह सकेगा, यह असंभव बात है। बल्कि आज इसका मतलब यह लिया जा रहा है कि नगण्य जैन समाज इस तरहसे एक बड़ी संख्यावाली जातिके साथ ऐसी दुश्मनी मोल लेना चाहती है जो उसके अस्तित्वके लिये खतरा सिद्ध हो सकती है। 'जैनमित्र' २९ जनवरी सन् ४८ के अंकमे जो डॉ० हीरालालजी नागपुरका वक्तव्य प्रकट हुआ है उससे इसी बातकी पुष्टि होती है। अभी उस दिन सिवनी-में जैन समाजकी ओरसे दिये गये अभिनन्दनपत्रके उत्तरमें मध्यप्रान्त और बरारके मुख्यमन्त्री श्रीमान् पं० रविशंकरजी शुक्लने कहा था कि—"मुसलमानोंको जैनियोंसे सबक सीखना चाहिये। जिस तरहसे इनने भारतको अपनी भूमि समझा है और जिस प्रकार मिलजुल कर रहते हैं उसी प्रकार मुसलमानोंको भी रहना चाहिये।" हम मुख्यमन्त्रीकी नियतपर हमला नहीं करना चाहते हैं, परन्तु इतना अवश्य निवेदन करेंगे कि महापुरुषोंको अपने भाषणोंमे नपे-तुले शब्दोंका ही प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि कौन कह सकता है कि भविष्य-

में इस प्रकारके शब्दोंका दुरुपयोग नहीं किया जायगा और जैनियोंके साथ अभारतीयों जैसा व्यवहार नहीं किया जायगा। मैंने यहाँपर इसका निर्देश किया है कि अभी तक जो लोग जैनियोंका हिन्दुओंसे पृथक् अस्तित्व स्वीकार नही करते थे उन्हें भी जैन समाजके प्रचारने उसके हिन्दुओंसे पृथक् अस्तित्वको स्वीकार करनेके लिये मजबूर कर दिया है और ऐसी हालतमें जैन समाज अपने स्वत्वोंकी भली प्रकार रक्षा कर लेगी, इसमें संदेह है। अब तक जैन नेता और जैन समाचारपत्र जैन संस्कृतिके खत्म होनेका भय दिखलाकर ही जैनियोंको हिन्दुओंसे पृथक् रहनेके लिये प्रेरित करते आये हैं। परन्तु उनके पास इस बातकी क्या गारंटी है कि वे इस तरहसे जैन संस्कृतिकी रक्षा कर ही लेंगे, जब कि खतरा निर्विवाद सामने है।

इस समय जैनियोंको बहुत ही सावधानीके साथ लिखने, बोलने और कार्य करनेकी जरूरत है। जैनियोंको सोचना चाहिये कि भगवान् महावीरके बाद जैन संस्कृतिका महत्तम उद्धारक यदि किसीको माना जा सकता है तो वह महात्मा गांधी हैं। इनकी क्रान्तिसे जितना बल जैन संस्कृतिको मिला है उतना दूसरी संस्कृतिको नहीं। परन्तु जैनियोंमें जिनसेनाचार्य जैसे प्रभावक-नेताओंका अभाव होनेसे जैनी महात्मा गांधीकी क्रान्तिका जैन संस्कृतिके लिये उचित उपयोग नही कर सके है। महात्मा गांधीके जीवनका अन्तिम जो लेख १ फरवरी सन् १९४८ के हरिजन सेवकमें प्रकाशित हुआ है उसमें उन्होंने जैन मन्दिरोंमें हरिजनोंको आने देनेकी बात कही है। उनकी दलील यह है कि यदि जैन मन्दिरोंमें अजैन ब्राह्मण प्रवेश पा सकता है तो भंगीको इसलिये रोकना अन्याय है कि वह अछूत है। यह बात दूसरी है कि जैन विनयका समुचित रीतिसे संरक्षण करनेके लिये जैन मन्दिरोंके व्यवस्थापकों द्वारा नियम बनाये जा सकते हैं। प्रसन्नताकी बात है कि बीनाकी जैन समाजने सर्व-सम्मतिसे हरिजनोंके लिये अपने यहाँका जैन मन्दिर खोल देनेका निर्णय किया है। जबलपुरके कुछ प्रमुख जैन सज्जनोंसे अभी कुछ दिन हुए वरुआसागरमें मेरी इस विषयपर चर्चा हुई थी वे हरिजनोंको जैन मन्दिर खोल देनेके पक्षमें हैं। पूज्य पण्डित गणेशप्रसाद जी वर्णी जैन मन्दिर हरिजनोंको खोल देनेमें कोई बुराई नहीं समझते हैं और वे चाहते हैं कि बहुत शीघ्र जैन मन्दिर हरिजनोंके लिये खोल दिये जाना चाहिये।

मेरा जैन समाजसे निवेदन है कि वह उदारतापूर्वक जैन मन्दिर हरिजनोंके लिये खोल देनेका सर्व सम्मत फैसला करे। इसीमें जैन समाज और जैन संस्कृतिका फायदा है और बीनाकी जैन समाजने जैन विनयका संरक्षण करनेके लिये जैसी नियमावली बनाई है वैसी नियमावली बनाकर मन्दिरके दरवाजेपर टांक देना चाहिये। जैन मन्दिरोंमें शृंगारका जो सामान प्रदर्शनके लिये लगा रहता है उसे अलग कर देना चाहिये और ऐसे साधन जुटा देना चाहिये, ताकि लोगोंको मन्दिरोंमें वीतरागताका अच्छा परिचय मिल सके।

ता० १२ फरवरीके 'जैन मित्र'में 'विचित्रता' शीर्षकसे एक लेख श्री राजमल जैन बी० काम, 'राजेश' कलकत्ताका प्रकट हुआ है उस लेखसे उनका जैनत्वके प्रति श्रद्धानकी अपेक्षा दम्भ ही प्रकट होता है। मैं ऐसे लेख लिखनेवालोंसे प्रार्थना करूँगा कि हमलोग केवल भावुकताके ही शिकार न बनें, आपके ऊपर जैन संस्कृतिके भविष्यकी जवाबदारी है। यदि हम इस तथ्यको न समझ सके और समयका उचित उपयोग न कर सके तो भावी पीढ़ीके सामने हमलोग मूर्ख सिद्ध होंगे। अन्तमें मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यदि किसी तरफसे जैन संस्कृतिको खत्म कर देनेकी ही साजिश की जाती है तो उसके विरुद्ध हमारा सर्वदा तैयार रहना अनुचित न होगा। मैं ऐसे किसी भी उचित प्रयत्नका स्वागत करूँगा और इसके लिये 'सन्मार्ग प्रचारिणी समिति' आगे करती हुई दिखाई देगी।

●

भारतीय संस्कृतिके सन्दर्भमें 'हिन्दू' शब्दका व्यापक अर्थ

उक्त विधेयकके सम्बन्धमें जैन समाजकी ओरसे हिन्दू धर्मसे जैन धर्मकी पृथक् सत्ताको लेकर जो आन्दोलन चल पड़ा है, वह आन्दोलन गलत दृष्टिकोणपर आधारित है, ऐसा मेरा ख्याल है।

"जैन हिन्दू नहीं है" या "वैदिक धर्म (ब्राह्मण धर्म) का ही दूसरा नाम हिन्दू धर्म है" ये दोनों मान्यतामें भ्रान्त हैं क्योंकि ऐतिहासिक तथ्य हमें इस बातको माननेके लिये बाध्य करते है कि जिन जातियों और जिन धर्मोंकी जन्मभूमि भारतवर्ष है, वे सब जातियाँ और वे सब धर्म हिन्दू शब्दके वाच्य अर्थमें समा जाते हैं।

अतः जैन समाजके लिये इस प्रकारका आन्दोलन करना उपयोगी नही हो सकता है कि "जैन हिन्दू नहीं हैं" या "जैनधर्म हिन्दू धर्म नही है।"

जैन समाजसे मैं तो यही निवेदन करता हूँ कि वह इस प्रकारके गलत दृष्टिकोणको बदले और इस आधारपर आन्दोलन करे कि सार्वजनिक और सरकारी क्षेत्रोंमें जो हिन्दू शब्दका संकुचित अर्थ प्रचलित है, वह बन्द हो जावे तथा सभी क्षेत्रोंमें हिन्दू शब्द भारतीयताके ही अर्थमें प्रयुक्त होने लग जावे।

सन्मार्ग प्रचारिणी समितिके मंत्रीकी हैसियतमें जो पत्र मैंने भारत सरकारके पास भेजा है, उसकी नकल समाजकी जानकारी और मार्ग दर्शनके लिये यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मान्यवर !

विषय—नियमका नाम अस्पृश्यता। अपर विधेयक।

क्रमांक—बिल नं० १४ की सन् ५४ का।

विवादग्रस्त—धारा ३ की व्याख्या।

अस्पृश्यता अपराध विधेयकके पारित होने और भारतवर्षके समस्त धर्मावलम्बियोंके साथ जैनधर्मावलम्बियोंपर भी उसे लागू करनेका मैं इसलिये स्वागत करूँगा कि यह विधेयक जैनधर्म और जैन संस्कृतिकी सैद्धान्तिक परम्पराके अनुरूप है।

इस पत्र द्वारा मैं आपका ध्यान केवल हिन्दू धर्मकी व्याख्यामे जो कमी रह गयी है, उसकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

ऐतिहासिक तथ्योंपर दृष्टिपात करनेसे यह बात स्पष्ट रूपसे ज्ञात हो जाती है कि हिन्दू शब्दका प्रयोग भारतीयताके ही अर्थमें करना चाहिये परन्तु आजकल साधारणतया हिन्दू शब्दका प्रयोग वैदिक धर्म (ब्राह्मण धर्म) को मानने वाले वर्गके लिये किया जाने लगा है जो कि भ्रान्त है और विधेयककी धारा ३ में जो हिन्दू धर्मकी व्याख्या की गयी है, उससे भी न केवल उक्त भ्रान्त धारणाका निराकरण नहीं होता, प्रत्युत उसकी पुष्टि ही होती है।

अतः निवेदन है कि धारा ३ मे हिन्दू धर्मकी व्याख्यामे निम्न प्रकार परिवर्तन कर दिया जावे।

१—विधेयकमें हिन्दू शब्दके स्थानपर भारतीय शब्दका प्रयोग कर दिया जावे।

यदि किसी कारणवश विधेयकमें हिन्दू शब्दका रखना अभीष्ट ही हो तो धारा ३ मे "हिन्दू धर्मके विकास या रूप" के स्थानपर "समस्त हिन्दू धर्मों" ऐसा परिवर्तन कर दिया जावे।

२—व्याख्यामें सिख, बौद्ध, जैन आदि धर्मोंके साथ वैदिक धर्मका भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया जावे।

ऐसा करनेसे जैनधर्म और बौद्धधर्मकी वैदिक धर्मकी अपेक्षा स्वतन्त्र सत्ता, जो वास्तविक तथ्योंपर आधारित है—में कोई आँच नही आने पावेगी।

मै आशा करता हूँ कि मेरा यह उचित निवेदन स्वीकार कर लिया जावेगा और इस तरह जैन समाजमें विधेयकके प्रति जो विरोधकी लहर उठ खड़ी हुई है, वह या तो समाप्त हो जावेगी या उसका महत्त्व ही कुछ नहीं रह जायेगा।

परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्याकरणाचार्यके जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं पूर्व प्रकाशित सामग्री दी गयी है, उसके पूर्व प्रकाशित शीर्षक आदिका विवरण इसमें प्रकाशित शीर्षकोंके साथ यहाँ दिया जाता है—

इस ग्रन्थमें प्रकाशित शीर्षक	अन्यत्र प्रकाशित शीर्षक आदि विवरण
धर्म और सिद्धान्त	
१. तीर्थंकर महावीरकी धर्मतत्त्व देशना	: तीर्थंकर महावीरकी धर्मतत्त्व सम्बन्धी देशना, जैन सिद्धान्त भास्कर किरण–१,२ १९७४ ।
२. जैन-दर्शनमें आत्मतत्त्व	: जैन दर्शनमें आत्मतत्त्व, ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रन्थ, १९५४ ।
३. निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग	: निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्गका विश्लेषण, श्री भँवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका, १९६८ ।
४. निश्चय और व्यवहार धर्ममें साध्य-साधकभाव	. निश्चय और व्यवहार धर्ममें साध्य-साधकभाव, श्री सुनहरीलाल अभिनन्दन-ग्रन्थ, १९८२ ।
५. निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थाख्यान	: जैनागममें प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थाख्यान-मरुधर केसरी मुनि श्री मिश्रीलालजी महाराज अभिनन्दन-ग्रंथ, १९६८ ।
६. व्यवहारकी अभूतार्थताका अभिप्राय	. व्यवहारकी अभूतार्थताका अभिप्राय, दिव्यध्वनि वर्ष–१, अक्तूबर-नवम्बर १९६६ ।
७. संसारी जीवोंकी अनन्तता	: जीवोंकी अनन्तता (अप्रकाशित)
८. जैनदर्शनमें भव्य और अभव्य	: भव्य और अभव्य (अप्रकाशित)
९. जीवदया : एक परिशीलन	: जीव दयाका विश्लेषण, आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, १९८७ ।
१०. जैनागममें कर्मबन्ध	' कर्मबन्धपर विचार (अप्रकाशित)
११. कर्मबन्धके कारण	: आगममें कर्मबन्धके कारण, वीर-वाणी वर्ष–४१, अंक १२,१३ मार्च-अप्रैल, १९८८ ।
१२. गोत्र कर्मके विषयमें मेरा चिन्तन	. गोत्र कर्मके विषयमें मेरी दृष्टि (अप्रकाशित)
१३. भुज्यमान आयुमें अपकर्षण और उत्कर्षण	भुज्यमान आयुमें अपकर्षण और उत्कर्षण, जैनदर्शन १६ सितम्बर १९३३ ।
१४. क्या असंज्ञी जीवोंमें मनका सद्भाव है ?	क्या असंज्ञी जीवोंके मनका सद्भाव मानना आवश्यक है, अनेकान्त वर्ष–१३, किरण–९, १९५५ ।
१५. सम्यग्दृष्टिका स्वभाव	: सम्यग्दृष्टिका स्वभाव, दिव्यध्वनि अप्रैल, १९६८ ।
१६. पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी ।	(अप्रकाशित)
१७. जयपुर खानियाँ तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षाके अन्तर्गत उपयोगी प्रश्नोत्तर १, २, ३, ४ की सामान्य समीक्षा	: जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा पुस्तकसे १९८२ ।
दर्शन और न्याय	
१. भारतीय दर्शनोंका मूल आधार	: भारतीय दर्शनोंका मूल आधार, वीर १९४५ ।

२. जैनदर्शनमें प्रमाण और नय : प्राक्-कथन, डॉ० कोठियाजी द्वारा संपादित न्यायदीपिकाका प्रकाशन, १९४५।

३. ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार : ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार, ज्ञानोदय, जून १९५१।

४. जैनदर्शनमें नयवाद : जैनदर्शनमें नयवाद, गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ १९६७।

५. अनेकान्तवाद और स्याद्वाद : वीरशासनके मूलतत्त्व अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, अनेकान्त वर्ष–२ किरण–१, १९३८।

६. स्याद्वाद दर्शन और उसके उपयोगका अभाव : स्याद्वादका जैनधर्ममें स्थान व उसके क्रियात्मक उपयोगका अभाव, जैनदर्शन १९ सितम्बर १९३४।

७. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका विश्लेषण : दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका विश्लेषण–आचार्य शिवसागर स्मृतिग्रन्थ वी० नि० सं० २४९९।

८. जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान : जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान, ज्ञानोदय, अप्रैल १९५१।

९. जैनदर्शनमे वस्तुका स्वरूप : एक दार्शनिक विश्लेषण–जैनदर्शनकी मान्यतामें वस्तु अनन्त-धर्मात्मक भी है और अनेकान्तात्मक भी है, दिव्यध्वनि वर्ष–१ अंक ९, १९६६।

१०. जैनदर्शनमें सप्ततत्त्व और षट्द्रव्य : जैनसंस्कृतिकी सप्ततत्त्व और षट्द्रव्य व्यवस्थापर प्रकाश, अनेकान्त वर्ष–८, किरण ४, ५, १९४६।

११. अर्थमें भूल और उसका समाधान : अर्थमें भूल (अप्रकाशित)

साहित्य और इतिहास

१. वीराष्टकम् : समस्या–कान्ता-कटाक्षाक्षतः (क्षता)। : वीराष्टकम् : समस्या–कान्ताकटाक्षाक्षतः (क्षताः)। दिगम्बर जैन, अंक १–२।

२. समयसारकी रचनामें आचार्य कुन्द-कुन्दकी दृष्टि : समयसारकी रचनामें आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि, महावीर जयन्ती स्मारिका १९८८।

३. तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व : तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व, अनेकान्त वर्ष–१२ किरण–४ सितम्बर १९५३।

४. जैन व्याकरणकी विशेषताएँ : जैन व्याकरणमें इतर व्याकरणोंसे विशेषता व उसका महत्त्व, जैनसिद्धान्त भास्कर, वर्ष–११ अंक–४ वी० नि० सं० २४५७।

५. षट्खण्डागमके 'संजद' पद पर विमर्श : षटखण्डागमकी सत्प्ररूपणाका ९३वाँ सूत्र, सनातन जैन बुलन्दशहर, अक्तूबर १९४५।

६. सांस्कृतिक सुरक्षाकी उपादेयता : अभिभाषण सिवनी विद्वत्परिषद अधिवेशन सन् १९६५।

७. जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान : अभिभाषण श्रावस्ती विद्वत्परिषद अधिवेशन ?

८. युगधर्म बननेका अधिकारी कौन ? : युगधर्म बननेका अधिकारी कौन, खण्डेलवालहितेच्छु युगधर्मांक वर्ष २६, अंक १, २।

९. ऋषभदेवसे वर्तमान तक जैनधर्मकी स्थिति : जैन मान्यतामें धर्मका आदि समय और उसकी मर्यादा, प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ १९४६।

संस्कृति और समाज

१. हमारी द्रव्य पूजाका रहस्य	: हमारी द्रव्य पूजाका रहस्य, जैनदर्शन, दिसम्बर १९३६।
२. साधुत्वमें नग्नताका महत्त्व	: साधुत्वमें नग्नताका स्थान, अनेकान्त, अप्रैल १९५५।
३. जैनदृष्टिसे मनुष्योंमें उच्च-नीच व्यवस्थाका आधार	: जैनदृष्टिसे मनुष्योंमें उच्च-नीच व्यवस्थाका आधार, मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ १९६५।
४. भगवान महावीरका समाज दर्शन	: भगवान महावीरका अपरिग्रहवाद, वीर, ५ अप्रैल १९४७।
५. जैन मंदिर और हरिजन	: जैन मंदिर और हरिजन, ज्ञानोदय नवम्बर १९४९। 'वीर' २८ फरवरी १९४८, वर्ष २३।
६. भारतीय संस्कृतिके सन्दर्भमें हिन्दू शब्दका व्यापक अर्थ	: अस्पृश्यता अपराध विधेयकके सम्बन्धमें जैन समाजको सही दृष्टिकोण अपनानेकी आवश्यकता, जैनसन्देश, २४ फरवरी १९५५।

●